प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष,
जैन-संस्कृति-सरक्षक-सघ
सोलापुर (महाराष्ट्र)

वीर सवत्
२५०२
ई० सन् १९७६

प्रथमावृत्ति
प्रति ५००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड,
वाराणसी - २२१००१



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचद दोशी

सस्थापक,

जैन सस्कृति–सरक्षक–सघ, सोलापूर

श्री जीवराज जैन ग्रथमालाका

परिचय

सोलापुर निवासी स्व० ब्र० जीवराज गौतमचद दोशी कई वर्षो से उदासीन होकर धर्म-कार्यमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४०मे उनकी प्रवल इच्छा हो उठी कि अपना न्यायोपार्जित सपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करे। तदनुसार उन्होने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस वातकी सग्रह की, कि कौनसे कायमे सपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमे ब्रह्मचारीजीने सिद्धक्षेत्र गजपथ (नाशिक) के शीतल वातावरणमे विद्वानोकी समाज एकत्रित की। और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया।

विद्वान् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैनसस्कृति तथा जैनसाहित्यके समस्त अगोके सरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति सरक्षण संघ' नामक सस्थाकी स्थापना की। उसके लिये रु० ३०,००० के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढती गई। सन् १९४४ मे उन्होने लगभग दो लाख की अपनी सपूर्णसपत्ति सघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इस सघके अतर्गत 'जीवराज जैन ग्रथमाला' द्वारा प्राचीन प्राकृत-सस्कृत हिंदी तथा मराठी पुस्तकोका प्रकाशन हो रहा है।

आजतक इस ग्रन्थमालासे हिंदी विभागमे २८ पुस्तकें, कन्नड विभागमे ३ पुस्तकें, तथा मराठी विभागमे ४४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका हिंदी विभागका २८वाँ पुष्प है।



प्रकाशकीय निवेदन

यह श्रावकाचार सग्रह ग्रथ उपासकाध्ययनागका चरणानुयोगका प्रकाशक अनुपम ग्रन्थ है। इसमे सब श्रावकाचारोका सग्रह एकत्रित किया है। श्रावक धर्मका स्वरूप क्या है, आत्मधर्मके उपासककी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये, परिणामोकी विशुद्धिके लिये क्रमपूर्वक व्रत-सयमका अनुष्ठान नितात आवश्यक है इसका विस्तारपूर्वक विवरण इस ग्रन्थका पठन-पाठन करनेसे ज्ञात हो सकता है। स्व० श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये ने सब श्रावकाचार ग्रथोकी नामावली भेजकर यह ग्रथ प्रकाशित करनेके लिये मूलप्रेरणा दी इसलिये यह सस्था उनकी कृतज्ञ है।

श्रावकाचारके इस दूसरे भागका सपादन एव हिंदी अनुवाद श्री प० हीरालालजी शास्त्री व्यावर ने तैयार करके ग्रथमालाको जिनवाणीका प्रचार करनेमे सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उक्त जैनधर्मसिद्धातके मर्मज्ञ विद्वान्को हार्दिक धन्यवाद समर्पण करते हैं।

इस ग्रथका मुद्रण कार्य सुचारु रूपसे करनेमे श्री वर्द्धमान मुद्रणालय वाराणसी के सचालक-वर्गने सहयोग दिया है इसलिये हम उनका भी आभार मानते हैं।

अतमे इस ग्रन्थका पठन-पाठन घर-घरमे होकर श्रावकधर्मकी प्रशस्त तीर्थप्रवृत्ति अखड प्रवाहसे सदैव कायम रहे यह मगल भावना प्रकट करते है।

श्री वालचंद देवचद शहा
मत्री, श्री जैनसस्कृतिसरक्षक सघ
(जीवराज जैन ग्रथमाला, सोलापुर)

सम्पादकीय वक्तव्य

आजसे लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है कि इस सस्थाके मानद मत्री श्रीमान् सेठ बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहाका विचार हुआ कि इस सस्थासे दि० जैन सम्प्रदायमे उपलब्ध सभी श्रावकचारो का सकलन करके प्रकाशित हो तो अभ्यासियोके लिए बहुत उपयोगी रहे। उन्होने अपना अभिप्राय अपने अनन्य सहयोगी स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये से कहा। डाक्टर सा० ने एक रूप-रेखा बनाकर आपके पास भेजी। और आपने उसे मेरे पास भेजकर प्रेरणा की कि इस कार्य-भारको आप स्वीकार करे। मै उस समय ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनका व्यवस्थापक होकर व्यावर आया ही था, इसलिए मैंने यह सोचकर इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया कि सरस्वती भवनका विशाल-ग्रन्थ-सग्रह इस कार्यमे सहायक होगा।

स्व० डा० उपाध्ये सा० ने १५ श्रावकाचारोके नाम अपने पत्रमे सुझाये थे। सरस्वती भवनकी ग्रन्थ-सूचीसे कुछ और भी श्रावकाचारोके नाम ज्ञात हुए और मैने उनकी प्रेसकापी करना प्रारम्भ कर दिया।

स्व० डा० उपाध्येने जिस काल-क्रमसे श्रावकाचारोके सकलनका सुझाव दिया था, उन्हे और नये उपलब्ध श्रावकाचारो के नाम अपने विचार से काल-क्रमसे लिखकर २१ श्रावकाचारोकी सूची दि० २१।४।७१ को श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजीके पास बनारस भेजी और कालक्रमका निर्णय चाहा। उन्होंने उसी पत्र पर अपना निर्णय देकर यह भी सुझाव दिया कि पद्मनन्दिपचर्विशतिका, वरागचरित, हरिवशपुराण आदिमे भी जो श्रावक धर्मका प्रतिपादन किया गया है उसे भी सक-लित करके प्रस्तुत सग्रहमे दे दिया जाना अच्छा रहेगा। तदनुसार चारित्रप्राभृत, तत्त्वार्थसूत्रका सप्तम अध्याय, पद्मनन्दिपचर्विशतिका, पद्मचरित, हरिवश पुराण, वराङ्ग चरित से भी श्रावका-चारका सकलन किया गया। स्व डा० उपाध्येके सुझाव से यह भी निर्णय किया गया कि जो श्रावकाचार स्वतत्ररूपसे निर्मित है, और जो कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा महापुराणके श्रावक धर्मके वर्णन करनेवाले पर्व है उन्हे तो क्रमश काल-क्रमके अनुसार स्थान दिया जावे। शेष जो अन्य ग्रन्थोसे उद्धृत हो, उन्हे अन्तमे परिशिष्टके रूपसे दिया जावे।

प्रस्तुत सकलनके मुद्रणका निर्णय वर्द्धमान मुद्रणालयमे किया गया और चार वर्ष पूर्व इसकी प्रारम्भिक प्रेसकापी बनारस भेज दी गई। परन्तु वहाँसे प्रूफ मेरे पास आने-जानेमे समय बहुत लगता था अत तीन वर्षमे लगभग ३० ही फार्म छप सके। सस्थाके मानद-मत्रीजी चाहते थे कि इस वीर निर्वाणशताब्दी पर तो श्रावकाचार-सग्रहका प्रथम भाग प्रकाशित हो ही जाना चाहिए। पर वहाँ प्रूफ-सशोधन कौन करे, यह समस्या सामने थी। अन्तमे सस्थाके मत्रीजीके परा-मर्शसे मै बनारस गया और श्री प० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्यसे—जो कि प्रूफ-सशोधनके कार्यमे अतिकुशल है—इसे स्वीकार करनेका आग्रह किया। हर्ष है कि उन्होने उसे स्वीकार किया और प्रथम भाग अप्रैल मे प्रकाशित हो गया। अब यह दूसरा भाग भी पाठकोके सामने हैं, इसमे सागार धर्मामृत, धर्मसग्रहश्रावकाचार, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, गुणभूषण श्रावकाचार और धर्मो-पदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार इन पाँच श्रावकाचारो का सग्रह है।

तृतीय भाग मे १ लाटीसहिता, २ व्रतोद्योतन श्रावकाचार, ३ उमास्वाति श्रावकाचार, ४ पूज्यपाद श्रावकाचार आदि रहेगे। इसके अतिरिक्त इन दोनो भागोमे, चारित्र प्राभृत, तत्त्वार्थ-सूत्र, पद्मचरित आदि से उद्‌धृत अश परिशिष्ट मे रहेगे।

जिन श्रावकाचारोका सग्रह किया गया है, वे सभी विभिन्न स्थानोसे पूर्व प्रकाशित हैं किन्तु सभीके मूल पाठोका सशोधन और पाठ-मिलान ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवनके हस्त-लिखित मूल श्रावकाचारोसे किया गया है। यशस्तिलकगत श्रावकाचार 'उपासकाध्ययन' के नामसे भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है, उसीके आधार परसे केवल श्लोकोका सकलन प्रस्तुत सग्रहमे किया गया है। पूजन सम्बन्धी गद्यभाग एव कथानकोका गद्यभाग स्व० डॉ० उपाध्येके परामर्शसे नही लिया गया है।

दूसरे भागके साथ भी प्रस्तावना नही दी जा रही है। हाँ, तीसरे भाग के साथ विस्तृत प्रस्तावना दी जावेगी, जिसमे सकलित श्रावकाचारोकी समीक्षाके साथ श्रावकाचारका क्रमिक विकास भी दिया जावेगा। तथा सकलित श्रावकाचारोंके कर्त्ताओका परिचय भी दिया जावेगा। सम्पादनमे प्राचीन प्रतियोका उपयोग किया गया है, उनका भी परिचय तीसरे भागमे दिया जायेगा। तीसरे भागमे ही समस्त श्रावकाचारोंके श्लोकोकी अकारादि-अनुक्रमणिका भी दी जायगी, एव आवश्यक पारिभाषिक शब्दकोप आदि भी परिशिष्ट मे ही दिये जावेंगे।

अन्तमे सस्थाके मानद मत्री, स्व० डॉ० उपाध्ये और श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्रीका बहुत आभारी हूँ, जिन्होने इस प्रकाशनके लिये समय-समय पर सत्परामर्श दिया है। श्री० प० महादेवजी चतुर्वेदीका भी आभारी हूँ कि उन्होने प्रूफ-सशोधन का भार स्वीकार करके इस भाग को शीघ्र प्रकाशित करनेमे सहयोग दिया है। शुद्ध और स्वच्छ मुद्रणके लिए वर्द्धमान मुद्रणालयका भी आभारी हूँ

ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती
१–६–७६

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

श्रावकाचार-संग्रह, द्वितीय भाग

की

विषय-सूची

११ धर्म संग्रह श्रावकाचार ९५-१९७

१२ प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

१४ धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार ४६२

●

श्री

पण्डितप्रवर आशाधर-विरचित

सागारधर्मामृत

प्रथम अध्याय

अथ नत्वार्हतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि । तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ॥१
अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः । शश्वत्स्वज्ञानविमुखा सागारा विषयोन्मुखा ॥२
अनाद्यविद्यानुस्यूता ग्रन्थसंज्ञामपासितुम् । अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥३
नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः । पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतना ॥४
केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम् । मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥५

ग्रन्थकार श्री प० आशाधर जी कहते हैं कि अनगारधर्मामृतकी रचनाके अनन्तर सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र युक्त अर्हन्त परमेष्ठीको और निर्दोष चारित्र-युक्त दिगम्बर आचार्य, उपाध्याय और साधुओको नमस्कार करके सहननकी हीनता आदि दोषोके कारण मुनिधर्मके पालनकी योग्यता न होने पर भी जो मुनिधर्मम प्रेम करते हैं ऐसे गृहस्थोका धर्म उन्हे उसी भवमे या भवान्तरमे मुनिधर्मकी योग्यता प्राप्त हो इस भावनासे यहाँ कहा जाता है ॥१॥ जिस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनो दोषोकी विषमतासे उत्पन्न होने वाले प्राकृत आदि चार प्रकारके ज्वरोसे पीडित होनेके कारण मनुष्य हिताहितके विवेकसे शून्य हो जाता है, उसी प्रकार अनित्य पदार्थोंको नित्य, अपवित्र पदार्थोंको पवित्र, दु खोको सुख तथा अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थों-को 'अपना मानना' रूप अनादिकालीन अविद्या रूपी वात, पित्त वा कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाली आहारादिक चारो सज्ञाओ रूपी ज्वरसे पीडित होनेके कारण जो निरन्तर मुख्यतया स्वात्मज्ञानसे विमुख होकर राग तथा द्वेषसे इष्ट और अनिष्ट विषयोमे प्रवृत्त रहता है उसे सागार कहते है ॥२॥ सन्ततिरूप परम्परासे चले आनेवाले बीज अकुरकी तरह अनादिकालीन अज्ञानके द्वारा सन्ततिरूप परम्परासे चली आनेवाली परिग्रह सज्ञाको जो नही छोड सकते, तथा जो बहुधा स्त्री आदि इष्टविषयोमे ममकाररूप विकल्पोकी परतन्त्रतासे व्याप्त रहते है वे सागार (गृहस्थ) कहलाते है ॥३॥ जिसका आत्मा मिथ्यात्वसे व्याप्त होता है उसके हिताहितका विवेक नही होता इसलिये वह पशुके समान है और सम्यक्त्वके द्वारा जिसकी स्वानुभूति (चैतन्य-सम्पत्ति) प्रगट होती है, उसके हिताहितका विवेक होता है, इससे वह पशु होकर भी मनुष्यके समान है ॥४॥ मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—अगृहीत, गृहीत और साशयिक । एकेन्द्रियसे लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो तकके अगृहीतमिथ्यात्व होता है । गृहीतमिथ्यात्व सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोके होता है । साशयिकमिथ्यात्व इन्द्राचार्य आदिको शल्यके समान कष्ट देता है । विशेषार्थ—दूसरोके उपदेशके बिना जीवके अनादिकालसे जो तत्त्वोमे अश्रद्धा होती है उसे अगृहीतमिथ्यात्व कहते है । जैसे गाढ अन्धकारमे

आसन्नभव्यताकर्महानि सञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक् । देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥६
कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह । खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ॥७
नायामहेऽद्य भद्राणामप्यत्र किमु सद्दृशाम् । हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्मलाभाय स्पृहयेन्न कः ॥८
कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन् । भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥९

अच्छे बुरे किसी भी पदार्थका दर्शन तथा ज्ञान नही होता उसी प्रकार अगृहीतमिथ्यात्वके उदयसे जीवके धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप और स्व-पर आदि पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। दूसरोंके उपदेशसे ग्रहण किये गये विपरीत तथा एकान्त-श्रद्धान रूप मिथ्यात्वको गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे जब किसी व्यक्तिको भूत लग जाता है तब वह भूत उसकी स्वाभाविक दशाको भुलाकर उसे नानाप्रकारसे नचाता है, उसी प्रकार गृहीतमिथ्यात्व भी जीवोको एकान्त तथा विपरीत आदि रूपसे पदार्थोका श्रद्धान कराकर नानाप्रकारके धर्माभास रूप अनुष्ठान कराता है। जिनदेव द्वारा निरूपित अनेकान्तस्वरूप जीवादिक वस्तुएँ 'उसी प्रकारसे हैं या नही' इस प्रकार यथार्थ व अयथार्थ किसी एक भी स्वरूपका निश्चय नही कराने वाले चलित श्रद्धानको सांशयिकमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे शरीरके भीतर घुसा हुआ बाण जब तक शरीरसे नही निकल जाता है तब तक शान्ति नही होने देता, कुछ भी काम करो अपनी ओर ही चित्तको खीचता है, उसी प्रकार सांशयिक मिथ्यात्व भी जीवोके चित्तको अनुष्ठातव्य विषयकी ओरसे रोककर सदैव अशान्त करता है ॥५॥

आसन्नभव्यता, कर्महानि (मिथ्यात्वादि कर्मोका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय) सञ्ज्ञीपना और परिणामोकी विशुद्धि ये चार सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे अन्तरङ्ग कारण हैं। तथा सच्चे गुरुका उपदेश, जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन और वेदनाका होना आदि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे बाह्य कारण हैं॥६॥ जिस प्रकार वर्षा ऋतुमे मेघोंके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंके आच्छादित हो जानेपर सूर्य और चन्द्रका प्रकाश न होने पर भी किसी किसी प्रदेशमे कही कही पर ही खद्योत (जुगनू) चमकते दिखाई देते हैं उसी प्रकार इस पचमकालरूपी वर्षाकाल मे सर्वथैकान्तवादी बौद्ध, नैयायिक आदिकोके मिथ्या उपदेशरूपी मेघोके द्वारा अनेकान्त उपदेशरूपी दिशाओंके व्याप्त हो जानेपर (ढक जानेपर) बाधारहित और सम्पूर्ण जीवाजीवादि अनेकान्तरूप तत्त्वोका उपदेश देनेवाले सच्चे गुरु आर्य-क्षेत्रमे कही कही पर ही दिखाई देते हैं ॥७॥ जिस प्रकार ससारमे सब लोग सुवर्णको चाहते हैं, परन्तु जिस समय सुवर्ण नही मिलता, उस समय वे सुवर्णकी उत्पत्तिके स्थानभूत सुवर्णपाषाणको ही चाहने लगते है। उसी प्रकार वास्तवमे सम्यग्दृष्टि ही देशनाके सच्चे अधिकारी हैं इसलिये जहाँ तक सम्यग्दृष्टि पुरुष मिले वहाँ तक उनको ही उपदेश देना चाहिये। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयके द्वारा जिन पुरुषोके चित्त व्याप्त हो रहे हैं ऐसे पुरुष तो उपदेश-श्रवणके पात्र ही नही है। परन्तु यदि सम्यग्दृष्टि नही मिल सकें तो फिर मिथ्यादृष्टि भद्रपुरुषो-को ही उपदेश देना चाहिए ॥८॥ जो व्यक्ति मिथ्याधर्मका पालक होता हुआ भी समीचीनधर्मसे द्वेषके कारणभूत मिथ्यात्वकर्मके उदयकी मन्दतासे समीचीन धर्मसे द्वेष नही करता उसे भद्र कहते हैं। तथा जो कुधर्ममे स्थित होकर भी मिथ्यात्वकर्मके उदयकी तीव्रतासे समीचीनधर्मसे द्वेष करता है उसे अभद्र कहते हैं। इन दोनोमेसे भद्र तो आगामीकालमे सम्यक्त्वगुणकी प्राप्ति योग्य हो सकता है इसलिये वह तो उपदेश ग्रहण करनेका अधिकारी हैं, किन्तु अभद्र पुरुष आगामी कालमे भी सम्यक्त्वगुणकी प्राप्तिके योग्य नही हो सकता, इसलिये उसे उपदेश देना वृथा है ॥९॥

शलाकयेवाप्तगिराप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च य' स्यात् ।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भायादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥१०
न्यायोपात्तधनो, यजतगुणगुरून्, सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्नन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणी-स्थानालयो ह्रीमयः ।
युक्ताहारविहार आर्यसमिति , प्राज्ञ कृतज्ञो वशी, शृण्वन्धर्मविधि,दयालुरघभी ,सागारधर्मं चरेत्११
सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥१२
भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया हेयं वैषयिकं सुख निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् ।
चौरो मारयितु धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान् शर्माक्ष भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ॥१३
धर्मं यश. शर्म च सेवमाना केऽप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थम् ।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघान्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥१४

यदि वज्रकी सुईके द्वारा छिद्र करके कान्तिहीन भी मणि कान्तिमान् मणियोकी मालामे पिरो दिया जावे तो उस समय वह कान्तिमान् मणियोके सम्बन्धसे दर्शकोको कान्तिमान् मणिकी तरह मालूम होता है । उसी प्रकार सद्गुरुके वचनो द्वारा परमागमके जाननेमे उपायभूत सुश्रूषादि-गुणोको प्राप्त होनेवाला भद्र मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि अन्तरङ्गमे मिथ्यात्व कर्मके सद्भावके कारण यथार्थ श्रद्धानसे रहित भी हो तथापि बाह्यमे सम्यग्दृष्टि जीवके समान ही उसमे परमागम-के सुननेकी इच्छा आदि गुणोके पाये जानेसे वह भद्र मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहारके ज्ञाता पुरुषोको सम्यग्दृष्टि पुरुषोके मध्यमे सम्यग्दृष्टिके समान मालूम होता है ॥१०॥ न्यायसे धन कमाना, गुणो, गुरुओ तथा गुणगुरुओकी पूजा करना, प्रशस्त वचन बोलना, निर्बाध त्रिवर्गका सेवन, त्रिवर्गयोग्य स्त्री, ग्राम व मकान, उचित लज्जा, योग्य भोजन और विहार, सत्सगति, विवेक, उपकारस्मृति, जितेन्द्रियता, धर्मश्रवण, दयालुता और पापभीति इन चौदह गुणोमेसे अधिकाश या समस्त गुणो-को धारण करनेवाला प्राणी ही सागारधर्मको धारण करनेका अधिकारी है ॥११॥ पच्चीस दोष-रहित सम्यक्त्व, पाँच-पाँच अतिचार रहित बारह व्रत और मरणसमयमे विधिपूर्वक सल्लेखना यह सब श्रावकका सम्पूर्ण धर्म है ॥१२॥ जैसे कोतवालके द्वारा मारनेके लिये पकडा गया चोर गधे पर चढाना, काला मुँह कराना आदि जो जो कार्य कोतवाल कराता है उन सबको अयोग्य जानता हुआ भी करता है, परन्तु अपनी दुर्दशासे या हार्दिक भावनासे जब वह अपनी चोरीको बुरा समझता है और अपनी करामातको बुरा समझ कर अपनी निन्दा करता है, तब वह या तो दण्डसे छुटकारा ही पा जाता है या अल्पदण्डका भागी होता है । उसी प्रकार पृथ्वीरेखा आदिके समान अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधादिकके वशीभूत व्यक्ति भावहिंसा और द्रव्यहिंसा आदि जो जो कार्य चारित्रमोह कराता है, उन सबको अयोग्य जानता हुआ भी अपने समय पर उदयमे आनेवाले कर्मोकी दुर्निवारतासे करता है परन्तु सर्वज्ञदेवके उपदेशकी यथार्थताके अतिदृढ विश्वाससे वह स्त्री आदिक विषयोसे उत्पन्न सुखको विनाशीक तथा आत्मोत्पन्न सुखको ग्राह्य समझता है । तथा "हाथमे दीपक रहते हुए अन्धकूपमे गिरने वाले मुझको धिक्कार है ।" इस प्रकार अपनी निन्दा और गर्हा करता है । ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि इन्द्रियोत्पन्न सुखोको भोगता है तथा त्रस स्थावर जीवोकी हिंसा करता है, तथापि वह जिन सक्लेश परिणामोसे नरकादि अशुभ गतियो-का बन्ध होता है, उन सक्लेश परिणामोसे युक्त नही होता ॥१३॥

लोगोकी रुचि विभिन्न होती है, एक सी नही । इसलिये इस ससारमे कोई पुरुष तो धर्म,

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्य' ।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावक पिपासुः स्यात् ॥१५

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुखस्वादात्मस्ववहिर्वहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ।
सद्दृग् दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादशस्वेकं य श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥१६

दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं, सामायिकं प्रोषधं,
सच्चित्तान्नदिनव्यवायवनितारम्भोपधिभ्यो मतात् ।
उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवन्त्येकादशोपासका ॥१७

नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहाः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदया-दत्तीस्तप संयमान् ।

यश व सुख इन तीनोमेसे किसी एकको सिद्धिसे मानव-जीवनको सफल मानते है । लोकव्यवहारके अनुगामी तथा अपनेको आगमज्ञाता मानने वाले कोई व्यक्ति धर्म व यश, धर्म व सुख तथा यश व सुखकी सिद्धिसे ही मनुष्य-जीवनको सफल मानते हैं । किन्तु ग्रन्थकार कहते है कि वास्तवमे इन तीनोके सेवनसे ही मानव-जीवन सफल होता है । अभिप्राय यह है कि—मनुष्यको प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार परस्परमे अविरोधभावसे धर्म, यश तथा सुख तीनोका साधन करना चाहिये ॥१४॥ जो सम्यग्दृष्टि अष्ट मूलगुणो और वारह व्रतोको परिपूर्ण रूपसे पालन करता है। पच परमेष्ठियोंके चरणोको शरण समझता है । प्रधानरूपसे चार प्रकारके दानो और पाँच प्रकार-के पूजनोको करता है तथा भेदविज्ञान रूपी अमृतको पीनेकी इच्छा रखता है उसे श्रावक कहते हैं । अर्थात् जो मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका एकदेश पालन करता है वह श्रावक कहलाता है ॥१५॥ रागद्वेष और मोहके सर्वघाती स्पर्द्धकोके उदयाभावी क्षय की हीनाधिकता के अनुसार प्रकट होने वाली निर्मल चिद्रूप आत्मा की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले सुख के स्वसवेदनज्ञान के द्वारा होने वाले अनुभव को अन्तरङ्ग प्रतिमा कहते हैं और मन वचन काय से स्थूल त्रसहिंसा आदिक पापो का देव गुरु धर्म की साक्षिपूर्वक त्याग करना वहिरङ्ग प्रतिमा कहलाती है । इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पुरुप पञ्चपाप के सर्वथा त्याग रूप मुनिधर्म मे अनुरक्त होता हुआ अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग स्वरूप से युक्त देशव्रत नामक पचम गुणस्थान के दार्शनिक, व्रतिक आदि ग्यारह स्थानो (प्रतिमाओ) मे से क्रम को भग न करके किसी एक स्थान (प्रतिमा) को अपनी शक्ति के अनुसार धारण करता है, वह पुरुष ही अपने कर्त्तव्य का भली प्रकार पालन करता है इसलिये वह अभिनन्दनीय है ॥१६॥ दर्शन, व्रत आदि प्रतिमाओ के ग्यारह भेद हैं । अनादिकाल से चले आये हुए विपयो के अभ्यास से उत्पन्न असयम को सहना छोड नही सकनेके कारण यह जीव उन प्रतिमाओको एक साथ धारण नही कर सकता इसलिये सम्यग्दर्शन और आठ मूलगुणोकी परिपक्वताके साथ व्रत प्रतिमाको तथा अष्ट मूलगुण और वारह व्रतोंकी परिपक्वताके साथ सामायिक प्रतिमाको इस प्रकार पूर्व-पूर्वकी प्रतिमाओंके गुणोकी वृद्धिके साथ-साथ आगे-आगेकी प्रतिमाओका पालन करनेसे श्रावकोंके भी ग्यारह भेद हो जाते हैं ॥१७॥ नित्यमह, आष्टाह्निकमह, सच्चतुर्मुखमह, कल्पद्रुम मह और ऐन्द्रध्वज इस प्रकार पाँच प्रकारका पूजन, पात्रदत्ती, समक्रियादत्ती, दयादत्ती और अन्वयदत्ती इसप्रकार चार प्रकारका

स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषी-सेवावणिज्यादिकः,
शुद्ध्याप्तोदितया गृही मललवं, पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१८
स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं, दोषं विशोध्योज्झत ।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं, गृहमथो चर्या भवेत्साधनं,
त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया, ध्यात्यात्मन. शोधनम् ॥१९
पाक्षिकादिभिदा त्रेधा, श्रावकस्तत्र पाक्षिक । तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो, नैष्ठिक साधकः स्वयुक् ॥२०

दान, स्वाध्याय, तप और सयम ये पाँच श्रावकके कर्त्तव्य कर्म है। परन्तु इन पाँचो ही धार्मिक कार्योका योग्यरीतिसे पालन, आजीविकाके उपायभृत कृषि आदिक कर्मोके किये विना निराकुलता नही रहनेके कारण हो नही सकता और कृपि आदिकके करने मे पापसे बचाव हो नही सकता। इसलिये गृहस्थको जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कथित प्रायश्चित्तसे अथवा पक्ष,चर्या तथा साधनरूप श्रावक धर्म पालनसे कृष्यादिक छह कर्मोद्वारा होनेवाले पापोको दूर करना चाहिये ॥१८॥ धर्म, देवता, मत्रसिद्धि, औषधि और आहार आदिके लिये मै कभी 'सकल्प-पूर्वक त्रसजीवोकी हिंसा नही करूँगा' इसप्रकारकी प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ्य इन चार भावनाओके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ स्थूल झूठ आदि पापोंके त्याग सहित सम्पूर्ण त्रसजीवोकी सकल्पी हिंसाके त्यागरूप अहिंसात्मक परिणामको पक्ष कहते हैं। परिणाममे वैराग्यकी वृद्धि होनेपर कृष्यादिक कर्मोसे उत्पन्न हिंसादिक पापोको प्रायश्चित्तके द्वारा दूर करके स्त्री, माता आदि पोष्यवर्गको, धनको तथा चैत्यालय वगैरह धर्मको अपने भारके चलनेमे समर्थ योग्य पुत्र या किसी अन्य वशज वगैरहके सुपुर्दकर गृहत्याग करनेको चर्या कहते है। चर्यामे लगे हुए दोपोको प्रायश्चित्तसे दूर करके गृह त्यागके अन्तिम समयमे अथवा मरण समयमे चतुर्विध आहार, योग की चेष्टा तथा शरीरमे ममत्वके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल ध्यानके द्वारा आत्मासे रागादिक दोषोके दूर करनेको साधन कहते हैं ॥१९॥ श्रावकके तीन भेद हैं—पाक्षिक श्रावक, नैष्ठिक श्रावक, साधक श्रावक। उनमेसे जिसके एकदेश हिंसादिक पच पापोके त्यागरूप श्रावकधर्मका पक्ष है तथा जो अभ्यास रूपसे श्रावकधर्मका पालन करता है, उसको पाक्षिक श्रावक (प्रारब्ध देशसयमी) कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका पालन करता है, उसको नैष्ठिक श्रावक (घटमान देशसयमी) कहते है तथा जिसका देशसयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यानमे तत्पर होकर समाधिमरण करता है, उसको साधक श्रावक (निष्पन्न देशसयमी) कहते है ॥२०॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीय अध्याय

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया । मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य, गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१
तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् । मद्यमांसमधून्युज्झेत्, पञ्च क्षीरिफलानि च ॥२
अष्टैतान् गृहिणा मूलगुणान् स्थूलवधादि वा । फलस्थाने स्मरेद् द्यूत मधुस्थाने इहैव वा ॥३

यदेकविन्दो प्रचरन्ति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति ।
यद्विक्लवाश्चेममसुं च लोकं यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥४

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहा क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतय. सावद्यमुद्यन्ति च ।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥५
स्थानेऽश्नन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचि कश्मलाः । श्वादिलालावदप्यद्यु शुचिम्मन्या. कथ नु तत् ॥६
हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन्वा स्पृशन्पलम् । पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुत. सदा ॥७

धर्माचार्य तो सबसे पहिले मुनिधर्म पालनका उपदेश करते हैं परन्तु जो भव्य विषयोंको त्याज्य समझता हुआ भी प्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र उदयसे उनको नही छोड सकता इसलिये मुनिधर्म धारण करनेमे असमर्थ है, उसको श्रावकधर्मका उपदेश दिया जाता है ॥१॥ सबसे पहिले जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका श्रद्धान करते हुए हिंसाका त्याग करनेके लिए मद्य, मांस, मधु और पाँच क्षीरीफलोका त्याग करना चाहिये । अर्थात् इन आठ मूलगुणोंका धारण करना आवश्यक है ॥२॥ श्रीसोमदेव सूरिने तीन मकार और पाँच उदुम्बरोके खानेके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है । स्वामी समन्तभद्रने तीन मकार और पच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया है तथा जिनसेनाचार्यने मद्य, मास, जुआ तथा पच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया है ॥३॥ यदि मद्यकी एक बूँदके जीव फैल जावें तो वे तीनों लोकोंको भर सकते हैं । इस बिन्दुमात्र भी मद्यके पीनेमें उतने प्राणियोके घातका पाप लगता है और मद्यसे मोहित व्यक्ति इस लोक तथा परलोकमे दु ख पाता है । इस कारण आत्मकल्याणकी इच्छासे मद्यका परित्याग अवश्य करना चाहिये ॥४॥ मद्यके रसमे असख्यात जीव होते हैं । उसके पीनेसे उन सबका मरण होता है । मद्यपानसे मन व शरीर मे एक प्रकारकी अनुचित उत्तेजना पैदा होती है । उस उत्तेजनासे मनुष्य अविचारी होकर अगम्यागमन, अभक्ष्यभक्षण, अपेयपान आदि नाना प्रकारके अन्यायोमे प्रवृत्त हो जाता है । माता बहिन आदिको भूल जाता है । गुरुजनोसे कोप करता है । भयातुर होता है और मूर्च्छित हो जाता है । धूर्तिलनामक चोर, चोर होकर भी (चोरीका त्याग न कर सकने पर भी) देवादिकके समक्ष केवल मद्यपानके त्यागके प्रभावसे विवेकी बनकर सब प्रकारकी आपत्तियोंसे मुक्त हुआ । तथा एकपाद नामक संन्यासी वैरागी होकर भी केवल मद्यपानकी बुरी आदतसे दुराचारी बनकर नरक मे गया । इन उदाहरणोंसे हानिकारक समझकर मद्यका त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥५॥ मास की उत्पत्ति सप्तधातुसे निर्मित अपवित्र शरीरके घातसे होती है तथा शिकारी कुत्ते वगैरहकी लार भी उसमे मिल जाती है । इस प्रकार कारणोंसे तथा स्वभावसे अपवित्र मासको आचार-विचारहीन नीच व्यक्ति खाते हैं, तो उनके विषयमे कुछ कहना व्यर्थ है । परन्तु अपनेको पवित्र माननेवाले उच्चवर्गके व्यक्ति उस मांसको खाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है ॥६॥ मासके टुकड़ोमे

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तराम् । रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ ॥८

भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगती. ।
तद्विरतिरत. सुगतिं श्रयति नरश्चण्डवत्खदिरवद्वा ॥९

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मासं न धार्मिकैः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१०

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि विन्दुशः । खादन्बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम् ॥११

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः । द्विमुहूर्तात्परं शश्वत् संसजन्त्यङ्गिराशयः ॥१२

पिप्पलोदुम्बर-प्लक्षवट-फल्गुफलान्यदन् । हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगत ॥१३

रागजीववधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् । रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितम् ॥१४

अनन्त निगोदिया जीवोकी उत्पत्ति सदा होती रहती है। वह मास अपक्व, पच्यमान अथवा पक्व किसी भी दशामे वनस्पतिकी तरह प्रासुक नही होता, क्योकि उसमे भी निगोदिया जीव सदैव उत्पन्न होते रहते है, इसलिये अपने आप मृत प्राणोके मासके भक्षण और स्पर्शनसे भी द्रव्यहिंसा होती हे तथा उसके भक्षणसे आत्मामे क्रूरता उत्पन्न होती है इसलिये भावहिंसा भी होती है ॥७॥ मासकी प्राप्ति प्राणियोके घातसे होती है तथा उसमे हरसमय अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। इसलिये मासभक्षणमे द्रव्यहिंसा होती है। तथा मासभक्षण करनेवाले का अन्त करण दयाहीन होता है इससे उसके द्वारा सदैव क्रूरकर्म किये जाते है। इसलिये मासभक्षणमे भावहिंसा भी होती है। मासभक्षी धर्मरहित होकर ससारमे परिभ्रमण करता है ॥८॥ जैसे मासभक्षणके त्यागसे चण्डनामक चाडाल तथा खदिरसार नामक भीलराजने सद्गति पायी और सौरसेन राजाने मासभक्षणके विचारमात्रसे नरकगति पाई। वैसे ही प्रत्येक प्राणी मासभक्षणके सङ्कल्पमात्रसे दुर्गति तथा उसके त्यागके सकल्पसे ही सद्गति पाता है ॥९॥ कोई कहते है कि जिसप्रकार एकेन्द्रिय जीवका शरीर होनेपर भी मूग और गेहूँ आदि पदार्थ खानेमे कोई दोष नही, उसी प्रकार पचेन्द्रिय जीवका शरीर होनेपर भी मास खानेमे दोष नही। उनका यह कहना ठीक नही, क्योकि जिसप्रकार माता और पत्नी दोनो ही स्त्री हैं तो भी माता पूज्य और स्त्री भोग्य होती है, दोनो मे सदृश व्यवहार नही होता, उसीप्रकार अन्न और मासमे भी जीवशरीरत्वकी अपेक्षा समानता है, तो भी अन्न भक्ष्य है, मास भक्ष्य नही ॥१०॥ मधुमक्खियाँ पुष्पादिकोका रस चूसकर अपने छत्तेमे मधु इकट्ठा करती हैं। वह उनका वमन है इससे अपवित्र है। मधुमे छोटी छोटी बहुत मक्खियो-का भी वध हो जाता है। इस अपेक्षासे मधुके भक्षणमे सप्तग्रामके भस्म करनेसे भी अधिक पाप लगता है ॥११॥ जिस प्रकार मधु मे निरन्तर त्रस जीवोकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार दो घडीके पश्चात् मक्खनमे भी प्रतिसमय सम्मूर्च्छन जीवोकी उत्पत्ति होती रहती है, इसलिये मद्यादिकके समान मक्खनका भी त्याग करना चाहिये ॥१२॥

वृक्षके काठको फोडकर उसके दूधसे उत्पन्न होनेवाले फलोको क्षीरिफल कहते है। उनमे पीपल, ऊमर, पाकर, वट और कठूमर इन पाँच उदुम्बर फलोमे सूक्ष्म जीव ठसाठस भरे रहते हैं। उनको फोडकर देखनेसे उनमेसे बहुतसे स्थूल जीव बाहर भी उड पडते है। परन्तु स्वादकी लोलुपता आदि कारणोसे जो इन गीले फलोको खाता है वह प्रत्यक्ष जीववधके कारण द्रव्यहिंसा-का, तथा सूखोको खानेसे लोलुपता आदिके कारण आत्मगुणका विघातक होनेसे भावहिंसाका पात्र होता है ॥१३॥ पाक्षिक श्रावक मद्यपानादिककी तरह रागकी अधिकतासे, हिंसाकी अधिकता-से और हानि या रोगकी अधिकतासे रात्रिभोजनको छोड़ देवे और अगालित पीने योग्य जल

चित्रकूटेऽत्र मातङ्गी यामानस्तमितव्रतात् । स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागराङ्गजा ॥१५
स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम् । पापभीरुतयाभ्यस्येद् बलवीर्यनिगूहकः ॥१६
द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन् । क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ॥१७
मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती । जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा १८
यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधी. । जिनधर्मश्रुतेर्योग्य स्यात्कृतोपनयो द्विज ॥१९

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद् गुणै-
र्येऽयत्नोपनतै. स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते ।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्व गुणै-
र्विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान् ॥२०

आदिकको भी उपयोगमे नही लावे ॥१४॥ भावार्थ—दिनकी अपेक्षा रात्रिको खानेसे लोलुपता अधिक बढती है। रात्रिमे सूर्य-प्रकाशके न होनेसे रात्रिञ्चर छोटे-छोटे जीव अधिकतासे विचरने लगते है, इसलिये रातको भोजन बनाने तथा खानेमे उनका घात होता है। तथा भोजनके ससर्ग से खानेमे रोगोत्पादक जन्तु आ जानेमे नाना प्रकारके भयकर रोगोकी उत्पत्ति हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है। इसलिये मद्यादिकके समान रात्रिभोजन भी छोड़ना चाहिए तथा अगालित जल आदिकपेय पदार्थोका भी उपयोग नही करना चाहिये। इस भरतक्षेत्रमे चित्रकूट नगरमे एक पहरमात्र पालित रात्रिभोजनत्यागव्रतके प्रभावसे जागरिकनामक अपने पतिके द्वारा मारी गई एक चाण्डाल-की कन्या सागरदत्त सेठकी कन्या नागश्री हुई। विशेषार्थ—चित्रकूट नगरमे एक चाण्डालकी कन्याने रात्रिभोजन त्यागव्रत लिया था। उसे व्रत लिये एक ही पहर हुआ था कि उसके पतिने रात्रिमे भोजन करनेका आग्रह किया परन्तु उसने व्रतभग नही किया, तब उसके पति जागरिकने उसे इतना पीटा कि वह मर गई। तब वह व्रतके प्रभावसे सागरदत्त सेठके यहाँ नागश्री नामकी कन्या हुई। एक पहरमात्र रात्रिभोजन त्यागका जिनागममे इतना फल बताया है ॥१५॥ शक्ति और सामर्थ्यको नही छिपानेवाला पाक्षिक श्रावक पापके डरसे स्थूलहिसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रहके त्यागका अभ्यास करे ॥१६॥ वेश्यासेवन, शिकार खेलना और परस्त्रीसेवनकी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और मायाकी अधिकता सहित जुआमे आसक्त व्यक्ति अपनी जाति व आत्माको किस अनर्थमे नही गिराता है। अर्थात् सभी अनर्थोमे अपने आपको गिराता है ॥१७॥ मद्यत्याग, मासत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पञ्चोदुम्बरफलत्याग, देववन्दना, जीवदया और जलगालन इस प्रकार किसी आचार्यने ये आठ मूलगुण कहे हैं ॥१८॥ पूर्वोक्त अनन्त ससारके कारणभूत मद्यपानादिक पापोको छोडकर सम्यक्त्वके द्वारा विशुद्ध बुद्धिवाला और किया गया है यज्ञोपवीत सस्कार जिसका ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैनधर्मके सुननेका अधिकारी होता है ॥१९॥ जो जैन व्यक्ति पूर्वभवमे भी जैन थे। वहाँ सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्मके अभ्यासके प्रभावसे वर्तमान भवमे भी अनायास प्राप्त हुए सम्यक्त्वादिक गुणोसे अन्य लोगोंके चित्तमे चमत्कार करते हैं, वे विशेष पुण्यवान् हैं, परन्तु इनकी सख्या बहुत कम है। तथा जो व्यक्ति जिन कुलोमे विद्या और शिल्पसे भिन्न कार्योसे आजीविका होती है तथा जो मुनि वा श्रावकको जैनदीक्षाके लिये उपयुक्त है—ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमे मिथ्यात्व सहित पुण्योदयसे उत्पन्न होकर श्रावकोंके वक्ष्यमाण अवतार आदिक आठ गुणोसे अपनेको पवित्र करते हैं, वे भी जैन कुलोत्पन्न व्यक्तियोंके समान हैं ॥२०॥ धर्माचार्य या गृहस्थाचार्यके उपदेशसे प्रमाणो और नयोसे निश्चित सातो तत्त्वोको

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं, तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवत ।
आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तर , पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहन्त्यंहसी ॥२१

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपु शुद्ध्यास्ति तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥२२

यजेत देवं सेवेत गुरून्पात्राणि तर्पयेत् । कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोक सदा चरेत् ॥२३
यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः । सङ्कल्पतोऽपि त यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥२४

प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना
पूजा चैत्यगृहेऽर्हत' स्वविभवैश्चैत्यादिनिर्मापणम् ।
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधा दानं त्रिसन्ध्याश्रया
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिना नित्यप्रदानानुगम् ॥२५

ग्रहणकर, एकदेशव्रतकी दीक्षाके पहले धारण किया है महामन्त्र जिसने ऐसा छोड दिया है मिथ्या देवोका आराधन जिसने ऐसा द्वादशाग सम्बन्धी और चतुर्दश पूर्व सम्बन्धी शास्त्रोको पढकर, पढे है व्याकरण न्याय आदिक अन्य शास्त्र जिसने ऐसा तथा पर्वके दिन प्रतिमायोगको धारण करने वाला व्यक्ति अपने द्रव्य और भाव पापोको नष्ट करता है ॥२१॥ वेशभूषा, आचार-विचार और शरीरकी शुद्धिसे सहित शूद्र भी जैनधर्म सुननेका अधिकारी होता है। क्योकि वर्णसे हीन भी प्राणी धर्माराधनयोग्य काल और देश आदिकके प्राप्त होनेपर श्रावकधर्मका आराधन करनेवाला होता है। भावार्थ—जिनका रहनसहन स्वच्छ है, जो मद्यादिकका सेवन नही करता और जो शरीरकी शुद्धिपूर्वक भोजन करता है वह वर्णहीन शूद्र भी धर्मश्रवणका अधिकारी है। क्योकि उसका आत्मा यद्यपि जातिसे हीन है तथापि काललब्धि आदिके प्राप्त होनेपर वह भी धर्मश्रवणकर धर्मधारक हो सकता है ॥२२॥ श्रावक प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवको पूजे, सद्गुरुओको सेवे, पात्रोको सन्तुष्ट करे, तथा लोकव्यवहार या आप्तोपदेशके अनुसार धर्मसम्बन्धी और यशकारक कार्यको प्रतिदिन करे ॥२३॥ पाक्षिक श्रावक नित्यमह आदिक पूजाओसे शक्तिके अनुसार जिनेन्द्र-देवको पूजे, क्योकि सकल्पमात्रसे भी उन जिनेन्द्रदेवको पूजनेवाला व्यक्ति मेढकके समान स्वर्गमे पूजा जाता है। विशेषार्थ—राजगृही नगरीमे एक मेढक महावीर स्वामीकी पूजाकी इच्छासे केवल एक कमल-पत्रको मुहमे दबाकर वैभारगिरिपर्वत जा रहा था, किन्तु दुर्दैववश राजा श्रेणिक के हाथीके पैरके नीचे दबकर मर गया और पूजा करनेकी भावनामात्रसे स्वर्गमे देव हुआ। जब पूजनके सकल्पमात्रसे क्षुद्र मेढकको इतना विशेष फल मिला तो भक्तिपूर्वक साक्षात् जिनपूजन करनेवाले मनुष्यको प्राप्त होनेवाले फलका कहना ही क्या है? ॥२४॥ अपने घरसे लाये गये जल गन्ध आदि अष्ट द्रव्योसे जिनमन्दिरमे अरिहन्त देवकी प्रतिदिन भक्तिसे पूजा करना, अपनी आर्थिकशक्तिसे मूर्ति और मन्दिर वगैरह का बनवाना, शास्त्रोक्त विधिसे गाँव, घर, दुकान आदिका दान देना, अपने घरमे भी अरिहन्तकी तीनो सध्याओमे की जानेवाली सेवा तथा मुनियोको भी नित्य आहारदान देना है बादमे जिसके ऐसी पूजा नित्यमह पूजा कही गई है भावार्थ—जिन साधनोसे पूजनके लिये सदैव सामग्री मिलती रहे, जिन साधनोसे नित्यपूजनके लिये साधन प्राप्त होते है अथवा जिनसे पूजनका मार्ग सदैव खुला रहता है, उन साधन सामग्रीके दानके देनेको आगममे नित्यमह कहा है। जैसे—अपने घरकी सामग्रीसे रोज पूजन करना, जिनचैत्य-चैत्यालय निर्माण करना, मन्दिरके लिये अपनी स्थावर सम्पत्ति (ग्राम, गृह आदि) देना,

जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि । आष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो मह ॥२६
भक्त्या मुकुटवद्धैर्या जिनपूजा विधीयते । तदाख्या सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहा ॥२७
किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य य. । चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥२८
वलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत् । भक्ता. कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥२९

वार्धारा रजस. शमाय पदयो. सम्यक्प्रयुक्ताऽर्हत
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षता ।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥३०
चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धै ।

त्रिकाल सेवा पूजा करना तथा संयमी मुनियोको पूजाके वाद आहार देना 'नित्यमहपूजा' कही जाती है ॥२५॥ आष्टाह्लिका पर्वमे भव्योंके द्वारा जो जिनपूजा की जाती है वह आष्टाह्लिकपूजन कहलाती है और इन्द्रादिक देवोके द्वारा की जाने वाली वह पूजा ऐन्द्रध्वजनामक पूजा कही गई है ॥२६॥ मुकुटवद्ध मडलेश्वर राजाओके द्वारा भक्तिसे जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा की जाती है उस पूजनके नाम 'सर्वतोभद्र, चतुर्मुख और महामह है। विशषार्थ – जो पूजा सव जीवोंके कल्याणके लिये की जाती है इससे उसे 'सर्वतोभद्र' कहते हैं। चतुर्मुख प्रतिविम्व विराजमान करके राजा लोग चारो ही दिशाओमे खडे होकर करते हैं इससे इसे 'चतुर्मुख' कहते हैं। तथा आष्टाह्लिकपूजनसे यह पूजा वडी है इसलिये इसका तीसरा नाम 'महामह' है। इस प्रकार तीनो नाम सार्थक हैं। जैसे चक्रवर्ती छह खण्डो पर विजय प्राप्त करके किमिच्छक दानपूर्वक कल्पद्रुम पूजन करते हैं, उसी प्रकार अपने देश पर साम्राज्य प्राप्त करते समय राजा लोग यह महामह पूजन करते हैं ॥२७॥ याचककी इच्छापूर्वक दानसे जनताके मनोरथोको पूर्ण करके चक्रवर्तियोंके द्वारा जो जिनपूजन किया जाता है वह कल्पद्रुमपूजन माना गया है ॥२८॥ जिनभक्त जन प्रतिदिन और नैमित्तिक—पर्वकालिक जो उपहार, अभिषेक, गीतनृत्य, प्रतिष्ठा और रथयात्रा आदिक करते हैं वे सव उन नित्यमह आदिक पूजाओमे ही यथयोग्य गर्भित करना चाहिये विशेषार्थ—भक्त श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार नित्य तथा नैमित्तिक जो भेंट लाते हैं, अभिषेक करते है, कीर्तन या नृत्य करते हैं तथा प्रतिष्ठा रथयात्रा आदि करते है वे सव जिस पूजनके सम्बन्धमे किये जाते हैं उसी पूजनमे गर्भित समझना चाहिये। प्रतिदिन होनेवाली अभिषेक आदि विधिको 'नित्यविधि' तथा पर्व आदि विशेष उत्सव (प्रसङ्ग) पर होनेवाली विधिको नैमित्तिक विधि कहते हैं ॥२९॥

जिनेन्द्रदेवके चरणोमे विधि पूर्वक जल चढानेसे पूजकके पापका नाश या ज्ञानावरण दर्शनावरणकी मन्दता होती है। चन्दन चढानेसे शरीर सुगन्धित होता है। अक्षत चढानेसे ऋद्धियो व धनकी क्षति नही होती। पुष्पमाला चढानेसे देवगति सम्वन्धी मन्दारमाला प्राप्त होती है। नैवेद्य चढानेसे लक्ष्मीपतित्वकी प्राप्ति होती है। दीप चढानेसे कान्ति प्राप्त होती है। धूप चढानेसे परम सौभाग्यकी प्राप्ति होती हैं। फल चढानेसे मनोवांछित पदार्थ प्राप्त होते है। और अर्घ चढानेसे विशेष मान व प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥३०॥ अनन्त और अनुपम उन उन प्रसिद्ध ज्ञानादिक गुणो के समूह मे अतिशय अनुराग से यह वही जिनेन्द्र भगवान् हैं इस प्रकार दोष रहित मूर्ति और अक्षत आदिकमे जिनेन्द्रदेवको स्थापित करके निर्दोष पापरहित कारणोसे

नीराद्यैश्चारुकाव्य-स्फुरदनणुगुण-ग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन्दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय ।।३१
दृक्पूतमपि-यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः । श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किम्पुनर्व्रतभूषितम् ।।३२
यथास्वं दानमानाद्यैः सुखीकृत्य विधर्मणः । सधर्मणः स्वसात्कृत्य सिध्यर्थी यजता जिनम् ।।३३
स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टः स्नात्वाकण्ठमथाशिरः । स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ।।३४
निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं,
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत् ।
हिंस्रारम्भविवर्तिनां हि गृहिणा तत्ताहृगालम्बन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ।।३५

उत्पन्न तथा सुन्दर गद्यपद्यात्मक काव्यो द्वारा आश्चर्यान्वित करनेवाले वहुतसे गुणोके समूहसे मनको प्रसन्न करनेवाले जल चन्दनादिक द्रव्यो द्वारा जिनेन्द्रदेवको पूजनेवाला भव्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको पुष्ट करे है जिस दर्शनविशुद्धिके द्वारा तीर्थङ्करपदकी प्राप्तिके लिये समर्थ होता है। भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌को जो सामग्री चढाई जाती है वह दुराग्रहसे लाई हुई, अशोभनीय, परके भोगसे अवशिष्ट तथा अन्यायोपार्जित नही होनी चाहिये। तथा सामग्री चढाते समय जो पद्य वोले जाते हैं वे काव्यके प्रसाद आदिक गुणोसे परिपूर्ण तथा श्रवण और कथनसे श्रोता और वक्ताके चित्तको प्रसन्न करने वाले होने चाहिये। इस प्रकार भक्तियुक्त पूजन करनेसे पूजकको दर्शनविशुद्धिकी प्राप्ति होती है। जिसके प्रभावसे वह कालान्तरमे तीर्थङ्कर पदवी पाता है ।।३१।। अरिहन्त भगवान्‌के सम्यग्दर्शनसे पवित्र भी पूजकको पूजा, आज्ञा आदिक उत्कर्षकारक सम्पत्तियाँ मैं पहले, मै पहले इस प्रकार ईर्ष्यासे प्राप्त होती हैं, तो फिर व्रतसहित व्यक्तिको कहना ही क्या है। भावार्थ—जब अविरत सम्यग्दृष्टिको भी अर्हत्पूजनके माहात्म्यसे पूजा, आज्ञा आदिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है तो फिर अर्हत्पूजा करनेवाले व्रतीको उत्तमोत्तम अभ्युदयकी प्राप्ति क्यो नही होगी ? ।।३२।।

निर्विघ्न जिनपूजाकी समाप्तिका इच्छुक व्यक्तिविधर्मियोको यथायोग्य दान और मान आदिकसे अनुकूल करके और जैनधर्मावलम्बियोको अपने अधीन करके जिनदेवको पूजे। भावार्थ—पूजा आदिकमे विघ्न सहधर्मी और विधर्मी दोनोके द्वारा उपस्थित होना सम्भव है, इसलिए निर्विघ्न पूजाकी सिद्धिके लिये दान और सन्मान आदिक उचित उपायोसे विधर्मियोको अनुकूल कर लेना चाहिये तथा सहधर्मियोको भी स्वाधीन कर लेना चाहिये। इसके अनन्तर पूजन प्रारम्भ करनेसे उसमे विघ्न नही आते ।।३३।। स्त्री-सेवन और खेती आदिक करनेसे दूषित है शरीर और मन जिसका ऐसा गृहस्थ कण्ठपर्यन्त अथवा शिरपर्यन्त स्नान कर खुद जिनेन्द्रदेवके चरणोको पूजे और नही किया है स्नान जिसने ऐसा व्यक्ति दूसरे स्नात साधर्मी व्यक्तिसे पूजा करावे। भावार्थ—स्त्री सम्भोग तथा खेती आदिकसे पसीना, तन्द्रा, आलस्य और दुर्वलता आदि होनेके कारण शरीर और मन सक्लेशयुक्त रहता है, इसलिये गृहस्थोको स्नान करके ही शरीर और मनको शुद्ध करके स्वय पूजन करना चाहिये। किसी सूतकादि कारणवश अस्पर्श होनेपर अथवा अस्वस्थताके कारण स्नान करना अशक्य होनेपर किसी दूसरे सहधर्मी व्यक्तिको स्नान कराकर पूजन कराना चाहिये ।।३४।। जो वडे भारी धर्मसाधनका हेतु है वह जिनविम्ब, जिनमन्दिर, मठ और स्वाध्यायशाला आदिक अपनी रुचि और आर्थिकशक्तिके अनुसार वनवाना चाहिये, क्योकि

धिग्दुष्षमाकालरात्रिं यत्र शस्त्रदृशामपि। चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा मतिः ॥३६
प्रतिष्ठा यात्रादि-व्यतिकरशुभस्वैरचरणस्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्त-रजसः ।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं, न यत्रार्हद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितम् ॥३७
मनो मठकठेराणां वात्ययेवानवस्थया। चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु ॥३८
विनेयवद्विनेतॄणामपि स्वाध्यायशालया। विना विमर्शशून्या धी-र्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि ॥३९

हिंसायुक्त आरम्भमे फँसे रहनेवाले गृहस्थोका जिन प्रतिमादिक तथा उन जिनप्रतिमादिकके समान तीर्थयात्रादिक सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके कारणोकी प्रौढताके द्वारा शोभायमान है स्वाभिमानसे परिपूर्ण हर्ष जिसमे ऐसा मन पुण्यको बढानेवाला होता है। भावार्थ—जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर आदि धर्मके आयतन हैं। इनके निमित्तसे नवीन धर्मकी प्राप्ति, प्राप्त धर्मकी रक्षा और रक्षित धर्मकी वृद्धि होती है, तथा उसीसे धर्मपरम्परा चलती है। आरम्भमे आसक्त गृहस्थोके मनमे इन आयतनोके निर्माणके अवलम्बनसे अपने जीवनमे एक प्रकारका सत्कृत्य सम्बन्धी गौरवका अनुभव प्राप्त करानेवाला स्वाभिमान रससे युक्त परिणाम होता है और उस परिणामसे पुण्यबन्ध होता है इसलिये श्रावकको भक्ति और शक्तिके अनुसार जिनमन्दिर वगैरह बनवाना चाहिये ॥३५॥

इस दुःषमनामक पचमकाल रूप रात्रिको धिक्कार है जिस पचमकालमे जिनेन्द्र भगवान्-की प्रतिमाके दर्शनो विना शास्त्रज्ञोकी भी बुद्धि बहुधा परमात्माकी भक्तिमें प्रवृत्त नही होती ॥३६॥ जिस ग्राममे कलिकालके प्रभावका नाशक और मुनियोके धर्मसाधनके हेतु स्थानस्वरूप जिनमन्दिर नही होवें उस ग्राममे बिम्बप्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदिकके समूहमे पुण्यास्रवका कारणभूत जो स्वतन्त्रतापूर्वक होनेवाला मन, वचन, कायका व्यापार, उससे प्रकाशित होनेवाले धार्मिक उत्सव-के विस्तारके हर्परूपी जलप्रवाहसे धो डाली है पापरूपी धूलि जिन्होने ऐसे गृहस्थ कैसे हो सकते हैं। भावार्थ—जहाँ जिनमन्दिर होते हैं, वहाँ उनके निमित्तसे धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं, उन उन धार्मिक उत्सवोमे धर्मात्मा लोगोंके एकत्रित होनेसे बडा धर्म प्रचार होता है, धर्मके विषयमे उत्साह बढता है और उससे धर्मात्माओंके पापोका प्रक्षालन होता है। यदि पञ्चमकालकी लीलाके विलासको दलित करनेवाले तथा श्रमणगणोके आश्रयस्थल और धर्मके आयतन जिनमन्दिर न होवे तो उनके निमित्तसे होनेवाली उपर्युक्त बातें कैसे हो सकती हैं? इसलिये जिनमन्दिर-हीन ग्राममे श्रावकको नही रहना चाहिये ॥३७॥ इस पचमकालमे वायुमण्डलके द्वारा चलायमान रुईके समान रागादिकके परिणमनसे होनेवाली चञ्चलतासे बार-बार चलाय मान वसतिकारहित मुनियो का भी मन आवश्यक आदिक धार्मिक कार्योमे उत्साहित नही होता। भावार्थ—जैसे चञ्चल झञ्झावातसे झोपडी स्थिर नही रहती, वैसे ही वर्तमानमे विना ठहरनेकी व्यवस्थाके यतियोका भी चञ्चल मन उनकी आवश्यक क्रियाओमे उत्साही नही रहता, इसलिये गृहस्थोको यतियोके लिये मठोका निर्माण कराना चाहिये ॥३८॥ शिष्योकी तरह गुरुओकी बुद्धि भी स्वाध्यायशालाके बिना ऊहापोहरहित होती हुई परिचित या अभ्यस्त भी शास्त्रके विषयमे या मोक्षमार्गमे अन्धेके समान आचरण करती है। अर्थात् यथार्थज्ञानविहीन रहती है। भावार्थ—जहाँ स्वाध्यायशाला नही है वहाँ शिष्योके समान उपाध्यायोकी भी बुद्धि तत्त्वोके ऊहापोहका मार्ग नही रहनेसे परामर्शशीलता के साधनके अभावमें अभ्यस्त भी शास्त्र व मोक्षमार्गके विषयमे अन्धो सी हो जाती है, परि-मार्जित नही रहती। इसलिये स्थान-स्थान पर स्वाध्यायशाला भी स्थापित कराना चाहिये ॥३९॥

सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया। चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥४०
यथा कथञ्चिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम्। नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान्दुहन्ति च ॥४१
जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून्धर्मं च नन्दति। तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२
यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः। तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम् ॥४३
ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्। न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥४४
उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः। तत्पक्षताक्ष्र्य-पक्षान्तश्चराविघ्नोरगोत्तराः ॥४५
निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः। प्रविश्य राजवच्छश्वद् विनयेनानुरञ्जयेत् ॥४६
पार्श्वे गुरूणां नृपवत् प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः। अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥४७

पाक्षिक श्रावक, औषधालयकी तरह दुखी प्राणियोके उपकारकी चाहसे अन्न और जल वितरणके स्थानको भी बनवावे, और जिनपूजनके लिये बगीचा और बावडी आदिकका बनवाना दोषजनक नही होता ॥४०॥ अभिषेक, पूजन, स्तुति आदि किसी भी प्रकारसे जिनेन्द्रदेवको सेवन करनेवाले निष्कपट चित्त वाले व्यक्तियोके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते है और दशो दिशाएँ इच्छाओको पूर्ण करती हैं। भावार्थ—सरल भावोसे जितने भी साधन मिल सकते है उतने ही से जिनेन्द्रकी पूजा करनेवालोके सब ही दुःख दूर हो जाते है। वे जिधर जो भी इच्छा करते हैं सब ही जगह उनकी इच्छाये पूर्ण होती हैं। अर्थात् सब दिशाएँ उनके मनोरथ पूर्ण करती है ॥४१॥

अरिहन्तोके समान सिद्धोको, दि० जैन साधुओको तथा दिगम्बर जैन धर्मको पूजनेवाला व्यक्ति समृद्धिको पाता है। वे सिद्धादिक भी अरिहन्तोके समान लोकोत्तम शरणभूत और मङ्गल स्वरूप है। विशेषार्थ—ये चारो पुण्यवर्धक और पापनाशक होनेसे मङ्गल हैं। परमोत्कृष्ट माननेकी भावनासे लोकोत्तम हैं और दुःखनाशक तथा विघ्नघातक होनेसे इन्हे शरण कहते है ॥४२॥ कल्याणका इच्छुक व्यक्ति जिस जिनवाणीके प्रसादसे कभी भी पूजनीय अरिहन्त आदिककी पूजामे शास्त्रोक्त-विधिका उल्लघन नही होता उस जगत्पूज्य तथा स्यात् पदके प्रयोगसे सर्वथा एकान्तवादियो के द्वारा अजेय जिनवाणीको पूजे ॥४३॥ जो पुरुष भक्तिसे जिनवाणीको पूजते है वे पुरुष वास्तवमे जिनभगवान्‌को ही पूजते है क्योकि सर्वज्ञदेव जिनवाणी और जिनेन्द्रदेवमे कुछ भी अन्तर नही कहते है। भावार्थ—भगवान् सर्वज्ञदेवने जिनवाणी और जिनदेवमे अन्तर नही बताया है, इसलिये भक्तिभावसे जिनवाणीकी पूजा करना परमार्थसे 'जिनपूजा' ही है ॥४४॥ प्रमाद रहित मोक्षके इच्छुक व्यक्तियो के द्वारा गुरुजन सदा ही पूजे जाना चाहिये। क्योकि उन गुरुओके अधीन होकर रहने रूपी गरुडके पखोके भीतर चलने वाले व्यक्ति विघ्नरूपी सर्पोसे दूर हो जाते हैं। भावार्थ—मुमुक्षुओको सावधान होकर सदा गुरुकी उपासना करना चाहिये। क्योकि जैसे गरुडके पखोको ओड कर चलनेवालोंके पास सर्प नही फटक सकते, उसी प्रकार गुरुभक्ति करने वालोके गुरुओके अनुभव और सत्सगसे किसी प्रकारका विघ्न नही आता ॥४५॥

जैसे राजाके हृदयमे अपना स्थान करके राजाके साथ विनयपूर्वक व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार गुरुके प्रति अपनी मनोवृत्ति सरल और अनुकूल बनाकर उनके हृदयमे अपने श्रद्धालुत्वका स्थान बनाकर गुरुको अपने ऊपर प्रसन्न करना चाहिये ॥४६॥ गुरूपासना करनेवाला श्रावक राजाओके समीपमे विरुद्ध क्रियाओको नही करने वाले सेवकवर्गकी तरह गुरुओके समीपमे क्रोध हँसी विवाद आदिक विकारजनक और शास्त्रनिषिद्ध सब क्रियाओको छोड देवे और गुरुओके मनको कभी भी दूषित नही करे ॥४७॥ गृहस्थके द्वारा पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और कालका

दम्पत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात् त्रैवर्गिकेष्वग्रणी-
भूत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ॥५८

सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः । गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥५९
धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् । देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥६०
सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा । कीटैर्दन्दह्यमानेऽन्तः कोऽम्बुसेकाद्द्रुमे गुणः ॥६१

वा पतिका कल्याण सूचित करने वाली सामुद्रिक शास्त्र कथित दोषरहित कन्याको वरके योग्य कुल और विद्या आदिक गुणोसे शोभायमान व्यक्तिको शास्त्रोक्तविधिसे विवाहकर श्रद्धासे सत्कार करता है, वह व्यक्ति उन दोनो पतिपत्नीके त्रिवर्गका मेल मिला देनेसे धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके साधकोमे प्रधान होकर स्वाध्याय या सत्सङ्गतिके प्रभावसे नष्ट हो गया है मिथ्यात्व जिसका ऐसा होता हुआ मोक्ष-सम्बन्धी कार्यमे भी समर्थ होता है। भावार्थ—जो व्यक्ति आत्मकर्त्तव्य समझता हुआ सामुद्रिक शास्त्रमे प्रतिपादित दोषोसे रहित, शुभ लक्षणोसे अपना वा पतिका कल्याण सूचित करनेवाली कन्याको कुल, शील, विद्या, योग्य वय और सौन्दर्य आदिक गुणोसे युक्त वरको धर्मविधिसे विवाहकर अपने सधर्मीका सत्कार करता है वह जिनागमका स्वाध्याय या सत्सगतिके द्वारा अपने चारित्रमोहको मन्द कर वरवधूके पुरुषार्थत्रयका सम्पादक होनेसे गृहस्थोमे श्रेष्ठ होकर इस लोक तथा परलोकके आवश्यक कार्योंको पूर्ण करनेमे समर्थ होता है ॥५८॥ उत्तम कन्याको देनेवाले गृहस्थके द्वारा सहधर्मी गृहस्थके लिये त्रिवर्गसहित गृहस्थाश्रम अथवा गृह दिया जाता है, क्योकि विद्वान् स्त्रीको ही घर कहते हैं, दीवालो और वासोके समूहको नही। विशेषार्थ—जो व्यक्ति सधर्मीको कन्यादान देता है वह उसे गृहस्थाश्रम ही देता है। क्योकि कुलपत्नीका नाम ही घर है, दीवालो और छप्पर आदिका नही। तपके स्थानको आश्रम कहते हैं। घररूपी तपस्थानको गृहस्थाश्रम कहते है। धर्म, अर्थ और कामका मूल स्त्री है। योग्य स्त्रीके होनेपर ही सयम, देवपूजा और दान सधते हैं। इस कारण स्त्री धर्मपुरुषार्थमे कारण है। २—योग्य स्त्रीके होनेपर ही वेश्यादि व्यसनसे व्यावृत्ति होती है, जिससे धनकी रक्षा होती है। अथवा स्त्रीके सद्भावमे आकुलताका अभाव होनेसे निश्चिन्त होकर धनका अर्जन, रक्षण और वर्धन होता है इसलिये अर्थपुरुषार्थकी सिद्धि होती है। ३—और योग्य स्त्रीके होनेपर ही प्रीति और सम्भोगसे सम्पन्न रुचिर अभिलाषारूप कामकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार कन्यादानसे तीनो पुरुषार्थोके दानका फल मिलता है ॥५९॥ धर्मके लिये सन्तानको अथवा धर्म परम्परा चलते रहनेको, विघ्नरहित स्त्री सम्भोगको, चारित्र तथा कुलकी उन्नतिको और देव तथा अतिथि वगैरहके सत्कारको चाहनेवाला पाक्षिक श्रावक प्रयत्नसे उत्तम कन्याको व्याहे। भावार्थ—धर्म, सन्तान, निर्विघ्न भोग-विलास, आचार और कुलकी उन्नति तथा देव, ब्राह्मण, अतिथि और बान्धवोका सत्कार विना स्त्रीके नही हो सकता, इसलिये इन वातोके इच्छुक व्यक्तिको समीचीन कन्या अथवा सज्जनोकी कन्यासे प्रयत्नके साथ विवाह करना चाहिये ॥६०॥ अच्छी स्त्रीके विना मोक्षमार्ग साधक पात्रमे पृथ्वी तथा सुवर्ण वगैरहका दान देना व्यर्थ होता है जैसे घुणोके द्वारा भीतर बुरी तरह काटे गये वृक्षमे जलसिंचनसे कौनसा लाभ है। भावार्थ—यदि कन्यादान न देकर सधर्मीको केवल पृथ्वी और स्वर्णादिक दिया जावे तो वह जिस वृक्षमें घुन लगा है उसमे पानी सीचनेके समान व्यर्थ है। अथवा जैसे घुन-युक्त वृक्षमे पानी सीचना वृथा है, उसी प्रकार गृहिणीहीन श्रावकके लिये भूमि और स्वर्ण आदिकका देना वृथा है ॥६१॥

विषयेषु सुखभ्रान्तिं कर्माभिमुखपाकजाम् । छित्त्वा तदुपभोगेन त्याजयेत्तान्स्ववत्परान् ॥६२
दैवाल्लब्धं धनं प्राणै. सहावश्य विनाशि च । बहुधा विनियुञ्जानः सुधीः समयिकान्क्षिपेत् ॥६३
विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव । भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुत. श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥६४
भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभ. । तं दुष्यन्तमतो रक्षेद् धीरः समयभक्तितः ॥६५
ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात् तपोऽर्च्यं तत्परत्वत. । द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात् तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम् ॥६६

न्यड्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्तावशेषाद् वृषात्,
ताद्दक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग् देवो यथास्वं भवेत् ।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम-
स्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥६७

उत्तम गृहस्थ पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोमे कर्मोदयसे उत्पन्न होनेवाले सुखके भ्रमको उन विषयोके सेवनसे नाशकर अपने समान दूसरोसे भी उन स्त्री आदिक विषयोको छुडवावे। भावार्थ—चारित्रमोहके उदयसे स्त्री पुत्रादिकमे सुखका भ्रम हो रहा है, यह बात विना उपभोगके समझमे नही आती। इसलिये साधर्मीको कन्यादान देना चाहिये और उसके उपभोग द्वारा वह भी अपने समान पुत्र कलत्रादिकसे विरक्त होवे। यह भी कन्यादानका एक हेतु है ॥६२॥ प्राणोके साथ नियमसे नष्ट होनेवाले और पुण्योदयसे प्राप्त हुए धनको लज्जा, भय और पक्षपात आदिक नाना प्रकारसे व्यय करनेवाला कल्याणका इच्छुक व्यक्ति सहधर्मी गृहस्थो या मुनियोको तिरस्कृत करेगा क्या ? भावार्थ—प्राणोके साथ धनसे भी सम्बन्ध अवश्य छूट जाता है, इसलिये नाना प्रकारसे उस धनका व्यय करनेवाला श्रावक धनके विनियोग (व्यय) के समय अपने साधर्मियो-की सहायताका लक्ष्य नही रखेगा क्या ? जरूर रखेगा ॥६३॥ उत्तम गृहस्थ प्रतिमाओमे स्थापित अरिहन्तोकी तरह वर्तमानकाल सम्बन्धी मुनियोमे चतुर्थकाल सम्बन्धी मुनियोको नामादिक द्वारा स्थापित करके भक्तिसे पूजा करे, क्योकि अत्यन्त खोद-विनोद करनेवालोका कल्याण कहाँ हो सकता है ? भावार्थ—द्रव्य,क्षेत्र, काल और भावके निमित्तकी कमोसे आधुनिक मुनि पूर्व मुनियोके समान नही मिलते। तो भी जैसे प्रतिमाओमे जिनेन्द्रकी स्थापना करके पूजा की जाती है उसी प्रकार आधुनिक मुनियोमे पूर्व मुनियोकी स्थापना करके उनकी पूजन करना चाहिये, क्योकि अधिक नुक्ताचीनी करनेवालोको कल्याणकी प्राप्ति कहाँसे होगी ॥६४॥ क्योकि शुभ परिणाम पुण्यास्रवके लिये और अशुभ परिणाम पापास्रवके लिये माना गया है इसलिये धीरपुरुष विकारको प्राप्त होनेवाले उस भावको जिनागममे भक्तिसे वशमे रक्खे। भावार्थ—इस कलिकालमे जिनशासनकी भक्तिसे जिनरूपको धारण करनेवाले व्यक्ति भी जिनेन्द्रके समान मान्य है ऐसी धर्मा-नुरागिणी बुद्धिसे चित्तमे विकार न लाकर धीर बनना चाहिए। क्योकि भाव ही पुण्य और पाप-का कारण है। इसलिए उसे दूषित होनेसे बचाना चाहिए ॥६५॥ अनशन आदिक तपका कारण होनेसे ज्ञान पूजनीय है, उस ज्ञानकी वृद्धिका कारण होनेसे तप पूजनीय है और मोक्षका कारण होनेसे ज्ञान तथा तप दोनो पूजनीय है। और ज्ञानयुक्त, तपसे युक्त और ज्ञान तथा तप दोनोसे युक्त पुरुष अपने-अपने गुणोके अनुसार पूजनीय है ॥६६॥ जघन्य, मध्यम और उत्तम पात्रो तथा कुपात्रोको आहार दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव जघन्यभोगभूमि, मध्यमभोगभूमि, उत्तमभोग-भूमि और कुभोगभूमिके विषयोके भोगनेसे बचे हुए पुण्यसे यथायोग्य देव होता है और सम्यग्दृष्टि जीव सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न पुण्यके प्रभावसे भलीप्रकार उत्तमभोग भूमि, महर्धिक कल्पवासी

पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् । दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः ॥४८
नियमेनान्वहं किञ्चिद्यच्छतो वा तपस्यतः । सन्त्यवश्यं महीयासः परे लोका जिनश्रितः ॥४९
धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्रस्वार्थसिद्धये । कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥५०
समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान्धिनुयात् ।
दानादिना यथोत्तर-गुणरागात्सद्गृही नित्यम् ॥५१
स्फुरत्येकोऽपि जैनत्वगुणो यत्र सतां मतः । तत्राप्यजैनैः सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥५२

उल्लङ्घन नहीं करके अपनी शक्तिके अनुसार दान दिया जाना चाहिये और तप भी किया जाना चाहिये। भावार्थ—पाक्षिक श्रावकको आगम, विधि, देश, काल और द्रव्यका लक्ष्य रखते हुए त्रिविध पात्रोंके लिये यथाशक्ति दान देना चाहिये और अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर उपवासादिक तप करना चाहिये ॥४८॥ प्रतिदिन नियमपूर्वक शास्त्रविहित कुछ दान देनेवाले अथवा तप तपनेवाले जिनभक्त व्यक्तिके दूसरे भव अवश्य इन्द्रादिकपद विशिष्ट होते हैं। भावार्थ—शास्त्रविहित रीतिके अनुसार दान और तप करने वाले जिनभक्तको भविष्यमे महत्त्वपूर्ण इन्द्रादिक पद प्राप्त होते हैं ॥४९॥ कल्याणके इच्छुक व्यक्तिके द्वारा परलोकमें स्वर्गादिक सुखोकी प्राप्तिके लिये धर्मपात्र और इस लोकमें अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये त्रिवर्गके साधनमें सहायक जन उपकृत किये जाने चाहिये। तथा कीर्तिके लिये उचित व्यवहारको करना चाहिये। विशेषार्थ—रत्नत्रयकी सिद्धिमे तत्पर व्यक्ति धर्मपात्र कहलाते हैं। तथा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थमे सहायक व्यवहारी जन कार्यपात्र कहलाते हैं। परलोकके स्वार्थकी सिद्धिके लिये धर्मपात्रोका तथा इस लोकके स्वार्थकी सिद्धिके लिये कार्यपात्रोका अनुग्रह करना चाहिये ॥५०॥ तथा कीर्तिके उत्पादनके लिये सदैव उचित व्यवहार करना चाहिये। पाक्षिक श्रावक दान, सन्मान और स्थान आदिकसे उत्तरोत्तर गुणोकी अधिकतामें अनुरागसे सदा समयिक, साधक, समयद्योतक, नैष्ठिक और गणाधिपोको सन्तुष्ट करे। विशेषार्थ—समयिक आदिकोमे उत्तरोत्तर गुणोकी अधिकता होती है, इसलिये उन उन विशेष गुणोंके अनुसार यथायोग्य दान, सन्मान और सम्भाषण आदिक द्वारा उनको दान देना चाहिये। जैनधर्मका अवलम्बन करनेवाला श्रावक या यति 'समयिक' कहलाता है। ज्योतिषशास्त्र और मन्त्रशास्त्र आदि लोकोपकारक शास्त्रोके ज्ञाताको 'साधक' कहते हैं। वाद और प्रतिष्ठा आदिक द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करनेवाले विद्वान्को 'समयद्योतक' कहते हैं। मूलगुणो और उत्तरगुणोसे प्रशसनीय तपके अनुष्ठान करनेवाले श्रावक या यतिको 'नैष्ठिक' कहते हैं। धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यको 'गणाधिप' करते हैं। मुमुक्षु यति वा श्रावकमे यथायोग्य रत्नत्रयकी वृद्धिकी बुद्धिसे दिया हुआ दान पात्रदत्तिमे तथा मुमुक्षु गृहस्थोंके लिये यथायोग्य वात्सल्यबुद्धिसे दिया हुआ दान समदत्तिमे गिना जाता है ॥५१॥

जिस जैन व्यक्तिमे सज्जनोका प्रिय एक भी जैनीपनका गुण अर्थात् सम्यक्त्वगुण शोभायमान होता है उस व्यक्तिके होनेपर ज्ञान वा तपसे बढे चढे अजैन सूर्यके रहने पर जुगनूकी तरह मालूम पड़ते हैं। विशेषार्थ—ज्ञान और तप कम भी रहे परन्तु यदि एक भी जैनगुण हो तो भी वह व्यक्ति पात्र है और उसके सामने ज्ञानादिकको अधिकता होनेपर भी जैनत्वगुण-विहीन व्यक्ति सूर्यके सामने जुगनूके समान निष्प्रभ है। ससारसे पार करनेवाले एक जिनेन्द्रदेव ही हैं ऐसी दृढ श्रद्धाका नाम जैनगुण है। श्रद्धानके साथ साथ यदि ज्ञान और तपका जोड रहे तो फिर उस व्यक्तिके पात्रत्वका कहना ही क्या है ॥५२॥ अनुगृहीत किया गया जैन एक भी श्रेष्ठ है। दूसरे

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः । दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि ॥५३
नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायतेतराम् । स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः ॥५४

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन् निर्व्याजमासंसृति तद्गुणानाम् ।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरदृप्तस्तृप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥५५

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे । कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत् ॥५६
आधानादिक्रियामन्त्रव्रताद्यच्छेदवाञ्छया । प्रदेयानि सधर्मभ्यः कन्यादीनि यथोचितम् ॥५७

निर्दोषां सुनिमित्तसूचितशिवां कन्यां वरार्हैः गुणैः
स्फूर्जन्तं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यञ्जसा ।

हजारो नही क्योकि दारिद्रय तथा व्याधि वगैरहको दूर करनेकी शक्तिसे युक्त पारेको सिद्ध करने वाले व्यक्तिके प्रसन्न होनेपर साररहित और कृत्रिम सुवर्णादिक द्रव्योके बनानेमे प्रसिद्ध व्यक्तियोको कौन पुरुष चाहता है। भावार्थ—जब तक असली पारद भस्मकी प्राप्ति नही होती तब तक भले ही नकली पारदका आदर किया जाता है, परन्तु असली पारदके मिलनेपर नही। उसी प्रकार सच्चे श्रद्धानके धारकोके अभावमे भले ही कुश्रद्धानी ज्ञानी तपस्वी पात्र समझे जाते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टी पात्रोके सामने तो वे अत्यन्त निष्प्रभ हैं। क्योकि पात्रताका कारण असली श्रद्धान है, ज्ञान और तप नही ॥५३॥ नामनिक्षेपसे और स्थापनानिक्षेपसे भी जन विशेष पात्रके समान मालूम होता है। वह जैन द्रव्यनिक्षेपसे पुण्यात्माओके द्वारा तथा भावनिक्षेपसे महात्माओके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विशेषार्थ—जो व्यक्ति नाम व स्थापनासे जैन है वे भी अजैन पात्रोकी अपेक्षा अधिक पात्रताके धारक है। जो द्रव्य जैन-पात्र हैं वे धन्य है तथा जो भाव जैनपात्र है वे महात्मा है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे जैनके चार भेद हैं। जो गुणोके बिना नाममात्रसे जैन है उसे नाम जैन कहते है। 'यह वही जैन है' इस प्रकार कल्पनायुक्त जैनको स्थापना जैन कहते है। जिसे भविष्यमे यथार्थ श्रद्धान आदिक जैनगुण प्राप्त होने वाले है उसे द्रव्य जैन कहते है। तथा जिसे वर्तमानमे यथार्थश्रद्धान आदिक जैन गुण प्राप्त हैं उसे भाव जैन कहते है ॥५४॥ प्रसिद्ध है जैनत्वगुण जिसका ऐसे व्यक्तिमे छलकपट रहित अनुराग करनेवाला और ससारपर्यन्त प्रसिद्ध जैनत्वगुणवाले पुरुषोके अग्रभागमे शोभायमान होनेवाला उत्कर्षोसे गर्वरहित तथा सन्तुष्ट होता हुआ गृहस्थ तीनो लोकोके तिलकपने अर्थात् मोक्षपनेको प्राप्त होता है। भावार्थ—जो व्यक्ति जैनोके प्रति निश्छल वृत्तिसे अनुराग करता है वह जब तक ससारमे रहता है तब तक निर्मद होकर सासारिक ऐश्वर्योसे तृप्त होता हुआ अन्तमे मुक्तिको प्राप्त करता है ॥५५॥ पाक्षिक श्रावक अपने समान धर्मके पालक उत्तम गृहस्थाचार्यके लिये अथवा मध्यम श्रावकके लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोडा, रथ, रत्न और मकान आदिक दानमे देवे। भावार्थ—सधर्मियोमे प्रधान व्यक्तिके लिये कन्या तथा दहेजमे भूमि, सोना, हाथी, घोडा आदि देना चाहिये। किन्तु यदि उत्तम पात्र नही मिल सके तो सधर्मी मध्यम पात्रके लिये ही उक्त वस्तुएँ अर्पण करना चाहिये ॥५६॥ गृहस्थके द्वारा गर्भाधान आदिक क्रियाओकी तथा उनके मत्रोकी व्रतनियमादिकोकी रक्षाकी आकाक्षासे सहधर्मियोके लिये यथायोग्य कन्या आदिक दिये जाना चाहिये। भावार्थ—गर्भाधानादिक क्रियाओके मत्र या अपराजित महामत्र, अष्टमूलगुण तथा देवपूजन और पात्रदान आदि सत्कर्मकी निरन्तर प्रवृत्ति चलती रहे, इस हेतु सधर्मियोको कन्या आदिकका दान देना चाहिये ॥५७॥ जो गृहस्थ शुभलक्षणोसे अपना

सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान् स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः
कौ रिङ्गन्ति ततः पदैः कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्ततः ।
स्थेयोभिश्च ततः कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गता
सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः ॥६८

तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः । मुनिभ्योऽन्नौषधावासपुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥६९

भोगित्वाद्यन्तशान्ति-प्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्रदाना-
च्छ्रीषेणो रुग्निषेधाद् धनपतितनया प्राप सर्वौषधर्द्धिम् ।
प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणात् सूकरः स्वर्गमग्र्यं,
कौण्डेशः पुस्तकार्चा-वितरणविधिनाप्यागमाम्भोधिपारम् ॥७०

देवोके तथा चक्रवर्त्यादिकके पदोको भोगता हुआ मोक्षको पाता है। किन्तु सम्यक्त्व और व्रत रहित अपात्रमे दान देना निष्फल होता है। विशेषार्थ—दि० मुनि उत्तमपात्र, अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र, अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र तथा सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिंगी मुनि या श्रावक कुपात्र कहलाते हैं और जो न तो भावसे मुनि, श्रावक व सम्यग्दृष्टि हैं और न द्रव्यसे, वे सब अपात्र है ॥६७॥ भोगभूमिके जीव ऊपरको मुख कर चित्त लेटे हुए जन्मके अनन्तर एक सप्ताह तक अपने अँगूठेको चूसते हैं। इसके अनन्तर सात दिन तक पृथ्वी पर रेंगते है, इसके बाद सात दिन तक मनोहर वचन बोलते हुए डगमगाते हुए पैरो द्वारा गमन करते हैं। इसके बाद एक सप्ताहमे स्थिर पैरोसे गमन करने लगते हैं। इसक अनन्तर एक सप्ताहमे गीतनृत्य आदिक कलाओ और सौंदर्य आदिक गुणोके धारी हो जाते हैं। इसके बाद एक सप्ताहमे नवयौवन अवस्था वाले तथा इष्ट विषयोके सेवन करनेवाले हो जाते है। और इसके अनन्तर एक सप्ताहमे सम्यक्त्व ग्रहण करनेके विषयमे भी योग्य हो जाते है ॥६८॥

उत्तम गृहस्थ मुनियोके लिये दोषोसे रहित और तप तथा श्रुतज्ञानके उपकारक आहार, औषधि, वसतिका तथा शास्त्रादिक पदार्थोको भक्तिसे देवे। भावार्थ—दिगम्बर जैन साधुओंके लिये उद्गम और उत्पादन आदि आहारके दोषोसे रहित तथा साधुके तप और स्वाध्यायके उपयोग-मे सहायक होनेवाले अन्न, औषधि, वसतिका, शास्त्र और पीछी कमण्डलु आदि देना चाहिए ॥६९॥ मुनिके लिये विधिपूर्वक आहारदान देनेसे श्रीषेणराजा उत्तमभोगभूमिमे उत्पन्न होना है आदिमे और शान्तिनाथ तीर्थंकरके पदको पाना है अन्तमे जिसके ऐसे अभ्युदयको प्राप्त हुआ। धनपति सेठकी वृषभसेना नामक पुत्री सर्वौषधिनामक ऋद्धिको प्राप्त हुई। सूकर पूर्व तथा इस जन्ममे मुनियोके निवास व उनकी रक्षा करनेके विषयमे शुभ परिणामोसे पहले सौधर्मस्वर्गको प्राप्त हुआ और कौण्डेश नामक मुनि शास्त्रोकी विधिपूर्वक पूजा करने तथा उनका दान देनेसे द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानके पारको प्राप्त हुए। विशेषार्थ—श्रीषेणराजाने आदित्यगति और अरिञ्जय नामक चारण ऋद्धिधारक मुनियोको आहार दान दिया था, जिसके प्रभावसे उन्हे प्रारम्भमे भोगभूमि तथा अन्तमे शान्तिनाथ तीर्थङ्करके पदका अभ्युदय प्राप्त हुआ था। धनपति सेठकी सुपुत्री वृषभसेनाने मुनिराजके लिये औषधिदान दिया था जिससे उसे सर्वौषध ऋद्धि प्राप्त हुई थी। एक सूकर पहले भवमे मुनिराजके लिये आवासदानके शुभ परिणामसे तथा अपने वर्तमान भवमे मुनिराजके निवास स्थानकी रक्षाके भावमे प्रथम स्वर्गको प्राप्त हुआ था। गोविन्द नामक गोपाल का जीव (कौंडेश

जिनधर्मं जगद्वन्धुमनुवद्धुमपत्यवत् । यतीञ्जनयितुं यस्येत तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥७१
श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद् गुणद्युतौ । असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥७२
आर्यिकाः श्राविकाश्चापि सत्कुर्याद् गुणभूषणाः । चतुर्विधेऽपि सघे यत् फलत्युप्तमनल्पशः ॥७३
धर्मार्थकामसध्रीचो यथौचित्यमुपाचरन् । सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥७४
सर्वेषा देहिनां दु खाद् बिभ्यतामभयप्रद । दयार्द्रो दातृधौरेयो निर्भीः सौरूप्यमश्नुते ॥७५
भूत्वाऽऽश्रितानवृत्त्याऽऽर्तान् कृपयाऽनाश्रितानपि । भुञ्जीताह्न्यम्बुभैषज्यताम्बूलैलादि निश्यपि ॥७६
यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः । व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥७७

नामक मुनि) शास्त्रकी पूजा और दानके प्रभावसे द्वादशाङ्गके ज्ञानको प्राप्त हुआ था ॥७०॥ उत्तम गृहस्थ पुत्रके समान ससारके प्राणियोके उपकारक जिनधर्मको परम्परासे चलानेके लिये और मुनियोको पैदा करनेके लिये प्रयत्न करे और विद्यमान मुनियोको श्रुतज्ञान आदिक गुणोके द्वारा उत्कृष्ट करनेके लिये प्रयत्न करे। भावार्थ—जैसे अपने वशकी परम्परा चलानेके लिये सन्तानको उत्पन्न करने और उसे गुणी बनानेका प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार जगत्‌के सच्चे बन्धु जैनधर्मकी परम्परा चलानेके लिये नये मुनियोकी उत्पत्तिके लिये तथा जो वर्तमानमे मुनि है उनमे श्रुतज्ञान आदिककी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥७१॥ कलिकालके प्रभावसे गुणोका विकास करनेके विषयमे सफलता न होनेपर भी प्रयत्न करनेवाले व्यक्तिके पुण्य होता ही है और मुनियोमे गुणोके विकासकी सफलता होनेपर बडा भारी अपना तथा दूसरेका उपकार होता है। विशेषार्थ—सच्चे त्यागी व्रतीके निमित्तसे ही धर्मको स्थिति, रक्षा और वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इसलिये त्यागी सस्थाके निर्माण करने और गुणी बनानेका सदैव प्रयत्न करना चाहिए ॥७२॥

उत्तम गृहस्थ गुण ही हैं भूषण जिन्होके ऐसी आर्यिकाओको और श्राविकाओको भी सत्कृत करे क्योकि चार प्रकारके सङ्घमे भी दिया गया आहार आदिक दान अधिक फल देता है। भावार्थ—गुणवती आर्यिका और श्राविकाको भी पात्र समझकर शास्त्रोक्त विधिसे दान देना चाहिए क्योकि चार प्रकारके सघमे दान दिया हुआ धन भी मनोवाछित फल देता है ॥७३॥ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके साधनमे सहायक पुरुषोको यथा योग्य उपकार करनेवाला बुद्धिमान् पाक्षिक श्रावक धर्म, अर्थ और कामकी सम्पत्तिसे इस लोकमे और परलोकमे आनन्दित होता है ॥७४॥ शारीरिक तथा मानसिक दु खसे डरने वाले सम्पूर्ण प्राणियोको अभय दान देनेवाला आहारादिक दान दाताओमे प्रधान और दयालु गृहस्थ भयरहित होता हुआ सुन्दरता, सौभाग्य और तेज आदिक गुणोको पाता है ॥७५॥ गृहस्थ अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यञ्चोको तथा आजीविकाके न होनेसे दुखी अनाश्रित मनुष्य वा तिर्यंचोको भी दयासे भोजन कराकर दिनमे ही भोजन करे और जल, दवा, पान और इलायची आदिक रात्रिमे भी खा सकता है। भावार्थ—पाक्षिक श्रावक आजीविकाके साधनमे असमर्थ अतएव अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यञ्चोका कर्त्तव्य बुद्धिसे तथा जो अपने आश्रित नही है, ऐसे व्यक्तियोका दया बुद्धिसे दिनमे भरण पोषण कर स्वय भी दिनमे ही भोजन करे, रात्रिमे भोजन नही करे। परन्तु अशक्यावस्थामे पानी, पान, सुपारी, इलायची और दवाई वगैरह यदि रात्रिमे भी खाना पडे तो खा सकता है ॥७६॥ पचेन्द्रिय सम्बन्धी स्त्री आदिक विषय जब तक या जबसे सेवनमे

पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा शिवान्ताभ्युदयप्रदम्। उद्द्योतयेद्यथासम्पन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः ॥७८
समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः। छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा ॥७९
सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥८०
न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन्। सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागसः ॥८१
आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत्। घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥८२
हिंस्रदुःखिसुखिप्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित्। अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात् ॥८३

आना शक्य न हो तब तक या तबसे उन विषयोको फिरसे उन विषयोमे प्रवृत्ति न होनेके समय तक छोड देना चाहिये। क्योकि व्रतसहित मरा हुआ व्यक्ति परलोकमे सुखी होता है ॥७७॥ मोक्षपर्यन्त इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोको प्राप्त करानेवाले पचमी, पुष्पाञ्जली, मुक्तावली तथा रत्नत्रय आदिक व्रत विधानोको करके अपनी आर्थिक शक्तिके अनुसार उद्यापन करना चाहिये, क्योकि नैमित्तिक क्रियाओंके करनेमे मन अधिक उत्साहको प्राप्त होता है ॥७८॥ कल्याणके इच्छुक व्यक्तियोके द्वारा व्रत भली भाँति देश, काल, स्थान और सहायक आदिकको विचार करके ग्रहण किया जाना चाहिये। गृहीत व्रत प्रयत्नसे पालन किया जाना चाहिये। तथा मदके आवेशसे अथवा असावधानीसे भग्न हुआ व्रत जल्दी ही फिरसे धारण किया जाना चाहिये ॥७९॥ सेवनीय स्त्री आदिक विषयोमे सङ्कल्पपूर्वक नियम करना हिंसा आदिक अशुभ कार्योसे निवृत्त होना और पात्रदान आदिक शुभ कार्योमे प्रवृत्ति करना व्रत कहलाता है ॥८०॥ त्रस और स्थावर किसी भी प्राणीको नही मारना चाहिये इस प्रकार ऋषिवचनको प्रमाण माननेवाला गृहस्थ धर्मके निमित्त सदैव अपनी शक्तिके अनुसार अपराधियोकी भी रक्षा करे। फिर निरपराधियोके लिए कहना ही क्या है? अर्थात् उसकी तो रक्षा करनी ही चाहिए ॥८१॥ हिंसाके फलका जानकार व्यक्ति खेती आदिक कार्योमे भी सङ्कल्पी हिंसाको सदैव छोड़ देवे क्योकि असङ्कल्पपूर्वक बहुतसे प्राणियोका घात करनेवाले भी किसानसे जीवोके मारनेका सकल्प करके उनको नही मारने वाला भी धीवर विशेष पापी होता है ॥८२॥ कल्याणको चाहनेवाला गृहस्थ अतिप्रसङ्ग दोष, नरक सम्बन्धी दुःख तथा सुखके नाशका कारण होनेसे हिंसक, दुखी और सुखी प्राणियोके घातको कभी भी नही करे। विशेषार्थ—हिंसककी हिंसा उचित माननेसे अतिप्रसग दोष आता है। दुखी प्राणीकी हिंसा करनेसे नरककी प्राप्ति होती है। सुखी प्राणीकी हिंसा करनेसे सुखका विनाश होता है इसलिये हिंसक, दुखी और सुखी प्राणीकी भी हिंसा त्याज्य है। कोई कहते है कि सिंहादिक क्रूर प्राणीको मार डालनेमे अनेकोकी रक्षा होती है, इसलिये धर्म भी होता है और पापकी प्रवृत्ति भी कम होती है, यह मानना ठीक नही। क्योकि यदि हिंसककी हिंसा करना धर्म है तो हिंसकोका हिंसक भी तो हिंसक है उसको भी मार डालना चाहिये। इस प्रकार अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा और समस्त प्राणियोका मूलोच्छेद हो जावेगा। इसलिये क्रूरको भी नही मारना चाहिये। दयासे ही धर्मकी वृद्धि और पापकी हीनता होती है, क्रूर जीवोको मारनेसे नही। कोई कहते हैं कि दुखी प्राणीको मार डालना चाहिये जिससे उसकी वेदना मिट जावे। यह मानना ठीक नही। क्योकि दुखी अवस्थामे दुखी होकर आकुलता सहित मरनेवाले नरकमे जाते हैं। इसलिये उनके दुःखोका अन्त नही होता, किन्तु नरकमे अधिक दुःखोकी प्राप्ति होती है। इसलिये दुखी प्राणीका भी वध नही करना चाहिये। कोई कहते हैं कि यदि किसी सुखी प्राणीको मार दिया जाय तो वह आगे भी सुखी

स्थूललक्ष क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये । कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥८४
अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रव. । तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥८५
परासाधारणान्गुण्यप्रगण्यानघमर्षणान् । गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यत' ॥८६
सैष प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृन्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्गारोद्धुरं बिभ्रति।
पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहान्त्येतस्य चर्याफलान्यास्वाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥८७

रहेगा इसलिये सुखी प्राणोको मार डालना चाहिये। यह कहना भी ठीक नही। क्योकि मरण सबसे बडा दु ख है, मरणके दु खसे सुखीके सुखमे बाधा आती है। क्योकि मृत्युके दु खसे दुर्ध्यानिका होना सम्भव है और दुर्ध्यानसे मरा प्राणी नरकके दु खोको पाता है ॥८३॥

व्यवहारको प्रधान रूपसे माननेवाला गृहस्थ सम्यग्दशनकी विशुद्धिके लिये तीर्थयात्रा आदिक क्रियाओको और लोगोको अपने अनुकूल करनेके लिये हर्षपूर्वक प्रीतिभोज आदिक क्रियाओको भी करे। भावार्थ—व्यवहारको मुख्य माननेवाला गृहस्थ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिये तीर्थयात्रा आदिक करे और लोगोको अपने अनुकूल करनेके लिये प्रीतिभोज वगैरह भी करावे ॥८४॥ अकीर्तिसे चित्त सक्लेशको प्राप्त होता है और चित्तका सक्लेश या सन्ताप पाप कर्मोके आस्रवका कारण होता है। इसलिये गृहस्थ पुण्यके हेतु चित्तकी प्रसन्नताके लिये अथवा पुण्यके कारणभूत चित्तकी प्रसन्नताके लिये सदैव कीर्तिको उपार्जन करे अर्थात् कमावे। भावार्थ—कीर्ति से मन प्रफुल्लित रहता है और मनके प्रफुल्लित रहसे श्रेय (पुण्यास्रव) होता है। तथा मनका प्रफुल्लित न रहना (सन्ताप रहना) अशुभास्रवका कारण है। इसलिये कीर्तिका उपार्जन करना चाहिए ॥८५॥ कीर्तिका विस्तार करनेमे तत्पर गृहस्थ दूसरे पुरुषोमे नही पाये जानेवाले गुणवान पुरुषोके द्वारा सम्माननीय और पापोके नाश करनेवाले दान तथा शील आदिक गुणोको सदैव बढावे। भावार्थ—दान, सत्य, शौच और सत्स्वभाव इन चारोसे कीर्ति प्राप्त होती है। कीर्तिके इच्छुक व्यक्तिके ये चारो बातें दूसरोकी अपेक्षा असाधारण विशेषताको लिये, बडे-बडे गुणीजनोके द्वारा उल्लेखनीय—तथा स्वार्थके लिए न होकर निष्पापवृत्तिसे होना चाहिये। इस प्रकारसे असाधारण, गणनीय और निष्पापवृत्तिसे दान, सचाई, शौच और सत्स्वभावसे कीर्तिकी प्राप्ति होती है ॥८६॥ जिनेन्द्र भगवान्के वचनोंके अभ्यासरूप अमृतके द्वारा वैराग्यरूपी वृक्षको निरन्तर सीचनेवाला वह पाक्षिक श्रावक वैराग्यरूपी वृक्षके प्रशमसुख रूपी रसकी अभिव्यक्तिके द्वारा लबालब भरे हुए कालकृत आत्मीय परिणतिरूपी पाकको धारण करनेवाले तथा आगे-आगे बडे-बड़े ऐसे दर्शनिकादी प्रतिमारूपी फलोको आस्वादन करके उत्पन्न हुई है शक्ति जिसके ऐसा अर्थात् सामर्थ्यवान् होता हुआ मुनिधर्मरूपी प्रासादको आरोहण करे अर्थात् मुनिधर्मरूपी प्रासादके ऊपर चढे। भावार्थ—पाक्षिक श्रावक जिनभगवान्के उपदेशरूपी अमृतके अनुभवसे ससार शरीर और भोगोसे विरक्त होकर वैराग्यरूपी वृक्षके समता सुखरूपी रसकी अभिव्यक्ति सहित आत्मीय परिणतिको धारण करनेवाले और आगे-आगे बडे-बडे दर्शनिक आदि प्रतिमारूपी फलोका अनुभव करके मुनिधर्म पालन करनेकी योग्यता प्राप्त कर मुनिधर्मरूपी प्रासादपर आरोहण करे ॥८७॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

●

तृतीय अध्याय

देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशत. स्यात् । दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिक सुलेश्यतरः ॥१
दर्शनिकोऽथ व्रतिक. सामयिकी प्रोषधोपवासी च ।
सच्चित्तदिवामैथुन-विरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥२
अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्या. ।अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥३
दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुक । स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिक. स्यान्न नैष्ठिक ॥४
तद्वद्दर्शनिकादिश्च स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् । लभते पूर्वमेवार्थाद् व्यपदेशं न तूत्तरम् ॥५
प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः । योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ॥६

देशसयमका घात करनेवाली कषायोके क्षयोपशमकी क्रमश वृद्धिके वशसे श्रावकके दर्शनिक आदि ग्यारह सयमस्थानोके वशीभूत और उत्तम लेश्यावाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है। विशेषार्थ—जिसके देशसयमकी घातक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उत्तरोत्तर अधिक क्षयोपशम होता है, जिसकी लेश्या उत्तरोत्तर विशुद्ध होती है और इसी कारण जो श्रावकके दर्शनिक आदि ग्यारह सयमस्थानोमेसे किसी एकका पालन करता है वह 'नैष्ठिक' कहलाता है। निर्मल दर्शनवालेको दर्शनिक और निर्मल व्रतवालेको व्रतिक कहते है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम और लेश्याका नैर्मल्य आगे-आगेकी प्रतिमाओमे उत्तरोत्तर अधिक होता है ॥१॥ दर्शनिक, व्रती, सामयिकी, प्रोषधोपवासी और सच्चित्तविरत तथा दिवामैथुनविरत ये छह श्रावक देशसयमधारक श्रावकोमे जघन्य गृहस्थ हैं। अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रहविरत ये तीन श्रावक मध्यम तथा ब्रह्मचारी हैं तथा अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये दो श्रावक उत्तम तथा भिक्षुक हैं। भावार्थ—दर्शनिक और व्रतिक आदिक प्रथम छह प्रतिमाधारी जघन्य-श्रावक और गृहस्थ कहलाते हैं। सप्तम, अष्टम और नवम प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक और ब्रह्मचारी कहलाते हैं। तथा दशम और एकादश प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक और भिक्षु कहलाते हैं ॥२-३॥ कृष्ण, नील और कापोत इन लेश्याओमेंसे किसी एकके वेगसे किसी समय किसी इन्द्रियके विषयमे उत्कण्ठित तथा किसी मूलगुणके विषयमे अतिचार लगानेवाला गृहस्थ पाक्षिक श्रावक कहलाता है, नैष्ठिक नही। भावार्थ—परिणामोमे कदाचित् कृष्ण, नील और कापोत लेश्याके वेगके आ जानेसे यदि नैष्ठिक श्रावक पचेन्द्रियोंके किसी एक विषयमे उत्सुक हो जावे अथवा उसके किसी मूलगुणमे अतिचार लग जावे तो वह नैतिक संज्ञासे च्युत होकर पाक्षिक कहलाता है ॥४॥ नैष्ठिकश्रावककी तरह अपने-अपने व्रतोमे स्थिरताको प्राप्त नही होनेवाले दर्शनिक आदि श्रावक भी वास्तव मे पूर्व ही सज्ञाको पाता है किन्तु आगेकी सज्ञाको नही। भावार्थ—नैष्ठिक श्रावक अपनी जिस प्रतिमामे दोष लगाता है उससे च्युत होकर उससे नीचेको प्रतिमावाला हो जाता है। व्यवहारसे भले ही उसे उस प्रतिमावाला मान लिया जावे परन्तु निश्चयसे वह जिस प्रतिमाके कर्त्तव्योमे परिपक्व होता है उसी प्रतिमाका धारक कहा जायगा ॥५॥ अरिहन्तके उपासक जिस श्रावकका देशसयम प्रारब्ध घटमान और निष्पन्न तीन प्रकार योग या समाधिकी तरह प्रारब्ध

पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक् । भवाङ्गभोगनिर्विण्ण· परमेष्ठिपदैकधी· ।।७
निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः । न्याय्या वृत्ति तनुस्थित्यै तन्वन् दर्शनिको मतः ।।८
मद्यादिविक्रयादीनि नार्य. कुर्यान्न कारयेत् । न चानुमन्येत मनोवाक्कायैस्तद्व्रतद्युते ।।९
भजन् मद्यादिभाज स्त्रीस्तादृशै सह संसृजन् । भुक्त्याऽऽदौ साकीर्ति मद्यादिविरतिक्षतिम् ।।१०

घटमान और निष्पन्न तीन प्रकार होता है वह देशसयम पालन करनेवाला श्रावक योगीकी तरह तीन प्रकारका हाता है। विशेषार्थ—जिसप्रकार योग अर्थात् समाधि नैगम आदि नयसे प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकार है उसी प्रकार जिनभक्त श्रावकका देशसयम भी प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकारका है। पाक्षिक श्रावक व्रतोका अभ्यास करता है इसलिये वह प्रारब्ध देशसयमी है। नैष्ठिक श्रावक प्रतिमाओके व्रतोको क्रमसे पालता है इसलिये वह घटमान देशसयमी है और साधक श्रावक आत्मलीन होनेसे निष्पन्न देशसयमी है। प्रारब्ध नाम उपक्रान्त या प्रारम्भ करने का है। घटमान नाम निर्वाह करनेका है और निष्पन्न नाम पूर्ण या पर्यन्तका है ।।६।। पाक्षिक श्रावकके आचरणोके सस्कारसे निश्चल और निर्दोष हो गया है सम्यग्दर्शन जिसका ऐसा, ससार, शरीर और भोगोसे अथवा ससारके कारणभूत भोगोसे विरक्त, पञ्च परमेष्ठियोके चरणोका भक्त, मूलगुणोमेसे अतिचारोको दूर करनेवाला, आगेके व्रतिक आदिक पदोके धारण करनेमे उत्सुक तथा शरीरको स्थिर रखनेके लिये न्यायानुकूल आजीविकाको करनेवाला व्यक्ति दर्शनप्रतिमाधारी माना गया है। विशेषार्थ—पाक्षिक सम्बन्धी आचारके सस्कारसे निश्चल और निर्दोष सम्यक्त्ववाला, ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त अथवा ससारके कारणभूत भोगोसे विरक्त, पञ्चपरमेष्ठीका उपासक, निरतिचार अष्ट मूलगुणोका पालक, आगेकी प्रतिमाके धारणको उत्सुक और आजीविकाके लिये अपने वर्ण, कुल और व्रतके अनुकूल कृषि आदिक आजीविका करनेवाला दर्शनप्रतिमाधारी दर्शनिक श्रावक कहलाता है। 'परमेष्ठि-पदैकधी' पदमे आये हुए 'एक' शब्दसे यह सूचित होता है कि दर्शनिक श्रावक आपत्तिके समयमे भी शासनदेवताकी पूजा नही करता। 'भवाङ्गभोगनिर्विण्ण' पदका यह अभिप्राय है कि—दर्शनिकश्रावकके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी आठ कषायोका उदय न होनेसे ससार, शरीर और भोगोके भोगनेपर भी उनमे उसकी आसक्ति नही पाई जाती ।।७-८।।

दर्शनिक श्रावक मद्यत्याग आदि मूलगुणोको निर्मल रखनेके लिये मन, वचन और कायसे मद्यादिककी खरीद तथा विक्री आदि स्वय नही करे, दूसरोसे नही करावे तथा अनुमति नही देवे। भावार्थ—आठ मूलगुणोको निरतिचार पालन करनेके लिये दर्शनिक श्रावक मन, वचन और कायसे मद्य, मास, मधु और मक्खन आदिका व्यापार न स्वय करे, न दूसरोसे करावे और अनुमोदना भी नही करे। आदिशब्दसे यह भी सूचित किया गया है कि अचार, मुरब्बा आदि बनानेका उपदेश भी नही करे ।।९।। मद्य मास आदिको खानेवाली स्त्रियोको सेवन करनेवाला और भोजन वगैरह मे मद्यादिकके सेवन करनेवाले पुरुषोके साथ ससर्ग करनेवाला व्रतधारी पुरुष निन्दासहित मद्यत्याग आदि मूलगुणोकी हानिको प्राप्त होता है। भावार्थ—मद्यादिकका भक्षण करनेवाली स्त्रियोके साथ ससर्ग तथा भोजन करनेसे, उनके पात्रोमे जीमने और उनके साथ जीमने बैठनेसे तथा मद्यादि पीनेवाले पुरुषोके साथ भी इसी प्रकारके ससर्गसे अपयश होता है और मद्यादित्यागव्रतकी हानि होती है इसलिए मद्यादिकके सेवनमे आसक्त स्त्री पुरुषोका भोजनादिकमे

सन्धानक त्यजेत्सर्वं दधितक्रं द्व्यहोषितम् । काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥११
चर्मस्थमम्भ स्नेहश्च हिंग्वसहृतचर्म च । सर्वं च भोज्य व्यापन्न दोष· स्यादामिषव्रते ॥१२
प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये । वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोग नार्हति व्रती ॥१३
सर्वं फलमविज्ञात वार्ताकादि त्वदारितम् । तद्वद् भल्लादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती ॥१४
मुहूर्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽह्नो वल्भाऽनस्तमिताशिन. । गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति ॥१५

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा ।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः ॥१६

ससर्ग नही करना चाहिये ॥१०॥ दर्शनिक श्रावक सर्व प्रकारके अचार मुरब्बा आदिको, जिसे दो दिन तथा दो रात्रियाँ व्यतीत हो चुकी हैं ऐसे दही व छाँछको तथा जिसपर फूलसे आ गये हो ऐसी काजीको भी छोड देवे नही तो मद्यत्यागव्रतमे अतीचार होता है। भावार्थ—वस्तुत २४ घण्टेके पश्चात् अचार (अथाना), मुरब्बा, दही, छाँछ, काजिक आदिकमे रसकायिक अनन्त सम्मूर्च्छन जीव पैदा हो जाते हैं बाद उन सबको नही खाना चाहिये। अन्यथा उनके खानेपर मद्यत्यागव्रतमे अतिचार लगता है ॥११॥ चमडेमे रखा हुआ जल, घी, तैल आदि चमडेको हीग रूप कर लेनेवाले अथवा चमडेसे आच्छादित या चमडेसे सम्बन्ध रखनेवाले हीग और स्वादचलित सम्पूर्ण भोजन आदिका उपयोग करना मासत्यागव्रतमे अतिचार होता है। भावार्थ—चमडेके बर्तनोमे रखे हुए पानी, घी और तैल तथा चमडेको अपने रूप कर लेनेवाले या चमडेमे रखे हुए हीग तथा स्वादचलित वस्तुको खानेसे मासत्यागव्रतमे अतिचार लगता है। यहाँ उपलक्षणसे यह भी अर्थ निकलता है कि चमडेके बर्तनोमे रखी हुई दूसरी वस्तुएँ तथा जिन चालनी, और सूपा आदिकमे चमडा लगा है उनमे रखे हुए आटा आदिको भी नही खाना चाहिए ॥१२॥ मधुत्यागव्रतका पालक व्यक्ति प्राय करके फूलोको नही खावे और व्रती पुरुष वस्त्यादिक कर्मोंमे भी मधु आदिका उपयोग नही कर सकता है। विशेषार्थ—प्राय पुष्पो (फूलो) का खाना और वस्तिकर्म (एनिमा), पिण्डप्रदान, नेत्राञ्जन तथा सेक आदि कार्योंमे मधु और मदिराका उपयोग करना मधुत्यागव्रतके अतिचार हैं। दर्शनप्रतिमाधारी इनका उपयोग नही कर सकता। इस श्लोकमे आये हुए 'प्राय' पदका यह तात्पर्य है कि जिन फूलोको सोध सकते हैं ऐसे भिलावे आदिके फूल खाये जा सकते हैं। 'अपि' शब्दसे यह सूचित होता है कि वस्तिकर्म आदिक कार्योंमे भी जब दर्शनिक श्रावक मधु आदिकका उपयोग नही कर सकता तो स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिये और वाजीकरण आदिक औषधिमे इनका प्रयोग कर ही नही सकता ॥१३॥ उदुम्बरत्यागी श्रावक जिनका नाम नही मालूम, ऐसे सम्पूर्ण अजानफलोको तथा विना चीरे हुए भटा वगैरहको और उसी तरह चवला सेम आदिकी फलियोको नही खावे ॥१४॥ रात्रिभोजनत्याग व्रतका पालन करनेवाले श्रावकके दिनके अन्तिम तथा प्रथम मुहूर्तमे भोजन करना तथा रोगको दूर करनेके लिये भी आम और घी वगैरहका सेवन करना अतिचार-जनक होता है। भावार्थ—रात्रिभोजनके त्यागी दर्शनिक श्रावकको दिनकी प्रारम्भिक और पिछली दो दो घडियोमे भी भोजन नही करना चाहिये। तथा रोगको दूर करनेके लिये भी इन चार घडियोमे आम, घी, केला आदिका सेवन नही करना चाहिये। सूर्योदयके बाद तथा सूर्यास्तके पूर्वकी दो दो घडियोको छोडकर दिनमे ही दवा वगैरह खाना चाहिये। नही तो रात्रिभोजनत्यागव्रतमे अतिचार लगता

द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूना विपच्चारोः कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च ।
पापर्द्ध्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्तदार्यस्त्रिधा ॥१७

जाग्रत्तीव्रकषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै-
श्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः ।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तद्व्रतः
कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगाम् ॥१८

दोषो होढाद्यपि मनोविनोदार्थं पणोज्झिन । हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात् कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा ॥१९
त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्ति वृथाटचा षिङ्गसङ्गतिम् । नित्यं पण्याङ्गनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥२०
दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद् गृह्णतो धनम् । दाय वाऽपह्नुवानस्य क्वाचौर्यं व्यसनं शुचि ॥२१

है ॥१५॥ दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीके वाद जलका नही छानना अथवा छोटे और छिद्र सहित पुराने वस्त्रसे छानना, अथवा छाननेके वादमे वचे हुए इस जलका दूसरे जलाशयमे डालना जलगालनव्रतमे योग्य नहीं ॥१६॥ यत जुआ खेलनेसे युधिष्ठिरके, मासभक्षणसे वकराजाके, मदिरापानसे यदुवंशियोके, वेश्यासेवनसे चारुदत्तसेठके, चोरीसे शिवभूति ब्राह्मणके, शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीके और परस्त्रीसेवनकी अभिलाषासे रावणके वडी भारी विपत्ति प्रसिद्ध है अत दर्शनिक श्रावक मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे दुर्गतिके दु खोको देनेवाले हिंसा आदिक पापोके कारणभूत जुआ आदिक सातो व्यसनोको छोडे ॥१७॥ यत निरन्तर उदयमे आनेवाले तीव्र क्रोधादिकसे कठोर हुए आत्माके परिणामके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले पापोके द्वारा मिथ्यात्वको उल्लङ्घन करनेवाले भी चैतन्यको आच्छादित करनेवाले जुआ आदि सातो ही व्यसन पुरुषोको कल्याणमार्गसे भ्रष्ट कर देते है अत विद्वान् लोग उन जुआ आदिको व्यसन कहते हैं । इसलिये जुआ आदि सप्त व्यसनोका त्याग करनेवाला श्रावक जुआ आदि व्यसनोकी वहिन रसादिकोके सिद्ध करनेकी तत्परताको भी दूर करे । विशेषार्थ—मनुष्यकी जो कुटेव या खोटी आदत मिथ्यात्वपर विजय प्राप्त करनेवाले, सम्यग्दर्शनयुक्त चैतन्यको भी श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट कर देती है उसे व्यसन कहते है । इसलिए व्यसनोका त्यागी दर्शनिक इन व्यसनोकी वहिन (उपव्यसन) रसादिसिद्धिपरताको भी छोड देवे । क्योकि इन कामोमे भी मनकी वृत्ति व्यसनके समान श्रेयोमार्गसे विमुख करती है । ऐसा करनेसे सुवर्ण वनाया जा सकता है और वड़ा धनीपना प्राप्त हो सकता है । यदि ऐसा अजन वनाया जावे कि जिससे जमीनमे गडा हुआ धन नेत्रोसे दिखने लगे तो वडा काम हो जावेगा । मन्त्रादिकसे ऐसी खडाऊँ सिद्ध करना कि जिनके योगसे चाहे जहाँ अदृश्य होकर जाना हो सकता है । ऐसे कार्योमे दिन रात लगा रहना तथा सब धर्म कर्म छोड देना उपव्यसनोमे गिना जाता है ॥१८॥

जुआके त्याग करनेवाले श्रावकक मनोविनोदके लिये भी हर्ष और क्रोधकी उत्पत्तिका कारण होनेसे शर्त लगाकर दौड़ना, जुआ देखना आदि अतिचार होता है क्योकि वास्तवमे आत्माका रागद्वेष रूप कपाय परिणाम पापके लिये होता है ॥१९॥ वेश्याव्यसनका त्यागी श्रावक गीत, नृत्य और वाद्यमे आसक्तिको, विना प्रयोजन घूमनेको, व्यभिचारी पुरुषोकी सगतिको और वेश्याके घर जाने आदिको सदा छोड देवे ॥२०॥ जीवित उत्तराधिकारी भाई आदिसे राजाके प्रतापसे धनको ग्रहण करनेवालेके अथवा कुलकी साधारण सम्पत्तिको भाई वगैरहसे छिपाने-

वस्त्रनाणकपुस्तादिन्यस्तजीवच्छिदादिकम् । न कुर्यान्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम् ॥२२
कन्यादूषणगान्धर्वविवाहादि विवर्जयेत् । परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥२३
व्रत्यते यदिहामुत्राप्यपायावद्यकृत्स्वयम् । तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैव तद्व्रतशुद्धये ॥२४
अनारम्भवधं मुञ्चेच्चरेन्नारम्भमुद्धुरम् । स्वचाराप्रतिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेत् ॥२५
व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् । सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयते तराम् ॥२६
स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणम् । तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं वाञ्छल्लोकद्वये हितम् ॥२७
नित्यं भर्तृमनीभूय वर्तितव्यं कुलस्त्रिया । धर्मश्रीशर्मकीर्त्येककेतनं हि पतिव्रता ॥२८

वालेके अचौर्यव्रत निरतिचार कहाँपर हो सकता है। भावार्थ—उत्तराधिकारीके मौजूद रहनेपर भी (राजसत्ताके बलसे) अपने भाईबन्दके स्वत्वके धनको ग्रहण करना अथवा अधिकारी भाई आदिकी सम्पत्तिको छिपा लेना चौर्यव्यसनत्यागव्रतके अतिचार हैं ॥२१॥ शिकार व्यसनका त्यागी वस्त्र, सिक्का, काष्ठ और पाषाण आदि शिल्पमे बनाये गये जीवोंके चित्रोंके छेदनादिक को नही करे, क्योंकि वह वस्त्रादिकमे बनाये गये चित्रोका छेदन भेदन लोकमे भी निन्दित है। भावार्थ—वस्त्रमे छपे हुए, सिक्कोमे उकरे हुए, चित्रोमे अंकित, तथा धातु, काष्ठ वा हाथीदाँत आदिसे बने हुए जीवोंके आकारोको चीरना, तोडना, फोड़ना, फाड़ना आदि शिकार व्यसनत्यागव्रतके अतिचार हैं। क्योकि ऐसा करना व्यावहारिक लोगोकी दृष्टिमे भी बुरा माना जाता है ॥२२॥ परस्त्री व्यसनका त्यागी श्रावक परस्त्रीव्यसनके त्यागरूपव्रतकी शुद्धिको करनेकी इच्छासे कन्याके लिये दूषण लगानेको और गान्धर्वविवाह आदि करनेको छोडे। विशेषार्थ—माता पिता और बन्धुजनोंकी सम्मति विना ही वर और वधू परस्परके अनुरागमे जो विवाह कर लेते हैं उसे गन्धर्वविवाह कहते हैं और कन्याका हरण करके जो विवाह किया जाता है उसे हरण-विवाह कहते है। परस्त्रीके त्यागीको ऐसे कार्य नही करना चाहिए ॥२३॥ इस लोकमे और परलोकमे भी अकल्याण तथा निन्दाको करनेवाली जो वस्तु स्वय सकल्पपूर्वक छोड़ दी वह वस्तु उस व्रतकी निर्मलताके लिये दूसरे प्राणीके विषयमे भी प्रयुक्त नही की जानी चाहिये। भावार्थ—इस लोकमे निन्दनीय और परलोकमे पापजनक जिस वस्तुका त्याग स्वय किया है उस वस्तुका दूसरेके प्रति भी प्रयोग नही करना चाहिए ॥२४॥ दर्शनिक श्रावक कृष्यादि आरम्भसे अन्यत्र चलने, फिरने, उठने, बैठने आदिसे होनेवाली हिंसाको छोडे, जिस आरम्भका सम्पूर्ण भार अपनेको ही उठाना पडे ऐसे आरम्भको नहीं करे तथा अपने द्वारा ग्रहण किये गये व्रतोंके घात विना लौकिक आचारको प्रमाण माने। भावार्थ—दर्शनिक श्रावकको आवश्यक कृषि आदि क्रियाके आरम्भको छोड़कर समस्त सङ्कल्पी हिंसाका त्याग कर देना चाहिये। खेती आदिक भी स्वय नही करना चाहिये। तथा लोकाचारको प्रमाण मानकर लौकिक व्यवहार करना चाहिये ॥२५॥ दर्शनिक श्रावक विशेष प्रेमको करता हुआ अपनी स्त्रीको धर्ममे अन्य कुटुम्बियोंकी अपेक्षा अधिक व्युत्पन्न करे क्योकि मूर्ख अथवा अपनेसे विरुद्ध स्त्री धर्मसे पुरुषको परिवारके अन्य लोगोंकी अपेक्षा अधिक भ्रष्ट कर देती है ॥२६॥ स्त्रियोंके पतिका अनादर ही विशेष वैरका कारण होता है, इसलिये इसलोक और परलोकमे सुखको चाहनेवाला पुरुष कभी भी स्त्रीको उपेक्षाकी दृष्टिसे नही देखे ॥२७॥ कुलीन स्त्रीको सदा पतिके चित्तके अनुकूल होकर ही आचरण करना चाहिये। क्योकि पतिव्रता स्त्रियाँ धर्म, विभूति, सुख वा कीर्तिका एक घर या ध्वजा होती हैं ॥२८॥ दर्शनिक श्रावक स्त्रीको अन्नकी तरह शारीरिक तथा मानसिक सन्तापकी

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत् । क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥२९
प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मजम् । व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥३०
विना सुपुत्रं कुत्र स्व न्यस्य भार निराकुल । गृही सुशिष्यं गणिवत् प्रोत्सहेत परे पदे ॥३१
दर्शनप्रतिमामित्थमारुह्य विषयेष्वरम् । विरज्यन् सत्वसज्जः सन् व्रती भवितुमर्हति ॥३२

शान्ति पर्यन्त ही सेवन करे क्योकि अन्नकी तरह स्त्रीके भी अधिक सेवनसे धर्म, अर्थ और शरीर तीनो ही क्षीण हो जाते है। भावार्थ—जैसे शरीर और सन्तापकी शान्ति जितनेसे होती है उतना अन्न खाया जाता है, उसी प्रकार श्रावकको शरीर और मनके सन्तापकी शान्ति जितनेसे होती है, उतने ही परिमाणमे स्त्रीससर्ग करना चाहिये, आसक्तिसे नही। क्योकि अन्नके समान स्वदारजनित विषयोके सेवनकी अधिकतासे भी धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका नाश होता है। अभिप्राय यह है कि श्रावकका स्वदारसेवन भी अनासक्तिपूर्वक और मर्यादित होना चाहिये ॥२९॥ दर्शनिक श्रावक अपनी धर्मपत्नीमे पुत्रको उत्पन्न करनेके लिये प्रयत्न करे। और अपने समान ही पुत्रको कुल और लोक सम्बन्धी व्यवहारमे व्युत्पन्न करनेके लिये तथा कुमार्ग या दुराचारसे बचानेको प्रयत्न करे। भावार्थ—अपनी सधर्मिणीमे पुत्रोत्पत्तिका और पुत्रको कुलाचार तथा लोकव्यवहारमे अपने समान विज्ञ बनानेका तथा दुराचारसे बचानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥३०॥ उत्तम शिष्यके बिना धर्माचार्यकी तरह उत्तम पुत्रके बिना दर्शनिक श्रावक अपने भारको कहाँ पर स्थापित करके निराकुल होता हुआ उत्कृष्ट पदमे प्रोत्साहित होवे। भावार्थ—जैसे आचार्यको अपने समान शिष्य भी योग्य बनाना चाहिये और उसके ऊपर सघके शासनका भार सौपकर मोक्षमार्गमे प्रयत्न करना चाहिये। यदि योग्य शिष्य न हो तो आचार्य धर्म-रक्षाका भार किसे सौप कर आत्म-कल्याणमे प्रवृत्त हो सकेगे। उसी प्रकार दर्शनिक श्रावकको भी व्रत आदि प्रतिमाओके पालनके लिये अपने समान योग्य पुत्रकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। नही तो वह अपने द्वारा पोषण करने योग्य अपनी गृहस्थीके भारको किसे सौपकर और निराकुल रूपसे अपने इष्ट मार्गको प्राप्त करेगा? ॥३१॥ श्रावक इस प्रकारसे दर्शनप्रतिमाको धारणकर विषयोमे विशेष या अधिक विरक्त और धैर्य आदि सात्त्विक भावोसे युक्त होता हुआ व्रत प्रतिमाधारी होनेको योग्य है। भावार्थ—इस प्रकार दर्शनप्रतिमाका भली प्रकार पालन कर पाक्षिककी अपेक्षा अथवा अपनी पूर्व अवस्थाकी अपेक्षासे भी विशेष वैराग्य भावनाका धारक श्रावक सत्य तथा धैर्य आदिक गुणोसे सुसज्जित होकर आगेकी व्रतप्रतिमाके पालनके योग्य होता है ॥३२॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

चौथा अध्याय

सम्पूर्णदृग्मूलगुणो नि.शल्य साम्यकाम्यया । धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान्व्रतिको भवेत् ॥१
सागारो वाऽनगारो वा यन्नि शल्यो व्रतीष्यते । तच्छल्यवत्कुदृड्माया-निदानान्युद्धरेद् धृदः ॥२
आभान्त्यसत्यदृड्मायानिदानै. साहचर्यत । यान्त्यव्रतानि व्रतवद् दु खोदर्काणि तानि धिक् ॥३
पञ्चधाणुव्रत त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम् । शिक्षाव्रत चतुर्धेति गुणा स्युर्द्वादशोत्तरे ॥४

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतै ।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतै पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्यु. ॥५

परिपूर्ण सम्यक्त्व और मूलगुणका धारक शल्यरहित तथा इष्टानिष्ट पदार्थोमे रागद्वेपके विनाश करनेकी इच्छासे निरतिचार उत्तरगुणोको धारण करनेवाला व्यक्ति व्रतिक होता है या कहलाता है ॥१॥ यत शल्यरहित गृहस्थ अथवा मुनि ही व्रती माना जाता है अत व्रत का इच्छुक व्यक्ति शल्यकी तरह मिथ्यात्व, माया और निदानको हृदयमे दूर करे। भावार्थ—विपरीत तत्त्व श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते है। पर-वचनाको माया कहते है और व्रत-पालन कर इस भवमे या आगामी भवमे फल पानेकी इच्छाको निदान कहते हैं। मुनि या श्रावक कोई भी हो विना शल्यके त्याग किये 'व्रती' नही हो सकता। इसलिये व्रती होनेवाले व्यक्तिको मिथ्या, माया और निदान नामक तीनो शल्योको अपने हृदयसे निकाल देना चाहिये। जैसे केवल गाय भैंसोके पालनेसे कोई 'गोमान्' नही कहला सकता, किन्तु दूध देने वाली गाय भैंसोके योगसे ही सच्चा 'गोमान्' कहलाता उसी प्रकार केवल व्रतोके पालनसे ही कोई सच्चा 'व्रती' नही हो सकता किन्तु नि शल्य होकर व्रतपालनसे ही व्रती कहला सकता है ॥२॥ दु ख ही है उत्तरफल जिन्होका ऐसे जो अव्रत मिथ्यात्व, माया और निदानके सम्बन्धसे व्रतोकी तरह मालूम होते हैं उन अव्रतोको धिक्कार है। भावार्थ—मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीनो शल्योके सहयोगमे जो व्रताभास व्रतके समान मालूम होते है, उनका फल सवर और निर्जरा नही है किन्तु दु ख (आस्रव और वन्ध) है। इसलिये व्रतियो-को अपने हृदयसे इन तीनोको दूर कर देना चाहिये ॥३॥ पाँच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चार प्रकारका शिक्षाव्रत इस प्रकार गृहस्थोके वारह उत्तर गुण होते हैं। विशेपार्थ—महाव्रतकी अपेक्षासे श्रावकके अहिंसादिव्रत लघु है इसलिये ये 'अणुव्रत' कहलाते हैं। दिग्व्रत आदि व्रत अणुव्रतोमे गुण लाते हैं अथवा अणुव्रतोका उपकार करते हैं इसलिये ये 'गुणव्रत' कहलाते हैं। देशावकाशिक आदि व्रतोसे मुनिव्रत पालनके हेतु प्रतिदिन शिक्षा मिलती है इसलिये ये 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं ॥४॥ किसी गृहविरत श्रावकमें मन वचन काय सम्बन्धी कृत कारित अनुमोदन इन नौ भङ्गो द्वारा स्थूलहिंसा आदिकसे निवृत्त होना पाँच अहिंसा आदि अणुव्रत होते है—और किसी गृहनिरतश्रावकमे अनुमोदनाको छोडकर शेष छह भङ्गोके द्वारा स्थूल हिंसा आदिकसे निवृत्त होना पाँच अहिंसा आदिक अणुव्रत होते है। भावार्थ—व्रतप्रतिमाधारोके दो भेद है। गृहवासविरत और गृहवासनिरत। मन वचन काय इन तीनो भगोको कृत, कारित और अनुमोदना इन तीन भगोसे गुणा करनेपर ९ भग होते हैं। गृहवासविरतके इन नौ ही भगो द्वारा

स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात् स्थूलानामपि दुर्दृशाम् । तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद् वधादि स्थूलमिष्यते ॥६
शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान् । अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम् ॥७
इमं सत्त्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम् । हिनस्तीति वदन्नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा ॥८
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने । न च वर्तयेत्परं तत्परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत् ॥९
इत्यनारम्भजा जह्याद्धिसामारम्भजां प्रति । व्यर्थस्थावरहिंसावद् यतनामावहेद् गृही ॥१०

स्थूल हिसादिक पाँच पापोका त्याग होता है। इसके ही अणुव्रतोका पालन उत्कृष्टवृत्तिसे होता है। मन, वचन, काय इन तीन भगोको केवल कृत और कारित भगसे गुणा करनेसे छह भग होते है। गृहवासनिरतके इन छह भगो द्वारा ही स्थूल पाँच पापोका त्याग होता है। इसके अणुव्रतोका पालन मध्यमरीतिसे होता है। इस का यह तात्पर्य है कि शासन-कर्त्ता चक्रवर्ती आदि जो दण्डविधान करते हैं वह दोपाधायक नही है। क्योकि पुत्र वा शत्रुमे समतारूपसे शासक द्वारा दिया गया दण्ड इस लोक और परलोककी रक्षा करता है। अतएव अपनी-अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार ही शासकजन भी स्थूलहिसा आदिकके त्यागी होते हैं और अपराधियोको दण्ड देना उनका कर्त्तव्य है, दोपाधायक नही। इस प्रकार ९ या ६ भगो द्वारा स्थूल पापोका त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ॥५॥ स्थूल हिंस्य आदिकका आश्रय होनेसे और स्थूल मिथ्यादृष्टियोके भी हिंसा आदिक नामसे प्रसिद्ध होनेसे हिंसा, चोरी आदि स्थूल कहे जाते है। भावार्थ—अणुव्रतोमे जिन हिंसादिक पापोका त्याग होता है उनके विषय स्थूल हिंस्य प्राणी आदिक होते है तथा मिथ्या दृष्टि भी उन्हे हिंसा, चोरी आदिक मानते हैं, इसलिये हिंसादिकके साथ स्थूल विशेषण दिया गया है। साराश यह है कि लोक मे सर्व-साधारण भी जिन पापोको हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह नामसे पुकारते हैं उनको स्थूल हिंसादिक कहते हैं। इन मोटे पापोको त्यागी अणुव्रती कहलाता है ॥६॥ शान्त हो गये हैं—आदिके आठ कपाय जिसके ऐसे, दयाके द्वारा कोमल है हृदय जिसका ऐसे तथा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ सङ्कल्पोसे दो इन्द्रिय आदिक जीवोकी हिंसा नही करनेवाले व्यक्तिके अहिंसा नामक अणुव्रत होता है। भावार्थ—अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका क्षयोपशम होनेपर मन, वचन, काय सम्बन्धी कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ सङ्कल्पोसे त्रस जीवोकी द्रव्य और भाव हिसा नही करना, तथा प्रयोजनवश की जाने वाली स्थावर हिंसासे भी डरना और यथा सभव उनकी भी यतना करना अहिंसाणुव्रत है ॥७॥ गृहविरत श्रावक इस प्राणीको मारता हूँ, तुम इस प्राणीको मारो मारो, तथा यह पुरुप इस प्राणीको मारता है यह अच्छा करता है इस प्रकार मनके द्वारा और वचनके द्वारा हिंसाका सङ्कल्प नही करे तथा दृष्टि और मुष्टिका है जोडना जिसमे ऐसे जीवोके मारनेके विषयमे हस्तादिकके द्वारा स्वय प्रवृत्ति नही करे, दूसरेको प्रवृत्ति नही करावे, तथा स्वय ही जीववध करनेवाले व्यक्तिके विषयमे ताली चुटकी आदि न बजावे। भावार्थ—"मै मारता हूँ, तुम मारो, यह ठीक मार रहा है।" इस प्रकार मनके द्वारा सकल्पी हिंसा होती है। इसी प्रकार तीन प्रकारकी सकल्पी हिंसा वचनसे होती हैं। अपने हाथसे हिंसा करना, दृष्टि और मुष्टि सन्धान रूप दूसरे द्वारा हिंसा कराना तथा हिंसकके कार्यमे ताली और चुटकी वगैरह बजाकर कायकृत हिसाकी अनुमोदना करना। इस प्रकार अहिंसाणुव्रतमे नव सकल्पोसे हिंसाका परित्याग करना आवश्यक है ॥८-९॥

घरमे रहने वाला श्रावक इस प्रकारसे साकल्पिक हिंसाको छोडे और कृष्यादिक आरम्भसे होनेवाली सिंहाके प्रति निष्प्रयोजन एकेन्द्रिय प्राणियोके वधके समाने सप्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोकी

यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासक । एकाक्षवधमप्युज्झेद् य. स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥११
गृहवासो विनारम्भान् न चारम्भो विना वधात् । त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिक ॥१२
दु खमुत्पद्यते जन्तोर्मन सक्लिश्यतेऽस्यते । तत्पर्यायश्च यस्या सा हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥१३
सन्तोषपोषतो य. स्यादल्पारम्भपरिग्रह । भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रत भजेत् ॥१४
मुञ्चन् वन्ध वधच्छेदावतिभारादिरोपणम् । भुक्तिरोध च दुर्भावाद् भावनाभिस्तदाविशेत् ॥१५

हिंसामे भी सावधानी रखे ॥१०॥ यत अहिंसा ही मोक्षका कारण है, अत मोक्षको चाहनेवाला श्रावक जो एकेन्द्रिय प्राणियोका वध त्याग नही किये जा सकने योग्य भोगोपभोगको करनेवाला अथवा सेवन करने योग्य भोगोपभोगको करनेवाला नही होता उस एकेन्द्रिय प्राणियोंके वधको भी छोड देवे। भावार्थ—अहिंसा ही मोक्षका कारण है इसलिये मोक्षका इच्छुक श्रावक त्रसहिंसाके समान ऐसी स्थावर हिंसाका भी परित्याग कर देवे जो सम्पादनीय भोगकारक नही है अथवा जिसका त्याग कर सकना अशक्य नही है। अर्थात् गृहनिरत श्रावकको भी सकल्पी हिंसाके समान निरर्थक स्थावरहिंसाका भी त्याग करना चाहिये ॥११॥ गृहस्थाश्रम आरम्भके विना नही होता और आरम्भ प्राणियोकी हिंसाके विना नही होता, इसलिये सकल्प पूर्वक होनेवाला वह वध प्रयत्न पूर्वक छोडने योग्य है। किन्तु कृष्यादिक कामोके करनेमे होनेवाला वह वध छोडनेके लिये अशक्य है अर्थात् गृहस्थके लिये कृष्यादिक कर्मोमे होनेवाली हिंसाका छोडना शक्य नही। भावार्थ—गृहवास आरम्भके विना नही होता और आरम्भ हिंसाके विना नही होता, इसलिये गृहवासीको अपने किसी मतलवसे 'मैं मारता हूँ' इस प्रकारकी सकल्पी हिंसाका प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। किन्तु खेती आदिक आजीविका करते समय सकल्परहित जो आरम्भी हिंसा होती है वह गृहवासीके लिये दुस्त्यज है ॥१२॥ जिस हिंसामे प्राणीके दु ख उत्पन्न होता है, मन सक्लेशको प्राप्त होता है, और उस प्राणोकी वर्तमान पर्याय विनाशको प्राप्त होती है वह हिंसा प्रयत्नपूर्वक छोडने योग्य है ॥१३॥

जो गृहस्थ मनकी शुद्धिमे है एक ध्यान जिसका ऐसा और सन्तोषकी पुष्टिसे अर्थात् अधिक सन्तोष होनेके कारण थोडा आरम्भ तथा थोडा परिग्रह रखनेवाला है वही गृहस्थ अहिंसाणुव्रतको सेवन करे। भावार्थ —जिसकी सन्तोषवृत्ति अनासक्तिके कारण वर्धमान रहती है। जिसके आरम्भ और परिग्रह इतने अल्प होते हैं कि उनमे आर्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न नही होते और जो अपने भावोकी शुद्धिमे एकाग्र रहता है, वही अहिंसाणुव्रतको पालन कर सकता है ॥१४॥ खोटे परिणामो से वन्धको, वध और छेदको, वहुत वोझा आदिके लादनेको और अन्न-पानके निरोधको छोडनेवाला व्रती पुरुष अहिंसाणुव्रतकी भावनाओ द्वारा उस अहिंसाणुव्रत को पालन करे। विशेषार्थ —गाय, वैल, मनुष्य आदिको रस्सी आदिमे वाधना वन्ध कहलाता है। शिक्षित और सुशील वनानेके लिये शिष्य और पुत्र आदिको जो दण्ड दिया जाता है वह अतिचार जनक नही है। इस श्लोकमे दिये हुए 'दुर्भावात्' पदसे यह ध्वनित होता है कि कषायोके तीव्र उदयके वश होनेसे ही वन्ध अतिचार होता है। विनय आदि गुण सिखानेके लिये प्रयुक्त वन्ध अतिचार नही हैं। वधके दो भेद हैं—सार्थक और निरर्थक। निरर्थक वध तो श्रावकके द्वारा सर्वथा हेय है। सार्थक वधके भी दो भेद है—साक्षेप और निरक्षेप। अपने पालतू जानवर, अग्नि आदिका उपद्रव आनेपर वध ढीला होनेसे स्वय अपनी रक्षा कर सके, इस अपेक्षासे लगाये गये ढीले वन्धनको साक्षेप सार्थक वध कहते हैं। इस वधमे वद्ध प्राणीकी रक्षाकी जिम्मेदारी अवश्य रखना चाहिये। अथवा श्रावकको वे ही पालतू जानवर आदि

गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्ति त्यजेद् बन्धादिना विना । भोग्यान् वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयम् ॥१६
न हन्मीति व्रत क्रुध्यन् निर्दयत्वान्न पाति न । भनक्त्यघ्नन् देशभङ्गत्राणात् त्वतिचरत्यधीः ॥१७
सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽशभञ्जनम् । मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्या. परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः ॥१८

रखना चाहिये जो बधके बिना ही रह सके । वध—वेंत और चाबुक आदिसे मारना वध कहलाता है । दुर्भावोसे वेत वगैरह मारना अतिचार हे । यदि कोई आश्रित विनय न करता हो, तो उसे इस ढगसे चाबुक मारना चाहिये जिससे उसके मर्मस्थानोको आघात नही पहुँचे तथा लता व डोरीके चाबुकसे एक दो बार हो ताडना देना चाहिये । इसके विपरीत करनेसे यह भी अहिसाणुव्रतका अतिचार होता है । छेद—शरीरके नाक, कान वगैरह अवययोको खोटे भावोसे निर्दयता पूर्वक काट डालनेको छेद कहते हैं । वैद्य या डाक्टर स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये सान्त्वना देते हुए रोगीके अवयवो का छेद करता है किन्तु उसकी भावना खोटी नही रहती । इससे वह अतिचार नहो है । अति-भारादिरोपण—जो प्राणी जितना बोझ लाद सकता है, उससे अधिक लादना ढोना अतिभारादिरोपण नामका अतिचार है । उत्तम वात तो यही है कि श्रावक सचेतन प्राणियोके ऊपर बोझ लादकर आजोविका ही नही करे । कदाचित् करना ही पडे तो मनुष्य पर इतना बोझ लादे जिसे स्वय लाद सके और उतार सके तथा योग्य समय पर उसे छुट्टी दे । चौपायो पर भी बोझ उनकी शक्तिसे कुछ कम लादे । हल वा गाडी वगैरहमे जानवरोको जोतते समय उन्हे उचित समय पर छोडने और विश्राम देनेका ध्यान रखे अन्यथा अतिचार लगता है । भुक्तिरोध—दुर्भावोसे अन्न पानके रोक देनेको भुक्तिरोध कहते है । बिना भोजनके प्राणी मर जाते हैं । इसलिए अपराधीको भय दिखानेके लिए "तेरे लिए भोजन नही दिया जावेगा" इस प्रकार वचनसे भले ही कहे, परन्तु समय पर उन्हे भोजन अवश्य देवे । शान्तिके लिए उपवास करना अतिचार नही है । जो आश्रित अपराधी वा रोगी है, उसको अन्न नही देना हित तथा स्वास्थ्य की दृष्टिसे लाभदायक है । इस अहिसाव्रतकी रक्षाके लिए मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, इर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकितपानभोजन इन पाँच भावनाओका यथाशक्य पालन करना चाहिए ॥१५॥

नैष्ठिक श्रावक गौ, वैल आदि जानवरोके द्वारा अपनी आजीविकाको छोडे अथवा यदि इस उत्तम पक्षको स्वीकार करनेमे असमर्थ हो तो भोग करनेके योग्य उन गौ आदि जानवरोको बधन, ताडन आदिके विना ग्रहण करे, अथवा यदि यह मध्यम पक्ष भी स्वीकार करनेमे असमर्थ हो तो निर्दयतापूर्वक उनका वधादिक नही करे। भावार्थ —नैष्ठिक श्रावक गाय, भैस आदिसे आजीविका नही करे । गाडी रखना, वैल लादना, हल जोतना इत्यादि रूपसे आजीविका नही करे । कदाचित् दूध-दही खाने, लादने, ढोने और जोतनेके लिये जानवरोको पाले तो उन्हे बाधे नही, यदि बाँधे तो निर्दयतापूर्वक नही बाधे ॥१६॥ क्रोध करनेवाला अज्ञानी पुरुष दयारहित होनेसे अहिसाणुव्रतको पालन नही करता है और जीवोको साक्षात् नही मारनेवाला वह अहिसाणु-व्रतका भङ्ग भी नही करता किन्तु व्रतके एकदेशका भग तथा एकदेश की रक्षा करनेसे अतिचार लगाता है । भावार्थ—क्रोधी व्यक्ति जब किसीको कससे बाधने आदिमे प्रवृत्त होता है तव उसके दयाका अभाव होनेसे अन्तरगमे तो अहिसाव्रतका सच्चा पालन नही हो रहा है, परन्तु जीवको वह बाँध रहा है, साक्षात् मार रहा है, इस प्रकार एक दृष्टिसे भग और एकदेश पालन होनेके कारण वधादि करनेपर अतिचार दोप × लगता है ॥१७॥ व्रतमे

मन्त्रादिनापि बन्धादि कृतो रज्ज्वादिवन्मल.। तत्तथा यतनीयं स्यान्न यथा मलिनं व्रतम् ॥१९
हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वत.। हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥२०
प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः। प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसञ्चय ॥२१
कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्। नित्योदया दयां कुर्यात् पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥२२

अपेक्षा रखनेवाले व्यक्तिका व्रतका एकदेश भग होना अतिचार कहलाता है। मत्र-तत्रके प्रयोग हैं आदिमे जिनके ऐसे दुष्ट कर्मोके कारणभूत ध्यानादि दूसरे शास्त्रोंमे कहे गये खोटे कर्म भी व्रतकी अपेक्षापूर्वक उसके एकदेश भग होने रूप प्रकारसे अतीचार समझना चाहिये। भावार्थ—व्रतमे अपेक्षा रखनेवाले व्यक्तिका अन्तरग व वहिरग किसी एक वृत्तिसे व्रतका भग होना अतिचार कहलाता है। इसलिए उक्त पाच अतिचारके अतिरिक्त मत्र-तत्र आदिकके द्वारा किये गये किसी प्राणीके वध आदिक भी अतिचार है। इष्टक्रियाके सिद्ध करनेमे समर्थ विशिष्ट अक्षरोंके समूहको मंत्र तथा सिद्ध औषधियोको तत्र कहते हैं ॥१८॥ मत्रादिकके द्वारा भी किया गया बंधादिक रस्सी आदिसे किये गये वधकी तरह अतिचार होता है। इसलिये उस प्रकारसे यत्नत्रपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिये जिस प्रकारसे व्रत मलिन या अतिचार सहित नही होवे। भावार्थ—जैसे रस्सी आदिसे किसी का बाधना आदि अतिचार बताया है, उसी प्रकार मत्र-तत्र आदिके द्वारा किया गया वध आदि भी अतिचार है। क्योंकि मत्र तत्र आदिके द्वारा किये गये वध आदिमे भी व्रतका एकदेश भग और पालन होनेसे अतिचारका लक्षण घट जाता है। इसलिए प्रत्येक व्रतको भावनाओ पूर्वक तथा प्रमाद-परिहार पूर्वक इस तरह पालन करना चाहिये, जिससे लिये हुए व्रत मलिन नहीं होने पावें ॥१९॥ श्रावक यथार्थ रीतिसे हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको विचार करके हिंसाको इस प्रकार-से छोडे जिस प्रकारसे व्रतोको ग्रहण करनेवाला वह श्रावक प्रतिज्ञाके भगको प्राप्त नही होवे। भावार्थ—हिंसा किसकी होती है, हिंसक कौन है, हिंसा किसे कहते है? हिंसाका क्या फल है, इन वातोका गुरु और अन्य विद्वानोंके साथ तत्त्वदृष्टिसे खूब विचार करके अहिंसाणुव्रती हिंसाका इस रीतिसे त्याग करे कि जिससे उसकी गृहीत प्रतिज्ञाका भग नही होने पावे ॥२०॥ कषायसे युक्त आत्मा हिंसक है। द्रव्य और भाव रूप प्राण हिंस्य कहलाते हैं उन द्रव्यभावरूप प्राणोका वियोग करना हिंसा है और खोटे कर्मोका वध हिंसाका फल है। भावार्थ—प्रमादसहित परिणामयुक्त व्यक्ति हिंसक कहलाता है। द्रव्य और भाव प्राण हिंस्य है। प्राणोका वियोग हिंसा कहलाती है। और नाना प्रकारके पापका वध हिंसाका फल है ॥२१॥

अहिंसाणुव्रतकी निर्मलताका इच्छुक श्रावक कषाय, विकथा, निद्रा, मोह और इन्द्रियोंके विधिपूर्वक निग्रह करनेसे पापरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यकी प्रभाके समान तथा सदैव ही प्रकाशित रहनेवाली दयाको करे। भावार्थ—पन्द्रह प्रमादोको जीतकर पापरूपी अन्धकार को नाश करनेके लिए सूर्यकी कान्तिके समान सदा उदित रहनेवाली दया करना चाहिये। दया भावकी वृद्धिके लिए क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें, भोजनकथा, स्त्रीकथा, देशकथा और राजकथा ये चार विकथायें, निद्रा, प्रणय और पांच इन्द्रियोकी प्रवृत्ति इन पन्द्रह प्रमादोका त्याग आवश्यक है। यह मेरा है, इस प्रकारका सकल्प प्रणय कहलाता है। निद्रा और चारो कषाय प्रसिद्ध हैं। विकथाओका स्वरूप इस प्रकार है—ये चावल बढिया और मोहक है। मुझे अच्छी तरह खाना चाहिये, तुम खाओ, जो लोग खाते हैं, वे बहुत अच्छा करते हैं। इस प्रकार भोजनकी

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत । भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ।।२३
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ।।२४
जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कमप्रेक्ष्यजन्तुकम् । प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ।।२५

कथाको भोजन (भक्त) कथा कहते है । कर्नाटक देशकी स्त्रियाँ भोगविलासके समय उपचार करनेमे चतुर होती है, लाट देशकी स्त्रियाँ चतुर और प्यारी होती हैं। काश्मीर और कामरूप देशकी स्त्रियाँ बहुत ही सुन्दर होती है। अमुक स्त्रियोके हाव-भाव पहनाव या कटाक्ष बहुत बढिया होते है। इत्यादि स्त्रियोकी कथाको 'स्त्रीकथा' कहते है। दक्षिणदेश बढिया भोजन और बढिया भोग-विलासकी सामग्रीसे युक्त है। पूर्व देशमे गुड, खाड, धान और नाना प्रकारके मद्य तैयार होते हैं। उत्तरदेशके मनुष्य शूरवीर, घोडे घौड लगाने वाले, गेहूँओकी अधिकता और मेवा वगैरहसे भरपूर हैं। पश्चिमदेशमे कोमल कपडे, ईखोकी सुलभता आदि है। इस प्रकार देशकी कथाको राष्ट्रकथा कहते हैं। हमारे राजा शूर और दानी हैं, इनके ज्यादह घोडे और हाथी हैं—इत्यादि राजाकी कथाको राजकथा कहते है। ये भोजन खराब हैं, अमुक स्त्रियाँ खूबसूरत नही हैं, अमुक देश खराब है और अमुक राजा खराब है। इस प्रकार विकथाओका निन्दाके रूपमे भी प्रतिपादन किया जा सकता है ।।२२।। यदि बन्ध और मोक्ष परिणाम ही हैं प्रधान कारण जिनका ऐसे अर्थात् भावोके अधीन नही होवे तो सर्व ओरसे जीवोके द्वारा भरे हुए ससारमे कहाँ पर चेष्टा करनेवाला कौन मुमुक्षु पुरुष मोक्षको प्राप्त कर सकेगा अर्थात् कोई भी नही। भावार्थ—लोक जीवोसे ठसाठस भरा है। ऐसा कोई स्थान नही है, जहाँ सम्मूर्च्छन जीव नही हो, ऐसी हालतमे प्राणोसे जीवहिंसा हुए विना रह नही सकती। परन्तु यदि बन्ध और मोक्ष भावके अधीन नही माने होते तो कहाँ रहकर कौन मुक्ति प्राप्त कर सकता था। किन्तु जैन शासनमे बन्ध और मोक्ष भावो पर आश्रित है, अत प्रमत्तजीव बन्धता है। और अप्रमत्त जीव मुक्तिको प्राप्त करता है ।।२३।। व्रतोका पालक श्रावक अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये धैर्यसे युक्त होता हुआ रात्रिमे मन, वचन, कायसे चारो ही प्रकारके भी आहारको जीवन पर्यन्तके लिये छोडे। विशेषार्थ—अन्न, पान, लेह्य और खाद्य ये चार प्रकारके आहार है। अहिंसाव्रतकी रक्षा और मूलगणोकी विशुद्धिके लिये श्रावक साहसी बनकर मन वचन कायसे रात्रिमे चारो प्रकारके आहारोका परित्याग करे ।।२४।। आश्चर्य है कि जलोदर आदिक रोगोको करनेवाले जूँ वगैरह हैं मध्य मे जिसके ऐसे, नही दिखाई देते हैं जन्तु जिसमे ऐसे, और प्रेतादिकके द्वारा उच्छिष्ट भोजनको और त्यागी हुई वस्तुको भी रात्रिमे खाने वाला पुरुष अपनेको सुखी मानता है। विशेषार्थ—(१) सूर्यका प्रकाश नही होनेसे भोजनके ग्रासमे जलोदर आदि रोगोत्पादक जूँ आदि देखे नही जा सकनेके कारण खानेमे आ सकते हैं। (२) जल घी आदिमे मिले हुए छोटे छोटे कीडे देखे नही जा सकते। (३) खजूर आदिमे लिपटे हुए छोटे छोटे कीडे नही दिखते। (४) परोसने आदिके लिये चलने फिरनेमे जीवोका घात सम्भव है। (५) क्षुद्र व्यन्तरादिको द्वारा भी भोजन उच्छिष्ट पाया जा सकता है। (६) त्यागी हुई वस्तु मिश्रित होने पर पहचानी नही जा सकती। इसलिये रात्रिमे भोजन करना कल्याणकारक नही हो सकता। इसके सिवाय पेटमे गया जूँ जलोदर रोग, मकडी कुष्ट रोग, मक्खी वमन, बिच्छू तालुगतरोग, कुण्टक नामका कीडा और एक विशेष प्रकारका काष्ठका टुकडा गलरोग तथा बाल (केश) स्वर-भग रोग कर देता है ।।२५।।

त्वा यद्युपैमि न पुन. सुनिवेश्य रामं लिप्ये वधादिकृदधैस्तदिति श्रितोऽपि ।
सौमित्रिरन्यशपथान् वनमालयैक दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन् ॥२६
यत्र सत्पात्रदानादि किञ्चित्सत्कर्म नेष्यते । कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये ॥२७
भुञ्जतेऽह्न सकृद्वर्या द्विर्मध्या पशुवत्परे । रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यान्नावगामुका. ॥२८
योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तमुहूर्तौ रात्रिवत्सदा । स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्धं नयन् कियत् ॥२९

सुना जाता है कि यदि रामचन्द्रजीको सुव्यवस्थित करके मैं फिरसे तुमको प्राप्त नही होऊं अर्थात् तुम्हारे पास नही आऊ तो मैं हिंसा आदिको करनेवाले पुरुषोंके पापोसे लिप्त होऊँ इस प्रकारसे दूसरी प्रतिज्ञाओको ग्रहण करनेवाला भी लक्ष्मण इस लोकमे वनमालाके द्वारा दूसरी प्रतिज्ञाओसे रहित एक रात्रिमे भोजन करनेवाले पुरुषोंके पापोंसे लिप्त होने रूप प्रतिज्ञाको प्रेरित किये गये। भावार्थ—कैकेयीकी कुटिलतावश दशरथके द्वारा वनवास प्राप्त होनेपर जब लक्ष्मण और सीताके साथ राम वनको गये तब कुछ ही समय पूर्व कूर्चनगरके अधिपति राजा महीधरकी कन्याके साथ लक्ष्मणका विवाह हुआ था। जब वनमालाको लक्ष्मणका वनवास ज्ञात हुआ तो वियोगसे विह्वल हो वह आत्मघातको उद्यत हुई। इसी समय अकस्मात् लक्ष्मणसे भेंट हो गई, तब उसने उनके साथ चलनेका आग्रह किया। तब वनमालाको समझाने लगे कि मै रामचन्द्रजीको इष्टस्थानपर पहुचाकर वापिस आता हूँ। परन्तु जब वह सन्तुष्ट नही हुई तब लक्ष्मण ने उसे विश्वास दिलानेके लिये गोहत्या स्त्रीवध आदिके पापोंसे लिप्त होनेकी अनेक शपथे खाई, किन्तु वनमालाने लक्ष्मणसे यह शपथ कराई कि "रामको इष्ट स्थानमे पहुचाकर यदि मैं वापिस नही आऊँ तो रात्रिभोजनके पापसे लिप्त होऊँ।" इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमे रात्रिभोजन बडा भारी पाप समझा जाता था। इसलिये रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये ॥२६॥ जिस रात्रिके समय सत्पात्रदान, स्नान और देवपूजा आदि कोई भी शुभकर्म नही किया जाता है उस पापपूर्ण रात्रिके समयमे कौन अपने हितको चाहनेवाला पुरुष भोजन करेगा? अर्थात् कोई भी नही करेगा। भावार्थ—रात्रिका समय अनेक दोषमय है। उसमे जैनोकी तो बात ही क्या, जैनेतरोमें भी पात्रदान, स्नान, देवपूजा, आहुति, श्राद्ध और भोजन आदि शुभकर्म नहीं किये जाते। ऐसी दशामे लोकद्वयमें आत्मकल्याणके इच्छुक जैन श्रावकको रात्रिमे भोजन भूल करके भी नही करना चाहिए ॥२७॥ उत्तम पुरुष दिनमे एक बार, मध्यम पुरुष दो बार और सर्वज्ञके द्वारा कहे गये रात्रिभोजनत्याग व्रतके गुणोको नही जाननेवाले जघन्य पुरुष पशुओकी तरह रात दिन खाते है ॥२८॥ जो पुरुष सदा ही रात्रिकी तरह दिनके आदि और अन्तिम मुहूर्तको छोड़ता हुआ भोजन करता है अपने आधे जन्मको उपवासके द्वारा व्यतीत करनेवाला वह पुरुष कितना प्रशंसित किया जावे? अर्थात् वह अत्यधिक प्रशंसाका पात्र है ॥२९॥ व्रतोको पालन करनेवाला गृहस्थ अतिप्रसङ्ग दोषको दूर करनेके लिये तथा तपको बढानेके लिए व्रतरूपी बीजकी रक्षा करनेके लिये बाडके समान व्रतोकी रक्षाके कारणभूत भोजनके अन्तरायोको पाले। विशेषार्थ—जैसे खेतकी रक्षा उसके चारो तरफ की गई बाडसे होती है। उसी प्रकार रात्रिभोजन त्यागरूप व्रतकी रक्षा उसके अन्तरायोको दूर करनेसे होती है। यदि व्रती श्रावक इन अन्तरायोको नही पालेगा तो उसके अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा और उसके जीवनमे तपकी वृद्धि नही हो सकेगी। भोजन करते समय शिथिलताके कारण अन्तरायका लक्ष्य नही रखा जायगा, तो

अतिप्रसङ्गमसितुं परिवर्धयितु तप । व्रतबीजव्रतीर्भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥३०
दृष्ट्वाऽऽर्द्रचर्मास्थिसुरामासासृक्पूयपूर्वकम् । स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्क-चर्मास्थिशुनकादिकम् ॥३१
श्रुत्वाऽतिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनि.स्वनम् । भुक्त्वा नियमित वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥३२
संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतै' । इद मासमिति दृष्ट-सङ्कल्पे चाशन त्यजेत् ॥३३
गृद्ध्यै हुङ्कारादिसञ्ज्ञा सङ्क्लेशं च पुरोऽनु च । मुञ्चन्मौनमदन्कुर्यात् तप संयमबृंहणम् ॥३४
अभिमानावने गृद्धिरोधाद् वर्धयते तपः । मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५
शुद्धमौनान्मन'सिद्ध्या शुक्लध्यानाय कल्पते । वाक्सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ॥३६

मनुष्य की लोलुपताकी सीमा नही रह सकेगी और वह भोजनके विषयमे कितना शिथिलाचारी हो जावेगा, यह कहा नहीं जा सकता। इस प्रकारके दोपको 'अतिप्रसङ्ग' दोष कहते है। इच्छा-निरोधको तप कहते हैं। भोजन करनेकी तैयारी हो चुकी है और ऐसे समयमे यदि अन्तराय आ जाय तथा उसके आते ही अन्न, जल छोड दिया जावे तो स्वाभाविक रीतिसे इच्छानिरोध होकर श्रावकका तप वन जाता है। इसलिये अन्तराय टालकर भोजन करना चाहिये। इससे व्रतोकी रक्षा होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३०॥ व्रती गृहस्थ गीला चमडा, हड्डी, मदिरा, मास, खून तथा पीव आदि पदार्थोंको देख करके, रजस्वला स्त्री, सूखा चमडा, सूखी हड्डी, कुत्ता, बिल्ली व चाडाल आदिको स्पर्श करके, अत्यन्त कठोर शब्दोको और विड्वर प्रायशब्दोको सुनकर तथा त्यागी हुई वस्तुको खाकरके खाने योग्य पदार्थ से—अशक्य है अलग करना जिनका ऐसे त्रस आदि जीवोसे अथवा तीन चार आदि मरे हुए जीवोसे खाने योग्य पदार्थके मिल जानेपर और यह खाने योग्य पदार्थ मासके समान है इस प्रकारसे मनके द्वारा सङ्कल्प होनेपर भोजनको छोडे। विशेपार्थ—सिर काटो इत्यादि वचनको कर्कश वचन कहते है। हाय हाय इत्यादि वचनको आर्तस्वर कहते हैं। शत्रुकी सेना चढ आई इत्यादि आतङ्क उत्पादक वचनको विड्वरप्राय शब्द कहते हैं। जिनके कारण भोजन त्याज्य होता है इन्हे अन्तराय कहते है ॥३१॥

खाने योग्य पदार्थकी प्राप्तिके लिए अथवा भोजन विषयक इच्छाको प्रगट करनेके लिये हुँकारना और ललकारना आदि इशारोको तथा भोजनके पीछे सक्लेशको छोडता हुआ भोजन करनेवाला व्रती श्रावक तप और सयमको वढानेवाले मौनको करे। भावार्थ—मौनसे तप और सयमकी वृद्धि होती है। इसलिये व्रती श्रावक भोजन करते समय मौनका पालन करे। तथा किसी वस्तुकी लोलुपतासे 'हूँ हूँ' करना, अँगुलीका इशारा करना, खासना, खखारना, भौहे चलाना, सिर मटकाना इत्यादि इशारे का त्याग करे। लोग भोजन कराते समय परोसने आदि का ख्याल नही रखते अथवा परवाह नही करते इत्यादि रूपसे भोजनके आगे या पीछे सक्लेश नही करे ॥३४॥ मौन स्वाभिमान की अर्थात् अयाचकत्व रूप व्रतको रक्षा होनेसे तथा भोजन विषयक लोलुपताके निरोधसे तपको वढाता है और श्रुतज्ञानकी विनयके सम्बन्धसे पुण्यको वढाता है। भावार्थ—मौनपूर्वक भोजन करनेसे मौनीके स्वाभिमानकी रक्षा होती है, याचनाजनित दोष नही लगता, सन्तोपके कारण भोजन विषयक लोलुपताका निरोध होता है इससे तपकी वृद्धि होती है तथा भोजनादिकमे मौन रखनेसे शब्दात्मक द्रव्यश्रुतकी विनय पलती है इसलिये कल्याणकी वृद्धि होती है ॥३५॥ श्रावक और मुनि निरतिचार मौनव्रत पालनसे मनकी सिद्धिके द्वारा शुक्लध्यानके लिये समर्थ होता है और वचनकी सिद्धिके द्वारा एक ही कालमे तीनो लोकोके भव्यजीवोका उपकार

उद्योतनं महेनैकघण्टादानं जिनालये । असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके ॥३७
आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत् । मौनं कुर्वीत शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छिदे ॥३८
कन्यागोक्ष्मालीक-कूटसाक्ष्यन्यासापलापवत् । स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥३९
लोकयात्रानुरोधित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रयम् । ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥४०

करनेके लिये समर्थ होता है। भावार्थ—साधु तथा श्रावकके भोजनादिके समय निरतिचार मौनव्रतके पालनसे मनकी सिद्धि होती है, जिससे वे शुक्लध्यानके लिये समर्थ होते हैं। यथा वाक्सिद्धि भी प्राप्त होती है, जिसके प्रमादसे केवलज्ञान या दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश देनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥३६॥ अपनी शक्तिके अनुसार किसी नियत कालके लिये ग्रहण किये गये मौनव्रतमे वडे भारी उत्सव अथवा पूजनके साथ जिनमन्दिरमे एक घटाका दान करना उद्यापन है और जीवन पर्यन्तके लिये ग्रहण किये गये मौनव्रतमे उस मौनका निराकुल रीतिमे पालन करना उद्यापन ही है। भावार्थ—परिमित कालके लिये गृहीत मौनको असार्वकालिक मौनव्रत और यावज्जीवके लिये गृहीत मौनको सार्वकालिक मौनव्रत कहते हैं। असार्वकालिक मौनव्रतका ही उद्यापन किया जाता है। और उत्सव या जिनपूजन पूर्वक जिनमन्दिरमे एक 'घटा' दान करना ही उसका उद्यापन है। सार्वकालिक मौनव्रतमे यावज्जीव मौनका पालन करना ही उद्यापन है ॥३७॥ श्रावक या मुनि वमनकी तरह सामायिक आदि छह आवश्यकोमे मलमूत्रके क्षेपण करनेमे, पापके कार्योमे और स्नान, भोजन तथा मैथुन आदिकमे मौनको करे अथवा वहुतसे वचन सम्वन्धी दोषोको दूर करनेके लिये निरन्तर ही मौनको करे ॥३८॥ व्रती श्रावक कन्या-अलीक, गो-अलीक, पृथ्वी-अलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलापकी तरह अपने तथा परको विपत्तिके हेतु सत्यको भी छोडता हुआ सत्याणुव्रतधारी कहलाता है। विशेषार्थ—कन्या-अलीक, गोअलीक, पृथ्वीअलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलाप रूप वचनका नही वोलना तथा जिसके वोलनेसे अपने तथा दूसरेपर विपदा आनेकी सम्भावना हो ऐसा सत्य भी नही वोलना और वोलनेके लिये दूसरेको प्रेरणा भी नही करना सत्याणुव्रत कहलाता है। जिस कन्याके साथ किसी कुमारकी शादीकी वातचीत चल रही हो या होनेवाली हो उसके विषयमे विवाद उपस्थित होनेपर विपरीत वोलना 'कन्या-अलीक' कहलाता है। यहाँ 'कन्याशब्द' द्विपदका उपलक्षण है। इसलिये इसी प्रकारके अन्य द्विपदोके सम्वन्धमे झूठ वोलना भी कन्या-अलीकमे गर्भित होता है। गायकी विक्रीके समय या खरीदते समय कम दूध देनेवालीको अधिक दूध देनेवाली और अधिक दूध देने वालीको कम दूध देनेवाली वताना 'गो अलीक' नामक असत्य है। यहाँ पर 'गोशब्द' उपलक्षण है इसलिये सम्पूर्ण चौपायो सम्वन्धी झूठका ग्रहण करना चाहिये। खेत, जमीदारी वा वृक्ष वगैरह चीजोके सम्वन्धका झूठ 'क्ष्मालीक' कहलाता है। रिश्वत वगैरह लेकर अथवा मात्सर्यसे झूठी गवाही देना 'कूटसाक्ष्य' कहलाता है। झूठी गवाही देनेवालेके द्वारा दूसरेके द्वारा किये गये पापोका समर्थन होता है इसलिये यह धर्म-विरुद्ध है। सुरक्षित रहनेकी इच्छासे किसीके पास जेवर वगैरह धरोहर रखना 'न्यास' कहलाता है। न्यासके सम्वन्धमे झूठ वोलना 'न्यासापलाप' कहलाता है। सत्याणुव्रतीको इन सवका त्याग करना चाहिए ॥३९॥

सत्याणुव्रतका पालक श्रावक लोकव्यवहारके विरुद्ध नही होनेसे सत्यसत्य आदिक तीन प्रकारके वचनोको वोले। किन्तु लोकव्यवहारके विरुद्ध होनेसे असत्यासत्य वचनको कभी भी नही

यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतम् । तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥
असत्यं वय वासोऽन्धो रन्धयेत्यादि सत्यगम् । वाच्य कालातिक्रमेण दानात्सत्यमसत्यगम् ॥४२
यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्ये दास्यामीत्यादिसंविदा । व्यवहार विरुन्धान नासत्यासत्यमालपेत् ॥४३
मोक्तु भोगोपभोगाङ्गमात्रं सावद्यमक्षमाः । ये तेऽप्यन्यत्सदा सर्वं हिंसेत्युज्झन्तु वानृतम् ॥४४
मिथ्यादिशं रहोऽभ्याख्या कूटलेखक्रिया त्यजेत् । न्यस्ताशविस्मर्त्रनुज्ञा मन्त्रभेद च तद्व्रत ॥४५

बोले । भावार्थ—वचन चार प्रकारका है—सत्यसत्य, सत्यासत्य, असत्यसत्य और असत्यासत्य । इनमेसे प्रारम्भिक तीन वचन ही बोलना चाहिये, जिससे लोकव्यवहार नही बिगडने पावे किन्तु अन्तिम असत्यासत्य वचन कभी भी नही बोलना चाहिये, क्योकि इसके वोलनेसे लोकव्यवहार विगड जाता है ॥४०॥ जो वस्तु जिस देश, काल, प्रमाण और आकार वाली प्रसिद्ध हे उस वस्तुके विषयमे उसी देश, काल, प्रमाण और आकार रूप कथन करनेवाले सत्यसत्य वचनको बोलना चाहिये । भावार्थ—जो वस्तु जिस देश या कालमे जितनी सख्या वाली और जिस आकार हो उसको उसी देश वा उसी कालमे उतनी ही सख्या वाली और उसी आकार रूप कहना 'सत्यसत्य' वचन कहलाता है । यह वचन बोलने योग्य होता है ॥४१॥ सत्याणुव्रतके पालक श्रावकके द्वारा 'वस्त्रको वुनो, भातको पकाओ' इत्यादिक सत्यसूचक असत्य वचन तथा कालकी मर्यादाका उल्लघन करके देनेसे असत्यसूचक सत्य वचन बोलने योग्य है । भावार्थ—सत्यसूचक असत्य वचनको सत्यासत्य कहते हैं । हे कोरो ! तुम कपडा वुनो, हे भाई ! तुम भात बनाओ इत्यादि असत्यकी ओर झुकने वाला सत्य असत्यसत्य कहलाता है । जैसे किसीका रुपया १५ दिनमे चुकानेका वायदा करके अधिक समयमे चुकाना । ये दोनो प्रकारके वचन बोलने योग्य है । क्योकि इनमे लोकव्यवहार नही विगडता ॥४२॥ सत्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक जो वस्तु अपनी नही है वह वस्तु मै तुम्हारे लिये प्रात काल दूँगा, इत्यादि रूप प्रतिज्ञाके द्वारा लोकव्यवहारको बाधा देने वाले असत्यासत्य वचनको नही वोले ॥४३॥ जो केवल भोग और उपभोगके साधनभूत सावद्य वचनको छोडनेके लिये असमर्थ है वे पुरुप भोगोपभोगके साधनभूत सावद्य वचनोको छोड करके अन्य सब प्रकारके भी सावद्य वचनको हिंसा ऐसा मान कर सदैवके लिये त्याग करे ॥४४॥ सत्याणुव्रतका पालक, श्रावक मिथ्यापदेशको, रहोऽभ्याख्याको, कूटलेखक्रियाको, न्यस्ताशन्विस्मर्त्रनुज्ञाको तथा मन्त्र-भेदको छोडे । विशेषाथ—मिथ्योपदेश, रहोऽभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यस्ताशविस्मर्त्रनुज्ञा और मन्त्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं । सत्याणुव्रतीको इनका परित्याग करना चाहिये । मिथ्योपदेश—अभ्युदय और मोक्षसे सम्वन्ध रखने वाली क्रियाके विषयमे सन्देह होने पर 'किस प्रकारकी प्रवृत्ति करनी चाहिये' ऐसा प्रश्न होने पर समझदारीके विना विपरीत मार्गका उपदेश देना अथवा प्रमादके वश होकर परपीडाकारक उपदेश देना अथवा विवादके उपस्थित होने पर स्वय वा दूसरेके द्वारा किसी एकको ठगनेका उपाय वताना मिथ्योपदेश कहलाता है । परन्तु जान-बूझ कर मिथ्योपदेश करना अनाचार है । रहोभ्याख्या—एकान्तमे स्त्री पुरुषोकी आपसमे होने वाली चेष्टाओको हास्य तथा विनोद आदिसे प्रगट करना उन दम्पती तथा दूसरोके लिये रागवर्धक होनेसे अतिचार है परन्तु किसी प्रकारकी हठसे या रागादिकके आवेशसे उनकी चेष्टाओका प्रगट करना अनाचार है । कूटलेखक्रिया—किसी ने न तो कहा ही है और न किया ही है केवल पर-प्रयोगसे जानकर किसीको ठगनेके लिये यह लिख देना कि उसने इस प्रकारसे कहा है अथवा किया है । कूटलेखक्रिया कहलाती है । अन्याचार्योके मतमे दूसरोके जैसे अक्षर या मुहर वनानेको

परस्वं चौरव्यपदेश-करस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात् ।
परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्ददीत न परस्वम् ॥४६
सक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम् । अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥४७
नास्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादिधनं यत । धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ।४८
स्वमपि स्व मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम् । यदा तदादीयमानं व्रतभङ्गाय जायते ॥४९
चोरप्रयोगचोराहृतग्रहावधिकहीनमानतुलम् । प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात्॥५०

'कूटलेखक्रिया' कहते हैं। न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—रखी धरोहर उठाने आये व्यक्तिसे धरोहरकी संख्या भूल जाने पर यह कहना कि इतनी ही थी न, हमें भी इतनी ही की याद है, जितनी तुम बताते हो, ले जाओ, यह न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा कहलाती है। मन्त्रभेद—अंग विकार तथा भौंहोंके निक्षेपणसे और के अभिप्रायका अनुमान लगाकर ईर्ष्यादिकके कारण प्रकट करना अथवा विश्वास-पात्र मित्रादिकके साथ अथवा अपने साथ मंत्र किये हुए लज्जा उत्पादक अभिप्रायका प्रगट कर देना 'मन्त्रभेद' कहलाता है ॥४५॥ चौर नामको करनेवाली स्थूल चोरीका है त्याग जिसके ऐसा पुरुष अर्थात् अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक मृत्युको प्राप्त हो चुके पुत्रादिकसे रहित अपने कुटुम्बी भाई वगैरहके धनमें तथा सम्पूर्ण लोगोंके द्वारा भोगने योग्य जल, घास आदि पदार्थों-से भिन्न दूसरे धनको न तो स्वयं ग्रहण करे और न दूसरेके लिये देवे। भावार्थ—घर फोड कर, ताला तोड़कर या और किन्ही उपायोंसे परकी अदत्त चेतनाचेतनात्मक वस्तु न तो स्वयं ग्रहण करना और न दूसरोको देना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। जिसके यह व्रत होता है, वह अचौर्याणुव्रती कहलाता है। यह जिस पर अपना हक पहुँचता है ऐसे मृत कुटुम्बीके धनका तथा सर्व साधारणके लिये रुकावट रहित जलाशयके पानी और खानिकी मिट्टीको बिना दिये ले दे सकता है ॥४६॥ बिना दिये हुए अपनेसे भिन्न है स्वामी जिसका ऐसे अर्थात् दूसरेके तृणको भी रागादिकके आवेगसे ग्रहण करनेवाला अथवा दूसरेके लिये देनेवाला पुरुष निश्चयसे चोर होता है। भावार्थ—राग द्वेष पूर्वक दूसरेकी मालिकीके तिनकेको भी लेने वाला चोर है, इसमे कोई संशय नहीं। क्योंकि प्रमाद-के योगसे दूसरेकी वस्तुको स्वयं ग्रहण करने वा और को वितरण करनेमें चोरी होती है ॥४७॥ अचौर्याणुव्रतके पालक श्रावकके द्वारा यह धन स्वामिहीन है ऐसा विचार करके जमीन और नदी आदिमे रखा हुआ धन ग्रहण करने योग्य नही है। क्योंकि इस लोकमे जिस धनका कोई स्वामी नही है ऐसे धनका साधारण स्वामी राजा होता है ॥४८॥ जिस समय अपना भी धन यह धन मेरा है अथवा नही इस प्रकारसे संशयका स्थान होता है उस समय ग्रहण किया गया अथवा दूसरेके लिये दिया गया अपना भी धन व्रतभङ्गके लिये होता है। भावार्थ—कभी अपनी वस्तुमे भी संशय हो जाता है कि यह वस्तु मेरी है या और की ? ऐसी स्थितिमे व्रतीको उस संशयापन्न वस्तुका भी ग्रहण नही करना चाहिये और न उठा कर दूसरेको ही देना चाहिये। क्योंकि उस वस्तुके ग्रहण या दानसे उसका अचौर्यव्रत भंग हो जाता है ॥४९॥

अचौर्याणुव्रतका पालक श्रावक चोरोंका उपाय बतानेको और चोरके द्वारा लाई हुई वस्तुके खरीदनेको मान तथा तुलाके हीनाधिक रखनेको प्रतिरूपक-व्यवहारको और विरुद्ध-राज्यमें अतिक्रमको छोडे। भावार्थ—चोरप्रयोग, चोराहृतग्रह, हीनाधिकमानतुल, प्रतिरूपकव्यवहार और विरुद्धराज्यातिक्रम ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। चोरप्रयोग—चोरी करने वालेको स्वयं

या दूसरेके द्वारा "तू चोरी कर" इस प्रकारकी प्रेरणा करना अथवा जिसे पहले प्रेरण की थी उसको "तू ठीक कर रहा है" इस प्रकार अनुमोदना करना अथवा चोरोको कुश, कैंची, गैंती आदि चोरीके उपकरणोको समर्पण करना वा बेचना इत्यादिको चोर प्रयोग कहते है। चोरसे यह कहना कि आज कल आप बेकार क्यो बैठे हो, यदि आपके पास भोजन वगैरह नही हो, तो हमसे ले जाओ। आप जो वस्तु चुराकर लाते हैं, यदि उसका कोई खरीददार आपको नही मिलता हो, तो मै बेच दूगा। इस प्रकारके वचनोसे वह चोरको चोरीमे प्रवृत्त कराता है, परन्तु स्वय अपनी कल्पनामे वह चोरी नही कर रहा है। वह अपने व्रतकी अपेक्षा रखते हुए चोरीके लिये चोरका सहायक होता है, इसलिये यह 'चोर प्रयोग' नामका अतिचार है। चोराहृतग्रह—विना प्रेरणा या बिना अनुमोदनाके चोर द्वारा स्वय लाई वस्तुका ग्रहण करना चोराहृतादान कहलाता है। चोरीकी वस्तु खरीदनेवाला भी चोर है। परन्तु वह अपने मनमे यह समझता है कि मै स्वय चोरी नही कर रहा हूँ, मै तो कीमत देकर खरीद रहा हूँ। इस प्रकार व्रत सापेक्ष होनेसे तथा परिणामोमे अदत्तादानकी ओर झुकाव होनेसे एकदेश भंगाभग होनेके कारण यह 'चोराहृतादान' नामका अतिचार है। अधिकहीनमानतुल—कपडे आदिका व्यवहार नापने द्वारा और धान्य आदिका व्यवहार तोलने द्वारा होता है। अपने लिये लेते समय नापने तोलनेके बडे उपकरणोसे वस्तुका ग्रहण करना और दूसरोको देते समय छोटे वाट और गज आदिसे वस्तुका देना इस प्रकारके अप्रामाणिक व्यवहारको अधिकहीनमानतुल नामक अतिचार कहते हैं। क्योकि ऐसा करनेसे दूसरेकी अदत्त वस्तुका एक प्रकारसे ग्रहण होनेसे एकदेशका भग होता है और प्रत्यक्षमे भग नही कर रहा है। उसके एकदेशसे व्रतका भग और अभग हो रहा है, इसलिये यह अतिचार है। प्रतिरूपकव्यवहृति—सदृश अल्पमूल्य वाली वस्तुको बहुमूल्य वस्तुमे मिलाकर व्यवहार करना प्रतिरूपकव्यवहृति नामक अतिचार है। जैसे—घीमे चरबी मिलाकर बेचना, तेलमे मूत्र मिलाकर बेचना, असली सोने चादीमे कम कीमतके सोना चादी मिलाकर बेचना और धानमे धानका भुसा मिलाकर बेचना इत्यादि। यहा पर भी एक प्रकारसे पर द्रव्यका अदत्तग्रहण होनेसे व्रतका भग और व्रतकी अपेक्षा मौजूद रहनेसे व्रतका अभग मानकर अतिचार माना गया है। क्योकि इस प्रकार अतिचार लगानेवालेकी भावना ऐसी होती है कि किसीका ताला तोडना या सेध लगाना ही चोरी है, कम बढ तोलना और अधिक मूल्यकी वस्तुमे कम मूल्यकी वस्तु मिलाकर बेचना चोरी नही है, किन्तु व्यापार है। यह एक प्रकारकी व्यापारी की कला है। ऐसी भावनासे अपनी समझसे वह व्रतभङ्ग नही कर रहा है। विरुद्धराज्यातिक्रम—राजाका राज्य छिन जानेपर अथवा एक राजाके ऊपर दूसरे राजाका आक्रमण होनेपर राज्यकी जो स्थिति होती है उसको विरुद्धराज्यातिक्रम कहते है। ऐसे अवसर पर शासन की गडबड रहती है। अत अति-लोभसे उचित न्यायमार्गका उल्लघन करके कम कीमत की चीजको अधिक कीमतमे देना और अधिक कीमतकी वस्तुको कम कीमतमे खरीदना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार है। अथवा परस्पर विरोधी राजाओकी सीमा वा सेनाकी जो व्यवस्था होती है उसका अतिक्रम करना अर्थात् अमुक सीमातक ही परस्पर विरोधी राजाओके आदमी जा सकते है, सीमाका उल्लघन करके नही जा सकते, इस प्रकारकी व्यवस्थाका व्यापार आदिके लोभसे उल्लघन करना, सीमाकी परवाह न करके दूसरेके राज्यमे आदमीको भेजना वा बुलाना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार है। क्योकि सीमाका उल्लघन करते समय वहाँके राजाकी आज्ञा पालन नही की गई, वहाँ की भूमि पर जाना एक प्रकार अदत्तका आदान हो चुका

प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकारः । इत्यप्रत्ययितमना श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसन्तोषम् ॥५१
सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ । न गच्छत्यहंसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥५२
सन्तापरूपो मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत् । स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥५३

सम-रस-रस-रङ्गोद्गम-मृते च काचित् क्रिया न निर्वृतये ।
स कुतः स्यादनवस्थित-चित्ततया गच्छतः परकलत्रम् ॥५४

स्त्रियं भजन् भजत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च । योनिजन्तून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्रः स्वस्त्रीरतोऽप्यतः ॥५५

और उसकी आज्ञा भगकी एवजमें दण्ड दिया जा सकता है, इस दृष्टिसे व्रत भङ्ग हुआ है। परन्तु मैं दूसरेकी भूमिमें आया हूँ या आदमी भेजा है, बिना ऐसा किये हमारा काम नहीं बन सकता अर्थात् खासी नफा नहीं मिल सकती, मैंने व्यापार किया है, चोरी नहीं की, इस प्रकार की भावना करता है। विरुद्धराज्यमें अतिक्रम करनेवाला अपने व्रतका भङ्ग नहीं मानता है। इसलिये भगाभग रूप होनेसे यह अतिचार है। इसी प्रकार विरुद्धराज्यातिक्रमके प्रथम अर्थमें भी शासनकी गडबडसे लोभातिरेकके कारण भग, उसकी व्यापारकी भावनासे अभंग सिद्ध होनेसे अतिचार है। ये चोर प्रयोग आदि पाँचो ही अतिचार यदि साक्षात् किये जावें तो चोरीरूप हैं। कोई सामन्त अपने मालिकके यहाँ रहकर राजाके शत्रुके साथ उसको सहायता देनेकी जो क्रिया करता है वह उसका विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है ॥५०॥

ब्रह्मचर्यत्वकी भावना भाना ही रमण करनेकी इच्छारूप वेदनाका प्रतिकार होता है। स्त्रीसम्भोग नहीं इस प्रकारसे उत्पन्न नहीं हुआ है चित्तमें विश्वास जिसके ऐसा अहिंसाणुव्रतका पालक श्रावक स्वदारसन्तोष नामक व्रतको स्वीकार करे। भावार्थ—मैथुनसंज्ञाकी वेदनारूपी रोगका इलाज ब्रह्मचर्य ही है, भोगोंकी ओर प्रवृत्त होना नहीं। भोग भोगनेमें यद्यपि खाज खुजानेके समान तत्काल शान्ति मालूम होती है, परन्तु उससे पुनः भोगकी तृष्णा बढ़ती है। इसलिये जब मैथुनकी इच्छा हो तब ब्रह्मचर्यके विचारोंका आश्रय लेना चाहिये, परन्तु जिसके चित्तमें दृढ़ता नहीं है, वह स्वदारसन्तोष व्रतको धारण करे ॥५१॥ जो गृहस्थ पापके भयसे परस्त्री और वेश्याको मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे न तो स्वयं सेवन करता है न परपुरुषोंसे सेवन करवाता है वह गृहस्थ स्वदारसन्तोष नामक अणुव्रतका पालक है। भावार्थ—परस्त्री और वेश्याका पापके डरसे मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनसे न तो स्वयं सेवन करना और न दूसरोंसे सेवन कराना, केवल अपनी धर्मपत्नीमें सन्तोष रखना स्वदार सन्तोष व्रत कहलाता है ॥५२॥ यदि स्त्रीसम्भोग सन्तापको करनेवाला तथा मूर्च्छाजनक, सहनशीलतानाशक और तृष्णाका बढानेवाला होता है। फिर भी यदि यह स्त्रीसम्भोग सुख माना जाता है तो ज्वरमें क्यों ईर्ष्या है? अर्थात् ज्वरको भी सुख मानना चाहिये ॥५३॥ जब समरसरूप रसरङ्गकी उत्पत्तिके बिना अर्थात् समान रतिके बिना आलिङ्गन आदि कोई भी क्रिया सुखके लिये नहीं होती तब अनवस्थित चित्तपनेसे परस्त्रीको सेवन करनेवाले पुरुषके वह समरस रूप रसरंग अर्थात् समान रति कहाँसे हो सकती है। भावार्थ—समरसरसरङ्गोद्गमका अर्थ समान रति है। वह समान रति अपनी स्त्रीके समागमसे ही प्राप्त हो सकती है। परस्त्री सम्भोगमें उसके पति, कुटुम्बी, अन्य व्यक्ति तथा जनताका भय रहता है। इस कारण चित्तकी वृत्ति स्थिर नहीं रहती इस प्रकार परस्त्री-सेवनमें समान रति जनित सुखकी सम्भावना नहीं। इसलिये इस समान रतिके बिना परस्त्रीके सम्बन्धमें की गई आलिंगन और चुम्बन आदि कोई भी क्रिया सुखरूप नहीं हो सकती ॥५४॥ स्त्रीको सेवन करनेवाला पुरुष

स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो नेच्छेद्योऽन्या. स्त्रियः सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभाव' स्यात् किं वर्ण्यं वर्णिन पुन ॥५६
रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणम् । परपूरुषमुज्झन्ती स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥५७
इत्वरिकागमन परविवाहकरण विटत्वमतीचारा ।
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडा च पञ्च तुर्ययमे ॥५८

राग और द्वेषको अवश्य ही सेवन करता है और वह वहुतसे सूक्ष्म योनि सम्बन्धी जीवोको मारता है इसलिये अपनी स्त्रीको सेवन करनेवाला भी मनुष्य हिंसक होता है। भावार्थ—स्त्रीके सेवनसे राग-द्वेपकी उत्पत्ति होती हे, इसलिये तो भावहिंसा होती है और योनिगत वहुतसे सम्मूर्च्छन जीवोका घात होता है, इसलिये द्रव्यहिंसा भी होती हे। इस प्रकार अपनी स्त्रीका प्रसग करनेवालेको भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका पाप लगता है ॥५५॥ अपनी स्त्रीमात्रमे ही सन्तुष्ट होता हुआ जो कभी भी अन्य स्त्रियोकी इच्छा नही करता है वह स्वदार-सन्तोषी पुरुष भी अद्भुत प्रभाव या माहात्म्य वाला होता है। फिर सम्पूर्ण स्त्रियोसे विरक्त ब्रह्मचारीके माहात्म्यका क्या वर्णन किया जा सकता है ॥५६॥ रावणको त्यागनेवाली सीताकी तरह रूप, ऐश्वर्य और कलाओमे उत्कृष्ट अर्थात् असाधारण परपुरुषको त्यागनेवाली स्त्री देवोके द्वारा भी पूजी जाती है। भावार्थ—जैसे सीताने रूप, ऐश्वर्य और कलाओमे सर्व श्रेष्ठ रावणको चाह नही की थी जिससे उसका ससारमे आजतक यश विख्यात है, उसी प्रकार जो सती रूपादिक गुणोमे श्रेष्ठ भी परपुरुषका त्याग करती है वह उभय-लोकमे देवताओके द्वारा पूजी जाती है ॥५७॥ इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, कामतीव्राभि-निवेश और अनगक्रीडा ये पाँच सार्वकालिक ब्रह्मचर्याणुव्रतमे अतिचार होते हैं। विशेषार्थ—इत्वरिकागमन, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश, परविवाहकरण और अनगक्रीडा ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है। इत्वरिकागमन—विना स्वामीवाली असदाचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। इसके गणिका, पुँश्चली, व्यभिचारिणी, दारिका और वेश्या आदि अनेक नाम हैं। इत्वरिका स्त्रीके यहाँ गमन करनेवालेके यदि ऐसी भावना हो कि रुपया पैसा देकर जितने कालतक मैं अपनी स्त्री समझकर सेवन करता हूँ उतने कालतक वह परस्त्री नही हे, इस-लिये मेरे व्रतका भग नही होता, परन्तु वह वास्तवमे स्वपत्नी नही है, इसलिये व्रतका भग होता है। इस प्रकार व्रतके भग होनेसे यह अतिचार है। परविवाहकरण—अपनी स्त्रीको छोडकर अन्य सर्व प्रकारकी स्त्रियोके त्यागी स्वदार सन्तोषीके एव अन्य सब प्रकारकी स्त्रियोका त्रियोगसे सेवन और प्रेरणाके त्यागी परदारनिवृत्तिव्रतधारीके विवाह दम्पत्तियोके मैथुनका साधक होनेसे 'पर-विवाहकरण' निषिद्ध है। परन्तु इस प्रकार व्रत लेनेवाला अपने मनमे यह समझता है कि मैंने इन वर-वधूका विवाह ही कराया है, सम्भोग नही कराया हे, इस दृष्टिसे गृहीतव्रतका अभग है। परन्तु वास्तवमे वह विवाह मैथुनके लिए कारण है, इसलिये व्रतका भग समझना चाहिये। यह व्रत पालनेवाले दो हैं—एक सम्यग्दृष्टि दूसरा भद्रमिथ्यादृष्टि। उनमेसे सम्यग्दृष्टि तो अज्ञानके कारण कन्यादानके फलकी इच्छासे अतिचार करता है तथा भद्रमिथ्यादृष्टि अनुग्रह की दृष्टिसे दूसरोकी कन्या वा पुत्रोके विवाह करके अतिचार सेवन करता है। विवाह नही करनेसे कन्या और पुत्र स्वेच्छाचारी हो जावेगे और शास्त्र तथा लोक व्यवहारमे विरोध आवेगा। इस विचारसे ब्रह्मचर्याणुव्रतीको अपनी कन्या तथा पुत्रका विवाह करना दोषजनक नही है। परन्तु

ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु । ग्रन्थस्तत्कर्षनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥५९
उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकम् । अन्तरङ्गं जयेत्सङ्गं प्रत्यनीकप्रयोगतः ॥६०
अयोग्यासंयमस्याङ्गं सङ्गं बाह्यमपि त्यजेत् । मूर्च्छाङ्गत्वादपि त्यक्तुमशक्यं कृशयेच्छनैः ॥६१

कोई योग्य भाई बन्धु वगैरह इनके विवाहकी जिम्मेदारी ले लेवें तो व्रतीको अपनी कन्या या पुत्र का विवाह नहीं करना चाहिये। विटत्व—रागवर्धक, आसक्तिद्योतक, अश्लील वचन बोलना 'विटत्व' नामका अतिचार है। क्योंकि यह अपने सिवाय दूसरेके मनमें भी काम-भाव जागृत करता है। स्मरतीव्राभिनिवेश—कामासक्तिके कारण सब पुरुषार्थ छोडकर एक कामसेवन व्यवसाय मान लेना। चिडवा चिडवीके समान अपनी स्त्रीके साथ पुनः पुनः कामसेवन तथा अनेक प्रकारकी कुचेष्टायें करना, वाजीकरण औषधियोको खाकर मैं हाथी वा घोडेके समान बल प्राप्त करके भोग भोगनेमें समर्थ होऊँगा इत्यादि आसक्तिपूर्वक कामकी अधिकतामें रागद्वेष करनेको 'स्मरतीव्राभिनिवेश' कहते हैं। यह अतिचार अपनी ही स्त्रीमें अत्यासक्तिके कारण होता है। अनगक्रीडा—अंग शब्दका अर्थ स्त्रीकी योनि और पुरुषका लिंग है। इन अगोंके सिवाय दूसरे अगोंमें कायकृत कुचेष्टा करना अनगक्रीडा है। अतिकामी व्यक्ति जो रागोत्पादक नाना प्रकारकी कुचेष्टायें करते हैं, वे सब अनगक्रीडामें शामिल हैं। स्त्रियोकी अपेक्षासे भी चार अतिचार तो पुरुषोके समान होते हैं। एक 'इत्वरिका गमन' की जगह 'परपुरुष गमन' नामका अतिचार इस प्रकार समझना चाहिये कि किसी पुरुषके दो स्त्रियाँ है, उनकी सहूलियतके लिए उसने दिन नियत कर दिये हैं। जिस पत्नीका जो दिवस है उस पत्नीको उसी दिन अपने पतिके साथ स्त्रियोचित व्यवहार करना चाहिये। दूसरी पत्नीके दिन उसका पति इसके लिये परपुरुष ही है। यदि उस दिन इसकी बारी नहीं है और अपने पतिके साथ वह सहवास करेगी तो इसको 'परपुरुषगमन' नामका अतिचार लगेगा अथवा अपना पति जिस दिन ब्रह्मचर्य व्रतसे हो उस दिन अतिक्रम करनेवाली स्त्रीके यह प्रथम अतिचार लगेगा ॥५८॥ चेतन, अचेतन तथा चेतनाचेतनात्मक मिश्र वस्तुओमें यह मेरी है, अथवा मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकारके सङ्कल्प, अथवा ममत्व परिणामोका नाम परिग्रह है, तथा उस परिग्रहके कम करनेसे उन चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओंका कम करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। विशेषार्थ—स्त्री पुत्र आदि सजीव वस्तुओंको चेतन, स्वर्ण और चाँदी आदि अजीव वस्तुओंको अचेतन तथा बाग बगीचा आदि उभयात्मक वस्तुओंको मिश्र परिग्रह कहते हैं। इन चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओमें 'यह मेरी है' इस प्रकारके सङ्कल्प (ममत्व परिणामको) परिग्रह कहते हैं और चेतन, अचेतन तथा मिश्र वस्तुओंकी मर्यादा करके मर्यादामें बाहर इन पदार्थोमें ममत्व का परित्याग करना 'परिग्रहपरिमाणाणुव्रत' कहलाता है ॥५९॥

परिग्रह परिमाणाणुव्रतका इच्छुक श्रावक उदीयमान प्रत्याख्यानावरणादि आठ क्रोधादिक कषायस्वरूप, हास्यादिक छह नोकषायस्वरूप और स्त्रीवेदादि तीन वेदस्वरूप अन्तरग परिग्रहको यथायोग्य उत्तमक्षमादिककी भावनाके द्वारा जीते। भावार्थ—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसक वेद ये चौदह अन्तरग परिग्रह हैं। अर्थात् इन कषायोंके उदयको अन्तरग परिग्रह कहते हैं। क्रोधादिककी प्रतिकूल उत्तमक्षमादिभावनाओंसे इनका परित्याग करना चाहिये ॥६०॥ परिग्रह परिमाण व्रतका पालक श्रावक मूर्च्छाका कारण होनेसे नहीं करने योग्य अनुचित असयमके कारणभूत बाह्य परिग्रहको भी छोडे और जो बाह्यपरिग्रह छोडनेके लिए अशक्य है अर्थात् जिस बाह्य-परिग्रहको श्रावक छोड ही नहीं

देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छा नियम्य परिमायात् ।
वास्त्वादिकमामरणात् परिमितमपि शक्तितः पुन कृशयेत् ॥६२
अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः । आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रह ॥६३
वास्तुक्षेत्रे योगाद् धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये ।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात् ॥६४

सकता है उस बाह्यपरिग्रहको धीरे-धीरे कम करे। भावार्थ—बाह्यपरिग्रह, श्रावकके पदके अयोग्य असयमके कारण होते हैं इसलिये बाह्यपरिग्रहका भी त्याग करना चाहिए। और जो बाह्यपरिग्रह गृहस्थाश्रममे अत्यावश्यक है उसका आगम परिपाटी तथा कालकी मर्यादाके क्रमसे धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए। क्योकि परिग्रह सज्ञा अनादिकालसे लगी है इसलिये उसका सहसा त्याग नही हो सकता। और किसीने कर भी दिया तो सज्ञाकी वासनासे उसके त्यागके भगकी सम्भावना रहती है। इसलिये श्रावकको बाह्यपरिग्रहका त्याग आगम परिपाटीके अनुसार कालक्रमसे धीरे-धीरे करना चाहिये। त्रसवध, व्यर्थस्थावरवध और परदारगमन आदिक अयोग्यासयम शब्दसे कहे जाते हैं। ये श्रावक पदके योग्य नही होते और इनसे सयमका घात होता है ॥६१॥ परिग्रह परिमाणाणुव्रतका पालक श्रावक देश, काल, आत्मा और जाति आदिकी अपेक्षासे परिग्रह-विषयक तृष्णाको सन्तोषकी भावनाओ द्वारा रोक करके वास्त्वादिक दश प्रकारके परिग्रहको जीवनपर्यन्तके लिये परिमाण करे। और परिमित परिग्रहको भी अपनी शक्तिके अनुसार कम करे। भावार्थ—वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, चतुष्पद, द्विपद, शयन, आसन, वाहन और कुप्य ये दस बाह्यपरिग्रह हैं। देश, काल, अपनी आत्मा, जाति, कुल, अवस्था और पदवीके अनुसार इन दस प्रकारके बाह्यपरिग्रहोके विषयमे अपनी इच्छाका निग्रह करके जन्म भरके लिए परिमाण करे तथा परिमाण करनेके बाद भी ज्यो-ज्यो त्यागकी शक्ति बढती जावे त्यो-त्यो धीरे-धीरे इनको कृश करता जावे ॥६२॥ अविश्वास रूपी अन्धकारके लिए रात्रिके समान, लोभरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए घीकी आहुतिके समान और आरम्भ रूपी मगरमच्छ वगैरहके लिए समुद्रके समान परिग्रह कल्याण करने वाला या सेवन करने योग्य है। यह बडा आश्चर्य है। भावार्थ—जैसे रात्रिमे अन्धकार बढता है, वैसे ही परिग्रहके कारण अविश्वास बढता है। जैसे घी डालनेसे आग बढती है उसी प्रकार परिग्रहके लोभसे परिग्रह बढता है। जैसे समुद्रमे मगर स्वच्छन्द होकर विचरता है, वैसे ही परिग्रहके रहते हुए आरम्भको फैलनेकी पूर्ण स्वतत्रता रहती है, ऐसा परिग्रह हितकारक माना जाता है, यह बडे आश्चर्यका बात है ॥६३॥ परिग्रह परिमाणाणुव्रतका पालक श्रावक मकान और खेतके विषयमे अन्य मकान और अन्य खेतके सम्बन्धसे, धन और धान्यके विषयमे ब्याना बाँधनेसे, स्वण और चाँदीके विषयमे धरोहर रखने या दान देनेसे, स्वर्ण और चाँदीसे भिन्न धातु वगैरहके बर्तनोके विषयमे मिश्रण या परिवर्तनसे गाय बैल आदिके विषयमे गर्भसे मर्यादाको उल्लङ्घन नही करे। विशेषार्थ—वास्तुक्षेत्रयोग, धनधान्यबन्धन, कनकरूप्यदान, कुप्यभाव और गवादिगर्भ ये पाँच परिग्रह परिमाणाणुव्रतके अतिचार है। वास्तुक्षेत्र योगातिचार—वास्तुका अर्थ घर ग्राम नगर आदि हैं। घर तीन प्रकारके होते हैं—तलघर, प्रासाद और जो नीचे भी बनाये जाते हैं और जिनमे ऊपरी मजिल बनाई जाती है। खेत भी तीन प्रकारके होते है—जिन खेतोमे सिंचाई राहट वगैरहसे की जाती है ऐसे बाग-बगीचेके खेत सेतुखेत कहलाते है। जिनकी सिंचाई आकाशके पानीसे ही होती है उनको केतुखेत कहते है और जिनकी सिंचाई आकाश तथा कुआ दोनोके पानी

य परिग्रहसंख्यानव्रतं पालयतेऽमलम् । जयवज्जितलोभोऽसौ पूजातिशयमश्नुते ॥६५

से की जाती है। उनको सेतुकेतुखेत कहते है। जीवन-पर्यन्त या नियतकालतकको देवादिकके समक्ष गृहीत घर वा खेतकी मर्यादाका घरसे घर जोडकर और खेतकी वारी या मेढ काटकर (खेतसे खेत जोडकर) उल्लघन करना वास्तुक्षेत्रयोग नामका अतिचार कहलाता है। इसमे इस प्रकारके भावसे मर्यादा वढाई जाती है कि मैने तो केवल अपने घर अथवा खेतको वढाया है, मर्यादाके समय जितने घर वा खेत रखे थे उनकी सख्याका उल्लघन कव किया है ? इस प्रकार व्रतकी अपेक्षा रखनेसे अभग तथा भावोके द्वारा परिग्रहकी वृद्धि होनेसे व्रतभग होनेके कारण यह अतिचार है। धनधान्यवन्धनातिचार—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्यके भेदसे धन चार प्रकार है। गिनकर ली जानेवाली सुपारी, जायफल आदिका गणिम, कुकम और कपूर आदिको धरिम, तेल, नमक आदिको मेय और रत्नादिकको परीक्ष्य धन कहते है। धान, जौ, गेहूँ, तिल, कोद्रव आदिको धान्य कहते है। सुपारी आदि हमारे मालकी विक्री जव हो जावेगी अथवा खर्च हो जावेगा तव तुम्हारा माल मै ले लूँगा, मेरे इतनेका परिमाण है, इसलिये इसके विकनेके वाद या खर्च होनेके वाद माल तुम्हारा ही खरीदूँगा, तुम वेचना नही, इस प्रकारसे दूसरेके मालको खरीदनेके अभिप्रायसे रोक रखना (वँयेवर वाँधना) धनधान्यवन्धन नामका अतिचार है। कनकरूप्यदानातिचार—प्राप्त हुए मर्यादासे अधिक स्वर्ण चाँदीका धरोहर रख देना या अपने वन्धुजनोको दान दे देना कनक-रूप्यदानातिचार कहलाता है। जैसे—किसी गृहस्थने स्वर्ण चाँदी और जेवरोकी कुछ कालतककी मर्यादा कर ली, इतनेमे उसे उसकी मर्यादासे अधिक स्वर्ण वा चाँदी भेंट या पारितोपिक आदिमे मिला, ऐसी स्थितिमे मर्यादाका काल पूरा होने तक उसके द्वारा वह अधिक स्वर्ण या चाँदी किसी के यहाँ धरोहर रख देना या भाई वन्धु आदिको दानमे दे देना कनकरूप्यदानातिचार है। कुप्य-भावातिचार—सुवर्ण और चाँदीसे भिन्न ताँवा, पीतल, वाँस, लकडी वा मिट्टी आदिसे वनी हुई चीजोको कुप्य कहते है। उनमे दो-दोको मिलाकर एक करनेको भाव कहते है। कुप्यकी जितनी सख्याकी प्रतिज्ञा ले ली है उसकी सख्या वढने पर सख्याकी रक्षाके लिये वस्तुओको मिलाकर (ढलवाकर) वडी-वडी वस्तुएँ वनवा लेना कुप्यभावातिचार है। क्योकि सख्या यद्यपि मर्यादित ही रही परन्तु उसकी स्वाभाविक सख्यामे ढलवा लेनेसे वाधा जरूर आती है इसलिये कथञ्चित् भग और कथञ्चित् अभग होनेसे यह अतिचार है। अथवा स्वर्णादिकके समान इन वस्तुओकी भी अधिक प्राप्ति हो जानेपर मेरे इतने कालतक इन वस्तुओका परिमाण है, मै नही रख सकता, मर्यादित काल पूरा होनेपर उठा लूँगा, इस अभिप्रायसे धरोहर रख देना भी कुप्यभावातिचार कहलाता है। अथवा किसी वस्तुके लानेवालेसे यह कहना कि मुझे यह वस्तु जरूर लेनी है परन्तु मर्यादाके वाहर होनेसे आज नही ले सकता, तुम किसीको वेचना नही, मर्यादित काल पूरा होते ही मै इसे जरूर ले लूँगा। इस प्रकार मनमे सख्याकी वृद्धिका भाव आ जाना भी कुप्यभावातिचार कहलाता है। गवादिगर्भातिचार—यहाँ पर आदि शब्दसे भैंस, घोडी, आदिका ग्रहण समझना चाहिये। इनमे नवीन गर्भ होनेपर भी अपनी की हुई मर्यादाका भग नही समझना गवादिगर्भातिचार कहलाता है। इस अतिचारसे वचनेके लिये व्रतीको गाय आदिके गर्भ रहनेपर किसी एकका विक्रय या दान आदि करना पडता है ॥६४॥ जीत लिया है लोभ जिसने ऐसा जो श्रावक अतिचार रहित परिग्रहपरिमाणाणुव्रतको पालन करता है। वह श्रावक जयकुमारकी तरह पूजाके अतिशयको प्राप्त

पञ्चाप्येवमणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे
सामान्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि ।
त्रातुं निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयन्त्यादरात्
ते संन्यासविधिप्रमुक्ततनव सौर्वी. श्रियो भुञ्जते ।।६६

होता है। भावार्थ—जो व्यक्ति इस परिग्रह परिमाण व्रतको निरतिचार पालन करता है वह लोभविजेता व्यक्ति भरत चक्रवर्तीके सेनापति जयकुमारके समान इन्द्रादिक द्वारा प्रतिष्ठाको पाता है। जयकुमारका कथानक प्रथमानुयोगमे जानना चाहिए ।।६५।। जो भव्यजीव इस प्रकार समता-रूपी अमृतका पान करनेमे तत्पर अपनी आत्मामे सामान्य और विशेप भावनाओके द्वारा अति-चारोको दूर करके अर्पित किये गये पाँचो ही अणुव्रतोकी रक्षा करनेके लिए इस वक्ष्यमाण निरति-चार सात शीलोको आदरसे पालन करते हैं समाधिमरणसे शरीरको छोडनेवाले वे भव्य स्वर्गसबधी लक्ष्मियोको भोगते है। भावार्थ—जिसके प्रभावसे समतारूपी अमृतके पानकी भावना प्रकट होती है ऐसे सम्यग्दर्शन सहित आत्मामे आगमोक्त व्रतोकी सामान्य और विशेप भावनाओ द्वारा निरति-चार पच अणुव्रतोंके भली प्रकार निर्वाहके लिए जो श्रावक तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो (सात शीलव्रतो) का निरतिचार पालन करते ह, वे सन्यासविधिसे शरीरका परित्याग कर स्वर्ग सम्बन्धी उत्तम विभूति पाते हैं ।।६६।।

।। इति चतुर्थोऽध्यायः ।।

पञ्चम अध्याय

यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत् । गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥१
यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृत्वा दिक्षु दशस्वपि । नात्येत्यणुव्रती सीमां तत् स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम् ॥२
दिग्विरत्या बहिः सीम्न: सर्वपापनिवर्तनात् । तप्तायोगोलकल्पोऽपि जायते यतिवद् गृही ॥३
दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः । महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥४
सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः । अज्ञानतः प्रमादाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥५

यतः दिग्व्रत आदिक तीनो ही व्रत अणुव्रतोके उत्कर्षके लिये तथा उपकारके लिये होते हैं अतः आचार्य उन दिग्व्रत आदिकको गुणव्रत कहते हैं। भावार्थ—दिग्व्रत आदिकसे अणुव्रतोकी रक्षा और विशुद्धि होती है तथा चारित्रगुणका विकास होता है और जैसे वाड़मे खेतकी रक्षा होती है उसीप्रकार सात शीलोंसे अणुव्रतोकी रक्षा होती है। इसलिये इन विशेष गुणोंके आधायक व्रतोको गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रतके तीन भेद हैं—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग-परिमाणव्रत ॥१॥ अणुव्रतोका पालक श्रावक जो प्रसिद्ध प्रसिद्ध चिह्नोसे दशो ही दिशाओमें सीमाको करके उसका उल्लङ्घन नही करता है वह दिग्व्रत नामक व्रत कहलाता है। भावार्थ—लोभ वा आरम्भ घटानेके लिये किन्ही प्रसिद्ध चिह्नो तक दशो दिशाओमे आने जानेकी मर्यादा कर लेना और उसका उल्लङ्घन नही करना दिग्व्रत है। यह दिग्व्रत अणुव्रतीके होता है ॥२॥ दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर सम्पूर्ण पापोकी निवृत्ति हो जानेसे तपे हुए लोहेके गोलेकी तरह गमन, भोजन और शयन आदि सम्पूर्ण क्रियाओमे जीवोकी हिंसा करनेवाला भी गृहस्थ मुनिकी तरह होता है। भावार्थ—जैसे तपा हुआ लाल लोहेका गोला यदि पानीमे डाला जावे तो वह चारो तरफसे पानीको खीचता है, वैसे ही आरम्भ परिग्रह जनित कषायरूपी अग्निके कारण भाव विकारोमे तपा हुआ गृहस्थका आत्मा चारो ओरसे कार्मणवर्गणाओको खीचता है। परन्तु अणुव्रतीका आत्मा दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर सर्व आरम्भ, परिग्रह और भोगोपभोगजनित पापोका त्याग होनेसे यतिके समान पापोसे बचता है। तात्पर्य यह है कि दिग्व्रतके पालनसे विवक्षित क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमे महाव्रतका अभ्यास होता है। अतः अणुव्रती दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर महाव्रतीके समान कहा जाता है ॥३॥ दिग्व्रतके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होने तथा व्रतोंके घातक कषायके उदयके मन्दपनेसे विदित नही होता है मोहका अस्तित्व जिसके ऐसे गृहस्थमे अणुव्रत महाव्रतके समान आचरण करता हैं। भावार्थ—दिग्व्रतके व्रतकी प्रतिज्ञासे सकल सयमके घातक प्रत्याख्यानावरणादि कषायोकी उत्कृष्ट रीतिसे मदता हो जाती है। इसलिये अणुव्रतीका प्रत्याख्यानावरणजनित चारित्रमोहका उदय अतिशय मन्दताके कारण किसीके लक्ष्यमे नही आता, इसलिये दिग्व्रतका पालक अणुव्रती दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर महाव्रती कहा जाता है ॥४॥ अज्ञानसे अथवा प्रमादसे नियमित मर्यादाका भूल जाना ऊपर, नीचे तथा तिरछी मर्यादाका उल्लङ्घन करना और मर्यादित क्षेत्रसे अधिक क्षेत्रका बढ़ा लेना ये पाच दिग्व्रतके अतिचार हैं। विशेषार्थ—सीमाविस्मृति, ऊर्ध्वभागातिक्रम, अधोभागातिक्रम, तिर्यग्भागातिक्रम और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच

पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाङ्गिनाम् । अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥६
पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् । तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्या प्रसज्जयेत् ॥७
हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत् । पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत् ॥८

दिग्व्रतके अतिचार है। सीमाविस्मृति—किसीने सौ योजनकी मर्यादा की। जब जानेका समय आया तव अज्ञान अथवा प्रमादसे भूल जाना। यह विचार करना कि—नही मालूम १०० योजनकी प्रतिज्ञा की थी या ५० योजन की ? ऐसी हालतमे यदि वह ५० योजनके भीतर ही गमन करता है तो उसका व्रत निर्दोप है, ५० योजनसे वाहर जाता है तो अतिचार-सहित है और १०० योजनसे वाहर जाता है तो अनाचार है। क्योंकि ५० योजनके भीतर जानेवालेने व्रतका पूरा पालन किया हैं। और उससे अधिक वाहर जानेवालेने सगयके कारण एकदेश भग किया है तथा १०० योजनके वाहर गमन करनेवालेने पूरा व्रत भग किया है। ऊर्ध्वभागातिक्रम, अधोभागातिक्रम, तिर्यग्भागातिक्रम—मर्यादा करते समय अपनी सीमा सम्वन्धी ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और तिर्यग्भागकी जो प्रतिज्ञा की जाती है, उस सीमाका अज्ञान वा प्रमादसे उल्लङ्घन करना ऊर्ध्वभागातिक्रम आदि अतिचार हैं। किन्तु वुद्धिपूर्वक साक्षात् इन भागोकी सीमाका उल्लङ्घन करना तो अनाचार ही है। क्षेत्रवृद्धि—किसी व्रतीने चारो दिशाओमे १०० योजन तक जानेकी मर्यादा की है परन्तु समय वीतनेपर जिस ओर उसे अधिक जाना है उस ओर १०० योजनसे भी अधिक चला जाता है और उसके विरुद्ध दिशाओमे उतना ही कम जानेका विचार करता है तो उसका यह क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार है। क्योकि उसने एक तरफकी मर्यादा कम करके दूसरी ओरकी उतनी ही मर्यादा वढा ली है ॥५॥ अपने तथा अपने कुटुम्वीजनोके शरीर, वचन तथा मन सम्वन्धी प्रयोजनके विना पापोपदेगादिकके द्वारा प्राणियोको पीडा देना अनर्थदण्ड कहलाता है और उस अनर्थदण्डका त्याग अनर्थदण्डव्रत माना गया है। भावार्थ—जिससे अपने तथा अपनेसे सम्वद्ध कुटुम्वीजन आदिका मन, वचन और काय सम्वन्धी कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता ऐसे पापोपदेगादिक द्वारा प्राणियोको पीडा पहुँचाना अनर्थदण्ड कहलाता है। उस अनर्थदण्डका त्याग अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। पापोपदेग, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पाच अनर्थदण्डके भेद हैं ॥६॥ हिंसा, खेती और व्यापार आदिको विपय करनेवाला जो वचन होता है वह पापोपदेश कहलाता है, इसलिये अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक श्रावक हिंसा, खेती और व्यापार आदिकसे आजीविका करनेवाले, व्याध, ठग और चोर आदिके लिये उस पापोपदेशको नही देवे और कथा वार्तालाप आदिमे उस पापोपदेशको प्रसङ्ग नही लावे। भावार्थ—जिन वाक्योका हिंसादिक पाप तथा खेती और व्यापार आदिकसे सम्वन्ध जुड सकता हो उन वाक्यो द्वारा हिंसा, खेती और व्यापार आदिक द्वारा आजीविका करनेवालोको उपदेश देना पापोपदेश कहलाता है। ऐसा पापोपदेग नही देना चाहिये और गोष्ठीमे भी उसका प्रसङ्ग नही लाना चाहिये। जैसे व्याधोकी सभामे यह कहना कि क्यो वैठे हो "आज जलाशयके किनारे वहुतसे पक्षी आये हैं" इस वाक्यको सुनकर कोई व्याध उनके वधका उपाय सोच सकता है। इसलिये यह वाक्य पापोपदेगकी कोटिमे चला जाता है। इसीप्रकार अन्य उदाहरण भी जानना ॥७॥ विष और हथियार आदि हिंसाके कारणभूत पदार्थोका देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। उस हिंसादान अनर्थदण्डको छोड देना चाहिये और जिनसे अपना व्यवहार नही है ऐसे पुरुषोमे भिन्न पुरुषोके विषयमे पाकादिकके लिये अग्नि वगैरह नही देना चाहिये। भावार्थ—

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुजा ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६
अनन्तकाया सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः । यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥१७
आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम् । वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८
भोगोपभोगकृशनात् कृशीकृतधनस्पृहः । धनाय कोट्टपालादिक्रिया क्रूरा करोति कः ॥१९
सचित्तं तेन सम्बद्धं सम्मिश्रं तेन भोजनम् । दुष्पक्वमप्यभिषवं भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥२०

धार्मिक श्रावक नाली, सूरण, कालिंदा और द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिये छोड देवे, क्योंकि इन नाली और सूरण आदि खाने वालोंके उन पदार्थोंके खानेमें फल थोड़ा और घात बहुतसे जीवोंका होता है। भावार्थ—नाली (पोलीभाजी), सूरण, तरबूज, द्रोणपुष्प, मूली, अदरख, नीमके फूल, केतकीके फूल आदिके खानेमें जिह्वास्वाद रूप सुख तो थोड़ा होता है किन्तु घात बहुतसे एकेन्द्रिय प्राणियोंका होता है। इसलिये धार्मिकको इनके भक्षणका त्याग करना चाहिये ॥१६॥ दयालु श्रावकोंके द्वारा सर्वदाके लिये सब ही साधारण वनस्पति त्याग दी जानी चाहिये क्योंकि एक भी उस साधारण वनस्पतिको मारनेके लिये प्रवृत्त व्यक्ति अनन्तजीवोंको मारता है। विशेषार्थ—धर्म दयाप्रधान है। इसलिये दयालु होकर अनन्त कायवाली साधारण वनस्पतिके भक्षणका त्याग सर्वदाके लिये कर देना चाहिये। क्योंकि भक्षण-द्वारा एक साधारण वनस्पतिके जीवको मारनेके लिये प्रवृत्त व्यक्ति उसमें रहने वाले अनन्त जीवोंकी हिंसाका भागी होता है। जिस वनस्पतिके शरीरमें अनन्त साधारण वनस्पति प्राणी रहते हैं उनको अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकाय वनस्पतिके सात भेद हैं—मूलज, अग्रज, पर्वज, कन्दज, स्कन्धज, बीजज और सम्मूर्छनज। अदरक और हल्दी वगैरह मूलज हैं। आर्यिका (एक प्रकार) की ककडी इत्यादि अग्रज हैं। देवनाल, ईख और बेत आदि गाँठोंसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति पर्वज हैं। प्याज और सूरण वगैरह कन्दज हैं। सल्लाकी, कटेरी और पलाश आदि स्कन्धज हैं। धान और गेहूँ वगैरह बीजज हैं। तथा इधर-उधरके पुद्गलोंके सम्मिश्रणसे होनेवाली वनस्पति सम्मूर्छनज हैं ॥१७॥ कच्चे दूध मिश्रित वा कच्चे दूधसे बनाये गये दही और मठासे मिश्रित द्विदलको, बहुधा पुराने द्विदलको वर्षा ऋतुमें बिना दले द्विदलको तथा इस वर्षा ऋतुमें पत्तोंके शाकको भी नहीं खाना चाहिये। भावार्थ—कच्चे दूधके साथ तथा कच्चे दूधसे तैयार हुए दही व मही (छाँछ) के साथ उडद, मूग, चना, मटर आदिकी दालको वस्तुओंका, प्रायः कर इन दाल वाले पुराने धान्योंको, वर्षा ऋतुमें बिना दले किसी भी द्विदल धान्यको और वर्षा ऋतुमें पत्ते वाले शाकको भी नहीं खाना चाहिये ॥१८॥ भोगोपभोगको कम करनेके कारण धनकी आकांक्षा कृश हो गई है जिसकी ऐसा कौन पुरुष धनके हेतु क्रूर खराब कोतवाल आदिकी आजीविकाओंको करेगा ? भावार्थ—जिस व्यक्तिने अपने भोगोपभोगको कम करनेसे अपनी धनलोलुपता कम कर ली है उसे कोतवाल आदिकी नौकरी नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसमें क्रूरता पूर्ण व्यवहार करना पडता है ॥१९॥ सचित्तको उस सचित्तसे सम्बद्ध उस सचित्तसे मिले हुए अवपके और गरिष्ट भोजनको करनेवाला व्यक्ति उस भोगोपभोगपरिमाणव्रतको उल्लङ्घन करता है। भावार्थ—सचित्तभोजन, सचित्त-सम्बद्धभोजन, सचित्तसम्मिश्रभोजन, दुष्पक्वभोजन और अभिषवभोजन ये पाँच भोगोपभोग-परिमाणव्रतके अतिचार हैं। सचित्तभोजन—कच्ची ककडी वगैरहको सचित्त कहते हैं। अज्ञान या प्रमादसे कच्ची ककडी आदिका मुखमें डालना या खाना सचित्त भोजन कहलाता है।

**व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पञ्चदश त्यजेत् । वृत्ति वनाग्न्यन.स्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनम् ॥२१
निर्लाञ्छनासतीपोषौ सर.शोषं दवप्रदाम् । विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥२२
इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम् । अगण्यत्वात्प्रणेय वा तदप्यतिजडान् प्रति ॥२३**

सचित्तसम्बद्ध—अज्ञान व असावधानीके कारण वृक्षमे लगी हुई गोदका खाना और पके फलोके भीतरके बीजोका खा जाना सचित्तसम्बद्ध नामका अतिचार कहलाता है। आम और खजूर आदि पके फलो आदिके खाते समय सचित्तसम्बद्ध नामका अतिचार होता है। सचित्तसम्मिश्र—जिस पदार्थमे सचित्त वनस्पति इस प्रकारसे मिल गई हो कि जिसको किसी प्रकारसे अलग नही किया जा सकता हो, प्रमाद वा अज्ञानमे उस चीजका खानेमे आ जाना अथवा सचित्तसे मिली हुई वस्तुको सचित्त सम्मिश्र कहते हैं। दुष्पक्व—जो अधिक पक गया हो, अधजला हो गया हो अथवा कम पका हो उसको दुष्पक्व कहते हैं। ऐसे पदार्थोका खाना दुष्पक्व नामका अतिचार है। उसके खानेमे रागभावकी अधिकता रहती है। अभिषव—खीर आदिक पौष्टिक पदार्थोका खाना अभिषव नामका अतिचार है। क्योकि ये राग व पुष्टिकी अभिलाषासे अधिक खाये जाते हैं। इन सचित्त आदिके भक्षणसे इन्द्रियोका मद बढता है, वातादि रोगोका प्रकोप होता है और दवा खाना पडती है। इसलिये कुछ पापोका अश भी लगता है अतएव व्रतियोको इनका त्याग कर देना चाहिये ॥२०॥

श्रावक प्राणिपीडाजनक व्यापारको छोडे तथा इस खरकर्म व्रतमे वन, अग्नि, गाडी, स्फोट और भाटक द्वारा आजीविका या व्यापारको, यन्त्रपीडनको, निर्लाञ्छनकर्म तथा असतीपोषको, सर शोषको, दवाग्निको तथा प्राणिपीडाकारक विष, लाक्षा, दन्त, केश तथा रसके व्यापारको इस प्रकार पन्द्रह अतिचारोको छोडे। इस प्रकार कोई श्वेताम्बर आचार्य कहते है। परन्तु ससारमे पापजनक कार्योके अगण्य होनेसे उनका वह कहना ठीक नही है। अथवा अत्यन्तमूढ बुद्धिवाले पुरुषोके प्रति वह खरकर्मव्रत भी प्रतिपादन करने योग्य है। विशेषार्थ—प्राणिपीडाजनक व्यापार को खरकर्म (क्रूरकर्म) कहते है। इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागका नाम खरकर्म-भोगोपभोगत्यागव्रत कहलाता है। वनजीविका, अग्निजीविका, अनोजीविका, स्फोटजीविका, भाटकजीविका, यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छनकर्म, असतीपोष, सर शोष, दवप्रद, विषवाणिज्य लाक्षा-वाणिज्य, दन्तवाणिज्य, केशवाणिज्य और रसवाणिज्य ये पन्द्रह खरकर्मत्यागव्रतके अतिचार हैं। इस खरकर्मका त्याग करना चाहिए। यह किसी श्वेताम्बर आचार्यका कथन है, परन्तु पापरूप आजीविकाओकी गिनती नही की जा सकती। इसलिए १५ हीके त्यागका उपदेश देना ठीक नही है। हाँ! जो अत्यन्त मन्दबुद्धि हैं उनके लिए इतने खरकर्म बताकर त्याग करना बुरा नही है। इनका विवरण इस प्रकार है। वनजीविका—स्वय टूटे हुए अथवा तोडकर वृक्ष आदि वनस्पतिका बेचना अथवा गेहूँ आदिक अनाजोका पीट कूटकर व्यापार करना। अग्नि-जीविका—अग्निद्वारा कोयला व लुहारकी चीजे वगैरह बनाकर व्यापार करना। अनोजीविका—स्वय गाडी रथ तथा उसके चका वगैरह बनाना अथवा दूसरोसे बनवाना। गाडी जोतनेका व्यापार स्वय करना तथा दूसरोसे कराकर आजीविका करना और गाडी आदिके बेचनेका व्यापार करना। स्फोटजीविका—पटाखा व आतिशबाजी आदि बारूदकी चीजोसे आजीविका करना। भाटक-जीविका—गाडी, घोडा आदिसे बोझा ढोकर भाडेकी आजीविका करना। यन्त्रपीडन—कोल्हू चलाना, तिल आदिको कोल्हूमे पिलवाना अथवा तिल वगैरह देकर उसके बदलेमे तेल लेना। निर्लाञ्छन—बैल और भैस आदिके बधिया करना, नाक और मुष्क आदि अवयवोके छेदनकी

चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम् । न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात् ॥९
प्रमादचर्यां विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम् । खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत् ॥१०
तद्वच्च न सरेद् व्यर्थं न परं सारयेन्महीम् । जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान् मार्जारशुनकादिकान् ॥११
मुञ्चेत्कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तदत्ययान् । असमीक्ष्याधिकरणं सेव्यार्थाधिकतामपि ॥१२

भोगोऽयमियान् सेव्यः समयमियन्तं मयोपभोगोऽपि ।
इति परिमानानिच्छँस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥१३

विष, हथियार, हल, गाडी, कुसिया, कुदारी और कुल्हाडी आदि वस्तुओंसे हिंसा सम्भव है इसलिये इनके दानको हिंसादान कहते हैं। तथा जिनके साथ अपना व्यवहार नहीं है ऐसे अपरिचित किसी व्यक्तिको भोजन पकानेके लिये अग्नि, कूटनेको मूसल आदिका देना भी निष्प्रयोजन होनेसे हिंसादान है। अनर्थदण्डत्यागी श्रावकको इन दोनों प्रकारके हिंसादानका त्याग कर देना चाहिये ॥८॥ अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक श्रावक चित्तमें कलुषता उत्पन्न करनेवाले काम हिंसा आदिके प्रवर्तक शास्त्रोंके श्रवणरूप दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डको नहीं करे और आर्त तथा रौद्रध्यान स्वरूप अपध्यान नामक अनर्थदण्डको नहीं करे। भावार्थ—जिन शास्त्रोंमें काम और हिंसा आदि रूप अर्थोंका कथन है उनके सुननेको दुःश्रुति-नामक अनर्थदण्ड कहते हैं। तथा आर्त और रौद्र ध्यानको अपध्यान अनर्थदण्ड कहते हैं। अनर्थदण्डव्रतीको इन दोनोंका परित्याग कर देना चाहिये ॥९॥

अनर्थदण्डका त्यागी निष्प्रयोजन पृथ्वीके खोदने, वायुके रोकने, अग्निके बुझाने, जलके फेंकने तथा वनस्पतिके छेदने आदि रूप प्रमादचर्याको नहीं करे। भावार्थ—निष्प्रयोजन-भूमि खोदना, वायु रोकना, अग्नि बुझाना, जल फेंकना या सींचना और वनस्पतिका छेदना, प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहा जाता है। इस व्रतके धारीको इनका भी परित्याग करना चाहिये ॥१०॥ निष्प्रयोजन पृथ्वी खोदने आदिकी तरह विना प्रयोजन पृथ्वी पर स्वयं नहीं घूमे, दूसरोंको भी नहीं घुमावे तथा बिल्ली कुत्ता आदि जीवोंके घातक जीवोंको नहीं पाले ॥११॥ अनर्थदण्डका त्यागी श्रावक कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिकता इन अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतिचारोंको छोडे। विशेषार्थ—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिकता ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं। इस अनर्थदण्डके त्यागी व्रतीको इनका परित्याग करना चाहिये। कन्दर्प—काम या रागके उद्रेकसे प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प कहलाता है। कौत्कुच्य—हास्य और भंडवचन सहित भौंह, नेत्र, नाक, ओठ, मुख, पैर और हाथ आदिकी संकोचादि क्रिया द्वारा कुचेष्टा करनेको कौत्कुच्य कहते हैं। मौखर्य—धृष्टतापूर्वक विचार-रहित असत्य और असबद्ध बहुत बोलनेको मौखर्य कहते हैं। असमीक्ष्याधिकरण—अपने प्रयोजनका विचार नहीं करके प्रयोजनसे अधिक कार्यका करना कराना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। अथवा हिंसाके उपकरणोंको उनके साथी दूसरे उपकरणोंके पास रखना। जैसे उखलीके पास मूसल, हलके पास फाल, गाडीके पास जुआँ और धनुषके साथ बाणोंको रखना भी असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार है। क्योंकि ऐसा करनेसे इन चीजोंको आरम्भादि कार्यके लिए हर एक व्यक्ति सुलभतासे ले सकता है। तथा देनेके लिए निषेध भी नहीं किया जा सकता। सेव्यार्थाधिकता—जितने भोग व उपभोगके साधनोंसे अपना प्रयोजन सधता है उससे अधिक साधन सामग्रीके जुटानेको सेव्यार्थाधिकता कहते हैं ॥१२॥ यह भोग और इतना उपभोग इतने समय तक मेरे द्वारा

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुन पुन' स्रगम्बरवत् ।
तत्परिहारः परिमितकालो नियमो यमश्च कालान्तः ॥१४

पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थ ।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥१५

सेवन करने योग्य है, अथवा यह भोग और उपभोग इतना, तथा इतने समय तक मेरे द्वारा सेवन करने योग्य नही है इस प्रकार परिमाण करके प्रतिज्ञासे अतिरिक्त उन भोग और उपभोगको नही चाहने वाला गुणव्रती श्रावक भोगोपभोगपरिमाणव्रतको स्वीकार करे। विशेषार्थ—भोग और उपभोगकी मर्यादा विधिमुख और निषेधमुखसे की जाती है। जैसे यह भोग अथवा उपभोग मेरे द्वारा इतना और इतने समय तक सेवन किया जावेगा अथवा यह भोग और उपभोग इतना तथा इतने समय तक मेरे द्वारा त्याज्य है इस प्रकारसे भोग और उपभोगके विषयमे परिमाण करके उसमें अधिककी इच्छा नही करना गुणव्रत पालकका भोगोपभोग परिमाण व्रत है ॥१३॥ जो माला और ताम्बूल आदिकी तरह एक वार सेवनीय होता है वह भोग और जो वस्त्राभूषणादिक की तरह वार वार सेवनीय होता है वह उपभोग कहलाता है। तथा किसी नियमित काल तकके लिये भोगोपभोगका त्याग नियम और जीवनपर्यन्तके लिये उस भोगोपभोगका त्याग यम कहलाता है। भावार्थ—जो पदार्थ एक वार भोगनेके बाद फिर भोगने योग्य नही रहता वह भोग कहलाता है। जैसे माला गन्ध और भोजन वगैरह। तथा जो पदार्थ वारवार भोगनेमे आता है वह उपभोग कहलाता है, जैसे—वस्त्र और आभूषण वगैरह। जो त्याग घडी आदि नियत समयकी मर्यादा लेकर किया जाता है वह त्याग नियम कहलाता है और जो त्याग जीवन पर्यन्तके लिये किया जाता है वह त्याग यम कहलाता है ॥१४॥ भोगोपभोगपरिमाण व्रतके पालक श्रावकके द्वारा मास, मधु तथा मदिराकी तरह त्रसघात, वहुस्थावरघात और प्रमाद विषयक तथा त्रसघातादिकको विषय करनेवाले नही हो करके भी अनिष्ट और इष्ट होता हुआ भी अनुपसेव्य भोग तथा उपभोग करनेके योग्य सम्पूर्ण पदार्थ त्याग दिया जाना चाहिये, क्योकि व्रतसे स्वर्गादिक इष्ट फल होता है। विशेषार्थ—भोगोपभोगकी मर्यादाके समय व्रतीके द्वारा त्रसघात, बहुस्थावरघात, प्रमादजनक, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थोंके खानेका मास, मधु और मदिराके समान त्याग किया जाना आवश्यक है। क्योकि व्रतसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। जिनमे वहुतसे सम्मूर्छन जीव उड कर बैठते है, जिनमे जीवोके रहनेके लिये वहुत जगह होती है इस प्रकार कमलनाल आदि त्रसघातविषयक पदार्थ है। और इसी प्रकार केतकीके फूल, सहजनेके फूल, अरणिके फूल तथा वेलफल आदि वहुजन्तुओके स्थान है। ये सब त्रसघातविषयक पदार्थ है। जिन पदार्थोंके सेवनसे मधुके समान तदाश्रित वहुतसे जीवोकी हिंसा होती है तथा जिन कन्दमूल आदिकके भक्षणसे अनन्त स्थावरोकी हिंसा होती है वे सभी पदार्थ वहुस्थावरहिंसाकारक है। जैसे गुरबेल, अदरक, आलू और शकरकन्द इत्यादि। जिन पदार्थोंके सेवनसे मद्यके समान मादकता उत्पन्न होती है उन्हे प्रमाद-जनक पदार्थ कहते है। जैसे भाग, धतूरा, अफीम और गाजा इत्यादि। भक्ष्य होनेपर भी जो अपनेको या अपने स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है अर्थात् अपनी प्रकृतिके अनुकूल नही हो उसे अनिष्ट कहते है। जैसे खॉसीके रोग वालेको मिष्टान्न आदि। जो भले पुरुषोके सेवन करने योग्य नही है उसे अनुपसेव्य कहते हैं। जैसे लार, मूत्र आदि पदार्थोका सेवन तथा चित्र-विचित्र वस्त्रोका परिधारण करना और विकृत वेष-भूषा करना ॥१५॥

शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत् । श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतानि हि ॥२४
दिग्व्रतपरिमितदेशविभागेऽवस्थानमस्ति मितसमयम् । यत्र निराहुर्देशावकाशिक तद्व्रतं तज्ज्ञा ॥२५
स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे । इति संकल्प्य सन्तुष्टस्तिष्ठन्देशावकाशिकी ॥२६

आजीविका करना । असतीपोष—हिंसक प्राणियोका पालन पोपण करना और किसी प्रकारके भाड़े की उत्पत्तिके लिए दास और दासियोका पोपण करना । सर शोप—अनाज बोनेके लिए जलाशयो से नाली खोदकर पानी निकालना । दवप्रद—घास आदि जलानेके लिए वनमे आग लगा देना । इसके दो भेद हैं—सूखे घासके जला देनेसे उस जगह अच्छी उपज होती है और अच्छा घास पैदा होता है, इस भावनासे आग लगवाना दवप्रद कहलाता है । विषवाणिज्य—प्राणघातक विषका व्यापार करना । लाक्षावाणिज्य—लाखके व्यापारको लाक्षावाणिज्य कहते हैं । जब वृक्षमे लाख निकाली जाती है तब जिन जीवोंके शरीरसे यह लाख बनती है उनके आश्रित रहनेवाले असंख्य त्रस जीवोका घात हो जाता है । लाखके कीडे जिन छोटे-छोटे पत्तोपर बैठते हैं, उनमे जो सूक्ष्म त्रसजीव होते हैं, उनके घात बिना लाख पैदा ही नही होती । इसी प्रकार मनसिल, गूगल तथा धायके फूल आदिका व्यापार भी लाक्षावाणिज्यमे गर्भित है । दन्तवाणिज्य—जहाँ हाथी वगैरह रहते हैं उस जगह व्यापार करनेके लिए भीलादिकोको द्रव्य देकर दाँत आदि खरीदना । केश-वाणिज्य—केश-ऊनका व्यापार करना । रसवाणिज्य—मक्खन, मधु, चरबी और मद्य आदिका व्यापार करना ॥२१-२३॥ श्रावक श्रुतज्ञानरूपी नेत्रवाला होता हुआ देशावकाशिक आदिक शिक्षाव्रतोको ग्रहण करे क्योकि वे व्रत शिक्षाप्रधान होते हैं । भावार्थ—जिन-व्रतोसे सर्व पापोके त्याग या मुनिव्रतको शिक्षा मिलती है उन्हे शिक्षाव्रत कहते हैं । उनके पालनसे अणुव्रतोमे विशेष निर्मलता आती है और उनकी रक्षा होती है, इसलिए शिक्षाप्रधान वा व्रतपरिरक्षक होनेके कारण इन देशावकाशिक आदिको ग्रहण करना चाहिए । शिक्षाव्रतके देशावकाशिक, सामायिक, प्रोपधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार भेद हैं । प्रात कालके सामायिकके बाद देशावकाशिक व्रतमे दिन भरके लिए जो क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है उससे सर्व पापोके त्यागकी शिक्षा मिलती है । सामायिक करते समय सामायिकके काल तक समताभाव धारण करनेसे सर्व पापोका कालकृत त्याग हो जाता है । प्रोषधोपवास व्रतमे प्रोपधोपवास व्रतके काल तक सर्व आरम्भ आदिका त्याग कर देनेसे सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है । और अतिथिसंविभाग व्रतके पालनेसे (अतिथियोका वैयावृत्य करनेसे) उनका आदर्श अपने जीवनमे उतर सकता है । इसलिए सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है ॥२४॥ जिस व्रतमे दिग्व्रतमे सीमित क्षेत्रके किसी अंगमे किसी नियमित समय तक रहना होता है, उस व्रतको उस व्रतकी निरुक्तिके जानकार व्यक्ति देशावकाशिक व्रत कहते है ॥२५॥ घर, पर्वत तथा ग्राम आदि निश्चित स्थानकी मर्यादा करके सन्तुष्ट होता हुआ इस स्थानमे इतने समय तक निवास करूँगा इस प्रकारसे संकल्प या नियमको करके स्थित रहनेवाला श्रावक देशावकाशिक कहलाता है । भावार्थ—दिग्व्रतमे जीवन भरके लिए सीमित आवागमनके क्षेत्रकी मर्यादाको नियत काल तक घटाना देशावकाशिक व्रत कहलाता है । अर्थात् दिग्व्रतमे परिमाण किए हुए क्षेत्रके किसी एकदेशमे रहना देशावकाशिक व्रत कहलाता है । सीमाके बाहर आवागमनकी तृष्णा नहीं करके किसी पर्वत, गाँव तथा नगर आदिकी मर्यादा करके मर्यादित क्षेत्रके भीतर मर्यादित काल तक संतोषपूर्वक रहने

पुद्गलक्षेपण शब्दश्रावणं स्वाङ्गदर्शनम् । प्रैष सीमबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत् ॥२७
एकान्ते केशबन्धादिमोक्ष यावन्मुनेरिव । स्वं ध्यातु. सर्वहिंसादित्यागः सामायिकव्रतम् ॥२८

वाला व्यक्ति देशावकाशिक कहलाता है। इस व्रतके पालनसे सीमाके बाहर सर्वदेशरूपसे पापके त्याग करनेका अभ्यास होता है या शिक्षा मिलती है। तथा यह व्रत परिमित कालके लिये धारण किया जाता है, दिग्व्रतके समान यावज्जीवनके लिये नही। इसलिये इसे शिक्षाव्रत कहना युक्ति-सगत है। दिग्व्रतके समान इस व्रतमे भी सीमाके बाहर विद्यमान वस्तु सम्बन्धी लोभादिककी निर्वृत्ति हो जानेके कारण स्थूल और सूक्ष्म हिंसादिकका सब प्रकारसे त्याग हो जाता है। यही इसका प्रत्यक्ष फल है। और परभवमे आज्ञा, ऐश्वर्य आदिक सुख सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह व्रत अवश्य पालन करने योग्य है, यह स्वत सिद्ध हो जाता है ॥२६॥ देशावकाशिक-व्रतकी निर्मलता चाहने वाला श्रावक मर्यादाके विषयभूत प्रदेशसे बाहरके प्रदेशमे पत्थर आदिके फेकनेको, शब्दके सुनानेको, अपने शरीरके दिखानेको, किसी मनुष्यके भेजनेको और मर्यादाके बाहर-के प्रदेशसे किसी वस्तुके बुलानेको छोडे। विशेषार्थ—पुद्गलक्षेपण, शब्दश्रावण, स्वागदर्शन, प्रैष और आनयन ये पाँच देशावकाशिकव्रतके अतिचार है। पुद्गलक्षेपण—मर्यादाके बाहर स्वय तो नही जाना, परन्तु अपने कार्यके लोभसे मर्यादाके बाहर व्यापार करनेवालोको प्रेरणाके हेतु ढेला और पत्थर आदि फेंक कर सकेत करना। शब्दश्रावण—सीमाके बाहर रहने वाले, मनुष्योको कार्यके लिये अपने पास बुलाने आदिके हेतु उनको सुन पडे इस प्रकार चुटकी बजाना और ताली पीटना आदि। स्वाङ्गदर्शन—किसी कार्यके लिए सीमाके बाहरसे जिनको बुलाना है उनको शब्दोच्चारणके विना अपने शरीर अथवा शरीरके अवयव दिखाना आदि। प्रेष्यप्रयोग—स्वय मर्यादा के भीतर रहकर कार्यके लिए "तुम यह कार्य करो" ऐसा कहकर मर्यादाके बाहर नौकर वगैरहको भेजना। प्रेष्यानयन—स्वय मर्यादाके भीतर रहकर "तुम यह लाओ" इस प्रकार कहकर मर्यादाके बाहरसे किसी वस्तुको बुलाना। श्लोकमे आये हुए "च" पदसे यह भी ध्वनित होता है कि यदि कोई नौकर मर्यादाके बाहर स्थित है तो उसे किसी कार्यकी आज्ञा करना भी अतिचार है ॥२७॥ केशबन्ध और मुष्टिबन्ध आदिके छोडने पर्यन्त एकान्त स्थानमे मुनिके समान अपने आत्मा-को चिन्तवन करनेवाले शिक्षाव्रती श्रावकका जो हिंसादिक पाँचो ही पापोका त्याग वह सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है। विशेषार्थ—केशबन्ध, मुष्टिबन्ध और वस्त्रबन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण रागद्वेष और हिंसादिक पापोका परित्याग कर अपने आत्माका ध्यान करना सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है। सम = रागद्वेषकी निवृत्ति, अय = प्रशमादिरूपज्ञानका लाभ ये दोनो जिसके प्रयोजन है उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। अथवा रागद्वेषमे माध्यम भाव रखना सामायिक है अथवा समय = आप्तोपदेश, उसमे नियुक्त कर्म (व्यापार) को सामायिक कहते है। अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे जिन भगवान्के पूजन, अभिषेक, स्तवन और जापको सामायिक कहते है। और निश्चयसे आत्म-ध्यानको सामायिक कहते है। अथवा विधिपूर्वक सामायिकके समय तक (केशबन्धादि) पर्यन्त सम्पूर्ण रागद्वेषका परित्याग कर प्रशम और सवेग आदि रूप ज्ञानका लाभ होना जिसकी आराधना-का प्रयोजन है उसे सामायिक कहते है। देशावकाशिकव्रतमे मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमे सर्व पापोकी निवृत्ति होती है और सामायिकमे सर्वत्र सर्व पापोकी निर्वृत्ति होती है यही इन दोनोमे अन्तर है। इसकी विधिमे जो केशबन्धादिकसे मोक्षपर्यन्त सामायिक करनेका विधान किया है उसका

परं तदेव मुक्त्यङ्गमिति नित्यमतन्द्रितः। नक्तं दिनान्तेऽवश्यं तद् भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥२९

मोक्ष आत्मा सुखं नित्य. शुभ. शरणमन्यथा।
भवेऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥३०

स्नपनार्चास्तुतिजपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते। युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते सङ्कल्पिते ऽर्हति ॥३१
सामायिक सुदु साध्यमप्यभ्यासेन साध्यते। निम्नीकरोति वार्बिन्दु किन्नाश्मानं मुहु. पतन् ॥३२
पञ्चात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः। कायवाङ्मनसा दुष्टप्रणिधानान्यनादरम् ॥३३

अभिप्राय यह है कि सामायिक करते समय ऐसी प्रतिज्ञा लेनी पडती है कि जब तक मैं केशोकी गाँठ नही छोडूँगा, बाँधी हुई मुट्ठीको नही छोडूँगा, वस्त्रकी गाँठ नही छोडूँगा तब तक मेरे सर्व सावद्यका त्याग है, मैं समताभावको नही छोडूँगा ॥२८॥

यह सामायिक ही उत्कृष्ट मोक्षका साधन है इसलिये मोक्षका इच्छुक श्रावक सदा आलस्य रहित होता हुआ रात्रि और दिनके अन्तमे नियमसे उस सामायिकव्रतको अभ्यास करे तथा शक्तिके अनुसार दूसरे समयोमे भी उस सामायिकव्रतको अभ्यास करे। भावार्थ—केवल सामायिक ही मुक्तिका अङ्ग है इसलिये मुमुक्षु व्रतिक श्रावकको आलस्यका परित्याग करके प्रात और सध्या समय सदा अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। और यथाशक्ति मध्याह्न आदिक कालमे भी सामायिक करना चाहिये। क्योकि मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है और चारित्रका प्रधान अङ्ग सामायिक है ॥२९॥ सामायिकव्रतको ग्रहण करनेवाला श्रावक मोक्ष आत्मरूप सुखरूप नित्य शुभ तथा शरण है। तथा ससार इससे विपरीत है इसलिये इस ससारमे निवास करनेवाले मेरे अन्य क्या होगा, इस प्रकार परीषह तथा उपसर्गके आनेपर चिन्तवन करे। भावार्थ—सामायिक करते समय परीषह और उपसर्ग आने पर सामायिकव्रतीको अपने अन्त.-करणमे इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए कि अनन्तज्ञानादिस्वरूप मोक्ष ही मेरा आत्मा है, अनाकुल चेतनस्वरूप होनेसे मोक्ष ही सुख है, अनन्तस्वरूप होनेसे मोक्ष ही नित्य है, शुभ कार्य होनेसे मोक्ष ही शुभ है, विपत्तिके अगोचर होनेसे मोक्ष ही शरण है और चतुर्गतिमे परावर्त्तनरूप ससार इससे विपरीत है। अर्थात् ससार मेरे लिए अनात्मस्वरूप, दु खरूप, विनाशी, अशुभ और अशरण है। जब तक मैं इस ससारमे हूँ तब तक मुझे इन परीषह और उपसर्गोको छोड़कर और क्या होनेवाला है, क्या हुआ है तथा क्या होगा। इस प्रकारका चिन्तवन करते हुए सब प्रकारके परीषह और उपसर्गोको सहकर भावसामायिक व्रत धारण करना चाहिए ॥३०॥ मोक्षका इच्छुक श्रावक प्रतिमामे प्रतिष्ठापित अरिहन्त भगवान्मे सामायिकव्रतकी सिद्धिके लिए आम्नायके अनुसार अभिषेक, पूजा, स्तुति और जपको करे तथा चावल आदिमे सकल्पित अरिहन्त भगवान्मे अभिषेकके बिना अन्य पूजा आदि तीन क्रियाओको करे। विशेषार्थ—मुमुक्षु श्रावक सामायिक-व्रतकी सिद्धिके लिए तदाकार प्रतिमामे स्थापित अरिहन्तका आगमके अनुसार अभिषेक, पूजन, स्तुति तथा जाप करे। और अतदाकार चावल आदिमे स्थापित अरिहन्तकी केवल पूजा, स्तुति और जाप करे। स्थापना दो प्रकारकी है—साकार और निराकार। साकार स्थापनामे अभिषेक, पूजा, स्तुति और जपके द्वारा देवपूजा की जाती है। और निराकार स्थापनामे अभिषेकको छोडकर शेष तीन प्रकारसे देवकी उपासना की जाती है। इस प्रकार देवकी उपासनामे तत्पर रहनेवाले व्यक्ति व्यवहारमे सामायिकव्रतके धारक होते है ॥३१॥ अत्यन्त दु साध्य भी अर्थात् बड़ी कठिनतासे सिद्ध होनेवाला भी सामायिक व्रत अभ्यासके द्वारा सिद्ध हो जाता है, क्योकि

स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् । साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥३४
उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः । आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥३५

जैसे बार बार गिरनेवाली जलकी बूँद पत्थरको गड्ढा विशिष्ट नहीं कर देती है क्या ? अर्थात् कर ही देती है। भावार्थ—आकुलता-सहित कठोर अन्त करणवाले संसारियोके लिए यद्यपि सामायिकका धारण करना बहुत कठिन है, तो भी वह अभ्यासके द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। जैसे—पत्थरके ऊपर पुन पुन पडनेवाली जलकी बूँद पत्थरमे भी गड्ढा कर देती है वैसे ही पुन पुन किये गये अभ्याससे आत्मामे विषय और कषायोकी मन्दता होकर सामायिकव्रतकी सिद्धि होती है ।।३२।। सामायिकके फलका इच्छुक श्रावक इस सामायिकव्रतमे भी स्मृतिका भूल जाना काय, वचन तथा मनकी पाप कार्योमे प्रवृत्ति करना और अनादर करना इन पाच अतिचारोको छोडे । विशेषार्थ—स्मृत्यनुपस्थापन, वचनदु प्रणिधान, कायदु प्रणिधान, मनोदु प्रणिधान और अनादर ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार है। सामायिककी पूर्तिका इच्छुक श्रावक इन पाँच अतिचारोको छोडे । इनका विवरण इस प्रकार है—स्मृत्यनुपस्थान—चित्तको एकाग्रताका न होना स्मृत्यनुपस्थापन है। अथवा मैने सामायिक किया है या नही किया है, मुझे सामायिक करना चाहिए या नही करना चाहिए, इस प्रकार चित्तकी अनेकाग्रताको भी स्मृत्यनुपस्थान कहते है। कायदुष्टप्रणिधान—सामायिक करते हुए भी शरीरसे सावद्य कर्ममे प्रवृत्त होना कायदुष्टप्रणिधान है। अर्थात् सामायिक करते समय हाथ पैर आदि शरीरके अवयवोको स्थिर नही रखना कायदुष्टप्रणिधान है। वचनदुष्टप्रणिधान—सामायिकपाठ या सामायिकमत्रके उच्चारणके समय वर्णोके संस्कारसे उत्पन्न होनेवाला अर्थबोध नही होना अथवा सामायिक व मत्रके पाठके उच्चारणमे चपलताका होना वचनदुष्टप्रणिधान नामका अतिचार है। मनोदुष्टप्रणिधान—सामायिक करते समय क्रोध, लोभ, अभिमान और ईर्ष्या वगैरह मनोविकारोका उत्पन्न होना या कार्यके व्यासगसे सभ्रम उत्पन्न होना मनोदुष्टप्रणिधान है। अनादर—सामायिकमे उत्साहका नही रहना, निश्चित समय पर सामायिकका नही करना अथवा यद्वा तद्वा सामायिकके अनन्तर ही अतिशीघ्र भोजनादिमे लग जाना अनादर है ॥३३॥

जो सामायिकके संस्कारकी दृढताके लिये चारो ही पर्व तिथियोमे आगमके अनुसार जीवन पर्यन्त चारो प्रकारके आहारोका त्याग करना वह प्रोषधोपवास कहलाता है। विशेषार्थ—सामायिकके संस्कारोको दृढ करनेके लिये अर्थात् परीषहो और उपसर्गोके आनेपर समताभावसे पतन नही हो इस हेतुसे चारो ही पर्वोमे शास्त्रानुसार जीवन भरके लिये जो चार प्रकारके आहारोका त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते है। एक दिनमे दो भुक्ति होती हैं, यह समत मार्ग है। प्रोषधोपवास धारणा और पारणापूर्वक होता है। अत प्रत्येक मासके चार पर्वोमे प्रोषधोपवास करनेवाला सप्तमी और त्रयोदशीको प्रोषधोपवासकी धारणामे एक भुक्तिका त्याग करता है और एक भुक्तिका ग्रहण करता है। अष्टमी और चतुर्दशीके दिन दोनो ही भुक्तियोका त्याग करता है। और नवमी तथा पूर्णिमाको पारण करते हुए एक ही भुक्तिका ग्रहण करता है तथा एक भुक्तिका त्याग करता है। इस प्रकार अशन, स्वाद्य, खाद्य और पेय इन चारो प्रकारके आहारोकी चतुर्भुक्तियोके त्यागको प्रोषधोपवास कहते है। तात्पर्य यह है कि प्रोषधोपवासके करनेसे परीषह और उपसर्गोके सहन करनेका अभ्यास होता है और उससे समताभावका उत्कर्ष तथा दृढीकरण होता है ॥३४॥ उपवास करनेमे असमर्थ श्रावकोके द्वारा

पर्वपूर्वदिनस्यार्धे भुक्त्वाऽतिथ्यशितोत्तरम् । लात्वोपवासं यतिवद् विविक्तवसतिं श्रित. ॥३६
धर्मध्यानपरो नीत्वा दिनं कृत्वाऽऽपराह्णिकम् । नयेत् त्रियामा स्वाध्याय-रत प्रासुकसंस्तरे ॥३७
तत. प्राभातिकं कुर्यात् तद्वद्यामान् दशोत्तरान् ।
नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा भुञ्जीतालौल्यत सकृत् ॥३८

जलको छोडकर चारो प्रकारके आहारका त्याग किया जाना चाहिये और अनुपवास करनेमे असमर्थ श्रावकोके द्वारा आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि रूप आहार किया जाना चाहिये। क्योकि शक्तिके अनुसार किया गया तप कल्याणके लिये होता है। भावार्थ—जो पूर्वोक्त उत्तम उपवास करनेमे असमर्थ है उसे अनुपवास करना चाहिए। और जो अनुपवास करनेमे भी असमर्थ है उसे आचाम्ल और निर्विकृति आदि रूप भोजन करना चाहिये। क्योकि प्रोषधोपवास तप है। और वह अपनी शक्तिके अनुसार किया गया हो कल्याणकारी होता है। अनुपवास—प्रोषधोपवास व्रतमे जल रखकर शेष आहारोका त्याग करना अनुपवास कहलाता है। आचाम्लाहार—काजी सहित केवल भातके भोजनको आचाम्लाहार कहते हैं। निर्विकृतिआहार—विकृति शब्दका अर्थ गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरस है, क्योकि जिस आहारसे जिह्वा और मनमे विकार पैदा होता है उसे विकृति कहते हैं। अत उपर्युक्त चारो प्रकारके रस विकृति कहलाते है। घी, दूध आदि गोरस हैं। शक्कर, गुड आदि इक्षुरस हैं। द्राक्षा आम आदिके रसको फलरस कहते हैं। और तेल, माड आदिको धान्यरस कहते हैं। अथवा जिसको मिलाकर भोजन करनेसे भोजनमे स्वाद आता है उसको विकृति कहते हैं और इस प्रकारकी विकृतिरहित भोजनके करनेको निर्विकृति आहार कहते हैं। आचाम्लनिर्विकृत्यादि पदमे जो आदि शब्द आया है उससे एक स्थान पर बैठकर ही और रस छोडकर भोजन करने आदिका ग्रहण किया है ॥३५॥ प्रोषधोपवास व्रतका पालक श्रावक पर्वके पहिले दिनके आधे भागमें, अर्थात् मध्याह्न अथवा कुछ कम ज्यादह कालमे अतिथिको भोजन करानेके अनन्तर स्वय भोजन करके मुनिके समान उपवासको करके निर्जन स्थानको आश्रित होता हुआ धर्मध्यानमे तत्पर होता हुआ दिनको बिता करके और सन्ध्याकालमे होनेवाले सध्यावन्दन आदि सम्पूर्ण कर्मोको करके स्वाध्यायमे लीन होता हुआ शुद्ध शय्यापर रात्रिको बितावे। विशेषार्थ—पर्वके पूर्व दिनके मध्याह्न कालमे अतिथिको आहारदान देकर विधिपूर्वक स्वय भोजन करके जिस प्रकार यति यदि उन्हे अगले दिन उपवास करना होता है तो वे उपवास करनेका व्रत पूर्व दिनके भोजनके समय ही लेते हैं। उसी प्रकार धारणाके दिनके भोजनानन्तर यह भी उपवास ग्रहण करे। तथा की हुई उपवासकी इस प्रतिज्ञाको आचार्यके पास जाकर प्रकट करे। उपवासकी प्रतिज्ञा लेनेके अनन्तर सावद्य व्यापारो, शरीरके सस्कारो और अब्रह्मका त्याग कर देना चाहिए तथा अयोग्य जन रहित और प्रासुक एकान्त स्थानका आश्रय कर वहाँपर चार प्रकारके धर्मध्यानमे लीन होकर सध्याकालको व्यतीत करे। अनन्तर सन्ध्याकाल सम्बन्धी सब कृतिकर्म करके जन्तुरहित तृणादिकसे बने हुए प्रासुक चटाई आदि पर स्वाध्याय करते हुए निद्रा और आलस्यको छोडकर रात्रि व्यतीत करे ॥३६-३७॥

विधिपूर्वक छह प्रहरोको बितानेके अनन्तर प्रात कालमे होनेवाले सम्पूर्ण आवश्यकादिक कर्मोको करे और फिर इसके अनन्तर पूर्वोक्त छह प्रहरोके समान आगेके दश प्रहरोको बिताकर भोजनमे आसक्तिको छोडकर एक बार भोजन करे। भावार्थ—पर्वके दिन प्रात काल उठकर प्रात काल सम्बन्धी सब आवश्यक कर्म करे और धारणाके दिन सम्बन्धी छह प्रहरके कृतिकर्मके

पूजयोपवसन्पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत् । प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥३९
ग्रहणास्तरणोत्सर्गानववेक्षाप्रमार्जनान् । अनादरमनैकाग्र्यमपि जह्यादिह व्रते ॥४०
व्रतमतिथिसंविभाग. पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥४१

समान शेष दश प्रहरोमे भी कृतिकर्म करता हुआ व्यतीत करे। अनन्तर पारणाके दिन अतिथिको आहार देकर आसक्तिका त्याग कर एक बार भोजन करे ॥३८॥ उपवास करनेवाला श्रावक भावमयी अथवा प्रासुकद्रव्यमयी पूजाके द्वारा ही देव, शास्त्र और गुरुको पूजे तथा रागके कारणोको दूर छोडे। भावार्थ—उपवासके दिन उपवास करनेवाला श्रावक भावपूजन करे अथवा प्रासुक द्रव्यसे द्रव्यपूजन करे। किन्तु इन्द्रिय और मनकी लोलुपता वढानेवाले गीत और नृत्य आदि रागवर्द्धक साधनोका त्याग करे। भक्तिपूर्वक देव, शास्त्र और गुरुके गुणोका स्मरण करना भावपूजा है। यह भावपूजा प्रोषधोपवासीके सामायिकमे निरत रहनेके कारण सहज सिद्ध है। क्योकि द्रव्यपूजा का भी साध्य (फल) भावपूजा है। परन्तु जो इसमे असमर्थ है वह प्रासुक अक्षतादिके द्वारा द्रव्यपूजा करे ॥३९॥ नैष्ठिक श्रावक इस प्रोषधोपवास नामक व्रतमे नही है चक्षुके द्वारा देखना तथा कोमल उपकरणके द्वारा साफ करना जिनमे ऐसे उपकरणादिकके ग्रहणको, बिछौनाके बिछानेको, मलमूत्रादिकके त्यागनेको, अनादरको और अनैकाग्र्यको छोडे। विशेषार्थ—अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण, अनवेक्षाप्रमार्जितास्तरण, अनवेक्षाप्रमार्जितोत्सर्ग, अनादर और अनैकाग्र्य ये पाँच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार है। अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण—जन्तु है या नही इस प्रकार चक्षुके द्वारा अवलोकन करनेको अवेक्षा कहते हैं। कोमल उपकरणसे स्थानादिकके शोधनेको प्रमार्जित कहते है। पूजाके उपकरण और स्वाध्यायके लिए शास्त्र आदिकको बिना देखे वा बिना शोधे ग्रहण करना अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण नामका अतीचार है। उपलक्षणसे बिना देखे और बिना शोधे हुए उनको रखना भी अतीचार होता है। इसी प्रकार आस्तरण अर्थात् बिछौना आदिका बिना देखे और बिना शोधे धरना अनवेक्षाप्रमार्जितास्तरण नामका अतीचार है। बिना देखे और बिना शोधे किसी जगहपर मलमूत्र आदिका विसर्जन करना अनवेक्षाप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है। यहाँपर नही देखना और नही शोधना तो अविधि (अनाचार) है और यद्वा तद्वा देखना और यद्वा तद्वा शोधना अतीचार है। यह अर्थ अनवेक्षा और अप्रमार्जन शब्दोमे कुत्सा अर्थमे नञ्समासके करनेसे निकलता है। जैसे कि अब्राह्मण पदमे किये गये नञ्समासका अर्थ ब्राह्मणका अभाव नही है, किन्तु कुत्सित ब्राह्मण है। वैसे ही अनवेक्षा और अप्रमार्जन शब्दमे भी कुत्सित रीतिसे देखना और शोधना अतिचार है। बिल्कुल नही देखना वा बिल्कुल नही शोधना अतिचार नही, अनाचार हैं। अनादर—क्षुधादिककी वेदनासे प्रोषधोपवास व्रतमे अथवा अन्य आवश्यक कर्ममे उत्साहका न होना अनादर नामका अतिचार है। अनैकाग्र्य—क्षुधादिककी वेदनाके कारण प्रोषधोपवासव्रतमे या अन्य आवश्यक कर्ममे चित्तका एकाग्र नही रहना अनैकाग्र्य नामका अतिचार है ॥४०॥

विशेष दाताका विशेष फलके लिए विशेष विधिके द्वारा विशेष पात्रके लिए विशेष द्रव्यका दान करना अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है। विशेषार्थ—विशेष दाता द्वारा विशेष फलके लिए विशेष विधिके द्वारा विशेष पात्रके लिए विशेष द्रव्यका दान करना अतिथिसंविभाग कहलाता है।

ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय य स्वयम् । यत्नेनातति गेह वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथि ॥४२
यत्तारयति जन्माब्धे स्वाश्रितान्यानपात्रवत् । मुक्त्यर्थगुणसयोगभेदात्पात्र त्रिधा मतम् ॥४३
यति. स्यादुत्तमं पात्रं मध्यम श्रावकोऽधमम् । सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगत. ॥४४
प्रतिग्रहोच्चस्थानाङ्घ्रिक्षालनार्चानतीर्विदु । योगान्नशुद्धींश्च विधीन् नवादरविशेषितान् ॥४५

अतिथिसविभाग व्रतके प्रतिपादन करनेका यहाँ यह प्रयोजन है कि इसको अपने भोजनके पहले अतिथिकी प्रतीक्षा करना ही चाहिए। इससे उसको अतिथिके न मिलनेपर दानके फलमे वाधा नही आती, किन्तु वह भावनाके बलसे ही दानके फलका अधिकारी हो जाता है। सम् = निर्दोष तथा निर्वाध। वि-भाग—अपने लिए बनाये हुए भोजनके अशको अतिथिके लिए हिस्सा रखना अतिथिसविभाग कहलाता है। सुयोग्य अतिथिके लिए सुयोग्य दाता द्वारा योग्य द्रव्यके देनेसे विशेषफलकी प्राप्ति होती है ॥४१॥ जो ज्ञानादिककी सिद्धिके हेतु शरीरकी स्थितिके प्रयोजनभूत अन्नके लिए विना बुलाए प्रयत्नपूर्वक अर्थात् संयमकी विराधना नही करके दाताके घरको जाता है वह अतिथि कहलाता है। अथवा जिसके पर्व तिथि आदि किसीका भी विचार नही होता वह अतिथि कहलाता है। भावार्थ—ज्ञानादिककी सिद्धिके उपायभूत शरीरकी रक्षाके लिए (न कि शरीरकी ममताके लिए) अपने सयमको सम्हालते हुए किसीके बिना बुलाए शास्त्रविहित आहारको आवश्यकताके लिए जो श्रावकके घरको यत्नाचारसहित गमन करता है उसे अतिथि कहते हैं? अथवा तिथि और तिथिके उपलक्षणसे पर्वदिवस और उत्सव दिवसका जिसके विचार नही होता वह अतिथि कहलाता है ॥४२॥ जो जहाजकी तरह अपने आश्रित प्राणियोको ससार रूपी समुद्रसे पार कर देता है वह पात्र कहलाता है और वह पात्र मोक्षके कारणभूत अथवा मोक्ष ही है प्रयोजन जिनका ऐसे सम्यग्दर्शनादिक गुणोके सम्बन्धके भेदसे तीन प्रकारका माना गया है। विशेषार्थ—जैसे जहाज अपने आश्रितोको जलाशयसे पार कर देता है वैसे ही जो दानके कर्त्ता, प्रेरक और अनुमोदक को ससारसे पार करता है उसे पात्र कहते हैं। वह पात्र मोक्षके लिए आवश्यक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी गुणोके सयोगके भेदसे तीन प्रकारका है। अर्थात् उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे पात्रके तीन भेद हैं ॥४३॥ मुनि उत्तम, श्रावक मध्यम, असयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहलाता है, तथा विशेषगुणोके सम्बन्धसे ही इन उत्तमादि पात्रोका परस्परमे या दूसरोमे भेद होता है। विशेषार्थ—मुनि उत्तम पात्र, श्रावक मध्यम पात्र और सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र हैं। इन तीनोमे परस्पर जो विशेषता है वह सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिविशेषके कारण है। मुनियो मे महाव्रत सहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। श्रावकोमे देशव्रतसहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। तथा सम्यग्दृष्टियोमे व्रतरहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसलिये पात्रोके उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद हो जाते हैं। इनमे परस्पर यही विशेषता है। तथा ये तीनो ही पात्र, अपात्रोकी अपेक्षा भी विशेषता रखते हैं। अर्थात् अपात्र तारक नही होता, किन्तु ये पात्र तारक होते है ॥४४॥ प्राचीनाचार्य यथायोग्य विनयके द्वारा विशेषताको प्राप्त हुए प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार और मन शुद्धि, वचनशुद्धि तथा अन्नशुद्धि दानके नौ प्रकारोको जानते हैं। विशेषार्थ—पात्रके लिए विशेष आदरपूर्वक नवधाभक्तिसे जो आहार दिया जाता है उसे विधि-विशेष कहते हैं। प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मन शुद्धि, वचनशुद्धि, काय-शुद्धि तथा अन्नशुद्धि। पात्रको आहार देते समय यह नौ प्रकारकी विधि (नवधाभक्ति) होती है।

पिण्डशुद्ध्युक्तमन्नादिद्रव्यं वैशिष्ट्यमस्य तु । रागाद्यकारकत्वेन रत्नत्रयचयाङ्गता ॥४६
भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानलौल्यक्षमागुणः । नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य य पति. ॥४७
रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तुर्दातु पुण्योच्चयः फलम् । मुक्त्यन्तचित्राभ्युदयप्रदत्वं तद्विशिष्टता ॥४८

जव पात्र अपने द्वारपर आता है तव भक्ति पूर्वक प्रार्थना करना कि भो गुरो ! मुझपर कृपा कीजिये, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोस्तु, ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये, इस प्रकारसे आहारके लिए पात्रका स्वागत करके स्वीकार करना प्रतिग्रह कहलाता है। जव पात्र अपने यहाँ भोजन ग्रहण करना स्वीकार कर ले तब उसे अपने घरके भीतर ले जाकर निर्दोष, निर्बाध उच्चस्थानपर विठाना उच्चस्थान कहलाता है। भक्तिपूर्वक पात्रके पैर धोना पादप्रक्षालन कहलाता है। और अक्षत जल आदिकसे पूजा करना पूजा कहलाती है। पञ्चाङ्ग नमस्कार करना नमस्कार कहलाता है। आर्त वा रौद्र ध्यानरहित मनकी अवस्थाको मन शुद्धि, परुप वा कर्कश आदि वचन नही बोलनेको वचनशुद्धि तथा शरीरसे सयत आचार करनेको कायशुद्धि कहते हैं। यत्नपूर्वक शोध करके पिण्डसम्बन्धी दोपोसे रहित आहारका नाम अन्नशुद्धि कहलाती है ॥४५॥ धर्मामृतके पिण्डशुद्धि नामक पञ्चम अध्यायमे कहा गया भक्त-पान देने योग्य द्रव्य कहलाता है और रागद्वेप आदिको उत्पन्न करने वाला नही होनेसे रत्नत्रयकी वृद्धिका कारणपना इस देने योग्य द्रव्यकी विशेषता कहलाती है। भावार्थ—अनगारधर्मामृतके पाँचवे अध्यायके पिंडशुद्धि नामक अधिकारमे बताये हुए चौदह दोष-रहित आहार, औषधि, आवास, पुस्तक आदि द्रव्य पात्रके लिए देय पदार्थ हैं। और वे देय पदार्थ पात्रके लिए रागद्वेष, असयम, मद तथा दुख आदिकका कारण न हो किन्तु रत्नत्रयकी वृद्धिमे कारण हो यह देय द्रव्य की विशेपता है ॥४६॥ भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा इन सात असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनु-मोदना इन नौ कोटियोके द्वारा विशुद्ध दानका अर्थात् देने योग्य द्रव्यका स्वामी होता है वह (दाता) कहलाता है। विशेषार्थ—मन, वचन और कायको कृत, कारित और अनुमोदनासे गुणा करनेपर नौ विकल्प होते हैं उनको 'नवकोटि' कहते है। अथवा देयशुद्धि और उसके लिए आवश्यक दातृ-शुद्धि तथा पात्रशुद्धि ये तीन, दातृशुद्धि और उसके लिए आवश्यक देय और पात्रकी शुद्धि ये तीन तथा पात्रशुद्धि और उसके लिए उपयोगी पडनेवाली देय और दाताकी शुद्धि ये तीन प्रकारसे भी 'नवकोटि' मानी गई हैं। इस नवकोटिकी विशुद्धता जिस दानमे होती है उसे नवकोटि विशुद्ध दान कहते है। इस नवकोटि विशुद्ध दानका जो पति है अर्थात् उपयोग करनेवाला है उसे दाता कहते हैं। भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा ये सात दाताके गुण है। १—पात्र-गत गुणके अनुरागको भक्तिगुण कहते है। २—पात्रको दिये गये दानके फलमे प्रतीति रखनेको श्रद्धा कहते हैं। ३—जिससे दाता अल्प धनी होकर भी अपनी दानकी वृत्तिसे बडे-बडे धनाढ्योको भी आश्चर्यान्वित करता है उसे सत्त्व कहते हैं। ४—देते समय अथवा दिये जानेपर जो हर्ष होता है उसे तुष्टि कहते हैं। ५—देने योग्य द्रव्यादिककी जानकारी रखनेको ज्ञान कहते है। ६—दुर्निवार क्रोधादिकके कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नही करना क्षमागुण कहलाता है। ७—सासारिक फलकी इच्छाका नही रखना अलौल्य कहलाता है ॥४७॥

दान की गई वस्तुके भोक्ताके रत्नत्रयकी वृद्धि होना और दान देनेवाले श्रावकके पुण्यके समूहकी प्राप्ति होना अर्थात् बहुत पुण्यास्रव होना दानका फल है। तथा मोक्ष है अन्तमे जिसके ऐसे नानाप्रकारके और ससारमे आश्चर्यको करनेवाले इन्द्रादिक पद स्वरूप अभ्युदयोको देना दान

पञ्चसूनापर. पापं गृहस्थ. सञ्चिनोति यत् । तदपि क्षालयत्येव मुनिदानविधानत. ॥४९

यत्कर्त्ता किल वज्रजङ्घनृपतिर्यत्कारयित्री सती,
श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवराव्याघ्रादयो यत्फलम् ।
आसेदुर्मुनिदानतस्तदधुनाऽप्याप्तोपदेशाब्दक-
व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः ॥५०

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तुमुद्युक्तोऽतिथये पदे । स्वार्थं कृतं भक्तमिति, ध्यायन्नतिथिमीक्षताम् ॥५१

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु पात्रेभ्यो वितरन्ति ये । धन्या ते इति च ध्यायेदतिथ्यन्वेषणोद्यत' ॥५२

के फलकी विशेपता है। विशेषार्थ—दानका फल दाता और पात्र दोनोको मिलता है। दानके प्रभावमे दाताके पुण्यराशिकी प्राप्ति होती है और दानके ग्रहणसे पात्रोके रत्नत्रयकी उन्नति होती है। भोगभूमित्व, देवत्व, चक्रवर्तित्व, पारिव्राज्य आदि लोगोको विस्मयमे डालनेवाले अभ्युदय और अन्तमे निर्वाण पदकी प्राप्ति यह सब दानके फलकी विशेषता है। दानके निमित्तसे मोक्ष मार्गस्थ साधुओके शरीरकी स्थिति रहती है और उसके कारण वे अपनी आत्मविशुद्धि करके रत्नत्रयका पूर्ण विकास करते हैं। दानका मुख्यफल अन्तमे मोक्षप्राप्ति और उसके पहिले विश्वमे आश्चर्य पैदा करनेवाले अभ्युदय हैं ॥४८॥ पाँचसूनामे प्रवृत्त जो गृहस्थ जिस पापको सञ्चित करता है वह गृहस्थ मुनियोके लिए विधिपूर्वक दान देनेसे उस पापको भी अवश्य नष्ट कर देता है। विशेषार्थ—हिंसात्मक पचसूनारूप क्रियाओमे प्रवृत्त रहनेवाला गृहस्थ जिन पापोका संचय करता है, वे सब पाप मुनिदानके प्रभावसे प्रक्षालित (दूर) हो जाते हैं। अपिशब्दके विस्मय और समुच्चय दो अर्थ हैं। विस्मयार्थकतासे यह सूचित होता है कि—केवल मुनिदान के प्रभावसे गृहस्थके आरम्भजनित सब पापोका नाश होता है। और समुच्चयार्थकतासे यह निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भजनित पापोका भी नाश होता है और व्यापारादि जनित पापोका भी नाश होता है ॥४९॥ आगममे इस प्रकार सुना जाता है कि मुनियोके लिए दान देनेसे दान देनेवाला वज्रजङ्घ नामका राजा, उस दानको करानेवाली श्रीमती नामकी सती तथा उस दानकी अनुमोदना करनेवाले मतिवरमत्री और व्याघ्र आदिक जिस फलको प्राप्त हुए वह मुनिदानका फल इस समय भी आप्तके उपदेशरूपी दर्पणके द्वारा व्यक्त होता हुआ अर्थात् प्रतीतिका विषय होता हुआ किस भव्य जीवके हृदयमे आश्चर्य नही करता है। भावार्थ—उत्पलखेट नामके राजा वज्रजङ्घने दान देकर, पुण्डरीकणी नगरीके वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री एव उसकी रानी श्रीमतीने दानकी प्रेरणा करके और दान देते समय उपस्थित मतिवर नामक मन्त्री, आनन्दनामक पुरोहित, अकपन नामके सेनापति, धनमित्र नामक सेठ तथा व्याघ्र, सूकर, वानर और नकुल इन पुरुष तथा तिर्यंचोने दानकी अनुमोदना करके जो फल पाया है, वह आगमरूपी दर्पणके द्वारा आज भी जगत्प्रसिद्ध है। ऐसा दानका फल किस भव्यात्माके चित्तमे चमत्कार पैदा नही करता ॥५०॥ अतिथिसंविभागव्रतको पालन करनेवाला श्रावक मध्याह्नकालमे होनेवाले स्नान आदि सम्पूर्ण कार्योको करके भोजन करनेके लिए उद्यत या तत्पर होता हुआ अपने लिए बनाये गये भोजनको मैं अतिथिके लिए दूँ इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ अतिथिकी प्रतीक्षा करे ॥५१॥ अतिथिकी खोज करनेमे तत्पर हुआ श्रावक जो गृहस्थ ढाई द्वीपमे पात्रोंके लिए विधिके अनुसार दान देते हैं वे गृहस्थ धन्य हैं इस प्रकार भी चिन्तवन करे ॥५२॥

हिंसार्थत्वान्न भूगेहलोहगोऽश्वादि नैष्ठिक । न दद्याद् ग्रहसङ्क्रान्तिश्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि ॥५३
त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः । सकालातिक्रम-परव्यपदेशश्च मत्सरः ॥५४

एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला-
न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनो दीप्राप्तवाग्दीपकः ।
वैयावृत्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरं-
श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः ॥५५

नैष्ठिक श्रावक प्राणियोकी हिंसामे निमित्त होनेसे भूमि, घर, शस्त्र, गौ, बैल, घोडा, वगैरह हैं आदि मे जिनके ऐसे कन्या, सुवर्ण और अन्न आदि पदार्थोंको दान नही देवे। और जिनको पर्व माननेसे सम्यक्त्वका घात होता है ऐसे ग्रहण, सक्रान्ति तथा श्राद्ध वगैरहमे अपने द्रव्यका दान नही देवे। भावार्थ—ग्रहण और सक्रान्ति आदिके अवसर पर दिया गया दान मिथ्यात्वका पोषक है तथा भूमि, घर, गाय और कन्या आदिका दान देनेसे हिंसा होती है इसलिये नैष्ठिकको इनका दान नही करना चाहिए ॥५३॥ अतिथिसविभागव्रतके पालक श्रावक द्वारा अतिसविभागव्रत-मे देयवस्तुका सचित्तमे रखना, सचित्तके द्वारा ढकना और कालातिक्रम वा परव्यपदेश सहित मात्सर्य ये पाँच अतिचार छोडे जाना चाहिए। विशेषार्थ—सचित्तनिक्षेप, सचित्तावृति, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सर ये पाँच अतिथिसविभागव्रतके अतिचार हैं। व्रतीको इनका त्याग करना चाहिए। सचित्त पत्ते आदि पर रखे भक्त-पानादि पात्रको देना सचित्त निक्षेप अतिचार है। सचित्ता-वृति—सचित्तपदार्थसे देय वस्तुके ढकनेको सचित्तावृति कहते हैं। कालातिक्रम—आहारके समय-का टालना कालातिक्रम कहलाता है। यह अतिचार अकालमे यतियोको आहार देनेके अभिप्रायसे द्वारापेक्षण करनेसे होता है। परव्यपदेश—देयवस्तु परकीय है, इस प्रकार व्याजसे कहना अथवा अपने इष्टजनोको भी पुण्यलाभ हो इस अभिप्रायसे देयवस्तु अमुक व्यक्तिकी है इस अभिप्रायसे देना भी परव्यपदेश कहलाता है। मत्सर—पात्रप्रतीक्षाके समय क्रोधभाव रखना जैसे 'मै प्रतिदिन खडा होता हूँ, फिर भी मेरे यहाँ कोई पात्र नही आता। अथवा मैं कितनी देर से खडा हूँ, तो भी अभी तक कोई पात्र मेरे यहाँ नही आया' ऐसी भावना रखना मत्सर कहलाता है। अथवा यतिको पडगाह लेने पर भी अपने पास रखे हुए देय पदार्थका समर्पण नही करना भी मत्सर है। अर्थात् देने पर भी आदर नही करना, अन्यदाताके दानको नही सह सकना तथा दूसरेके दानमे वैमनस्य रखना मत्सर अतिचार है ॥५४॥ इस प्रकार पाँचो अणुव्रतोको पालन करनेके लिए अतिचार रहित सातो शीलोको पालन करनेवाला ईर्या आदि पाँचो समितियोमे उद्यत निरन्तर मनमे देदीप्यमान है आप्तके वचनसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान रूपी दीपक जिसके ऐसा गुणी पुरुषोके वैय्यावृत्य करनेमे तत्पर तथा पाक्षिकादिककी अपेक्षा अधिक रूपसे दीन पुरुषोको दुःखसे छुडाने वाला जो गृहस्थ आगेके अध्यायमे कही जाने वाली इस दिनरात सम्बन्धी चर्याको पालन करता है वह गृहस्थ महाश्रावक कहलाता है। विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन सहित, अणुव्रतोका निरतिचार पालक, जिनागम-का उपासक, वैयावृत्यपरायण, दीनोद्धारक और षष्ठाध्यायोक्त दिनचर्याका पालक व्यक्ति इन्द्रादिकसे पूज्य महाश्रावकपद कालादि लब्धिके निमित्तसे किसी महान् व्यक्तिको ही प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनशुद्धत्व, व्रतभूषितत्व, जिनागमसेवित्व, निर्मलशीलनिधित्व, सयमनिष्ठत्व, गुरु-शुश्रूषकत्व, दयापरत्व और दिनचर्यापालकत्व ये आठ गुण जिसके होते है वह महाश्रावक कहलाता है। अणुव्रत और महाव्रत यदि समितिसहित हो तो सयम कहलाते है और समितिरहित हो तो विरत कहलाते है ॥५५॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठ अध्याय

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः । कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१
अनादौ बम्भ्रमन् घोरे संसारे धर्ममार्हतम् । श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् किलापं तदिहोत्सहे ॥२
इत्यास्थायोत्थितस्तल्पाच्छुचिरेकायनोऽर्हतः । निर्मायाष्टतयीमिष्टिं कृतिकर्म समाचरेत् ॥३
समाध्युपरमे शान्तिमनुध्याय यथाबलम् । प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं प्रार्थ्यं गन्तुं नमेत्प्रभुम् ॥४
साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिनाकृतिः । दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ध्यायन्गच्छेज्जिनालयम् ॥५

ब्राह्म मुहूर्त्तमे उठ करके पढ़ा है पंचनमस्कार मंत्र जिसने ऐसा श्रावक मैं कौन हूँ, मेरा धर्म कौन है और मेरा व्रत कौन है इस प्रकार चिन्तवन करे। भावार्थ—श्रावक शय्यासे ब्राह्म मुहूर्त्तमे उठे और सर्वप्रथम पंचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करे। फिर मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है और मेरा व्रत क्या है ? इत्यादि चिन्तवन करे ॥१॥ आगममे इस प्रकार सुना जाता है कि भयङ्कर और आदि रहित संसारमे कुटिलरीतिसे घूमनेवाले मैंने वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित श्रावक-सम्बन्धी इस धर्मको बड़ी कठिनाईसे पाया है इसलिए इस अत्यन्त दुर्लभ धर्मके विषयमे प्रमाद-रहित प्रवृत्त होता हूँ। भावार्थ—भयङ्कर और पंचपरावर्त्तनरूप अनादि संसारमे परिभ्रमण करते हुए मैंने वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित श्रावकीय धर्म बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर पाया है इसलिए मुझे इसमे उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए ॥२॥ इस प्रकार प्रतिज्ञा करके शय्यासे उठा पवित्र और एकाग्रमन होता हुआ अरिहन्त भगवान्की जलगन्धादिक आठ अवयववाली पूजाको करके वन्दना आदि करणीय कार्योंको भली भाँति करे। विशेषार्थ—इस प्रकार शय्यासे उठकर शौच, मुखशुद्धि और स्नान आदिकसे निवृत्त होकर एकाग्रमन होकर अरिहन्त भगवान्की पूजा करके कृति कर्म करना चाहिए। योग्य कालमे, योग्य आसनसे, योग्य स्थानमे, सामायिकके योग्य मुद्रा धारण करके, चारो दिशाओमे तीन तीन आवर्त्त और एक एक नमस्कार कर अपने पदके योग्य वस्त्रादिक रखकर शेष आरम्भ और परिग्रहका त्याग करके विधिपूर्वक सामायिक आदि करना कृतिकर्म कहलाता है ॥३॥ वन्दना आदि कर्मोको करनेवाला श्रावक समाधिकी निवृत्ति होनेपर शान्तिपाठको चिन्तवन करके अपनी शक्तिके अनुसार भोगोपभोग सम्बन्धी नियमविशेषको ग्रहण करके अभिलषित पदार्थको प्रार्थना करके गमन करनेके लिए अरिहन्त देवको नमस्कार कर विसर्जन करे। भावार्थ—पूर्वकालमे प्राय प्रत्येक घरमे चैत्यालय होते थे। दक्षिणमे आज भी यही प्रथा है। इसलिये पहले घरके चैत्यालयमे पूजन, सामायिक, शान्तिपाठ, इष्टप्रार्थना और विसर्जन कर पश्चात् जिनमन्दिरमे जानेका विधान किया है ॥४॥ समता परिणामरूप अमृतके द्वारा अच्छी तरह विशुद्धिको प्राप्त हुए अन्तरात्मामे देदीप्यमान है परमात्माकी मूर्ति जिसके ऐसा श्रावक ऐश्वर्य और दारिद्रय पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मके उदयसे होते है, इसप्रकार चिन्तवन करता हुआ जिनालयको जावे। भावार्थ—सामायिकके द्वारा जिसका अन्त करण भेदविज्ञान युक्त है और इसी कारण जिसके अन्त करणमे जिनेन्द्र भगवान्की आकृति विराजमान है वह भव्य ऐश्वर्य (अमीरी) और दारिद्रय (गरीबी) दोनो दैवी लीलाके फल

यथाविभवमादाय जिनाद्यर्चनसाधनम् । व्रजन्कौत्कुटिको देशसयतः संयतायते ॥६
दृष्ट्वा जगद्‌बोधकरं भास्करं ज्योतिरार्हतम् । स्मरतस्तद्‌गृहशिरोध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥७
वाद्यादिशब्दमाल्यादिगन्धद्वारादिरूपकैः । चित्रैरारोहदुत्साहस्तं विशेन्नि.सहीगिरा ॥८
क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्त. प्रविश्यानन्दनिर्भरः । त्रि प्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुती पठन् ॥९
सेयमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः । चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥१०
अथेर्यापथसंशुद्धि कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् । श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥११

है इनमे हर्ष विषादसे लाभ नही—इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ देवदर्शनके लिए जिनालयको जावे ॥५॥ अपनी सम्पत्तिके अनुसार अरिहन्तादिककी पूजाके साधनभूत जल गन्धादिकको ग्रहण करके आगे चार हाथ जमीन देखता हुआ गमन करनेवाला देशसयमी श्रावक मुनिके समान आचरण करता है । भावार्थ—अपनी सम्पत्तिके अनुसार पूजनकी सामग्री लेकर चार हाथ आगे जमीन देखता हुआ ईर्यासमितिपूर्वक दर्शनके हेतु मन्दिरजीको जानेवाला देशसयमी ईर्यासमितिपालक यतिके समान मालूम होता है ॥६॥ जगत्के प्राणियोकी निद्राको दूर करनेवाले सूर्यको देखकर अरिहन्त भगवान् सम्बन्धी बहिरात्मा प्राणियोकी मोहरूपी निद्राको दूर करनेवाले ज्ञानमय अथवा वचनमय तेजको स्मरण करनेवाले श्रावकके जिनेन्द्र भगवान्‌के चैत्यालयके शिखरमे लगी ध्वजाके देखनेसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द पापनाशक होता है । भावार्थ—उक्त विधिसे प्रात काल जिनमन्दिरजीको जानेवाला श्रावक सूर्यको देखकर इस प्रकार चिन्तवन करे कि जैसे सूर्य अपनी किरणोके प्रकाशसे, प्रकाशमे अपने अपने व्यवहारको सम्पादन करनेवाले प्राणियोका मार्गदर्शक है उसी प्रकार जिनेन्द्रभगवान् भी अपनी ज्ञानात्मक और वचनात्मक किरणोसे ससारके बहिरात्मा प्राणियोकी मोहनिद्राके नाशक हैं । इस प्रकार चिन्तवन करनेवाले भव्यके चित्तमे भगवान्‌के मन्दिरकी ध्वजाके दर्शनसे जो आनन्दोत्सव होता है उससे उसके पापोका नाश होता है ॥७॥ नानाप्रकार और विस्मयको करनेवाले प्रभातकाल सम्बन्धी वादित्र आदिके शब्दोके द्वारा, चम्पा गुलाब आदिके फूलोकी गन्धके द्वारा तथा द्वारतोरण और शिखर पर बने हुए चित्रो द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ है धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसका ऐसा श्रावक नि सही इस वचनके द्वारा अर्थात् नि सही इस वचनका उच्चारण करके उस जिनालयमे प्रवेश करे । भावार्थ—दर्शनार्थी श्रावक घटा, झालर, जयघोष, स्तुति और स्वाध्याय आदिके शब्दसे तोरणकी वन्दनवार आदिमे लगे हुए नानाप्रकारकी पुष्पमालाओसे, धूप आदिकी सुगन्धसे तथा प्रवेशद्वार, खम्भो वा शिखर पर अकित नानाप्रकारके चित्रोसे अपने अन्त करणमे उत्साहसम्पन्न होकर नि सही नि सही नि सही इसप्रकार तीन बार उच्चारण करता हुआ जिनमन्दिरमे प्रवेश करे ॥८॥

धोये हैं पैर जिसने ऐसा और आनन्दके द्वारा व्याप्त हो गया है सम्पूर्ण अङ्ग जिसका ऐसा यह श्रावक उसी प्रकार अर्थात् नि सही इस शब्दको उच्चारण करता हुआ ही चैत्यालयके भीतर प्रवेश करके पुण्यास्रवको करनेवाली स्तुतियोको पढता हुआ तीन बार प्रदक्षिणा करे ॥९॥ यह चैत्यालयकी भूमि वही जिनागम प्रसिद्ध समवसरण है, ये प्रतिमार्पित जिनेन्द्र वही अरिहन्त तथा ये जिनाराधक भव्य वे ही बारह सभाओके सभासद हैं इस प्रकार विचार करनेवाला श्रावक उस चैत्यालयमे धर्माराधक भव्योको बार बार अभिनन्दन करे ॥१०॥ इसके अनन्तर यह महाश्रावक ईर्यापथशुद्धि अथवा प्रतिक्रमणको करके जिनेन्द्र भगवान्‌को, जिनवाणीको और

ततश्चावर्जयेत्सर्वान् यथार्ह जिनभक्तिकान् । व्याख्यात पठतश्चार्हद्वच प्रोत्साहयेन्मुहु. ॥१२
स्वाध्याय विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान् । पक्वज्ञानदयस्यैव गुणा. सर्वेऽपि सिद्धिदा ॥१३
मध्ये जिनगृह हास विलास दुःकथा कलिम् । निद्रां निष्ठ्यूतमाहार चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥१४
ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधी । अधितिष्ठेद् व्यवस्येद्वा स्वय धर्माविरोधतः ॥१५
निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थफले जातेऽपि पौरुषे । न विषीदेन्नान्यथा वा हृष्येल्लीला हि सा विधेः ॥१६
कदा माधुकरी वृत्ति सा मे स्यादिति भावयन् । यथालाभेन सन्तुष्ट उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥१७
नीरगोरसधान्यैध शाकपुष्पाम्बरादिभि. । क्रीतै शुद्ध्यविरोधेन वृत्ति. कल्प्याघलाघवात् ॥१८
सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्याद् विवाहादौ गृहेऽप्यदन् । निशि सिद्ध त्यजेद् दीनैर्व्यवहारं च नावहेत् ॥१९

आचार्यको पूज करके उस आचार्यके समक्ष घरके चैत्यालयमे पहले ग्रहण किये हुए नियम विशेषको प्रगट करे। विशेषार्थ—ईर्यापथसे चलते हुए भी मेरे द्वारा आज प्रमादसे किसी भी कायके जीवोको यदि बाधा पहुचाई गई हो अर्थात् चार हाथ शोधकर चलनेमे गलती हुई हो वह सब गुरुभक्तिके प्रभावसे मिथ्या होवे ऐसे चिन्तवनको ईर्यापथशुद्धि कहते है ॥११॥ इसके अनन्तर यह श्रावक यथायोग्य आदर विनयके द्वारा सम्पूर्ण अरिहन्तके आराधकोको प्रसन्न करे तथा जिनागमको व्याख्यान करनेवालोको और अध्ययन करनेवालोको भी बार बार उत्साहित करे। भावार्थ—मुनियोको 'नमोऽस्तु', आर्यिकाओ और क्षुल्लकोको 'वन्दे' तथा श्रावकोको 'इच्छामि' कहकर विनय करे ॥१२॥ इसके अनन्तर यह महाश्रावक विधिके अनुसार स्वाध्यायको करे और विपत्तिसे पीडित दीन प्राणियोको विपत्तिसे दूर करे क्योकि विशेषज्ञानी और दयालु व्यक्तिके ही सब गुण इच्छापूर्तिकारक होते हैं ॥१३॥ यह श्रावक जिनमन्दिरमे हँसीको, शृङ्गारयुक्त चेष्टाको, खोटी कथाओको, कलहको, निद्राको, थूकनेको और चारो प्रकारके आहारको छोडे ॥१४॥ इसके अनन्तर हित और अहितका विवेकी श्रावक द्रव्योपार्जन-योग्य दुकान आदि स्थानोको जाकर द्रव्यका उपार्जन करनेमे नियुक्त किये गये व्यक्तियोको सनाथ करे अर्थात् उनकी वा उनके कार्योकी देख रेख करे अथवा अपने धर्मकी रक्षाका लक्ष्य करके स्वय व्यवसाय करे ॥१५॥ द्रव्योपार्जन करनेमे तत्पर यह श्रावक पुरुषार्थके विफल, अल्पफलवाले और वृथा फलवाले होनेपर विषाद नही करे। तथा इससे विपरीत होनेपर हर्ष नही करे, क्योकि पुरुषार्थको सफल या निष्फल आदि बनानेवाली निरकुश प्रवृत्ति पूर्वोपार्जित पुण्यपाप कर्म की है। भावार्थ—अर्थोपार्जनके लिए कृत पुरुषार्थ निष्फल हो जावे, आशाकी अपेक्षा कम फल मिले, अपेक्षासे बहुत अधिक फल मिल जावे, अथवा बिलकुल विफल हो जावे, तो भी श्रावकको हर्ष-विषाद नही करना चाहिए। क्योकि वह सफलता और असफलता आदि पुरुषार्थका फल नही है किन्तु पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मजनित हैं। इसलिए उसमे हर्ष विषाद नही करना चाहिए ॥१६॥ वह जिनागममे वर्णित माधुकरीनामक भिक्षावृत्ति मेरे किस समय होगी इस प्रकार चिन्तवन करनेवाला यह श्रावक जितना धन मिला हो उतने ही धनसे सन्तुष्ट होता हुआ शारीरिक स्वास्थ्यको ठीक रखनेमे कारणभूत भोजनादिककी प्रवृत्तिमे उद्यम करे ॥१७॥ श्रावकके द्वारा अपने गृहीत सम्यक्त्व और व्रतोका घात नही करके मूल्य देकर खरीदे गये जल, गोरस, धान्य, लकडी, शाक, फूल और वस्त्र आदिक द्वारा पापोकी लघुतापूर्वक अपने शरीरके निर्वाहका व्यापार किया जाना चाहिये ॥१८॥ व्यवहारनिर्वाहके प्रयोजनसे साधर्मी भाइयोके घर मे, तथा

उद्यानभोजनं जन्तुयोधनं कुसुमोच्चयम् । जलक्रीडान्दोलनादि त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥२०
यथादोष कृतस्नानो मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक् । देवाधिदेवं सेवेत निर्द्वन्द्व. कल्मषच्छिदे ॥२१

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्या चतुष्कुम्भयुक्-
कोणायां सकुशश्रिया जिनपति न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभि सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं
सिक्तं कुम्भजलैश्च गंधसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२

सम्यग्गुरूपदेशेन सिद्धचक्रादि चार्चयेत् । श्रुतं च गुरुपादांश्च को हि श्रेयसि तृप्यति ॥२३
तत. पात्राणि सन्तर्प्य शक्तिभक्त्यनुसारत. । सर्वांश्चाप्याश्रितान्काले सात्म्य भुञ्जीत मात्रया ॥२४
लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा भजेत् । यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥२५
विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोर्ऽथिभि सह । जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥२६

विवाह आदिकमे भी भोजन करनेवाला यह श्रावक रात्रिमे वनाये गये भोजनको छोडे, और नीचजनोके साथ व्यवहारको नही करे । भावार्थ—विवाह आदिके समय कोई सधर्मी जन भोजनके लिए आग्रह करे तो श्रावक जा सकता है । अपने वालवच्चोके विवाहमे भी भोजन कर सकता है । परन्तु ऐसी परिस्थितिमे उसे रात्रिके वने पदार्थ नही खाना चाहिए । क्योकि रातके वने भोजनमे त्रस जीवोकी विराधना और समिश्रण नही हटाया जा सकता । तथा धर्मसे हीन जनके साथ भी दानग्रहण आदिका व्यवहार नही करना चाहिए ॥१९॥

यह श्रावक वगीचामे भोजन करनेको, प्राणियोके परस्परमे लडानेको, फूलोके ढेरको, जलक्रीडाको, झूला झूलना आदिको छोडे तथा इस प्रकारके हिंसाके कारण और दूसरे कार्योको भी छोडे ॥२०॥ मध्याह्नकालमे दोषके अनुसार किया है स्नान जिसने ऐसा और धुले हुए वस्त्रोको धारण करनेवाला यह श्रावक पापोको नष्ट करनेके लिए आकुलतारहित होता हुआ अरिहन्त भगवान्की आराधना करे ॥२१॥ अभिपेककी प्रतिज्ञा कर अभिषेकके स्थानको शुद्ध करके चारो कोनोमे चार कलशसहित श्रीवर्णके ऊपर कुशसहित सिंहासनपर जिनेन्द्रभगवान्को स्थापित करके आरती उतारकर इष्टदिशामे स्थित होता हुआ जल, इक्षुरस, घी, दुग्ध और दहीके द्वारा अभिपिक्त करके चन्दनानुलेपन युक्त तथा पूर्वस्थापित कलशोके जलसे तथा सुगन्धयुक्त जलसे अभिषिक्त जिनराजको अष्टद्रव्यसे पूजा करके स्तुति करके जाप करे ॥२२॥ यह श्रावक सच्चे गुरुके उपदेशसे सिद्धचक्र आदिको तथा शास्त्रको और गुरुके चरणोको पूजे, क्योकि कल्याणके विपयमे कौन पुरुष तृप्त हो सकता है ॥२३॥ तदनन्तर यह श्रावक अपनी शक्ति तथा भक्तिके अनुसार पात्रोको और सम्पूर्ण अपने आश्रित प्राणियोको भी अच्छी तरहसे सन्तुष्ट करके योग्य कालमे प्रमाणसे सात्म्यपदार्थ खावे । विशेषार्थ—मध्याह्न कालकी पूजाके वाद पात्रदानके लिए द्वारापेक्षण करे । और प्राप्त सत्पात्रको अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार दान देकर तथा सम्पूर्ण आश्रितोका भरण पोषण करके योग्यकालमे मात्रासे सात्म्य भोजन करे । प्रकृतिसे अविरुद्ध भोजन जिसके खानेपर हानि नही होती उसे सात्म्य कहते हैं ॥२४॥ यह श्रावक इस लोक और परलोकमे विरोध नही करनेवाले द्रव्यादिकको सर्वदा सेवन करे तथा व्याधिके उत्पन्न नही होने देने और उत्पन्न हुई व्याधिके दूर करनेके विषयमे प्रयत्न करे । क्योकि वह व्याधि सयमका घात करनेवाली होती है ॥२५॥ इसके अनन्तर यह श्रावक विश्राम करके गुरुओके साथ, सहपाठियोके साथ तथा हितैषियोके साथ जिनागमके रहस्योको विनयपूर्वक विचार करे ॥२६॥ उस

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेवगुरुस्मृति । न्याय्ये कालेऽल्पश स्वप्यात् शक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥२७
निद्राच्छेदे पुनश्चित्त निर्वेदेनैव भावयेत् । सम्यग्भावितनिर्वेद. सद्यो निर्वाति चेतनः ॥२८
दु.खावर्ते भवाम्भोधावात्मबुद्ध्याध्यवस्यता । मोहाद्देहं हहाऽऽत्माऽयं बद्धोऽनादि मुहुर्मया ॥२९
तदेनं मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे । मुच्येतैतच्छये क्षीणरागद्वेष स्वय हि ना ॥३०
बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रह । बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम् ॥३१
ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मर. । देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥३२
धन्यास्ते: येऽत्यजन् राज्यं भेदज्ञानाय तादृशम् । धिङ्माहग कलत्रेच्छातन्त्रगार्हस्थ्यदु स्थितान् ॥३३

तत्त्वचर्चाके बाद सन्ध्या समय आवश्यक कर्मोंको करके किया है देव तथा गुरुका स्मरण जिसने ऐसा यह श्रावक उचित समयमे थोडा शयन करे और यथाशक्ति मैथुनको छोडे ॥२७॥ यह श्रावक निद्राके दूर होनेपर फिरसे वैराग्यके द्वारा ही चित्तको भावित करे, क्योकि अच्छी तरहसे अभ्यास किया है वैराग्यका जिसने ऐसा आत्मा उसी क्षणमे प्रशम सुखका अनुभव करता है और अल्प समयमे ही निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२८॥ बडे खेदकी बात है कि दु ख ही हैं आवर्त अर्थात् भँवरें जिसमे ऐसे ससाररूपी समुद्रमे मोहके कारण शरीरको आतमा रूपसे निश्चित करनेवाले मेरे द्वारा यह आत्मा अनादिकालसे बार-बार कर्मोंसे बद्ध किया गया। भावार्थ—जिसमे नरकादिकके दु ख ही भँवरें हैं ऐसे ससाररूपी समुद्रमे अनादिकालसे मोह (अविद्या) सस्कारसे शरीरको ही आत्मा मानकर मैंने अपने आत्माको बार-बार कर्मोंसे परतत्र किया है, यह बड़े खेदकी बात है ॥२९॥

इसलिये मै सर्वदा इस मोहको ही नष्ट करनेके लिए प्रयत्न करता हूँ, क्योकि इस मोहके नष्ट होनेपर क्षीण हो गये हैं राग और द्वेष जिसके ऐसा पुरुष स्वय अर्थात् बिना किसी प्रयत्नके अपने आप मुक्त हो जाता है। भावार्थ—मोहके नष्ट होनेपर मेरा आत्मा रागद्वेपसे रहित होकर स्वय (बिना किसी प्रयत्नके) मुक्तिका लाभ कर सकता है क्योकि रागद्वेपका मूलकारण मोह है। इसलिये मोहके नाशसे रागद्वेषका विनाश अपने आप होता है। अतएव मुझे मोहके उच्छेदके लिए ही निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ॥३०॥ पुण्यपापरूप कर्मके उदयसे शरीर, इस शरीरमे स्पर्शन आदिक इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियोके द्वारा स्पर्श आदिक विपयोका ग्रहण तथा इन विषयोके ग्रहणसे फिर भी कर्मोका बन्ध होता है इसलिए मैं इस बन्धके कारणभूत विषयोके ग्रहणको ही जडसे नष्ट करता हूँ। भावार्थ—पुण्यपापात्मक कर्मोके विपाकको बन्ध कहते हैं, उससे देहकी प्राप्ति होती है। देहमे इन्द्रियोकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रियोसे विपयोका ग्रहण होता है। और इन विपयोंके उपभोगसे पुन बन्ध होता है। यह अनर्थपरम्परा अनादिसे चली आती है इसलिये मैं बन्धके मूल विषयग्रहण या परपदार्थमे उपादेय बुद्धिका ही सर्वप्रथम सहार करता हूँ ॥३१॥ ज्ञानियोकी सगति, तप और ध्यानके द्वारा भी वशमे नही हो सकनेवाला कामरूपी शत्रु शरीर और आत्माके भेदविज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यके द्वारा ही वशमे किया जा सकता है ॥३२॥ जो व्यक्ति भेदविज्ञानके लिये उस प्रकारके अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदिकके द्वारा सर्वोत्कृष्ट साम्राज्यको भी छोड चुके वे पुरुप प्रशसनीय हैं, किन्तु स्त्रीकी इच्छा है प्रधान जिसमे ऐसे अथवा स्त्रीकी इच्छाके अधीन है वृत्ति जिसकी ऐसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्योके द्वारा दुखी मेरे समान पुरुपोको धिक्कार है ॥३३॥

इत शमश्री. स्त्री चेत. कर्षतो मां जयेन्नु का । आ ज्ञातमुत्तरैवात्र जेत्री या मोहराट्चमूः ॥३४
चित्रं पाणिगृहीतीयं कथ मां विष्वगाविशत् । यत्पृथग्भावितात्माऽपि समवैम्यनया पुनः ॥३५
स्त्रीतश्चित्त निवृत्त चेन्ननु वित्तं किमीहसे । मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रह ॥३६
इति च प्रतिसन्दध्याद्युद्योगं मुक्तिवर्त्मनि । मनोरथा अपि श्रेयोरथा श्रेयोऽनुबन्धिनः ॥३७
क्षणे क्षणे गलत्यायु कायो ह्रसति सौष्ठवात् । ईहे जरा नु मृत्यु नु सध्रीची स्वार्थसिद्धये ॥३८
क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरम् । विपदा सम्पदा नासौ जिनधर्ममुचस्तु मे ॥३९
लब्ध यदिह लब्धव्य तच्छ्रामण्यमहोदधिम् । मथित्वा साम्यपीयूष पिबेय परदुर्लभम् ॥४०
पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे । जीविते मरणे मोक्षे भवे स्या समधीः कदा ॥४१

इस ओरसे शान्तिरूपी लक्ष्मी और इस ओरसे स्त्री मेरेको अपनी-अपनी तरफ खीचती है। अथवा अच्छी तरहसे मालूम हो गया कि इन दोनोमे स्त्री ही विजयशील है जो मोहरूपी राजाकी सेना है ॥३४॥ बडा भारी आश्चर्य है कि हाथके द्वारा ग्रहण की गई यह विवाहिता स्त्री किस प्रकार से मेरेमे चारो ओरसे प्रविष्ट हो गई है क्योकि पृथक् रूपसे बार-बार चिन्तवन किया है आत्माका जिसने ऐसा मै बार-बार इस स्त्रीके साथ तादात्म्य सम्बन्धको प्राप्त होता हूँ ॥३५॥ हे मन, यदि तू निश्चय करके स्त्रीसे निवृत्त हो गया तो फिर धनग्रहणको क्यो चाहेगा ? क्योकि स्त्रीकी इच्छा नहीं रहनेपर धनको ग्रहण करना अथवा धनकी इच्छा करना मरे हुए मनुष्योको भूषण पहिनानेके समान व्यर्थ है ॥३६॥ वक्ष्यमाण प्रकारसे भी यह श्रावक मोक्षमार्गके विषयमे उद्योग या उत्साहको बार-बार लगावे क्योकि मोक्ष ही है रथ जिन्होका ऐसे अर्थात् मोक्षविषयक मनोरथ भी अभ्युदयके सम्पादन करनेवाले या स्वर्गादिकको देनेवाले होते है ॥३७॥ आयुकर्म क्षण-क्षणमे अर्थात् प्रतिसमय-मे नाशको प्राप्त हो रहा है और सौन्दर्य एव स्वार्थक्रियाके करनेकी सामर्थ्यसे शरीर ह्रासको प्राप्त हो रहा है इसलिए मै अपने इच्छित अर्थकी सिद्धिके लिए सहायभूत बुढापेकी इच्छा करू क्या ? अथवा मृत्युको चाहूँ क्या ? भावार्थ—व्यावहारिक जीवनमे स्वार्थकी सिद्धिके लिए आयु और शरीर प्रधान साधन माने जाते हैं। परन्तु आयु अञ्जलिके जलके समान प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। तथा काय भी अपने सामर्थ्यसे प्रतिक्षण शिथिल हो रहा है। कायकी यह हीनता बुढापेके लानेमे प्रवृत्त हो रही है। तो मरण और बुढापा इन दोनोमेसे किसको अपने स्वार्थका सहायक समझू। अर्थात् वास्तवमे इनमे कोई भी मुझे स्वार्थका सहायक नही दिखता, इस प्रकार भी चिन्तवन करे ॥३८॥ जिनधर्मको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले मेरे विपत्तियोका बार-बार आना भी श्रेष्ठ है, किन्तु जिन-धर्मसे विमुख मेरे सम्पत्तियोका यह बार-बार आना श्रेष्ठ नही है। भावार्थ—जिनधर्मको प्रीति-पूर्वक सेवन करते हुए यदि शारीरिक वा मानसिक दु ख और परीषह तथा उपसर्गकी मुझे पुन - पुन प्राप्ति होवे तो उसे मै अच्छा मानता हूँ। किन्तु जैनधर्मसे विमुख रहनेपर इन्द्रिय और मान-सिक सुख साधनोकी बारम्बार प्राप्तिको मै अच्छा नही मानता हूँ। श्रावक इस प्रकार श्रद्धाकी दृढता-द्योतक भावना भावे ॥३९॥ इस मनुष्यजन्म अथवा इस गृहस्थाश्रममे जो प्राप्त करना चाहिये था वह मैंने प्राप्त कर लिया इसलिए मुनिव्रत रूपी महासमुद्रको मथ करके दूसरोके लिए अत्यन्त दुर्लभ समतारूपी अमृतको मुझे पीना चाहिये। भावार्थ—मुझे इस गृहस्थाश्रम तथा मनुष्यभवमे जो कुछ प्राप्त करने योग्य था वह मैने प्राप्त कर लिया है, अब तो यही भावना है कि मै मुनित्व-रूपी महोदधिका मथनकर परम दुर्लभ समताभावरूपी अमृतको पीऊँ ॥४०॥ मै नगरके विषयमे, वनके विषयमे, मणिके विषयमे, धूलिके विषयमे, मित्रके विषयमे, शत्रुके विषयमे, सुखके विषयमे,

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितवहिर्जनः । कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥४२
शून्यध्यानैकतानस्य स्थाणुबुद्धयानडुन्मृगैः । उद्‌घृष्यमाणस्य कदा यास्यन्ति दिवसा मम ॥४३
धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः गृहिणोऽपि न येऽचलन् । तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः ॥४४
इत्याहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि । स्वर्गश्री क्षिपते मोक्षश्रीर्ष्ययेव वरस्रजम् ॥४५

दुःखके विषयमे, जीवनके विषयमे, मरणके विषयमे, मोक्षके विषयमे और संसारके विषयमे समान बुद्धिवाला कब होऊगा ॥४१॥ मोक्षमार्गमे प्रवृत्त मुनियोकी करणीय क्रियाओके समूहको पालन करनेसे चकित कर दिया है वहिरात्मा लोगोको जिसने ऐसा तथा आत्मदर्शी होता हुआ मैं समता-रूपी रसका आस्वादन करनेवाले मुमुक्षुओकी श्रेणीको किस समय प्राप्त होऊगा ॥४२॥ निर्विकल्पक समाधिमे लीन होनेवाले तथा ठूँठकी बुद्धिसे गाय बैल और मृगोके द्वारा निर्भयतासे खुजाये जाने वाले मेरे दिन किस समय वीतेंगे। भावार्थ—जब मैं तत्त्वज्ञान और वैराग्य सम्पन्न होकर नगरके बाहर या वनमे कायोत्सर्ग धारण करूँ और निर्विकल्पक समाधिमे लीन होऊँ उस समय अपनी इच्छानुसार विचरनेवाले ग्रामीण वृषभादि जानवर तथा वन्य मृगादि पशु मुझे स्थाणु (ठूँठ) समझ कर मेरी देहसे अपनी खाज खुजावें, योगाभ्यासकी परमसीमाको प्राप्त ऐसे दिन मेरे कब आवेंगे? इस प्रकारसे श्रावकको निद्रा-विच्छेदके समय विचार करना चाहिए ॥४३॥ जो गृहस्थ होते हुए भी उन शास्त्रप्रसिद्ध और असाधारण उपसर्गोके आनेपर भी जिनधर्मसे विचलित नही हुए वे सेठ जिनदत्त आदि महापुरुष प्रशसनीय है। भावार्थ—प्रोषधोपवासव्रतके धारी आगमप्रसिद्ध वे जिनदत्त सेठ तथा वारिषेणकुमार आदि श्रावक धन्य है, जो शस्त्रप्रहार आदि घोर उपसर्ग आनेपर भी जिनधर्म तथा जिनसेवित सामायिकसे विचलित नही हुए ॥४४॥ इस प्रकार दिन रात सम्बन्धी आचार को आचरण करनेवाले व्रतधारी पुरुषके गलेमे स्वर्गरूपी लक्ष्मी मोक्षरूपी लक्ष्मीसे ईर्ष्यासे ही वर-मालाको डालती है। भावार्थ—इस प्रकारकी दिनचर्याके अनुसार चलनेवाले व्रतप्रतिमाके धारी श्रावकके गलेमे मोक्षश्रीके साथ ईर्ष्यासे ही मानो स्वर्गश्री वरमाला डालती है। अर्थात् उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥४५॥

इति षष्ठोऽध्यायः ।

❁

सप्तम अध्याय

सुदृङ्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधी. । भजंस्त्रिसन्ध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत् ॥१
कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्म सन्ध्यात्रयेऽपि यावन्नियमं समाधे ।
यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति, सामायिकी कस्य न स प्रशस्य ॥२
आरोपितः सामायिकव्रतप्रासादमूर्धनि । कलशस्तेन येनैषा धूरारोहि महात्मना ॥३
स प्रोषधोपवासी स्याद्यः सिद्ध प्रतिमात्रये । साम्यान्न च्यवते यावत् प्रोषधानशनव्रतम् ॥४
त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारव्यापार प्रोषधं श्रित । चेलोपसृष्टमुनिवद् भाति नेदीयसामपि ॥५
यत्सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावत. । यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥६
निशा नयन्त. प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे । ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥७

निरतिचार सम्यक्त्व और मूलगुण तथा उत्तरगुणोके अभ्याससे पवित्र वुद्धिवाला तथा उपसर्ग और परीषहके आनेपर भी तीनो सन्ध्याओमे सामायिकको सेवन करनेवाला व्रती श्रावक सामायिक प्रतिमाधारी कहलाता है ॥१॥ जो व्यक्ति तीनो ही सध्याओमे आगमोक्त विधिसे वन्दनाकर्मको करके सामायिककी प्रतिज्ञाका काल समाप्त होनेतक वज्रके गिरनेपर भी समाधिसे कभी भी च्युत नही होता है वह सामायिक प्रतिमावाला श्रावक किसके प्रशसनीय नही है। अर्थात् सभी के द्वारा प्रशसाका पात्र है। विशेषार्थ—मन, वचन और कायकी एकाग्रताको योग, समाधि या भाव सामायिक कहते है। श्लोकमे दिया गया अपिशब्द उस साम्यभावका द्योतक है जिसके कारण भयकर उपसर्गोके आनेपर भी सामायिकी समतासे च्युत नही होता ॥२॥ जिस महात्माके द्वारा यह भाव सामायिक प्रतिमारूप भार धारण किया है उस महात्माने सामायिकव्रत रूपी मन्दिरके शिखरपर कलश स्थापित किया ॥३॥ जो श्रावक प्रारम्भिक तीन प्रतिमाओमे परिपक्क या निरतिचार होता हुआ जवतक प्रोषधोपवास व्रत है तबतक साम्य भावसे च्युत नही होता है वह प्रोषध प्रतिमाधारी कहलाता है। भावार्थ—जैसे सामायिकप्रतिमामे सामायिक करते समय समताभावोकी आवश्यकता है उसी प्रकार प्रोषधप्रतिमामे भी १६ पहरतक समताभावकी स्थिरता आवश्यक है ॥४॥ प्रोषधप्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक छोड दिया है चारो प्रकारका आहार, शरीरसंस्कार और व्यापार जिसने ऐसा होता हुआ निकटवर्ती लोगोके भी वस्त्रके द्वारा ढके हुए मुनिके समान प्रतीत होता है। भावार्थ—चारो प्रकारके आहारका त्यागी, स्नान, उवटन, चन्दन आदिकका लेप वा सुगन्धित वस्त्र आभरणका त्यागी तथा आरम्भ और परिग्रहका त्यागी सच्चा प्रोषधी श्रावक ब्रह्मचर्यका पालक तथा श[illegible] आदिक ममत्वका त्यागी होनेसे निकटवर्ती लोगोकी दृष्टिमे और खास कर अन्य अपरिचित ल[illegible] दृष्टिमे वस्त्रसे ढके हुए मुनिके समान गिना जाता है ॥५॥ जैसे जो सामायिक पहले व्रतप्रतिमामे शीलरूप था वही सामायिकव्रत तीसरी प्रतिमाके पालक श्रावकके व्रत हो जाता है वैसे ही प्रोषधोपवास भी जानना चाहिये। यही इस सामायिक और प्रोषधोपवास व्रतके प्रतिमारूप होनेमे समाधानवचन है ॥६॥ पाप नष्ट करनेके लिए मुनियोके समान कायोत्सर्ग के द्वारा रात्रिको व्यतीत करनेवाले जो व्यक्ति किसीके द्वारा भी समाधिसे च्युत नही होते उन

हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्। जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठ. सचित्तविरत. स्मृतः ॥८
पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽति ऋतीयते। हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स भोक्ष्यते ॥९
अहो जिनोक्तिनिर्णीतिरहो अक्षजिति सताम्। नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥१०
सचित्तभोजन यत्प्राड् मलत्वेन जिहासितम्। व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्वचकितस्तच्च पञ्चम ॥११
स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्त प्राग्वृत्तनिष्ठित.। यस्त्रिधाऽह्नि भजेन्न स्त्री रात्रिभक्तव्रतस्तु सः ॥१२
अहो चित्रं धृतिमता सङ्कल्पच्छेदकौशलम्। यन्नामापि मुदे साऽपि दृष्टा येन तृणायते ॥१३
रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थमृतावपि। भजन्ति वशिन कान्ता न तु पर्वदिनादिषु ॥१४

चौथी प्रतिमा धारक श्रावकोकी हम स्तुति करते हैं। भावार्थ—जो श्रावक पापोका नाश करनेके लिये पर्वकी रात्रिको सयमीके समान कायोत्सर्ग-विधानसे व्यतीत करते हैं तथा किसी परीषह और उपसर्गमे क्षुब्ध नही होते वे धन्य हैं ॥७॥ प्रथम चार प्रतिमाओका निर्दोष पालक तथा प्रासुक नही किये गये हरे अकुर, हरे बीज, जल और नमक आदि पदार्थोको नही खानेवाला दयामूर्ति श्रावक सचित्तत्याग प्रतिमावान् माना गया है ॥८॥ जो श्रावक प्रयोजन वश पैरसे भी हरी वनस्पतियोको छूता हुआ अपनी अत्यन्त निन्दा करता है वह श्रावक मिले हुए हैं अनन्तनिगोदिया जीव जिसमे ऐसी हरी वनस्पतियोको खावेगा क्या ॥९॥ सज्जनोका जिनागमसम्बन्धी निर्णय तथा इद्रियविजय आश्चर्यजनक है क्योकि ये सज्जन दिखाई नही देते है जन्तु जिसमे ऐसी भी हरी वनस्पतिको प्राणो का क्षय होनेपर भी नही खाते हैं। भावार्थ—सचित्तत्यागी श्रावक जिनमे प्रत्यक्ष जीव दिखाई नही देते हैं तो भी केवल आगमके कथनके विश्वाससे उस सचित्त वनस्पतिका प्राण जानेपर भी भक्षण नही करते। उनका आगम विश्वास और इन्द्रिय विजय प्रशसनीय है ॥१०॥

व्रती श्रावकने जो सचित्तभोजन पहले भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचाररूपसे छोडा था उस सचित्तभोजनको प्राणियोके मरणसे भयभीत पचम प्रतिमाधारी व्रतरूपसे छोडता है। भावार्थ—जो सचित्तभोजन व्रतप्रतिमामे भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचाररूपसे छोडा जाता है उसी सचित्तभोजनको पचम प्रतिमाधारी 'व्रत' रूपसे छोडता है ॥११॥ प्राथमिक पाच प्रतिमाओके आचरणमे परिपक्व और स्त्रीसे वैराग्य होनेके कारणोमे दत्तावधान होता हुआ जो श्रावक मन वच काय और कृत कारित अनुमोदनासे दिनमे स्त्रीको सेवन नही करता है वह रात्रिभक्तत्याग प्रतिमावाला कहलाता है ॥१२॥ जिस स्त्रीका नाम भी आनन्दके होता है, ऐसी चक्षुके द्वारा देखी गई भी वह स्त्री जिन मनोव्यापारके सामर्थ्यसे तृणके समान मालूम होती है उन धैर्यशाली पुरुषोका वह मनोव्यापारके निरोधका सामर्थ्य बहुत ही आश्चर्यकारक है। भावार्थ—छठी प्रतिमाधारी विलक्षणधृतिके धारक श्रावकका मनोनिग्रह कितना उत्तम है कि जिस कामिनीके नाममात्रके श्रवणसे लोगोको आनन्दकी कल्पना होती है उसको प्रत्यक्ष देखते हुए भी तृणवत् मानता है। अर्थात् उसे वह भोगरूपसे प्रतिभासित नही होती ॥१३॥ जितेन्द्रिय व्यक्ति रात्रिमे भी ऋतुकालमे ही, ऋतुकालमे भी सन्तानके लिये ही स्त्रीको सेवन करते हैं, किन्तु अष्टमी आदि पर्वके दिनोमे तो किसी तरह भी स्त्रीको सेवन नही करते। भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष रात्रिमे ही, ऋतुकालमे ही, केवल सन्तानकी चाहसे ही स्त्रीसेवन करते हैं, विषयसुखकी अभिलाषासे नही। तथा अष्टमी चतुर्दशी और अष्टाह्निका आदि पर्व दिनोमे स्त्रीसेवनका सर्वथा परित्याग करते हैं ॥१४॥ इस ग्रन्थमे रात्रिमे स्त्रीसेवनका व्रत ग्रहण करनेसे रात्रिभक्तव्रती कहा

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ स्त्रीसेवावर्तनादिह । निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात् ॥१५
तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा । यो जात्वशेषा नो योषा भजति ब्रह्मचार्यसौ ॥१६
अनन्तशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः । यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम् ॥१७
विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति किङ्करन्त्यमरा अपि । क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नापि निर्मलब्रह्मचारिणाम् ।१८
प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पञ्चोपनयादयः । तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥१९
ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे । चत्वारोऽङ्गे क्रिया भेदादुक्ता वर्णवदाश्रमा ॥२०

गया है और दूसरे ग्रन्थोमे रात्रिमे चारो ही प्रकारके आहारोको छोडनेसे रात्रिभक्तत्यागी कहा जाता है। भावार्थ—चारित्रसार आदि शास्त्रोके अनुसार लिखे हुए इस ग्रन्थमे रात्रिमे ही स्त्रीसेवन करना दिनमे स्त्रीसेवन नही करना रात्रिभक्तव्रत माना गया है और रत्नकरण्ड आदि शास्त्रोमे भक्त शब्दका अर्थ आहार मानकर रात्रिमे चार प्रकारके आहारके त्यागको रात्रिभक्त कहा है ॥१५॥ उस अर्थात् पूर्वोक्त छह प्रतिमाओमे कहे गये और उस प्रकारके अर्थात् क्रमसे बढाये गये सयमके अभ्याससे वशमे कर लिया है मनको जिसने ऐसा जो श्रावक मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे सम्पूर्ण स्त्रियोको कभी भी सेवन नही करता है वह श्रावक ब्रह्मचर्य प्रतिमावान् कहलाता है ॥१६॥ आत्मा अनन्तशक्तिवाला है यह आगमका वचन यथार्थ ही है, प्रशसामात्र नही है, क्योकि आत्मस्वरूपमे लीन होनेवाला आत्मा ही ससारके प्राणियोको जीतनेवाले कामको जीतता है। भावार्थ—आत्मा अनन्तशक्तिवाला है यह कथन यथार्थ है, प्रशसामात्र नही। क्योकि अपने ब्रह्ममे लीन होनेवाला ब्रह्मचारी आत्मा अनन्तससारी जीवोपर विजय प्राप्त करनेवाले जगज्जेता कामको जीतता है। अर्थात् अनन्तप्राणियोके विजेता कामको जीतनेसे आत्मलीन आत्मा अनन्तशक्तिवाला सिद्ध होता है ॥१७॥ निरतिचार ब्रह्मचर्यपालकोके विद्याएँ और मन्त्र सिद्ध हो जाते है, देव भी नौकरके समान आचरण करते हैं और नामोच्चारणमात्रसे भी दुष्ट प्राणी शान्त हो जाते हैं ॥१८॥ जो प्रथम आश्रमवाले मौजीबन्धन-पूर्वक व्रतग्रहण करनेवाले उपनय आदिक पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी कहे गये हैं वे सब नैष्ठिकके बिना शेष सब शास्त्रोको पढकर स्त्रीको स्वीकार कर सकते हैं। विशेषार्थ—ब्रह्मचारीके पाच भेद हैं—उपनय, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ और नैष्ठिक। इनमेसे नैष्ठिक विवाह नही करा सकता है। शेष चार विद्याध्ययनके बाद विवाह करा सकते है। यज्ञोपवीतके धारक समस्त विद्याओका अभ्यास करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी कहलाते है। क्षुल्लकरूपसे रहकर आगमका अध्ययन पूरा करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अवलम्बन ब्रह्मचारी कहलाते है। बिना किसी भेषके अध्ययन करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते है वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जो कुमार मुनि बनकर विद्याका अभ्यास करते हैं और दुसहपरीषह, बन्धुजनकी प्रेरणा या राजाकी शासनसत्ता आदिके कारण मुनिवेषको छोडकर गृहस्थधर्म स्वीकार कर लेते हैं वे गूढ ब्रह्मचारी कहलाते है। तथा चोटी रखनेवाले और देवपूजामे तत्पर नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं ॥१९॥ सप्तम अङ्गमे वर्णकी तरह क्रियाके भेदसे ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे गये हैं। विशेषार्थ—सप्तम उपासकाध्ययन अङ्गमे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे गये है। वर्णव्यवस्थाके समान क्रियाके भेदसे इनमे भेद है। जो चोटी रखता है, शुक्लवस्त्र पहिनता है, लँगोटी लगाता है, जिसका वेश विकाररहित है तथा जो व्रतके

निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात् करोति न । कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा ॥२१
यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत् त्यक्तु भक्तमपीच्छति । प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणी' क्रिया. ॥२२
स ग्रन्थविरतो य प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः । नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् ॥२३
अथाहूय सुत योग्य गोत्रज वा तथाविधम् । ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्जातिज्येष्ठसधर्मणाम् ॥२४

चिह्नरूप सूत्रको धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। ब्रह्मचारीका नाम परिवर्तन कर दिया जाता है। और राजकुमारको छोडकर शेष सब ब्रह्मचारी भिक्षासे अपना उदर-निर्वाह करते हैं। जो पूर्वोक्त नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानमे स्थित रहता है उसे गृहस्थ कहते हैं। जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रियके भेदसे क्षत्रिय दो प्रकारके हैं। जिन्होने जिनरूपको धारण नही किया है, जो खण्डवस्त्र धारण करते हैं और जो निरतिशय तपश्चर्यामे उद्यत होते हैं उन्हे वानप्रस्थ कहते है। जो जिनरूपको धारण करते हैं उन्हे भिक्षु या साधु कहते हैं। साधुके अनेक भेद हैं—देशप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष ज्ञानके धारीको मुनि कहते है। ऋद्धिप्राप्त साधुको ऋषि कहते हैं। दोनो श्रेणियोपर आरूढ साधुको यति कहते हैं। दूसरे साधुवर्गको अनागार कहते हैं। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीणमहानस ऋद्धिके धारकको राजर्षि कहते हैं। बुद्धिऋद्धि और औषध-ऋद्धिके अधिपतिको ब्रह्मर्षि कहते हैं। विविध नयोमे पटु व्यक्तिको देवर्षि कहते है। और जो विश्वका वेत्ता है उसे परमर्षि कहते हैं ॥२०॥

प्राथमिक सात प्रतिमाओका निर्दोष पालक जो श्रावक प्राणिहिंसाका कारण होनेसे खेती आदि कर्मोको मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे न स्वय करता है तथा न दूसरोसे करवाता है वह श्रावक आरम्भत्याग प्रतिमावाला कहलाता है। भावार्थ—पहली सात प्रतिमाओ का निर्दोष पालक जो व्यक्ति मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनसे आरम्भका त्याग करता है वह आरम्भत्याग नामक अष्टमप्रतिमाका धारक कहलाता है। जो सात प्रतिमाओको निर्दोष-रीतिसे पालते हुए भी पुत्रादिकके प्रति अनुमतिके न देनेमे कदाचित् असमर्थ हो तो वह छह भगसे भी आरम्भत्याग करता हुआ आरम्भत्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥२१॥ मोक्षकी इच्छा रखने-वाला जो आरम्भविरत श्रावक पापसे डरता हुआ भोजनको भी छोडनेके लिये इच्छा करता है वह आरम्भविरत श्रावक प्राणिघातकारक क्रियाओको किस प्रकार करेगा और करावेगा अर्थात् न करेगा और न करावेगा ॥२२॥ पूर्वोक्त आठ प्रतिमाविषयक व्रतोके समूहसे स्फुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा जो श्रावक ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ मेरे नही हैं और मै इनका नही हूँ ऐसा सकल्प करके वास्तु और क्षेत्र आदिक दश प्रकारके परिग्रहोको छोड देता है वह श्रावक परिग्रहत्याग प्रतिमावान् कहलाता है। भावार्थ—प्रथम आठ प्रतिमाओका पूर्णरूपसे पालन करनेसे जिसका धैर्य सदा जागृत रहता है और जो क्षेत्र वास्तु आदि दश बाह्य परिग्रह मेरे योग्य नही हैं और मैं भी इनका स्वामी नही हूँ इस प्रकार ममकार और अहकारके त्यागके भावको धारण करके सर्व प्रकारके परिग्रहका त्याग करता है, परन्तु केवल अपने शरीरकी रक्षाके योग्य वस्त्रादिको तथा संयमके साधनोको रखता है वह परिग्रहत्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥२३॥ इसके अनन्तर शान्तचित्त नवम प्रतिमावान् वह श्रावक योग्य अर्थात् अपने भारको चलानेमे समर्थ पुत्रको अथवा योग्य पुत्रके अभावमे योग्यपुत्रके समान गोत्रज भाई या उनके पुत्र आदिको बुला करके सजातीय मुखिया और साधर्मियोंके समक्ष इस वक्ष्यमाण वचनको कहे ॥२४॥ हे प्रियपुत्र, आज तक हमने यह गृहस्थाश्रम

तातात्र यावदस्माभि पालितोऽयं गृहाश्रम । विरज्यैनं जिहासूना त्वमद्यार्हसि न· पदम् ॥२५
पुत्र· पुपूषो· स्वात्मानं सुविधेरिव केशव । य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥२६
तदिद मे धनं धर्म्यं पोष्यमात्मसात्कुरु । सैषा सकलदत्तिर्हि पर पथ्या शिवार्थिनाम् ॥२७
विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशङ्किनाम् । त्यागक्रमोऽय गृहिणां शक्त्यारम्भो हि सिद्धिकृत् ॥२८
एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं मोहाभिभवहानये । किञ्चित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्य भावयन्सुधी· ॥२९
नवनिष्ठापर सोऽनुमतिव्युपरन्तस्त्रिधा । यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भ कर्म चैहिकम् ॥३०
चैत्यालयस्थ स्वाध्याय कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात् । ऊर्ध्वमामन्त्रित सोऽद्याद् गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१
यथाप्राप्तमदन्देहसिद्ध्यर्थ खलु भोजनम् । देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२
सा मे कथं स्याद्दुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नत· । कर्हि भैक्षामृत भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रिय ॥३३

पालन किया आज विरक्त होकरके इस गृहस्थाश्रमको छोडनेकी इच्छा करनेवाले हमारे स्थानको स्वीकार करनेके लिये तुम योग्य हो ॥२५॥ सुविधिनामक राजाके केशवपुत्रकी तरह अपनी आत्माको शुद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले पिताका जो उपकार करता है वह पुत्र कहलाता है। और इससे भिन्न पुत्र पुत्रके वहानेसे शत्रु है। विशेषार्थ—श्लोकमे जो सुविधि और केशवका उल्लेख किया गया है उसका भाव यह है—ऋषभदेव अपने एक भवमे सुविधि राजा थे। सुविधिके पूर्वभवकी पत्नीका नाम श्रीमती था। यह श्रीमतीका जीव मरने पर सुविधि राजाके केशव नामक पुत्र हुआ था। पुत्रप्रेमवश सुविधि गृहस्थाश्रम छोडनेमे असमर्थ थे। इससे श्रावक रहते हुए भी उत्कृष्ट तप तपते थे और केशव पुत्र उन्हे सर्व प्रकारसे सहाय था ॥२६॥ इसलिये हे प्रिय पुत्र, मेरे इस धनको, पात्रदानादिकरूप धार्मिक क्रियाओको और पालन पोषण करने योग्य स्त्री माता पिता आदिको तुम अपने अधीन करो क्योकि आगममे कही गई यह सकलदत्ति मोक्ष चाहनेवालोके अत्यन्त कल्याणकारिणी है ॥२७॥ नष्ट किये गये मोहरूपी व्याघ्रके फिरसे उठनेकी शका करनेवाले गृहस्थोका यह त्यागका क्रम है क्योकि अपनी शक्तिके अनुसार ही किया गया आरम्भ अभिलषितकी सिद्धि करनेवाला होता है ॥२८॥ तत्त्वज्ञानी श्रावक इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रहको छोडकर मोहके द्वारा होनेवाले आक्रमणको नष्ट करनेके लिये उपेक्षाको विचारता हुआ कुछ काल तक घरमे रहे ॥२९॥ प्राथमिक नौ प्रतिमाओके पालनमे तत्पर जो श्रावक मन वचन कायसे धन धान्यादिक परिग्रहको, कृष्यादिक आरम्भको और इस लोक सम्बन्धी विवाहादिक कार्योकी अनुमोदना नही करता है अर्थात् उक्त कार्योके विषयमे अपनी अनुमति नही देता है वह श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥३०॥ वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी चैत्यालयमे स्थित होता हुआ स्वाध्यायको करे और मध्याह्न वन्दनाके वाद आमन्त्रित होता हुआ अपने पुत्रादिकके घरमे अथवा जिस किसी धार्मिक व्यक्तिके घरमे भोजन करे। यह दशमप्रतिमाकी विधि है ॥३१॥ कर्मानुसार प्राप्त आहारको खाने वाला जितेन्द्रिय अनुमतित्यागी इस प्रकार इच्छा करे कि—मोक्षाभिलाषी व्यक्तियोके द्वारा शरीरकी रक्षाके लिये भोजन और धर्मकी सिद्धिके लिये शरीर निश्चयसे अपेक्षित होता है। किन्तु सावद्य कर्मसे मिले हुए अपने निमित्तसे वनाये गये आहारको खाने वाले मेरे वह धर्मकी सिद्धि कैसे होगी ? इसलिये मै भिक्षारूपी अमृतको कव खाऊँगा। भावार्थ—अनुमतित्यागी जो कुछ शुद्ध भोजन मिलता है उसे खाता है और इस प्रकार इच्छा करता है कि मुमुक्षुओके द्वारा देहकी स्थितिके लिये भोजन और रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये देह अपेक्षित होता है, किन्तु सावद्य कर्मसे मिले हुए अपने निमित्त वनाये गये आहारको खाने वाले मेरे वह धर्मकी सिद्धि कैसे होगी ?

पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात् । आपृच्छेद् गुरून् बन्धून् पुत्रादींश्च यथोचितम् ॥३४
सुदृङ्निवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ । यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥३५
इति चर्या गृहत्यागपर्यन्तां नैष्ठिकाग्रणी. । निष्ठाय साधकत्वाय पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥३६
तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभट । उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥३७
स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् । सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८

इसलिये मुझे भिक्षावृत्तिसे प्राप्त आहाररूप अमृतका भोजन करना ही श्रेयस्कर है ॥३२-३३॥ पञ्चाचारके पालनमे तत्पर और घरसे निकलनेकी इच्छा करनेवाला यह श्रावक गुरुओसे बन्धुओसे और पुत्रादिकोसे यथायोग्य पूछे । विशेषार्थ—यह श्रावक द्रव्य और भावरूपी घरसे निकलते समय यथायोग्य रीतिसे गुरु, बन्धु और पुत्र आदिकसे पूछे और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार ये पाँच आचारोके पालनमे उद्यत हो। काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यञ्जन और तदुभय इन आठ अगोसे युक्त हे ज्ञान ! यह निश्चित समझो कि तुम शुद्ध आत्माके नही हो । तुम्हारा आश्रय हम तभी तक लेते हैं जबतक हमे शुद्धात्माकी प्राप्ति नही होती है । तुम मार्ग हो, साध्य नही । इसी प्रकार पाँचो आचारोंके चिन्तवनमे विचार करना चाहिये । २—नि शकित आदि अङ्गसहित हे दर्शनाचार ! ३—पञ्चमहाव्रत, तीनगुप्ति, पाँच-समिति रूप हे त्रयोदशविध चारित्राचार ! ४—अनशनादि छह बहिरङ्ग और प्रायश्चित्तादि अन्तरङ्ग भेदरूप हे तप आचार तथा ५—समस्त इतर आचार प्रवर्तक और अपनी शक्तिको नहीं छिपाने रूप हे वीर्याचार ! तुम तभी तक हमारे हो जब तक हमने शुद्धात्माको नही पाया है । इस प्रकार चितवन करे । इसी प्रकार हे मेरे शरीरके माता, पिता, स्त्री और पुत्रके आत्मन् ! तुम अपने अन्तरङ्गमे समझो कि मैं वास्तव मे तुम्हारा नही हूँ, इस लिये मुझसे मोह मत करो । इस प्रकारकी भावनासे यह आत्मा गृहत्याग कर शुद्धात्मोपलब्धिकी ओर बढ़ता है ॥३४॥ मोक्ष-की इच्छा रखने वाला श्रावकका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके निर्दोष करनेके विषयमे यत्न विनय कहलाता है और निर्मल किये गये उन सम्यग्दर्शनादिकके विषयमे प्रयत्न आचार कहलाता है । भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपको निर्दोष करनेके लिये जो यत्न किया जाता है उसे विनय कहते हैं और निर्दोष हुए इन चारोमे अपनी शक्तिको नही छिपा कर जो यत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं ॥३५॥

नैष्ठिकोमे मुख्य अनुमतित्याग प्रतिमावान् श्रावक पूर्वोक्त कथनानुसार गृहत्यागपर्यन्त गृहस्थाचारको समाप्त करके साधकत्वकी प्राप्ति अर्थात् आत्मशुद्धिके लिये अग्रिम पदको धारण करे । भावार्थ—दशमीप्रतिमा श्रावकका उत्कृष्ट स्थान है । यहाँ पर श्रावकका नैष्ठिकपना पूरा हो जाता है । दशमप्रतिमाधारी इस नैष्ठिकत्वको पूर्ण करके साधकत्वकी प्राप्ति (आत्मशुद्धि) के लिए ग्यारहवी उद्दिष्टत्याग प्रतिमाको ग्रहण करनेके लिये प्रयत्नवान् होता है ॥३६॥ उन पूर्वोक्त व्रतरूपी अस्त्रोके प्रहारसे अत्यन्त नष्ट हो करके भी श्वास लेता हुआ है मोहरूपी महाभट जिसके ऐसा जो श्रावक उद्दिष्ट—अपने उद्देशसे बनाये गये भोजनको और आसन आदिकको भी छोड़ता है वह ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है । भावार्थ—जो पूर्वोक्त दशप्रतिमाओमे परिपक्व होकर अपने उद्देश्यसे बनाये गये भोजन और आसन आदिकको भी ग्रहण नही करता वह ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है ॥३७॥ वह उद्दिष्टविरतश्रावक दो प्रकारका है—

स्थानादिषु प्रतिलिखेद् मृदूपकरणेन स । कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥३९
स्वयं समुपविष्टोऽद्यात् पाणिपात्रेऽथ भाजने । स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा । मौनेन दर्शयित्वाङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१
निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद् भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षा यावत्स्वोदरपूरणीम् । लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३
आकांक्षन्संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु । स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥४४
ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् । गृह्णीयाद् विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुर ॥४५
यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाद्यादनुमुन्यसौ । भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमावश्यकम् ॥४६
वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत गुरूंश्चरेत् । तपो द्विधापि दशधा वैयावृत्त्यं विशेषत ॥४७
तद्वद् द्वितीय किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् । कौपीनमात्रायुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८

उनमे पहला उत्कृष्ट श्रावक केवल सफेद लगोटी और ओढनीका धारक होता है। तथा अपने दाढी मूँछ व शिरके वालोको कैंचीसे अथवा क्षुरासे दूर करता है ॥३८॥ वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक प्राणियोको वाधा नही पहुँचानेवाले कोमल वस्त्र आदिक उपकरणसे स्थान आदिकमे शुद्धि करे और प्रत्येक मासकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चारो पर्व दिनोमे खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय पदार्थके त्यागरूप चार प्रकारके उपवासको करे ही ॥३९॥ वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक पद्मासन-वद्ध वैठकर हाथरूपी पात्रमे अथवा वर्तनमे अपने आप विना किसी प्रेरणाके भोजन करे। तद्यथा हाथमे है भोजनका पात्र जिसके ऐसा वह अनेक भिक्षानियमवाला श्रावकके घरको जाकर सर्व-साधारणके लिये रुकावटरहित उसके मकानके सामने खडा होकर धर्मलाभ हो ऐसे वचनको कह-कर अथवा मौनसे शरीरमात्रको दिखाकर भिक्षाको माँगे। भिक्षाके मिलने या नही मिलनेपर हर्ष-विषाद रहित होता हुआ शीघ्र निकलकर दूसरे श्रावकके घरको जावे तथा भिक्षा लेनेको उद्यत वह श्रावक किसी श्रावकके द्वारा भोजन करनेके लिए प्रेरित होता हुआ थोडा जो भोजन किसी श्रावकके घरसे अपने वर्तनमे पहले प्राप्त हुआ था उसे खावे। किसी श्रावकके द्वारा भोजन की प्रेरणा नही की जानेपर अपने उदर पूरण योग्य भिक्षा नही मिलनेतक भिक्षाको माँगे तथा जिस श्रावकके घर प्रासुक जलको पावे वहाँपर उस मिली हुई भिक्षाको भली प्रकार शोधकर खावे। यह अनेक भिक्षा नियमवाले प्रथमोत्कृष्ट की विधि है ॥४०-४३॥ वह सयमकी इच्छा करता हुआ अपने भोजनके पात्रको धोने आदिके कार्यमे अपने तप और विद्या आदिका गर्व नही करता हुआ स्वय ही यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे, नही तो वडा भारी असयम होता है ॥४४॥ आहारके वाद गुरुके पास जाकर विधिपूर्वक चार प्रकारके आहारके त्यागको ग्रहण करे। तथा अपने गुरुके समक्ष आहारके लिए जानेके समयसे लेकर आनेतककी सम्पूर्ण क्रियाओ और तत्सम्वन्धी भूलोकी आलो-चना करे ॥४५॥ तथा जो प्रथमोत्कृष्ट श्रावक एक ही घरमे भिक्षा लेनेका नियमवाला होता है वह मुनिराजके भोजनके पश्चात् श्रावकके घर जाकर भोजन करे। भोजनकी प्राप्ति नही होनेपर अवश्य ही उपवासको करे ॥४६॥ वह एक भिक्षा नियमवाला प्रथमोत्कृष्ट सदा मुनियोके साथ उनके निवासभूत वनमे निवास करे। तथा गुरुओकी सेवा करे, अन्तरङ्ग वा वहिरङ्ग दोनो प्रकार के भी तपको आचरण करे। तथा खासकर दशप्रकार वैयावृत्यको आचरण करे ॥४७॥ द्वितीयो-त्कृष्ट श्रावक भी प्रथमके समान आचरण करे। यह अपने शिर, दाढी वा मूँछोके वालोको लोच

स्वपाणिपात्र एवात्ति मंशोध्यान्येन योजितम् । इच्छाकारं समाचारं मिथ सर्वे तु कुर्वते ॥४९
श्रावको वीरचर्याह. प्रतिमातापनादिषु । स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०
दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विध. । स्वधर्म श्रावकै कृत्य. भवोच्छित्यै यथायथम् ॥५१
प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं गुरुसाक्षिश्रित व्रतम् । प्राणान्तस्तत्क्षणे दु.ख व्रतभङ्गो भवे भवे ॥५२
शीलवान्महता मान्य जगतामेकमण्डनम् । स सिद्ध सर्वशीलेषु यः सन्तोषमधिष्ठित. ॥५३

तत्र न्यञ्चति नो विवेकतपनो नाञ्चत्यविद्यातमी,
नाप्नोति स्खलित कृपामृतसरिन्नोदेति दैन्यज्वर ।
विस्निह्यन्ति न सम्पदो न दृशमप्यासूत्रयन्त्यापदः,
सेव्यं साधुमनस्विना भजति यः सन्तोषमहोमुषम् ॥५४

स्वाध्यायमुत्तम कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत् । यस्तु मन्दायते तत्र स्वकार्ये स प्रमाद्यति ॥५५
धर्मान्नान्य. सुहृत्पापान्नान्य शत्रु शरीरिणाम् । इति नित्यं स्मरन्न स्यान्नरः सक्लेशगोचरः ॥५६
सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम् । अवश्यमित्यद शीलं सन्निदध्यात्सदा हृदि ॥५७

करता है लगोटी मात्र धारक होता है और मुनिके समान पीछी आदि सयमोपकरणको रखता है ॥४८॥ यह द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक किसी श्रावकके द्वारा दिये गये भोजनको भलीप्रकार शोधकर अपने हाथरूपी पात्रमे ही खाता है। तथा सभी प्रतिमाओके धारक श्रावक परस्पर इच्छामि ऐसे शब्दोच्चारणरूप व्यवहारविनयको करते है ॥४९॥ श्रावक वीरचर्या अर्थात् भ्रामरीवृत्तिसे भोजन करना, दिनमे प्रतिमायोग धारण करना और आतापन आदिक योग धारण करना आदि मुनियोके करने योग्य कार्योके विषयमे तथा प्रायश्चित्त शास्त्रोंके अध्ययन करनेके विषयमे अधिकारी नही है ॥५०॥ श्रावकोके द्वारा ससारपरिभ्रमणका विनाश करनेके लिए दान देना, शील पालना, उपवास करना तथा अपना धर्म अपनी-अपनी प्रतिमा सम्बन्धी आचरणके अनुसार यथायोग्य किया जाना चाहिये ॥५१॥

पञ्च परमेष्ठी, गुरु या दीक्षागुरुकी साक्षीसे ग्रहण किया हुआ व्रत या प्रतिज्ञा प्राणनाश हो जानेपर भी भङ्ग नही करना चाहिये, क्योकि प्राणनाश केवल मरणसमय ही दु खकर होता है, परन्तु व्रतभङ्ग भव-भवमे दु खदायक होता है ॥५२॥ सदाचारी ससारका अद्वितीय भूषण तथा इन्द्रादिकोके भी माननीय जो मुनि या श्रावक व्यक्ति विषयाभिलाषाके त्याग या सतोष वृत्तिको प्राप्त हुआ वह सर्व शीलोमे सिद्ध हो चुका ॥५३॥ जो मनुष्य साधुओ और स्वाभिमानियोके सेवनीय पापनाशक सन्तोषको सेवन करता है उस व्यक्तिमे विवेकरूपी सूर्य अस्त नही होता, अज्ञानान्धकाररूपी रात्रि नही फैलती, दयारूपी अमृतकी नदी रुकावटको प्राप्त नही होती, सपत्तियाँ तथा आपत्तियाँ अपनी दृष्टिको भी नही डालती है ॥५४॥ श्रावक आत्महितकारक शास्त्रोके उत्तम-रीतिसे स्वाध्यायको करे और बारह भावनाओ या षोडशकारणभावनाओको भावे, परन्तु जो श्रावक इन कार्योमे आलस्य करता है वह आत्महितकारक कार्योमे प्रमाद करता है ॥५५॥ प्राणियो का धर्मसे भिन्न शत्रु नहीं है इस प्रकार सदा स्मरण करनेवाला मनुष्य दु खोका पात्र नही होता है ॥५६॥ मै शास्त्रोक्त विधिपूर्वक मरण समय होनेवाली सल्लेखनाको अवश्य करूँगा इस प्रकार इस सल्लेखनारूप व्रतको अपने हृदयमे हमेशा तथा अवश्य ही धारण करे। विशेषार्थ—सत्ती = सम्यक्प्रकारेण, लेखना = कायकषायकृशीकरण सल्लेखना। काय और कषायके भलीप्रकार कृश

सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः । समाधिमरण येन भवविध्वंसि साधितम् ॥५८
यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणा वृत्तं तदपि सेव्यताम् । सम्यड् निरूप्य पदवी शक्ति च स्वामुपासकै ॥५९
इत्यापवादिकी चित्रा स्वभ्यस्यन् विरति सुधी. । कालादिलब्धौ क्रमता नवधौत्सर्गिकी प्रति ॥६०
इत्येकादशधाऽऽम्नातो नैष्ठिक श्रावकोऽधुना । सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य साधकत्व प्रवक्ष्यते ॥६१

करनेको सल्लेखना कहते हैं। मरणसमयमे अर्थात् तद्भवमरणके अन्तमे होनेवाली सल्लखनाको मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं। मरण दो प्रकारका है—प्रतिक्षणमरण और तद्भवमरण। सल्लेखनामे जो मरण होता है, वह तद्भवमरण माना जाता है। गुणव्रतो और शिक्षाव्रतोकी तरह सल्लेखनाको भी शील माना है ॥५७॥ जिसने ससारपरिभ्रमणका नाशक समाधिमरण साध लिया उसने अपने धर्मके सर्वस्व रत्नत्रयको परभवके लिए सहचर बनाया ॥५८॥ पहले अनगारधर्मामृत मे मुनियोका जो चारित्र कहा गया है उसे भी अपनी शक्तिको और पदको भलीभाँति समझकर श्रावकोको करना चाहिए ॥५९॥ इस प्रकार अनेक भेदवाली अपवादमार्गस्वरूप श्रावकीय सयमको अभ्यास करनेवाला बुद्धिमान् गृहस्थ योग्य समय आदि साधन सामग्रीके प्राप्त होनेपर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना रूप नव प्रकारसे महाव्रतरूप सयमके प्रति उत्साहित होता है ॥६०॥ नैष्ठिक श्रावक पूर्वोक्त व्याख्यानके अनुसार ग्यारह प्रतिमावाला आचार्य परम्परासे बतलाया गया है। अब जैनागमके अनुसार एकादशम प्रतिमाधारीके साधकपना कहा जाता है। भावार्थ—इस प्रकार आगम परम्पराके अनुसार ग्यारह प्रतिमारूप नैष्ठिक श्रावकका वर्णन करके अब अष्टमाध्यायमे ग्यारहवी प्रतिमाधारीके साधकत्वपनेका वर्णन किया जायगा ॥६१॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।



आठवां अध्याय

देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम् । जीवितान्ते सुसम्प्रीत साधयत्येष साधक ॥१
सामग्रीविधुरस्यैव श्रावकस्यायमिष्यते । विधि सत्या तु सामग्र्यां श्रेयसी जिनरूपता ॥२
किञ्चित्कारणमासाद्य विरक्ता कामभोगतः । त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीरा श्रयन्ति जिनरूपताम् ॥३
अनादिमिथ्यादृगपि श्रित्वार्हद्रूपता पुमान् । साम्यं प्रपन्न स्वं ध्यायन् मुच्यतेऽन्तर्मुहूर्तत ॥४
न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधै । न च केनापि रक्ष्यमिति शोच्य विनश्वरम् ॥५
काय स्वस्थोऽनुवर्त्य स्यात् प्रतिकार्यश्च रोगित । उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्य सद्भि खलो यथा ॥६
नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामद । देहो नष्ट पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभ ॥७
न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितु । कषायावेशत प्राणान् विषाद्यैर्हिंसत स हि ॥८

जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवनके अन्तमे अर्थात् मृत्युसमय शरीर, भोजन और मन वचन कायके व्यापारके त्यागसे पवित्रध्यानके द्वारा आत्माकी शुद्धिको साधन करता है वह साधक कहा जाता है ॥१॥ यह वक्ष्यमाण सल्लेखनाकी विधि जिनलिङ्गग्रहण करने के अयोग्य श्रावकके ही करने योग्य है किन्तु जिनलिङ्गग्रहण करने योग्य सामग्रीके विद्यमान रहने पर मुनिदीक्षा लेना ही श्रेष्ठ है। भावार्थ—दोनो अण्डकोष और लिंग इन तीनोसे सम्बन्ध रखने वाले दोषोसे जो श्रावक युक्त है वह जिनदीक्षा लेनेका अधिकारी नही। ऐसे श्रावकके लिये ही वक्ष्यमाण सल्लेखनाका वर्णन है किन्तु जिसमे जिनरूपग्रहणकी योग्यता है उसे तो जिनरूप ही धारण करना चाहिये ॥२॥ परीषह और उपसर्गके सहनमे समर्थ श्रावक किसी हेतुको प्राप्त कर काम और भोगसे विरक्त होते हुए समस्त परिग्रहको छोड कर जिनलिंगको धारण करते हैं ॥३॥ अनादिमिथ्यादृष्टि भी पुरुष जिनलिंगको धारण करके अपने आत्माको ध्यान करता हुआ अन्तर्मुहूर्तमे मुक्त हो जाता है ॥४॥ स्थायी शरीर रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी सिद्धिका उपाय है इस कारण तत्त्वज्ञ पुरुषोके द्वारा नष्ट नही किया जाना चाहिये तथा मरणासन्न शरीर देवेन्द्र आदि किसीके द्वारा भी नही बचाया जा सकता इस प्रकार शोक भी नही करना चाहिये। भावार्थ—शरीर रत्नत्रयकी सिद्धिका उपाय है, इसलिये धर्मका साधन है। अतएव यदि वह स्थिर हो तो विवेकी जनोको प्रयत्न कर उसका नाश नही करना चाहिये। और यदि वह पातोन्मुख हो तो उसे योगीन्द्र, देवेन्द्र तथा दानवेन्द्र आदि कोई भी नही बचा सकता, इसलिये शोक नही करना चाहिये ॥५॥ विवेकियोके द्वारा स्वस्थ शरीर पोषण करने योग्य है, रोगी शरीर उपचारके योग्य है और उपकारको विफल करनेवाला शरीर दुष्ट पुरुषके समान त्यागने योग्य है। भावार्थ—नीरोग शरीरकी रक्षाके लिये नियमित रूपसे योग्य आहार और विहार करना चाहिये। यदि रोगकी उत्पत्ति हो जावे तो उसकी निवृत्तिके लिये औषधोपचार भी करला चाहिये। परन्तु योग्य आहार विहार और औषधोपचार करते हुए भी यदि शरीर पर उसका असर नही हो, तथा व्याधि ही बढे, ऐसी हालतमे शरीर का दुष्टके समान त्याग कर देना उचित है ॥६॥ निश्चयसे नष्ट होनेवाले शरीरके लिये इच्छित अर्थका दाता धर्म नष्ट करने योग्य नही, क्योकि नष्ट हुआ शरीर फिर मिल सकता है किन्तु धर्म अतिदुर्लभ है ॥७॥ गृहीत व्रतके विनाशका कारण उपस्थित होने पर शरीरकी उपेक्षा

कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायु क्षयोन्मुखम् । कृत्वा यथाविधि प्रायं तास्ताः सफलयेत् क्रिया ॥९
देहादिवैकृतै सम्यङ् निमित्तैस्तु सुनिश्चिते । मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥१०
भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत्सकृत् । विरमत्यायुषि प्रायमविचार समाचरेत् ॥११
क्रमेण पक्त्वा फलवत् स्वयमेव पतिष्यति । देहे प्रीत्या महासत्त्व कुर्यात्सल्लेखनाविधिम् ॥१२
जन्ममृत्युजरातङ्का कायस्यैव न जातु मे । न च कोऽपि भवत्येष ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्मम ॥१३
पिण्डे जात्यापि नाम्नापि समो युक्त्यापि योजित । पिण्डोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो यदा तं हापयेत्तदा॥१४
उपवासादिभि कायं कषायं च श्रुतामृतै । सलिख्य गणमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी ॥१५

करनेवालेके आत्मघातका प्रसग नही होता क्योकि वह आत्मघात कषायके आवेशसे विष आदिकसे प्राणोको नष्ट करनेवाले व्यक्तिके ही होता है ॥८॥ आयुपूर्ण होनेके कालसे अथवा उपसर्गसे आयुको क्षयके सन्मुख निश्चय करके विधिपूर्वक सन्यासयुक्त उपवासको करके नैष्ठिक अवस्थामे गृहीत दार्शनिक आदि प्रतिमासम्बन्धी नित्य और नैमित्तिक सम्पूर्ण क्रियाओको सफल करे ॥९॥ देहादिकके विकारो द्वारा और ज्योतिर्विद्या और शकुन आदि निमित्तो द्वारा मृत्युके निश्चित होने पर निश्चय आराधनामे आसक्त है मन जिसका ऐसे समाधिमरण करनेवालेके वह सिद्ध पद दूर नही है ॥ भावार्थ—शीघ्रमरणसूचक देहविकार या वाणीविकार आदिसे और ज्योतिषशास्त्र, कर्णपिशाचिनीविद्या तथा शकुन आदि निमित्तो द्वारा मरणका निश्चय होनेपर जो अपनी सल्लेखनाकी आराधनामे मग्न हो जाते हैं उनके निर्वाण दूर नही है ॥१०॥ मोक्षाभिलाषी अगाढ अपमृत्युके कारण कदलीघातके समान एकदम आयुके नाशकी स्थिति उपस्थित होने पर समाधिके योग्य स्थान आदिके हेतु दौड धूप किये विना भक्तप्रत्याख्यान सार्वकालिक सन्यासको धारण करे। भावार्थ—जैसे शस्त्र द्वारा छिन्न केलेका वृक्ष एक दम गिर जाता है उसी प्रकार अगाढ अपमृत्युके कारण एकदम आयुनाशकी सम्भावना उपस्थित होने पर समाधिके योग्य स्थान आदि सामग्रीके हेतु दौडधूप किये विना भक्तप्रत्याख्यान सन्यास धारण करे और शुद्ध स्वात्मध्यानमे लीन होवे ॥११॥

क्रमसे पककर फलके समान अपने आप ही शरीरके पतन होनेपर अनिवार्य धैर्यधारक श्रावक प्रीतिसे सल्लेखनाकी विधिको करे। भावार्थ—जैसे पकनेपर फल स्वय डालीसे जमीनपर गिर जाता है उसी प्रकार आयुके निषेकोका क्षय होनेपर शरीर भी मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इसलिए ऐसी मृत्युके समय प्रीति-पूर्वक सल्लेखना अवश्य धारण करना चाहिये ॥१२॥ जन्म, मरण, बुढापा और रोग ये सब शरीरके ही होते हैं, आत्माके कदाचित् नही। और यह शरीर मेरा कोई भी नही है इस प्रकार शरीरमे ममत्वरहित होवे ॥१३॥ आश्चर्य है कि पुद्गलत्वजातिसे तथा पिण्ड नामसे समान और शरीरमे शास्त्रोक्त विधिसे प्रयुक्त किया गया आहार जिस समय अपने प्रयोजन का घातक होता है उस समय उस आहारको त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—पिण्डशब्दका अर्थ आहार और शरीर दोनो है और दोनो ही पुद्गलकी पर्यायि है। शरीरमे युक्तिपूर्वक प्रयुक्त आहारादिक शरीरका वल और ओज वढाता है। वलवान् और ओजस्वी शरीर धर्मसिद्धिके लिएउपयोगी पडता है। परन्तु जाति तथा नामसे समान और युक्तिसे प्रयुक्त भी आहार पिण्ड जब शरीररूपी पिण्डमे उपयोगी नही पडे तो उस समय भोजनका त्याग कर देना चाहिये ॥१४॥ साधक उपवास आदिक वाह्य तपोके द्वारा शरीरको और शास्त्रोपदेशरूपी अमृतोसे कषायको कृश करके चतुर्विध सघके समक्ष समाधिमरणके लिये उद्यमी होवे। भावार्थ—साधक

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे मुधा । स त्वाराद्धस्तत्क्षणेऽह क्षिपत्यपि चिरार्जितम् ॥१६
नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत् । युधीव स्खलतो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशः कटुः ॥१७
सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते स्यादेवाराधको यदि । प्रतिरोधि सुदुर्वार किञ्चिन्नोदेति दुष्कृतम् ॥१८
कार्यो मुक्तौ दवीयस्यामपि यत्न सदा व्रते । वर स्व समयाकारो व्रतान्न नरकेऽव्रतात् ॥१९

श्रावक उपवासादि वाह्य तपोके द्वारा कायको और शास्त्रोपदेशरूपी अमृतके द्वारा कषायको घटाकर चतुर्विधसघके सामने समाधिमरण ग्रहण करनेके लिये तैयार होवे ॥१५॥ चिरकाल तक आराधित भी धर्म मरण समयमे विराधित होता हुआ विफल हो जाता है। किन्तु मृत्युसमय आराधित वह धर्म चिरकालसे सचित पापोको नष्ट करता है। भावार्थ—दीर्घकाल तक आराधित भी धर्म यदि मरण समय पर विगाड दिया जावे तो वह सव आराधना निष्फल हो जाती है और यदि मरणसमय सध जावे तो वह प्राणीके असख्यात कोटि भवोमे उपार्जित पापोका विनाश करती है ॥१६॥ चिरकाल तक अभ्यास करने वाले परन्तु युद्धमे लक्ष्यसे चूकने वाले राजाके शस्त्रके समान चिरकाल तक अभ्यास करने वाले, तथापि मरणके समय भ्रष्ट होनेवाले मुनिका धर्म अकीर्तिसे कटुक परिणाम वाला तथा इष्ट प्रयोजनका घातक होता है। भावार्थ—जैसे चिरकाल तक शस्त्रास्त्रोका अभ्यास करनेवाला राजा युद्धके समय सावधानी नही रखनेके कारण चूक जाय तो उसका मरण, अयश, पराजय और राज्यनाश हो जाता है और वह इष्टसिद्धि नही कर पाता। उसी प्रकार यति भी चिरकाल तक धर्मका अभ्यास करके यदि मरण समय धर्मकी आराधनामे सावधान नही रहकर उसकी विराधना करता है तो उसका भी अपयश और आत्म-कल्याणका घात होता है और उसकी जीवनभरकी आराधना व्यर्थ हो जाती है ॥१७॥ यदि समाधिके समयपर समाधिमरणमे वाधक हजारो प्रयत्नोसे भी नही रुकनेवाला नामनिर्देशरहित कोई पूर्वकृत दुष्कर्म उदयको प्राप्त नही होता तो अपने जीवनमे भली प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करनेवाला व्यक्ति मरण समयमे सल्लेखना साधक होता ही है। विशेषार्थ—चिरकाल रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले साधुजन भी पूर्वोपार्जित तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे मरणसमयमे सम्यग्दर्शना-दिकसे च्युत हो जाते है। तथा जिनके विना अभ्यासके सल्लेखनाकी सिद्धि होती है वह उनके लिये केवल अन्धनिधिलाभ है। अर्थात् जैसे अन्धेको कभी योगायोगसे विना प्रयत्नके भी निधिका लाभ हो जाता है उसी प्रकार यह उसकी समाधिमरणकी प्राप्ति समझना चाहिये। तीव्रकर्मके उदयमे समाधिसे च्युत होता देखकर तथा योगायोगसे विना प्रयत्नके भी समाधिमरण प्राप्त होता देखकर आश्चर्यमे नही पडना चाहिये और केवल दैवाधीन धर्माराधनाकी सिद्धिका आग्रह भी नही करना चाहिये। किन्तु जिनवचनको मानकर मृत्युसमयमे समाधिके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। क्योकि दैवयोगसे प्राप्त अचलसिद्ध समाधि आदर्श नही मानी जा सकती। जिसने पहले आराधनाका अभ्यास नही किया किन्तु अन्त समयमे जिसको समाधिमरणकी प्राप्ति हो उसको वृक्षके सूखे ठूठसे निधिका लाभ समझाना चाहिये। दूसरोके लिए यह उदाहरण नही हो सकता। इससे यह सिद्ध है कि यदि अन्तसमयमे किसी तीव्रकर्मका उदय नही आवे तो आराधना-का अभ्यास करनेवालोको अन्तसमयमे आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ॥१८॥ मुक्तिके अतिदूर रहनेपर भी सर्वदा व्रताचरणके विषयमे प्रयत्न करना ही चाहिये। क्योकि व्रताचरणके निमित्तसे स्वर्गमे अपना लम्बा समय व्यतीत करना अच्छा है। किन्तु व्रताचरणके अभावसे

धर्माय व्याधिदुर्भिक्षजरादौ निष्प्रतिक्रिये । त्यक्तुं वपु स्वपाकेन तच्च्युतौ वाशनं त्यजेत् ॥२०
अन्नै. पुष्टो मलैर्दुष्टो देहो नान्ते समाधये । तत्कृश्यो विधिना साधोः शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥२१
सल्लेखनाऽसंलिखतः कषायान्निष्फला तनो । कायोऽजडैर्दण्डयितु कषायानेव दण्डचते ॥२२
अन्धोमदान्धै प्रायेण कषाया. सन्ति दुर्जया· ।
ये तु स्वाङ्गान्तरज्ञानात् तान् जयन्ति जयन्ति ते ॥२३
गहनं न तनोर्हान पुंस. किन्त्वत्र सयम । योगानुवृत्तेर्व्यावर्त्य तदाऽऽत्माऽऽत्मनि युज्यताम् ॥२४

नरकमे लम्बा समय व्यतीत करना अच्छा नही है। भावार्थ—दूरभव्यपनेकी परिस्थितिमे मुक्ति कदाचित् दूर भी हो, तो भी उसके पहले ससारमे रहनेका जो लम्बा काल है वह हिंसादिकसे उपार्जित पापोके निमित्तसे नरकमे रहकर व्यतीत करनेकी अपेक्षा अहिसादिक व्रतोके आचरणसे उपार्जित पुण्यके निमित्तसे स्वर्गमे व्यतीत करना वहुत अच्छा है। इसलिए मुक्तिके दूर रहनेपर भी जिन-भक्तोको व्रतोके आचरणमे सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥१९॥ रोग, अकाल और वुढापा आदिकके दुर्निवार होनेपर आयुके नाशके कारण शरीरके नाशका समय आनेपर, अथवा घोर उपसर्गके उपस्थित होनेपर धर्मके लिए या भवान्तरमे धर्मको सहचर वनानेके लिये शरीरको छोडनेके हेतु भोजनको त्याग देवे। भावार्थ—धर्मभ्रंशकी सम्भावनाके लिये कारणभूत और जिनका प्रतिकार नही किया जा सकता ऐसे रोग, दुर्भिक्ष और वुढापा आदिकके उपस्थित होनेपर धर्मकी रक्षाके हेतु शरीर छोडनेके लिये समाधिमरणार्थी श्रावक या मुनि भक्तप्रत्याख्यान (अनशन) करे। तथा अपने परिपाकसे आयुका स्वय क्षय होनेके कारण शरीर छूटनेके समयपर और घोर उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी अनशन करे। इस प्रकार शरीरत्यजन, शरीरच्यवन और शरीरच्यावनके भेदसे भक्तप्रत्याख्यान तीन प्रकारका होता है ॥२०॥ तरह तरहके अन्नोसे पुष्ट और विकृत वात पित्त कफ आदिसे दूपित शरीर मरणसमयमे समाधिके लिये नही होता, इसलिये समाधिकी इच्छासे सल्लेखनापूर्वक यह शरीर क्षपकके कृश करने योग्य तथा योग्य विरेचन वा वस्तिकर्म आदिकसे जठरगतमलकी शुद्धि करने योग्य है। भावार्थ—नाना प्रकारके अन्नोसे पुष्ट तथा वात पित्त और कफमेसे किसी एक या अनेक मलोसे दूषित शरीर समाधिमरणके लिये उपयोगी नही होता, इसलिये समाधिके इच्छुकोको विधिपूर्वक शरीरको कृश करना चाहिये। और व्याधिके कारणभूत जठराशयके मलको योग्य विरेचन वा वस्तिकर्म आदिक द्वारा शुद्ध करना चाहिये ॥२१॥

कषायोको नही घटानेवालेके शरीरका कृश करना निष्फल है। क्योकि विवेकियोके द्वारा कषायोको ही निग्रह करनेके लिए शरीर निग्रह किया जाता है। भावार्थ—काम क्रोध आदिक कषायोको कृश नही करनेवालोका उपवासादिक द्वारा अपने शरीरका कृश करना व्यर्थ है। क्योकि ज्ञानीजन कषाय कम करनेके प्रयोजनसे ही शरीरको उपवासादिकसे कृश करते है ॥२२॥ वहुधा आहारसे उत्पन्न मानसिक हर्षसे स्व-पर भेदविज्ञानरहित व्यक्तियोके द्वारा कषाय दुर्जय होते है और जो व्यक्ति आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे उन कषायोको जीतते हैं वे विजयी होते है ॥२३॥ मनुष्यको शरीरका त्याग करना कठिन नही है। परन्तु शरीरपरित्यागके समयमे सयमका होना अतिकठिन है। इसलिये क्षपकके द्वारा अपना आत्मा मन वचन कायके व्यापारसे पृथक् करके अपने आत्मामे लीन किया जाना चाहिये ॥२४॥ श्रावक अथवा मुनि

श्रावक श्रमणो वान्ते कृत्वा योग्यां स्थिराशय. । शुद्धस्वान्तरत प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदयः ॥२५
समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न । दुर्दैवेनापि सुकर प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥२६
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ता. प्राप्तास्तद्भवमृत्यव. । समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षण ॥२७
परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे । यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ॥२८
प्रायार्थी जिनजन्मादिस्थानं परमपावनम् । आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकम् ॥२९
प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेऽवान्तरे यदा ।-अस्त्येवाराधको यस्माद् भावना भवनाशिनी ॥३०
रागाद् द्वेषान्ममत्वाद्वा यो विराद्धो विराधक । यश्च तं क्षमयेत्तस्मै क्षाम्येच्च त्रिविधेन स ॥३१
तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च । क्षाम्यन्ति क्षमयता ये ते दीर्घाजवञ्जवा ॥३२
योग्याया वसतौ काले स्वाग सर्वं स सूरये । निवेद्य शोधितस्तेन नि शल्यो विहरेत्पथि ॥३३
विशुद्धिसुधया सिक्त स. यथोक्तं समाधये । प्रागुदग्वा शिर कृत्वा स्वस्थ. संस्तरमाश्रयेत् ॥३४
त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिङ्गिने । महाव्रतार्थिने दद्याल्लिङ्गमौत्सर्गिक तदा ॥३५

मरणसमयमे पूर्ववर्णित परिकर्मको करके निश्चलचित्त तथा निर्मल निज चिद्रूपलीन होता हुआ प्राणोको छोडकर विविध अभ्युदयोको भोगकर मोक्षका अधिकारी होता है ॥२५॥ निर्यापकाचार्यके तथा सघके समाधिके साधनमे तत्पर रहनेपर आत्मचिन्तवनकारी समाधिकर्त्ता के पूर्वकृत अशुभकर्मके द्वारा भी विघ्न करना सरल नही होता ॥२६॥ इस प्राणीने इस भवके पहले अनन्त तद्भवमरण प्राप्त किये, किन्तु समाधिसे पवित्र इतर सर्वक्षणोसे उत्कृष्ट अन्तिम क्षण प्राप्त नही किया । अर्थात् पहले कभी भी समाधिसहित मरण नही पाया ॥२७॥ सर्वज्ञ मरणके उस अन्तिम समयमे उत्कृष्ट माहात्म्यको बताते हैं जिसमे रत्नत्रयकी आराधनामे सावधान भव्य ससाररूपी पिंजरेको तोडते हैं ॥२८॥ सन्यासमरणका इच्छुक क्षपक परमपवित्र जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणक आदि स्थानको आश्रय करे, किन्तु उस स्थानका लाभ नही होनेपर योग्य जिनमन्दिर आदिको आश्रय करे ॥२९॥ समाधिमरणके हेतु तीर्थस्थानके लिये अथवा निर्यापकाचार्यके निकट जानेके लिये जाता हुआ व्यक्ति यदि बीचमे मर जाता है तो आराधक है ही । क्योकि हार्दिक इच्छा ससारकी नाशक होती है ॥३०॥ समाधिके हेतु तीर्थस्थानको प्रस्थित वह क्षपक स्नेहसे, क्रोधसे, अथवा मोहसे जो अपने द्वारा दुखित किया गया है उससे मन वचन काय द्वारा क्षमा माँगे और जो अपने प्रति वैमनस्य करनेवाला है उसको मन वचन कायसे क्षमा करे ॥३१॥ जो क्षपक क्षमा करते हैं और क्षमा माँगते हैं उन्होने ससाररूपी समुद्र पार किया । किन्तु जो क्षमा माँगनेवालोको क्षमाप्रदान नही करते हैं वे दीर्घससारी हैं ॥३२॥ वह क्षपक आलोचना की विधिके योग्य स्थानमे और समयमे समस्त अपने अपराधोको निर्यापकाचार्यके लिये निवेदन करके उस निर्यापकाचार्यके द्वारा प्रायश्चित्तविधिके अनुसार शुद्ध और तीनो शल्यो रहित होता हुआ समाधिके मार्गमे प्रवृत्ति करे ॥३३॥ वह क्षपक शारीरिक पवित्रता अथवा प्रायश्चित्तविधान सम्बन्धी विशुद्धिरूपी अमृतसे अभिषिक्त होता हुआ आगमानुकूल समाधिके लिये पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर शिरको करके अनाकुल होता हुआ समाधिके हेतु चटाई या पाटा ,आदि आसनपर आरूढ होवे ॥३४॥

मुष्कद्वय और लिङ्ग सम्बन्धी दोषोंसे सहित आपवादिकलिङ्ग अर्थात् सग्रन्थ चिह्नके धारक भी महाव्रतोकी याचना करनेवाले क्षपकके लिये निर्यापकाचार्य उस समय मुनिवेष अर्थात् मुनिदीक्षा देवे । भावार्थ—मुष्कद्वय (अण्डकोश) और लिङ्गसम्बन्धी दोषसहितके लिये यद्यपि

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम् । अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकाऽर्हति ॥३६
ह्रीमान्महर्धिको यो वा मिथ्यात्वप्रायबान्धव । सोऽविविक्ते पदे नाग्न्य शस्तलिङ्गोऽपि नार्हति ॥३७
यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्त जिनैः स्त्रिया । पुंवत्तदिष्यते मृत्यु-काले स्वल्पीकृतोपधेः ॥३८
देह एव भवो जन्तोर्यल्लिङ्गं च तदाश्रितम् । जातिवत्तद्ग्रहं तत्र त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥३९
परद्रव्यग्रहेणैव यद् बद्धोऽनादिचेतनः । तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव मोक्ष्यतेऽतस्तमावहेत् ॥४०
अलब्धपूर्वं किं तेन न लब्धं येन जीवितम् । त्यक्तं समाधिना शुद्धिं विवेकं चाप्य पञ्चधा ॥४१
शय्योपध्यालोचान्नवैयावृत्येषु पञ्चधा । शुद्धि स्यात् दृष्टिधीवृत्त-विनयावश्यकेषु वा ॥४२
विवेकोऽक्षकषायाङ्ग-भक्तोपधिषु पञ्चधा । स्याच्छय्योपधिकायान्न-वैयावृत्यकरेषु वा ॥४३

मुनिदीक्षा निषिद्ध है तथापि सस्तरारोहणके समय समाधिमरणार्थी श्रावकके इन दोषोसे सहित होनेपर भी यदि वह मुनिदीक्षा की याचना करे तो उस समय निर्यापकाचार्य उसे मुनिदीक्षा देवे ॥३५॥ आश्चर्य है कि ग्यारहवी प्रतिमाधारक श्रावक लगोटीमे ममता या परिग्रह सहित होनेसे उपचरित भी महाव्रतके योग्य नही है। किन्तु आर्यिका साडीमे भी आसक्त न होनेसे उपचरित महाव्रतकी योग्य है ॥३६॥ मुष्क और लिङ्ग दोषरहित भी जो लज्जावान् अधिकाश मिथ्यादृष्टि बन्धुवाला है वह बहुजनव्याप्त स्थानमे दिगम्बर दीक्षा धारणको योग्य नही हे ॥३७॥ जिनेन्द्र भगवान्ने जो औत्सर्गिक अथवा दूसरा आपवादिक लिङ्ग कहा है वह मुनिलिङ्गका ग्रहण आदि मृत्यु समयमे अत्यल्प परिग्रह धारण करनेवाली आर्यिकाके लिये पुरुषकी तरह इष्ट है ॥३८॥ प्राणीका शरीर ही ससार है इसलिये देहाश्रित जो नग्नत्वादिक लिङ्ग या पद है उसके विषयमे भी ब्राह्मणत्वादि जातिकी तरह नग्नत्वादि लिंगकी आसक्तिको भी छोडकर क्षपक शुद्ध स्वकीय चिद्रूप चिन्तवनमे प्रवेश करे ॥३९॥ यत यह जीव शरीरादिक परद्रव्यकी ममतासे ही अनादि-कालसे कर्माधीन हुआ है, अत आत्मलीनतासे ही मुक्त हो सकता है। इसलिये मुमुक्षु उस आत्मलीनताको धारण करे ॥४०॥ जिस क्षपकने पाँच प्रकारकी शुद्धिको और विवेकको प्राप्त करके समाधिसे जीवन छोडा उसने कौन पहिले कभी नही प्राप्त हुआ महाभ्युदय नही पाया ? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त करने योग्यको पा लिया है ॥४१॥ शय्या, उपधि, आलोचना, अन्न और वैयावृत्यके विषयमे तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, विनय और आवश्यकके विषयमे शुद्धि पाँच प्रकार होती है। भावार्थ—वहिरग शुद्धिके पाँच भेद हैं—शय्याशुद्धि, उपधिशुद्धि, आलोचनाशुद्धि, अन्नशुद्धि और वैयावृत्यशुद्धि । तथा अन्तरंग शुद्धिके भी पाँच भेद है—सम्यग्दर्शन शुद्धि, सम्यग्ज्ञान शुद्धि, सम्यक्चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि । वसतिस्थान और सस्तरको शय्या कहते हैं। सयमके उपकरण पीछी कमण्डलु आदिको उपधि कहते है। गुरुके सामने अपने दोषोके निवेदनको आलोचना कहते हैं। परिचारको द्वारा किये जानेवाले पादमर्दन आदिको वैयावृत्य कहते हैं। इन शय्या आदिक विषयोमे प्राणिसयम और इन्द्रियसयम सहित जो प्रवृत्ति होती है उसे वहिरगशुद्धि कहते है तथा सम्यग्दर्शन आदिकमे अतिचाररहित प्रवृत्तिको अन्तरगशुद्धि कहते हैं ॥४२॥ इन्द्रिय, कषाय, अग, भक्त और उपधिके विषयमे तथा शय्या, उपधि, काय, अन्न और परिचारकके विषयमे विवेक पाँच प्रकार है। भावार्थ—अन्तरगविवेकके पाँच भेद हैं। इन्द्रियविवेक, कषायविवेक, अगविवेक, भक्तविवेक और उपधिविवेक तथा वहिरग-विवेकके भी पाँच भेद है—शय्याविवेक, उपधिविवेक, कायविवेक, अन्नविवेक और परिचारक-

निर्यापके समर्प्य स्व भक्त्यारोप्य महाव्रतम् । निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥४४

जीवितमरणाशसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन् ।
सनिदान संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखनां विधिना ॥४५

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये यथार्हं गुणवत्तमान् । सूरिस्तं भूरि संस्कुर्यात् स ह्यार्याणा महाक्रतुः ॥४६
योग्य विचित्रमाहारं प्रकाश्येष्टं तमाशयेत् । तत्रासजन्तमज्ञानात् ज्ञानाख्यानैर्निवर्तयेत् ॥४७

विवेक । मेरा चिद्रूप सवसे भिन्न है इस प्रकार अपने भिन्नरूप सिद्ध करने योग्य अध्यवसायको विवेक कहते हैं । इन्द्रियादिकोसे अपने पृथग्भावका चिन्तवन भावविवेक या अन्तरविवेक कहलाता है । तथा शय्या आदिकसे अपने पृथग्भावका चिन्तवन द्रव्यविवेक या वहिरगविवेक कहलाता है ॥४३॥

समाधिकर्ता मुनि अपनेको निर्यापकाचार्यके ऊपर समर्पित करके भक्तिसे महाव्रतोको धारण करके पुन भावना भावे, तथा मुनिसे भिन्न श्रावक धारण नही किये गये ही महाव्रतोको भावना भावे । भावार्थ—महाव्रती मुनि, क्षपक अवस्थामे अपनेको निर्यापकाचार्यके लिये सौंपकर भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए महाव्रतोकी पुन पुन भावना भावे । और अणुव्रती सग्रन्थ श्रावक क्षपक, महाव्रतोको धारण करनेकी भावना भावे । महाव्रतोकी भावनाके सम्वन्धमे सचेल और अचेल क्षपकोमे यही अन्तर है ॥४४॥ सम्तर पर आरूढ क्षपक जीविताशसा, मरणाशसा, मित्रोमे प्रेम, निदानसहित सुखानुवन्धको छोडता हुआ शास्त्रोक्त विधिसे सल्लेखनाको करे । विशेषार्थ—जीविताशसा, मरणाशसा, सुहृदनुराग, सुखानुवन्ध और निदान ये पाँच सल्लेखनाके अतिचार हैं । जीविताशसा—यह शरीर अवश्य हेय है और जलवुद्वुदके समान अनित्य है इत्यादि वातका स्मरण नही करते हुए इस शरीरकी स्थिति कैसे रहेगी, इस प्रकार शरीरके प्रति आदर भावको जीविताशसा कहते हैं । अथवा अपना सत्कार विशेष देखनेसे तथा अनेक व्यक्तियोके द्वारा अपनी प्रशसा सुननेसे ऐसा विचार करना कि चार प्रकारके आहारका त्याग करके भी मेरा जीवन कायम रहे तो वहुत अच्छा है, क्योकि यह सव उपरोक्त विभूति मेरे जीवनके निमित्तसे ही हो रही है इस प्रकार जीवनकी आकाक्षाको जीविताशसा कहते हैं । अथवा अपनेको स्वस्थ होता हुआ देखकर जीनेकी इच्छा करना भी जीविताशसा कहलाती है । मरणाशसा—प्राप्त जीवनमे रोगोके उपद्रवकी आकुलतासे सक्लिष्ट क्षपकको 'मेरा शीघ्र मरण हो जावे तो वहुत अच्छा हो' इस प्रकार परिणामोके होनेको मरणाशसा कहते हैं । सुहृदनुराग—वाल्यकालमे अपने मित्रोके साथ हमने ऐसे खेल खेले हैं, हमारे अमुक मित्र विपत्ति पडने पर सहायता करते थे और हमारे मित्र उत्सवोमे तत्काल उपस्थित होते थे इस प्रकार वालमित्रोके प्रति अनुराग भावोको पुन पुन स्मरण करना सुहृदनुराग कहलाता है । सुखानुवन्ध—मैंने ऐसे भोग भोगे हैं, मैं ऐसी शय्याओ पर सोता था, मैं इस प्रकार खेलता था इत्यादि प्रकारसे पूर्व कालीन सुख-भोगका पुन पुन स्मरण करना सुखानुवन्ध कहलाता है । निदान—इस दुस्तर तपके प्रभावसे मुझे जन्मान्तरमे इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती इत्यादि पदकी प्राप्ति होवे इस प्रकार भविष्यमे अभ्युदयकी वाञ्छाको निदान कहते हैं ॥४५॥ निर्यापकाचार्य क्षपककी परिचर्याके विषयमे यथायोग्य सम्यग्दर्शनादिक उत्तमगुणोके धारक यतियोको नियुक्त करके उस क्षपकको विशेष सस्कृत करे । क्योकि वह समाधि-साधनाविधि यतियोका परमयज्ञ है ॥४६॥ निर्यापकाचार्य उस क्षपकको उचित या भक्ष्य तथा नानाप्रकारके

भो निर्जिताक्ष ! विज्ञात-परमार्थ ! महायशः । किमद्य प्रतिभान्तीमे पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥४८
किं कोऽपि पुद्गलः सोऽस्ति यो भुक्त्वा नोज्झितस्त्वया । न चैष मूर्तोऽमूर्तस्ते कथमप्युपयुज्यते ॥४९
केवलं करणैरेनमलं ह्यनुभवन्भवान् । स्वभावमेवेष्टमिदं भुञ्जेऽहमिति मन्यते ॥५०
तदिदानीमिमां भ्रान्तिमभ्याजोन्मिषतीं हृदि । स एष समयो यत्र जाग्रति स्वहिते बुधाः ॥५१
अन्योऽहं पुद्गलश्चान्य इत्येकान्तेन चिन्तय । येनापास्य परद्रव्यग्रहवेशं स्वमाविशेः ॥५२
क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं चरेः । तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटिकासक्तभिक्षुवत् ॥५३
किञ्चाङ्गस्योपकार्यन्नं न चैतत्तत्प्रतीच्छति । तच्छिन्धि तृष्णां भिन्धि त्वं देहाद्रुन्धि दुरास्रवम् ॥५४
इत्थं पथ्यप्रथासारैर्वितृष्णीकृत्य तं क्रमात् । त्याजयित्वाऽशनं सूरिः स्निग्धपानं विवर्धयेत् ॥५५

भोजनको दिखाकर क्षपकके प्रिय भोजनको जिमावे और अज्ञानसे उस इष्ट भोजनमे आसक्त होने वाले क्षपकको बोधप्रद कथानको द्वारा व्यावृत्त करे। भावार्थ—निर्यापकाचार्य क्षपकको योग्य और नानाप्रकारके आहार दिखा कर उसके इच्छित पदार्थ उसे खिलावे। कोई विवेकी क्षपक तो उन भोज्य पदार्थोको देखकर इस प्रकार वैराग्य और सवेग भावना भाता है कि मै भवसमुद्रके किनारे आ चुका हूँ। अब मुझे इन भोज्योंसे क्या प्रयोजन है। कोई क्षपक उन इष्ट भोज्य पदार्थोमे से कुछको ग्रहण कर शेषका परित्याग कर देता है। और कोई क्षपक उनका आस्वादन करके आसक्त भी हो जाता है। क्योकि मोहकी लीला विचित्र है। इसलिये निर्यापकाचार्य इष्ट भोजनमे तत्त्वज्ञानके अभावसे आसक्ति रखने वाले क्षपकको समाधिपूर्वक मरने वालोके बोधप्रद आख्यानो द्वारा विरक्त करे ॥४७॥ हे जितेन्द्रिय, परमार्थ तत्त्वके जानकार, यशस्विन् क्षपक, ये भोजन-शयन-आसन आदिक पुद्गल तुझे आज क्या आत्माके उपकारक मालूम होते हैं ॥४८॥ वह कोई भी पुद्गल है क्या ? जो तूने भोग कर नही छोड दिया है, यह मूर्तिक पुद्गल अमूर्तिक तेरे किसी भी प्रकार उपयोगी नही है। भावार्थ—अनादिकालसे ससारमे बसने वाले जीवके ऐसा कोई भी पुद्गल बाकी नही है जिसको जीवने इन्द्रियो द्वारा भोग कर छोड नही दिया हो। अतएव हे क्षपक, तुझे इन पुद्गलोमे आसक्ति नही करना चाहिये। क्योकि तू अमूर्तिक है और पुद्गल मूर्तिक। इसलिये आत्मासे सर्वथा भिन्नस्वभाव पुद्गल अमूर्तिक आत्माके लिये किसी भी प्रकारसे उपकारक नही हो सकता ॥४९॥ इन्द्रियोके द्वारा इस पुद्गलको विषय करके निश्चयसे स्वभावको ही अनुभव करने वाला तूँ इस इष्ट वस्तुको मै भोग कर रहा हूँ इस प्रकार केवल मानता है, यह तेरा अज्ञान है ॥५०॥ इसलिये इस समय हृदयमे उठती हुई इस अभोग्य पुद्गलमे भोग्यताके भ्रमको छोड क्योकि प्रसिद्ध यह वह समय है जिसमे तत्त्वज्ञानी अपने हितके विषयमे सावधान होते हैं ॥५१॥ मै भिन्न हूँ और पुद्गल भिन्न है, इस प्रकार सर्वथा अटलरूपसे भावना कर जिस भेदज्ञानसे परद्रव्यमे आसक्तिको छोड कर अपने आत्मद्रव्यके उपयोगमे तत्पर हो सको ॥५२॥ यदि तूँ किसी पुद्गलमे आसक्त होता हुआ मरेगा तो निश्चयसे स्वादिष्ट कचरियामे आसक्त हुए भिक्षुकके समान उसी पुद्गलका कीडा होकर उस पुद्गलको खावेगा। अर्थात् मरकर उसीमे कीडा रूपसे पैदा हो जायगा ॥५३॥ तथा अन्न शरीरका उपकारक है और यह शरीर उस अन्नको अपने उपकार रूपसे नही चाहता है। इसलिये तू अन्नकी तृष्णाको छोड और अपनेको शरीरसे भिन्न समझ। तथा अशुभास्रवको रोक ॥५४॥

निर्यापकाचार्य पूर्वोक्त प्रकारसे हितोपदेशरूपी धाराप्रवाही मेघ-वृष्टिसे उस क्षपकको तृष्णारहित करके क्रमसे कवलाहारको त्याग कराकर दुग्धादि स्निग्ध पेय-पदार्थके आहारको

पानं षोढा घनं लेपि ससिक्थं सविपर्ययम् । प्रयोज्य हापयित्वा तत् खरपानं च पूरयेत् ॥५६
शिक्षयेच्चेति त सेयमन्त्या सल्लेखनार्य ते । अतिचारपिशाचेभ्यो रक्षैनामतिदुर्लभाम् ॥५७
प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां मा शस स्थास्नु जीवितम् । भ्रान्त्या रम्य वहिर्वस्तु हास्यः को नायुराशिषा॥५८
परीषहभयादाशु मरणे मा मतिं कृथा. । दु.खं सोढा निहन्त्यंहो ब्रह्म हन्ति मुमूर्षुक ॥५९
सहपांसुक्रीडितेन स्वं सख्या मानुरञ्जय । ईदृशैर्बहुशो भुक्तैर्मोहदुर्ललितैरलम् ॥६०
मा समन्वाहर प्रीतिविशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिम् । वासितोऽक्षसुखैरेव बम्भ्रमीति भवे भवी ॥६१
मा काङ्क्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दु.खदान् । वृणीते कालकूटं हि क प्रसाद्येष्टदेवताम् ॥६२
इति व्रतशिरोरत्न कृतसंस्कारमुद्वहन् । खरपानक्रमत्यागात् प्रायेऽयमुपवेक्ष्यति ॥६३
एवं निवेद्य संघाय सूरिणा निपुणेक्षिणा । सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं यावज्जीवं त्यजेत्त्रिधा ॥६४

बढावे ॥५५॥ पेयपदार्थ छह प्रकार हैं अपने विपरीतसे सहित घन, लेपि, तथा ससिक्थ । निर्यापकाचार्य उस पेयाहारको खिलवाकर और त्याग कराकर खरपानको बढावे । विशेषार्थ—पेयाहार (स्निग्धपान) के छह भेद हैं—घन, अघन, लेपि, अलेपि, ससिक्थ और असिक्थ । निर्यापकाचार्य परिचारकोंके द्वारा क्षपकके लिये इन छह प्रकारके स्निग्धपानोंको खिलवाकर क्रम क्रमसे उनका भी त्याग कराकर खरपानकी वृद्धि करे । घनपेय—दही आदि पीने योग्य गाढ़ी वस्तु । अघनपेय—इमली आदिक फलोका रस तथा काजी आदि पतली वस्तु । लेपि—हाथोंसे चिपकनेवाली पेय वस्तु । ससिक्थ—कणसहित पेयवस्तु, जैसे छाँछ आदिक । असिक्थ—स्वयमेव पतली पेयवस्तु, जैसे दहीके ऊपरका पानी । खरपान = शुद्ध काँजी और गरमजल ॥५६॥ निर्यापकाचार्य उस क्षपकको वक्ष्यमाण प्रकारसे शिक्षा देवें कि हे क्षपक ! तेरी प्रसिद्ध यह सल्लेखना मारणान्तिकी है । अतएव अत्यन्त दुर्लभ इस सल्लेखनाको अतिचार रूपी पिशाचोंसे रक्षा कर ॥५७॥ हे क्षपक ! इस आचार्यादिको द्वारा की जानेवाली परिचर्याकी विधिमे अथवा महापुरुषो द्वारा प्राप्त गौरव या आदरमें आसक्त होता हुआ तूं जीवनको स्थिरतर इच्छा मत कर क्योंकि वाह्य वस्तु भ्रमसे ही सुन्दर होती है तथा चिरजीवी होनेकी आकाक्षामे कौन हँसीका पात्र नहीं होता ? ॥५८॥ हे क्षपक ! असह्य क्षुधा आदिकी वेदनाके भयसे शीघ्र मृत्युके विषयमे इच्छाको मत कर, क्योंकि परीषहोको विना सक्लेशके सहन करनेवाला व्यक्ति पूर्वोपार्जित कर्मोको नष्ट करता है, तथा कुत्सितविधिसे मरनेका इच्छुक व्यक्ति अपने सम्यग्ज्ञान या मोक्षको नष्ट करता है ॥५९॥ हे क्षपक ! वाल्यकालमे जिनके साथ धूलिमे खेल खेले हैं उन मित्रोंसे अपनेको अनुरागयुक्त मत कर । क्योंकि अनेक वार भोगे हुए इस प्रकार मित्रानुरागके स्मरण सम्बन्धी मोहनीय कर्मके परिपाकसे उत्पन्न अनुरागमय परिणामोसे क्या लाभ है ? ॥६०॥ हे क्षपक ! पूर्वानुभूत किसी अपने प्रिय इन्द्रियविषयमे स्मृतिको वार वार मत कर, क्योंकि इन्द्रियविषयजन्य सुखोंसे ही आसक्त होता हुआ ससारी ससारमे पुन पुन जन्मधारण कर रहा है ॥६१॥ हे उपासक ! रोगादिकके समान दु खदायक भावी भोगादिक इष्ट विषयोकी इच्छा मत कर, क्योंकि इष्टदेव या देवीको प्रसन्न करके हालाहल विषको कौन माँगेगा ? ॥६२॥ इस प्रकारसे निरतिचारपालनसे अतिशयरूप सस्कारको प्राप्त सल्लेखनाव्रतरूपी चूडामणि रत्नको धारण करनेवाला यह क्षपक क्रमश गरम जलका भी त्याग कर देनेसे उपवासके विषयमे प्रवेश करेगा । इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवाले निर्यापकाचार्यके द्वारा संघके लिये सूचित करके अनुमतिको प्राप्त हुआ वह क्षपक

व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत् । भृशं शक्तिक्षये जह्यात् तदप्यासन्नमृत्युकः ॥६५
तदाखिलो वर्णिमुखग्राहितक्षमणो गणः । तस्याविघ्नसमाधान-सिद्ध्यै तद्यात्तनूत्सृतिम् ॥६६
ततो निर्यापका. कर्णे जपं प्रायोपवेशिन. । दद्युः संसारभयदं प्रीणयन्तो वचोऽमृतैः ॥६७
मिथ्यात्व वम सम्यक्त्वं भजोर्जय जिनादिषु । भक्ति भावनमस्कारे रमस्व ज्ञानमाविश ॥६८
महाव्रतानि रक्षोच्चै कषायाञ्जय यन्त्रय । अक्षाणि पश्य चात्मानमात्मनात्मनि मुक्तये ॥६९
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा । तद्दुःख यन्न दीयेत मिथ्यात्वेन महारिणा ॥७०
सङ्घश्रीर्भावयन्भूयो मिथ्यात्वं वन्दकाहितम् । धनदत्तसभायां द्राक् स्फुटिताक्षोऽभ्रमद् भवम् ॥७१
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा । तत्सुखं यन्न दीयेत सम्यक्त्वेन सुबन्धुना ॥७२

चतुर्विधाहारको जीवनपर्यन्तके हेतु छोड देवे ॥६३-६४॥ अथवा व्याधि आदिककी अपेक्षासे समाधिकी सिद्धिके लिये जलको गुरुकी सम्मतिसे ग्रहण करे तथा अत्यन्त शक्तिके क्षीण होनेपर निकट मृत्युवाला होता हुआ क्षपक उस पानीको भी छोडे । भावार्थ—पैत्तिकव्याधि, ग्रीष्मकाल, मरुस्थलादिकदेश, पित्तप्रकृत्ति आदिक कारणोसे जो क्षपक परीषहोके वेगको नही सह सकता वह समाधिके लिये गुरुकी आज्ञासे जलमात्रका ग्रहण करे, शेप तीन प्रकारके भोजनोका सर्वथा त्याग कर देवे । किन्तु जिस समय शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जावे तथा मृत्यु अतिशय निकट आ जावे उस समय पानीका भी त्याग अवश्य कर देवे ॥६५॥ क्षपककी मृत्युका समय उपस्थित होनेपर किसी ब्रह्मचारीके द्वारा वुलाई है क्षपकके प्रति क्षमा जिसने ऐसा समस्त सघ उस क्षपककी निर्विघ्न समाधिकी सिद्धिके लिए कायोत्सर्गको करे ॥६६॥

इस विधिके वाद समाधिकी सिद्धि करानेमे तत्पर आचार्य अपने वचनरूपी अमृतसे क्षपकको सन्तुष्ट करते हुए क्षपकके कानमे ससारसे भयोत्पादक उपदेशको देवे ॥६७॥ हे क्षपक ! मिथ्यात्वको निकाल दे, सम्यक्त्वको सेवन कर, अरिहन्त आदिकमे भक्तिको वढा, अरिहन्तादिकके गुणानुरागमे रमण चिन्तवन कर, तथा अन्तरग तत्त्वाववोधमे लवलीन हो ॥६८॥ हे क्षपक ! मुक्तिके लिये अपने महाव्रतोको रक्षा कर, कपायोको भलीप्रकार जीत, इन्द्रियोको वशमे कर, और आत्मामे आत्माके द्वारा आत्माको देख ॥६९॥ अधोलोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्वलोकमे वह दु ख न था न है और न होगा जो दु ख महान् शत्रु मिथ्यात्वके द्वारा नही दिया जाता है ॥७०॥ वन्दकके निमित्तसे प्राप्त मिथ्यात्वको पुन भाता हुआ धनदत्त राजाका मत्री सघश्री धनदत्तकी सभामे जल्दी फूट गई है आँखे जिसकी ऐसा होता हुआ मरकर ससारमे भटका । भावार्थ—धनदत्त राजाका मत्री सघश्री पहले सम्यग्दृष्टि था परन्तु उसने धनदत्त राजाकी सभामे वन्दकके निमित्तसे अन्तरगमे पुन मिथ्यात्वकी प्राप्ति की । उसके प्रभावसे उसकी आँखे फूटी और वह ससारचक्रमे भटक गया ॥७१॥ लोकत्रयमे वह सुख न था न है और न होगा जो सुख सच्चे बन्धु सम्यक्त्वके द्वारा न दिया जाता हो ॥७२॥ हे क्षपक ! देखो केवल एक दर्शनविशुद्धिके प्रभावसे महाराज श्रेणिक मिथ्यात्वकी अवस्थामे वाँधी हुई तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुकी स्थितिको कम करके रत्नप्रभा पृथिवीकी चौरासी हजार वर्पकी की है जिसने ऐसा होता हुआ आगेके भवमे तीर्थङ्कर होगा ॥७३॥ एक ही जिनदेवमे आन्तरिक अनुराग हो इष्टसिद्धि साधक और पुरुषार्थोसे क्या प्रयोजन है जो जिनभक्ति समस्त अभ्युदय घातक विघ्नोको नष्ट कर मनोरथोको पूर्ण करती

प्रह्लासितकुदृग्वद्धश्वभ्रायु स्थितिरेकया । दृग्विशुद्व्यापि भविता श्रेणिक किल तीर्थकृत् ॥७३
एकैवास्तु जिने भक्ति किमन्यै स्वेष्टसाधनै. । या दोग्धि कामानुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषतः ॥७४
वासुपूज्याय नम इत्युक्त्वा तत्संसद गत' । द्विदेवाग्व्यविघ्नोऽभूत् पद्मः शक्रार्चितो गणी ॥७५
एकोऽप्यर्हन्नमस्कारश्चेद्विशेन्मरणे मन' । सम्पाद्याभ्युदयं मुक्तिश्रियमुत्कयति द्रुतम् ॥७६
स णमो अरिहंताणमित्युच्चारणतत्पर । गोप. सुदर्शनोभूय सुभगाह्व शिवं गत ॥७७
स्वाध्यायादि यथाशक्ति भक्तिपीतमनाश्चरन् । तात्कालिकाद्भुतफलादुदर्के तर्कमस्यति ॥७८
शूले प्रोतो महामन्त्रं धनदत्तार्पितं स्मरन् । दृढशूर्पो मृतोऽभ्येत्य सौधर्मात्तमुपाकरोत् ॥७९
खण्डश्लोकैस्त्रिभि कुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयंकृतै । मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्योऽपि यम सप्तर्धिभूरभूत् ॥८०

है ॥७४॥ वासुपूज्य भगवान्‌के लिये नमस्कार हो इसप्रकार उच्चारण कर दो देवोंके द्वारा किया गया है विघ्न जिसके ऐसा भी वासुपूज्य भगवान्‌के समवसरणको प्राप्त पद्मरथ राजा इन्द्रादिकोंसे पूज्य गणधर हुआ । भावार्थ—पद्मरथ राजाने वासुपूज्य भगवान्‌के समवसरणको प्रस्थान किया । उस समय उसके पूर्वभवके वैरी दो देवोंने अनेक विघ्न किये । परन्तु राजाने 'वासुपूज्यके लिये नमस्कार हो' इसप्रकार मत्रका उच्चारण किया । जिससे उन देवोंके विहित विघ्न विफल हुए । और राजा पद्मरथ भगवान्‌के समवसरणमे निर्विघ्न पहुँच गया ॥७५॥ यदि मरणसमयमे एक भी अरिहन्त भगवान्‌को भक्तिपूर्वक किया गया नमस्कार मनमे प्रवेश करे तो वह महान् वृद्धिको सम्पादन करके शीघ्र मुक्तिलक्ष्मीको उत्कण्ठित करता है ॥७६॥ 'णमो अरिहंताणं' इसप्रकार उच्चारणमे तत्पर वह जिनागमप्रसिद्ध सुभगनामक ग्वाल सुदर्शन सेठ होकर मोक्षको प्राप्त हुआ । भावार्थ—सुभग नामका ग्वाल 'णमो अरिहंताणं' पदका उच्चारणकर मरनेपर वृषभदास सेठके यहाँ सुन्दर और सम्यग्दृष्टि सुदर्शन नामक पुत्र होकर मोक्षको प्राप्त हुआ ॥७७॥

भक्तिसे अनुरक्त चित्त वाला और शक्तिके अनुसार स्वाध्याय आदिकको करने वाला व्यक्ति तत्काल प्राप्त होने वाले अद्भुत फलकी प्राप्तिके योगसे उत्तर कालमे सशयको नष्ट करता है । भावार्थ—भक्तिसे, मन लगा कर और अपने बल वीर्यको नही छिपा कर जो मुनियोंके स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्म करता है वह अपने आवश्यक कर्मोंके करनेसे प्राप्त होने वाले चिदानन्दमय फलके द्वारा आगममे वर्णित स्वाध्यायादिके फलके विषयमे किसीको सदेह नही रहने देता ॥७८॥ शूली पर चढाया गया दृढशूर्प चोर धनदत्तसेठके द्वारा दिये गये महामन्त्र-को स्मरण करता हुआ मरा और सौधर्म स्वर्गसे आकर उस धनदत्तको उपकृत करता हुआ । भावार्थ—शूली पर चढे हुए दृढशूर्प चोरको धनदत्त सेठने महामन्त्र दिया था । उसका स्मरण करते हुए मरणको प्राप्त दृढशूर्प चोर सौधर्म स्वर्गमे ऋद्धिधारक देव हुआ । वहाँसे आकर उसने उस धनदत्त सेठका उपसर्ग निवारण कर अनेक उपकार किये ॥७९॥ मुनिनिन्दासे प्राप्त हुई है मूढता जिसको ऐसा भी यमनामक राजा मुनि होकर स्वरचित तीन खण्डश्लोको द्वारा स्वाध्याय आदिक करता हुआ सात ऋद्धियोका धारक महामुनि हुआ । विशेषार्थ—मुनिकी निन्दासे मूढता को प्राप्त भी यम नामका राजा स्वनिर्मित इन 'कडसि पुणुण स्वेवसि रेगदहा । जव पत्थेसि खादिदु ॥१॥ अणत्थ कि फलो वहा तुम्ही इत्थ वुधिया छिंदे । अके च्छेद इको णिया ॥२॥ अह्मा दोण दि भय दिहादोदिसराभय तुह्म ॥३॥ तीन खण्डश्लोको द्वारा स्वाध्याय आदि करनेके प्रभावसे सप्त ऋद्धियो का धारक मुनि हुआ था । वुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण ये सात ऋद्धियाँ

अहिंसाप्रत्यपि दृढं भजन्नोजायते रुजि । यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे स सर्वा. क्षिपते रुजः ॥८१
यमपालो ह्रदेऽहिंसन्नेकाहं पूजितोऽम्सुरैः । धर्मस्तत्रैव मेण्ढ्रघ्नः शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥८२
मा गां कामदुघा मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखी कृथाः । अल्पोऽपि हि मृषावादः श्वभ्रदुःखाय कल्पते ॥८३
अजैर्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति । व्याख्या छागैरिति परावर्त्यागान्नरकं वसु ॥८४

आस्तां स्तेयमभिध्यापि विध्याप्याऽग्निरिव त्वया ।
हरन् परस्वं तदसून् जिहीर्षन्स्व हिनस्ति हि ॥८५

रात्रौ मुषित्वा कौशाम्बीं दिवा पञ्चतपश्चरन् । शिक्यस्थस्तापसोऽधोऽगात् तलारक्तकृतदुर्मृतिः ॥८६

हैं ॥८०॥ थोडी सी अहिंसाके प्रति भी दृढताको धारण करनेवाला व्यक्ति उपसर्गके समय दु खाभिभूत नही होता तथा जो सम्पूर्ण अहिंसाके विपयमे अधिकारी होता है वह सम्पूर्ण दु खोको नष्ट करता है । भावार्थ—जो थोडी भी अहिंसाके पालनमे दृढता धारण करता है वह उपसर्गके उपस्थित होनेपर दु खाभिभूत नही होता, तथा जो अहिंसापर पूर्णरीतिसे आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, वह समस्त उपसर्गो पर विजय प्राप्त करता है ॥८१॥ केवल एक दिन अहिंसाव्रत पालनेवाला यमपाल चाण्डाल शिशुमार सरोवरमे जल-देवताओ-के द्वारा पूजा गया और राजाके मेढेका घातक सेठका पुत्र धर्म उस सरोवरमे ही शिशुमार जन्तुओके द्वारा खाया गया । भावार्थ—बनारस नगरम चतुर्दशीके दिन एकदेश अहिंसाव्रतकी प्रतिज्ञाका पालक यमपाल चाण्डाल वहाँके शिशुमार सरोवरमे जलदेवो द्वारा पूजा गया और वही पर राजाके मेढेका वध करनेवाला एक सेठका पुत्र धर्म शिशुमारोके द्वारा भक्षण किया गया ॥८२॥ हे क्षपक ! इच्छित पदार्थदायक वाणीको असत्यवादनरूप व्याघ्रके सन्मुख मत कर, क्योकि थोडा भी मिथ्या-भापण नरकोके दु खोके सम्पादनके लिये समर्थ होता है । विशेषार्थ—इच्छितपदार्थदायक होनेसे वाणी एकप्रकार की कामधेनु है । और जैसे व्याघ्र गायका भक्षक प्रसिद्ध है उसीप्रकार मिथ्याभाषण सत्यका घातक है ॥८३॥ 'तीन वर्षके अजोद्वारा यज्ञ करना चाहिये' इस आगमवचनके विपयमे तीन वर्प पुराने धान्यके द्वारा इस अर्थको तीन वर्षके बकरो द्वारा इसप्रकार बदलकर वसु राजा नरकको गया । विशेपार्थ—अजशब्दके दो अर्थ हैं । पुराना धान और बकरा । 'अजैर्यष्टव्यम्' इस आगम उपदेशके समय अजशब्दका अर्थ पुराना धान है किन्तु वसु राजाने वहाँ वह अर्थ बदलकर तीन वर्षकी उम्रवाला बकरा अर्थ कर दिया था । जिससे यज्ञादिकोमे हिंसाकी प्रवृत्ति हुई और उसके फलस्वरूप वसु राजा नरकको गया । 'न जायन्ते इति अजा' जो अकुरित्त नही हो सकते है उन्हे अज कहते हैं । ऐसे तीन वर्ष पुराने जौ आदि धान्योके द्वारा शान्ति वा पौष्टिक कार्य करना चाहिये यह क्षीरकदम्बकाचार्यका व्याख्यान था । परन्तु पर्वत और नारदके विवादके समयपर राजा वसु ने अजका अर्थ बकरा कर दिया था । तब से यज्ञादिकमे हिंसाकी प्रवृत्ति हुई । इस झूठके कारण राजा वसु नरकको गया ॥८४॥

भो समाधिमरणार्थिन्, चोरी दूर रहे, परधनकी इच्छा भी तेरे द्वारा अग्निके समान दूर की जानी चाहिए, क्योकि परधनको हरनेवाला धनीके प्राणोको हरनेकी इच्छा करता हुआ अपने आत्माकी हिंसा करता है । भावार्थ—हे क्षपक ! तूँ चोरी की तो बात ही क्या ? अपने अन्त -करणमे परधनकी इच्छाको भी स्थान मत दे । क्योकि जो परधनको हरनेकी इच्छा करता है उसके परके प्राणोके घातकी इच्छा अवश्य रहती है और परघातकी इच्छा वास्तवमे आत्म-हिंसा ही है ॥८५॥ रात्रिमे कौशाम्बी नगरीकी जनताको मूषकर (लूटकर) और दिनमे पञ्चाग्नितपको

पूर्वेऽपि वहवो यत्र स्खलित्वा नोद्गताः पुनः। तत्परं ब्रह्म चरितुं ब्रह्मचर्यं परं चरे ॥८७
मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतेः। मोपेक्षिष्ठाः क्वचिद्ग्रन्थे मनो मूर्च्छन्मनागपि ॥८८
बाह्यो ग्रन्थोऽङ्गमक्षाणामान्तरो विषयैषिता। निर्मोहस्तत्र निर्ग्रन्थः पान्थः शिवपुरेऽर्थतः ॥८९
कषायेन्द्रियतन्त्राणां तत्तादृग्दुःखभागिताम्। परामृशन्मा स्म भव शंसितव्रत ! तद्वशः ॥९०
श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा पदं वाक्षरमेव वा। यत्किञ्चिद्रोचते तत्रालम्ब्य चित्तलयं नय ॥९१
शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य ! स्वसंविदा। भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम् ॥९२

तपता हुआ लटकते हुए सीकेपर रहनेवाला भौतिक तापस कोतवालके द्वारा कृत आर्त रौद्र ध्यानसे कुमरणको प्राप्त होता हुआ नरकको गया। भावार्थ—भौतिक तापस दिनमें पञ्चाग्नि तप तपता था तथा "मैं परवनका ऊँचा त्यागी हूँ, परायी भूमिका भी मैं स्पर्श नहीं करता हूँ" इस बातको घोषित करनेके लिये जो सदैव सीकेके ऊपर रहता था। वही साधु रात्रिमें कौशाम्बीकी जनताको लूटता था। इसलिये समय पाकर कोतवालके द्वारा पकड़ा गया और आर्तरौद्रपूर्वक मरण होनेसे नरक गया ॥८६॥ जिस ब्रह्मचर्य व्रतमें प्राचीन बहुतसे रुद्रादिक पतित होकर फिर अपनेको नहीं सम्हाल सके उस शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आत्माको उत्कृष्ट या निर्विकल्पक अनुभव करनेको उस निरतिचार ब्रह्मचर्य महाव्रतको पालन कर। भावार्थ—जिस ब्रह्मचर्यसे स्खलित होकर वर्तमान मुनियोकी तो बात ही क्या ? प्राचीन रुद्रादिक भी स्खलित होकर फिर अपनेको नहीं सम्हाल सके। अतः हे क्षपक ! शुद्धज्ञान और शुद्धात्माके उत्कृष्ट अनुभवके लिये तू इस निरतिचार ब्रह्मचर्य महाव्रतका पालन कर ॥८७॥ हे क्षपक ! अनुचित मनोरथवाले श्मश्रुनवनीतके कुमरणका स्मरण करनेवाला तूँ किसी परिग्रहमे थोडा भी ममत्वकारी मनको उपेक्षा मत कर अर्थात् वशमे कर। भावार्थ—हे क्षपक ! केवल परिग्रहकी वाञ्छाके कारण ही श्मश्रुनवनीतका दुर्मरण हुआ है इसको ध्यानमें रखकर "वह मेरा है, मैं इसका हूँ" इस प्रकार संकल्परूप भाव-परिग्रहकी ओर यदि तेरे मनका झुकाव होवे तो तू उसकी ओरसे अपने मनको रोक ॥८८॥ बाह्य परिग्रह शरीर है और इन्द्रियोका अभिलाषीपना अन्तरंग परिग्रह है इन दोनो प्रकारके परिग्रहोमे ममत्वरहित व्यक्ति वास्तवमें मोक्षमार्गमे प्रस्थानकर्त्ता है। भावार्थ—शरीरको बाह्य और इन्द्रियोंके विषयोके प्रति अभिलाषीपनको अन्तरंग परिग्रह कहते है। इन दोनो प्रकारके परिग्रहका ही नाम ग्रन्थ है। जो इस ग्रन्थसे रहित है उसे निर्ग्रन्थ कहते है। अर्थात् शरीर और इन्द्रियविषयोंमे ममताका त्यागी ही निर्ग्रन्थ है और ऐसे निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गमे प्रस्थान करते हैं ॥८९॥ भो प्रशस्तव्रतधारक, कषाय और इन्द्रियोंके परतन्त्र व्यक्तियोंके उस अवर्णनीय दुःखानुभवनको विचारता हुआ तूँ इन कषाय और इन्द्रियोके वश मत हो। भावार्थ—प्रशस्तरीतिसे व्रतधारक हे क्षपक ! कषाय और इन्द्रियोके वश हो जानेवाले व्यक्तियोके आगमोक्त दुःखानुभवनका विचारकर तू इन कषाय और इन्द्रियोके वशमे मत हो ॥९०॥ हे क्षपक ! श्रुतस्कन्धका वाक्य अथवा पद अथवा अक्षर ही जो कुछ तेरे लिये रुचता हो उसमे आसक्त होकर चित्तकी तन्मयताको कर। भावार्थ—हे क्षपक ! अब तुम्हारी शक्ति क्षीण है। इसलिये श्रुतस्कन्धका आध्यात्मिक या बाह्य वाक्य, 'णमो अरिहन्ताण' इत्यादिक पद अथवा 'अ सि आ उ सा' इनमेसे कोई एक अक्षर जो कुछ तुम्हे रुचता हो उसका अवलम्बन कर उसीमे अपने चित्तको तन्मय करो। क्योकि श्रुतज्ञान सम्बन्धी वाक्य, पद या अक्षरका अवलम्बन निश्चय आराधनाका साधन है ॥९१॥ हे क्षपक ! श्रुतसे राग, द्वेष और मोह रहित शुद्ध अपने चिद्रूप आत्माको ग्रहणकर स्वसंवेदनसे

संन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवेदिभि । यः स्वस्वभावे विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥९३
परीषहोऽथवा कश्चिदुपसर्गो यदा मन । क्षपकस्य क्षिपेज्ज्ञानसारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥९४
दु खाग्निकीलैराभीलैर्नरकादिगतिष्वहो । तप्तस्त्वमङ्गसंयोगाज्ज्ञानामृतसरोऽविशन् ॥९५
इदानीमुपलब्धात्मदेहभेदाय साधुभि । सदानुगृह्यमाणाय दुख ते प्रभवेत् कथम् ॥९६
दु खं सङ्कल्पयन्ते ते समारोप्य वपुर्जडा । स्वतो वपु पृथक्कृत्य भेदज्ञाः सुखमासते ॥९७
परायत्तेन दु खानि वाढं सोढानि संसृतौ । त्वयाद्य स्ववश किञ्चित् सहेच्छन्निर्जरां पराम् ॥९८
यावद् गृहीतसंन्यास. स्वं ध्यायन् संस्तरे वसे । तावन्निहन्या कर्माणि प्रचुराणि क्षणे क्षणे ॥९९
पुरुप्रायान् बुभुक्षादिपरीषहजये स्मर । घोरोपसर्गसहने शिवभूतिपुरःसरान् ॥१००

अनुभव करता हुआ शुद्ध स्वात्माकी तन्मयतासे सर्व सङ्कल्पोसे दूर होते हुए प्राण छोडकर मोक्षको प्राप्त कर। भावार्थ—हे क्षपक ! श्रुतके अवलम्बनसे आत्माके स्वरूपको ज्ञान दर्शन मय समझ स्वसवेदनके द्वारा तदनुसार अनुभव करते हुए सब विकल्पोका त्याग करके निर्विकल्पक होकर प्राणोको छोडकर मुक्तिको प्राप्त हो ॥९२॥ निर्विकल्पक योगीका जो अपने स्वभाव मे स्थिरता है वह ही निश्चयवादियोके द्वारा निश्चयनयसे समाधिमरण कहा गया है। भावार्थ—व्यवहार-सापेक्ष निश्चयवादी आचार्य निर्विकल्पक योगीकी आत्माके स्वभावमे स्थापनको निश्चय समाधि कहते है ॥९३॥ जब कोई परीषह अथवा उपसर्ग क्षपकके मनको चलायमान करे उस समय निर्यापकाचार्य ज्ञानके उपदेशोसे उस क्षपकके मनको शुद्धोपयोगके सन्मुख करे। भावार्थ—समाधिके समय किसी परीपह या उपसर्गके निमित्तसे क्षपकका मन शुद्धोपयोगसे चलायमान होवे तो निर्यापकाचार्य सारभृत व्याख्यानो द्वारा उसके मनको शुद्धोपयोगके सन्मुख करे ॥९४॥ हे क्षपक ! ज्ञानामृतरूपी सरोवरमें अवगाहन नही करनेवाला तू शरीरके सम्बन्धसे नरकादिक गतियोमे अनिवार्य शारीरिक-व्याधि और मानसिक आधिरूपी दु खकी ज्वालाओसे सन्तापको प्राप्त हुआ ॥९५॥

अब प्राप्त हुआ है आत्मा और देहका भेदविज्ञान जिसके ऐसे तथा परिचारक साधुओके द्वारा सर्वदा अनुग्रहको प्राप्त तेरे लिए दु ख कैसे आक्रमण कर सकता है ? भावार्थ—भेदविज्ञान होने पर चतुर्गतिका दु ख नही होता। और इस समय तुमने भेदज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा साधुजन सदा साधकरूपसे तुम्हारा अनुग्रह करनेमे उद्यत हैं। फिर तुम्हारे ऊपर किसी प्रकारका दु ख अपना प्रभाव कैसे डाल सकता है ? अर्थात् नही डाल सकता है ॥९६॥ जो शरीरको आत्मा मानकर दु ख अनुभव करते हैं वे वहिरात्मा कहलाते है। परन्तु जो शरीरको आत्मासे भिन्न अनुभव करके स्वात्मोत्थ आनन्दको अनुभव करते है वे अन्तरात्मा हैं ॥९७॥ ससारमे पराधीन तूने बहुत ही दु ख सहे इस समय उत्कृष्ट निर्जराकी इच्छा करता हुआ स्वाधीन होता हुआ भी कुछ सहन कर। भावार्थ—हे क्षपक ! इस संसारमे अनादि कालसे पराधीन होकर तूने बहुत दु ख सहे हैं। अब तू आसन्नमृत्यु है। पूर्वमे कभी नही मिली ऐसी सल्लेखना कर रहा है। यदि इस समय परीपह तथा उपसर्ग जनित थोडे भी दु खको सहन कर लेगा तो तेरे उत्कृष्ट निर्जरा होगी। इसलिये स्वाधीन होकर इन परीषह वा उपसर्गोको किञ्चित्काल शान्त परिणामसे सहन कर ॥९८॥ जब तक समाधिपरायण तथा आत्माको ध्याता हुआ तू समाधिशय्या पर आरूढ है तब तक प्रतिक्षण असख्यात कर्मोकी निर्जरा कर ॥९९॥ भूख आदिक परीषहको जीतनेके विषयमे वृषभदेव आदिक-

तृणपूलबृहत्पुञ्जे संक्षोभ्योपरि पातिते । वायुभि शिवभूति स्वं ध्यात्वाभूदाशु केवली ॥१०१
न्यस्य भूषाधियाङ्गेषु सन्तप्ता लोहशृङ्खला. । द्विट्पक्षै कीलितपदा सिद्धा ध्यानेन पाण्डवा ॥१०२
शिरीषसुकुमाराङ्ग खाद्यमानोऽतिनिर्दयम् । शृगाल्या सुकुमारोऽसून् विससर्ज न सत्पथम् ॥१०३
तीव्रदु खैरतिक्रुद्धै· भूतारब्धैरितस्तत. । भग्नेषु मुनिषु प्राणानौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक् ॥१०४
अचेन्नृतिर्यग्देवोपसृष्टासंक्लिष्टमानसा । सुसत्त्वा वहवोऽन्येऽपि किल स्वार्थमसाधयन् ॥१०५
तत्त्वमप्यङ्ग । सङ्गत्य नि.सङ्गेन निजात्मना । त्यजाङ्गमन्यथा भूरिभवक्लेशैर्लपिप्यसे ॥१०६

को तथा घोर उपसर्ग सहन करनेके विपयमे शिवभूत्ति आदिक महामुनियोको स्मरण कर ॥१००॥ आधीके द्वारा चलायमान करके घासकी गंजीके ऊपर गिराये जाने पर शीघ्र अपने आत्माको ध्यान कर शिवभूति महामुनि शीघ्र केवलज्ञानी हुए। भावार्थ—शिवभूति महामुनिके ऊपर घासकी गजी हवासे उड कर आ पड़ी थी। उस समय उन्होने निर्विकल्प वृत्तिसे शुद्ध आत्माका ध्यान किया था। इसलिये वे तत्काल ही निर्वाणको प्राप्त हुए थे। यह अचेतनकृत उपसर्ग सहन करनेका उदाहरण है ॥१०१॥ शत्रुपक्षीय कौरवोके भानजा आदिके द्वारा तुम्हारे लिए ये स्वर्णाभूषण हैं, ऐसा कथन करके अङ्गोमे जाज्वल्यमान लोहेकी साकलें पहना कर जमीनमे लोहेकी कीलोंसे जिनके पैर ठोक दिये हैं ऐसे पाण्डव आत्मध्यानमात्रसे सिद्ध हुए। भावार्थ—हे क्षपक! पाँचो पाण्डव जव तपस्या कर रहे थे तव कौरवोके भानजे आदिने पुरातन वैर वश 'तुम्हारे लिए ये स्वर्णके आभूपण हैं' इस प्रकार, कषायपूर्वक दुष्टवुद्धिसे लोहेकी जाज्वल्यमान साकलें पहना कर जमीनमे लोहेके कीलोसे उनके पैर ठोक दिये थे परन्तु उन्होने इस घोर उपसर्ग पर कुछ भी ध्यान नही दिया और आत्मध्यानमे ही लीन रहे। इस कारण, युद्धिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन मुक्तिको प्राप्त हुए तथा नकुल वा सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। यह मनुष्यकृत घोरोपसर्ग सहनका उदाहरण है ॥१०२॥ शिरीपके फूलके समान सुकोमल शरीर वाला सुकुमार मुनि शृगालिनीके द्वारा अत्यन्तनिर्दयतापूर्वक खाया जाता हुआ प्राणोको छोडता हुआ। किन्तु शुद्धात्मध्यानको नही छोड़ा। भावार्थ—सुकुमाल महामुनि अति सुकुमार थे। जव वे तपके हेतु वन गये तव वहाँ उनकी पूर्वभवकी वैरिन माँके जीवने (जो उसी वनमे शृगालिनी हुई थी) अतिशय निर्दयतापूर्वक उनका भक्षण किया, परन्तु सुकुमाल महामुनि आत्मध्यानरूपी सिद्धिमार्गसे तनिक भी विचलित नही हुए। यह तिर्यक्कृत घोरोपसर्ग सहनका उदाहरण है ॥१०३॥ अत्यन्त क्रुद्ध अधम व्यतरदेवोके द्वारा प्रदत्त असह्य वाधाओसे वहुतसे मुनियोके इधर उधर भाग जाने पर भी विद्युच्चर महामुनिने आत्मलीन रहते हुए प्राणोको छोडा। भावार्थ—अतिक्रुद्ध अधम व्यन्तरोके द्वारा प्रारब्ध अत्यन्त असह्य और भयङ्कर वाधाओंसे इतर मुनिजनोंके इधर उधर चले जाने पर भी विद्युच्चर महामुनि इस घोर उपसर्गसे विचलित नही हुए, किन्तु आत्मलीन रहकर मुक्त हुए। यह देवकृत उपसर्ग सहनका उदाहरण है ॥१०४॥ जिनागममे कहा गया है कि भिन्न भी वहुतसे महापुरुष अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च और देवो द्वारा उपसर्गको प्राप्त होकर भी मनमे सक्लेशको प्राप्त नही होते हुए अपने इष्ट मोक्ष पुरुपार्थको सिद्ध कर चुके। भावार्थ—अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा देव कृत घोरोपसर्गसहन करनेका एक एक दृष्टान्त वताया जा चुका है। इनके सिवाय और भी अन्य महामुनियोने चारो ही प्रकारके उपसर्गोमे से किसी एकके आने पर उसको विना संक्लेशके सहन किया है तथा मोक्ष पाया है ॥१०५॥ हे क्षपक! इसलिये तूँ कर्मसे व्यतिरिक्त चिद्रुप अपने आत्मासे सयुक्त होकर

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्ध प्रमदवपुरुपादेय इत्याञ्जसी दृक्,
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवन विग्रहादेश्च सवित्।
तत्रैवात्यन्ततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थिति स्वस्य चर्या,
स्वात्मानं भेदरत्न-त्रयपर परमं तन्मय विद्धि शुद्धम् ॥१०७
मुहुरिच्छामणुशोऽपि प्रणिहत्य श्रुतपरः परद्रव्ये।
स्वात्मनि यदि निर्विघ्न प्रतपसि तपसि ध्रुवं तपसि ॥१०८
नैराश्यारब्धनैःसङ्गचसिद्धसाम्यपरिग्रह.। निरुपाधिसमाधिस्थ पिवानन्दसुधारसम् ॥१०९
सलिख्येति वपुः कषायवदलङ्कर्मीणनिर्यापक-
न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयँल्लिङ्ग तदीयं परः।
सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः प्राणान् शिवाशाधर-
स्त्यक्त्वा पञ्चनमस्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मान्तरे ॥११०

शरीरको छोड, सङ्क्लेशावेशसे शरीरका परित्याग करनेपर सासारिक विशाल दु खोसे अपने आत्माको आकुलित करेगा। भावार्थ—भो क्षपक। तूँ भी उन शिवभूति आदिक मुमुक्षुओके समान अपने शुद्ध आत्मामे उपयुक्त होकर परीषह और उपसर्गोको जीतके शरीरका परित्याग कर मोक्ष-का साधन कर। यदि इस समय तूने अपने परिणामोमे संक्लेशको स्थान दिया तो तुझे ससारके प्रचुर दु खोसे दुखी होना पडेगा ॥१०६॥ हे भेदरत्नत्रयमे तत्पर आराधकराज, आनन्दमय द्रव्य और भाव कर्मोसे रहित केवल निज आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार शुद्धात्मरूप अभिनिवेश निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। स्वानुभूतिके द्वारा त्रियोगसे उस शुद्ध स्वात्माका पृथक् चिन्तवन करना परमार्थ सम्यग्ज्ञान कहलाता है तथा उस शुद्ध निजस्वरूपमे अतिशय वैतृष्ण्यभावसे मनके तन्मयीभावको प्राप्त होने पर आत्माका अवस्थान करना निश्चय सम्यक्चारित्र कहलाता है। अतएव तूँ अतिशय शुद्ध अपने आत्माको सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय समझ। भावार्थ—हे क्षपकराज। आनन्दमय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार परमार्थ श्रद्धा निश्चयसम्यक्त्व है। शुद्ध आत्माका त्रियोगसे पृथक् चिन्तवन करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मामे अतिशय तृप्तिपूर्वक लीन होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसलिये तूँ अपने आत्माको निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय समझ ॥१०७॥ हे क्षपक, वार वार श्रुतज्ञानकी भावनामे तत्पर होता हुआ तूँ परद्रव्यमे अणु बराबर थोडी भी इच्छाको नाश करके यदि निर्विघ्न रूपसे अपने आत्मामे देदीप्यमान होगा तो अवश्य ही तप आराधनाके विषयमे स्फुरायमान होगा ॥१०८॥ भो क्षपक। परद्रव्यकी आशाके परित्यागसे आरब्ध बहिरग अन्तरग परिग्रहके त्यागसे सिद्ध परमेष्ठीके समान और ध्यान, ध्याता और ध्येयके विकल्पसे रहित निर्विकल्प समाधिमे लीन होता हुआ तूँ आनन्दरूपी सुधारसका पान कर। भावार्थ—हे क्षपकराज, अब तुम जीवन और धनादिककी आकाक्षाओके त्यागसे प्रारब्ध अपरिग्रहपने-से सिद्धके समान और ध्यान, ध्याता तथा ध्येयके विकल्पसे रहित निर्विकल्प समाधिमे स्थिर होकर चिदानन्दमय सुधारसके पानकर्ता होओ ॥१०९॥ मोक्षाभिलापी क्षपक मुनि निश्चयनयसे ससार-समुद्रसे पार उतारनेमे समर्थ और शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाममे समुख अपने आत्माके प्रति अर्पण किया है अपने आत्माको जिसने अर्थात् स्वय निर्यापकाचार्यरूप तथा व्यवहारनयसे—ससारसमुद्रसे पार उतारनेमे समर्थ निर्यापकाचार्यके लिये सौप दिया है अपना आत्मा जिसने ऐसा होता हुआ पूर्वोक्त प्रकारसे कषायके समान शरीरको कृश करके उस पूर्वगृहीत औत्सर्गिक मुनिलिंग-

को धारण करता हुआ निश्चयरत्नत्रयके अभ्याससे चरमगुणस्थानवर्ती योगी होता हुआ प्राणोको छोड कर मुक्त होता है। यह उत्कृष्ट सल्लेखना पक्षका व्याख्यान है। मध्यमाराधनापक्षमे—समीचीन सवर और निर्जरामे समर्थ रत्नत्रयकी भावनामे उपयुक्त होता हुआ इन्द्रादिकपदके अभ्युदयोका अधिकारी होता है। और जघन्याराधनापक्षमे पञ्च नमस्कार मन्त्रके उच्चारण वा स्मरण पूर्वक प्राणोको छोड कर आठ भवोमे मुक्त होता है। यह कथन सयतोकी अपेक्षासे है। श्रावकके पक्षमे—श्रावक मुनिसम्बन्धी लिंगको धारण करता हुआ [समीचीन रत्नत्रयकी भावनामे परिणत होता हुआ पञ्चनमस्कारपूर्वक प्राणोको छोड कर] यथायोग्य अभ्युदयोका भोगकर योग्यकालमे मुक्त होता है। विशेषार्थ—क्षपक मुनि निश्चयनयसे स्वय निर्यापकाचार्य होकर और व्यवहारनयसे निर्यापकाचार्यके लिए आत्मसमर्पण कर कषायके समान शरीरको कृश करके निश्चय रत्नत्रयके अभ्याससे चरमगुणस्थानवर्ती योगी होकर प्राणोका परित्याग कर मुक्त होता है। मध्यमाराधनापक्ष मे—समीचीन सवर और निर्जरामे समर्थ रत्नत्रयकी भावनामे उपयुक्त होकर इन्द्रादिकके अभ्युदयोका अधिकारी होता है। जघन्याराधना पक्षमे—पच नमस्कार मत्रके उच्चारण वा स्मरण पूर्वक प्राणोका परित्याग कर आठ भवके भीतर मुक्त होता है। और श्रावक मुनिलिंग धारण कर समीचीन रत्नत्रयकी भावनामे तत्पर होता हुआ पचनमस्कारपूर्वक प्राणपरित्याग कर यथायोग्य अभ्युदयोको भोग कर योग्यकालमे मुक्त होता है ॥११०॥

इति अष्टमोऽध्यायः ।

श्री पं० मेधावि-विरचित

धर्मसंग्रह श्रावकाचार

प्रथमोऽधिकारः

अथैकदा गणाधीश श्रेणिकं चेत्यभाषत । देशनां शृणु सम्यक्त्वालङ्कारालङ्कृतप्रभो ॥१
पूर्वापरसमुद्राप्तसमिलायूपरंध्रयोः । संयोगो दुर्लभो यद्वत्तदात्मनृजन्मनो ॥२
नरत्वं दुर्लभ जन्तोर्भ्रमतोऽस्य भवार्णवे । सिकताजलधौ भ्रष्टं वज्रवत्पारवर्जिते ॥३
बहूनां कर्मणां राजन् क्षयोपशमभावतः । मनुष्यकर्मणः पाके यदि प्राप्तं कथञ्चन ॥४
धर्मेण सफलं कार्यं तत्तदा दु खहारिणा । सुखाभिलाषिणा स्वस्य जलसेकेन सस्यवत् ॥५
आप्तेन भाषितो धर्म आप्तो दोषविवर्जित. । ते चाष्टादश विज्ञेया बुद्धिमद्भि क्षुधादय. ॥६
क्षुत्पिपासे भयद्वेषौ मोहरागौ स्मृतिर्जरा । रुग्मृती स्वेदखेदौ च मद स्वापो रतिर्जनि ॥७
विषादविस्मयावेतौ दोषा अष्टादशेरिता । एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः ॥८
आप्तोऽर्हन्वीतरागश्च केवली जिनपुङ्गव । देवदेवो जगन्नाथो वृषभादिश्च नामतः ॥९

किसी समय श्री गौतम गणधरने महाराज श्रेणिकसे कहा—राजन् ! सम्यक्त्वरूप पवित्र भूषणसे विभूषित श्री वीर जिनेन्द्रके उपदेशको सुनो ॥ १ ॥ यदि पूर्व समुद्रमे समिला डाल दी जाय और पश्चिमके समुद्रमे यूप डाल दिया जाय तो यूपके छिद्रका और समिलाका सम्बन्ध जितना दुर्लभ है उतना ही दुर्लभ आत्मा और मानव पर्यायका सम्बन्ध है ॥२॥ अति गहन इस भव समुद्रमे अनादिकालसे भ्रमण करते हुए जीवोको मानव जन्मकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है । जिस तरह अपार बालूके समुद्रमे गिरे हुए वज्ररत्नका पाना दुर्लभ है ॥३॥ हे राजन् ! अनेक जन्ममे उपार्जन किये हुए पापकर्मोका किसी तरह क्षयोपशम होनेसे और मनुष्य नाम कर्म के उदय आनेसे किसी तरह यह दुष्कर मानव जन्म मिला है। यदि तुम्हे दु खोके नाश करनेकी तथा सुखोके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है तो उसे धर्मका सेवन करके सफल करना चाहिये । क्योकि किसान लोग धान्यादिकोकी प्राप्ति होनेसे तब ही सुखी होते है जब पहले उनका जलसे सिंचन करते रहते हैं ॥४–५॥ जो सर्वज्ञका कहा हुआ है वही धर्म कहा जाता है। वह देव दोषोसे रहित होता है । वे दोष क्षुधादि अठारह प्रकारके है ॥६॥ क्षुधा, पिपासा, भय, द्वेष, मोह, राग, स्मृति, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, पसेव, खेद, मद, निद्रा, प्रीति, जन्म, विषाद और आश्चर्य इस प्रकार ये अठारह दोष हैं । जो इन दोषोसे अछूता होगा वही ससारका उपकारी आप्त (देव) कहलानेका भाजन कहा जा सकता है। और उसे ही निरजन कहना चाहिए ॥७-८॥ उक्त स्वरूपवाले निर्दोष देवको आप्त कहो, वीतराग कहो, केवली कहो, जिन श्रेष्ठ कहो, अथवा देवोका देव कहो, चाहे जगन्नाथ कहो, चाहे वृषभ, अजित, सभव आदि नामसे स्मरण करो। क्योकि ये सब उसीके पर्यायवाची नाम है ॥९॥ जब परमेश्वरमे दोषोका लेश भी नही है तो वह

दोषाभावात्कुतोऽसत्यं ब्रूतेऽय परमेश्वर.। अतस्तेनोदितो धर्मः प्रमाणं क्रियते बुधैः ॥१०
दोषवल्लोकदेवानां ब्रह्मादीनामुदाहृतम्। हिंसादिलक्षणं धर्मं तेन यः कुरुते समम् ॥११
बब्बूलं कल्पवृक्षेण शूकरं मत्तदन्तिना। मूढ स तुलयेत्क्षिप्रं वल्मीकं च सुराद्रिणा ॥१२
कुतस्ते दोषवद्देवा प्रत्यक्षादनुमानत। कंकणं दृश्यते पाणौ साध्यं सद्दर्पणेन किम् ॥१३
पितामहे समाचष्टे जपमालाऽन्यचिन्तनम्। कमंडलुजलापूर्णं तृषं विण्मूत्रजं मलम् ॥१४
आह स्त्रीजनसंसर्गो रतिरागो महेश्वरे। शूलादिश्च भयं द्वेषं मुकुटं मोहमूर्च्छनाम् ॥१५
विष्णौ चक्रगदा ब्रूते चापश्चारिगणाद्भयम्। पाञ्चजन्यश्च लोकानां विस्मयं वावदीति च ॥१६
बौद्धे रक्तपटीसंग स्वापं रागं च जल्पति। साक्षसूत्रोर्द्धहस्तश्च चिन्ताखेदमदादिकान् ॥१७
यद्येत एव देवा स्यु केऽन्ये भिल्लाश्च कामुका। देवत्वं भवतीत्यं चेत्तदा देवमयं जगत् ॥१८
अत संसारिणो जीवा यादृशास्तादृशा अमी। वाक्यं प्रमाणमेतेषां कुत स्वपरवञ्चकम् ॥१९
दृग्मोहवशत कश्चित्प्रमाणयति तद्वच। विषकुंभादसौ मूढ सुधां पातुं समीहते ॥२०
आप्तस्य वपुष शान्ताद्बुध्यतेऽन्तरदोषता। धूमाभावात्कुतो वह्निर्महत कोटरे तरो ॥२१

झूँठी बात बोल भी नही सकता। इसीलिये बुद्धिमान् लोग निर्दोप देवके कहे हुए धर्मको स्वीकार करते हैं ॥१०॥ ब्रह्मादि लौकिक देवोने जो दोपयुक्त और जीवोकी हिंसा करनेको धर्म बताया है उसे, और जो धर्म निर्दोप देवोंके द्वारा कहा गया है उन दोनोंको जो समान समझते हैं कहना चाहिये कि योग्यायोग्यके विचारसे रहित उन मूर्खोने बबूलकी कल्पवृक्षके साथ तुलना की है। शूकरकी बडे भारी मत्तगजराजके साथ समानता की है और वल्मीकको सुमेरु पर्वत समझा है ॥११-१२॥ जो लोग दोपयुक्त ब्रह्मादि देवोको देव कहते हैं उनका कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे सर्वथा बाधित है। इस विषयमे विशेष क्या कहा जाय जब हाथमे कंकण विद्यमान है तो वहाँ काचका उपयोग ही क्या होगा ? ॥१३॥ ब्रह्मदेव हाथमे तो माला फेरते थे और अन्तरंगमे स्वर्गकी उर्वशी नामकी देवांगनाको बसा रक्खी थी। और कमंडलुके जलसे जब तृषा पूर्ण नही हुई तब उन्हे अपवित्र पदार्थका सम्बन्ध रुचिकर हुआ था। यह तो ब्रह्मदेवकी जन्मपत्री है ॥१४॥ इसी तरह महादेव भी स्त्रीके संगमे लीन हो रहे हैं इसीसे उन्हें भवानीको अपना आधा शरीर बनाना पड़ा है इस कर्मसे उनमे राग और प्रीति कितनी थी इसका अनुभव हो जाता है। और उनके हाथमे त्रिशूल भी है इससे जाना जाता है कि वे द्वेपकी मूर्ति हैं। उनके मस्तक पर मुकुट भी है उससे उनके मोहका पता लगता है ॥१५॥ यही दशा विष्णुकी भी है। मालूम होता है उन्हे शत्रु लोगोसे बहुत भय रहता है इसीलिये तो चक्र, गदा और धनुप धारण करना पडे हैं। और उनके हाथका शंख लोगोको आश्चर्य उत्पन्न करता है ॥१६॥ बुद्धदेव भी अपने आत्माको इन्ही लोगोके समान बताते हैं। उनमे रक्तवस्त्रका संगम शयन और रागको बताता है तथा अक्षसूत्रसे युक्त ऊँचा उठा हुआ हाथ उनमे चिन्ता, दुःख, मद आदिका प्रादुर्भाव सूचन करता है ॥१७॥ यदि यही लोग देवता गिने जाने लगें तो फिर भील कामी आदि कौन कहे जावेंगे। और यदि ऐसे ही लोग देवता हैं तो फिर सारे जगत्को देवमय कहना चाहिये ॥१८॥ इस कारण जैसे संसारी जीव हैं उन्हींके समान ये भी हैं फिर अपने दूसरे जीवोंके ठगने वाले इनके वचनोको कौन प्रमाण मानेगा ? ॥१९॥ यदि कोई दर्शन मोहके अधीन होकर कुदेवोंके वचनोंको प्रमाण मानता है तो समझना चाहिए वह मूर्खात्मा विपके घटसे अमृतके पीनेकी इच्छा करता है ॥२०॥ देवताओके

**आप्तेन विशदो धर्मः परोपकृतये सताम् । गम्भीरध्वनिनाऽभाषि वर्णमुक्तेन नि स्पृहम् ॥२२
अनागारश्च सागारो मूलोत्तरगुणैर्युतः । अनागारो मुनेर्धर्मस्तावदास्ता पर श्रृणु ॥२३
भव्यपर्याप्तिवान्सञ्ज्ञी लब्धकालादिलब्धिक । सद्धर्मग्रहणे सोऽर्हो नान्यो जीव कदाचन ॥२४
आसन्नभव्यता कर्महानि सञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक् । देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीव सम्यक्त्वमश्नुते ॥२५
दृष्टिव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभुक्त्याख्या । ब्रह्मारभपरिग्रहमनुमतिरुद्दिष्ट इति धर्म· ॥२६
दर्शनेन सम मूलगुणाष्टक व्रतव्रजम् । सामायिकं प्रोषध च सचित्ताहारवर्जनम् ॥२७
दिवामैथुननार्यङ्गारभसंगेभ्य उज्झनम् । अनुमतोद्दिष्टाभ्या च प्राप्तास्ते प्राग्गुणप्रौढ्या ॥२८
आप्तात्परो न देवोऽस्ति धर्मात्तद्भाषितान्न हि । निर्ग्रन्थाद्गुरुरन्यो न सम्यक्त्वमिति रोचनम् ॥२९
जीवाऽजीवास्त्र वा बन्ध संवरो निर्जरा तथा । मोक्षश्च सप्त तत्त्वानि श्रद्धीयन्तेऽर्हदाज्ञया ॥३०**

वाहर शरीर मात्रसे यह वात जानी जा सकती है कि ये देवता शान्त स्वरूप है या नही ? जो देवता वाहर शस्त्रादि रहित होगे वे स्वय शान्त स्वरूप होगे। शस्त्र, अलकार, वस्त्रादिकोकी उनके लिये आवश्यकता ही क्या है ? ये तो जिन लोगोको किसीसे भय होता है अथवा जिनका ससारके साथ सम्वन्ध है उन्हीके पास देखे जाते हैं। परमात्मामे तो इनका अश मात्र भी सम्भव नही है क्योकि उनका स्वरूप कृतकृत्य कहा जाता है। यह वात ठीक भी है कि जब धूमका अभाव है तो वृक्षके कोटरमे अग्निका भी सम्भव नही होता ॥२१॥

उपर्युक्त स्वरूप वाले आप्तने अपनी गम्भीर वर्णमुक्त (निरक्षरी) वाणीसे निर्मल और जीवोंके कल्याणके करनेवाले धर्मका स्वरूप वर्णन किया है। इससे उस परमात्माको कुछ प्रयोजन नही है किन्तु केवल भव्यपुरुषोके उपकारके लिए किया है ॥२२॥ मूल गुण और उत्तर गुणसे युक्त मुनि धर्म तथा गृहस्थ धर्म है। ये धर्मके दो भेद हैं। अनगार (मुनि धर्म) तो इस समय रहे किन्तु गृहस्थ धर्मका हम वर्णन करते हैं उसे सुनो ॥२३॥ धर्मके ग्रहण करनेके योग्य वही जीव हो सकता है जो भव्य, पर्याप्तिवान्, सज्ञी और जिसे कालादि लब्धियाँ प्राप्त हो गई हैं। इनसे रहित जीव धर्मके ग्रहण योग्य कभी नही हो सकता ॥२४॥ निकट भव्यता, कर्महानि, सज्ञित्व और शुद्धि और जिसका उपदेशादिसे मिथ्यात्वका नाश हो गया है वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥२५॥ दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा, रात्रि-भुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट व्रत प्रतिमा, इस तरह ये ग्यारह प्रतिमायें गृहस्थोका धम है ॥२६॥ सम्यग्दर्शनके साथ आठ मूल गुणोका धारण करना, वारह व्रतोका पालना, सामायिक, प्रोपध, सचित्त आहारका त्याग, दिनमे मैथुनका त्याग, स्त्रियोके शरीरका त्याग, आरम्भका त्याग, तथा परिग्रहका त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग, ये क्रमसे उत्तरोत्तर एक एक करके धारण की जाती हैं। ये प्रकारान्तरसे ग्यारह प्रतिमाओके नाम कहे हैं ॥२७-२८॥ जिस देवका ऊपर यथार्थ लक्षण कहा गया है उससे अन्य तो कोई देव नही है। इन्ही आप्तसे कहे हुए धर्मको छोडकर और दूसरा धर्म जीवोके कल्याणका करनेवाला नही है। और सर्व तरहके परिग्रहसे रहित गुरुओको छोडकर कोई गुरु नही है। इन तीनोके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२९॥ जिसप्रकार श्री अर्हन्त भगवान्‌ने जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वोका वर्णन किया है उसी तरह उनका श्रद्धान करना चाहिये ॥३०॥ जिन भगवान्‌की आज्ञाके

तत्त्वार्थान् श्रद्दधानस्य निर्देशाद्यैः सदादिभि । प्रमाणैर्नयभंगैश्च दर्शनं सुदृढं भवेत् ॥३१
गृहीतमगृहीत च परं साशयिकं मतम् । मिथ्यात्वं न त्रिधा यत्र तच्च सम्यक्त्वमुच्यते ॥३२
संसर्गाज्जायते यच्च गृहीत तच्चतुर्विधम् । अज्ञानं विपरीतं हि एकान्तो विनयस्तथा ॥३३
एतदस्तीति येषा ते प्रोक्ता अज्ञानिकादय· । तेषां कुवादिनो भेदास्त्रिषष्ट्या त्रिशती मताः ॥३४
सप्तषष्टिरशीत्यामा शतं चतुरशीतिका । द्वात्रिंशत्क्रमशोऽज्ञानिकादीना च विशेषत· ॥३५
असियसयकिरियाण अक्किरिया हुंति चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणी वेनइया हुंति बत्तीसा ॥३६
अगृहीतं स्वभावोत्थमतत्त्वरुचिलक्षणम् । तन्निगोतादिजीवेषु दृगाढं चानादिसम्भवम् ॥३७
संशयो जैनसिद्धान्ते सूक्ष्मे सन्देहलक्षण । इत्थमेतदथेत्थं वा को वेत्तीति कुहेतुल ॥३८
त्रिमूढं च मदा अष्टौ षडेवाऽऽयतनानि च । शङ्कादयोऽष्टसम्यक्त्वे दोषा स्यु पञ्चविंशति ॥३९
सदोषा देवता लक्ष्म्याद्यर्थं सेवेत यन्नरा । अवादि देवतामूढमरागैर्विश्ववेदिभिः ॥४०
नद्यादे स्नानमह्यादेरर्च्चाश्मादेः समुच्चय । गिरिपातादि लोकज्ञैर्लोकमूढं निगद्यते ॥४१
सग्रन्था हिंसनारंभकृतो ये भववश्यगा· । तेषा भक्त्या परीष्टिर्यद्बोध्या पाखंडमूढता ॥४२

अनुसार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे तथा सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वसे, प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्षप्रमाणसे और नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इस तरह सात नयोसे पदार्थोके स्वरूपको ठीक ठीक समझकर तत्त्वोको श्रद्धान करनेवालेका सम्यग्दर्शन अत्यन्त गाढ़ होता है ॥३१॥ जिस तत्त्व श्रद्धानमे गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व और सशय मिथ्यात्व ये तीन प्रकारके मिथ्यात्व नही हैं उसे ही सम्यग्दर्शन कहते है ॥३२॥ जो मिथ्यात्व दूसरोकी संगतिसे होता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। वह अज्ञान, विपरीत, एकान्त और विनयके भेदसे चार प्रकारका है ॥३३॥ ये मिथ्यात्व जिन लोगोके होते हैं वे अज्ञानिक, सागयिक, वैनयिक आदि कहे जाते हैं। ऐसे लोगोके तीन सौ त्रेसठ भेद होते हैं ॥३४॥ अज्ञानिक मिथ्यात्वीके सरसठ (६७), वैपरीत्य मिथ्यात्वीके एकसौ अस्सी (१८०), एकान्त मिथ्यात्वीके चौरासी (८४) और वैनयिक मिथ्यात्वीके बत्तीस (३२) ये क्रमसे भेद हैं ॥३५॥ इस गाथाका तात्पर्य ऊपरके श्लोकके ही अनुसार है ॥३६॥ स्वभावसे जिन भगवान्के कहे हुए तत्त्वोमे अप्रीतिके उत्पन्न होनेको अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। और वह निगोदादि जीवोमे अनादिसे गाढ होता है ॥३७॥ अतिशय सूक्ष्म और गहन जैन सिद्धान्तमे खोटे कारणोसे, यह पदार्थ ऐसे है ? अथवा ऐसे है ? इसे कौन जानता है ? इत्यादि रूप सन्देह होनेको सशय मिथ्यात्व कहते है ॥३८॥ तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन तथा शङ्कादि आठ दोष इस तरह ये पच्चीस दोष सम्यक्त्वको मलिन करनेके कारण हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषोको इन दोषोका सम्पर्क भी नही होने देना चाहिये ॥३९॥ धन, पुत्र, कलत्रादिके लिये दोष युक्त देवोका जो लोग सेवन करते है उसे ही सारे ससारके जाननेवाले श्री वीतराग भगवान् देवमूढता कहते है ॥४०॥ नदी समुद्रादिमे स्नान करनेको धर्म मानना, पृथ्वी आदिके पूजनमे धर्म मानना, पत्थरोका ढेर करनेमे धर्म समझना, तथा पर्वतादिके ऊपरसे गिरकर आत्महत्या करनेमे धर्म मानना, इत्यादि मिथ्यात्वके कारणोको लोकोके देखादेखी करना ये सब लोकमूढता हैं ॥४१॥ अनेक प्रकारके परिग्रहको रखनेवाले, जीवोकी हिंसा रूप आरभके करने-वाले और जो पूर्णरूपसे इस ससारके वश हो रहे हैं ऐसे पाखडियोकी भक्तिपूर्वक सेवा पूजन

ज्ञानं पूजा तपो लक्ष्मी रूप जातिर्बलं कुलम् । याद्दग् मेऽन्यस्य नास्तीति मानो ज्ञेयं मदाष्टकम् ॥४३
कुदेवलिङ्गिशास्त्राणा तच्छ्रिता च भयादित । षण्णा समाश्रयो यत्स्यात्तान्यनायतनानि षट् ॥४४
नैर्ग्रन्थ्य मोक्षमार्गोऽय तत्त्व जीवादिदेशितम् । को वेत्तीत्थं भवेन्नो वा भावः शङ्केति कथ्यते ॥४५

राजा स्या पुत्रवान्स्या वा रूपी स्यां भोगवान्तथा ।
शीलादितोऽभिलाषो यत्काक्षादोषः स उच्यते ॥४६

रत्नत्रयपवित्राणां पात्राणा रोगपीडिते । दुर्गन्धादौ तनौ निन्दा विचिकित्सा मलं हि तत् ॥४७
कुमार्गे पथ्यशर्मणां तत्रस्थेप्यति सगतिः । त्रियोगैः क्रियते यत्र मूढदृष्टिरितीरिता ॥४८
प्रमादाज्जातदोषस्य जिनमार्गरतस्य तु । ईर्ष्ययोद्भासनं लोके तत्स्यादनुपगूहनम् ॥४९
परीषहोपसर्गाभ्या सन्मार्गाद्भ्रश्यता नृणाम् । स्वशक्तौ न स्थितिं कुर्यादस्थितीकरण मतम् ॥५०
साधर्मिकस्य सघस्य पीडितस्य कुतश्चन । न कुर्याद्यत्समाधानं तदवात्सल्यमीरितम् ॥५१
कुदर्शनस्य माहात्म्यं दूरीकृत्य बलादित । द्योतते न यदार्हन्त्यमसौ स्यादप्रभावना ॥५२
मलैर्मुक्तं भवेच्छुद्धं सम्यक्त्वं शातकुम्भवत् । तेनाऽलङ्कृत आत्माऽयं महार्घ्यः स्याज्जगत्त्रये ॥५३

करनेको पाखडमूढता कहते हैं ॥४२॥ ज्ञान, पूजा (प्रतिष्ठा), तपश्चरण, ऐश्वर्य, रूप (सौन्दर्य), जाति, बल और कुल ये जैसे हमारे हैं वैसे किसीके नही हैं इस तरहके खोटे अभिमानको मद कहते है ॥४३॥ कुदेव कुगुरु और खोटे शास्त्रोके तथा इनके सेवन करनेवालोके भयादिसे इनके सेवनको छह अनायतन कहते हैं ॥४४॥ सर्व परिग्रहको छोडकर मुनिमार्गके धारण करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी या नही ? तथा जीवादि तत्त्व ठीक है या नही ? इसे कौन जानता है इत्यादि सन्देह रूप आत्माके भावोके होनेको शका कहते हैं ॥४५॥ जो व्रत-शीलादि पालन करके, मै राजा होऊँ, मैं पुत्रवान् होऊँ, मै सुन्दर रूपका धारण करनेवाला होऊँ, मुझे अच्छी भोग सामग्रीकी प्राप्ति हो इत्यादि ससारीक विषयोमे जो अभिलाषा (गृध्नता) रखता है उसे आकाक्षा दोप कहते हैं ॥४६॥ सम्यग्दर्शनादिसे पवित्र मुनि आदि उत्तम पात्रोके रोगादिसे पीडित तथा दुर्गन्धयुक्त शरीरको देखकर ग्लानि करनेको तथा निन्दा करनेको विचिकित्सा दोष कहते है ॥४७॥ दु खोके देनेवाले खोटे मार्गमे तथा खोटे मार्गमे चलनेवालोके साथ मन, वचन और शरीरसे सम्बन्ध रखनेको मूढदृष्टि नाम दोष कहते है ॥४८॥ किसी धर्मात्मा पुरुषके असावधानीसे कोई दोष उत्पन्न हो जाय उसे ईर्ष्या बुद्धिसे लोगोके सामने प्रकट करना यह अनुपगूहन दोष है ॥४९॥ अर्थात्—कोई धर्मात्मा पुरुप यदि परीपह अथवा उपसर्गादिके आनेसे अपने दर्शन ज्ञान चारित्रादि-से च्युत होता हो उसे अपनी शक्तिके होने पर भी धर्ममे दृढ नही करनेको अस्थितीकरण दोष कहते है ॥५०॥

किसी कारणसे धर्मात्मा पुरुषो पर किसी तरहकी विपत्ति आ जाय उस समयमे उनके चित्तको किसी तरह समाधान न करनेको अवात्सल्य नामक दोष कहते हैं ॥५१॥ मिथ्या मतोके प्रचारको वल, प्रभाव आदिसे दूर करके जैनमतके माहात्म्यका प्रचार नही करनेको अप्रभावना कहते है ॥५२॥ जिस तरह सुवर्णका ऊपरी मैल दूर होनेसे वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है उसी तरह अनादि कालसे कर्मोके जालमे फँसा हुआ यह आत्मा अपने आगामी अच्छे होनहारसे सम्यक्त्व रूप भूपणसे अलकृत हो जाता है। उस समय तीनो लोकमे ऐसा कोई वहुमूल्य पदार्थ नही रहता जो आत्माके समान कहा जा सके ॥५३॥ जिस तरह रोग युक्त मनुष्योको पथ्य सहित औपध

सम्यक्त्वममलं चेत्स्यात्तदा कर्मशान्तये । सामर्थ्यमिह रोगाणां महौषधमिवाङ्गिनाम् ॥५४
दोषा शङ्कादयो ध्वस्तास्तदङ्गानि भवन्ति ते । विषदोषमारिका मृत्युदा तदा किं न सुधायते ॥५५
स्तेनो राजगृहे जातो निःशङ्कोऽञ्जननामकः । निःकाङ्क्षाऽनन्तमत्याख्या चम्पायां वणिजः सुता ॥५६
राजा निर्विचिकित्सोऽभूदुद्दायनोऽत्र रौरवे । अमूढदृष्टिका नाम्नी रेवती मथुरापुरे ॥५७
जिनदत्तस्ताम्रलिप्ते श्रेष्ठ्यभूत्सोपगूहनः । स्थितीकरणो वारिषेणो राजगृहे मतः ॥५८
हस्तिनानगरे चक्रे वात्सल्यं विष्णुना हितम् । कृता वज्रकुमारेण मथुरायां प्रभावना ॥५९
दर्शनं नाङ्गहीनं स्यादलं छेत्तुं भवावलिम् । मात्राहीनस्तु किं मन्त्रो विषमूर्च्छां निरस्यति ॥६०
सम्यक्त्वसममात्मीनं किमन्यद्भुवनोदरे । न मिथ्यात्वसमं किञ्चिदनात्मीनमिहात्मनाम् ॥६१
श्वाभ्रत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वेन हि मण्डिताः । सुरत्वे नरकायन्ते मिथ्यात्वेन च दण्डिताः ॥६२
तिर्यक्त्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वेन समायुताः । नृत्वेऽपि तिर्यगायन्ते मिथ्यात्वेन हि वासिताः ॥६३
मुहूर्त्तं येन सम्यक्त्वं संप्राप्य पुनरुज्झितम् । भ्रान्त्वाऽपि दीर्घकालेन स सेत्स्यति सर्वाचिरम् ॥६४

रोगोंके दूर करनेमे समर्थ होती है उसी तरह दुर्निवार कर्म रूप रोगोंके शान्त करनेके लिए दोष रहित सम्यक्त्व जैसा उपकारक है वैसा दूसरा कोई हितकारी उपाय नहीं है ॥५४॥ ऊपर कहे हुए शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन दोषोंके नाश कर देनेमे ये ही सम्यक्त्वके आठ गुण हो जाते है। यह बात ठीक भी है कि जो विष प्राणोका क्षण मात्रमे नाश कर देता है वही विष यदि शुद्ध किया हुआ हो तो अमृतके समान हो जाता है और अनेक प्रकारके रोगोको दूर कर देता है ॥५५॥ अब क्रमसे आठों अङ्गोंमे प्रसिद्ध होने वालोके नाम कहते हैं। राजगृह नगरमे अञ्जन चोरने निःशङ्क अङ्गका पालन किया था। किसी वैश्य श्रेष्ठीकी अनन्तमती बालिकाने चम्पापुरीमे निःकांक्षित अङ्गका पालन किया था। रौरव देशमे उद्दायन राजाने निर्विचिकित्सा अङ्गको धारण किया था। रेवती नामकी रानीने मथुरामे अमूढदृष्टि अगका यथोक्त पालन किया था। उपगूहन अगमे श्रीजिनदत्त सेठ प्रसिद्ध हुए हैं। स्थितीकरण अगके पालन करनेवाले श्रीवारिषेण मुनि राजगृह नगरमें प्रसिद्ध हुए हैं। हस्तिनापुरमे श्रीविष्णुकुमार मुनिने वात्सल्य अगका पालन किया है। और प्रभावना अगमें श्रीवज्रकुमार मथुरा नगरीमे प्रसिद्ध हुए है। इस कहनेका यह तात्पर्य समझना चाहिये कि यद्यपि ये पुरुष रत्न प्राचीन कालमे हुए हैं तथापि केवल एक एक अगके धारण करनेसे आज तक उनका यशोगान होता चला आता है। इसी तरह जो भव्य जीव शुद्ध सम्यक्त्व सहित इन अगोको धारण करेंगे वे भी इसी प्रकार ससारमे प्रसिद्ध होगे ॥५६-५९॥ जिस तरह अक्षर अथवा मात्राने हीन मंत्र विषसे उत्पन्न होने वाली मूर्छाको दूर नही कर सकता, उसी तरह अंगहीन सम्यग्दर्शन भी इस अपार भवावलीके नाश करनेको समर्थ नही हो सकता ॥६०॥ इस जीवका तीनों लोकमे सम्यक्त्वके समान कोई आत्मबन्धु नही है और मिथ्यात्वके समान दूसरा दुःखोका देनेवाला शत्रु नही है। इसलिये मिथ्यात्वका त्याग करके सम्यक्त्वको अगीकार करो। यही आत्माको कुमार्गसे बचाने वाला है ॥६१॥ यदि यह जीव नरकमे भी गया हो और वहाँ सम्यक्त्वसे भूषित हो तो समझना चाहिये कि वह देव ही है। और यदि सम्यक्त्व-रहित देव भी हुआ हो तो समझना चाहिये वह नरक ही मे गया है ॥६२॥ पशु होकर भी यदि सम्यक्त्व-युक्त है तो वह मनुष्य ही है और मनुष्य होकर यदि मिथ्यात्वसे युक्त है तो उसे पशु कहना चाहिये ॥६३॥ जो पुरुष एक मुहूर्त

निसर्गात्तद्भवेज्जन्तो· स्वयं तीर्थंकृतादिवत् । तच्चाधिगमतोऽन्येषा कृष्णादीना निमित्तत ॥६५
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं प्राक्कषायचतुष्टयम् । तेषामुपशमाज्जात तदौपशमिकं मतम् ॥६६
षण्णामनुदयादेकसम्यक्त्वस्योदयाच्च यत् । क्षायोपशमिक नाम सम्यक्त्व तन्निगद्यते ॥६७
सप्ताना प्रकृतीनां तत्क्षयात्क्षायिकमुच्यते । आदौ केवलिमूले स्यान्नृत्वे तदनुसर्वतः ॥६८
चञ्चलं निर्मल गाढं शान्तमोहान्तमादिमम् । सप्तमान्त चलागाढ समल वेदक मतम् ॥६९
क्षायिकं निर्मल गाढमचलं स्यादनन्तकम् । चतुर्थं गुणमारभ्य दर्शनानीह त्रीण्यपि ॥७०
सम्यक्त्वसंयुतो जीवो मृत्वा देवगति व्रजेत् । बद्धायुष्कस्ततः कश्चिच्छ्वभ्रं भोगभुवं पर ॥७१
असंज्ञी स्थावरा पञ्च पर्याप्तेतरभेदत· । तिस्र स्त्रियस्त्रयो देवा षट्श्वभ्राण्येषु नैति स. ॥७२
द्वे सम्यक्त्वेऽसख्यातान्वारान्गृह्णाति मुञ्चति । भवे भ्रमन्नय जीव क्षायिक तु न मुञ्चति ॥७३
क्षायिकी तद्भवे सिध्येत्कश्चित्कश्चित्तृतीयके । नृपश्वो. पतितायुष्क कश्चित्तुर्ये न सशयः ॥७४

मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त होकर फिर उसे छोड देते हैं वे बहुत काल पर्यन्त ससारमे भ्रमण करनेके बाद भी मरीचिके समान मुक्तिको प्राप्त होते है ॥६४॥ उस सम्यक्त्वके निसर्गज (स्वत स्वभावसे होने वाला) और अधिगमज (दूसरोके निमित्तसे होने वाला) इस तरह दो भेद है। निसर्गज सम्यग्दर्शन जिस तरह तीर्थंकरादिकोके होता है उसी तरह ससारी जीवोके भी होता है और कृष्ण आदिके समान अधिगमसे होने वाला सम्यग्दर्शन जातिस्मरण, जिनबिम्बके दर्शनादिसे होता है ॥६५॥ मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, और सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, और लोभ इन सातो प्रकृतिके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है ॥६६॥ मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, तथा अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, इन छह प्रकृतियोका उदय न होनेसे और सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेसे होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं ॥६७॥ ऊपर कही हुई सातो प्रकृतियोके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षायिक सम्यक्त्व जब होता है तब तो वह श्रीकेवली भगवान्‌के समीपमे और मनुष्य पर्यायके होने पर ही होता है। और होनेके बाद दूसरी गतियोमे भी साथ रहता है ॥६८॥ उपशम सम्यक्त्व चञ्चल, निर्मल, गाढ, तथा उपशान्त मोह गुणस्थान पर्यन्त रहता है। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सप्तमगुणस्थान पर्यन्त होता है तथा चलायमान, अगाढ और मल-सहित होता है। इसीका दूसरा नाम वेदक भी है ॥६९॥ क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल, गाढ, अचल, और अनत होता है। इन तीनो सम्यक्त्वका चतुर्थ गुणस्थानसे आरभ होता है ॥७०॥ सम्यग्दृष्टि जीव नियमसे देवगतिमे जाता है। परन्तु यदि पहले आयुका बन्ध हो गया हो तो कोई नरकमे अथवा भोगभूमिमे जाता है ॥७१॥ सम्यक्त्वसे जो जीव विभूषित होता है उसे असज्ञी पाँच प्रकारके स्थावर, अपर्याप्त, स्त्रीपर्याय, तीन प्रकारकी देव पर्याय और छह नरक इतनी गतियोमे जन्म धारण नही करना पडता है ॥७२॥ इस ससारमे भ्रमण करते हुए इस जीवने उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्वको असख्यात वार ग्रहण किये और छोडे हैं। अर्थात् ये दोनो सम्यक्त्व होकर भी छूट जाते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व हुए बाद नही छूटता है। अर्थात् मोक्षमे भी बना रहता है ॥७३॥ जिसे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया है वह उसी भवमे अथवा तृतीय भवमे नियमसे मोक्षमे जाता है। परन्तु यदि मनुष्य और पशु पर्यायमे जिसकी आयुका बन्ध हो गया है तो वह चौथे भवमे नियमसे मोक्षमे जायगा। इसमे किसी तरहका सन्देह नही समझना चाहिये ॥७४॥ जिन भगवान्‌के कहे हुए तत्त्वोमे सशयका करना,

शङ्का काक्षा विचिकित्सा पराशसनसंस्तवा । सम्यक्त्वस्य त्वतीचारा पञ्चेत्युक्ता जिनेश्वरैः ॥७५
मन्दिराणामधिष्ठान तरूणा सुदृढ जडम् । यथा मूल व्रतादीना सम्यक्त्वमुदितं तथा ॥७६
सम्यक्त्वे सति सर्वाणि फलवन्ति व्रतानि च । शून्यानि च वहून्यादौ यथैकाङ्के सति ध्रुवम् ॥७७
सम्यक्त्वेन हि सम्पन्न सम्यग्दृष्टिरुदाहृतः । सोऽस्ति तुर्यगुणस्थाने प्रसन्नान्तर्मुख सदा ॥७८
गुणास्तस्याष्ट सवेगो निर्वेदो निन्दनं तथा । गर्होपशमभक्ती च वात्सल्यमनुकम्पनम् ॥७९
सवेगप्रशमास्तिक्यदयाभि स परीक्ष्यते । सम्यग्दृष्टिर्वहिर्भागे व्रतवाञ्छापरायणः ॥८०

भूराज्यादिसदृक्कुवादिवशगो यः सर्वदृश्वाऽऽज्ञया
त्याज्य श करणोद्भवं स्वजमुपादेय त्विति श्रद्दधत् ।
स्तेन. खण्डयितुं धृतस्तलवरेणेव स्वनिन्दादिकृ-
दाक्ष सश्रयते वधत्यपि परं नो क्लिश्यते सोप्यघैः ॥८१

ससार सम्वन्धी भोगोकी अभिलापा रखना, धर्मात्मा पुरुपोके रोगादिसे पीडित शरीरादिको देख कर उसमे ग्लानि करना, मिथ्या दृष्टियोकी प्रशसा करना तथा उनकी स्तुति करना ये सम्यक्त्व व्रतके पाँच अतीचार हैं ॥७५॥ जिस तरह मकानोकी नीव जवतक अच्छी तरह मजवूत न होगी तव तक मकान चिरकाल पर्यन्त ठहर नही सकता । तथा वृक्षोके सुदृढ रहनेका मूल कारण जड है, उसी तरह कितने भी व्रत नियमादि धारण किये जायँ किन्तु जव तक सम्यक्त्व न होगा तव तक वे एक तरहसे व्यर्थ ही हैं । इसलिये व्रतादिकोका मूल कारण सम्यक्त्वको समझ कर पहले उसीके धारण करनेमे प्रयत्न करना चाहिये ॥७६॥ व्रत नियमादि सव सम्यक्त्वके होने पर ही सफल होते हैं और सम्यक्त्वसे रहित जोवके व्रतादि उसी तरह निष्फल हैं जिस तरह अकके विना विन्दुएँ निष्फल होती हैं ॥७७॥

जो सम्यक्त्व रत्नसे विभूपित होता है वही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है और वह चौथे गुण-स्थानमे होता है । सम्यग्दृष्टि पुरुप निरन्तर प्रसन्न चित्त होता है । उसे किसी तरहकी चिन्ता आधि व्याधि आदि नही दवाती हैं ॥७८॥ निरन्तर ससारके दु खोंसे डरना, ससार भोगादिकोंसे वैराग्य भाव होना, अपने दोषोकी निन्दा करना, अपने किये हुए पाप कर्मोकी आलोचना करना, परिणामोका हर समय शान्त रहना, देव गुरु शास्त्रादिमे अखंड भक्तिका होना, धर्मात्मा पुरुषो पर वात्सल्यका रखना तथा प्रत्येक जीवो पर दया वुद्धिका रहना, ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि पुरुषो-मे रहते हैं ॥७९॥ व्रत-धारण करनेकी इच्छामे तत्पर सम्यग्दृष्टि पुरुप वाहरसे सवेग, प्रशम, आस्तिक्य तथा दया वुद्धि इन चार गुणोंसे परीक्षा किया जाता है ॥८०॥ श्री जिनदेव कभी असत्यके वोलने वाले नही है ऐसा हृदयमे निश्चय करके उनकी आज्ञासे इन्द्रियोंसे होने वाले सुखो-को छोडने योग्य और अपने आत्मीय सुखको ग्रहण करने योग्य श्रद्धान करता हुआ, जिस तरह कोतवाल जिसे मारना चाहता है वह चोर पुरुष अपने पाप कर्मोकी निन्दा करता है, उसी तरह विपय सुखोसे विरक्त न होनेके कारण अपने आत्माकी निन्दाको करनेवाला होकर यदि अप्रत्या-ख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, की पराधीनतासे हिंसादि पञ्च पापोका तथा विपयादिको-का सेवन करता है तो भी वह दुखोको नही पावेगा । ऐसे ही पुरुप अविरतसम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं ॥८१॥ इस अपार ससारमे अनादि कालसे भ्रमण करते हुए जिन जीवोने सात कर्मोके उदयसे

य सप्तकर्मोदयजातदुःखं समन्वभूदादिविवर्जिते भ्रमन् ।
जिनेन्दुवाक्यामृतपाः सुमेधास्तद्धानितोऽनाकुलसौख्यमाप सः ॥८२

उत्पन्न होने वाले दु खोको भोगे है, जिन भगवान्के वचन रूपी अमृतके पीने वाले और बुद्धि मान् उन्ही भव्यात्माओने उन कर्मोके नाश हो जानेसे आकुलता रहित सुखको अपने हस्त गत किया है। तात्पर्य यह है कि—जो पुरुष श्री वीतराग भगवान्के वचनोको अपने हृदयमे धारण करेगा वह नियमसे मोक्षको प्राप्त होगा इसलिये आत्महितके अभिलाषी पुरुषोको जिन भगवान्के वचनोके ग्रहण करनेमे प्रयत्नशील होना चाहिये ॥८२॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पडितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
सम्यग्दर्शनस्वरूपवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकार ॥ १ ॥



द्वितीयोऽधिकारः

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः प्रत्यासन्नामृतः प्रभुः। स स्याच्छ्रावकधर्मार्हो धर्मः स त्रिविधो भवेत् ॥१
पक्षश्चर्या साधनञ्च त्रिधा धर्मं विदुर्बुधाः। तद्योगात्पाक्षिकः श्राद्धो नैष्ठिकः साधकस्तथा ॥२
मैत्र्यादिभावनावृद्धं त्रसप्राणिवधोज्झनम्। हिंस्यामहं न धर्मादौ पक्षः स्यादिति तेषु च ॥३
सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः। अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदकांक्षीह पाक्षिकः ॥४
दोषं संशोध्य संजातं पुत्रेऽन्यस्य निजान्वयम्। त्यजतः सद्मचर्या स्यान्निष्ठावान्नामभेदतः ॥५
दृष्ट्यादिदशधर्माणां निष्ठा निर्वहणं मता। तया चरति यः स स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुकः ॥६
स्यादन्तेऽन्नेहकायायानामुज्झनाद्ध्यानशुद्धिता। आत्मनः शोधनं ज्ञेयं साधनं धर्ममुत्तमम् ॥७
ज्ञानानन्दमयात्मानं साधयत्येष साधकः। श्रितापवादलिङ्गेन रागादिक्षयतः स्वयुक् ॥८
देशयमघ्नकोपादिक्षयोपशमभावतः। श्राद्धो दर्शनिकादिस्तु नैष्ठिकः स्वात्सुलेश्यकः ॥९
प्रारब्धो घटमानश्च निष्पन्नो योगधद्यमः। यस्याऽऽर्हतस्य स त्रेधा योगीव देशसंयमी ॥१०

जो सम्यग्दर्शनसे युक्त होता है और जिसकी संसार स्थिति बहुत निकट है वही पुरुष श्रावक धर्मके ग्रहण करनेके योग्य है। उस श्रावक धर्मके तीन भेद हैं ॥१॥ पक्ष, चर्या और साधन इन भेदोंमें धर्मके तीन भेद महर्षि लोगोंने कहे हैं। इन तीनों धर्मोंके धारण करनेसे पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इस तरह श्रावकके भी तीन भेद होते हैं ॥२॥ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार प्रकारकी भावनाओंसे वृद्धिको प्राप्त और दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रियादि जीवोंके वधके छोडनेको, तथा धर्मके लिये भी कभी जीवोंके नहीं मारनेको पक्ष कहते हैं ॥३॥ सम्यग्दृष्टि, अतिचार सहित मूल गुण और अणुव्रतका पालन करनेवाला, जिन भगवान्के पूजनादिमें अनुरागी तथा आगेके व्रतोंके धारण करनेकी इच्छा करनेवाला पाक्षिक श्रावक कहा जाता है ॥४॥ पहले कृषि आदिके आरम्भसे जो-जो दोष उत्पन्न हुए हैं उन्हें प्रायश्चित्तादिसे शोधन करके अपने घरके छोड़ने वालेको चर्या नामक धर्म होता है। नाम भेदसे उसे निष्ठावान् भी कहते हैं ॥५॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र और उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य इनके पालन करनेको निष्ठा (श्रद्धा) कहते हैं। जो साधन करनेकी उत्कण्ठासे युक्त होता है वह नैष्ठिक कहा जाता है ॥६॥ मरण समयमें अन्न और शरीरादिकोंमें ममत्वको छोडकर और ध्यानकी शुद्धिसे अपने आत्माका शुद्ध करनेको साधन नामक उत्तम धर्म कहते हैं ॥७॥ जो राग द्वेषादिकोंका नाश हो जानेसे अपवादलिङ्गको धारण करके समाधिमरण करनेवाले अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्माका साधन करते हैं वे साधक श्रावक कहे जाते हैं ॥८॥ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभके क्षयोपशम होनेसे दर्शन प्रतिमा आदिको धारण करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है, उसके पीत पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओंमेंसे कोई लेश्या होती है ॥९॥ जिस तरह साधु पुरुषोंके प्रारब्ध योग, घटमान योग और निष्पन्न योग ये तीन योग होते हैं उसी तरह अर्हन्त भगवान्को ही देव मानने वालेके प्रारब्ध (आरंभ किया हुआ) देशसंयम, घटमान (सम्पादन किया जाने वाला) देशसंयम और निष्पन्न (पूर्णताको प्राप्त हुआ) देश संयम ये तीन

आद्यो दर्शनिक श्राद्धो द्वितीयो व्रतिको मत । सामायिकी प्रोषधोपवासकृत्स्याच्चतुर्थकः ॥११
सचित्तदिवामैथुनविरतौ ब्रह्मचारिक । आरंभपरिग्रहानुमतान्मुक्तास्ततोद्दिष्टात् ॥१२
एकादशोपासकेषु षडाद्या गृहिणोऽधमा । वर्णिनोऽन्ये त्रयो मध्या उत्कृष्टौ भिक्षुकौ परौ ॥१३
पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शन । विरक्तो भवभोगाभ्यासर्हदादिपदार्च्चक ॥१४
मलात्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुक । न्याय्या वार्त्ता वपु.स्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः ॥१५
विषयानजस्रं हेयाज्ञानतोऽप्यर्हदाज्ञया । मोक्तु मोहादशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१६
तावदाज्ञा जिनेन्द्रस्य श्रद्दधद्वधमुज्झितुम् । अष्टौ मूलगुणान्याति य पीठं धर्मपादपे ॥१७
मद्यमासमधुत्यागं पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । सातिचार बुधा आहुरष्टौ मूलगुणानिति ॥१८
मद्यद्रवमया जीवा म्रियन्ते स्थावरास्त्रसाः । अनेके मद्यपानेन तस्मान्मद्य परित्यजेत् ॥१९
दैवाद्यदि समुद्भूता मद्यबिन्दुलवेऽङ्गिन । प्रसरन्ति तदा नूनं पूरयन्त्यखिलं जगत् ॥२०
मूर्च्छा कम्प श्रम खेदो वैमुख्य रक्तदृष्टिता । गतिभङ्गादयोऽन्येऽपि दोषा स्युर्मद्यपानत ॥२१

देशसयम होते है । उसे देशसयमी कहते है ॥१०॥ पहली प्रतिमाको धारण करनेवाला दर्शनिक श्रावक कहा जाता है। दूसरो प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रतिक कहा जाता है। इसी तरह तीसरी प्रतिमाके धारण करनेवालेको सामायिकी कहते है। प्रोषधोपवासका करने वाला चौथा श्रावक कहा जाता है। सचित्तविरत पाँचवी प्रतिमाका धारण करनेवाला होता है। छठी प्रतिमाका धारण करनेवाला दिनमे मैथुनका त्यागी होता है। सातवो प्रतिमाको धारण करने वाला ब्रह्मचारी कहा जाता है। आठवी प्रतिमा वाला आरम्भका त्यागी होता है। नवमी प्रतिमा-का धारक परिग्रहका त्यागी होता है। दशमी प्रतिमाका धारक ससार सम्बन्धी कृषि विवाहादि-कार्योमे मन, वचन, कायसे सम्मति देनेका त्यागी होता है। ग्यारहवी प्रतिमाका धारक अपने निमित्तसे बनाये हुए भोजनका त्यागी होता है ॥११-१२॥ इन ग्यारह प्रतिमाओके धारण करनेवालोमे आदिके छह जघन्य श्रावक कहे जाते हैं। ब्रह्मचारी आरभत्यागी और परिग्रहत्यागी ये तीन मध्यम श्रावक कहे जाते है और बाकी दो प्रतिमाओके धारण करनेवाले उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते है। इन्हे सामान्यतासे उत्कृष्ट भिक्षुक भी कहते है ॥१३॥ पाक्षिक श्रावक सम्बन्धी आचारादिकोसे जिसने अपने सम्यग्दर्शनको शुद्ध कर लिया है, जो ससार और विषयादिसे विरक्त है, सदा अर्हन्त भगवान्‌के पूजनादि करनेवाला है, मूल गुणोके दोपोका सर्वथा नाश करके आगे-की प्रतिमाओके धारण करनेमे उत्कठित तथा अपने शरीरकी स्थितिके लिए न्याय युक्त आजीविका-का करनेवाला है वही दर्शनिक (दर्शन प्रतिमाका धारक) कहा जाता है ॥१४-१५॥ जिन भगवान्‌-की आज्ञासे विपयादि निरन्तर छोडने योग्य है ऐसा जानता हुआ भी जो चारित्रमोहके उदय ये उनके छोडनेको असमर्थ है उसीके गृहस्थ धर्मकी अनुमति दी गई है ॥१६॥ जिन भगवान्‌की आज्ञाका श्रद्धान करता हुआ हिंसाके छोडनेके लिये जो आठ मूल गुणोको धारण करता है समझना चाहिये उस पुरुषने धर्म रूप वृक्षके ऊपर चढनेके लिए मूल पीठको प्राप्त कर लिया है ॥१७॥ अतिचारसे युक्त मद्य, मास, मधु, तथा पञ्च उदुम्बर फलके त्यागनेको महर्षि लोग आठ मूल गुण कहते हैं ॥१८॥ मद्यके पीनेसे मद्यमे उत्पन्न होने वाले स्थावर और त्रस जीवोका घात होता है, इसलिये मदिराका परित्याग करना चाहिए ॥१९॥ यदि मद्यके उत्पन्न होने वाले जीव फैलने लगें तो सारे ससारको निश्चयसे पूर्ण कर देगे ॥२०॥ मद्यके पीनेसे केवल जीवोका ही घात नही

रथ्यायां पतितो मत्त आगत्य श्वा तदानने । श्वेद्यदि विलभ्रान्त्या ब्रूतेऽन्यद्देहि मे ॥२२
मद्यपो मातरं ब्रूते त्वमेहि त्वा रमे भृशम् । भार्याञ्च तव पुत्रोऽहं स्तनपानेन पालय ॥२३
सज्जनानङ्गजान्बन्धून् शत्रूनिव सुमारयेत् । क्रुद्धः सन् गृहभाण्डानि स्फोटयत्याशु यष्टिना ॥२४
मृत्वैति नरकं घोरं मद्यपानेन पापधी । चक्षुस्पन्दमिति यत्र न सुखं जायतेऽङ्गिनाम् ॥२५
तन्मुखेऽन्ये ज्वलत्ताम्रद्रवं क्षिप्त्वा वदन्ति च । पिब मद्यमिदं पाप रोचतेऽद्यापि ते भृशम् ॥२६
ततो निर्गत्य तिर्यक्षु पीडितेषु क्षुदादिभिः । परस्परविरुद्धेषु महते वेदनामसौ ॥२७
कश्चिन्मत्तेन भिल्लेन रुद्धो गङ्गां व्रजन्द्विजः । मद्यमांसाङ्गनास्वेकतमं चेद्भोक्ष्यसे तदा ॥२८

मुञ्चे नो चेन्निहन्मि त्वां श्रुत्वाऽसावित्यचिन्तयत् ।
भक्ष्यं मांसं न जीवाङ्गाद्भिल्ली सेव्याऽधमा च नो ॥२९

तस्माद्गुडोदकाद्युत्थं मद्यं पीत्वा व्रजाम्यतः । पीतं तेन ततो भ्रान्त्या तद्द्वयं चाऽभजत्त्वसौ ॥३०
मत्वेति दोषवत्त्याज्यं मद्यं चित्तभ्रमप्रदम् । चित्तभ्रमेण मत्तोऽसौ कान्यकार्याणि नाऽऽदरेत् ॥३१

होता, किन्तु मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रोका लाल होना, तथा गमन करनेके समय पाँवोका इधर उधर गिरना इत्यादि अनेक दोष होते हैं ॥२१॥ मदिराके पीनेसे उन्मत्त होकर मनुष्य जब कही गलियोमे गिर पडता है, तब बिलकी शङ्कासे कुत्ता उसके मुँहमे मूतने लगता है तो वह उन्मत्त कहता है कि मुझे और देओ ॥२२॥ मदिराका पीने वाला अपनी मातासे कहता है कि तुम इधर आओ तुम्हारे साथ मै विषय सेवन करूँ। और अपनी स्त्रीसे कहता है कि अयि जननि ! मैं तुम्हारा पुत्र हूँ मुझे अपने स्तनोका दूध पिला कर पालो ॥२३॥ मद्यका पीने वाला सज्जन पुरुषोको, अपने लडके लडकीको, और अपने बन्धु लोगोको शत्रुकी तरह मारता है। तथा क्रोधी होकर अपने ही घरके बर्तन वगैरहको शीघ्र ही लकडीसे फोड डालता है ॥२४॥ मदिराका पीने वाला वह पापात्मा अपने दुष्कर्मोके फलसे मर कर घोर दुःखोके प्रधान स्थान नरकमे जाता है। जहाँ नेत्रोके निमेष लगने मात्र भी जीवोको सुख नही होता है ॥२५॥ नरकोमे मद्य पीने वाले जीवोके मुखमे नारकी लोग जलते हुए ताँबेको डाल कर कहते हैं कि रे पापी ! इस मद्यको पी, तुझे तो मद्य बहुत रुचिकर लगता है ॥२६॥ वह जीव नरकोमे अनेक तरहके दुःखोको भोग कर आयुके अन्तमे नरकोसे निकल कर तिर्यञ्च योनिमे पशु पर्यायको धारण करता है जिस पर्यायमे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, ताडन, छेदन, भेदन आदि अनेक प्रकारकी बाधाएँ निरन्तर बनी रहती हैं। इतने पर भी परस्पर विरुद्ध पर्यायमे और भी दुष्कर दुःखोकी वेदनाएँ सहन करनी पडती हैं ॥२७॥ किसी समय एक ब्राह्मण गंगा स्नानके लिये जाता था, रास्तेमे उसे एक उन्मत्त भील मिला, भीलने ब्राह्मणसे कहा कि यदि तुम मद्य मास अथवा स्त्री इन तीन वस्तुओमेसे किसी एकका उपभोग करोगे तो मैं तुम्हे आगे जानेके लिए छोडूगा। यदि मेरा कहना नही करोगे तो मैं इसी समय तुम्हे मार दूँगा। इस बातको सुन कर ब्राह्मण विचारमे पड गया। उसने सोचा अब क्या करना चाहिये। अन्तमे उसने निश्चय किया कि—मास तो जीवोके मारनेसे उत्पन्न होता है इसलिये खानेके योग्य नही है और यह भिल्लनी नीच जाति है इसलिये यह भी ब्राह्मणोके सेवन करनेके योग्य नही है। हाँ बचा मद्य, सो यह तो गुड जलादिसे बनाया जाता है। इससे इसके पीनेमे कोई हानि नही है। इसी भ्रान्तिमे उसने मद्यको पी लिया। मद्यके पीते ही उसने मास तथा उस भिल्लनीका भी उपभोग किया ॥२८–३०॥ इस तरह अनेक प्रकारके दोषोंके स्थानभूत और चित्तमे भ्रान्तिको पैदा करनेवाले मद्यको छोड देना चाहिये। क्योकि उन्मत्त

इहाऽमुत्रेति तन्मत्वा दु खदं यस्त्यजेत्त्रिधा । सत्सम्बन्धमकुर्वाण स स्यान्मद्यव्रती जन ॥३२
वीभत्सु प्राणिघातोत्थ कृमिमूत्रमलाविलम् । स्प्रष्टुं द्रष्टु सता नार्हं तन्मासं भक्ष्यते कथम् ॥३३
पाषाणाज्जायते नैव न काष्ठान्न मृदादित । पशुघातोद्भव सद्भिस्तन्मासं कथमश्यते ॥३४
यस्याऽहं मासमद्म्यत्र प्रेत्य मा स समत्स्यति । एता मासस्य निर्युक्तिमाहु· सूरिमतल्लिका ॥३५
फलसस्यादिवद्भक्ष्यं मास नो दोषवद्वदेत् । कश्चिदेवं तमाहार्यो नेत्थं भेदं निशामय ॥३६
द्विधा जीवा विनिर्दिष्टा जङ्गमस्थावरा बुधै· । जङ्गमेष्वस्ति मांसत्व फलत्वमितरेषु च ॥३७
यद्यन्मासमिह प्रोक्तं स स जीवोऽस्त्यसंशयम् । यो यो जीवो न तत्तद्धि मास सर्वं इति श्रुतम् ॥३८
यद्वत्पितास्ति गोधोऽत्र स सर्वं पितृको न हि । आम्रवृक्षोऽस्ति वृक्षो न सर्वोऽप्याम्रमय किल ॥३९
पेश्यां मासस्य पक्वायामपक्वाया निगोतजा· । उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते सद्य सम्मूर्च्छिनो नरा ॥४०
उत्पत्तिस्थानसाम्यत्वाद्भक्ष्य मांस तु दुग्धवत् । यो वक्तीत्थं संसोध्य एभिर्वाक्यैर्जिनोदितै ॥४१

पुरुष चित्तकी भ्रान्तिसे किन-किन अनर्थोको नही करते हैं ? अर्थात् सभो अनर्थोको करते है ॥३१॥ इस तरह मद्यको दोनो लोकोमे दु खका देनेवाला समझ कर जो मद्यको छोडते हैं अथवा मन, वचन और कायसे मद्यका सम्वन्ध तक भी नही होने देते है वे ही मद्य व्रती (मदिराके छोडने वाले) कहे जाते हैं ॥३२॥ जिसके देखने मात्रसे आत्मामे ग्लानि पैदा होती है, जो जीवोके मारनेके बिना उत्पन्न ही नही होता तथा कीड़े, मूत, पुरीष (विष्टा) इत्यादि महा अपवित्र पदार्थोसे युक्त होता है, जिसे सज्जन पुरुष देखना तक अच्छा नही समझते उसका स्पर्श तो दूर रहे, वही मास खानेके योग्य कैसे हो सकता है ? दुष्ट लोग उसे भी खा जाते हैं यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥३३॥ मास न तो पाषाणसे उत्पन्न होता है और न काष्ठसे तथा मिट्टी आदिसे पैदा होता है, जिससे वह पवित्र और खानेके योग्य समझा जाय ? किन्तु बिचारे निरपराध जीवोके वध करनेसे होता है। इसलिये सज्जन पुरुप उसके भक्षण करनेको कैसे उत्तम समझ सकते है ॥३४॥ इस लोकमे जिन जीवोका मै मास खाता हूँ पर लोकमे वे भी मेरे मासको खावेंगे, बडे वडे महर्षि लोग मास शव्दकी इस तरह निर्युक्ति करते हैं ॥३५॥ कदाचित् कोई मासके विषयमे यो कहने लगे कि फल तथा धान्य वगैरह जिस तरह खानेके योग्य है उसी तरह मास भी खानेके योग्य है। उसमे किसी तरहका दोष नही। ऐसे लोगोके प्रति वुद्धिमान् पुरुषोको उत्तर देना चाहिये कि यह कहना तुम्हारा ठीक नही है उसे सुनो ॥३६॥ वुद्धिमान् लोगोका कहना है कि जगम (चलने फिरने वाले) और स्थावर इस तरह जीवोके दो भेद हैं। उनमे जगम जीवोका मास होता है और स्थावरोमे फल होते है ॥३७॥ इस ससारमे जो मास कहा जाता है वह निश्चयसे जीव है और जो जीव है वह मास नही है। ऐसा सर्व जगह सुना जाता है ॥३८॥ जिस तरह पिता गोत्र हो सकता है परन्तु गोत्र मात्र पिता नही हो सकता। उसी तरह आम्रके वृक्षको तो वृक्ष कह सकते है परन्तु वृक्ष मात्रको आम्र वृक्ष नही कह सकते। इसी तरह मासको जीव कह सकते है परन्तु जीव मात्रको मास नही कह सकते। यही कारण है कि स्थावर यद्यपि जीव कहे जाते हैं परन्तु उनमे मासका व्यवहार नही होता ॥३९॥ मास पिंड चाहे पका हुआ हो अथवा अपका, उसमे निरन्तर निगोदिये जीव तथा सम्मूर्च्छन (अपने आप पैदा होने वाले) जीव उत्पन्न होते है और मृत्युको प्राप्त होते रहते हैं। इससे मास सत्पुरुषोके खाने योग्य नही है ॥४०॥ कदाचित् मासके सम्वन्धमे कोई यो कहने लगे कि—जिस तरह दुग्ध जीवसे उत्पन्न होता है उसी तरह मासकी भी उत्पत्ति है। ऐसे

ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी । विषद्रो पत्रमारोग्यकृन्मूलं मृतिकृद्भवेत् ॥४२
पशुर्न हन्यते नैव हान्यते नैव दृश्यते । अन्यथा भक्षणे नैव दोषो मांसस्य विद्यते ॥४३
यो वक्तीति तमाहार्यो मृतस्यापि स्वयं पले । स्पृष्टे स्यार्द्धिसको यत्र भक्षिते तत्र किं न हि ॥४४
योऽस्ति मांसं स्वपुष्टचर्थं तस्मिन्निह पलाशिनि । दयाधर्मः कुतो वह्निदग्धवृक्षे फलादिवत् ॥४५
मातापित्रादिसम्बन्धो भवे जातोऽङ्गिभिः सह । तेन ते मारिताः सर्वे पशून्मारयितामिषे ॥४६
तृणाश. पतितश्चाक्षिण यस्य दु खायते तराम् । ज्ञातदु खोऽपि हा हन्ति शस्त्रेण श्वापदान्स किम् ॥४७
य स्वमासस्य वृद्धचर्थं परमासानि भक्षति । जिह्वारसग्रहग्रस्तस्तच्चरित्रेण पूर्यताम् ॥४८
सोऽधमो नरक गत्वा भुक्त्वा दु.सहवेदनाम् । तिर्यग्गतौ तत पापाद्वंभ्रमीति भवार्णवे ॥४९
बुद्ध्वेति दोषवद्धीमान्मुञ्चेद्योगैः कृतादिभिः । तत्सगमपि यः सोऽत्र मासत्यागव्रती भवेत् ॥५०
अत्रान्तरे शृणु श्रीमन् श्रेणिक गौतमोऽवदत् । येन प्राप्तं जिनोद्दिष्टं मांसनिर्वृत्तित. फलम् ॥५१

पुरुपोके प्रति जिन भगवान्‌के वचनोका आश्रय लेकर यो उत्तर देना चाहिये ॥४१॥

दुग्ध तो ग्रहण करनेके योग्य है परन्तु मास ग्रहणके योग्य नही है इसमे हम क्या कहे वस्तुकी गति ही अनादिसे इस प्रकार है। यही बात इस उदाहरणसे स्पष्ट की जाती है—विषके वृक्षका पत्र तो रोगोको दूर करनेवाला होता है और उसका मूल (जड़) मृत्युका देने वाला होता है। जिस तरह एक ही वृक्षसे पत्र और मूलकी उत्पत्ति होने पर भी दोनोकी गति विचित्र है उसी तरह मास और दुग्धके विषयमे भी समझना चाहिये ॥४२॥ हम पशुको न तो स्वय मारते हैं न उसे दूसरे लोगोंके द्वारा मरवाते हैं और न मरा हुआ देखते है जब ये तीनो बातें नही देखी जाती हैं फिर मासके खानेमे कोई दोष नही है, जो लोग ऐसा कहते हैं, बुद्धिमान् पुरुषोंको उन लोगोके लिए यो उत्तर देना चाहिये—यदि तुम्हारे कहनेको माना जाय तो अपने आप से मरे हुए जीवके मास-का स्पर्श करने मात्रसे जब हिंसक हो जाता है तो उसके भक्षणमे क्या हिंसक नही कहा जायगा ? अर्थात् अवश्य कहा जायगा ॥४३-४४॥ जो अपने शरीरकी पुष्टिके लिये जीवोंके मासका भक्षण करते हैं उन पुरुषोमे दयाधर्मका अङ्कुर भी नही हो सकता। जैसे अग्निसे जले हुए वृक्षमे फल पुष्पकी उत्पत्ति नही हो सकती है ॥४५॥ इस ससारमे इस जीवके जीवोके साथ अनेक बार माता पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्री, आदि अनेक सम्बन्ध हुए है। इसलिये जिसने मांसकी लोलुपतासे विचारे निरपराध दीन पशुओको मारा है समझना चाहिये उसने अपने माता, पिता, आदिको ही मारा है ॥४६॥ नेत्रोंमे गिरे तृणकी वेदनाको जानते हुए भी दुष्ट लोग विचारे निरपराध पशुओंके गले पर छुरी क्यो चलाते है ? इस बातका बहुत खेद है ॥४७॥ जो लोग जिह्वाके रसकी लालसामे फँसकर अपने मासकी वृद्धिके लिए दूसरे जीवोंके मासको खाते हैं, उन दुष्ट पुरुषोंके दुश्चरित्रोका वर्णन हम नही कर सकते। उनके इतने ही चारित्रोसे पूरा पडे ॥४८॥ मासके खाने वाले नीच पुरुष नरकमे जाकर और वहाँ नाना तरहकी दु सह वेदनाओको भोग कर नरकसे निकलते है फिर उसी पापसे तिर्यञ्च गतिमे भ्रमण करते रहते है। उन पापी पुरुषोंके लिए यह भव समुद्र बहुत गहन है ॥४९॥ इस तरह मासको दु ख और पापका मूल कारण समझ कर जो बुद्धिमान् मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदनासे मांसके स्पर्श तकको छोड देते हैं, वे ही लोग मास त्याग व्रती कहे जाते है ॥५०॥ इसी अवसरमे भगवान् गौतम स्वामीने महाराज श्रेणिकसे कहा—हे श्रीमन् ! जिसने मासके छोडनेसे जिन भगवान्‌के कहनेके अनुसार फल पाया

आसीत्खदिरसाराख्य किरातो विन्ध्यकानने । समाधिगुप्तिनामानं मुनिं दृष्ट्वा ननाम स ॥५२
मुनिनोचे तदा भिल्लो धर्मलाभोऽस्तु ते वर । को धर्मस्तस्य लाभ' क पृष्टस्तेन पुनर्मुनि ॥५३
धर्मो मासादिनिर्वृत्तिस्तत्प्राप्तिर्लाभ उच्यते । तत. स्वर्गादिज सौख्यं प्राप्यते हेलया नरैः ॥५४
निशम्याचिन्तयद् भिल्लो नालं तन्मोक्तुमस्म्यहम् । क्रियते किं ? तदाऽऽकूत मत्वेत्यूचे स भिक्षुणा ॥५५
काकमासं त्वया पूर्वं भक्षितं वत्स ! वा न वा । अद्य यावन्न मे भुक्त तद्व्रत तर्हि गृह्यताम् ॥५६
यत्किञ्चिन्मुच्यते वस्तु तत्तन्नियमपूर्वकम् । यदा तदा भवेद्धर्मो न धर्मो नियमं विना ॥५७
अनुक्ता नैव लभ्येत धने दत्तेऽपि कस्यचित् । धन दत्वा निज वृद्धिर्वणिग्भि किन्न तूच्यते ॥५८
इति लात्वा व्रतं तस्य प्रणम्य स्वगृहं गतः । कालान्तरे समुत्पन्नस्तस्य रोगोऽतिदु सहः ॥५९
कुटुम्बेन तदाऽऽहूतो भिषग्विज्ञाय तद्रुजम् । तेनोक्तं काकमासेन विना रोगो न शाम्यति ॥६०
प्राणा यान्तु न भक्षामि तत्क्वापीत्यवदद्गदी । व्रतभङ्गोऽत्र दु खाय प्राणा जन्मनि जन्मनि ॥६१

है उसकी कथाको तुम सुनो ॥५१॥ विन्ध्याटवीमे खदिरसार नामक एक भील रहता था। एक दिन उसने श्री समाधिगुप्त मुनिराजको देखा और उन्हे प्रणाम किया ॥५२॥ उस समय मुनिराजने उस भीलसे कहा कि—'तुझे धर्म लाभ हो'। 'तुझे धर्म लाभ हो' इन वचनोको जब भीलने सुना तब मुनिराजसे पूछा—महाराज! आपने जो धर्म लाभ कहा, वह धर्म क्या है ? और उसका लाभ क्या है ॥५३॥ तब मुनिराजने कहा—मास, मदिरा, मधु आदि अपवित्र पदार्थोके त्यागनेको धर्म कहते है और इनके त्याग रूप धर्मकी प्राप्ति होनेको लाभ कहते है। इस धर्मको जो पुरुष धारण करते हैं उन्हे स्वर्गादिकोके उत्तम सुख सकल्प मात्रसे मिलते है ॥५४॥

मांसके छुडाने रूप मुनिराजके वचनोको सुनकर भील विचारमे पड गया कि मासके छोडनेको तो मै समर्थ नही हूँ अब क्या करना चाहिये ? मुनिराजने उसके अभिप्रायोको समझकर भीलसे कहा ॥५५॥ हे वत्स! तूने पहले कभी काकका मास खाया है वा नही ? इन वचनोको सुनकर भीलने कहा—महाराज! मैने अभी तक काकका मास नही खाया। यह सुनकर मुनिराजने कहा—यदि तूने काकका मास नही खाया है तो अबसे काकके मासको छोड दे ॥५६॥ यद्यपि तूने काकका मास नही खाया है परन्तु इससे तेरे व्रत नही हो सकता। क्योकि किसी वस्तुका जो त्याग होता है वह नियम पूर्वक होता है और जब नियम होता है तब ही धर्म होता है क्योकि नियमके विना धर्म हो ही नही सकता ॥५७॥ किसीको धनके देनेपर भी जब तक उससे व्याज आदिका निर्द्धार नही किया जाता, तब तक दिये हुए धनकी वृद्धि नही होती। यही कारण है कि धनवान् लोग द्रव्यके उधार देते समय व्याज वगैरहका निश्चय कर लेते है। उसी तरह नियमके विना वस्तुका छोडना लाभकारी नही हो सकता, इसलिये किसी वस्तुका त्याग नियमपूर्वक करना चाहिये ॥५८॥ इस तरह मुनिराजके वचनोको सुनकर उस भीलने व्रतको ग्रहण किया और मुनिराजको नमस्कार करके अपने घर गया। कुछ समयके बाद उस भीलके अत्यन्त दु सह रोग उत्पन्न हुआ ॥५९॥ भीलके रोगको दिनोदिन बढता हुआ देखकर उसके घरवालोने रोगकी शान्तिके लिये वैद्यको बुलाया। वैद्यने रोगकी परीक्षा करके कहा कि यह रोग जब तक इसे काकका मांस न खिलाया जायगा तब तक कभी शान्त नही होगा ॥६०॥ जब भीलने सुना कि काकके मासके विना रोग नही जायगा, तब वह बोला कि—चाहे मेरे प्राण भले ही चले जायँ, परन्तु मै काकका मास कभी नही खाऊँगा। क्योकि प्राणोका नाश तो केवल यही दु खके लिये होगा और व्रतभग तो जन्म जन्ममे दु खोका देनेवाला है ॥६१॥ मुनिराजके पास जो मैने व्रत लिया है

तपोधनसमीपे यद्गृहीतं तद्व्रतं मया । प्राणान्तेऽपि न तत्त्याज्यं त्यागे पुरुषता कुतः ॥६२
श्रुत्वेति तैः कृतो मन्त्रः कथमप्यत्त्यसौ पलम् । विना मित्रोपदेशेन किं भक्षति कृतव्रतः ॥६३
तदा तत्स्वसृनाथाय श्रीसौरपुरवासिने । सूरवीराय तैर्लेखोऽदाय्येतव्यं लघु त्वया ॥६४
लेखनदर्शनमात्रेण स चचाल निजात्पुरात् । पथाऽग्रान्दृष्टवान्यक्षीं रुदन्तीं वटपादपे ॥६५
तेन पृष्टा तदा का त्वं कथं रोदिषि सुन्दरि । अहं यक्षी स ते श्यालो भर्त्ता मे भविता व्रतात् ॥६६
गत्वाऽधुना तकं मांसं भोजयित्वा नयिष्यसि । नरकं रोदिमीत्येवं श्रुत्वेति निजगाद सः ॥६७

श्रद्धेहि यक्षि ! नो तस्य भोजयामीति मे वचः ।
तामाश्वास्य क्रमेणाऽयाद् भिल्लपल्लीं च तद्गृहम् ॥६८

प्रियश्यालक ! काकस्य मांसं भुङ्क्ष्वाऽऽमयापहम् । तत्परीक्षार्थमेतत्स उक्तवान् तं वचो मुहुः ॥६९॥
उवाच तं गदी मे त्वं सुहृत्प्राणसमोऽसमः । निन्द्यवाक्यन्तु वा वक्तुं युक्तं स्यादिति किं तव ॥७०
ज्ञात्वा दृढतरं मार्गवृत्तान्तं स तदाऽऽह तम् । श्रुत्वा जग्राह सर्वं स श्रावकव्रतमुत्तमम् ॥७१
जीवितान्ते स सौधर्मे देवोऽभूत्सुरसत्तमः । व्रतप्रभावतः किं किं प्राणिना नोपजायते ॥७२
सूरवीरः क्रियाप्रान्ते परलोकस्य तस्य तु । व्याघुटन्तेन मार्गेण तद्यक्षीमूचिवानिति ॥७३

उसे प्राणोके चले जानेपर भी नही छोड़ूँगा । अरे, ग्रहण किये व्रतको छोड़ देनेमे क्या पुरुषत्व कहा जा सकता है ? ॥६२॥ घर वालोने समझा कि यह किसी तरह काकका मास नही खायगा, इसलिये उन्होने विचार किया कि यह किसी मित्रके कहे विना काकका मास नही खायगा इसलिये इसके मित्रको बुलाना चाहिये ॥६३॥ उस समय घरवालोने श्रीसौरपुरके रहनेवाले उसकी बहनके पति सूरवीरके बुलानेके लिये पत्र भेजा और उसमे लिखा कि तुम जल्दी आओ ॥६४॥ सूरवीर भी पत्रके देखने मात्रसे अपने नगरसे चला । मार्गमे आते समय उसने किसी वट वृक्षके नीचे किसी यक्षीको रोती हुई देखा ॥६५॥ उसने उस रोती हुई यक्षीसे पूछा कि हे सुन्दरि ! तू कौन है और यहा क्यो रोती है ? सूरवीरके वचनोको सुनकर यक्षी बोली कि मैं तो यक्षी हूँ और वह तुम्हारा साला खदिर व्रतके प्रभावसे मेरा स्वामी होगा ॥६६॥ तुम वहाँ जाकर और उसे काकका मास खिला दोगे तो उसके व्रतभगके पापसे वह नरक चला जायगा फिर मेरा पति नही होने पावेगा । इसलिये रोती हूँ । इस प्रकार उस यक्षीके वचनको सुनकर सूरवीरने कहा ॥६७॥ हे यक्षि ! तुम हमारे वचनोपर विश्वास करो, मै कभी उसे काकका मास नही खिलाऊँगा । इस तरह उस यक्षीको विश्वास दिलाकर वह सूरवीर क्रमसे उस भीलके ग्राममे जाकर उसके घर पर पहुँचा ॥६८॥ हे प्रियश्याल ! अनेक तरहके रोगोको दूर करनेवाले काकके मासको क्यो नही खाते हो ? तुम्हे अवश्य खाना चाहिये । इसके वाद सूरवीरने फिर उसकी परीक्षा करनेके लिए बरावर काकके मासको खानेके लिये आग्रह किया ॥६९॥ इस तरह सूरवीरके वचनोको सुनकर वह भील वोला— तुम मेरे प्राणोके समान अत्यन्त प्रिय मित्र हो, तुम्हे ऐसे निन्द्य वचन कहना क्या योग्य है ? ॥७०॥

जव सूरवीरने समझा कि यह अपने धारण किये हुए व्रतसे कभी च्युत नही होगा तो मार्गमे यक्षी सम्बन्धी जो वृत्तान्त बीता था उसे कह सुनाया । उस वृत्तान्तको सुनकर भीलको और दृढ श्रद्धान हो गया । उसीसे उसने शेष सव श्रावकके व्रतको ग्रहण कर लिये ॥७१॥ मरणके अन्तमे वह भील सौधर्म स्वर्गमे उत्तम देव हुआ । इस ससारमे और कौन ऐसा पदार्थ है जो व्रतके प्रभावसे प्राप्त नही होता है ॥७२॥ वह सूरवीर भी अपने साले की पारलौकिक सम्बन्धी

सुभगे किं स ते भर्त्ता जातो वा नाऽभिधेहि तत् । सोवाच व्रतमाहात्म्यात्सौधर्मे न च मे पति ॥७४
दिव्यान्भोगानिदानीं स स्वप्सरोभिर्भुनक्त्यलम् । अविच्छिन्नाञ्जरातङ्कभयचिन्तादिवर्जितान् ॥७५
यक्षीवाक्यात्स सद्धर्मे श्रद्धावान्सगृहीतवान् । समाधिगुप्तिसंज्ञस्य मुनेरन्ते गृहिव्रतम् ॥७६
अनुभूय सुर सौख्य सागरद्वयमैन्द्रियम् । अभू कुणिकभूपस्य श्रीमत्या श्रेणिक सुत ॥७७
सोऽपि कालेन तत्रैव स्वर्गेऽभूदृद्धिनायक । व्रतप्रभावतो राजन्वाछितार्थप्रदायिनि ॥७८
वुभुजाते सुख दिव्य द्वावपि स्नेहनिर्भरौ । अप्सरोभिर्मनोऽभीष्टं स्वेच्छया सागरद्वयम् ॥७९
इह जम्ब्वन्तरीपेऽस्मिन्क्षेत्रे भरतनामनि । सूरकान्ताभिधो देश श्रिया देवकुरूपम. ॥८०
प्रत्यन्तनगर तत्र चतुर्वर्णसमाश्रितम् । नीत्यादिगुणसम्पन्नस्तत्रेशो मित्रसज्ञक ॥८१
खदिरादिच्चर स्वर्गादेत्य तस्याऽभवत्सुत । समित्राम्भोरुहा मित्रो यः सुमित्रो निजाख्यया ॥८२
रूपेण हृदयोद्भूत कान्त्येन्दु स्वश्रिया गुरु । विद्याभ्यासं प्रकुर्वन्स चिक्रीड पितृमन्दिरे ॥८३
अमात्यनन्दनोऽन्योऽपि सुरस्तत्रैव जातवान् । सुषेणाख्योऽतिसौन्दर्यकलाविज्ञानपारग ॥८४
राजमन्त्रिसुतौ स्नेहनिभरत्वमुपागतौ । अतिष्ठता सदैकत्र स्नानाऽऽसनक्रियादिषु ॥८५

क्रियाके अन्तमे, जिस मार्गसे वह आया था उसी मार्गसे जाता हुआ उ न यक्षीसे वोला ॥७३॥ हे सुभगे ! वह भील तुम्हारा प्राणनाथ हुआ या नही, तुम ठीक कहो ? सूरवीरके वचनको सुनकर यक्षीने कहा—वह व्रतके माहात्म्यसे सौधर्म स्वर्गका देव हुआ है। मेरा स्वामी नही हुआ ॥७४॥ वह सौधर्म स्वर्गका देव इस समय अपनी देवागनाओके साथ रोग, भय, चिन्ता आदि व्याधियोसे रहित स्वर्गके भोगोको निरन्तर भोग रहा है ॥७५॥ यक्षीके वचनोको सुनकरके सूरवीरने अपनी वुद्धिको जिनधर्ममे दृढ करके उन्ही समाधिगुप्ति मुनिके पास गृहस्थ धर्मको अगीकार किया ॥७६॥ इसके वाद दो सागर पर्यन्त स्वर्ग-जनित उत्तम सुखोको भोगकर वह देव कुणिक नामक राजा और श्रीमती महाराणीके श्रेणिक नामक पुत्र हुआ है ॥७७॥ ग्रन्थान्तरके अनुसार यह कथानक इस प्रकार है—कुछ कालके वाद वह सूरवीर भी मनोवाछित सुखादिके देनेवाले उसी स्वर्गमे व्रतके प्रभावसे ऐश्वर्यका स्वामी देव हुआ ॥७८॥ परस्पर अत्यन्त स्नेहसे युक्त वे दोनो देव अपनी-अपनी देवागनाओके साथ इच्छापूर्वक मनोवाछित स्वर्गके सुखोका उपभोग करने लगे ॥७९॥ इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमे सूरकान्त नामका देश है। वह अपनी वढी हुई शोभासे देवगुरु भोगभूमिसे किसी भी तरह कम नही है ॥८०॥ उस सूरकान्त देशमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिसे शोभित प्रत्यन्त नामका नगर है। उस नगरमे राजनीति आदि अनेक प्रकारकी राजविद्याको जाननेवाला मित्रसज्ञक नामका राजा राज्य करता था ॥८१॥ वह खदिरसार भीलका जीव सौधर्म स्वर्गसे आकर मित्र राजाके सुमित्र नामक पुत्र हुआ। वह सुमित्र अपने सुमित्ररूप कमलोके प्रफुल्लित करनेके लिये वास्तवमे मित्र (सूर्यके समान) था ॥८२॥ लोकोको आश्चर्यके करनेवाले अपने रूपसे कामदेवके समान, मनोहर शरीरकी कान्तिसे चन्द्रमाके समान और अप्रतिम (असाधारण) वुद्धिसे वृहस्पतिके समान वह वालक सुमित्र विद्याभ्यासको करता हुआ अपने जनकके मन्दिर (गृह) मे क्रीडा करता था ॥८३॥ उसी प्रत्यन्त नगरमे वह सूरवीरका जीव अत्यन्त सुन्दरता, कला, विज्ञान, आदि अनेक गुणोका जाननेवाला सुषेण नामक मन्त्री-पुत्र हुआ ॥८४॥ उन दोनो राजपुत्र और मन्त्रिपुत्रोका परस्पर अत्यन्त अनुराग हो गया। यहाँ तक कि उन दोनोका बैठना, उठना, स्नान करना, भोजन करना आदि सव साथमे होता था ॥८५॥ एक दिन वे दोनो मित्र

जग्मतु' केलिवाप्यांतौ जलक्रीडार्थमेकदा । राजन्यैर्बहुनेपथ्यैः सवयोभि समं परै. ॥८६
मज्जनोन्मज्जनाभ्या तौ प्लवनैरब्जताडनैः । व्यधत्ता खेलनं वाप्यामन्योन्यं कलभाविव ॥८७
ईर्ष्ययाऽसौ सुषेणेन न्यक्षेपि क्वचिदंभसि । अगाधे दैवलो भीत्या निर्गत्य स पलायित. ॥८८
एकमेक सहन्ते नो तिष्ठन्त्येकाकिनोऽपि नो । गर्दभा वृषभा अश्वा. कितवा सुधियोऽर्भका ॥८९
इतः पुण्यात्स पानीयान्निर्गतो राजनन्दन. । समागत्य निजं धाम्नि क्रीडां कुर्वन्नयवस्थित. ॥९०
महत्काले व्यतिक्रान्ते दधौ राज्यं सुमित्रकः । गृहीतवांस्तपो जैनं सुषेणश्चिरशङ्कया ॥९१
निर्ग्रन्थवृत्तिमादाय धृतपञ्चमहाव्रत । परीषहसहस्तेपे घोर मध्याह्नभानुवत् ॥९२
आसनस्थेन भूपेन मुनिर्दृष्ट परिभ्रमन् । अन्यदा पुरि भिक्षार्थं मध्याह्ने क्षीणविग्रह. ॥९३
पप्रच्छ स्वाङ्गरक्ष स कश्चित्कोऽसौ मुनीश्वरः । श्रुत्वेति निजगादेशं भटो देव निशम्यताम् ॥९४
सुषेणो मन्त्रिपुत्रोऽय तव प्राणसम. सुहृत् । त्यक्त्वा मोहमृषिर्जातो राजन्मासोपवासकृत् ॥९५
गाम्भीर्येण सरिन्नाथ यो धैर्येण सुरालयम् । जिगाय तपसा सूरं निमङ्गत्वेन मारुतम् ॥९६
जगत्सूरोऽपि यं दृष्ट्वा शङ्कते निजचेतसि । एतादृशं तप कर्त्तुं कोऽल स्यादिह तं विना ॥९७

अपने समान आयु आदिसे मनोहर अनेक क्षत्रियपुत्रोके साथ जलक्रीडा करनेके लिए क्रीडा करनेकी वापिकाके ऊपर गये ॥८६॥ वे दोनो मित्र वापिकामे डूबना, निकलना, तैरना एकके ऊपर एकका कमलोका फेंकना इसी तरह अनेक प्रकारकी क्रीडायें, जैसे हस्ति-बालक परस्परमें करते हैं उसी तरह परस्परमे करने लगे ॥८७॥ इतनेमे मंत्रीके पुत्र सुषेणने द्वेष बुद्धिसे सुमित्रको कही बहुत गहरे जलके भीतर डाल दिया। और आप इस कुकर्मके भयसे वहाँसे झट निकलकर कहींपर भाग गया ॥८८॥ गधे, बैल, घोडे, धूर्तलोग, बुद्धिमान् और बालक ये एकको एक नही देखते हैं और न एकके पास एक बैठते हैं ॥८९॥ इधर वह राजपुत्र सुमित्र अपने भवान्तरमे कमाये हुए किसी बडे भारी पुण्य कर्मके उदयसे उस अगाध जलसे ज्यो त्यो निकलकर अपने मकानपर आया और फिर भी पहलेके समान क्रीडा करने लगा ॥९०॥ इसी तरह उन दोनो मित्रोका बहुत काल व्यतीत हुआ। फिर सुमित्रको जब राज्य भार मिला तब सुषेणने सोचा कि अब इसे राज्य प्राप्त हो गया है यह मुझे मारकर अवश्य अपना बैर निकालेगा इसी शङ्कासे सुषेण जिनदीक्षाको ग्रहण करके मुनि हो गया ॥९१॥ परिग्रह-रहित मुनिव्रतको धारण करके जिसने पञ्च महाव्रतोको धारण किये हैं ऐसा वह सुषेण मुनि नाना प्रकारकी कठिनसे कठिन परीषहोको सहन करता हुआ अत्यन्त दुर्धर तप करने लगा। जैसे मध्याह्न कालमे सूर्य दुष्कर रूपसे तपता है ॥९२॥ किसी समय राजसिंहासनस्थ महाराज सुमित्रने अपने नगरमे आहारके लिये मध्याह्नकालमे घूमते हुए उन्हीं सुषेण मुनिको देखे। जिनका शरीर अनेक प्रकारके तपश्चरणादिके करनेसे अत्यन्त क्षीण (कृश) हो गया हे ॥९३॥ महाराज सुमित्रने मुनिको देखकर अपने किसी शरीर-रक्षक नौकरसे पूछा कि यह कौन मुनिनाथ हैं? महाराजके वचनोको सुनकर वह अङ्ग-रक्षक बोला—महाराज इन मुनिके सम्बन्धकी सब बाते कहता हूँ आप सुनो ॥९४॥ हे देव! जिस मुनिको आप अपने नयनोसे देख रहे हैं वह और कोई नही है किन्तु तुम्हारे प्राणोके समान परम मित्र आपके मन्त्रीके पुत्र सुषेण है। इस समय ससारके मूल कारण मोहको छोडकर एक एक महीनेके उपवासोको करनेवाले मुनि हुए हैं ॥९५॥ महाराज! ये कोई ऐसे साधारण मुनि नही है किन्तु अपनी गम्भीरतासे समुद्रको, धैर्यसे सुमेरु पर्वतको, अपने घोर तपसे सूर्यको और निसगपनेसे वायुको जीत

पारणार्थं समायातो विपिनादधुना मुनिः । प्राणाः स्युर्न विनाऽऽहार स्थिरा कर्त्तुं तपोविधिम् ॥९८
तद्गी सुधा निपीयाऽसौ भूपोऽमुञ्चन्मुदश्रुणी । उत्थायासनत पादौ तस्य भक्त्याऽनमत्तदा ॥९९
भो । मित्र । दर्शनात्तेऽहं ववृधेऽब्धिरिवेन्दुत. । कृत्वा प्रसादमेहि त्वं गृहं राज्यं विधेहि मे ॥१००
एष देश श्रिया देश पूरियन्त्वलकोपमा । अमी गजा अमी अश्वा कान्ता कान्ता अमूस्तव ॥१०१
अहं राज्यधुर धर्त्तुमसमर्थोऽतिदुर्द्धराम् । अतो गृहाण भोमित्र । राज्य राजशतानतम् ॥१०२
निर्भारोऽस्मि प्रसादात्ते तथा कुरु सुनिश्चितम् । तच्छ्रुत्वा मुनिनोचेऽसाविति स्नेहपरायण ॥१०३

भो । भो । कुवलयेन्दो । त्वं स्वराज्यं कुरु निश्चलम् ।
तप. कुर्वन्नहं क्षीणो नालं जेतुमरीनिमान् ॥१०४

आदौ स्वादूनि राजेन्द्र । विरामे कटुकानि च । इन्द्रियाणां सुखानीह विषाश्लिष्टाशनानि वा ॥१०५
चेत्तृप्यन्तो धनैर्वह्निर्नदीपूरैं पयोनिधि । सन्तुष्यति तदा जीव पञ्चाक्षविषयाऽऽमिषैः ॥१०६
भोगिभोगोपमान्भोगान् राज्यं पादरज.समम् । धनञ्च निधनं प्राय ज्ञात्वा कोऽज्ञो विमुह्यति ॥१०७

लिया है ॥९६॥ जिन मुनिके तपश्चरणको देखकर जगत्का सूर्य भी मनमे यह सन्देह करता है कि अहो । इस जगत्मे इस प्रकार तप करनेको इन्हे छोडकर और कौन समर्थ हो सकता है ॥९७॥

वे ही श्री सुषेण मुनिराज आज एक महीनेके उपवासके अनन्तर पारणा करनेके लिये नगरमे पधारे हैं। क्योकि जब तक प्राणोको आहारका अवलम्बन न मिलेगा तब तक वे तप करनेके लिये स्थिर कभी नही हो सकते ॥९८॥ महाराज सुमित्रने जब उस शरीर-रक्षकके अमृतके समान वचनोको सुना उनके लोचनोसे आनन्दाश्रु गिरने लगे। और उसी समय अपने सिंहासनसे उठकर भक्तिपूर्वक मुनिराजके चरण कमलोको नमस्कार किया ॥९९॥ अय मित्र । आज मै तुम्हारे पवित्र दर्शनोसे चन्द्रमाके उदय होनेसे जैसे समुद्र बढता है उसी तरह वृद्धिको प्राप्त हुआ हूँ। इसलिये मेरे पर प्रसन्न होओ और इस सम्पत्तिशाली राज्यलक्ष्मीको तथा इस गृहको स्वीकार करो ॥१००॥ देखो । यह देश तो एक तरह लक्ष्मीका देश (स्थान) है और यह पुरी कुबेरकी अलकावली (अमरावती) नगरीके समान है। ये हाथी है, ये घोडे हैं और ये अतिशय सुन्दरी स्त्रियाँ है। यह सब साम्राज्य आप ही का है ॥१०१॥ हे मित्र, मैं अकेला अत्यन्त दुर्द्धर इस राज भारके धारण करनेको समर्थ नही हूँ। इसलिये सैकडो राजा लोग जिसकी आज्ञाको धारण करते है एसे इस राज्यको आप मेरी प्रार्थनासे स्वीकार करो ॥१०२॥ हे भगवन् । अब आपके अनुग्रहसे इस राज्य-के भारसे सर्वथा भार-रहित हूँ। इसलिये मेरी प्रार्थनाके अनुसार इस राज्यको ग्रहण करो। अपने मित्र सुमित्रके ऐसे वचनोको सुनकर सुषेण मुनिराज अत्यन्त प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले ॥१०३॥ हे इस पृथ्वी मडलको चन्द्रमाके समान आह्लादके देने वाले सुमित्र । इस राज्यका निश्चलता-पूर्वक तुम ही पालन करो, क्योकि मै तो दुष्कर तपके करनेसे बिल्कुल असक्त हो गया हूँ इसलिये इन शत्रु लोगोको नही जीत सकूँगा ॥१०४॥ हे राजन् । ये इन्द्रियोके सुख पहले तो कुछ अच्छेसे मालूम पडते हैं परन्तु अन्त समयमे बिल्कुल कडवे हैं। अथवा यो कहो कि विपसे युक्त जैसा भोजन ऊपरसे मनोहर सा दीखता है परन्तु वास्तवमे प्राणोका घातक है वैसे ही ये इन्द्रियोसे उत्पन्न होने वाले सुख हैं ॥१०५॥ हे राजन् । यदि अग्निकी इन्धन (काष्ठ) से अथवा समुद्रकी अनेक नदियोसे पूर्त्ति हो जावे तभी इन पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय रूपी माससे इस जीवकी तृप्ति मान सकता हूँ ॥१०६॥ भावार्थ—अग्नि आदिकी काष्ठादिकोसे न कभी तृप्ति हुई सुनी है और न होगी उसी

तरामि भववाराशिं प्रसादात्ते नरेश्वर ! निरास्रवतपोवाहं समारुह्यातिदुस्तरम् ॥१०८
उक्त्वेति मौनमालम्ब्य यावत्तिष्ठति भिक्षुक. । तावन्नृपो जगादेति सस्नेह भक्तितो मुनिम् ॥१०९
त्व मे प्राणसमो मित्रः पात्रं माञ्च कृतार्थय । फलवत्स्याच्च राज्यं भुक्त्यर्थं गृहमाव्रज ॥११०
मुनिराह पुनश्चारु यदुक्तं जिनशासने । उद्दिष्ट भोजनं नार्हं महाव्रतभृता प्रभो ॥१११
अलाभो मेऽद्य सञ्जात इति बुध्यन्मुनीश्वर. । क्षमयित्वा धरानाथं गच्छति स्म वनं लघु ॥११२
तदा पौरजनानाह राजेति शृणुत प्रजा. । अय यतीश्वर. साधु पात्रं मे सज्जनस्तथा ॥११३
दत्ते योऽस्मै गृही भुक्ति तज्जन्म सफल भवेत् । पारणाहेऽतएवाऽस्मै दाताऽस्म्यन्यो न कश्चन ॥११४
मासे गते पुनर्भुक्त्यै प्रविवेश पुरीं यदि । तदा राज्ञा न दृष्टोऽसौ लोकैर्दृष्टोऽप्यनादृतः ॥११५
मन्यमानो महालाभं पापकर्मनिवर्हणम् । व्याघुटय स वनं गत्वा पुनर्मासतपोऽग्रहीत् ॥११६
एवं तृतीयवेलाया प्रमत्तं राजवारणम् । उपद्रवन्तं लोकानां दृष्ट्वा व्याघुटितो मुनि ॥११७

तरह इन विषयोके सम्बन्धमे समझना चाहिये । हे राजेन्द्र ! सर्पके शरीरके समान विषयादिकोको, चरणोकी धूलके समान राज्यको और वनको बहुधा निधन (मरण) रूप समझकर कौन ऐसा मूर्ख होगा जो इन विषयादिमे मोह करेगा ? ॥१०७॥ हे नरेश्वर ! मैं तेरे प्रसादसे छिद्र रहित तपरूपी नावमे बैठकर अत्यन्त दुर्ल्लंघ्य इस ससार समुद्रके पारको प्राप्त होऊंगा ॥१०८॥ इतना कहकर जब मुनिराज चुप हो रहे उसी समय महाराज सुमित्र स्नेह-पूर्वक मुनिराजसे इस तरह प्रार्थना करने लगे ॥१०९॥ हे मुनिराज ! आप मेरे प्राणोंके समान मित्र हैं इसलिये मुझ सरीखे दीन पात्रको कृतार्थ करो । और तब ही यह मेरा राज्य सफल होगा इस कारण भोजनार्थ मेरे घरको चलो ॥११०॥ सुमित्रके इस तरहके वचनोको सुनकर मुनिराज फिर बोले—हे राजन् ! जिन भगवान्‌ने महाव्रतके धारण करनेवाले यतीश्वरोके लिये उद्दिष्ट भोजन अयोग्य बताया है ॥१११॥ इसी कारण आज हमारे लिये भोजनका अलाभ है, ऐसा जानकर राजाको क्षमा करके वे मुनि शीघ्रतासे वनको चले गये ॥११२॥ जब राजाने देखा कि मुनिराज चले गये तब सम्पूर्ण पुरवासी लोगोको राजाने कहा । हे प्रजाके लोगो ! मैं कुछ कहना चाहता हूँ उसे तुम सुनो । ये मुनिराज सुषेण अत्यन्त उत्कृष्ट पात्र हैं तथा मेरे प्राणोके समान मित्र हैं ॥११३॥ इसलिये जो गृहस्थ इनके लिये आहार दान देता है उसका जन्म सफल होता है । इस कारण आपसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि इनके पारणाके समय मैं ही दाता हूँ और कोई इन्हे दान न दें । अर्थात्—ये मेरे अत्यन्त प्राणप्रिय मित्र हैं इसलिये इन्हे आहार मैं ही देऊँगा आप लोग न दें ॥११४॥

जब मुनिराज राजाके पाससे लौटकर वनमें चले गये वहाँ फिर एक महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा ले ली । जब मास पूर्ण हुआ तब फिर मुनिराज आहारके लिये नगरमे आये । उस समय राजाने मुनिराजको नही देखे और पुरके लोगोने देखे भी थे परन्तु उन्होने आहार नही दिया क्योंकि राजाकी आज्ञा ही ऐसी थी ॥११५॥ यद्यपि मुनिराजको आहार नही मिला तो भी परिणामोको किसी प्रकार विचलित न करके उल्टी पापकर्मोकी निर्जरा होनेसे बड़ा भारी लाभ समझकर वे वनमे चले गये और फिर भी एक महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा ले ली ॥११६॥ इसीतरह एक महीनेके पूर्ण होनेपर मुनिराज फिर भी आहारके लिये नगरमे आये । परन्तु अबकी बार उन्होने देखा कि राजाका एक उन्मत्त हाथी पुरके लोगोको त्रास दे रहा है इसे देखकर फिर भी मुनि वनको जाने लगे ॥११७॥ जब लोगोने देखा कि मुनिराज आहारके विना ही फिर वनको

व्याघुटन्तं तमालोक्य प्रोवाचाऽध्वनि कश्चन । हा हा किं कृतमेतेन राज्ञा नाऽस्येदृशं हितम् ॥११८

राज्यचिन्ताऽऽकुलो राजा स्वयं दत्ते न भोजनम् ।
अस्मै निवारिताः सर्वे नागरा ददतोऽपि च ॥११९

इति श्रुत्वा वचस्तस्य तपःक्षीणो व्रती पथि । क्रोधेन कम्पमानाङ्गः सहसा स्खलितस्तदा ॥१२०
मारयेयं पुरो भूप यद्यस्ति तपस. फलम् । कृत्वा निदानमीदृक्षं मृत्वाऽसौ व्यन्तरोऽभवत् ॥१२१
महाफलं तपः कृत्वा निदान योऽकरोन्मुनि. । तुषखण्डेन विक्रीतं रत्नं तेन जडात्मना ॥१२२
श्रुत्वा कोलाहलं राजा तदा नागरिकैः कृतम् । मुमुक्षोर्मृतिमाबुध्येत्यात्मानं निन्दति स्म सः ॥१२३

मुनिदानं मया हा ! हा ! विस्मृतं राज्यचिन्तया ।
पापात्मना जना अन्ये निषिद्धा हन्त किं कृतम् ॥१२४

तपो विना कथ पापं क्षपाम्येतद्विचिन्तयन् । राज्यं त्यक्त्वा तपोऽग्राहि तेन जैनं महात्मना ॥१२५
कियत्कालं तप कृत्वा सोढ्वाऽनेकपरीषहान् । मृत्वा व्यन्तरराजोऽभूत्पाकतो निजकर्मण ॥१२६
आयुरन्ते ततश्चयुत्वा ह्युपश्रेणिकभूपतेः । इन्द्राण्याश्च सुतोऽभूस्त्व श्रेणिक. साम्प्रत नृप ॥१२७
सूरवीरेण या दृष्टा रुदन्ती यक्षिका वटे । क्रमशश्चेलना विद्धि तां जाता निजभामिनीम् ॥१२८

लौट रहे हैं तव कितने लोग मार्गमे यो कहने लगे । हाय ! हाय ! इस राजाने क्या अनर्थ किया जो ऐसे कठिन तप करनेवाले मुनिके लिए न तो आप आहार देता है और न दूसरे लोगोको देने देता है । क्या यह वात इसके लिए योग्य है ? ॥११८॥ राज्यकी चिन्ताओंसे आकुल होकर न तो आप मुनिराजको आहार देता है और जो विचारे पुरवासी लोग देना चाहते हैं उन्हे भी मना कर दिया है ॥११९॥ तपसे अत्यन्त कृश शरीरको धारण करनेवाले उन मुनिने जब मार्गमे लोगोंके ऐसे वचनोको सुना, तव उसी समय उनका शरीर क्रोधसे धूझने लगा और वे शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पडे ॥१२०॥ पृथ्वीपर गिरते ही मुनि बोले कि यदि तपका कुछ भी फल है तो अगले भवमे इस राजाको मारूँ । इस प्रकार अपने आत्मस्वभावको घात करनेवाले निदानको करके मरे और मरकर व्यन्तर देव हुए ॥१२१॥ वहुत फलको देनेवाले तपको करके सुषेण मुनिने जो निदान किया, समझो कि उस दुर्वुद्धिने तुषखडको लेकर रत्नको बेच दिया ॥१२२॥ मुनिके मरनेका पुरवासी लोगोमे वडा कोलाहल हुआ । उसके सुननेसे राजाको मालूम हुआ कि मेरे आहारके न देनेसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनिराजकी मृत्यु हो गई है । ऐसा समझकर राजाने अपने आत्माकी वहुत निन्दा की ॥१२३॥ हाय ! हाय !! मुझ पापीने बडा अनर्थ किया जो राज्य सम्वन्धी कार्यमे फँसकर मुनिराजको दान देना भूल गया । इतना ही नही, किन्तु जो लोग विचारे आहार देना चाहते थे उन्हे भी मैंने मना कर दिया । हाय ! हाय ! यह मैंने क्या अनर्थ किया है ॥१२४॥ महाराज सुमित्रने इस महापापके घोर फलसे भयभीत होकर सोचा कि इस पापको तपके विना कभी नाश नही कर सकता, ऐसा विचार करके उसी समय महात्मा सुमित्रने सम्पूर्ण राज्यभारको छोडकर जिन भगवान्के शासनके अनुसार तपको ग्रहण किया ॥१२५॥ मुनिराज सुमित्र कितने काल पर्यन्त घोर तपश्चरण करके और अनेक दु सह परीषहोको शान्त भावसे सहन करके इस विनश्वर शरीरको छोडकर अपने किये हुए कर्मोके फलसे व्यन्तर देवोके इन्द्र हुए ॥१२६॥ आयुके पूर्ण होनेपर व्यन्तर पर्यायसे निकलकर उपश्रेणिक राजा और उसकी इन्द्राणी नामकी राणीके श्रेणिक नामक तूँ पुत्र हुआ है और इस समय राजा है ॥१२७॥ और

य सुषेणचरो भौमो निदानी वर्ततेऽमरः । कोणिकाख्याङ्गजस्ते द्विट् चेलनाया भविष्यति ॥१२९
सामर्थ्य प्राप्य राज्य ते स ग्रहीता प्रतापिक । शस्त्रपञ्जरमध्ये च क्षिप्त्वा त्वां मारयिष्यति ॥१३०
ततस्त्व याष्यसि श्वभ्रमाद्यं सीमन्तसंज्ञकम् । भुक्त्वा दुःखं कियत्कालमत्राद्यो भविता जिन. ॥१३१
इति श्रुत्वा नराधीशो भूतभाविभवावलीम् । आत्मीयां सम्मदाश्रूणि मुमोचेति वितर्कयन् ॥१३२
जीवस्त्वनाद्यपेक्षातो नरकेऽनन्तशो गत । वहुदु खप्रदे पापान्महारौरवनामनि ॥१३३
स धन्यो नरकावासो यस्मान्निर्गत्य तीर्थकृत् । भविष्यामि शिरोघात इवाऽन्धस्य निधानदृक् ॥१३४
भिल्ल. खदिरसाराख्य सौधर्मे विबुधस्ततः । सुमित्रनृपतिर्भौम श्रेणिको नारको जिन ॥१३५
सूरवीराभिधानेश सौधर्मप्रभवोऽमर । मंत्रिपुत्र सुषेणाऽऽख्यो व्यन्तर कोणिको नृप ॥१३६

इति पिशितनिवृत्तिफलं निवेदितं तव पुर. समासेन ।
अधुना मधुनाहत्यं यथा तथा शृणु नराधीश ॥१३७

मक्षिकावालकाण्डोत्थमत्युच्छिष्टं मलाविलम् । सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं तन्मधु स्यात्कथ वरम् ॥१३८
ग्रामान्द्वादश कोपेन यो दहेदिति लौकिकम् । ततोऽधिकतरः पाप स यो हन्त्यत्र माक्षिकम् ॥१३९

सूरवीरने वटवृक्षके नीचे जो रोती हुई उस यक्षिणीको देखी थी । हे राजन् ! उसे क्रमसे यहाँ उत्पन्न हुई चेलना नामकी अपनी रानी समझो ॥१२८॥ और निदानका करनेवाला वह सुषेण मुनि जो इस समय व्यन्तर देव है वही तुम्हारा कोणिक नामक पुत्र होगा । परन्तु वास्तवमे उसे तुम अपना शत्रु समझो ॥१२९॥ तुम्हारे राज्यका ग्रहण करनेवाला और प्रतापवान् वह कोणिक, राज्य सामर्थ्यको पाकर तुम्हे शस्त्रोके पीजरेमे बन्द करके मारेगा ॥१३०॥ इसके बाद मरकर तुम सीमन्त नामक पहले नरकमे जाओगे । कितने काल पर्यन्त नरकोके दु.खोको भोगकर इसी भरत क्षेत्रमे पहले महापद्म नामक तीर्थंकर होओगे ॥१३१॥ महाराज श्रेणिक इस तरह अपनी बीती हुई और आगे होनेवाली ससार परम्पराको सुनकर नेत्रोंसे आनन्दाश्रु छोडते हुए यो विचारने लगे ॥१३२॥ यह जीव अनादि कालकी अपेक्षासे पाप कर्मोके उदयसे घोर दु खोके देनेवाले नरकमे अनन्त वार गया है । और वहाँ असह्य दु खोको भोगे है ॥१३३॥ वह नरकमे भी जाना अच्छा है जहाँसे निकल कर तीर्थंकर होऊँगा । यह तो यो समझना चाहिये कि किसी अन्धेके मस्तकमे एक ओरसे चोट लगी और दूसरी ओर उसे खजाना दीख गया ॥१३४॥

जो खदिरसार भिल्ल था वह सौधर्म स्वर्गमे देव हुआ, इसके बाद सुमित्र नामक राजा हुआ, पश्चात् व्यन्तर देव हुआ फिर तुम श्रेणिक हुए हो । अब यहाँसे प्रथम नरकमे उत्पन्न होओगे और वहाँसे प्रथम तीर्थंकर होओगे ॥१३५॥ जो सूरवीर था वह पहले तो व्रतके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमे देव हुआ वहाँसे निकल कर सुषेण नाम मंत्रिपुत्र हुआ । सुषेण इसी पर्यायमे मुनि होकर निदानके फलसे व्यन्तर देव हुआ । वहाँसे आकर कोणिक राजा हुआ है ॥१३६॥ हे राजन् । इस प्रकार मासके त्यागनेसे जो फल हुआ उसे सक्षेपसे तुम्हारे सामने हमने कहा । इस समय जिस प्रकार मधुके छोडनेमे प्रवृत्ति हो उसी प्रकार मधुके दोषोका वर्णन किया जाता है ॥१३७॥ जो मधु मक्खियोके छोटे-छोटे बच्चोमे उत्पन्न होता है, जो एक तरहसे जीवोका उच्छिष्ट है, जो मलादि अपवित्र पदार्थोसे युक्त होता है, और जिसमे जन्तुओके समूहके समूह रहते है वह मधु भक्षणके योग्य कैसे हो सकता है ? ॥१३८॥ यह लौकिक कहावत है—जो क्रोधसे बारह ग्रामोको जलावे, कहीं उससे भी अधिक पाप उन्हे लगता है जो पुरुष मक्षिकाओके स्थानका घात करते

**मक्षिका कुरुते यत्र विष्टा तत्स्याद्घृणास्पदम् । तन्मयं मधु यस्यात्र लेह्यं तच्चरित महत् ॥१४०
तदेकविन्दुश खादन्नघ बध्नाति यो नर । सप्तग्रामीं दहन्पापं यत्ततोऽप्यधिकं हि तत् ॥१४१
यत्र सम्मूर्च्छिन सूक्ष्मास्त्रसा. स्थावरका अपि । जायन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तेन म्रियन्ते तत्कथ हितम् ॥१४२
मधुभक्षणतो हिसा हिसात· पापसम्भव. । तत श्वभ्रादिज दु ख हेतोस्तत्त्यजताद् गुणी ॥१४३
मधुवन्नवनीतं च वर्जनीयं जिनागमे । यत्राऽर्द्धप्रहरादूर्ध्वं जायन्ते भूरिशस्त्रसाः ॥१४४
उदुम्वरवटप्लक्षफल्गुपिप्पलजानि च । फलानि पञ्चबोध्यान्युदुम्बराख्यानि धीमताम् ॥१४५
प्रत्यक्षं यत्र दृश्यन्ते वादरा वहवस्त्रसा. । स्थावराः सन्ति सूत्रोक्तास्तत्त्याज्यं फलपञ्चकम् ॥१४६
पलभुक्षु दया नास्ति न शौचं मद्यपायिषु । उदुम्वराशिषु प्रोक्तो न धर्म सौख्यदो नृषु ॥१४७
मद्यत्यागव्रती सर्वं त्यजेत्सन्धानक त्रिधा । पुष्पित काञ्जिक चासौ मथितादि द्व्यहोषितम् ॥१४८
दृतिप्रायेषु भाण्डेषु गतं स्नेहजलादिकम् । हिंगुक्वथितमन्नादि दोषा मासव्रते मता· ॥१४९
प्राय. पुष्पाणि नाश्नीयान्नाञ्जनाय मधु स्पृशेत् । मधुत्यागव्रती सोऽयं प्रोक्तस्तु परमागमे ॥१५०**

है ॥१३९॥ मक्खियाँ जहाँ विष्टा करती है वह जगह वास्तवमे ग्लानिके पैदा करनेका स्थान होती है तो उसी विष्टा स्वरूप मधुको जो लोग अच्छा और सेवनके योग्य वताते हैं उन पापी पुरुपोका चरित्र हम कहाँ तक वर्णन करे ॥१४०॥ ऐसे अपवित्र मधुकी एक विन्दुमात्रका खाने वाला पुरुष जितना पाप उपार्जन करता है वह पाप सात ग्रामोके जलाने वालेके पापसे भी अधिक पाप है ॥१४१॥ जिस मधुमे सम्मूर्च्छन (अपने आप उत्पन्न होने वाले) सूक्ष्म, त्रस तथा स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तर्मुहूर्तमे मर जाते है वह मधु कैसे उत्तम समझा जाय ? ॥१४२॥ मधुके भक्षण करनेसे पहले तो जीवोकी हिंसा होती है, हिंसासे पाप कर्मोका बन्ध होता है और पापके फलसे नरकोमे घोर दुखोकी वेदनाएँ सहन करनी पडती हैं। इसलिये इस मधुके भक्षणको उत्तरोत्तर दुखोका कारण समझ कर उसके छोडनेमे विलम्व नही करना चाहिये ॥१४३॥ महर्षि लोगोका उपदेश है कि जैन शास्त्रोमे जिस तरह मधुके त्यागनेका उपदेश है उसी तरह नवनीत (मक्खन) के भी छोडनेका उपदेश है। क्योकि नवनीतमे आधे प्रहरके ऊपर अनेक त्रस जीव पैदा हो जाते हैं ॥१४४॥ उदुम्वर वृक्ष, वटवृक्ष, प्लक्षवृक्ष, कठूमर वृक्ष और पिप्पल वृक्ष इनसे उत्पन्न होनेवाले पाँच उदुम्बर फल है। ऐसा वुद्धिमानोको जानना चाहिए ॥१४५॥ जिन पञ्च उदुम्वर फलोमे आँखोके सामने असख्याते वादर और त्रस जीव देखे जाते हैं तथा स्थावर तो कितने हैं उनकी तो हम गणना ही नही कर सकते, उनका जिस तरह जिन भगवान्के शास्त्रोमे वर्णन किया है उसी तरह श्रद्धान करना चाहिये। ये पञ्चोदुम्वर फल जीवोकी राशि है इसलिये इन्हे छोडना चाहिये ॥१४६॥ जो लोग मासके खाने वाले हैं उनमे कभी दयाका लेश भी नही हो सकता। जो लोग मदिराके पीने वाले है उनमे शौच (पवित्रता) की कभी स्वप्नमे भी सभावना नही कर सकते। तथा जो लोग पञ्चोदुम्बर फलके खाने वाले है उन पुरुषोमे सुखको देनेवाला धर्म कभी देखनेमे नही आवेगा ॥१४७॥ मदिराके त्यागी पुरुषोको मन वचन कायसे सन्धानक (सर्व प्रकारके अचार वगैरह), पुष्पित (जिन पदार्थो पर फूलन चढ गई हो), काञ्जी, तथा दो दिनके वादका तक्र (छाछ) दही इत्यादि पदार्थो नही खाना चाहिये ॥१४८॥ जो लोग मासके त्यागी है उन्हे चमडेके भाजनादिकोमे रखे हुए तैल, जल, हीग, काढा, अन्न आदि पदार्थोका सेवन नही करना चाहिये ॥१४९॥ जो लोग मधुके त्यागी है उन्हे वहुधा करके पुष्प नही खाने चाहिये तथा अञ्जनके लिये मधुका स्पर्श तक भी नही करना चाहिये ॥१५०॥ जो लोग पञ्चो-

अज्ञातफलमद्यान्नो नाऽशोधितफलानि च । शिम्बीवल्लादिकान्येषु नो पञ्चोदुम्बरव्रती ॥१५१
मद्यादिस्पृष्टभाण्डेषु पतित भोजनादिकम् । नाऽद्यात्तद्विक्रियादीनि न कुर्यात्तद्व्रतान्वित ॥१५२
मद्यादिभक्षिकानारीर्न रमेत च तद्व्रती । तद्भक्ष्यकृन्नरादीना स्पर्शने भोजनं त्यजेत् ॥१५३
अन्येऽपि ये त्वतीचारा मद्यादीना जिनागमे । गुरूपदेशतो ज्ञात्वा त्याज्यास्तेऽपि मनीषिभि ॥१५४
आप्तपञ्चनुतिर्जीवदया सलिलगालनम् । त्रिमद्यादिनिशाहारोदुम्बराणा च वर्जनम् ॥१५५
अष्टौ मूलगुणानेतान्केचिदाहुर्मुनीश्वरा । तत्पालने भवत्येष मूलगुणव्रतान्वित ॥१५६
द्विमुहूर्त्तात्परं वार्यगालनं गालनव्रते । कुवस्त्रगालनं नाऽऽचर्यः शिष्टन्यासोऽपरत्र च ॥१५७
दिवाद्यन्त्ये मुहूर्त्तेऽपि रात्रिभोजनवर्जिन । रोगच्छेदे घृताम्रादिभक्षणे तस्य दुष्यति ॥१५८
द्यूतक्रीडा पल मद्याऽऽखेटस्तेयपर स्त्रिय । वेश्येति व्यसनान्याहुर्दु खदानीह योगिनः ॥१५९
द्यूताद्राज्यविमुक्तोऽभूद्विख्यातो धर्मनन्दन । पलाद्वकनृपोऽघोऽगाद्यादवा मद्यत. क्षता ॥१६०
ब्रह्मदत्तोऽभवद् दु खी मज्जित्वाऽऽखेटतोऽर्णवे । भूत्वाहि पतितो वह्नौ स्तेयाच्छ्रीभूतिवाडव ॥१६१

दुम्बर फलके त्यागी हैं उन्हे अजान फल नही खाने चाहिये । तथा उसी तरह नही शोधे हुए (नही विदारे हुए) सुपारी आदि फल, शिम्बीफल, वल्ला आदि फल नही खाने चाहिये ॥१५१॥ जिन पुरुषोको मदिरा, मास, मधु आदि पदार्थोका त्याग है उन्हे मदिरा आदि अपवित्र पदार्थोके स्पर्श वाले वरतनामे रखा हुआ भोजन नही करना चाहिये और न इन वस्तुओका व्यापार करना चाहिये ॥१५२॥ मद्य मासादिकी खाने वाली स्त्रियोके साथ मदिरा आदि पदार्थोके छोडने वाले पुरुषोको विषय सेवन नही करना चाहिये । तथा मदिरा मासादि खाने वाले पुरुष यदि भोजनका स्पर्श कर ले तो उसी समय भोजन छोड देना चाहिये ॥१५३॥ मद्य मासादिके इनके सिवाय और भी अतिचार जिन भगवान्ने कहे है उन्हे गुरुपरम्पराके उपदेशसे समझ कर त्यागना चाहिये ॥१५४॥ देववन्दना, जीवोकी दया पालना, जलका छानना, मदिराका त्याग, मासका त्याग, मधुका त्याग, रात्रि भोजनका त्याग तथा पाँच उदुम्बर फलका त्याग ये भी आठ मूल गुण है ॥१५५॥ कितने ही मुनीश्वर ये उक्त आठ मूल गुण कहते है और इन्हीका पालन करनेवाला मूल गुणोसे युक्त कहा जाता हे ॥१५६॥ दो मुहूर्त्तके वाद जलका नही छानना, मलिन वस्त्रसे जलका छानना, जिस छन्नेसे जल छाना गया था उसके वाकीके जल (जिवाणी) को पृथ्वी आदिके ऊपर डाल देना अथवा जिस जलाशयका वह जल है उसकी जिवाणीको उसी जलाशयमे न डाल कर किसी दूसरे स्थान पर डाल देना ये जल गालनव्रतके अतीचार है ॥१५७॥ जिन पुरुषोके रातमे भोजन करनेका त्याग है उन्हे दिनके पहले मुहूर्त्तमे और अन्तके मुहूर्त्तमे रोगादिकोके दूर करनेके लिये भी घृत आम आदि वस्तुओका भक्षण नही करना चाहिये क्योकि उस समय इन वस्तुओका भक्षण रात्रिभोजन त्याग व्रतमे दोषका उत्पन्न करनेवाला है ॥१५८॥

जूआका खेलना, मासका खाना, मद्यका पीना, शिकारका खेलना, चोरीका करना, परस्त्रीका सेवन करना और वेश्याका सेवन करना ये सातो व्यसन दु खोके देनेवाले हैं ऐसा मुनिलोग कहते हैं ॥१५९॥ जूआके खेलनेसे युधिष्ठिर महाराजको अपने राज्यसे भ्रष्ट होना पडा । मासके खानेसे वक नामक राजाको नरकका वास भोगना पडा । मदिराके पीनेसे यादव लोग नष्ट हुए ॥१६०॥ शिकारके खेलनेसे ब्रह्मदत्त समुद्रमे डूबकर अनेक प्रकारके दु खोको भोगने वाला वना । चोरीके करनेसे शिवभूति ब्राह्मण सर्प होकर अग्निमे गिरा ॥१६१॥ परस्त्रीके दोषसे तीन

दशास्योऽङ्गनादोषान्मृत्वाऽगाद्वालुकाप्रभाम् । धनं भुक्त्वाऽन्वभूद्दुःखं वेश्यातश्चारुदत्तक ॥१६२
एकैकव्यसनेनेत्थ जीवोऽमुत्रेह दु खितः । सर्वाणि सेवमान. को दु खी स्यान्न महानपि ॥१६३
होडाद्यपि विनोदार्थं मनसो द्यूतवर्जिनः । दूषण द्वेषरागौ हि भवन्तौ पापकारणम् ॥१६४
मुद्राचित्राम्बराद्येषु न्यस्तपाणिभिदादिकम् । कुर्यान्न मुक्तपापर्द्धिस्तज्जनेऽपि हि निन्दितम् ॥१६५
न गृह्णीयाद्धनं जोवदायाशद्राजतेजसा । नापह्नुवीत दाय वा चौर्यव्यसनशुद्धिभाक् ॥१६६
अन्यस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिसमोहकः । कुमारीरमणं मुञ्चेद्गान्धर्वादिविवाहकम् ॥१६७
वेश्यात्यागो त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्ति कुसङ्गतिम् । वृथा भ्रमणमेतस्या. सद्मादिगमनादि च ॥१६८
योऽयं दर्शनिक. प्रोक्त स चातीचारग स्थिरः । स्वाचारे क्वचन स्यात्तत्पाक्षिक. परमार्थत ॥१६९
तद्वत्सव्रतिकादिश्च दार्ढ्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् । प्राप्नोति पूर्वमेवार्थात्पद नैव तदुत्तरम् ॥१७०
अनारम्भं वधं चोज्झेदारम्भ नोत्कटं चरेत् । स्वाचाराऽप्रातिकूल्येन लोकाचारे प्रवर्त्तयेत् ॥१७१
नि पादयेत्समां भार्या धर्मे स्नेह पर नयन् । सा जडा विपरीता वा धर्मात्पातयते नृणाम् ॥१७२

खडका स्वामी रावण मर करके वालुकाप्रभा नाम तीसरे नरकमे गया। वेश्याके सेवन करनेसे वत्तीस करोड दीनारके स्वामी चारुदत्तने अनेक दु खोको भोगा ॥१६२॥ देखो! एक एक व्यसनोके सेवनसे जो-जो दु खी हुए हैं उनके उदाहरण नेत्रोके सामने हैं। जो सातो व्यसनोके सेवन करनेवाले है उनकी क्या दशा होगी यह हम नही कह सकते ॥१६३॥ जो लोग जूआके खेलनेका त्याग किये हुए हैं उनके लिये अपने मनके विनोदके अर्थ शर्त्त आदिका लगाना भी दूषणका स्थान है। क्योकि इससे होने वाले जो रागद्वेष हैं वे केवल पाप बन्धके ही कारण होते है ॥१६४॥ जिन पुरुषोको शिकारके खेलनेका त्याग है उन्हे मुद्रा (सिक्का), वस्त्र, भित्ति, काष्ठ आदिके ऊपर लिखे हुए चित्रोके हाथ पाँव आदि नही तोडने चाहिये। क्योकि उनको विनष्ट करना भी लोक निन्दित है ॥१६५॥ जिन लोगोको चोरीका त्याग है उन्हे चाहिये कि वे अपने कुटुम्बमे भाई वन्धु आदि जो लोग हैं उनसे राज्यादिके तेजसे धनको नही छीने और न धनको छिपावे ॥१६६॥ जो दूसरोकी स्त्रियोंके साथ विपयादिके करनेका त्याग किये हुए है उन्हे चाहिये कि वे बालिका (अविवाहिता) के साथ रमण न करे तथा गान्धर्व विवाहादिक भी उन्हे नही करना चाहिये ॥१६७॥ वेश्या त्याग व्रतीको गीत, वाद्य और नृत्य इनमे आसक्ति तथा खोटे पुरुषोकी सगति नही करनी चाहिये। तथा व्यर्थ भ्रमण और वेश्याओके यहाँ गमन भी नही करना चाहिये ॥१६८॥ दर्शन प्रतिमाके धारण करनेवालेके व्रतोमे कभी-कभी अतिचार लगता रहता है इसलिये वास्तवमे उसे पाक्षिक श्रावक ही कहना चाहिये ॥१६९॥ जिस तरह दर्शन प्रतिमाके धारण करनेवालोके व्रतोमे कभी-कभी अतीचार लगते हैं उसी तरह व्रतप्रतिमा आदि प्रतिमाओके धारण करनेवालोके व्रतोमे अतीचार लगनेसे उन्हे भी जिस प्रतिमामे अतीचार लगा है उसके पूर्वकी प्रतिमाके धारण करनेवाले कहना चाहिये। वे लोग उत्तर प्रतिमाके धारक कभी नही कहे जा सकते ॥१७०॥ कृषि आदिक जिन कार्योमे जीवोकी बहुत हिंसा होती है उन्हे छोडना चाहिये और ऐसा कोई प्रचुर आरभ भी नही करना चाहिये जिसमे जीवोकी बहुत हिंसा होती हो। तथा लोकाचार (स्वामीसेवा, क्रय, विक्रय आदि) इस तरहसे करना चाहिये जिसमे अपने व्रतादिमे किसी तरहकी बाधा न आवे ॥१७१॥ अपनी स्त्रीके साथ बहुत प्रेम करता हुआ उसे धर्ममे अत्यन्त दृढ करे। क्योकि यदि स्त्री निरी मूर्खा होगी अथवा अपने विचारोसे विरुद्ध होगी तो समझिये कि निश्चयसे मनुष्यको

पत्यु स्त्रीणामुपेक्षैव वैरभावस्य कारणम् । लोकद्वयं हितं वाञ्छंस्तदपेक्षेत तां सदा ॥१७३
नित्यं पतिमनीभूय रथातव्यं कुलस्त्रिया । श्रीधर्मशर्मकीर्त्तीना निलयो हि पतिव्रता ॥१७४
श्रयेत्कायमनस्तापशमान्तं भुक्तिवत्स्त्रियम् । नश्यन्ति धर्मकामार्थास्तस्या खल्वतिसेवया ॥१७५
यत्नं कुर्वीत तत्पत्न्यां पुत्र जनयितु सदा । स्थापयितुं सदाचारे त्रातुं च स्वमिवापथात् ॥१७६
सदपत्ये गृही स्वीय भार दत्वा निराकुल । सुशिष्ये सूरिवत्प्रीत्या प्रोद्यमेत परे पदे ॥१७७

तापापहान् श्रीजिनचन्द्रपादानाश्रित्य धर्मे प्रथमे कियन्तम् ।
कालं स्थिरीभूय विरज्य भोगान्मेधाविकोऽयं व्रतिक पुनः स्यात् ॥१७८

वह धर्मसे च्युत कर देगी ॥१७२॥ पति द्वारा स्त्रियोकी उपेक्षा ही तो आपसमे वैरका कारण हो जाती है इसोलिये जिन्हे अपने दोनो लोक सुधारना है उन्हे चाहिये कि वे सदा स्त्रियोकी अपेक्षा करें ॥१७३॥ जो अच्छे कुलकी स्त्रियाँ हैं उन्हे चाहिये कि वे निरन्तर अपने स्वामीके अनुसार चलें, क्योकि जो पतिव्रता स्त्रियाँ होती है वे धर्म, सुख और कीर्त्ति इनका प्रधान स्थान होती हैं ॥१७४॥ जब तक क्षुधाकी बाधा शान्त नही होती है तभी तक भोजन किया जाता है । क्षुधाकी बाधाके मिट जाने पर भी जो लोग लोलुपतासे अधिक भोजन कर लेते हैं उन्हे सिवाय दु खके और कुछ नही होता । उसी तरह जब तक शरीर और मनका ताप न मिटे तभी तक स्त्रीका सेवन करना चाहिये । क्योकि इस नियमको छोड कर जो लोग निरन्तर स्त्रीका सेवन करते हैं उन लोगोके धर्म अर्थ काम सभी नष्ट हो जाते हैं ॥१७५॥ श्रावकको चाहिये कि स्त्रीमे पुत्र होनेकी सदा चेष्टा करता रहे । तथा उस पुत्रको सदाचारमे लगानेके लिये तथा अपने समान कुमार्गसे रक्षण करनेके लिये भी प्रयत्न करना चाहिये ॥१७६॥ जिस तरह आचार्य अपने पट्टका भार किसी उत्तम शिष्यको देकर आप निराकुल हो जाते हैं उसी तरह गृहस्थ भी अपने सद्गुणी पुत्रको गृह सम्बन्धी सब भार प्रीति-पूर्वक देकर और सर्व तरहसे निराकुल होकर उत्कृष्ट पदकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील (उद्यमी) होवे ॥१७७॥ जो पुरुष इस ससार रूप भयकर तापके नाश करनेवाले श्री जिनदेवके चरण कमलोका आश्रय लेकर और कितने काल पर्यन्त प्रथम धर्म (दर्शनप्रतिमा) मे स्थिर रहकर पश्चात् विषय भोगादिसे विरक्त होता है मेधावी वह पुरुष इसके बाद व्रत-प्रतिमाका धारक कहा जाता है ॥१७८॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पडितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
दर्शनप्रतिमावर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकार ॥ २ ॥

•

तृतीयोऽधिकारः

सदृग्मूलगुण. साम्यकाम्यया शल्यवर्जित. । पालयन्नुत्तरगुणान्निर्मलान्व्रतिको भवेत् ॥१
यैर्युक्तान्यव्रतानीव दुःखदानि व्रतान्यपि । सशल्यानि व्रती तानि हृदो निष्काशयेत्तत. ॥२
गोरसाभावतो नैव गोमान्गोभिर्यथा भुवि । तथा निःशल्यत्वाभावाद्व्रतै· स्यान्न व्रती जन ॥३
नि शल्योऽस्ति व्रती सूत्रे सशल्यो व्रतघातक । मायामिथ्यानिदानाख्यं त्रय तत्त्यजतु त्रिधा ॥४
तत्राऽणुव्रतसंज्ञानि गुणशिक्षाव्रतानि च । पञ्चत्रिचतुराणीति स्युर्गुणा द्वादशोत्तरे ॥५
विरति स्थूलवधादेस्त्रियोगै करणैस्त्रिधा । अननुमतैर्वा पञ्चाऽहिंसाद्यणुव्रतानि स्यु ॥६
अहिंसा सत्यकं स्तेयत्यागमब्रह्मवर्जनम् । परिग्रहपरीमाणं पञ्चधाणुव्रत भवेत् ॥७
त्रसानां रक्षणं स्थूलदृष्ट्रसंकल्पनागसाम् । नि स्वार्थं स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥८

सम्यग्दर्शन सहित मूलगुणोका धारण करनेवाला, माया, मिथ्या और निदान इन तीन प्रकारकी शल्यसे रहित तथा रागद्वेपके नाशकी इच्छासे जो अतोचार रहित उत्तर गुणोको पालन करता है उसे व्रतिक अर्थात् व्रत प्रतिमाका धारण करनेवाला होता है ॥१॥ जिस तरह अव्रत दु खके देनेवाले हैं उसी तरह शल्य-सहित व्रत भी दु खोको देनवाले होते है अत उन्हे भी हृदयसे निकाल देना चाहिए ॥२॥ जिसके यहाँ दूध दही वगैरह तो नही है और गाएँ सैकडो बँधी हैं परन्तु वह केवल गायमात्रके होनेसे इस ससारमे गोवाला नही कहला सकता, उसी तरह जबतक माया मिथ्या आदि शल्यका अभाव न होगा तवतक चाहे उसके व्रत भले ही हो परन्तु वह व्रती नही कहला सकता । इसलिये व्रती पुरुषोको शल्यके छोडनेमे प्रयत्न करना चाहिए ॥३॥ जैन शास्त्रोमें शल्य-रहित पुरुषको 'निशल्यो व्रती' इस लक्षणके अनुसार व्रती (व्रतका धारण करनेवाला) कहा है । और शल्य-सहित पुरुपको व्रतका घात करनेवाला कहा है । इसलिये माया, मिथ्या और निदान इन शल्योको मन, वचन और कायसे छोडना चाहिये ॥४॥ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह ये वाहर उत्तर गुण समझना चाहिए ॥५॥ स्थूलहिंसा, स्थूलअसत्य, स्थूलचोरी, स्थूलअब्रह्म, स्थूलपरिग्रह इनसे, मन वचन और कायसे न करना, न कराना तथा करनेको अच्छा न कहना, इस तरह विरक्त होनेको पाँच अणुव्रत कहते है । तथा सम्मतिको छोडकर भी अणुव्रत होते हैं । भावार्थ—यह है जो गृहवाससे सर्वथा विरक्त हो गये है वे तो किसी कार्यमे भी अपनी सम्मति नही देते हैं । परन्तु जो गृहादिसे सर्वथा विरक्त नही हैं उन्हे पुत्रादिके विवाहादिमे अथवा किसी और गृहकार्यमे सम्मति देनी पडती है । जिनका सम्मतिके विना काम ही नही चलता उनके सम्मतिके रहनेपर भी अणुव्रत होते ही हैं । अर्थात् नवकोटिसे स्थूल पच पापोका त्याग उत्कृष्ट अणुव्रत है और छह कोटिसे त्याग मध्यम अणुव्रत है । हिंसादि एक पापका स्थूल त्याग जघन्य कोटिमे परिगणित है ॥६॥ स्थूल अहिंसा, सत्यका पालना, स्थूल चोरीका त्याग, स्थूल अब्रह्म (परस्त्री) का त्याग और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, सोना, चाँदी आदि दश प्रकारके परिग्रहका प्रमाण करना ये पाँच अणुव्रत कहे जाते है ॥७॥ स्थूल-दृष्टि-गोचर होनेवाले और सकल्पपूर्वक अपराध नही करनेवाले त्रस जीवोकी, तथा विना प्रयोजन

यत प्राणमयो जीव प्रमादात्प्राणनाशनम् । हिंसा तस्यां महद्दु खं तस्य तद्वर्ज्जनं ततः ॥९
सुखी दु खी न हिंस्योऽत्र न पापी न च पुण्यभाक् । क्वचित्तेन यतो दु ख मरणान्न महत्परम् ॥१०
जिनालयकृतौ तीर्थयात्रायां बिम्बपूजने । हिंसा चेत्तत्र दोषांशः पुण्यराशौ न पापभाक् ॥११
कायेन मनसा वाचा न त्रसाना वध क्वचित् । कार्यं कृतकारितानुमोदनैर्दु.खदायक ॥१२
सन्तोषालम्बनाद्य स्यादल्पारम्भपरिग्रह । यत्नवान्निष्कषायोऽसावहिंसाणुव्रतं श्रयेत् ॥१३
बन्धन ताडन छेदोऽतिभारारोपणस्तथा । अन्नपाननिरोधश्च दुर्भावात्पञ्चव्यत्यया. ॥१४
न हन्मीति व्रत कुप्यन्निकृपत्वान्न पाति न । भनक्त्यघ्नन्संगघातत्राणादतिचरत्यघी ॥१५
हिंस्यहिंसकहिंसास्तत्फलं चालोच्य निश्चयात् । हिंसा त्यजेद्यथा नैव प्रतिज्ञाहानिमाप्नुयात् ॥१६

स्थावर जीवोकी रक्षा करनेको अहिंसाणुव्रत माना गया है ॥८॥ यत जीव प्राणमय है, अत प्रमादसे प्राणोका नाश होना वही हिंसा है । तथा हिंसाके होनेसे अत्यन्त दु ख होता है इसलिए हिंसाका त्याग करना चाहिए । कितने लोगोका कहना है कि जो जीव दु ख पाता हो, पापी हो, दुष्ट हो, जिससे दूसरे जीवोको दु ख पहुँचता हो ऐसे मनुष्य तथा सिंह, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू आदि जीवोको मार देना चाहिये । जिन लोगोकी ऐसी श्रद्धा है उन लोगोका समाधान करते हैं ॥९॥ इस ससारमे सुखी, दु खी, पापी, अथवा पुण्यवान् कोई भी क्यो न हो किसीको नही मारना चाहिये । क्योकि मरणको छोडकर इस जीवको और कोई बडा दु ख नही है । भावार्थ—दु ख, सुखका होना अपने पूर्वोपार्जित कर्मोके उदयसे है । जिस जीवने जो कर्म उपार्जन किया है वह उसे अवश्य भोगना ही पडेगा उसे मारो अथवा कुछ करो वह उस कर्मके बिना भोगे कभी नही छूटनेका है । फिर व्यर्थ उसके मारनेसे भी क्या होगा ? उल्टा अपने ही लिये दु खका कारण है । कदाचित् यहाँ कोई यह शका करे कि यह अहिंसाणुव्रतका उपदेश तो बहुत ठीक है परन्तु तुम लोग जो जिनमन्दिर बनवाते हो, प्रतिष्ठा करवाते हो, उसमे बहुत हिंसा होती है वहाँ तुम्हारा अहिंसाणुव्रत कहाँ चला जायगा ? इसी प्रश्नके उत्तरमे ग्रन्थकार कहते हैं कि— ॥१०॥ जिन-मन्दिरके बनवानेमे, तीर्थोकी यात्रा करनेमे, तथा प्रतिष्ठादि महोत्सवोके करवानेमे यदि हिंसा होती है तो वह दोषका अश बहुत पुण्यके समूहमे पाप नही कहलाता है ॥११॥ मन, वचन, कायसे तथा कृत, कारित, अनुमोदनासे, दु खको देनेवाला त्रस (द्वीन्द्रियादि) जीवोका वध कभी नही करना चाहिये ॥१२॥ ससारके यथार्थस्वरूपको जानकर सन्तोष वृत्तिको धारण करके जो पुरुष आरभका करनेवाला, थोडे परिग्रहको रखनेवाला, प्रयत्नशील (उद्योगी) और कषायसे रहित होता है वही अहिंसाणुव्रतका पात्र होता है ॥१३॥ दुर्भावसे जीवोको बाँधना, ताडन करना, उनके शरीरावयवोका छेदना, बहुत भारका उनके ऊपर लादना तथा उनके अन्नपानका निरोध करना ये पाँच अहिंसाणुव्रतके अतीचार होते हैं ॥१४॥ जिस समय यह जीव क्रोधमे युक्त होता है उस समय परिणामोके निर्दय होनेसे अहिंसाणुव्रतका पालन नही करता है । क्योकि अहिंसाणुव्रतीके लिये निर्दय वृत्ति होना ठीक नही है । तथा न उस व्रतका सर्वथा नाश ही कर देता है । क्योकि व्रतका नाश उसी समय कह सकते हैं जब वह साक्षात् जीवोकी हिंसा करता हो सो तो नही करता है । किन्तु उसने अपने खोटे अभिप्रायोमे केवल कर्म-बन्ध ही किया है इसलिये उसने अहिंसाव्रतका उल्लघन किया है । इसी उल्लघनको अतीचार कहते हैं ॥१५॥ हिंस्य, हिंसक, हिंसा तथा हिंसाका नरकादि दुर्गतिरूप फल इन सबका ठीक-ठीक

हिंस्या प्राणा द्रव्यभावा प्रमत्तो हिंसको मत । प्राणविच्छेदनं हिंसा तत्फलं पापसंग्रह ॥१७
कषायादिप्रमादाना विजेता प्रथमव्रती । सदोदया दया कुर्यात्पापान्धतमसे रविम् ॥१८
अहिंसाव्रतरक्षायै मूलव्रतविशुद्धये । कुरुते विरतिं रात्रौ चतुर्भुक्तेर्महामनाः ॥१९
दिननालीद्वयादर्वाग्योऽत्त्यनस्तमिक सक्र । तत्परं योऽधमस्तेन त्यक्तं किं रात्रिभोजनम् ॥२०
रात्रौ चरन्ति लोकोक्तिरधमा रजनीचरा. । तत्र भुक्ति कृता येन भुक्त तैस्तेन निश्चितम् ॥२१
अतिसूक्ष्मास्त्रसा यत्र पतन्त्यागत्य भोजने । दीपं पश्यतो भुक्तौ तेऽपि भुक्ता न सन्ति किम् ॥२२
मक्षिका वमनाय स्यात्स्वरभङ्गाय मूर्द्धज । यूका जलोदरे विष्टि. कुष्ठाय गृहकोकिली ॥२३
भुक्तावित्यादिदोषालिर्नक्त प्रत्यक्षमीक्ष्यते । वार्त्ता पापस्य का तत्र वर्ण्यते ज्ञानिभिर्यदि ॥२४
न श्राद्धं दैवतं कर्म स्नान दानं न चाहुति. । जायते यत्र किं तत्र नराणा भोक्तुमर्हति ॥२५

विचार करके हिंसाको उस रीतिसे छोडना चाहिये जिससे अपनी की हुई प्रतिज्ञाकी हानि न होने पावे ॥१६॥ द्रव्यप्राण और भाव प्राण ये तो हिंस्य (घात करनेके योग्य) होते है । प्रमाद करके युक्त पुरुष हिंसक (जीवोका मारनेवाला) होता है । प्राणोका शरीरसे वियोग होनेको हिंसा कहते हैं और पापका सग्रह हिंसाका फल है ॥१७॥ क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, राज्य-कथा, चौरकथा, देशकथा और भोजनकथा ये चार कथा तथा पन्द्रह प्रकार प्रमाद आदिका जीतनेवाला प्रथम प्रतिमाका धारक श्रावक पापरूप गाढान्धकारके नाशके लिये अन्धकारके नाश करनेवाली सूर्यकी प्रभाके समान उत्तम दयाको कर ॥१८॥

जिन पुरुषोने अहिंसाणुव्रतको धारण किया है उन्हे चाहिये कि उस व्रतकी रक्षाके लिये और मूल व्रतकी दिनोदिन विशुद्धि (निर्मलता) करनेके लिये रात्रिमे चार प्रकारके आहारका त्याग करे ॥१९॥ जो पुरुष दो घटिका दिनके पहले भोजन करते है वे रात्रि भोजन त्याग व्रतके धारक कहे जाते है । इसके वाद जो भोजन करनेवाले हैं वे अधम (नीच) है । ऐसे पुरुष रात्रि भोजनके त्यागी कहे जा सकते है क्या ? अर्थात् नही कहे जा सकते ॥२०॥ यह वात लोकमे प्रसिद्ध है कि रात्रिके समयमे नीच राक्षसादि लोग भ्रमण करते रहते है तो जिस पुरुषने रात्रिमे भोजन किया है उसने नियमसे उनके साथ भोजन किया है ॥२१॥ रात्रिमे भोजन करते समय दीपकको देखकर उसके प्रकाशसे अनेक छोटे-छोटे जन्तु आकर भोजनमे गिरते रहते है तो क्या रात्रिमे भोजन करनेवाले पापी पुरुषोने उन जीवोका भक्षण नही किया होगा ऐसा कहा जा सकता है ? कभी नही । अव यह वात कहते है कि रात्रि भोजनसे केवल धर्मका ही घात होता हो सो भी नही है किन्तु शरीर सम्वन्धी हानियाँ भी वहुत होती है ॥२२॥ रात्रिमे भोजन करते समय मक्खी यदि खानेमे आ जाय तो उससे वमन होता है । यदि केश (वाल) खानेम आ जाय तो स्वर भग हो जाता है । यदि यूक (जूवाँ) खानेमे आ जाय तो जलोदर आदि रोग उत्पन्न होते है । और यदि गृहकोकिली (विस्मरी—छिपकली) खानेमे आ जाय तो उससे कोढ आदि उत्पन्न होती है । इसलिये वुद्धिमान् पुरुषोको रात्रिमे भोजन करनेका त्याग करना चाहिये ॥२३॥ इस तरह अनेक प्रकारके दोष रात्रिके भोजन करनेसे आँखोके सामने देखे जाते है तो वुद्धिमान् पुरुष उसके पापकी वार्त्ताका कहाँ तक वर्णन करे ॥२४॥ जब रात्रिमे श्राद्ध, देवकर्म, स्नान, दान और आहुति आदि कर्म नही होते हैं तो रात्रिमे क्या मनुष्योके लिये भोजन योग्य कर्म कहा जा सकेगा ? कभी नही ॥२५॥ जो पुरुष सूर्यके अस्त हो जानेपर भोजन करते है उन पापी पुरुषोको सूर्य-द्रोही

यो मित्रेऽस्तंगते रक्ते विदध्याद्भोजनं जन । तद्द्रोही स भवेत्पाप शवस्योपरि चाशनम् ॥२६
रात्रिभोजनपापेन दुर्गतिं यान्ति जन्तव । रोगा दरिद्रिण' क्रूरा दृश्यन्ते तेऽपि तेन वै ॥२७
स्ववध् लक्ष्मण प्राह मुञ्च मा वनमालिके । कार्ये त्वा लातुमेष्यामि देवादिशपथोऽस्तु मे ॥२८
पुनरुचे तयेतीश' कथमप्यप्रतीतया । ब्रूहि चेन्नैमि लिप्येऽहं रात्रिभुक्तेरघैस्तदा ॥२९
मातङ्गी चित्रकूटेऽभूद्रात्रिभुक्तिनिवृत्तित । स्वभर्त्रा मारितोत्पन्ना नागश्री सागरात्मभू ॥३०
पूर्वाह्णे भुज्यते देवैर्मध्याह्ने ऋषिपुङ्गवै । अधमैर्दानवै सायं निशाया राक्षसादिभि ॥३१
वर्या भुञ्जन्त्येकशोऽह्नि मध्या द्वि पशवोऽपरे । ब्रह्मोद्यास्तद्व्रतगुणा न जानाना अहर्निशम् ॥३२

समझना चाहिये। तथा उन लोगोको मुर्दोके मृतक शरीरके ऊपर भोजन करनेवाला कहना चाहिये ॥२६॥ रात्रिमे भोजन करनेके पापसे जीव परभवम दुर्गतिको जाते है। इस भवमे कितने रोगी, कितने दरिद्री, कितने महाभयकर आकृतिको धारण करनेवाले क्रूर इत्यादि अनेक तरहके दु खोसे पीडित देखे जाते हैं ॥२७॥ जिस समय वनमाला नामकी कोई राजकुमारी लक्ष्मणके गुण तथा रूप सौन्दर्यादिके सुननेसे उनको मनमे पतिरूपसे अगीकार कर लिया था। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि अब लक्ष्मणका दर्शन मुझे न होगा तो उसने सोचा कि फिर मेरा भी इस जगमे जीना निस्सार है। ऐसा विचार कर उसने अपने मनमे मरणका निश्चय किया। एक दिन घरके लोगोकी वन-क्रीडाके वहानेसे आज्ञा लेकर वनमे गई। वहाँ रात्रिके समय और लोगोको निद्रामे अचेत छोडकर आप किसी वृक्षकी शाखा पर अपने अन्तरीय वस्त्रकी फाँसी लटका कर मरना चाहा। यह सब चरित्र वहाँ आये हुए लक्ष्मणने देखा और सोचा कि यह मेरे ही विरहमे अपने प्यारे प्राणोको शरीरसे जुदा करना चाहती है। ऐसा समझकर करुणा बुद्धिसे उसके पास आकर कहा—वनमाले! यह अनर्थ मत कर, देख यह मैं लक्ष्मण हूँ। वनमाला जैसा लक्ष्मणका कीर्तन सुना था उसीतरह उन्हे देख बहुत प्रसन्न हुई। क्रमसे यही बात उसके पिताको मालूम हुई। पिताने लक्ष्मणका सादर शहरमे प्रवेश कराकर उसके साथमे वनमालाका विवाह कर दिया। विवाहके कितने दिनो बाद जब रामचन्द्र लक्ष्मणने उस नगरसे जाना चाहा उसी समय वनमाला लक्ष्मणसे कहती है—हे प्राणनाथ! मुझ अनाथिनीको यही अकेली छोडकर जो आप जानेका विचार करते हो तो मुझ विरहिणीका क्या हाल होगा? मै आपको नही जाने दूँगी। तब लक्ष्मण ने कहा—हे वनमाले! तुम मुझे छोडो, जाने दो, हमारे अभीष्ट कार्यके हो जानेपर मैं तुम्हे लेनेके लिये अवश्य आऊँगा। यदि मै अपने वचनोको पूरा न करूँ तो जो दोप हिंसादिके करनेसे लगता है उसी दोषका मै भागी होऊँ। इस बातको सुनकर वनमाला लक्ष्मणसे बोली—मुझे आपके आनेमे कुछ सन्देह है इसलिये आप यह प्रतिज्ञा करे कि यदि मैं न आऊँ तो रात्रिभोजनके पापका भोगनेवाला होऊँ। इससे ज्ञात होता है कि रात्रि-भोजनमे कितना बड़ा पाप है ॥२८-२९॥

चित्रकूट पर्वत पर अपनी स्त्रीको किसी चडालने रात्रिमे भोजनका त्याग कर देनेसे मार दिया, इसी रात्रि भोजनके त्यागके फलसे वह मातगी सागरदत्त सेठकी नागश्री नामकी पुत्री हुई थी ॥३०॥ देवता लोग तो प्रात कालमे भोजन करते है, मध्याह्न कालमे साधुलोग आहार लेते है, नीचदानव लोग सायकालमे भोजन करते है और राक्षसादि रात्रिमे भोजन करते है ॥३१॥ उत्तम लोग तो दिनमे एक बार ही भोजन करते है, मध्यम श्रेणीके पुरुष दिनमे दो बार भोजन करते हैं और पशु तथा राक्षसादि लोग रात्रिभोजन त्याग व्रतके माहात्म्यको नही जानते हुए दिन

दिवाद्यन्तमुहूर्त्तौ यो‌ऽस्ति त्यक्त्वा रात्रिवत्सदा । स्वजन्मार्द्धं नयन्सोऽत्रोपवासैर्वर्ण्यते कियत् ॥३३
वस्त्रेणातिसुपीनेन गालित तत्पिबेज्जलम् । अहिंसाव्रतरक्षार्थं मासदोषापनोदने ॥३४
अम्बुगालितशेषं तन्न क्षिपेत्क्वचिदन्यत । तथा कूपजल नद्यां तज्जलं कूपवारिणि ॥३५
तदर्द्धप्रहराद्दूर्ध्वं पुनर्गालितमाचमेत् । शौचस्नानादिकुर्यान्न पयसा गालित विना ॥३६
अतिप्रसंगनिक्षेप्तुं वृद्धि नेतुं तपस्तथा । व्रतसस्यव्रती भुक्तेरन्तरायानवेद्गृही ॥३७
वहुभि कीटकाद्यै संश्लिष्टमन्न परित्यजेत् । मृतजीवैश्च जीवद्भिर्विवेक्तु यन्न शक्यते ॥३८
आर्द्रचर्मास्थिमासासृक्सुराविष्टाङ्गिहिंसनाम् । दृष्ट्वाऽऽहारं न भुञ्जीत व्रतशुद्ध कदाचन ॥३९
चर्मादिपशुपञ्चाक्षव्रतमुक्तरजस्वला-रोमपक्षनखादीना स्पर्शनाद्भोजन त्यजेत् ॥४०
श्रुत्वा मांसादिनिन्द्याह्वा मरणाक्रन्दनस्वरम् । वह्निदाहादिकोत्पात न जिमेद्व्रतशुद्धये ॥४१
पलं रुधिरमित्यादीदृक्षं स्यादिति चिन्तनात् । व्रतिनो भोक्तुमर्हन्नो प्रत्याख्यातादनात्तथा ॥४२
तथा मौनं विधातव्य व्रतिना मानवर्द्धनम् । वाग्दोषप्रहानये द्वेधा कादाचित्कं सदातनम् ॥४३
भोजनं पूजन स्नान हदनं मूत्रण तथा । आवश्यकं रति नार्या कुर्यान्मौनेन तद्व्रती ॥४४
हुकारो हस्तसंज्ञा च भुक्तो भ्रूचापचालनम् । गृद्ध्यै पुरोऽनु च क्लेशो न कार्यो मौनधारिणा ॥४५

रात भोजन करते रहते है ॥३२॥ जो पुरुप रात्रि भोजनके समान दिनके आदि मुहूर्त्त तथा अन्तिम मुहूर्त्तको छोड कर भोजन करता है वह इस प्रकार अपने आधे जन्मको उपवाससे व्यतीत करता है, उस भव्यात्मा दयालुका हम कहाँ तक वर्णन करे ॥३३॥ अपने अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये तथा मासके दोपको नाश करनेके अर्थ अत्यन्त गाढे वस्त्रसे छाना हुआ जल पीना चाहिये ॥३४॥ जल छाननेके वाद जो उस छन्नेमे वाकी जल वचता है उसे जमीन वगैरह पर न डाले तथा कुँए-का जल नदीमे और नदीका जल कुँएमे भी न डाले ॥३५॥ तथा आधे प्रहरके वाद फिर जल छान कर पीने और शौच तथा स्नानादि विना छाने जलसे न करे ॥३६॥ आगे होने वाली दुरवस्थाके दूर करनेको, तथा तप वढानेके अर्थ गृहस्थोको चाहिये कि—व्रतरूप धान्यके ऊपर छिलकेके समान भोजनमे आने वाले अन्तरायोको छोडे ॥३७॥ अनेक मरे हुए तथा जीते हुए जीवोसे युक्त जो अन्न हो और जिन्हे दूर करना शक्य न हो उस भोजनको कभी नही खाना चाहिये ॥३८॥ जो लोग व्रत करके शुद्ध हैं अर्थात् व्रतोके धारण करनेवाले है उन्हे चाहिये कि—गीला चर्म, हड्डी, मास, खून, मदिरा, विष्टा तथा जीव हिंसा देखने पर आहार न करे ॥३९॥ चर्म आदि अपवित्र पदार्थ, पञ्चेन्द्री पशु, व्रत-रहित पुरुप, रजस्वला स्त्री तथा रोम, पक्ष, नख आदि पदार्थोका स्पर्श होनेसे भोजन छोड देना चाहिये ॥४०॥ मास, मदिरा, अस्थि, मरण, रोनेकी आवाज, वह्निदाह तथा उत्पात आदि सुननेके वाद, व्रतशुद्धि चाहने वालोको भोजन नही करना चाहिये ॥४१॥ भोजन करते समय यह अमुक भोज्य वस्तु माँस, रुधिर, मदिरा, अस्थि आदिके सदृश है ऐसा स्मरण होते ही , व्रती लोगोको भोजन नही करना चाहिये तथा त्यागी वस्तुके खाते समय उसके याद आते ही उसे तुरन्त छोड देना चाहिए ॥४२॥ व्रती पुरुपोको अपने वचन दोष दूर करनेके लिये कालकी अवधि तक अथवा जीवन-पर्यन्त इस तरह दो प्रकार मौन धारण करना चाहिये ॥४३॥ मौनव्रत धारण करनेवालोको भोजन, जिन भगवान्का पूजन, स्नान, शौच, मूत्र आवश्यक (सामायिकादि पट्कर्म) और स्त्रियोके साथ रमण ये सब कार्य मौन पूर्वक करना चाहिये ॥४४॥ मौनव्रतके धारण करने वालोको भोजन करते समय लोलुपताके अर्थ हुँकार, हाथसे किसी प्रकारका सकेत, भ्रू आदि-को चलाना तथा क्लेश आदि नही करना चाहिये ॥४५॥ साधु पुरुप (मुनि) इसी मौन व्रतके

सावुर्मौनान्मन शुद्धिं लभते शुक्लदायिनीम् । युगपद्वाक्यसिद्धि च त्रैलोक्यानुग्रहानुगाम् ॥४६
मौने कृते कृतस्तेन श्रुतस्य विनयो ह्यत । तेन सम्प्राप्यते ज्ञानं केवलं केवलाच्छिव ॥४७
उद्योतन मखेनैकघटादान जिनालये । कादाचित्कालिके मौने निर्वाह सर्वदातने ॥४८
सभ्यै पृष्टोऽपि न ब्रूयाद्विवादे ह्यलीकं वच । भयाद्द्वेषाद्गुरुस्नेहात्स्थूलं सत्यमिद व्रतम् ॥४९
कुमारीभूगवालीक वित्तन्यासापलापवत् । न सत्याणुव्रती ब्रूयाद्धिंसावत्प्राणिनाधनम् ॥५०
धर्मेण दूषित वाक्य स्वान्यापदि च यद्भवेत् । तत्सत्यमपि न ब्रूयात्सत्याणुव्रतधारक ॥५१
धार्मिकोद्धरणे जैनशासनोद्धरणे तथा । कदाचित्प्राणिरक्षार्थमसत्यं सत्यवद्वदेत् ॥५२
तद्दोषा. पञ्च मिथ्योपदेशैकान्ताभिवादनम् । कूटलेखक्रियान्यासाहृती साकारसंत्रभित् ॥५३

प्रभावसे शुक्ल ध्यानको प्राप्त करानेवाली मन शुद्धि तथा तीन लोकमे अनुग्रह करनेवाली वचन शुद्धिको एक साथ प्राप्त होते है ॥४६॥ जिस पुरुषने मौनव्रत धारण किया है उसने मौनव्रत ही धारण नही किया है किन्तु इसके साथ ही श्रुत (शास्त्र) का भी विनय किया है । इसलिये मौनव्रत धारण करनेवाले नियमसे पहले लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानको प्राप्त करके फिर मोक्षको प्राप्त करते है ॥४७॥ जिन पुरुषोने कालकी मर्यादा लिये मौनव्रत धारण किया है उन्हे जिन-पूजनादि उत्सव करके मौनव्रतका उद्योतन (उद्यापन) करना चाहिये । तथा जिनालयमे एक घटा दान देना चाहिये । और जिन महात्मा पुरुषोने आजीवनके लिये मौनव्रत धारण किया है उन्हे तो बस आजीवन पर्यन्त ठीक रीतिसे उसका पालन करना चाहिये उनके लिये यही उद्यापन है ॥४८॥ सभ्य पुरुषोके पूछने पर भी विवादमे किसीके भयसे द्वेषसे तथा अपने पिता आदिके स्नेहसे झूँठ वचन नही बोलनेको स्थूल सत्य व्रत कहते हैं ॥४९॥ सत्याणुव्रती पुरुषोको—हिंसाके समान जीवोको दुःख देनेवाली कुमारी-अलीक (कन्या सम्बन्धी झूँठ) भूअलीक (पृथ्वी सम्बन्धी झूँठ) गवालीक (गाय सम्बन्धी झूँठ) नही बोलना चाहिये । तथा दूसरेकी रखी हुई धरोहरके सम्बन्धमे भी भूलसे झूँठ नही बोलना चाहिये । विशेषार्थ—कुमारी अलीक—यह कन्या दूसरी जातिकी होनेपर भी हमारी जातिकी है, अथवा सजातीय होने पर भी हमारी जातिकी नही है । इसी तरह कन्यामे जो गुण दोष है उनका नही बताना, अथवा न होने पर भी बताना इत्यादि । कुमारी अलीक इस शब्दसे केवल कुमारी, का ही ग्रहण नही करना चाहिये यह तो उपलक्षण मात्र है किन्तु कुमारी, कुमार (बालक) तथा और कोई द्विपद मनुष्यादि इन सबका ग्रहण समझना चाहिये । भूअलीक—जमीन, वृक्ष, अथवा और कोई स्थावर पदार्थ जो दूसरेके है उन्हे अपने कहना अथवा अपने होने पर भी अपने नही कहना इत्यादि यहाँ भी भू यह शब्द उपलक्षण है इससे स्थावर पदार्थ मात्रका ग्रहण है । गवालीक—गाय आदि चतुष्पाद जीवोमे गुण अथवा दोष रहने पर भी कहना कि नही है अथवा न रहने पर उनका अस्तित्व बताना इत्यादि—यहाँ भी गाय शब्दसे सर्व चतुष्पद जीवोका ग्रहण समझना चाहिये । लोकमे ये तीनो अलीक प्रसिद्ध हैं इसलिये इन तीनोके त्यागनेका उपदेश है ॥५०॥ सत्याणुव्रतके धारक पुरुषोको चाहिये कि जो वचन धर्मसे विरुद्ध हो तथा जिसके बोलने-से अपने ऊपर तथा दूसरोके ऊपर आपत्ति आती हो ऐसे सत्य वचनको भी न बोले ॥५१॥ किसी धर्मात्मा पुरुषके ऊपर किसी तरहकी आपत्ति अथवा और कोई बाधा आती हो तो उसके दूर करनेके अर्थ, जिन धर्मके उद्धारके अर्थ तथा प्राणियोकी जीव रक्षाके लिये असत्यको भी सत्यके समान बोलना चाहिये ॥५२॥ सत्याणुव्रतके, मिथ्या उपदेश देना, स्त्री पुरुषोके गुप्त कृत्यका—

ग्रामादौ वस्तु चान्यस्य पतितं विस्मृतं धृतम् । गृह्यते यन्न लोभात्तत्स्तेयत्यागमणुव्रतम् ॥५४
यतोऽपहरता द्रव्यं प्राणास्तत्स्वामिनो हृता । द्रव्यमेव जने प्राणा हिंसावत्तत्त्यजेत्तत ॥५५
सर्वभोग्यतृणाम्ब्वादेर्नाददीत ददीत नो । संक्लेशाभिनिवेशेन तृतीयाणुव्रती परम् ॥५६
निधानादिधनं ग्राह्यं नास्वामिकमितीच्छया । अनाथ हि धनं लोके देशपालस्य भूपते ॥५७
निधानादिधनग्राही सदोषश्चौरवद्ध्रुवम् । भूपेन विहित दण्ड सहतेऽध्यक्षमीक्ष्यते ॥५८
मम स्याद्वा न वेति स्व स्वमपि द्वापरावहम् । यदा तदा गृह्यमाणं जायते व्रतहानये ॥५९
अतीचारा व्रते चाऽस्मिन् कर्द्दमा इव वारिणि । कथ्यमाना निवार्यन्ता तृतीयव्रतधारिणा ॥६०
स्तेनसंगाहृतादानविरुद्धराज्यलङ्घनम् । हीनाधिकतुलामान व्यापारप्रतिरूपक ॥६१
स्मरपीडाप्रतीकारो ब्रह्मैव न रति स्त्रिया । इत्यविश्वस्तचित्तोऽसौ श्रयेत निजस्वामिनीम् ॥६२
परस्त्रीरमणं यत्र न कुर्यान्न च कारयेत् । अब्रह्मवर्जनं नाम स्थूल तुर्यं च तद्व्रतम् ॥६३

प्रकट करना, खोटा लेख करना, रखे हुए द्रव्यका हरण कर लेना, तथा सकेत आकारादिसे दूसरोके अभिप्रायको जानकर उसे दूसरोको कह देना तथा अपने मित्रादिकी गुप्त वार्ता प्रगट कर देना—ये पाँच दोष (अतीचार) है इन्हे सत्याणुव्रतके धारक पुरुषोको छोडना चाहिये ॥५३॥ लोभके वशीभूत होकर ग्राम, मार्गादिमे दूसरोकी गिरी हुई, भूली हुई तथा धरी हुई वस्तूके नही ग्रहण करनेको स्तेयत्याग नाम तीसरा अणुव्रत कहते है ॥५४॥ जिस पुरुषने दूसरोका धन हरण किया है उसने केवल धन ही नही हरण किया है, किन्तु धनके साथ ही उसने धनके मालिकके प्राणोको भी हर लिया है। क्योकि लोकमे द्रव्य प्राणस्वरूप है। इसलिये उत्तम पुरुषोको चाहिये कि हिंसाके समान दु ख देनेवाली चोरीका त्याग करे ॥५५॥ सर्व साधारणके उपभोग करने योग्य ऐसे तृण तथा जल आदि जो वस्तुएँ हैं उन्हे भी स्वामीकी आज्ञाके विना स्तेयत्यागव्रतके धारक पुरुषोको न स्वय लेना चाहिये और न लेकर दूसरोको देना चाहिये ॥५६॥ इस धनका कोई मालिक नही है ऐसा समझ कर जमीनमे गडा हुआ धन आदि नही ग्रहण करना चाहिये क्योकि जो धन अनाथ होता है अर्थात् जिस धनका कोई स्वामी नही होता है वह धन उस देशके राजाका होता है ॥५७॥ निधानादिके धनको ग्रहण करनेवाला पुरुष नियमसे चोरके समान दोष करके सहित है और उसे राजाका दिया हुआ दड भोगना पडता है तथा कारागृहमे जाना पडता है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है ॥५८॥ यह धन मेरा है अथवा नही है, इस प्रकार सन्देह करानेवाला खास अपना भी धन जिस किसी समय ग्रहण किया जाता है तभी वह स्तेयत्यागव्रतकी हानिके लिये होता है ॥५९॥ जिस प्रकार जलमे कीचड होता है उसी तरह अचौर्य व्रतमे मलीनताके कारण ऐसे जो अतीचार हैं स्तेयत्यागव्रतके धारक पुरुषोको उन्हे छोडना चाहिये ॥६०॥ चोरी करनेका उपाय बतलाना, चोरीका द्रव्य लेना, राजाकी आज्ञाका उल्लघन करना, तोलनेके परिमाण (बाट) को हीनाधिक रखना। और अधिक कीमतकी वस्तुमे थोडी कीमतकी वस्तु मिलाना ये पाँच स्तेयत्यागव्रतके अतीचार हैं। चोराके त्याग करनेवालोको इन्हे छोड देना चाहिये ॥६१॥ कामकी पीडाके दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्यका धारण करना है, किन्तु स्त्रियोके साथ रमण नही। इस तरह जिस पुरुषका चित्त विश्वासको प्राप्त नही है उसे चाहिये कि वह अपनी स्त्रीका ही सेवन करे ॥६२॥ परवनिताओके साथ न रमण करना चाहिये और न दूसरोको कराना चाहिये। इसे ही स्थूल परस्त्रीत्याग नाम चौथा अणुव्रत कहते है ॥६३॥ परस्त्री-त्यागव्रतके धारण करनेवाले पुरुषोको चाहिये

परदारकुचस्यादौ न चक्षुर्निक्षिपेदसौ । क्षुब्धं चेन्नालमाक्रष्टुं कर्दमे जरदुक्षवत् ॥६४
स्वनार्यामपि निर्विण्ण सन्ततौ कुरुते रतिम् । शीतं नुनुत्सुर्वा वह्नौ ब्रह्मचारी न पर्वणि ॥६५
स्वस्त्रियं रममाणोऽपि रागद्वेषौ भजत्यहो । सूक्ष्मान्योन्यङ्गिनोऽनेकान्हिनस्तीति स हिंसकः ॥६६
मूर्च्छातृष्णाङ्गपीडानुवन्धकृत्तापकारकः । स्त्रीसंभोग सुखं चेत्स्यात्कामिनां न ज्वर कथम् ॥६७
परस्त्रीं रममाणस्य क्रिया काचिन्न शर्मणे । दृश्यतेऽसमरङ्गत्वादनवस्थितचित्तत ॥६८
परदारनिवृत्तो यो यावज्जीवं त्रिधा नर । अद्भुतातिशयः सोऽपि किं वर्ण्यं ब्रह्मचारिण' ॥६९
सीतेव रावणं या स्त्री परभर्त्तारमुज्झति । रूपैश्वर्यादिवर्यं च सा गीर्वाणैरपीज्यते ॥७०
परविवाहकरणानङ्गक्रीडास्मरागमा । परिगृहीतेत्वरिकागमनं सेतर मला ॥७१
चेतनेतरवस्तूना यत्प्रमाणं जिनेच्छया । कुर्यात्परिग्रहत्यागं स्थूलं तत्पञ्चमं व्रतम् ॥७२
क्रोधाद्यभ्यन्तरग्रन्थानुद्यतोऽपि निवारयेत् । क्षमाद्यै. क्षेत्रवास्त्वादीनल्पीकृत्य शनै शनैः ॥७३

कि—दूसरोकी स्त्रीके स्तन, मुख अथवा और किसी अङ्गमे अपने नेत्रोको कभी नही डाले । क्योकि क्षोभित (विकारयुक्त) नेत्रोका स्त्रियोकी ओरसे हटाना वहुत दुष्कर हो जाता है । जिस तरह कीचडमे फँसे हुए वृद्ध वैलका निकलना कठिन हो जाता है ॥६४॥ स्वदार सन्तोषव्रत पालने वाले व्रह्मचारी पुरुषोको अपनी स्त्रीमे भी विरक्त होकर केवल सन्ततिके लिये रति करना चाहिये । जिस तरह शीतकी वाधाके दूर करनेके लिये अग्निका सेवन किया जाता है । अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वोमे तो कभी विपय सेवन नही करना चाहिये ॥६५॥ अपनी स्त्रीके साथमे विपय सेवन करता हुआ भी राग और द्वेपको प्राप्त होता ही है । तथा योनिस्थानमे उत्पन्न होनेवाले अनेक सूक्ष्म जीवोको मारता है इसलिये वह हिंसक भी है ॥६६॥ मूर्च्छा, तृष्णा तथा शरीर पीडा करनेवाला और सन्ताप वढाने वाला, स्त्रियोके साथमे किया हुआ विषय ही यदि कामी पुरुषोको सुख देने वाला हो तो फिर ज्वर क्यो नही सुख देनेवाला माना जावे ? ॥६७॥

समान रतिके न होनेसे तथा चित्तके आकुलित रहनेसे दूसरोकी स्त्रियोके साथमे विपय सेवन करनेवाले पुरुपोकी कोई क्रिया सुखकी कारण नही होती है ॥६८॥ जो पुरुप मन वचन कायसे जीवन पर्यन्त परस्त्रीसे निवृत्त रहता है वह भी आश्चर्यके करनेवाले अतिशय (महिमा) से युक्त होता है फिर जो भव्य पुरुष सर्वथा व्रह्मचारी (स्वस्त्री और परस्त्रीसे विरक्त) रहते हैं उनका तो हम वर्णन ही क्या करे ॥६९॥ जिस तरह सीताने रावणको मन वचन कायसे छोड़ा था उसी तरह जो स्त्री रूप लावण्य करके अत्यन्त सुन्दर भी पर पुरुपको छोड देती है—उसको स्वप्नमे भी कभी वाञ्छा नही करती है उसे देवता लोग भी पूजते हैं ॥७०॥ पर विवाह—दूसरोके पुत्र पुत्रीका विवाह कराना, अनङ्गक्रीडा—जो विपय सेवनका अङ्ग है उसे छोड कर और दूसरे अवयवोसे क्रीडा करना, स्मरागम—हर समय स्त्रियोके साथ विपय सेवनकी अभिलापा रखना, परिगृहीते-त्वरिकागमन—जो स्त्री विवाहिता है परन्तु उसका पति पिता अथवा और कोई नही है और वह गुप्तरूपसे अथवा प्रगट रूपसे दूसरे पुरुषोकी इच्छा करती है उसे परिगृहीत इत्वरिका कहते हैं ऐसी स्त्रीके यहाँ जाना, अथवा—अपरिगृहीत इत्वरिकागमन—वैश्यादिकोके यहाँ जाना ये पाँच स्वदार सन्तोष व्रतके अतीचार हैं। इन्हे परस्त्रीत्यागव्रतके धारण करनेवालोको छोडना चाहिये॥७१॥ धन धान्यादि अचेतन और दासी दास आदि सचेतन वस्तुओका अपनी इच्छासे जो प्रमाण करना है उसे स्थूलपरिग्रहत्याग नाम पाचमा अणुव्रत कहते हैं ॥७२॥ क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दासी, दास

देशकालात्मजात्याद्यपेक्षया परिमाणयेत् । वास्त्वाद्यामृति कृशयेत्तदपि स्वेच्छया पुन. ॥७४
अप्रत्ययतमोरात्रिर्लोभाग्निसमिधाहुति । सावद्यग्राहवाराशिस्तथापीष्ट परिग्रहः ॥७५
य. परिग्रहसंख्यं ना निर्मल रक्षति व्रतम् । लोभजिज्जयवत्पूजातिशय लभते त्वसौ ॥७६
परिग्रहाभिलाषाग्नि ज्वलन्तं चित्तकानने । विध्यापयेदसौ क्षिप्र सन्तोषघनधारया ॥७७
प्रमाणातिक्रमो वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययो. । हिरण्यस्वर्णयोर्द्व्यादिपादयोः कुप्यभाण्डयोः ॥७८

वास्तुक्षेत्रादियुग्मानां पञ्चानां प्रमिर्ति क्रमात् ।
योगाद्वन्धनतो दानाद्गर्भाद्भावान्न लघयेत् ॥७९

व्रतान्यमून्यस्मिन्विद्यन्ते चेत्यणुव्रती । याति मृत्वा सहस्रारपर्यन्तममरालयम् ॥८०
देवायुष्कमयं मुक्त्वा बद्धान्याऽयुष्कमानव. । प्राप्नोत्यणुव्रतं नैव नो महाव्रतमुत्तमम् ॥८१

बद्धायुष्को निजा मुक्त्वा गर्ति नान्यत्र गच्छति ।
द्विधा व्रतप्रभावेन दैवीमेव गर्ति यत ॥८२

आदि वाह्य परिग्रहको धीरे धीरे घटा करके—उत्पन्न होने वाले-क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, आदि चौदह प्रकारके अभ्यन्तर परिग्रहको भी क्षमादिकोके द्वारा दूर करे ॥७३॥ धन-धान्य, वास्तु आदि वाह्य परिग्रहका स्वेच्छासे देश, काल, आत्मा तथा जाति आदिकी अपेक्षासे आजन्म पर्यन्त परिमाण करे। पुन वह परिमाण भी क्रमसे घटाते जाना चाहिये ॥७४॥ ग्रन्थकार कहते है कि—यद्यपि यह परिग्रह अविश्वास रूप अन्धकारकी रात्रि है, लोभ रूप धग धग जलने वाली अग्निके लिये ईन्धन (काष्ठ) की आहुति है तथा सावद्य (पाप) ग्राह (मगरमच्छादिक) के लिये जलराशि (समुद्र) के समान है। तो भो ससारी लोगोके लिये इष्ट (अभिलषित) है ॥७५॥ लोभको जीतने वाला जो पुरुष परिग्रह प्रमाण रूप पवित्र व्रतका पालन करता है वह जयकुमारके समान लोकमे पूजाके अतिशयका भागी होता है ॥७६॥ परिग्रह-प्रमाणव्रत धारण करनेवाले पुरुषोको अपने चित्त रूप वनमे जलती हुई परिग्रहकी अभिलापा रूप अग्निको सन्तोप रूप मेघकी धारासे वहुत जल्दी वुझाना चाहिये ॥७७॥ वास्तु-क्षेत्र, धन-धान्य, चाँदी-सुवर्ण, द्विपद-चतुष्पद तथा कुप्य-भाण्ड इनके प्रमाणके उल्लघन करनेको अतीचार कहते है ॥७८॥ वास्तु और क्षेत्रका योगसे अपने परिमाण किये हुए वास्तु (घर) और क्षेत्रमे दूसरे स्थान-को मिला लेना, घन और धान्यका वन्धन—बेचनेके प्रतिवन्धसे, चाँदी और सोनेका दान-दूसरोको देनेसे, द्विपद और चतुष्पदका गर्भसे, कुप्य और भाण्डका भाव (परिणाम) अपनी की हुई परिमाण सख्याकी अधिक वृद्धि करनेसे अतिक्रमण नही करना चाहिये। ये ही क्रमसे परिग्रह परिमाणव्रतके पाँच अतोचार कहे जाते है। इन्हीक छोडनेका उपदेश है ॥७९॥ ऊपर कहे हुए अहिसाणुव्रत, सत्याणु-व्रत, अचौर्याणुव्रत, व्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये पाँच अणुव्रत, जिस पुरुषमे पाये जावे उसे ही अणुव्रती कहना चाहिये। अणुव्रतका धारण करनेवाला पुरुष सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त जाता है। आगममे अच्युत स्वर्ग तक जानेका विधान है ॥८०॥ अणुव्रत धारण करनेके पहले देवायुको छोड कर जिसके दूसरी गतिकी आयुका वन्ध हो गया है वह पुरुष कभी अणुव्रत तथा उत्तम महाव्रत-को प्राप्त नही हो सकता ॥८१॥ जिसके अणुव्रत धारण करनेके पहले दूसरी गतिका वन्ध हो गया है वह पुरुप उस गतिको छोड कर दूसरी गतिमे नही जाता। यही कारण है कि—अणुव्रत तथा महाव्रतके प्रभावसे देवगति ही को प्राप्त होता है ॥८२॥ जिन भगवान्‌की सभामे वैठे हुए

जिनेन्दुपर्यज्जनमन्यमाना मेघाविनो ये व्रतपञ्चकं तत् ।
प्रपाल्य संन्यासविधिप्रमुक्तप्राणा. श्रियस्ते द्युभवा लभन्ते ॥८३

लोगोसे माननीय जो मेवावी पुरुप ऊपर कहे हुए पाँच प्रकारके अणुव्रतोका पालन करके सन्यास विधि पूर्वक अपने प्राणोका परित्याग करते हैं वे पुरुप स्वर्गकी लक्ष्मीके भोगनेके अधिकारी होते हैं ॥८३॥

इति सूरिश्रोजिनचन्द्रान्तेवासिना पडितमेघाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
व्रतस्वरूपवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकार ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽधिकारः

पञ्चाणुव्रतरक्षार्थं पाल्यते शीलसप्तकम् । शस्यवत्क्षेत्रवृद्ध्यर्थं क्रियते महती वृति ॥१
गुणाय चोपकारायाऽहिंसादीनां व्रतानि तत् । गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥२
दशदिक्ष्वपि संख्यानं कृत्वा यास्यामि नो वहि । तिष्ठेदित्याऽऽमृतेर्यत्र तत्स्याद्दिग्विरतिव्रतम् ॥३
वार्धिनद्यटवीभूध्रमर्यादा योजनानि च । विधाय तदविस्मृत्यै सीमा नात्येति कर्हिचित् ॥४
तद्वहि. सूक्ष्मपापाना विनिवृत्तेर्महाव्रतम् । फलत्यणुव्रत तस्मात्कुर्यादेतदणुव्रती ॥५
नियमात्तद्वहिस्थाना त्रसस्थावरदेहिनाम् । रक्षणं कृतमेतेन ततोऽदोऽर्हमिहोदितम् ॥६
मलपञ्चकमूर्द्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमा । क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधाने मोक्तव्यमेव तत् ॥७
अर्थ प्रयोजनं तस्याभावोऽनर्थं स पञ्चधा । दण्ड. पापाश्रवस्तस्य त्यागस्तद्व्रतमुच्यते ॥८
वधो वन्धोऽङ्गच्छेदस्वहृती जयपराजयौ । कथ स्यादस्य चिन्तेत्यपधान तन्निगद्यते ॥९

अहिंसादिक पाँच अणुव्रतोके सरक्षणके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार सात शील पालन किये जाते हैं। जिस तरह धान्य-युक्त क्षेत्र (खेत) की वृद्धिके लिये उसके चारो ओर काँटेकी वाढ लगाई जाती है ॥१॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादिकी वृद्धिके लिये तथा उपकारके लिये जो व्रत हैं उन्हे गुणव्रत कहते है। वे गुणव्रत दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इस तरह तीन प्रकारके हैं ॥२॥ दशोदिशामे जानेकी अवधिकी सख्या करके उसके वाहर मै नही जाऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा करके मरण-पर्यन्त उसी मर्यादाके भीतर ही रहना दिग्विरति व्रत कहा जाता है ॥३॥ किया हुआ दिग्विरति व्रत कभी विस्मरण न हो इसलिये समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत तककी मर्यादा तथा योजन तक, की हुई सीमाका कभी भी उल्लघन न करे ॥४॥ की हुई मर्यादाके वाहर—सूक्ष्म पापोकी सर्वथा निवृत्ति हो जानेसे दिग्विरति व्रतके धारण करनेवाले पुरुपोको महाव्रतका लाभ होता है। इसलिये अणुव्रत धारण करनेवाले पुरुषोको यह दिग्विरतिव्रत धारण करना चाहिये ॥५॥ दिग्विरतिव्रतके धारण करनेवालोने—की हुई मर्यादाके वाहर रहनेवाले द्वीन्द्रियादि पञ्चेन्द्री पर्यन्त त्रस तथा पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पञ्च प्रकारके स्थावर जीवोकी नियमसे रक्षा की है इसलिये यह दिग्विरतिव्रत महाव्रतके योग्य कहा है। ६॥ ऊर्ध्वभागव्यतिक्रम—ऊपर जानेकी जहाँ तक मर्यादा की है उससे अधिक ऊपर चढना, अधोभागव्यतिक्रम—नीचे जहाँ तक जानेको अवधि की है उससे अधिक नीचे जाना, तिर्यग्भागव्यतिक्रम—इसी तरह तिर्यग्दिशाकी जितनी मर्यादा की है उससे अधिक जाना, की हुई मर्यादाके वाहरके क्षेत्रमे जाने लगना, तथा की हुई मर्यादा भूल जाना ये पाँच दिग्विरतिव्रतके अतीचार हैं। दिग्विरतिव्रत धारक पुरुपोको छोडने चाहिये ॥७॥ प्रयोजनको अर्थ कहते हैं और जिस कार्यके करनेमे अर्थ (प्रयोजन) का अभाव हो उसे अनर्थ कहते हैं। वह अनर्थ पाँच विकल्पमे विभाजित है। उस अनर्थका जो दण्ड (पापाश्रव) उसे अनर्थदड कहते है। और अनर्थदडका जो त्याग (छोडना) वह अनर्थदडत्यागव्रत कहलाता है ॥८॥ अमुकका मरण, वन्धन, शरीर छेद, धनका हरण, जय अथवा पराजय कैसे हो इस प्रकारका चिन्तन करनेको अपध्यान नाम अनर्थदड कहते

वधकारंभकादेशौ वाणिज्यतिर्यक्क्लेशयो. । एभिश्चतुर्विधैर्योगैर्मतः पापोपदेशक. ॥१०
शस्त्रपाशविषालाक्षीनीलीलोहमन शिला । चर्माद्यं नखिपक्ष्याद्या दान हिंसाप्रदानकम् ॥११
भूमिकुट्टनदावाग्निवृक्षमोटनसिञ्चनम् । स्वार्थं विनाऽपि तज्ज्ञेयं प्रमादचरितं बुधै ॥१२
यत्राऽधीते श्रुते कामोच्चाटनक्लेशमूर्च्छनै । अशुभं जायते पुंसामशुभश्रुतिरिष्यते ॥१३
एतत्पञ्चविधस्यास्य विरति क्रियतेऽत्र यत् । अनर्थदण्डविरतिस्तद्द्वितीयं गुणव्रतम् ॥१४
तत्र कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यं वर्ज्यमुत्तमैः । भोगोपभोगानर्थक्यासमीक्ष्याधिकृती मलम् ॥१५
इयन्तं समयं सेव्यौ मया भोगोपभोगकौ । इयन्तौ नाधिकाविच्छन्स श्रयेत्तत्प्रमाव्रतम् ॥१६
एकशो भुज्यते यो हि भोगः स परिकथ्यते । मुहुर्यो भुज्यते लोके परिभोग स उच्यते ॥१७
तयोर्यत्क्रियते मानं तत्तृतीयं गुणव्रतम् । ज्ञेयं भोगपरिभोगपरिमाणं जिनेरितम् ॥१८
त्याज्यवस्तुनि तु प्रोक्तो यमस्तु नियमस्तथा । यावज्जीवं यमो ज्ञेयो नियम कालसीमकृत् ॥१९
भोगे त्रसबहुप्राणाघातके यम एव हि । भोगोपभोगकेऽन्यत्र यमो नियमकोऽथवा ॥२०
द्विदल मिश्रितं त्याज्यमामैर्दध्यादिभि सदा । यत तत्र त्रसा जीवा विविधा संभवन्त्यहो ॥२१

है ॥९॥ जीवोके मारनेका और आरम्भका उपदेश देना तिर्यञ्चोके व्यापारका और कोई क्लेश जनक व्यापार करनेका उपदेश देना इन चारोके सम्बन्धसे पापोपदेश नाम अनर्थदड होता है ॥१०॥ तलवार आदि शस्त्र, जाल, विष, लाक्षा (लाख), नील, लोह, मन शिल (मैनशल), चर्म आदि वस्तु अथवा नखवाले पक्षी आदि जीव इनके देनेको हिंसादान नाम अनर्थदड कहते है ॥११॥ अपने प्रयोजनके विना पृथ्वीका खोदना, वनमे तथा पर्वतोमे अग्नि लगाना, वृक्षोका तोड़ना तथा सिञ्चन करना ये सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड कहे जाते है ॥१२॥ जिन शास्त्रोको सुननेसे अथवा पढनेसे काम, उच्चाटन, क्लेश तथा मूर्च्छादि होते है और जिनसे जीवोको पाप बन्ध होता है उन खोटे शास्त्रोके श्रवण तथा पढनेको अशुभश्रुति नामक अनर्थदण्ड कहते है। इसीका दु श्रुति अनर्थदण्ड भी नाम है ॥१३॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए पाँच प्रकारके अनर्थदण्डसे जो विरक्त होना है उसे अनर्थदण्डविरति नामक दूसरा गुणव्रत कहते है ॥१४॥ कन्दर्प—स्त्रियोके साथ विषय सेवनकी अभिलाषासे युक्त हास्य वचनोका बोलना, कौत्कुच्य—शरीरकी खोटी चेष्टाएँ करना, मौखर्य्य—उन्मत्तपनेमे असम्बद्ध बहुत बोलना, भोगोपभोगानर्थक्य—अपने कार्यसे भी अधिक भोगोपभोग वस्तुओका सग्रह करना, असमीक्ष्याधिकृति—अपने उपयोगका विचार न करके किसी कार्यको आवश्यकताकी अपेक्षासे भी अधिक करना ये पाँच अनर्थदण्ड त्यागव्रतके अतीचार है। अनर्थदण्डके छोडनेवाले भव्य पुरुषोको छोड़ना चाहिये ॥१५॥ इतने काल-पर्यन्त इतने भोग और उपभोग मेरे सेवनके योग्य है इस प्रकारसे नियम करके अधिककी अभिलाषा नही करनेवाले पुरुषके भोगोपभोगपरिमाण व्रत होता है ॥१६॥ इस ससारमे जो पदार्थ एक ही बार भोगनेमे आता है वह भोग कहलाता है और जो बार-बार भोग किया जाता है उसे परिभोग (उपभोग) कहते है ॥१७॥ भोग और उपभोगके प्रमाण करनेको जिन भगवान् भोगपरिभोगपरिमाण नामक तीसरा गुणव्रत कहते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥१८॥ छोडनेके योग्य वस्तुओमे यम तथा नियम होता है। जीवन-पर्यन्त त्यागनेको यम कहते है और नियम कालकी मर्यादा लिये होता है ॥१९॥ त्रसजीव तथा वृद्धिके नाश करनेवाले जो भोग हैं उनमे तो यम ही होता है और जो भोगोपभोग हैं उनमे यम भी होता है तथा नियम भी होता है ॥२०॥ कच्चे दही दूध तथा छाछके साथ जिस

प्रावृषि द्विदलं त्याज्य सकलं च पुरातनम् । प्रायश. शाकपत्रं च नाहरेत्सूक्ष्मजन्तुमत् ॥२२
हरिद्राश्रृङ्गवेरादिकन्दमार्द्रं त्यजेद्‌बुध' । मूलं च विशमूल्यादि पत्रं नालीदलादिकम् ॥२३
निम्बकेतकिमुख्यानि कुसुमानि न भक्षयेत् । यतस्तेषु प्रजायन्ते त्रसस्थावरजन्तव ॥२४
शिम्बयोऽपि न हि ग्राह्यास्ता यतस्त्रसयोनय । वहुशोऽमृतवल्ल्याद्यास्त्याज्याश्चानन्तकायका ॥२५
अनिष्टानुपसेव्ये ये ते चात्र व्रतयेत्सदा । अग्राह्यवस्तुनि त्यागो यतो हि भवति व्रतम् ॥२६
भोगोपभोगसम्बन्धे स्थावराणां वधो भवेत् । तस्मादल्पीकृते तस्मिन्नल्पस्थावरहिंसनम् ॥२७
स्नानसद्‌गन्धमाल्यादावाहारे बहुभेदजे । प्रमाण क्रियते यत्तु तद्भोगपरिमाणकम् ॥२८
वस्त्राभरणयानादौ वनिताशयनासने । विधीयते प्रमाण तत्परिमाणप्रमाणकम् ॥२९
सचित्तं तस्य सम्बन्धं सन्मिश्राभिषवौ तथा । दु पक्वभोजनं चैते मला पञ्च भवन्ति हि ॥३०
गुणैर्युक्तं व्रतं विद्धि गुणव्रतमितित्रयम् । इदानी श्रृणु भव्याग्र ! शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥३१
यस्माच्छिक्षाप्रधानानि तानि शिक्षाव्रतानि वै । चत्वार्याश्रियतात्पौरप्रतिमाभ्यासहेतवे ॥३२
देशावकाशिकं नाम तत सामायिकं व्रतम् । तत्प्रोषधोपवासोऽन्यदतिथे संविभागकम् ॥३३

धान्यकी दो दाले होती है उसे नही खाना चाहिये, क्योकि इसमे अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है ॥२१॥ वर्षा कालमे सम्पूर्ण द्विदल धान्य मूँग, चना, उडद, अरहर, आदि तथा पुराना धान्य नही खाना चाहिये । क्योकि वर्षा समयमे बहुधा करके इनमे जीव पैदा हो जाते है । इसी तरह पत्रो वाला शाक भी नही खाना चाहिये । क्योकि इसमे भी त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है ॥२२॥ बुद्धिमान् पुरुषोको हल्दी, अद्रक आदि गीला कन्द, पृथ्वीके भीतर होनेवासे सकरकन्द, गाजर तथा कन्द-मूली आदि मूल तथा, पत्र कमल नाल आदि जो अभक्ष्य वस्तुएँ है उन्हे सर्वथा छोडना चाहिये ॥२३॥ नीम, केतकी (केवडा) आदिके फूल भी नही खाना चाहिये । क्योकि इन फूलोमे अनेक त्रस तथा स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते है ॥२४॥ शिम्बी भी नही खाना चाहिये क्योकि ये द्वीन्द्रियादित्रस जीवोकी उत्पत्तिका स्थान हैं और बहुधा करके अमृतवेल आदि वस्तुएँ भी नही खानी चाहिये क्योकि ये भी अनन्तकाय होती हैं ॥२५॥ जो वस्तु अनिष्ट है तथा सेवन करनेके योग्य नही हैं उन्हे भी छोडना चाहिये । क्योकि जो वस्तु सर्वथा अग्राह्य है उसके त्याग करनेसे व्रत होता है ॥२६॥ भोगोपभोग वस्तुओंके सेवनसे स्थावर जीवोका घात होता है इसलिये भोगोपभोग वस्तु कम करनी चाहिये । क्योकि इसे कम करनेसे जीवोकी हिंसा भी कम होगी ॥२७॥ स्नान, गन्ध, माल्य, आहार आदि भेदसे अनेक प्रकार जो भोग्य वस्तु हैं उनमे प्रमाण करनेको भोगपरिमाणव्रत कहते हैं ॥२८॥ वस्त्र, आभरण, वाहन, स्त्री, शय्या, आसन आदि जो उपभोग वस्तु हैं उनमे प्रमाण करनेको परिभोग (उपभोग) परिमाण व्रत कहते हैं ॥२९॥ सचित्त भोजन करना, सचित्त पदार्थसे सम्बद्ध भोजन करना, सचित्त वस्तु मिला हुआ भोजन करना, दु पक्व भोजन करना, अभिषव (गरिष्ठ या पौष्टिक) भोजन करना ये पाँच भोगोपभोग परिमाणव्रतके अतीचार भोगपरिभोगव्रती पुरुषको त्यागने चाहिये ॥३०॥

गुण-सहित जो व्रत होते है वे गुणव्रत कहलाते हैं । गुणव्रत तीन प्रकार के होते है । हे भव्यश्रेष्ठ श्रेणिक ! अब चार प्रकार जो शिक्षाव्रत है उसका वर्णन करते हैं उसे तुम सुनो ॥३१॥ शिक्षा जिनमे प्रधान हैं वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं । उनके चार विकल्प है । आगेकी प्रतिमाओका अभ्यास बढाने के अर्थ इन्हे धारण करना चाहिए ॥३२॥ देशावकाशिक शिक्षाव्रत, सामायिक शिक्षाव्रत, प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रतके भेद

दिग्व्रताद् वृतदेशस्य यत्संहारो घनस्य च । क्रियते सावधि सीम्नां तत्स्याद्देशावकाशिकम् ॥३४
अद्य रात्रिर्दिवा वापि पक्षो मासस्तथा ऋतु । अयनं वत्सर. कालावधिमाहुस्तपोधना ॥३५
मठहारिगृहक्षेत्रयोजनाना वनस्य च । सीम्नां स्मरन्ति देशावकाशिकस्यान्वहं बुधा ॥३६
देशावकाशिकेनासौ सीमाबाह्ये निवृत्तित । सूक्ष्मानामपि पापानां तदा महाऽव्रतीयते ॥३७
व्रतभङ्गोऽथवा यत्र देशे न जिनशासनम् । क्वचित्तत्र न गन्तव्यं तदपीदं व्रतं भवेत् ॥३८
तेन तद्गमनाभावे व्रतरक्षा कृता निजा । मिथ्यात्वाऽसङ्गतिश्चात साव्वेतद्व्रतपालनम् ॥३९
यत्र देशे जिनावास सदाचारा उपासका. । भूरिवारीन्धनं तत्र स्थातव्यं व्रतधारिणा ॥४०
तत्र त्याज्या आनयनप्रेष्यप्रयोगकारयकौ । शब्दरूपानुपातौ च पुद्गलक्षेपको मला ॥४१
सर्वभूतेषु यत्साम्यमार्त्तरौद्रविवर्जनम् । संयमेऽतीव भावश्च विद्धि सामायिकं हि तत् ॥४२
चैत्यादौ सन्मुख प्राच्यामुदीच्या वा क्वचित्स्थित । शुचिर्भूत्वा विदध्यात्स वन्दना प्राच्यमार्गत ॥४३
प्रत्यहं क्रियते देववन्दना तत्र शुद्धय । क्षेत्रकालासनान्तर्वाक्छरीरविनयाभिधा ॥४४

हैं ॥३३॥ दिग्व्रतमे जो जीवन-पर्यन्तके लिए देशका प्रमाण किया है उसकी सीमाका, कालकी अवधिपर्यन्त संकोच करनेको देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं ॥३४॥ आज, रात्रि दिन, पक्ष, महीना, दो महीना, छह महीना तथा एक वर्ष इत्यादि भेदको मुनि लोग कालकी अवधि कहते है ॥३५॥ बुद्धिमान् लोग मठ, वीथिका (गली), घर, क्षेत्र तथा योजन, वन पर्यन्त देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सीमा कहते हैं ॥३६॥ देशावकाशिकव्रतके धारण करनेसे सीमाके बाहर सूक्ष्म पापोकी भी निवृत्ति होनेसे वह श्रावक महाव्रती मुनिके समान समझा जाता है ॥३७॥ जहाँ अपना व्रतभङ्ग होता हो तथा जिस देशमे जिनधर्म न हो उस देशमें कभी नही जाना चाहिये । इसे भी देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते है ॥३८॥ देशावकाशिक व्रतमे की हुई मर्यादाके बाहर जानेका अभाव होजाने पर देशावकाशिक व्रतके धारण करनेवालोंने अपने धारण किये हुए व्रतकी रक्षा की तथा मिथ्यात्व भी छोडा इसलिए देशावकाशिक व्रतको पालन करना योग्य है ॥३९॥ जिस देशमे जिनालय हो, उत्तम आचरणके धारक श्रावक लोग हो तथा जल ईन्धनकी जहाँ प्रचुरता हो उसी देशमे व्रती पुरुषोको रहना चाहिए ॥४०॥ आनयन—अपनी की हुई मर्यादाके बाहरसे कोई वस्तु किसीसे मँगाना, प्रेष्यप्रयोग—स्वय की हुई मर्यादाके भीतर रहकर किसी कामके लिये दूसरेको सीमाके बाहर भेजना, शब्दानुपात—अपनी मर्यादाके बाहर रहनेवाले पुरुषको अपने समीप बुलानेके लिये चुटकी अथवा ताली आदि बजाना, रूपानुपात मर्यादाके बाहरसे बुलानेके लिये शब्दसे न बुलाकर अपना रूप शरीरावयव दिखाना और पुद्गल-क्षेपक—की हुई मर्यादाके बाहर किसी कामके करानेको सूचनाके लिये सीमा बाहरवाले पुरुषके पास, पत्थर वगैरह फेंकना ये पाँच देशावकाशिक व्रतके मल (अतीचार) हैं । देशावकाशिकव्रतके धारक पुरुषोको त्यागने चाहिये ॥४१॥ सर्व जीवमात्रमे साम्य (समता) भावका होना, आर्त्त परिणामका छोडना तथा सयममे विशेष प्रवृत्तिका होना इसे सामायिक कहते हैं ॥४२॥ जिनालय, वन, तथा और कोई बाधा रहित एकान्त स्थानमे पूर्व दिशा या उत्तर दिशामे मुख करके स्थिर होकर तथा पवित्र होकर प्राचीनमार्गके अनुसार वन्दना (सामायिक) करनी चाहिये ॥४३॥ सामायिकके समयमे जो प्रतिदिन देववन्दना की जाती है उसमे क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, आसनशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, शरीरशुद्धि तथा विनय शुद्धि इस तरह सात प्रकार शुद्धि होनी चाहिये ॥४४॥

एकान्ते निर्मले स्वास्थ्यकरे शीतादिवर्जिते । वन्दना कुर्वतो देशे क्षेत्रशुद्धिश्च सा मता ॥४५
उदयास्तात्प्रागपश्चात्य त्रित्रिनाडीषु य सुधी । मध्याह्ने ता च य कुर्यात्कालशुद्धिश्च तस्य सा ॥४६
पर्यङ्काद्यासनस्थायी वद्ध्वा केशादि यो मनाक् । कुर्वंस्ता न चलत्यस्याऽऽसनशुद्धिर्भवेदियम् ॥४७
ममेदमहमस्येति संकल्पो जायते न चेत् । चेतनेतरभावेषु सान्त शुद्धिर्जिनोदिता ॥४८
हुँकारो ध्वनिनोच्चार. शीघ्रपाठो विलम्बनम् । यत्र सामायिके न स्यादेषा वाक्छुद्धिरिष्यते ॥४९
हस्तपादशिर कम्पावष्टम्भादिर्न यत्र वै । कायदोषो भवेदेषा कायशुद्धिरिहागमे ॥५०
द्विनतिद्वादशावर्त्तशिरोनतिचतुष्टये । तत्र योऽनादराभाव सा स्याद्विनयशुद्धिका ॥५१
स्तुतिर्नतिस्तनूत्सर्ग प्रत्याख्यानं प्रतिक्रम । सामायिके भवन्त्येते षडावश्यकमेकत ॥५२
अथवा वीतरागाणां मुनीना स्वात्मचिन्मनम् । यदा यदा भवेत्तेषा सदा सामायिक तदा ॥५३
यत्र ग्रैवेयकं यात्यभव्य सामायिके रत । सम्यग्दर्शनसंशुद्धो भव्यस्तत्र शिवं न किम् ॥५४
एतदेवात्मनो मोक्षसाधनं चेत्यतन्द्रित । अवश्यं सन्ध्ययो कुर्याच्छक्तिश्चेदन्यदापि तत् ॥५५
मोक्ष स्व शर्म्म नित्यश्च शरणं चान्यथा भव । तत्र मे वसतोऽन्यत्किं स्यादित्यापदि चिन्तयेत् ॥५६

अर्थात्—एकान्त, पवित्र, स्वास्थ्य करनेवाला तथा शीतउष्ण दश-मशकादिकी वाधासे रहित प्रदेशमें वन्दना (सामायिक) करनेवाले पुरुषके क्षेत्रशुद्धि होती है ॥४५॥ जो वुद्धिमान् सूर्योदयसे पहले तथा अस्त होनेके पश्चात् तथा मध्याह्न कालमे इस तरह तीनो समयमे तीन-तीन नाडी पर्यन्त सामायिक करते हैं उनके काल शुद्धि होती है ॥४६॥ पद्मासन अथवा खड्गासनादिसे स्थित होकर और कुछ केशादिको वाँधकर सामायिक करता हुआ किसी तरह चलायमान न होकर निश्चल रहता है उसके आसन शुद्धि होती है ॥४७॥ चेतन और अचेतन वस्तुओमे यह मेरी है अथवा मैं इसका हूँ, इस प्रकारकी कल्पनाके छोडनेको जिनदेवने मनशुद्धि कहा है ॥४८॥ सामायिक करनेके समय हुँकार करना, शब्दसे उच्चारण करना, जल्दी जल्दी पाठ वोलना तथा बहुत धीरे-धीरे पाठ वोलना आदि जिस सामायिकमे नही हो उसे महर्षि लोग वचनशुद्धि कहते है ॥४९॥ सामायिक करनेके समय हस्त-कम्पन, शिर -कम्पन तथा अवष्टभ (भित्ति आदिका सहारा लेना) आदि जो शरीर दोष हैं उनके न होनेको शास्त्रोमे कायशुद्धि कहा है ॥५०॥ दो नमस्कार, बारह आवर्त्त और चार शिरोनति जिसमे होते हैं ऐसे सामायिक शिक्षाव्रतमे जो अनादरका अभाव होना उसे महर्षि लोग विनयशुद्धि कहते है ॥५१॥ सामायिकमे—स्तुति, नमस्कार, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और समता ये क्रमसे षडावश्यक होते हैं ॥५२॥ अथवा वीतरागी मुनियोके जिस जिस समय अपने आत्माका चिन्तवन होता है उस उस समय उनके निरन्तर सामायिक होता है ॥५३॥ जिस सामायिकव्रतके धारण करनेसे अभव्य पुरुष भी ग्रैवेयक पर्यन्त चला जाता है तो सम्यग्दर्शनसे पवित्र भव्य पुरुष उस व्रतके माहात्म्यसे मोक्ष नही जायगा ? अवश्य जायगा ॥५४॥ यही सामायिक इस आत्माको मोक्ष प्राप्त करानेवाला है ऐसा हृदयमे निश्चय करके आलस रहित हो प्रात काल तथा सायकालमे तो अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। यदि इसके अतिरिक्त और भी सामर्थ्य हो तो अन्य मध्याह्न आदि कालमे भी करना चाहिये ॥५५॥

मोक्ष अनन्त ज्ञानादिस्वरूप है इसलिये आत्मस्वरूप है, उपाधि-रहित चित्स्वरूप है इस लिये सुख-स्वरूप है, कभी विनाश नही होगा, इसलिये नित्य स्वरूप है तथा किसी प्रकारकी विपत्ति-का मोक्षमे गम्य न होनेसे विपत्तियोसे रक्षा करनेवाला है इसलिये शरण है। और ससार इसके

स्नानादिजिनविम्बेऽसौ साम्यार्थं कुरुतादगृही । यथाम्नायं प्रयुञ्ज्यात्तद्विना संकल्पितेऽर्हति ॥५७
व्रतमेतत्सुदु साध्यमपि सिद्धयति शीलनात् । किं निम्नीक्रियते नाश्मा पतद्वारिबिन्दुना मुहुः ॥५८
तस्य पञ्चव्यतीचारा योगदु प्रणिधानकम् । अनादरः स्मृत्यनुपस्थाने वर्ज्या प्रयत्नतः ॥५९
प्रोषधः पर्ववाचीह चतुर्द्धाहारवर्जनम् । तत्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं साम्यस्य सिद्धये ॥६०
पर्वाष्टमीचतुर्द्दश्यौ मासे मासे चतुष्टयम् । तस्य पूर्वाह्णमध्याह्ने भोजयेदतिथिं ततः ॥६१
भुक्त्वा शुद्धं विधायास्यं प्रक्षाल्य करपादकौ । तत्रैव नियमं कृत्वा युक्त्या गच्छेज्जिनालयम् ॥६२
जिनान्स्तुत्वा तथा नत्वा कृतेर्यापथशोधनः । प्रत्याख्यानं प्रगृह्णीयाद्देवतासाक्षिकं ततः ॥६३
द्वादशाङ्गं नमस्कृत्य तथा गुणगुरून्गुरून् । प्रत्याख्यानं प्रयाचेत गुरुं तद्दत्तमाचरेत् ॥६४
तत्र वान्यत्र चैकान्ते क्वचित्सार्धर्मिकैः सह । कालक्षेपं प्रकुर्वीत पठन् शृण्वन् श्रुतं ततः ॥६५
सन्ध्यायां कुरुतात्तत्र कृतकर्मोल्लसन्मना । ततः स्वाध्यायमादाय जपेत्पञ्चनमस्कृतीः ॥६६

विपरीत—अनात्म, अशर्म, अनित्य तथा अशरण है ऐसे ससारमे रहनेवाले मुझे दु खके सिवाय और क्या होगा ! ऐसा बारबार आपत्तिके समयमे विचार करना चाहिये ॥५६॥ गृहस्थोको राग द्वेषकी हानिके लिये जिनप्रतिबिम्बमे अभिषेक, पूजन, स्तुति तथा जप ये सब आम्नायपूर्वक करना चाहिये। और सकल्पित (निराकार) अर्हन्त भगवान् मे स्नानको छोड़कर शेष पूजन, स्तवन, जप करना चाहिये ॥५७॥ यद्यपि यह सामायिक व्रत अत्यन्त कठिन है तथापि परिशीलन (अभ्यास) करनेसे सिद्ध हो ही जाता है। यही बात दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—यद्यपि पाषाण स्वभावसे अतिशय कठोर होता है तो भी बार-बार गिरनेवाला जल बिन्दु क्या उसमे गर्त्त (खड्डा) नही बना देता है अर्थात् बना ही देता है ॥५८॥ मनोदुष्प्रणिधान—क्रोध, लोभ, अभिमान, द्रोह, ईर्ष्या आदिका उत्पन्न होना, अथवा अन्त करणकी व्यग्रता होना, वचन दुष्प्रणिधान—धीरे उच्चारण करना, अस्पष्ट उच्चारण करना अथवा जल्दी उच्चारण करना, कायदुष्प्रणिधान—हस्त पादादि शरीरावयवोका निश्चल न रहना, अनादर—सामायिक विधिमे अनादर (अनुत्साह) होना, नियमित समय सामायिक न करना अथवा शीघ्रतासे किसी तरह करना, स्मृत्यनुस्थापन—प्रमादादिसे सामायिक करना भूल जाना ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतीचार हैं इस व्रतके धारक पुरुषोको त्यागने चाहिये ॥५९॥ प्रोषध यह शब्द पर्व वाची है और खाद्य, स्वाद्य, लेह्य तथा पेय इन चार प्रकारके आहारके छोडनेको प्रोषधोपवास कहते हैं वह राग द्वेषकी हानिके लिये किया जाता है ॥६०॥ अष्टमी और चतुर्दशी ये पर्व माने जाते हैं। एक महीनेमे दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी इस तरह चार पर्व होते है। इनके पहले दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशीके दिन मध्याह्न समयमे अतिथियो (मुनि आदि) को आहार कराना चाहिये ॥६१॥ मुनि आदि उत्तम पुरुषको आहार करानेके अनन्तर स्वयं भोजन करके मुख शुद्ध करे। इसके बाद हाथ पाँव धोकर और अपने घर पर ही नियम करके युक्ति पूर्वक जिन मन्दिर जावे ॥६२॥ धीरे धीरे मार्गको देखता हुआ जिन मन्दिर जाकर ईर्यापथ शुद्धिकर जिन भगवान्का स्तवन करे तथा नमस्कार करके जिन देवकी साक्षीसे प्रत्याख्यान ग्रहण करे ॥६३॥ पश्चात् द्वादश अङ्ग स्वरूप जिनवाणीको तथा जो गुणोमे महत्त्व युक्त हैं ऐसे गुरुओको नमस्कार करके उनसे प्रत्याख्यानकी याचना करे और जिस प्रकार वे प्रत्याख्यान दे उसे उसी तरह पालन करे ॥६४॥ जिनालयमे अथवा और किसी एकान्त स्थानमे अन्य धर्मात्माओंके साथ शास्त्र सुनता हुआ तथा स्वय शास्त्रपठन करता हुआ काल व्यतीत करे ॥६५॥ इसके बाद

कालस्य यापनां कृत्वा स्वाध्यायं त विसर्जयेत् । तत' प्रमृज्य भूभाग शयीत तृणसंस्तरे ॥६७
प्रवृद्ध पुनरुत्थाय लात्वा स्वाध्यायमुत्तमम् । कायोत्सर्गादिकं कुर्यात्स्मरन्द्वादशभावना ॥६८
स्वाध्यायं तं च निष्ठाप्य पश्चात्सूर्योदये सति । कायशुद्धयादिकं कृत्वा तत सामायिक भजेत् ॥६९
द्रव्यपूजामसौ कुर्याज्जिनस्य गुरुशास्त्रयो । अन्ये चार्हद्दिने तस्मिंस्तस्य भावार्च्चनं मतम् ॥७०
स्नानमाल्यादिनिर्विण्णो धर्मध्यानेन सन्मति । तद्दिनं रजनी ता च नयेत्पूर्वोक्तरात्रिवत् ॥७१
प्रातर्जिनालयं गत्वा स्तुत्वा चेष्ट्वा जिनादिकान् । तत्र स्थित्वा कियत्काल प्रगच्छेन्निजमन्दिरम् ॥७२
एवमुत्कृष्टभागेन मयोक्त प्रोषधव्रतम् । षोडशप्रहरस्येदं यथोक्तं पूर्वसूरिभि ॥७३
यदुत्कृष्टं मत सर्वं मध्यमं च तथैव च । परं जल विमुच्यान्यां भुक्ति च परिवर्जयेत् ॥७४
तद्दिने काञ्जिकाहारमेकभक्तं विधाय वा । धर्मध्यानेन सतिष्ठेद्बुवेत्तद्धि जघन्यकम् ॥७५
भेदा अन्येऽपि विज्ञेयाः प्रोक्ता सन्ति जिनागमे । मध्यमस्य जघन्यस्य प्रोषधस्य तपोधनै । ७६
आरम्भसभव पापं क्षीयते कि तपो विना । तस्मात्पर्वणि तत्कर्तुं युक्त श्रावकपुङ्गवैः ॥७७
आरम्भकर्म्मणा क्वापि न भवेत्प्रोषधव्रतम् । कुर्वतोऽप्युपवासादि फलायापथ्यभुक्तिवत् ॥७८

आल्हादित मन होकर सन्ध्या समयमे करने योग्य कर्म्म करे । फिर स्वाध्यायको स्वीकार करके पञ्च नमस्कार मन्त्रका भाव पूर्वक जप करै ॥६६॥ पञ्च नमस्कार रूप महामन्त्रका जप करता हुआ कुछ समय व्यतीत करके ग्रहण किये हुए स्वाध्यायका विसर्जन करे । इसके वाद पृथ्वीके किसी प्रदेशको मार्जन (झाड) करके जन्तुरहित भूमिमे तृणशय्या पर शयन करे ॥६७॥ निद्राके खुलने पर उठकर उत्तम प्रकार स्वाध्यायको स्वीकार करके बारह प्रकार अनित्यादि भावनाओका स्मरण करता हुआ कायोत्सर्ग आदि करे ॥६८॥ उस स्वाध्यायको पूर्ण करके जब सूर्योदय हो जाय तव शरीर शुद्धि आदि करनेके बाद फिर सामायिक करे ॥६९॥ प्रोषधोपवासका धारक श्रावक देव गुरु और जिनवाणीका जलादि आठ द्रव्योसे पूजन करे । इस विषयमे कितने महर्षियोकी यह भी सम्मति है कि प्रोषधोपवासी श्रावकको केवल भाव पूजन करना चाहिये ॥७०॥ स्नान, माल्य, भूषणादिसे विरक्त होकर उत्तम वुद्धिका धारक वह प्रोषधोपवासी श्रावक धर्मध्यानादिसे उस दिनको तथा रात्रिको पहिलेके समान व्यतीत करे ॥७१॥ पुन प्रात काल जिनालय जाकर और वहाँ देव, गुरु तथा शास्त्रादिकी स्तुति करके तथा पूजन करके और कुछ समय तक वही पर रहकर इसके बाद फिर अपने मकान पर आवे ॥७२॥ इस प्रकार उत्कृष्ट विभागसे जो मैने यह सोलह प्रहरका प्रोषधव्रत कहा है यह प्राचीन मुनियोके अनुसार कहा है ॥७३॥ जिस तरह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास किया जाता है उसी तरह मध्यम प्रोषधोपवासको भी समझना चाहिये । परन्तु विशेष इतना है कि मध्यम प्रोषधोपवासमे जल रख कर और शेष भोजनका त्याग किया जाता है ॥७४॥ पर्वके दिन काञ्जिकाहार अथवा एक भुक्त करके जो धर्मध्यान सेवन करता है उसे जघन्य प्रोषधोपवास कहते हैं ॥७५॥ उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य प्रोषधोपवासके और भी कितने भेद मुनि लोगोने जिन आगममे कहे हैं उन्हे शास्त्रावलोकन करके जानना चाहिये ॥७६॥ आरभसे उत्पन्न होनेवाला पाप तपके विना कभी नाश नही हो सकता । इसलिये उस पापको नाश करनेके अर्थ अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन उत्तम श्रावकोको प्रोषधोपवास करना योग्य है ॥७७॥ आरभ करनेसे कभी प्रोषधोपवास नही हो सकता, आरभ करनेवाला कितने भी उपवासादि क्यो न करे उसके अपथ्य भोजनके समान वह फलके लिये समझना चाहिये ॥७८॥ अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्ग—विना देखे अथवा

अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरा । अनादृतिस्मृत्यनुपस्थाने तस्यातिचारका ॥७९
अततीत्यतिथिर्ज्ञेय समयं त्वविराधयन् । तस्ययत्संविभजनं सोऽतिथिसंविभागक. ॥८०
अथवा न विद्यते यस्य तिथि सोऽतिथि कथ्यते । तस्मै दानं व्रतं तत्स्यादनिये संविभागकम् ॥८१
अतिथि प्रोच्यते पात्रं दर्शनव्रतसंयुतम् । स्वानुग्रहार्थमुत्सर्गो दानं तस्मै प्रदीयताम् ॥८२
आहारौषधवासोपकरणं तच्चतुर्विधम् । भुक्त्यादौ सद्विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषत. ॥८३
प्रतिग्रहोच्चकै पीठपादप्रक्षालनार्च्चनम् । प्रणामो योगशुद्धिश्चैषणाशुद्धिर्विधेर्भिदाः ॥८४
गृही देवार्च्चनं कृत्वा मध्याह्ने साम्बुभाजन । पात्रावलोकनं द्वास्य कुर्याद्भक्त्या मुधीतभृत् ॥८५
नरलोके विदेहादौ पात्रेभ्यो वितरन्ति ये । भक्त्याऽऽहार तु ते धन्याश्चिन्तयेदित्यसौ तदा ॥८६
आयादावीक्ष्य सत्पात्रं भ्रमद्वा चन्द्रचर्यया । गत्वा नमोऽस्तु भगवंस्तिष्ट तिष्टेति त्रिर्वदेत् ॥८७
नीत्वा गृहं तदर्हं यदुच्चपीठं प्रदाय च । पादौ प्रक्षाल्य तद्वारि वन्दित्वा चाष्टधार्च्चयेत् ॥८८
नमस्कृत्य त्रियोगेन पूतश्चन्द्रोपकोर्द्ध्वगाम् । शुद्धां भोजनशाला तन्नीत्वा संशोध्य भोजयेत् ॥८९

विना मार्जनके किये मल-मूत्रादिका क्षेपण करना, अनवेक्षितप्रमार्जित आदान—विना देखे अथवा विना मार्जन किये शास्त्रादि उपकरणोका ग्रहण करना, अनवेक्षितप्रमार्जितसस्तर—विना देखे और विना मार्जन किये शय्या आदि बिछाना, अनादर—उपवासमे अनादर करना तथा स्मृत्यनुपस्थान—उपवासकी तिथि आदि भूल जाना ये पाँच प्रोषधोपवासके अतीचार प्रोषधोपवासव्रती श्रावकको छोडने चाहिये ॥७९॥ जो सयमकी विराधना न करके गमन करता है वह अतिथि कहा जाता है। उस सयम-पालक अतिथिका जो विभाग करना है अर्थात् भक्ति पूर्वक आहारादि देना है उसे अतिथि सविभाग नाम चौथा शिक्षाव्रत कहते हैं ॥८०॥ अथवा जिसका तिथि (स्वामी) ससारमे कोई नही है उसे अतिथि कहते है उसके लिये जो दान देना है उसे अतिथि सविभाग नाम शिक्षाव्रत कहते हैं ॥८१॥ अतिथि वे कहे जाते है जो सम्यग्दर्शन तथा व्रतादिसे युक्त हैं और अपने कल्याण के अर्थ उत्सर्ग अर्थात् द्रव्यका पात्रोमे सदुपयोग करनेको दान कहते हैं। वह दान उपर्युक्त अतिथियोको देना चाहिये ॥८२॥ आहार दान, औषध दान, वसतिका दान तथा उपकरण दान इस तरह दानके ये चार भेद हैं। सद्विधि, सद्द्रव्य, सद्दाता तथा सत्पात्र इनके विशेषसे इन दानोमे भी विशेषता होती है ॥८३॥ अतिथिका ग्रहण, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि तथा एषणा शुद्धि ये सब विधिके भेद हैं ॥८४॥ गृहस्थोको—जिन भगवान्‌का पूजन करने के बाद मध्याह्न समयमे जलका भाजन हाथमे लेकर अपने घरके द्वार पर स्थित होकर भक्ति पूर्वक पात्रोका अवलोकन करना चाहिये ॥८५॥ पात्रावलोकनके समय गृहस्थोको चिन्तवन करना चाहिये कि—इस मनुष्य लोकमे अथवा विदेह क्षेत्रादिमे जो पुण्यात्मा पुरुष भक्ति पूर्वक पात्रोके लिये आहार देते हैं वे धन्य है ॥८६॥ सत्पात्रको आये हुए चन्द्रचर्यासे भ्रमण करते हुए देखकर उनके समीप जाकर हे भगवन् ! आपके चरणोमें नमस्कार है ऐसा कहकर तिष्ठ ! तिष्ठ !! तिष्ठ !!! ऐसा तीन बार कहे। छोटे-बडे या सधन-निर्धनका विचार न करके चन्द्रमाके सदृश सबके घर पर अपना प्रकाश फैलाने वाले साधुकी गोचरी वृत्तिको चन्द्रचर्या कहते है ॥८७॥ इसके बाद उन्हे अपने गृह पर ले जाकर और उनके योग्य ऊँचा स्थान देकर उनके चरण कमलोका पवित्र जलसे प्रक्षालन करे। पश्चात् उस जलको मस्तक पर लगाकर जलादि अष्ट द्रव्योसे पूजन करना चाहिये ॥८८॥ अनन्तर मन वचन कायसे उन्हे प्रणाम करके जिसके ऊपर चन्द्रोपक (चन्दोवा) लग रहा है ऐसी शुद्ध भोजनशालामे मुनिको ले जाकर शुद्धि पूर्वक आहार करावे ॥८९॥

एवं विधिं विधायासौ यत्क्षिप्तं शुद्धभोजनम् । चर्मादिसंगनिर्मुक्तं प्रासुकं कोमलं हितम् ॥९०
नानीतं कन्दुकादिभ्यो नायातं न चिरोद्भवम् । न विद्धं देवसकल्प्य न हीनादिकृते कृतम् ॥९१
रात्रौ च नोषितं स्वादचलितं पुष्पित न यत् । नवकोटिविशुद्ध यत्पिण्डशुद्धयुक्तदोषमुक् ॥९२
चतुर्दशमलैर्मुक्तमन्तरायातिगं च यत् । तस्मै तद्भोजनं देय ज्ञात्वाऽवस्था मुनेर्मुदा ॥९३
श्रद्धालुर्भक्तिमास्तुष्ट क्षमावान्शक्त्यलोपक. । निर्लोभः कालविज्ञानी दाता सप्तगुणो भवेत् ॥९४
पात्रं सम्यक्त्वसम्पन्न मूलोत्तरगुणान्वितम् । स्वं तरच्च परान्दातृ स्तारयेच्च सुपोतवत् ॥९५
गोचरीभ्रमरीदाहप्रशामन्नाक्षमृक्षवत् । गर्त्तापूरणवद्भुङ्क्ते यत्तत्पात्र प्रशस्यते ॥९६
अद्याहं सफलो जात. फलितो मे शुभद्रुम । कल्पवृक्षादयो लब्धाः प्राप्तं पात्रं यदीदृशम् ॥९७
एवमानन्दपूर्वो यो निदानादि-विवर्जित. । दत्ते पात्राय सद्भक्ति तत्पुण्य केन वर्ण्यते ॥९८
पात्राय वित्तिना द्रव्यं दाता सप्तगुणैर्युतः । यो दत्ते किल तत्पुण्यं कथं मोक्षाय नो भवेत् ॥९९

इस प्रकार मुनियोके योग्य सत्कारादि करके और उस समय मुनिराजकी अवस्था पर ध्यान देकर उनके योग्य हर्ष पूर्वक पवित्र भाजन (पात्र) मे रखा हुआ, चर्मादि अपवित्र वस्तुओके सम्बन्धसे रहित, पवित्र प्रासुक (जीवादिरहित), कोमल, जिसके खानेसे शरीरमे किसी प्रकारकी बाधा न हो, ग्रामान्तरसे लाया हुआ न हो, विद्ध न हो, देवादिकोके अर्थ सकल्प किया हुआ न हो, नीच लोगोके लिये बनाया हुआ न हो, रात्रिमे बना हुआ न हो, स्वादसे विचलित चलित रस न हो गया हो, जिस पर फूलन वगैरह न चढ गई हो, मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदना रूप इस तरह नव कोटीसे शुद्ध हो, पिण्ड शुद्धि नाम अधिकारमे वर्णन किये हुए दोषोसे रहित हो तथा अन्तरायरहित हो, ऐसा पवित्र आहार मुनिराजके लिये देना चाहिये ॥९०–९३॥ पात्रोमे श्रद्धा युक्त हो, भक्ति करके युक्त हो, सन्तोषी हो, क्षमावान हो, अपनी शक्तिके अनुसार सद्व्ययी हो, अर्थात् कृपण न हो, लोभ-रहित हो, और समयको जानने वाला हो, ये दान देने वाले दाताके सात गुण हैं । इन्हीसे युक्त दाता कहा जाता है । जिनमे ये गुण नही है वे साधु लोगोके दान देनेके पात्र भी नही हैं ॥९४॥ जो पवित्र सम्यग्दर्शनसे युक्त हो, मूल गुण तथा उत्तर गुणोसे युक्त हो, अपने आप भव समुद्रसे तिरने वाला तथा जहाजके समान दूसरे लोगोको ससार सागरसे पार करनेवाला हो, वह पात्र कहलाता है ॥९५॥ जो गोचरी वृत्ति या भ्रामरी वृत्तिसे, दाह-प्रशमनके समान, या अक्षम्रक्षणके समान, या गर्तपूरणके समान राग-रहित होकर यथा लब्ध भोज्य वस्तुको खाता है वह पात्र प्रशसनीय कहा जाता है ॥९६॥

आज मेरा जीवन सार्थक हुआ । आज मेरा पुण्यरूप वृक्ष फलयुक्त हुआ । अहो ! आज मुझें कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, कामधेनु आदि मनोऽभिलषित उत्तम उत्तम वस्तुएँ प्राप्त हुईं जो आज मेरे अहो भाग्यसे ये बडे भारी तपस्वी रत्न मेरे गृहमे आहारके लिये पधारकर मुझ मन्द-भागीके घरको अपने चरण कमलोकी रजसे पवित्र किया ! ॥९७॥ इस प्रकार आनन्दपूर्वक निदानादि (आगामी सुखोकी अभिलाषा) से रहित जो भव्य पुरुष भक्ति सहित उत्तम पात्रोके अर्थ पवित्र आहार देता है ग्रन्थकारका कहना है कि उस महादानके प्रभावसे होनेवाले पुण्य राशिका कहाँ तक वर्णन करें ॥९८॥ सात गुणोसे युक्त जो दाता पात्रोके अर्थ अपने द्रव्यका सदुपयोग करते हैं उन भव्य पुरुषोका वह पवित्र पुण्य क्या मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला नही होगा ? किन्तु अवश्य होगा । भावार्थ—पात्र दान मोक्षका कारण है इसलिये भव्य गृहस्थोको दान देनेमे

भुक्ते कायस्ततो धातुस्थितिस्तस्यां मनः स्थिरम् । तस्मिन्ध्यान तत कर्मक्षयो मोक्ष. स एव हि ॥१००
दाता पात्रं स्थिरं कुर्वन्मोक्षाय स न किं स्थिरम् । शिल्पी प्रासादमुच्चाऽन्स्वयमुच्चैर्न जायते ॥१०१
श्रीषेणवज्रजङ्घाद्या. पात्रदानोत्थपुण्यतः । भोगभूस्व.सुखं भुक्त्वा तीर्थकृत्त्व च लेभिरे ॥१०२
मेघेश्वरचरित्रेऽस्ति रत्यादिवरवेगिका । कपोतयुगलं यत्र पात्रदानानुमोदत. ॥१०३
हिरण्यवर्मणो नाम्ना प्रभावत्या युतस्य तु । विद्याधरपते सौख्यं प्राप्तवत्तत्र किं न ना ॥१०४
कर्मोदयवशाज्जातरोगाय मुनये भृशम् । युक्त्या सदौषधं दानं दीयतां रोगशान्तये ॥१०५
द्वारावत्या मुनीन्द्राय ददौ विष्णु सदौषधम् । तत्पुण्यतीर्थकृन्नाम सद्गोत्रेण ववन्ध स. ॥१०६
वासो मठादिकावासस्तद्दानमपि दीयताम् । मुनिभ्यो गृहिणा शुद्धधर्मतीर्थप्रवर्त्तने ॥१०७
ज्ञानसंयमशौचोपकरणं दानमुत्तमम् । ज्ञानसयमवृद्ध्यर्थं दद्यान्मुनिवराय स ॥१०८
ज्ञानोपकरणं शास्त्र पिच्छ सयमसाधनम् । शौचोपकरण कायमलहारि कमण्डलु ॥१०९

सदैव प्रयत्नतत्पर होना चाहिये ॥९९॥ भोजनसे शरीरकी स्थिति रहती है, शरीरकी स्थितिसे धातुओकी स्थिति होती है, धातुओंके स्थिर रहनेसे मनकी स्थिरता होती है, मनकी स्थिरतासे ध्यान अच्छी तरह होता है, उसी ध्यानसे कर्मोका नाश होता है और कर्मोका नाश ही मोक्ष कहलाता है। दान उत्तरोत्तर मोक्षका कारण है इसलिए गृहस्थोको दानमे निरन्तर उद्यमशील होना चाहिये ॥१००॥ जो दाता दानादिसे मुनियोको मोक्षमार्गादिमे स्थिर करता है क्या वह मोक्ष जानेका पात्र न होगा ? अरे ! मकानका निर्माण करनेवाला शिल्पीकार मकानको ऊँचा वनाता हुआ क्या स्वय ऊँचा न जाता ? अवश्य ही ऊँचा जाता है। भावार्थ—जैसे शिल्पकार ज्यो ज्यो उन्नत प्रासादोका विनिर्माण करता है त्यो त्यो वह भी ऊँचे चढता जाता है उसी प्रकार जो दाता मुनियोको आहारादिसे रत्नत्रयके साधनमे निश्चल करेगा वह भी नियमसे मोक्षका अधिकारी होगा इसलिए दान देनेमे प्रयत्न करना चाहिये ॥१०१॥ इसी पात्रदानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यकर्मके प्रभावसे प्राचीन समयमे श्रीषेण तथा वज्रजङ्घ आदि कितने महापुरुष भोगभूमि तथा स्वर्ग-जनित सुखोको भोगकर इसके वाद जगत्पूजनीय तीर्थंकर पदको प्राप्त हुए हैं ॥१०२॥ मेघेश्वर (जयकुमार) के चरित्रमे रतिवर और रतिवेगा नाम कपोत युगलका वर्णन है। केवल पात्रदानके अनुमोदन मात्रमे यह कपोत युगल प्रभावती स्त्री सहित हिरण्य नाम विद्याधरपतिके सुखको प्राप्त हुआ था तो पात्रदानके फलमे मनुष्य क्या स्वर्गादि सुखोको नही पावेगा ? अर्थात् अवश्य पावेगा। भावार्थ—पात्रदानके अनुमोदन (प्रशसा) मात्रसे कपोत युगलने विद्याधरोकी पर्याय पाई थी तो दानके देनेसे मनुष्य स्वर्गादि सुख नही पा सकेगा क्या ? किन्तु अवश्य पा सकेगा इसलिये पात्रदानमे गृहस्थोको अग्रसर होना चाहिये ॥१०३-१०४॥ यदि कर्मोदयके वशसे मुनियोको किसी प्रकार शरीरमे व्याधियाँ हो जावें तो उनकी शान्ति करनेके लिए उत्तम उत्तम औषधियोका दान मुनियोके अर्थ देना चाहिए ॥१०५॥ द्वारका नगरीमे किसी मुनिराजके लिये विष्णु (श्रीकृष्ण) ने उत्तम औषध दान दिया था उस दानके पुण्यसे उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्मका वन्ध किया ॥१०६॥ वसतिका, मठ आदिका भी दान मुनियोके लिये शुद्ध धर्म तीर्थकी वृद्धिके अर्थ गृहस्थोको देना चाहिये ॥१०७॥ ज्ञान, सयम तथा शौचोपकरण, शास्त्र, कमण्डलु, पिच्छी आदि वस्तुओका दान मुनिराजोके लिये ज्ञान तथा सयमकी वृद्धिके अर्थ देना चाहिए ॥१०८॥ ज्ञानका उपकरण शास्त्र है, सयमका साधन करनेवाली पिच्छी है, और

यत्सूनायोगतः पापं संचिनोति गृही घनम् । स तत्प्रक्षालयत्येव पात्रदानाम्बुपूरत ॥११०
साधु स्यादुत्तम पात्र मध्यम देशसयमी । सम्यग्दर्शनसशुद्धो व्रतहीनो जघन्यकम् ॥१११
उत्तमादिसुपात्राणा दानाद्भोगभुवस्त्रिधा । लभ्यन्ते गृहिणा मिथ्यादृशा सम्यग्दृशाऽव्यय ॥११२
यत्रैकद्वित्रिपल्यायुर्जीवन्ति युगलान्यहो । एकद्वित्रिकगव्यूतिकायानि द्युतिमन्ति च ॥११३
भोजनवस्त्रमाल्यादिदशधाकल्पभूरुहै । दत्तान्भोगान्मनोभीष्टान्भुक्त्वा यान्त्यमरालयम् ॥११४
पात्रे स्वल्पव्यय पुंसामनन्तफलभाग्भवेत् । भुक्त्वा दत्तं यथायुक्ति शुद्धक्षेत्रोप्तबीजवत् ॥११५
भोक्तुं रत्नत्रयोच्छ्रायो दातु पुण्यचयः फलम् । शिवान्तनानाभ्युदयदातृत्व तद्विशिष्टता ॥११६
अणुव्रतादिसम्पन्न कुपात्रं दर्शनोज्झितम् । तद्दानेनाश्नुते दाता कुभोगभूभवं सुखम् ॥११७
अपात्रमाहुराचार्या. सम्यक्त्वव्रतवर्जितम् । तद्दानं निष्फलं प्रोक्तमुषरक्षेत्रबीजवत् ॥११८
सावद्यकर्ममुक्ताना दानं सावद्यसंभवम् । पापं शोधयेत्क्षिप्त मल वारीव निर्मलम् ॥११९

शरीरके वाह्य मलादिको दूर करनेवाला शौचोपकरण कमण्डलु है ॥१०९॥ गृहस्थ लोग पञ्च सूना (पीसना, खाडना, चूल्हा सुलगाना, पानी भरना, और झाडना) के सम्बन्धसे जिस पाप समूहका सग्रह करते है उसे पात्रदानरूप जल प्रवाहसे नियमसे धो डालते है ॥११०॥ मुनिलोग उत्तम पात्र कहे जाते है, देशसयमी (एकदेशव्रती) मध्यम पात्र कहे जाते है और जो सम्यग्दर्शन करके युक्त हैं परन्तु व्रत-रहित (अव्रत सम्यग्दृष्टि) हैं वे जघन्य पात्र कहे जाते है ॥१११॥ मिथ्यादृष्टि गृहस्थ उत्तम, मध्यम तथा जघन्य पात्रोके दानसे क्रमसे उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि तथा जघन्य भोगभूमिमे जाते है और सम्यग्दृष्टि पुरुष अव्यय पदको प्राप्त होते हैं ॥११२॥ उन तीनो भोगभूमिमे मनुष्य क्रमसे एक पल्य, दो पल्य तथा तीन पल्य पर्यन्त आयुके धारक होते हे तथा कान्ति युक्त एक कोश, दो कोश और तीन कोश ऊँचे शरीरके धारक होते है ॥११३॥ उन भोगभूमियोमे—भोजनाङ्ग, वस्त्राङ्ग, माल्याङ्ग, ज्योतिषाङ्ग, भूषणाङ्ग, पानाङ्ग आदि दश प्रकारके कल्पवृक्षोसे प्राप्त हुए मनोभिलषित अनेक प्रकारके उत्तम भोगोको भोगकर इसके बाद वे स्वर्गमे जाते है ॥११४॥

उत्तमादिपात्रोमे भोजनके द्वारा किया हुआ थोडा भी दान भव्य पुरुषोको—यथा युक्ति पवित्र क्षेत्र (खेत) मे बोये हुए वीजकी तरह अनन्त गुणा फलका देनेवाला होता है । भावार्थ— जिस तरह खेतमे थोडा भी धान्य वहुत फलको देनेवाला होता है उसी तरह पात्रोके लिये थोडा भी भी व्यय किया हुआ द्रव्य अनन्त गुणा होकर फलता है इसलिये आत्महितके जिज्ञासु पुरुषोको पात्र सरीखे सत्कार्यमे अपनी पाई हुई लक्ष्मीका सदुपयोग करना चाहिये ॥११५॥ भोजन करनेवाले पात्रके तो रत्नत्रयकी उन्नति, दान देनेवाले दाताके पुण्यका सचयरूप फल और मोक्ष पर्यन्त अनेक प्रकारके अभ्युदयको देनेवाला दातृत्व ये दानमे विशेष होते है । भावार्थ—उत्तम पात्र, दाता तथा द्रव्य इनके विशेषसे दानमे भी विशेषता होती है ॥११६॥ अणुव्रतादिसे युक्त परन्तु यदि सम्यग्दर्शनसे रहित है तो उसे कुपात्र समझना चाहिए । कुपात्रोको दान देनेसे दाता कुभोग-भूमिसे उत्पन्न होनेवाले सुखोको भोगनेवाला होता है ॥११७॥ जो सम्यग्दर्शन और व्रतसे सर्वथा रहित हैं उन्हे महर्षि लोग अपात्र कहते है । अपात्रमे दिया हुआ दान ऊषर भूमिमे बीज बोनेके तुल्य निष्फल है । भावार्थ—जैसे ऊषर भूमिमे बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है उसी तरह अपात्रोको दान देनेसे द्रव्यका केवल दुरुपयोग होता है उससे फल कुछ भी नही होता ॥११८॥ सावद्य

अतिथिसंविभागोऽयं व्रतं व्यावर्णितं मया । अतिचारास्तु पञ्चास्य मोक्तव्यास्ते महात्मभि ॥१२०
आद्य सचित्तनिक्षेपोऽन्य सचित्तपिधानक । परव्यादेशमात्सर्यं कालातिक्रम इत्यमी ॥१२१
व्रतस्यास्य पर नाम केचिदाहुर्मुनीश्वरा. । वैय्यावृत्यं न चार्थस्य भेदः कोऽप्यत्र विद्यते ॥१२२
वैय्यावृत्यस्य भुक्त्यादेश्चतुर्वास्य निदर्शना. । श्रीषेणो वृषभसेना कौंडेश. सूकरो ज्ञेयाः ॥१२३
मुनीना प्रणतेरुच्चैर्गोत्र भोगस्तु दानत. । लभ्यते सेवनात्पूजा भक्ते रूप स्तुतेर्यश. ॥१२४
व्रतमेतत्सदा रक्षान्पात्रान्वेषणतत्पर. । यस्तिष्ठेत्तदलाभेऽपि स स्यात्तत्फलभाग्नर. ॥१२५
भावो हि पुण्यकार्यत्र पापाय च भवेन्नृणाम् । तस्मात्पुण्यार्थिना पुंसा निज. कार्यः शुभः स तु ॥१२६
सत्पात्रालाभतो देय मध्यमाय यथाविधि । पात्राय तदलाभे तु जघन्याय स्वशक्तितः ॥१२७
रोगिण च जराक्रान्तं पराधीन गवादिकम् । पथ्यादिनोपचर्य्यासौ स्वयं भुञ्जीत वन्धुयुक् ॥१२८

(आरम्भ) कर्म-रहित मुनियोको दिया हुआ दान सावद्यसे उत्पन्न होनेवाले पापको नियमसे नाश करना है जैसे निर्मल जल लगे हुए कीचडको दूर करता है ॥११९॥ यह अतिथि सविभाग नाम व्रतको मैने अच्छी तरहसे वर्णन किया । इसके पाँच अतीचार हैं वे महात्मा पुरुषोको छोडने चाहिये ॥१२०॥ सचित्त निक्षेप—सचित्त वस्तुओमे दान देनेकी वस्तुएँ रखना, सचित्तपिधान—दान योग्य आहारादिको सचित्त वस्तुओसे ढकना, परव्यपदेश—दानके योग्य किसी अपनी वस्तुको दूसरोकी कहना, मात्सर्य—दान देते हुए दूसरे पुरुपोसे द्वेप करना, कालातिक्रम—मुनियोके भोजनके समयको उल्लघन करके आहार देना ये पाँच अतिथि सविभागव्रतके अतिचार हैं अतिथि सविभागव्रतीको छोडने चाहिए ॥१२१॥ कितने आचार्य इसी अतिथि संविभागव्रतका दूसरा नाम वैय्यावृत्य कहते है परन्तु इस नाममे अर्थ-भेद कुछ नही है । केवल नाम भेद समझना चाहिए ॥१२२॥ इस वैय्यावृत्य (अतिथिसविभाग) नाम व्रतके जो भोजन दान, औषध दान, शास्त्र दान तथा वसतिका दान इस तरह चार विकल्प हैं इन चारो के—श्रीषेण, वृषभसेना नाम सेठकी कन्या, कौण्डेश तथा सूकर ये चार उदाहरण (दृष्टान्त) समझने चाहिये । भावार्थ—चारो दानोमे ये चारो प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये दानका फल देखकर भव्य पुरुषोको अपनी प्रवृत्ति दानमे करनी चाहिये ॥१२३॥ जो भव्य पुरुष मुनियोको भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं वे नमस्कारके पुण्यसे उत्तम गोत्रमे पैदा होते हैं । जो मुनि लोगोको भक्ति पूर्वक दान देते हैं वे उत्तम स्वर्गादिके भोगोके भोगने वाले होते हैं । जो उनकी सेवा करते हैं वे ससारमे और लोगोके द्वारा सेवनीय होते हैं । जो लोग भक्ति करते है वे मनोहर रूपके धारी होते हैं । और जो भक्ति पूर्वक स्तुति करते हैं वे ससारमे पवित्र यशके भोगने वाले होते हैं । इसलिये आत्महितके अभिलाषी पुरुषोको भक्ति पूर्वक ये सर्व कार्य करने चाहिये ॥१२४॥ इस अतिथिसविभाग (वैयावृत्य) व्रतकी रक्षा करता हुआ जो निरन्तर महनीय पात्रोके ढूँढनेमे प्रयत्नपरायण रहता है वह पुरुप पात्रके अलाभमे भी अतिथि सविभाग व्रतके फलका भोगने वाला होता है ॥१२५॥ आत्माका परिणाम ही तो पुण्यका सम्पादन करनेवाला तथा पापका उत्पादक होता है इसलिये जो पुण्यकी इच्छा करनेवाले हैं उन्हे अपने परिणाम शुभरूप रखना चाहिये ॥१२६॥ यदि सत्पात्र (उत्तमपात्र) का सयोग न मिले तो उनके अभावमे यथा शास्त्रानुसार मध्यमपात्रोको दान देना चाहिये, यदि मध्यम पात्रोका भी सयोग न मिले तो उनके अभावमे शक्त्यनुसार जघन्यपात्रोको दान देना चाहिये ॥१२७॥ रोगी पुरुषोका अथवा वृद्ध पुरुषो-का तथा पराधीन गाय आदिका पथ्यादिसे उपचार करके अपने वन्धुलोगोके साथ फिर आप भोजन

प्रत्यहं नियमात्किञ्चित्तपस्यन्ददत्र च। महीयसः परॉल्लोकॉल्लभते स ध्रुवं सुदृक् ॥१२९
पञ्चाणुव्रतपुष्ट्यर्थं पाति य सप्तशीलकम्। व्यतीचारं सदृष्टिः स व्रतिक श्रावको भवेत् ॥१३०
यदाहोरात्रिकाचारं बिभर्त्याशाधरोदितम्। तदा सामायिकाद्यर्हं स महाश्रावको भवेत् ॥१३१

एवं द्वादशधा व्रतं गतमल ये धारयन्त्यादरा-
त्पञ्चाणुव्रतत्रिर्गुणव्रतचतु.शिक्षाव्रताख्य सदा।
ते मेधाविन उत्तमार्थविधिना स्मृत्वा जिनेन्दोः पदं
प्राणान्स्वान्परिहृत्य सर्वसुखदा नाकश्रियो भुञ्जते ॥१३२

करे ॥१२८॥ नियम पूर्वक प्रतिदिन कुछ तपश्चरण करता हुआ तथा कुछ दान देता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष निश्चयसे स्वर्गादि उत्तम स्थानोको प्राप्त होता है ॥१२९॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अहिंसादि पञ्च अणुव्रतोकी वृद्धिके लिये अतिचार-रहित तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह शीलसप्तकका पालन करता है वह व्रतप्रतिमाका धारक व्रतिक श्रावक कहा जाता है ॥१३०॥ जो पुरुप पण्डितवर्य्य आशाधरके कहे हुए दिन रात्रि सम्बन्धि आचारको जिस समय धारण करता है वह सामायिकादि प्रतिमाओके धारण करने योग्य महा श्रावक समझा जाता है ॥१३१॥ जो भव्यपुरुप—अतीचार-रहित अहिंसादि पाँच अणुव्रत, दिग्विरतादि तीन गुणव्रत, देशावकाशिकादि चार शिक्षा व्रत इस तरह बारह व्रतोको धारण करते हैं वे बुद्धिमान पुरुष—जिन भगवान्के पादारविन्दोका स्मरण करते हुए अपने प्राणोको छोडकर अनेक तरहके उत्तम सुखोकी सम्पादन करनेवाली स्वर्गकी लक्ष्मीके भोगनेके स्वामी होते है ॥१३२॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
व्रतप्रतिमास्वरूपवर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकार ॥४॥



पञ्चमोऽधिकारः

अथ सामायिकादीना नवाना वच्मि लक्षणम् । प्रतिमानां नरेन्द्र ! त्वं सावधानमनाः शृणु ॥१
अहो सप्तकशीलेऽस्मिन्श्रावकाववरावपि । अन्तर्भूतौ च विज्ञेयौ केषाचिच्छास्त्रयुक्तिन ॥२
ते चैव प्रविवदन्त्यार्या द्वय भोगोपभोगयो. । कृत्वा निक्षिप्य संन्यासमेवं स्यात्सप्तशीलकम् ॥३
एतद्ग्रन्थानुसारेण समता प्रोषधव्रतम् । यच्छीलं तद्द्वय स्यातां प्रतिमे व्रतरूपत ॥४
मूलोत्तरगुणव्रातपूर्णं सम्यक्त्वपूतधी । साम्य त्रिसन्य कष्टेऽपि भजन्सामायिकी भवेत् ॥५
कुर्वन्यथोक्त सन्ध्यासु कृतकर्माऽऽसमाप्तित । समाधेर्जातु नापैति कृच्छ्रे सामायिकी हि सः ॥६
सामायिकव्रते सौधशिखरे कलशस्तदा । तेनारोपि यदैषा भूर्येनाश्रायि महात्मना ॥७
प्रागयत्सामायिकं शील तद्यथा प्रतिमाश्रित. । व्रत तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तगो ॥८
य प्राग्धर्मत्रयारूढ प्रोषधानशनव्रतम् । यावन्न च्यवते साम्यात्स भवेत्प्रोषधव्रती ॥९
मुक्तसावद्यभुक्त्यङ्गसस्कार प्रोषधोत्तमम् । आश्रितो वस्त्रसंगूढमुनिवद्भाति दूरत ॥१०

व्रत प्रतिमाके वर्णनके अनन्तर सामायिकादि नव प्रतिमाओ के लक्षण कहता हूँ, हे नरेन्द्र ! तुम सावधान मन होकर सुनो ॥१॥ कितने ही आचार्योके मतसे शास्त्रकी युक्तिके अनुसार शीलसप्तकमे सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक तथा प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक भी अन्तर्भूत हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥२॥ उन महर्षियोका यह कहना है कि इस शील सप्तकमे भोगोपभोग व्रतके भोग और उपभोग ऐसे दो विकल्प करके और सन्यास अर्थात्—सल्लेखना और मिलाकर शीलसप्तक होता है। भावार्थ—कुछ आचार्य भोगपरिमाणव्रत, उपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसविभाग और सन्यास (सल्लेखना) इन चार शिक्षा व्रतोके साथ दिग्व्रत, देशावकाशिक व्रत और अनर्थदण्ड विरतिव्रत इन तीन गुणव्रतोको मिलाकर शीलसप्तक कहते है। तथा सामायिक व्रतको तीसरी प्रतिमा और प्रोषधव्रतको चौथी प्रतिमा मानते है ॥३॥ किन्तु इस ग्रन्थके अनुसार तो सामायिक और प्रोषधव्रत जिस तरह शील स्वरूप वर्णित है वे दोनो अब व्रत रूपसे प्रतिमा है ॥४॥ मूलगुण और उत्तरगुणके समूहसे पूर्ण, और जिसकी बुद्धि सम्यक्त्वसे पवित्र है जो प्रात काल, मध्याह्न काल तथा सायकाल इस तरह तीनो काल दु'खादिके होने पर भी समता भावका सेवन करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी श्रावक होता है ॥५॥ तीनो सन्ध्याओमे सामायिकमे करने योग्य कर्म-को समाप्तिपर्यन्त करता हुआ नाना प्रकारके उपसर्गादिकोके आने पर भी सामायिकसे कभी च्युत नही होता है वह नियमसे सामायिक प्रतिमाका धारी श्रावक होता है ॥६॥ उस भव्यपुरुषने सामायिक व्रत रूप प्रासादके शिखर ऊपर समझो कि—कलश चढाया है जिस महात्मा पुरुषने जो यह सामायिक प्रतिमारूप पृथ्वीका आश्रय किया है ॥७॥ पहले व्रतप्रतिमाके अनुष्ठानके समयमे शील रूप जो सामायिक था वह जैसे अब प्रतिमा रूप है उसी तरह जो प्रोषधोपवास पहले शील रूप था वही अब प्रतिमा रूप समझना चाहिये ॥८॥ जो पहली दर्शनादि तीन प्रतिमाओका धारण करनेवाला प्रोषधव्रती सोलह पहर तक साम्य भावसे च्युत नही होता है वह प्रोषध व्रती कहा जाता है ॥९॥ जिसने आरम्भ कर्म, भोजन, तथा शरीर संस्कारादि सब छोड दिये हैं और उत्तम

प्रतिमायोगतो रात्रिं ये नयन्तोऽघविच्छिदे । क्षोभ्यन्ते नोपसर्गेण केनापि स्तौमि तानहम् ॥११
धन्यास्ते श्रावकाः प्राग्ये वारिषेणसुदर्शनौ । जिनदत्तादयोऽन्येऽपि निष्कम्पाः प्रोषधव्रते ॥१२
प्राक्चतु प्रतिमासिद्धो यावज्जीवं त्यजेत्त्रिधा । सचित्तभोजन स स्याद्दयावान्पञ्चमो गृही ॥१३
सह चित्तेन बोधेन वर्तते हि सचित्तकम् । यन्मलत्वेन प्रागुक्त तदिदानीं व्रतात्मतः ॥१४
शाकबीजफलाम्बूनि लवणाद्यप्रासुक त्यजन् । जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्वभीतः सयमवान्भवेत् ॥१५
कालाग्नियन्त्रपक्वं यत्फलबीजानि भक्षितुम् । वर्णगन्धरसस्पर्शव्यावृत्त जलमर्हति ॥१६
हरितेष्वङ्कुराद्येषु सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिन । निगोता इति सार्वज्ञ वच प्रमाणयन्सुधी ॥१७
पदापि संस्पृशस्तानि कदाचिद्गाढतोऽर्थत । योऽतिसक्लिश्यते प्राणनाशेऽप्येष किमत्स्यति ॥१८
अहो तस्य जिनेन्द्रोक्तिनिर्णयोऽक्षजितिः सत. । अदृश्यजन्त्वपि हरिन्नात्ति यद्गदहानये ॥१९
प्राच्यपञ्चक्रियानिष्ठ' स्त्रीसयोगविरक्तधी. । त्रिधा योऽह्नि श्रियेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतः स तु ॥२०
एतद्युक्त्या किमायातं दिवा ब्रह्मव्रत त्विति । रात्रौ भक्तञ्जनीसेवा य. कुर्याद्रात्रिभक्तिक ॥२१
अन्ये चार्हुदिवा ब्रह्मचर्यं चानशनं निशि । पालयेत्स भवेत्षष्ठ श्रावको रात्रिभक्तिक ॥२२
अहो सन्तोषिणा चित्र संकल्पोच्छोदचातुरी । यन्नामापि मुदेऽप्येषा येन दृष्टा शिलायते । २३

प्रोपध व्रत धारण किया है वह भव्यात्मा दूसरे वस्त्रवेष्टित मुनिके समान शोभाको प्राप्त होता है ॥१०॥ जो आत्महिताभिलापी प्रोपधव्रती अपने पूर्वकृत कर्मोके नाशके लिये प्रतिमायोगसे रात्रिको व्यतीत करते हुए किसी प्रकारके दारुण उपसर्गादिसे भी क्षोभको प्राप्त नही होते हैं मै उन महात्माओका भक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥११॥ अहो ! प्राचीन कालमे वारिषेण, सुदर्शन तथा जिनदत्त आदि पुण्यशाली श्रावकोको धन्य है जो उपसर्गादिके आनेपर भी प्रोपधव्रतमे निश्चल रहे ॥१२॥ पहली चार प्रतिमाओके धारण करनेमे सिद्ध जो भव्य पुरुष मन वचन तथा कायसे यावज्जीवन सचित्त भोजनका त्याग करता है वह दयालु पुरुप नियमसे सचित्तत्यागप्रतिमाका धारी पचम गृहस्थ कहलाने योग्य है ॥१३॥ जो वस्तु चित्त अथवा बोधके साथ रहनेवाली है उसे सचित्त कहते हैं । जो सचित्त वस्तु पहले (भोगोपभाग परिमाणव्रतके समय) अतीचार रूपमे छोडी गई थी वही छोडना इस समय प्रतिमाव्रत माना गया है ॥१४॥ जिसके हृदयमे दया है जो जीवोकी हिंसासे भयभीत है उसे शाक, बीजफल, जल, लवण आदि अप्रासुक वस्तुओका त्याग कर सयमवान् होना चाहिए ॥१५॥ समय, अग्नि तथा यन्त्र आदिसे पके हुए फल, बीज आदि सचित्त वस्तुएँ तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादिसे व्यावृत (प्रासुक) हुआ जल खाने और पीनेके योग्य है ॥१६॥ जो भव्यात्मा "हरित अकुरादिमे निगोदिया अनन्ते जीव है" सर्वज्ञ भगवान्के इन वचनोको प्रमाण करता हुआ अपने चरण मात्रसे भी उन अकुरोका स्पर्श करता हुआ अत्यन्त दु खी होता है वह पुण्यशाली, पुरुप उन्हे कैसे भक्षण करेगा ? अर्थात् कभी नही करेगा ॥१७-१८॥ अहो ! यह बात आश्चर्यकी है—देखो । सज्जन पुरुपोका जिनदेवके कथनमे विश्वास तथा इन्द्रिय दमन, जो जिस हरित वस्तुमे जीवोके न दिखने पर भी उसे रोगके नाशके लिये भी नही खाते हैं ॥१९॥ पूर्वकी पाँच क्रिया (प्रतिमाओ) मे तत्पर तथा स्त्रियोके सम्बन्धसे विरक्त जो पुरुप मन, वचन, कायसे दिनमे स्त्रीका सेवन नही करता है वह रात्रि भक्त व्रती कहा जाता है ॥२०॥ जो रात्रिमे स्त्रीका सेवन करता है वह रात्रि भक्त व्रती है। ऐसा कहनेसे यही स्पष्ट अर्थ हुआ कि उसके दिनमे ब्रह्मचर्य व्रत होता है ॥२१॥ कितने महर्षियोका कहना है—दिनमे ब्रह्मचर्यको और रात्रिमे भोजनके त्यागको जो पालन करता है वह छठी प्रतिमाका धारी रात्रिभक्तव्रती कहा जाता है ॥२२॥ अहो यह कितने

रात्रावपि ऋतौ सेवा सापि सन्तानहेतवे । क्रियता वशिना नार्या पर्वादिषु न जातुचित् ॥२४
एवं षट्प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमा. । निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्ये वर्णिनोऽपि च ॥२५
सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं योनिरन्ध्रं मलाविलम् । पश्यन्न्य मगतो नार्या कष्टादिमथनोऽपि च ॥२६
विरक्तो यो भवेत्प्राज्ञस्त्रियोगैस्त्रिकृतादिभि । पूर्वषड्व्रतनिर्वाही ब्रह्मचार्यत्र स स्मृत ॥२७
अस्त्यात्मानन्तशक्त्यात्मेति श्रुतिर्वस्तु न स्तुतिः । यत्स्ववीर्ययुगात्मैव जगन्मल्लं स्मर जयेत् ॥२८

वर्ण्यते भूतले केन माहात्म्यं ब्रह्मचारिणाम् ।
रौद्राः शाम्यन्ति यन्नाम्ना विद्या सिद्ध्यन्त्यनेकश ॥२९

बुद्धिऋद्ध्यादयोऽनेका निर्म्मलब्रह्मचारिणाम् । मुनीनां किल जायन्ते परासां गणनापि का ॥३०
दु खद दुःखजं दु.खमहो नार्यङ्गसेवनम् । खेदाघ्यत्वादघौघैकवर्द्धनादृगात्रपीडनात् ॥३१
अग्निस्तृप्यति नो काष्ठैर्वारिधिर्न नदीचयैः । तथाऽयमेभिरात्मापि विषयै सङ्गसम्भवै ॥३२
विषं भुक्तं वरं लोके झम्पापातोऽग्निकुण्डके । रमणीरमणस्पर्शो रमणीयो नहि कर्हिचित् ॥३३

आश्चर्यकी बात है—देखो ! सन्तोषी पुरुषोकी कामविकारके नाश करनेकी बुद्धिमानी, जो जिन स्त्रियोका नाम मात्र आनन्दके लिये होता है वे स्त्रियाँ देखी हुई भी उन पुरुषोको पत्थरके समान निस्सार मालूम पडती हैं ॥२३॥ इन्द्रिय विजयी पुरुषोको, ऋतुमती (रजस्वला) होकर चतुर्थ दिन स्नान करने पर रात्रिमे भी स्त्रियोका सेवन केवल सन्तानके लिये करना चाहिये और पर्वादिमे तो कभी नही करना चाहिये ॥२४॥ इस प्रकार छह प्रतिमा पर्यन्त गृहस्थ जघन्य श्रावक कहे जाते हैं। अब तीन प्रकारके मध्यम श्रावकोका वर्णन किया जाता है जिन्हे वर्णी या ब्रह्मचारी भी कहते हैं ॥२५॥ पूर्वकी छह प्रतिमाओका भले प्रकार निर्वाह करनेवाला जो बुद्धिमान—स्त्रियोके योनि-स्थानको सूक्ष्म जीवोके समूहोसे पूर्ण तथा मल सहित देखकर नाना प्रकारके दु खादिको सहन करता हुआ भी मन वचन कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे स्त्रियोंसे विरक्त होता है उसी भव्यात्माका नियमसे ब्रह्मचारी समझना चाहिये ॥२६-२७॥ "आत्मा अनन्तशक्तिशाली है" यह जो शास्त्रोकी श्रुति है वह वास्तवमे ठीक है यह केवल स्तुति ही सो नही है। यही कारण है कि—जगत्को जीतने वाले कामदेवको स्ववीर्य (पराक्रम) युक्त आत्मा (ब्रह्मचारी) ही जीतता है ॥२८॥

अहो ! इस पृथ्वीतलमे ऐसा कौन है जो ब्रह्मचारी पुरुषोका माहात्म्य (प्रभाव) वर्णन कर सके। जिनके नाममात्रका स्मरण करनेसे चाहे कितना ही कोई क्रूर क्यो न हो वह भी शान्त हो जाता है और जिन्हे अनेक उत्तम विद्याएँ स्वय सिद्ध हो जाती है ॥२९॥ विशुद्ध ब्रह्मचर्यके धारण करनेवाले मुनियोको बुद्धि, ऋद्धि आदि अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है तो और साधारण वस्तुओकी तो बात ही क्या है ? ॥३०॥ अहो ! स्त्रियोके शरीरके सेवनमे अत्यन्त खेद होता है इसलिये तो दु खको पैदा करनेवाला है, पाप समूहकी वृद्धि होनेसे दु खोका देने वाला है और शरीरको पीडा जनक होनेसे दु.ख स्वरूप है इसलिये ब्रह्मचारी पुरुषोको स्त्रियोके शरीरका सेवन नही करना चाहिये ॥३१॥ अग्निमे कितना भी काष्ठ क्यो न होमा जावे वह कभी सन्तोष वृत्तिको धारण नही करनेकी, समुद्रमे नदियोके समूहके समूह आकर क्यो न मिले वह कभी पर्याप्त दशाको प्राप्त नही होनेका, उसी तरह यह आत्मा दिनो दिन स्त्रियोके सङ्गतिसे होने वाले कितने ही विषयोका क्यो न सेवन करे फिर भी विषयोसे कभी तृप्ति नही होगी ॥३२॥ हलाहल विषका खाना बहुत अच्छा है तथा झंपापात लेकर अग्नि कुण्डमे कूद जाना अच्छा है परन्तु स्त्रियोके साथमे रमण

सुखासनं च ताम्बूलं सूक्ष्मवस्त्रमलङ्कृति । मज्जनं दन्तकाष्ठं च मोक्तव्यं ब्रह्मधारिणा ॥३४
ब्रह्मचर्ये गुणानेकान्दोषान्मैथुनसेवने । ज्ञात्वाऽत्र दृढचित्तो य स नन्द्याच्छ्रावकाग्रणी ॥३५
निर्व्यूढसप्तधर्मोऽङ्गिवधहेतून्करोति न । न कारयति कृष्यादीनारम्भरहितस्त्रिधा ॥३६
कदाचिज्जीवनाभावे नि सावद्यं करोत्यपि । व्यापार धर्मसापेक्षमारम्भविरतोऽपि वा ॥३७
पापाद्बिभ्यन्मुमुक्षुर्यो मोक्तुं भक्तमपीहते । प्रवर्त्तयेदसौ प्राणिसङ्घातघ्नीः कथं क्रिया ॥३८
योऽष्टव्रतदृढो ग्रन्थान्मुञ्चतीमे न मेऽहकम् । नैतेषामिति बुद्धया स परिग्रहविरक्तधी ॥३९
अथ योग्यं समाहूय सुत वा गोत्रज प्रधान् । वदेदिदंतक साक्षाज्जातिमुख्यसधर्मणाम् ॥४०
अद्य यावन्मया वत्स ! रक्षितोऽय गृहाश्रम. । जिहासोर्वैं विरज्यैनं त्वमद्यार्हसि मे पदम् ॥४१
यः पुनाति निजाचारैं पितर' पूर्वजानिति । पुत्र स गीयते वस्तु सुतव्याजादरिः पर ॥४२
प्रपुपूर्षोर्निजात्मानं सुविधेरिव केशव । उपस्करोति यो वस्तु पुत्रः सोऽत्र प्रशस्यते ॥४३
तदेतन्मे धनं पोष्य धर्म्यं चापि स्वसात्कुरु । श्रेयोऽर्थिना परं पथ्या सेय सकलदत्तिका ॥४४

करनेका स्पर्श कभी अच्छा नही हो सकता ॥३३॥ ब्रह्मचर्य प्रतिमाके धारक भव्य पुरुषोको—सुखासन, ताम्बूल (पान), महीन वस्त्र, भूषण, मज्जन तथा काष्ठादिसे दतौन करना आदि त्यागना चाहिये ॥३४॥ ब्रह्मचर्यके धारण करनेसे अनेक गुणोकी प्राप्ति होती है तथा मैथुन सेवनमे अनेक दोष है ऐसा समझ कर जो बुद्धिमान अपने चित्तको किसी प्रकार विकल न करके निश्चल चित्त है वह श्रावक श्रेष्ठ भव्यात्मा सदा वृद्धिको प्राप्त होवे यह हमारी आन्तरङ्गिक अभिलाषा है ॥३५॥ पूर्वकी सात प्रतिमाका पालन करनेवाला जो धर्मात्मा पुरुष मन वचन कायसे हिंसाके कारण कृषि आदिको नही करता है और न दूसरोसे कराता है उसे आरम्भ त्याग-प्रतिमाका धारक श्रावक कहना चाहिये ॥३६॥ आरम्भ-त्याग-प्रतिमाधारी श्रावक—किसी समय जीवन-निर्वाहका दूसरा उपाय न रहनेसे पाप-रहित और जिसके करनेसे धर्ममे किसी प्रकारकी वाधा न आवे ऐसे व्यापारको भी कर सकता है। भावार्थ—आरम्भ-त्यागी श्रावकको भी जीविकाके अभावमे धर्मसे अविरोधी और पाप रहित व्यापारके करनेमे किसी प्रकारकी हानि नही है ॥३७॥ जो मोक्षाभिलाषी भव्य पुरुष पापसे भयभीत होता हुआ भोजनके भी त्यागनेकी इच्छा करता है वही दयालु पुरुष जीवोके नाश करनेकी क्रियाओको कैसे कर सकता है ? कदापि नही कर सकता ॥३८॥ पहलेकी आठ प्रतिमाओके धारण करनेमे निश्चल चित्त जो भव्य पुरुष 'ये परिग्रह मेरे नही है और न मै इनका हूँ' ऐसा समझकर परिग्रहका त्याग करता है उसे ही परिग्रह-त्याग-प्रतिमाका धारी श्रावक कहना चाहिये ॥३९॥ परिग्रह विरक्त भव्य पुरुषको चाहिये—अपने योग्य पुत्रको अथवा किसी योग्य गोत्रमे उत्पन्न होनेवालेको (दत्तक पुत्रको) बुलाकर अपनी जातिके प्रधान साधर्मी लोगोके सामने उसे इस तरह कहे ॥४०॥ हे वत्स ! आज तक मैने इस गृहस्थाश्रमका रक्षण किया, परन्तु अब वैराग्यको प्राप्त होकर इस गृहस्थाश्रमको छोडनेवाले मेरे स्थानके तुम योग्य हो ॥४१॥ जो अपने पवित्र आचरण (कर्त्तव्य कर्म) से अपने माता पितादिको पवित्र करता है वही तो वास्तविक पुत्र है और जिसने अपना आचरण अपने पूर्व पुरुषोके अनुसार पवित्र न रक्खा उनकी आज्ञाका पालन न किया वह पुत्र नही है किन्तु यो समझो कि पुत्र रूपमे वह पिताका शत्रु पैदा हुआ है ॥४२॥ सुविधिनाम राजाके केशव नामक पुत्रके समान अपनी आत्माको उत्कर्ष देनेवाले पिताको जो अपने सदाचारोसे अलकृत करता है वही पुत्र इस ससारमे प्रशसा करनेके योग्य है ॥४३॥ हे वत्स ! मेरे ये धन, पोष्य—स्त्री, जननी आदि तथा धर्म्य—चैत्यालय आदि जो धर्म पदार्थ हैं उन्हे तुम अपने

विध्वस्तमोहपञ्चास्यपुनर्जीवनशङ्किनाम् । गृहत्यागक्रमः प्रोक्तः शक्त्यारम्भो हि सिद्धिकृत् ॥४५
चित्तमूर्च्छाकरं मायाक्रोधादिगूढपादबिलम् । तृष्णाग्निकाष्ठमावुध्य दुर्ग्रहं च परिग्रहम् ॥४६
परित्यज्य त्रिशुद्ध्याऽसौ सर्वं मोहारिघातये । तिष्ठेद्गृहे कियत्कालं वैराग्यं भावयन्सुधीः ॥४७
निराकुलतया देवपूजादौ कर्मणि स्थिरः । तद्दत्तं कशिपुं भुञ्जस्तिष्ठेच्छान्तमनारहः ॥४८
इत्युक्ता वर्णिनो मध्या श्रावकावधुनोच्यते । उत्कृष्टौ भिक्षुकौ तौ चानुमनोद्दिष्टवर्जितौ ॥४९
यो नानुमन्यते ग्रन्थं सावद्यं कर्म चैहिकम् । नववृत्तधरः सोऽनुमतिमुक्तस्त्रिधा भवेत् ॥५०
स्वाध्यायं वसतौ कुर्याद्दूर्ध्वं द्वितयवन्दनात् । आकारितः स भुञ्जीत स्वगृहे वा परस्य वा ॥५१
यथालब्धमदन्कायस्थितये भोजनं खलु । कायश्च धर्मसिद्ध्यै स मोक्षार्थिभिरपेक्ष्यते ॥५२
सावद्योत्पन्नमाहारमुद्दिष्टं वर्जये कथम् । भैक्षामृतं कदा भोक्ष्ये वाञ्छेदिति वशी हि सः ॥५३
पञ्चाचारं जिघृक्षुश्च निष्क्रमिष्यन्गृहादसौ । पुत्रादीन्स्वगुरुन्बन्धून्ब्रूयादिति यथोचितम् ॥५४
न मे शुद्धात्मनो यूयं भवेत किमपि ध्रुवम् । तन्मा मुञ्चत मोक्षाय प्रोद्यन्तं मोहपाशतः ॥५५

अधीन करो । ग्रन्थकार कहते हैं—आत्महितके चाहनेवाले भव्य पुरुषोंको यह सकल दत्ति (सम्पूर्ण वस्तुओंका देना) उत्कृष्ट पथ्य स्वरूप है ॥४४॥ पूर्व आठ प्रतिमा रूप खड्गसे घायल हुए मोहरूप सिंहके फिर भी जीनेका सन्देह करनेवाले गृहस्थाश्रमी श्रावकोंके लिये ही यह गृहत्यागका अनुक्रम कहा है । इसी अनुसार उन्हें त्याग करना चाहिये । क्योंकि शक्तिके अनुसार किया हुआ ही कार्य सिद्धिका देनेवाला होता है ॥४५॥

यह परिग्रह चित्तमें मूर्च्छाका करनेवाला है, कपट क्रोध मान लोभादिरूप सर्पका बिल है, आशारूप अग्निके लिये काष्ठ है, तथा दुष्टग्रह (पिशाच) है ऐसा समझकर मन वचन कायकी शुद्धिसे मोहरूप वैरीके नाश करनेके लिये सर्व परिग्रहको छोडकर और वैराग्यका चिन्तवन करता हुआ कुछ समय तक घर ही में रहे ॥४६-४७॥ सब आकुलता रहित होकर निराकुलतासे देवपूजनादि शुभ कर्मोंमें स्थिर (निश्चल) होकर अपने पुत्रका दिया हुआ भोजन वस्त्रादिका भोग करता हुआ शान्तिपूर्वक एकान्त स्थानमें रहे ॥४८॥ इस प्रकार मध्यम तीन वर्णी श्रावकोंका वर्णन किया । अब इस समय उत्कृष्ट भिक्षुक श्रावकोंके अनुमतिविरत्ति तथा उद्दिष्ट विरति इस प्रकार जो दो भेद हैं उनका वर्णन किया जाता है ॥४९॥ नव प्रतिमाओंको धारण करनेवाला जो भव्यपुरुष परिग्रहमें तथा इह लोक सम्बन्धी सावद्य (आरम्भ) कर्ममें मन वचन कायसे अपनी सम्मति नहीं देता है वह धर्मात्मा अनुमति त्यागी उत्कृष्ट श्रावक है ॥५०॥ दशमी प्रतिमाधारी श्रावकको जिनचैत्यालयमें स्वाध्याय करना चाहिये और मध्याह्नकालकी सामायिक करनेके बाद कोई बुलाने आवे तब अपने घर तथा दूसरोंके घर भोजन करनेको जाना चाहिये ॥५१॥ उस समय जैसा कुछ भोजन मिले उसे केवल शरीरकी स्थितिके लिये करना चाहिये । क्योंकि यह शरीर मोक्षकी प्राप्तिका कारण है इसीलिये तो मोक्षाभिलाषी पुरुष इस शरीरकी अपेक्षा करते हैं ॥५२॥ वह इन्द्रियविजयी वशी पुरुष—अहो ! आरम्भसे उत्पन्न होनेवाले और उद्दिष्ट (मेरे उद्देश्यसे बनाये हुए) आहारको मैं कब छोड़ूँगा और कब वह सुदिन होगा जिस दिन भिक्षावृत्तिरूप अमृतका आस्वादन करूँगा ऐसी अभिलाषा करता रहे ॥५३॥ पञ्चाचार (ज्ञानाचार, तपाचार, दर्शनाचार, वीर्याचार चारित्राचार) के ग्रहण करनेकी इच्छा करता हुआ अपने गृहसे निकलते समय पुत्र, माता, पिता, भाई, बन्धु आदिको यथा योग्य यों बोले ॥५४॥ इस असार संसारमें शुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर और कोई मेरा सम्बन्धी नहीं है इस कारण दारुण मोहजालसे छूटकर

भवद्भिर्मयि क्षन्तव्य मया क्षान्तं भवत्सु च । तद्यत्किञ्चित्समुद्भूतं मिथो जल्पनमावयोः ॥५६
इत्युक्तैस्तैरनुज्ञातो गृहान्निर्गत्य सोत्कधी । वनं गत्वा गुरोरन्ते याचेतोत्कृष्टतत्पदम् ॥५७
एवं चर्या गृहत्यागावसानां नैष्ठिकोत्तमः । समाप्य साधकत्वाय पद पौरस्त्यमाश्रयेत् ॥५८
दशधाधर्मास्त्रसंभिन्नभ्वसन्मोहमृगाधिप. । पिण्डमुद्दिष्टमुज्झन्स्यादुत्कष्ट श्रावकोऽन्तिम. ॥५९
उत्कृष्टोऽसौ द्विधा ज्ञेय. प्रथमो द्वितीयस्तथा । प्रथमस्य स्वरूप तु वच्म्यह त्व निशामय ॥६०
श्वेतैकपटकोपीनो वस्त्रादिप्रतिलेखन' । कर्त्तर्या वा क्षुरेणासौ कारयेत्केशमुण्डनम् ॥६१
एषोऽपि द्विविधो सूत्रे मतो गुरुपदाश्रित. । बहुभिक्षारतस्त्वेक पर. स्यादेकभिक्षक. ॥६२
आद्यः पात्रेऽथवा पाणौ भुङ्क्ते य उपविश्य वै । चतुर्विधोपवासं च कुर्यात्पर्वसु निश्चयात् ॥६३
पात्रं प्रक्षाल्य भिक्षाया प्रविशेद्दातृमन्दिरम् । स स्थित्वा प्राङ्गणे भिक्षां धर्मलाभेना मार्गयेत् ॥६४
लाभालाभे ततस्तुल्यो निर्गत्यैत्यन्यमन्दिरम् । पात्र प्रदर्श्य मौनेन तिष्ठेत्तत्र क्षणं स्थिर ॥६५
प्रार्थयेद्यदि दाता तं स्वामिन्नत्रैव भुङ्क्ष्व हि । तदा निजाशनं भुक्त्वा पश्चात्तस्य ग्रसेद्रुचौ ॥६६
अथ न प्रार्थयेद्भिक्षा भ्रमेत्स्वोदरपूरणीम् । यावदेकगृह गत्वा याचेन प्रासुकं जलम् ॥६७
यत्किञ्चित्पतितं पात्रे भुक्त्वा संशोध्य युक्तित । स्वय प्रमार्ज्य तत्पात्रं गच्छेदाराद्गुरोर्वनम् ॥६८

मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले मुझे आप लोग छोडे ॥५५॥ यदि आपमे और मेरेमे परस्पर कुछ वोलना हुआ हो तो उसके लिये मुझे आप क्षमा करे और मैने भी आप लोगोको क्षमा किया ॥५६॥ इस प्रकार प्रार्थना किये हुए अपने कुटुम्बी लोगोकी आज्ञा लेकर गृहसे निकलकर वनमे जाय और वहाँ गुरुओके पास स्थित होकर उनसे उत्कृष्ट श्रावक पदकी याचना (प्रार्थना) करे ॥५७॥ नैष्ठिकाग्रणी श्रावक इस प्रकार गृहत्याग पर्यन्त क्रियाओको पूर्ण करके साधक होनेके लिये आगेकी ग्यारहवी प्रतिमाको धारण करे ॥५८॥ जिसका—उपर्युक्त दस प्रतिमारूप शस्त्रसे घायल हुआ मोह रूप मृगेन्द्र कुछ कुछ जीवित है और जिसने अपने निमित्तसे बनाये हुए आहारको छोड दिया है उसे अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक समझना चाहिये ॥५९॥ प्रथम श्रावक और द्वितीय श्रावक इस तरह उत्कृष्ट श्रावकके दो विकल्प (भेद) हैं। हे महाराज श्रेणिक! पहले प्रथम श्रावकका स्वरूप कहता हूँ उसे तुम सुनो ॥६०॥ प्रथम श्रावकको—श्वेत वस्त्रकी लगोट तथा श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिये, वस्त्रादिकी पिच्छी रखना चाहिए और कतरनी तथा उस्तरेसे केशोका मुण्डन करवाना चाहिये ॥६१॥ गुरुके चरण समीप रहनेवाला यह प्रथम श्रावक भी दो प्रकार है—एक तो वहुत घरोसे भिक्षा लेनेवाला और दूसरा एक ही घरमे भिक्षा करनेवाला ॥६२॥ पहला श्रावक पात्र भोजन, वर्तनमे अथवा हाथमे वैठकर भोजन करे, तथा पर्वोमे चार प्रकारका उपवास करे ॥६३॥ उसे चाहिये कि वह पहले ही अपने पात्रको जलसे धोकर भिक्षाके लिये दाताके घरमे जावे और आगणमे ठहरकर "धर्मलाभ" यह कहकर भिक्षाकी याचना करे ॥६४॥ लाभ तथा अलाभमे समान भाव रखकर अर्थात्—किसी तरहका विषाद न करके दूसरे दाताके घर जावे और अपना पात्र दिखाकर क्षणमात्र मौन-पूर्वक वहाँपर ठहरे ॥६५॥ यदि दाता उस समय प्रार्थना करे कि—हे नाथ! यहीपर आप भोजन करे तो अपने लाये हुए भोजनको करके फिर भी यदि कुछ इच्छा हो तो उस दाताकी प्रार्थनासे उसका भी भोजन करे ॥६६॥ यदि दाता प्रार्थना न करे तो अपने उदरकी पूर्ति जवतक न हो तवतक भिक्षाके अर्थ भ्रमण करे और किसी एकके घरपर जाकर प्रासुक जलकी याचना करे ॥६७॥ उस समय जो कुछ पात्रमे भोजन मिले उसे देख-शोधकर भोजन करे और अपने हाथसे पात्रको शुद्ध करके गुरुके समीप वनमे जावे ॥६८॥

वन्दित्वा गुरुपादौ स प्रत्याख्यानं तदर्पितम् । गृहीत्वा विधिना सर्वमालोचेत प्रयत्नत ॥६९
यस्त्वेकभिक्षो भुञ्जीत गत्वाऽसावनुमुन्यत । तदलाभे विदध्यात्स उपवासमवश्यकम् ॥७०
स्थेयान्मुनिवनेऽजस्रं सुश्रूषेत गुरूंस्तथा । तपश्चरेद्द्विधा वैयावृत्यं कुर्याद्विशेषत ॥७१
तथा द्वितीय किन्त्वार्यनामोत्पाटयेत्कचान् । रक्तकोपीनसंग्राही धत्ते पिच्छं तपस्विवत् ॥७२
संशोध्यान्येन निक्षिप्त पाणिपात्रेऽत्ति युक्तितः । इच्छाकारं समाचारं सर्वेऽन्योन्यं प्रकुर्वते ॥७३
कल्पन्ते वीरचर्याह्न प्रतिमातापनादय. । न श्रावकस्य सिद्धान्तरहस्याध्ययनादिकम् ॥७४
कदा मे मुनिवृत्तस्य साक्षाल्लाभो भविष्यति । निरवद्यस्य चित्तेऽसौ भावयेदिति भावनाम् ॥७५
यतो हि यतिधर्मस्याभिलाषी श्रावको मत. । तं विना न भवेत्तस्य धर्मश्च फलवान्क्वचित् ॥७६
वन्दना त्रितय काले प्रतिक्रान्ते द्वयं तथा । स्वाध्यायानां चतुष्कं च योगभक्तिद्वयं पुन. ॥७७
उत्कृष्टश्रावकेनाऽमू कर्त्तव्या यत्नतोऽन्वहम् । पडष्टौ द्वादश द्वे च क्रमशोऽमूषु भक्तय ॥७८
अन्यैरपि दशधा श्राद्धैर्यथाशक्त्या यथाविधि । पापशुद्ध्यै विधातव्या भवभ्रमणभीरुभि. ॥७९
इत्येकादशधाऽऽख्यातो नैष्ठिक श्रावकोऽधुना । अन्त्यस्य च यथासूत्र साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥८०

वनमे जाकर अपने गुरुके चरण कमलोको नमस्कार करके और उसने दिया हुआ चार प्रकारके आहारका त्यागरूप प्रत्याख्यानको विधिपूर्वक ग्रहण करके दिन भरके अपने कर्त्तव्यकी उनके आगे आलोचना करे ॥६९॥ किन्तु जो श्रावक एक ही भिक्षाका नियमवाला है उसे चाहिये कि वह दाताके घर जाकर मुनियोके भोजन किये वाद भोजन करे । यदि आहारका संयोग न मिले तो उस दिन उपवास करे ॥७०॥ उस श्रावकको निरन्तर मुनियोके पास वनमे रहकर गुरुओकी सेवा करनी चाहिये । तथा वाह्य और अभ्यन्तर इस तरह दो प्रकारका तप धारण करना चाहिये, उसमे भी वैयावृत्य विशेष करके करना चाहिए ॥७१॥ और द्वितीय रक्त कोपीन (लगोट) मात्र धारण करनेवाले भिक्षुकको चाहिये कि अपने केशोको अपने हाथसे उखाडे और मुनियोके समान पिच्छी धारण करे ॥७२॥ दूसरोसे अपने हाथोमे रखे हुए भोजनको देख-शोधकर करना चाहिये । तथा इन सम्पूर्ण एकादश प्रतिमाधारी श्रावकोको परस्पर "इच्छामि" ऐसा करना चाहिए ॥७३॥ वीरचर्यासे भोजन करना, दिनमे प्रतिमा योग धारण करना, ग्रीष्मकालमे पर्वतोके शिखरपर, शीतकालमे खुले हुए स्थानमे तथा वर्षा समयमे वृक्षोके नीचे नग्न होकर ग्रीष्मवाधा शीतवाधादिका सहन करना तथा सिद्धान्त रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रोका अध्ययन करना ये सब बात देशव्रती श्रावकके लिये मना है । अर्थात् गृहस्थोको इन विषयोमे प्रवृत्ति करनेका अधिकार नही है ॥७४॥ अहो ! वह सुदिन कब होगा जिस दिन निर्दोष (पवित्र) मुनिवृत्तकी मुझे साक्षात्प्राप्ति होगी, इस प्रकार चित्तमे निरन्तर ऐसी भावना भाते रहना चाहिए । यही कारण है—जो मुनि धर्मका इच्छुक होता है उसे ही वास्तवमे श्रावक कहते हैं क्योकि यति धर्मकी भावनाके विना श्रावक धर्म कभी फल-दायक नही होता ॥७५-७६॥ तीनो कालमे तीन वक्त सामायिक, दो प्रतिक्रमण, चार स्वाध्याय तथा दो योग भक्ति ये सब क्रियाएँ—उत्कृष्ट श्रावकको प्रयत्न पूर्वक प्रति दिन करना चाहिये । इनमे क्रमसे छह, आठ, वारह और दो भक्ति होती है ॥७७-७८॥ ससारके भ्रमणसे भयभीत शेष दशप्रतिमाधारी श्रावकोको भी ये उपर्युक्त क्रियाएँ शास्त्रानुसार अपनी शक्तिके माफिक पापकी शुद्धिके लिये अर्थात् पापके नाश करनेके अर्थ करनी चाहिए ॥७९॥ इस प्रकार ग्यारह प्रकारके नैष्ठिक श्रावकका वर्णन किया । अब शास्त्रानुसार अन्तिम श्रावकके साधकपनेका वर्णन किया जाता है ॥८०॥

सोऽन्ते सन्न्यासमादाय स्वात्मानं शोधयेद्यदि । तदा साधनमापन्न साधकः श्रावको भवेत् ॥८१
अन्येऽपि प्रतिमानां ये भेदाः सन्ति जिनागमे । विवुधैस्तेऽपि विज्ञेया गुर्वादेशेन विस्तरात् ॥८२
आसा संज्ञां व्रतं निष्ठा धर्मो वृत्तं च संयम । धर्मस्थान च निश्रेणिश्चारित्रं च बुधैर्मताः ॥८३
त्रसहिंसादिनिर्विण्णोऽप्रत्याख्यानस्य हानित. । प्रत्याख्यानोदयादस्य स्थावराणा न रक्षणम् ॥८४
ततोऽमुष्यैकदेशेन संयमत्वान्महाव्रतम् । न कल्पते गुणस्थान पञ्चमं नाधऊर्द्ध्वगम् ॥८५
रागादीना क्षयादत्र तारतम्यादथोत्तरम् । दर्शनाद्येषु धर्मेषु नैर्मल्य जायते तराम् ॥८६
धार्मिक प्राणनाशेऽपि व्रतभङ्गं करोति न । प्राणनाशः क्षणे दु.खं व्रतभङ्गश्चिरं भवे ॥८७
यदि प्रमादतः क्वापि व्रतच्छेदोऽस्य जायते । गुरोरालोच्य तत्पापं शोधयेत्तस्य देशनात् ॥८८
एष निष्ठापरो भव्यो नियमेन सुरालयम् । गच्छत्यच्युतपर्यन्त क्रमश. शिवमन्दिरम् ॥८९

इत्यापवाद विविधं चरित्रं समभ्य सन्तिष्ठति यः सुमेधा ।
कालादिलब्धौ क्रमता पुन स उत्सर्गवृत्तं जिनचन्द्रदिष्टम् ॥९०

वही उत्कृष्ट श्रावक मरण समयमे सन्यास (सल्लेखना) को ग्रहण करके यदि अपने आत्माको शुद्ध करे तो उस समय साधनदशाको प्राप्त होता हुआ श्रावक साधक कहा जाता है ॥८१॥ जैनशास्त्रोमें प्रतिमाओके और भी जो भेद है उन्हे गुरुओकी आज्ञासे विस्तार पूर्वक जानना चाहिये ॥८२॥ इन्ही प्रतिमाओके व्रत, वृत्त, निष्ठा, धर्म, सयम, धर्मस्थान, निश्रेणि, तथा चारित्र इत्यादि भी नाम वुद्धिमान् लोग कहते है ॥८३॥ यह श्रावक अप्रत्याख्यानावरणीय कषायका नाश होनेसे द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोकी हिंसासे विरक्त रहता है परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय कषायका इसके उदय रहता है इसलिये स्थावर जीवोकी रक्षा नही कर पाता है ॥८४॥ इस श्रावकके एक देश सयमके होनेसे महाव्रत नही कहा जा सकता और न पञ्चम गुणस्थानसे नीचे तथा ऊपर इसके गुणस्थान होता है । अर्थात् यह पाँचवें ही गुणस्थान वाला रहता है ॥८५॥ इन दार्शनिक आदि ग्यारह ही प्रतिमाओमे उत्तरोत्तर अधिक रागादिकोका अभाव होनेसे अत्यन्त निर्मलता होती जाती है ॥८६॥ धर्मात्मा पुरुषोको अपने ग्रहण किये हुए व्रतका भङ्ग कभी नही करना चाहिये, चाहे फिर प्राणोका नाश (मरण) ही क्यो न हो जाय । क्योकि—प्राणोका नाश होनेसे तो उसी समय दु ख होता है परन्तु व्रत-भङ्ग होनेसे चिरकालपर्यन्त ससारमे असह्य दु ख उठाने पडते हैं ॥८७॥ यदि प्रमाद (असावधानीसे) ग्रहण किये हुए व्रतमे किसी प्रकारका दोष लग जाय तो उसे गुरुओके सामने आलोचना करके उनके उपदेशानुसार उस पापकी शुद्धि करे ॥८८॥ इस प्रकार निष्ठा (प्रतिमाओके पालन) मे तत्पर यह भव्यात्मा नियमसे अच्युत विमानपर्यन्त जाता है और क्रमसे मोक्षको प्राप्त करता है ॥८९॥ इस तरह नाना प्रकारके चारित्र युक्त अपवाद लिङ्गका पहले सम्यक् प्रकार अभ्यास करके जो वुद्धिमान स्थिर रहता है वही भव्यात्मा फिर क्रमसे कालादिलब्धिको प्राप्ति होने पर जिन भगवान् करके उपदेशित उत्सर्गव्रतकी धारण करनेके लिए उत्साहित होवे ॥९०॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
सामायिकादिप्रतिमानवकस्वरूपवर्णनो नाम पञ्चमोऽधिकार ॥५॥

षष्ठोऽधिकारः

समितीर्न्न विना स्याता देशव्रतमहाव्रते । पुराधिपतिदेशाधिपतित्वे वाहिनीरिव ॥१
तस्मादणुव्रती पञ्च समिती परिपालयेत् । अणुव्रतस्य रक्षार्थं वीजस्येव लसेद्व्रनी ॥२
सम्यगयन तच्छुद्धि प्रतीति समितिर्मता । ईर्याभाषैपणादाननिक्षेपोत्सर्गनामिकाः ॥३
मार्तण्डकिरणस्पृष्टे गच्छतो लोकवाहिते । मार्गे दृष्ट्वाऽङ्गिसङ्घातमीर्यादिसमितिर्मता ॥४
परवाधाकरं वाक्यं न ब्रूते धर्मदूषितम् । यस्तस्य समितिर्भाषा जायते वदतो हितम् ॥५
षट्चत्वारिंशतादोषैरन्तरायैर्मलैश्च्युतम् । आहार गृह्णत. साधोरेषणा समितिर्भवेत् ॥६
पुस्तकाद्युपधि वीक्ष्य प्रतिलेख्य च गृह्णत । मुञ्चतो दाननिक्षेप समिति स्याद्यतेरियम् ॥७
विण्मूत्रश्लेष्मखिल्यादिमलमुज्झति य शुचौ । दृष्ट्वा विशोध्य तस्य स्यादुत्सर्गसमितिर्हिता ॥८
कृष्यादिजीवनोपायैर्हिसादे. पापमुद्भवम् । गृहिणा क्षिप्यते स्वामिन्कथमवददगणी ॥९
व्यापारैर्जायते हिंसा यद्यप्यस्य तथाप्यहो । हिंसादिकल्पनाभावः पक्षत्वमिदमीरितम् ॥१०
हिंसादिसम्भवं पापं प्रायश्चित्तेन शोधयन् । तपो विना न पापस्य मुक्तिश्चेति विनिश्चयन् ॥११

जव तक सेना नही होती है तव तक राजा होने पर भी पुराधीश तथा देशका स्वामी वह नही कहला सकता । उसी प्रकार जव तक समितियाँ न होंगी, तव तक देशव्रत तथा महाव्रतका रक्षण नही हो सकता ॥१॥ जिस तरह खेतमे वोये हुए वीजकी रक्षाके लिये चारो ओर काटेकी वाढ लगाई जाती है उसी तरह अणुव्रती श्रावकको चाहिये कि अपने धारण किये हुए अणुव्रतकी रक्षाके लिये ईर्या, भाषा, एषणा आदि पाँच प्रकार जो समितियाँ हैं उन्हे अवश्य पालन करे ॥२॥ शुद्धिके लिये जो अच्छा मार्ग उसे समिति कहते है। वह ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेप-समिति तथा उत्सर्गसमिति इस तरह पाँच प्रकार है ॥३॥ जिसमे सूर्यका प्रकाश चारो ओर हो रहा है तथा जिसमे लोगोका गमनागमन हो रहा है ऐसे मार्गमे जीवोकी रक्षाके अर्थ देखकर चलने वाले धर्मात्मा पुरुषके ईर्यासमिति होती है ॥४॥ जिन वचनोके वोलनेसे दूसरे जीवोको दु ख होता है तथा जो वचन धर्मसे विरुद्ध है अर्थात् जिसके वोलनेमे धर्ममे दोष लगता है ऐसे वचनोको न वोलकर और जो दूसरोंके हित करने वाले तथा धर्मसे अविरोधी वचन वोलते हैं उन महात्मा पुरुषोंके भाषासमिति होती है ॥५॥ छ्यालीस दोष, वत्तीस अन्तराय और चौदह मलोसे रहित पवित्र आहारको लेनेवाले साधु पुरुषोंके एषणासमिति होती है ॥६॥ पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी आदि उपकरण देखकर तथा शोध कर ग्रहण करनेवाले और रखनेवाले मुनि लोगोंके आदाननिक्षेपसमिति होती है ॥७॥ जो धर्मात्मा पुरुष—विष्टा, मूत्र तथा कफ आदि अपवित्र वस्तुओंको जीव-रहित पृथ्वीमे देखकर तथा शोधकर छोडते है उनके उत्सर्गसमिति होती है ॥८॥ राजा श्रेणिक गौतमगणधरसे पूछते हैं—हे स्वामिन्, कृषिकर्म आदि जीविकाके उपायोंसे जो गृहस्थ लोगोको हिंसा आदिका पापवन्ध होता है उसे वे लोग कैसे नाश करे ? इसपर गणधर ने कहा ॥९॥ यद्यपि गृहस्थ लोगोंके व्यापारादिसे हिंसा होती है परन्तु उसमे हिंसादिकी कल्पना-का अभाव है। इसे पक्ष कहते हैं ॥१०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिसे होनेवाले पापको प्रायश्चित्तादिसे शुद्ध करता हुआ तथा तप धारण किये विना पापकर्मका कभी नाश नही होगा

यावत्यजति चाऽऽवासं धन धर्म्यं सुताय वै । समर्प्य तावदस्याऽत्र चर्यात्वमिदमुच्यते ॥१२
भवाङ्गभोगनिर्विण्ण परमात्मस्थमानस । यस्तस्याङ्गपरित्याग साधकत्वं समाधिना ॥१३
एभिः पक्षादिभिर्योगै क्षिप्यते श्रावकैरिदम् । कषायवासिताम्भोभिर्वस्त्रस्येव मलं लघु ॥१४
आश्रमा सन्ति चत्वारो जैनानां परमागमे । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च संज्ञया ॥१५
अदीक्षोपनयौ गूढावलम्बौ नैष्ठिकोऽभिधा । सप्तमाङ्गे भिदा सन्ति पञ्चैते ब्रह्मचारिणाम् ॥१६
वेषं विना समभ्यस्तसिद्धान्ता गृहधर्मिणः । ये ते जिनागमे प्रोक्ता अदीक्षा ब्रह्मचारिणः ॥१७
समभ्यस्तागमा नित्यं गणभृत्सूत्रधारिण । गृहधर्मरतास्ते चोपनयब्रह्मचारिण ॥१८
कुमारश्रमणा सन्तः स्वीकृतागमविस्तरा । बान्धवैर्धरणीनाथैर्दु सहैर्वा परीषहै ॥१९
आत्मनैवाऽथवा त्यक्तपरमेश्वररूपका । गृहवासरता ये स्युस्ते गूढब्रह्मचारिण ॥२०
पूर्वं क्षुल्लकरूपेण समभ्यस्याऽऽगमं पुन । गृहीतगृहवासास्तेऽवलम्बब्रह्मचारिण ॥२१
शिखायज्ञोपवीताङ्कास्त्यक्तारम्भपरिग्रहा । भिक्षा चरन्ति देवार्चा कुर्वते कक्षपट्टकम् ॥२२
धवलारक्तयोरेकतरैकवस्त्रखण्डकम् । धरन्ति ये च ते प्रोक्ता नैष्ठिकब्रह्मचारिण ॥२३

प्रायश्चित्तादिसे शुद्ध करता हुआ तथा तप धारण किये विना पापकर्मका कभी नाश नही होगा ऐसा हृदयमे निश्चय करता हुआ जो भव्यात्मा पुरुष—धन, स्त्री, जननी तथा चैत्यालयादिक धर्म्यवस्तुओको अपने पुत्रके अधीन करके जवतक गृहका त्याग करता है तब तक इसको चर्या होती है ॥११-१२॥ जो ससार, शरीर, भोगादिसे सर्वथा विरक्त-चित्त है, जिसका मन परमात्मामे लग रहा है, उस भव्य पुरुषके समाधि (सल्लेखना) पूर्वक जो शरीरका छोडना है उसे साधकत्व कहते है ॥१३॥ जिस तरह कषाय-वासित जलसे वस्त्रका मैल वहुत शीघ्र दूर हो जाता है उसी तरह इन पक्ष, चर्या तथा साधनादिके द्वारा हिंसादिसे उत्पन्न होनेवाले पापकर्मका गृहस्थ लोग नाश करते है ॥१४॥ जैन शास्त्रोमे जैन लोगोके ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक इस तरह चार आश्रम है ॥१५॥ उपासनाध्ययन नाम सप्तम अगमे ब्रह्मचारियोके अदीक्षा ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी, उपनयब्रह्मचारी, गूढब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस तरह पाँच भेद कहे है ॥१६॥ ब्रह्मचारीका वेष धारण किये विना जिन्होने सिद्धान्तका अध्ययन किया है ऐसे जो गृहस्थ लोग हैं उन्हे जिनागममे अदीक्षित ब्रह्मचारी कहते है ॥१७॥ जिन्होने शास्त्रका अभ्यास किया है, जो गणधर सूत्रको धारण करनेवाले है और गृहस्थ धर्ममे तत्पर है उन्हे उपनय कहते है ॥१८॥ जिन्होने कुमार कालमे ही मुनि वेष धारण करके सिद्धान्तका अध्ययन किया है वे फिर कभी अपने वन्धु लोगोके तथा राजादिके आग्रहसे, दु सह परीषहोपसर्गादिके न सहन होनेसे, अथवा अपने आप ही उस धारण किये हुए जिन रूप (मुनि वेष) को छोड कर गृह कार्यमे लगते हैं उन्हे जिनागममे गूढ ब्रह्मचारी कहा है ॥१९-२०॥ जो पहले क्षुल्लक रूप धारण करके और जैनागमका अध्ययन करके फिर गृहवासको स्वीकार करते हैं उन्हे अवलम्ब ब्रह्मचारी समझना चाहिये ॥२१॥ जो शिखा (चोटी), यज्ञोपवीतसे युक्त है, जिन्होने आरभ तथा परिग्रहका त्याग कर दिया है, जो भिक्षा करके आहार करते हैं जो जिनदेवका पूजन करते है तथा कोपीन और श्वेत वस्त्र तथा लाल वस्त्रमे से किसी एक तरहके वस्त्रखडको धारण करते है वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं ॥२२-२३॥ नैष्ठिक ब्रह्मचारीको छोड कर वाकीके अदीक्षा ब्रह्मचारी, उप य ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी, तथा गूढब्रह्मचारी ये चार ब्रह्मचारी शास्त्राभ्यासको समाप्त करके अन्तमे

नैष्ठिकेन विना चाऽन्ये चत्वारो ब्रह्मचारिण । शास्त्राभ्यासं विधायाऽन्ते कुर्वते दारसंग्रहम् ॥२४
प्रथमाऽऽश्रमिण प्रोक्ता वक्ष्यन्ते त्वधुना मया । द्वितीयाऽऽश्रमसंसक्ता गृहिणो धर्मवासिता ॥२५
इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्याय संयमस्तथा । ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मता ॥२६
जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् । यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥२७
स्थापनं जिनबिम्बानां तद्गृहस्य विधापनम् । तस्मै ग्रामगृहादीनां शासनस्य प्रवर्तनम् ॥२८
देवार्चनं गृहे स्वस्य त्रिसन्ध्यं देववन्दनम् । मुनिपादार्चनं दाने साऽपि नित्यार्चना मता ॥२९
पूजा मुकुटवद्धैर्या क्रियते सा चतुर्मुख । चक्रिभि क्रियमाणा या कल्पवृक्ष इतीरिता ॥३०
नन्दीश्वरमहापर्वपूजैषाऽष्टाह्निकाऽभिधा । इन्द्राद्यै क्रियते पूजा सेन्द्रध्वज उदाहृता ॥३१
चतुर्मुखादय पूजा याश्च प्रोक्ता निमित्तजा. । तद्भेदा विस्तराज्ज्ञेया बहवोऽर्चादिकल्पतः ॥३२
पूज्य पूजाफल तस्या पूजकश्च विशेषतः । अधिकारा समादिष्टा पूजाकल्पे मुनीश्वरै ॥३३
पूज्योऽर्हन्केवलज्ञानदृग्वीर्यसुखधारकः । नि.स्वेदत्वादिनैर्मल्यमुख्यकै. संयुतो गुणै ॥३४
गर्भजन्मतपोज्ञानमोक्षकल्याणराजित । भाषाभामण्डलाद्यैश्च प्रातिहार्यैर्विभूषितः ॥३५
तद्बिम्बं लक्षणैर्युक्त शिल्पिशास्त्रनिवेदितै । साङ्गोपाङ्गं यथायुक्त्या पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥३६

दार-संग्रह अर्थात् स्त्रीके साथ विवाह करते हैं ॥२४॥ प्रथम आश्रमके धारण करनेवालोंका मैंने वर्णन किया। अब इस समय धर्मयुक्त द्वितीय गृहस्थाश्रमके धारण करनेवालोंका वर्णन करता हूँ ॥२५॥ इज्या (जिन पूजन), वार्त्ता, तप, दान, स्वाध्याय तथा संयम इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते हैं वे गृहस्थ कहे जाते हैं ॥२६॥ पवित्र शरीर होकर गृहस्थ लोग जो अपने गृहसे लाये हुए जल, चन्दन, अक्षत, पुष्पादि द्रव्योंसे जिन भगवान्का पूजन करते हैं वह नित्य पूजा कही गई है ॥२७॥ जिनबिम्बकी स्थापना (प्रतिष्ठा) करना, जिनालयका बनवाना, जिनशासनकी वृद्धिके लिये जिन मन्दिरमे ग्राम तथा गृहादिका देना, अपने गृहमें जिन भगवान्का पूजन करना, तीनों काल देववन्दना (सामायिक) करना तथा दान देनेके समय मुनियोंके चरणोंका पूजनादि करना ये सब नित्य पूजनके ही भेद हैं ॥२८-२९॥

मण्डलेश्वर, राजा, महाराजा जो पूजन करते हैं उसे चतुर्मुख पूजन कहते हैं और जो पूजन छह खंड वसुन्धराके अधिपति चक्रवर्ती करते हैं उस पूजनका नाम कल्पवृक्ष पूजन है ॥३०॥ जो नन्दीश्वरमहापर्वमें पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निक पूजन कहते हैं और इन्द्रादि देवोंसे जो पूजा की जाती है उसे इन्द्रध्वज पूजन कहते हैं ॥३१॥ चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, अष्टाह्निक तथा इन्द्रध्वज ये जो नैमित्तिक पूजन-विधानके चार भेद कहे हैं इनके और भी अनेक भेद हैं उन्हें विस्तारपूर्वक पूजाकल्प (पूजन-सम्बन्धी शास्त्रों) मे जानना चाहिये ॥३२॥ पूज्य (पूजन योग्य), पूजा फल, तथा पूजक (पूजन करनेवाला) इनके विशेषसे पूजा सम्बन्धी शास्त्रोंमे प्राचीन मुनियोंने अधिकार वर्णन किये हैं ॥३३॥ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख रूप अनन्तचतुष्टयसे विराजमान तथा पसेव-रहित आदि जो प्रधान निर्मल गुण हैं उनसे युक्त श्री अर्हन्त भगवान् पूज्य हैं ॥३४॥ गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, तप कल्याण, ज्ञानकल्याण तथा मोक्षकल्याण इन पाँच कल्याणोंसे विराजमान तथा दिव्यध्वनि, भामण्डल, अशोकवृक्ष, देवकृतपुष्पवृष्टि, चामर, सिंहासनादि, आठ प्रकारके प्रातिहार्योंसे शोभित श्री अर्हन्त भगवान् पूज्य हैं ॥३५॥ प्रतिमा बनानेके जो-जो लक्षण शिल्पिशास्त्रोंमें वर्णन किये हैं उनसे युक्त, अंग उपांग सहित तथा शास्त्रानुसार प्रतिष्ठा

जीर्णं चाऽतिशयोपेतं तद्व्यङ्गमपि पूज्यते । शिरोहीनं न पूज्य स्यात्प्रक्षेप्यं तन्नदादिषु ॥३७
अचेतनार्ऽचिता जैनो किं पुण्यं प्रतिमाऽङ्गिनाम् । करोत्येव वदेत्कश्चिद्यस्तमित्थं प्रबोधयेद् ॥३८
शान्तां स्थिरासना वीक्ष्य प्रतिमा मोक्षदेशिनीम् । जन्तोर्य प्रशमो भाव स च पुण्याय जायते ॥३९
सिद्धा सेत्स्यन्ति सिद्धयन्ति ये केचिन्नरपुङ्गवा । ते सर्वेऽप्यनया स्थित्येति भाव पुण्यकृद्भवेत् ॥४०
एतद्वद्ग्रन्थमुज्झित्वा कदा शान्त स्थिरासन । भविष्यामीह मोक्षार्हः सकल्पोऽयं सुपुण्यकृत् ॥४१
भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्याऽकृत्रिमा कृत्रिमा सदा । यतस्तद्गुणसकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिन ॥४२
सम्यक्त्वादिगुण' सिद्ध. सूरिराचारपञ्चक. । पाठको द्वादशाङ्गज्ञ साधुश्चाऽर्च्य. स्वसाधक ॥४३
सर्वज्ञभाषितं यद्ग्रथितं गणधरादिभि' । स्थापितं पुस्तकादौ तच्छ्रुतं पूज्यं च भक्तित ॥४४
यथैते धर्मिण पूज्यास्तथा धर्मोऽपि तन्मत । स च दृग्बोधचारित्रलक्षणश्च क्षमादिकः ॥४५

किये हुए जो जिनविम्व (जिन प्रतिमा) हे वे पूजने योग्य हैं ॥३६॥ यदि कोई जिनबिम्ब खडित अर्थात् किसी अगसे रहित हो जाय परन्तु यदि वह अत्यन्त जीर्ण (प्राचीन) है अथवा किसी प्रकारके अतिशयसे युक्त है तो पूजनीय है। परन्तु जो प्रतिमा मस्तक-रहित है और वह प्राचीन तथा अतिशय युक्त भी है तो पूजनीय नही है। ऐसी प्रतिमाओको मन्दिरादिमे न रखकर नदी, समुद्रादि जहाँ कही वहुत गहरा जल हो वहाँ निक्षेपित (प्रवाहित) कर देना चाहिये ॥३७॥ यदि यहाँ पर कोई यह कहे कि—अरे ! ये प्रतिमा तो अचेतन (जड) हैं क्या इनके पूजनेसे जीवोको पुण्यका वन्ध होगा ? तो उन लोगोको यो समझाना चाहिये ॥३८॥ शान्त (वीतरागस्वरूप), निश्चल विराजमान, तथा मोक्षके स्वरूपको वताने वाली जिन प्रतिमाको देखकर जीवोका जो शान्तपरिणाम होता है वह परिणाम पुण्यके लिए कारण होता है ॥३९॥ पूर्वकालमे कितने भव्यात्मा सिद्ध हुए है, आगामी सिद्ध होगे तथा वर्तमानमे होनेवाले हैं वे सब इसी स्थितिसे हुए है, होगे तथा होनेवाले है ऐसा जो आत्माका परिणाम होता है वही पुण्यका उत्पादक होता है ॥४०॥ इस अपार ससारमे इन प्रतिमाओ के समान परिग्रह छोडकर किस समय शान्त स्वभाव वाला, स्थिरासन तथा मोक्ष हो जाने योग्य मै होऊँगा ? यह जो आत्मामे सकल्प (भावना) होना है वही पुण्यकी प्राप्तिका कारण है ॥४१॥ इन उपर्युक्त कारणोसे प्रतिमाका पूजना पुण्यका हेतु है इसलिये श्रावक लोगोको—भक्ति पूर्वक अकृत्रिम (अनादिकालसे चली आई) तथा कृत्रिम (शास्त्रानुसार शिल्पिकारोसे निर्माण कराकर प्रतिष्ठा की हुई) प्रतिमाएँ निरन्तर पूजनी चाहिये। क्योकि इन प्रतिमाओमे साक्षाज्जिन भगवान्के गुणोका संकल्प (निक्षेप) होता है इसलिये जिसने जिन प्रतिमाओकी पूजा की है समझना चाहिये कि—उसने साक्षाज्जिन भगवान्की ही पूजा की है ॥४२॥ सम्यक्त्वादि आठ गुणोसे युक्त सिद्ध भगवान्, दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पचप्रकारके आचारसे युक्त सूरि (आचार्य), द्वादशागशास्त्र-को जानने वाले उपाध्याय तथा अपनी आत्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले साधु (मुनि) ये सव पूजने योग्य हैं ॥४३॥ तीनो लोकके जानने वाले सर्वज्ञ भगवान्से प्रगट हुआ तथा गणधरादिसे गूथा हुआ और वही इस समय पुस्तकादिमे स्थापित्त किया हुआ जो श्रुत है उसे भी भक्ति पूर्वक निरन्तर गृहस्थोको पूजना चाहिये ॥४४॥ जैसे ये उपर्युक्त अर्हन्त, सिद्ध, आचार्यादि धर्मी पूजनीय है उसी तरह धर्म भी पूजने योग्य है। भावार्थ—इन अर्हन्तादिमे धर्म विद्यमान है इसीलिये ये पूजनीय समझे जाते हैं तो धर्म भी स्वत स्वभाव पूजनीय है ही। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप है। तथा उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसयम, उत्तम तप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन, तथा उत्तमब्रह्मचर्य इन दश लक्षण स्वरूप

प्रतीकूलान्सुखीकृत्य यथास्वं दानमानत । अनुकूलान्स्वसात्कृत्य यजतां सिद्धये जिनम् ॥४६
स्त्रीसङ्गाऽऽहारनीहाराऽऽरम्भादिषु रतो गृही । चर्मादिस्पर्शतो देवान्स्नात्वैवाऽर्चेत्सुधौतभृत् ॥४७
स्नानेन प्राणिघातः स्याद्य एवं वक्ति पूजने । स स्वेदादिमलोच्छित्यै स्नायन्मूढो न लज्जते ॥४८
अनेकजन्मजं पापं यद्धन्ति जिनपूजनम् । तदध्यक्षं न किं सिंहो योगजं स शशं न किम् ॥४९
मत्वेति चिकुरान्मृष्ट्वा दन्तानपि गृहव्रती । देशे निर्जन्तुके शुद्धे प्रमृष्टे प्रागुदङ्मुख ॥५०
गालितैर्निर्मलैर्नीरै सन्मन्त्रेण पवित्रितै । प्रत्यहं जिनपूजार्थं स्नान कुर्याद्यथाविधि ॥५१
सरितां सरसां वारि यदगाधं भवेत्क्वचित् । सुवातातापसस्पृष्टं स्नानार्हं तदपि स्मृतम् ॥५२
नभस्वता हतं ग्रावघटीयन्त्रादिताडितम् । तप्तं सूर्यांशुभिर्वाप्या मुनयः प्रासुकं विदु ॥५३
यद्यप्यस्ति जलं प्रासु प्रोक्तलक्षणमागमे । तथाप्यतिप्रसङ्गाय स्नायात्तेनाऽद्य नो बुध. ॥५४
इत्थं स्नात्वाऽच्छवस्त्रे द्वे परिधाय च मन्त्रवित् । सकलीकरणाम्भोभिरनुस्नायाऽर्चयेत्सदा ॥५५
जिनानाहूय सस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत् । पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रै. सहितोक्तैर्गुरुक्रमात् ॥५६

भी है ॥४५॥ जिन भगवान्का पूजन करनेमे किसी तरहका विघ्न न आवे अत: अपने कार्यकी निर्विघ्न सिद्धिके लिये—पूजक पुरुपोको चाहिये कि जो अपने प्रतिकूल हैं उनका यथा योग्य दान सन्मानादिसे सत्कार करके और जो अनुकूल हैं उन्हे अपने समान करके जिन भगवान्की पूजा करे ॥४६॥ स्त्रियोके साथ सम्भोग, आहार, नीहार (शौच), आरम्भादिमे लगे हुए गृहस्थोको तथा चर्म आदि अपवित्र वस्तुओका स्पर्श करने पर स्नान करके और पवित्र वस्त्रको पहन कर जिनदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥४७॥ यदि कोई यह कहे कि—स्नानके करनेमे तो जीवोकी हिंसा होती है वह कैसे ठीक कहा जा सकेगा ? ऐसे लोगोके लिये ग्रन्थकार कहते हैं—पसीना आदि मलके दूर करनेके लिये स्नान करते हुए भी तुम्हे लज्जा नही आती ! जो स्नान करनेको सदोप कह रहे हो ॥४८॥ जो जिन भगवान्की पूजा अनेक जन्मोके पापोका नाश करनेवाली कही जाती है वही पूजा अपने ही निमित्तसे होनेवाले थोडेसे पापोको नाश नही करेगा क्या ? अवश्य करेगी । जो सिंह वडे वडे गजराजोको क्षणमात्रमे विध्वस कर डालता है वह क्या शशक (खरगोश) को न हनेगा ? अवश्य हनेगा ॥४९॥ जिन पूजादिमे स्नान करनेको निर्वाध समझ कर—गृहस्थोको चाहिये कि अपने केश तथा दाँतोको धोकर पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके जीवरहित, पवित्र तथा मार्जन (झाडे) हुए किसी स्थानमे—छाने हुए तथा शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे पवित्र किये हुए निर्मल जलसे प्रतिदिन जिन पूजाके लिये स्नान करे ॥५०-५१॥ यदि कही पर नदी तथा सरोवर (तालाव) आदिका वहुत गहरा जल हो और वह वायु, आताप (सूर्य की किरणादि) से स्पर्श किया हुआ हो तो स्नान करनेके योग्य माना गया है ॥५२॥ वापिका (वावडी) का जल यदि वायुसे हत हो, पत्थर, घटीयन्त्रादिसे ताडित हो तथा सूर्यकी किरणोसे तप्त हुआ हो तो उसे मुनि लोग प्रासुक कहते हैं ॥५३॥ यद्यपि जलके प्रासुक होनेका जो लक्षण कहा है उसी अनुसार वायु, घटीयन्त्र आदिसे हत तथा सूर्यकी किरणादिमे स्पर्श किया हुआ जल प्रासुक है परन्तु अति प्रसग (दुर्व्यवस्था) न हो जाय इसलिये इस समय वैसे जलसे स्नान नही करना चाहिये ॥५४॥

मत्र जानने वाला वह भव्य पुरुप इस प्रकार स्नान करके और स्वच्छ उत्तरीय तथा अन्तरीय वस्त्र पहन कर इसके वाद फिर सकलीकरणके जलसे स्नान कर सदा जिन भगवान्की पूजा करे ॥५५॥ पूजनके समय जिन भगवान्का आह्वानन, सस्थापन तथा सन्निधीकरण करके

स्वगृहे च जिनागारे भक्त्या युक्त्या जलादिभि । पवित्रै रष्टभिर्द्रव्यै. श्रावक पूजयेज्जिनान् ।।५७
भवसतापभिद्वाक्यान्द्रव्यभावमलच्युतान् । जिनानर्चामि सद्वाभि शीतलैरतिनिर्मलै. ।।५८
स्वभावसौरभाङ्गानासिन्द्राद्यैर्विहितार्चने । अर्हता पूजयाम्यङ्घ्री चन्दनैश्चन्द्रमिश्रितै ।।५९
खण्डितारातिचक्राणा शुद्धान्त करणात्मनाम् । माहात्म्यखण्डितैः शुद्धैर्विश्वेशा तण्डुलै पदे ।।६०
हतपुष्पधनुर्वाणसर्वज्ञाना महात्मनाम् । पुष्पै सुगन्धिभिर्भक्त्या पदयुग्मं समर्चये ।।६१
केवलज्ञानपूजाया पूजितं यदनेकधा । चारुभिश्चरुभिर्जैनपादपीठ विभूषये ।।६२
सुत्रामशेखरालीढरत्नरश्मिभिरञ्चितम् । प्रदीपैर्दीपिताशास्यैर्द्योतयेऽर्हत्पदद्वयम् ।।६३
निर्दग्धकर्मसन्तानकाननानां जिनेशिनाम् । कृष्णागुर्वादिज धूप पुर उत्क्षेपयाम्यहम् ।।६४
सुवर्णै सरसै पक्वैर्बीजपूरादिसत्फलै । फलदायि जिनेन्द्राणामञ्चाम्यङ्घ्रियुगाम्बुजम् ।।६५
अम्गन्धाक्षतसमिश्र भ्रमद्भ्रमरसङ्कुलम् । पुष्पाञ्जलिं क्षिपाम्यत्र सर्वज्ञचरणद्वये ।।६६
अष्टकर्मविनिर्मुक्तमष्टसद्गुणभूषणम् । जलाद्यैर्वसुभिर्द्रव्यै सिद्धचक्र यजाम्यहम् ।।६७
जलगन्धादिसद्द्रव्यैर्यजे ज्ञानप्रदायिनीम् । जिनेन्द्रास्याब्जसम्भूतामङ्गपूर्वात्मिकां गिरम् ।।६८

उन्हे पूजना चाहिये । पूजनके बाद सहिता शास्त्रोमे कहे हुए मन्त्रोके द्वारा गुरुक्रमसे विसर्जन करना चाहिये ।।५६।। भव्य श्रावकको—अपने घरके चैत्यालयमे अथवा जिन मन्दिरमे युक्ति पूर्वक पवित्र जल चन्दनादि आठ द्रव्यसे भक्ति पूर्वक जिन भगवान्‌को पूजा करनी चाहिये ।।५७।। जिनके वचन ससारके सतापको नाश करनेवाले हैं और जो बाह्य तथा अन्तरङ्ग मलसे रहित हैं ऐसे ससार समुद्रसे पार करनेवाले जिन भगवान्‌का पवित्र, शीतल तथा अत्यन्त निर्मल जलसे पूजन करता हूँ ।।५८।। जिनका कमनीय शरीर अपने आप सुगन्धित है ऐसे अर्हन्त भगवान्‌के—इन्द्रादि देवताओसे पूजनीय चरण कमलोकी मै कर्पूर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यसे पूजा करता हूँ ।।५९।। जिन्होने अष्टकर्म रूप दुर्जय शत्रुसमूहका नाश कर दिया है और जिनका अन्त करण अत्यन्त शुद्ध (पवित्र) है ऐसे सर्वज्ञ जिन भगवान्‌के चरण कमलोको अखड और पवित्र अक्षतोसे पूजता हूँ ।।६०।। जिन्होने काम वाणका सर्वथा नाश कर दिया है ऐसे पवित्रात्मा सर्वज्ञ भगवान्‌के चरण कमलकी कमल, केवडा, गुलाव, चमेली, मालती, आदि अनेक जातिके मनोहर तथा सुगन्धित फूलोसे पूजा करता हूँ ।।६१।। केवलज्ञानके पूजनके समयमे जिनके चरण कमल अनेक प्रकारसे पूजे गये हैं उन्ही जिनदेवके चरणोको मनोहर व्यञ्जनादि नैवेद्योसे पूजता हूँ ।।६२।। इन्द्रादि देवताओके मुकुटोमे लगे हुए रत्नोकी किरणोसे विराजमान जिन भगवान्‌के दोनो चरण सरोजोको, भक्ति पूर्वक—जिनके प्रकाशसे दशो दिशाएँ देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे सुन्दर दीपकोसे पूजता हूँ ।।६३।। जिन्होने कर्म समूह रूप गहन वन क्षणमात्रमे जला दिया है ऐसे जिनराजके सन्मुख अष्टकर्मरूप वनके भस्म करनेके अर्थ कृष्णागुरु आदि सुगन्धित वस्तुओसे बनी हुई धूप क्षेपण करता हूँ ।।६४।। स्वर्गादि उत्तम फलके देनेवाले जिन भगवान्‌के चरण कमलोकी—दीखनेमें नयनोको अत्यन्त सुन्दर तथा सुरस आम, अनार, केला, सेव, नास्पाती, नारगी, वीजपुर आदि पके हुए उत्तम फलोसे पूजा करता हूँ ।।६५।। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्पादिसे मिली हुई और जो चारो ओर भ्रमण करते हुए भ्रमरोसे व्याप्त हो रही है ऐसी मनोहर पुष्पाञ्जलि सर्वज्ञ भगवान्‌के दोनो चरणोमे क्षेपण करता हूँ ।।६६।। आठ कर्म रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुण विभूषित सिद्धचक्रका—जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्यादि आठ द्रव्योसे पूजन करता हूँ ।।६७।। जिन भगवान्‌के मुख कमलसे उत्पन्न हुई तथा ज्ञानको देनेवाली ऐसी द्वाद-

रत्नत्रयपवित्राणां मुनीन्द्राणां तपोभृताम् । चरणानर्चयाम्यम्भोगन्धाद्यैर्भक्तितः सदा ॥६९
द्वेधा दृग्बोधचारित्रमुत्तम क्षान्तिपूर्वकम् । धर्मसञ्चामि सद्द्रव्यैर्जिनोक्तं सुखदं मुदा ॥७०
एवं पाठं पठन्वाचा जिनादीनर्चयेत्तराम् । तद्‌गुणौघ स्मरन्नन्त कायेन कृततद्विधि. ॥७१
माल्यधूपप्रदीपाद्यै सचित्तै कोऽर्चयेज्जिनम् । सावद्यसम्भवाद्वक्ति य. स एवं प्रबोध्यते ॥७२
जिनार्चानिकजन्मोत्थं किल्विषं हन्ति या कृता । सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमङ्गिनाम् ॥७३
प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिन पर्वतोपमा । तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा ॥७४
भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमङ्गिनाम् । जीवनाय मरीचादिसदौषधविमिश्रितम् ॥७५
तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारम्भ पापकृद्भवेत् । धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा ॥७६
जिनमर्चयत पुण्यराशौ सावद्यलेशक । न दोषाय कणः शीतशिवाम्भोधौ विषस्य वा ॥७७
गण्डं पाटयतो बन्धोः पीडनं चोपकारकृत् । जिनधर्मोद्यतस्यैव सावद्यं पुण्यकारणम् ॥७८

गाङ्ग तथा चौदह पूर्व रूप जो वाणी (सरस्वती) है उसे जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीपादिसे तथा सुन्दर सुन्दर वसनोसे पूजता हूँ ॥६८॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयसे पवित्र तथा अनेक प्रकार दुर्द्धरतपश्चरणके करनेवाले मुनिराजोके चरणोको जलगन्धादि आठ द्रव्योसे भक्ति पूर्वक पूजता हूँ ॥६९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप तथा उत्तमक्षमादि दशधर्म रूप जिन भगवान्के द्वारा कहा हुआ तथा स्वर्गादि सुखोका देनेवाला जो धर्म है उसे जल गन्धादि उत्तम द्रव्योसे पूजता हूँ ॥७०॥ अपने शरीरसे यथोक्त पूजनादि विधि करता हुआ और अन्त करण (हृदय) मे जिन भगवान्के गुण स्मरण पूर्वक पूजनादि सम्बन्धी पाठ वाणीसे पढ़ता हुआ श्रावक जिन भगवान्का पूजन करे ॥७१॥ जिन भगवान्के पूजनके सम्बन्धमे यदि कोई यह कहे कि—पुष्पमाल, धूप, प्रदीपादि सचित्त पदार्थसे कौन जिनदेवका पूजन करेगा ? क्योकि सचित्त पदार्थमे पूजन करनेसे तो सावद्य (आरम्भ) होता है ? जिन लोगोकी ऐसी श्रद्धा है उन्हे इस तरह समझाना चाहिये ॥७२॥ "जिन भगवान्का पूजन करनेसे जन्म जन्मसे उपार्जन किये हुए पापकर्म क्षणमात्रमे नाश हो जाते हैं" तो क्या उसी पूजनसे—पूजन सम्बन्धी आचारसे उत्पन्न जीवोका अत्यल्प सावद्य कर्म नाश नही होगा ? अवश्य होगा ॥७३॥ जिस प्रचण्ड पवनसे पर्वतके समान बडे बडे गजराज भी क्षणमात्रमे उडा दिये जाते हैं उसी प्रलयकालकी वायुसे बहुत थोडी शक्तिके धारक विचारे दशमशकादि छोटे जन्तु क्या बचे रहेगे ? ॥७४॥ यदि केवल विष खाया जाय तो नियमसे वह प्राणोंका नाश करेगा। परन्तु वही विष यदि मरीचादि उत्तम उत्तम औषधियो-के साथ खाया जाय तो जीवोंके जीवनके लिये होता है ॥७५॥ जिस तरह हम ऊपर एक पदार्थको हानिकारक बता आये हैं परन्तु उपायान्तरसे उपयोगमे लाई हुई वही वस्तु गुणकारक हो जाती है। उसी तरह वह आरम्भ यदि कुटुम्बके लिये किया हुआ हो तो पाप-कारक होता है। और धर्मके अर्थ किया हुआ हो तो वही आरम्भ हिंसाका केवल लेशमात्र माना जाता है ॥७६॥ जिन भगवान्की पूजा करनेवाले भव्य जनोके पुण्य बहुत होता है उस पुण्य समूहमे सावद्य (आरम्भ) का लव दोष (पाप) का कारण नही हो सकता। जिस तरह विषकी एक छोटी सी कणिका समुद्रके जलको नही बिगाड सकती ॥७७॥

जिस तरह फोडा आदिके चीरने वाले बन्धु लोगोका दु ख देना भी लाभ दायक होता है उसी तरह जिन धर्मकी प्रभावना करनेमे प्रयत्न तत्पर भव्य पुरुषोके आरंभ भी पुण्योत्पत्तिका

रमणीयस्तत कार्यं प्रासादो हि जिनेशिनाम् । हेमपाषाणमृत्काष्ठमयै शक्त्याऽऽत्मनो भुवि ॥७९
प्रासादे जिनबिम्बं च बिम्बमान यवोन्नतिम् । यः कारयति गीस्तेषा पुण्यं वक्तुमल न हि ॥८०
प्रासादे कारिते जैने किं किं पुण्यं कृत न तै । दान पूजा तप शील यात्रा तीर्थस्य च स्थिति ॥८१
तस्मिन्सति जनै कैश्चिदभिषेकैर्महोत्सवै । घण्टाचामरसत्केतुदानै पुण्यमुपार्ज्यते ॥८२
देशान्तरात्समागत्य तस्मिन्प्रस्थाय पण्डिता । व्याख्यायन्ति च सच्छास्त्र धर्मतीर्थं प्रवर्त्तते ॥८३
शास्त्रं निशम्य मिथ्यात्वं भव्या मुञ्चन्ति हेलया । सम्यक्त्व प्रतिपद्यन्ते पालयन्ति च सद्व्रतम् ॥८४
नामत स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालैश्च भावत । जिनपूजा मता षोढा पूजाशास्त्रे सुधीधनै ॥८५
नामोच्चार्य जिनादीना स्वच्छदेशे क्वचिज्जनै । पुष्पादीनि विकीर्यन्ते नामपूजा भवेदसौ ॥८६
सद्भावान्या त्वसद्भावा स्थापना द्विविधार्चना । क्रियते यद्गुणारोप साऽऽद्या साकारवस्तुनि ॥८७
वराटकादौ सङ्कल्प्य जिनोऽयमिति बुद्धित । याऽर्चा विधीयते प्राच्यैरसद्भावा मता त्वियम् ॥८८
हुण्डावसर्प्पिणीकाले लोके मिथ्यात्वसङ्कुले । असद्भावा न कर्त्तव्या जायते सशयो यत ॥८९
ज्ञेयाऽन्या स्थापना पूजा प्रतिष्ठाविधिरर्हताम् । वसुनन्दीन्द्रनन्द्यादिसूरिसूत्रानुसारत ॥९०

कारण है ॥७८॥ "जिन धर्मकी वृद्धिके अर्थ किया हुआ आरभ भी अच्छे कर्मबन्धका हेतु है" ऐसा समझकर भव्य पुरुषोको अपनी सामर्थ्यके अनुसार ससारमे सुवर्ण, पाषाण, मृतिका तथा काष्ठादि निर्मित मनोहर जिन मन्दिर बनवाने चाहिये ॥७९॥ जो भव्यपुरुष—जिन मन्दिर, तथा जौ बराबर भी जिनबिम्ब बनवाते है उन पुण्यशाली पुरुषोके पुण्यका वर्णन करनेमे हमारी वाणी किसी प्रकार भी समर्थ नही है ॥८०॥ जिन पुरुष श्रेष्ठोने जिन भवन बनवाया है ससारमे फिर ऐसा कौन पुण्य कर्म बाकी है जिसे उन्होने न किया । अर्थात् उन लोगोने दान, पूजन, तप, शील, यात्रा तथा तीर्थोंकी बहुत काल पर्यन्त स्थिति आदि सभी पुण्य कर्म किये है ॥८१॥ जिन चैत्यालयोके होनेसे कितने भव्यात्मा अभिषकसे, कितने नाना प्रकारके महोत्सवादिसे, कितने घटा, चामर, ध्वजा आदि सुन्दर वस्तुओके दानसे, पुण्य कर्मका निरन्तर सचय करते रहते है ॥८२॥ देश-देशान्तरसे विद्वान् लोग आकर उन जिन चैत्यालयोमे उत्तम जैनशास्त्रोका व्याख्यान करते है और उसीसे धर्मतीर्थका विस्तार होता है ॥८३॥ शास्त्रोको सुनकर धर्मात्मा पुरुष शीघ्र ही मिथ्यात्वको छोड देते हैं और सम्यक्त्वको स्वीकार करके उत्तम व्रतोका पालन करने लगते हैं ॥८४॥ इस प्रकार पूजनका सामान्य वर्णन करके अब उसके भेदोका वर्णन करते है—जिनके पास अपनी बुद्धि ही धन है, वे भव्यात्मा जिन पूजनके नामपूजन, स्थापनापूजन, द्रव्यपूजन, क्षेत्रपूजन, कालपूजन तथा भावपूजन ऐसे छह भेद कहते है ॥८५॥ जिनदेवादिका नामोच्चारण करके किसी शुद्ध प्रदेशमे पुष्पादि क्षेपण करनेको नाम पूजा कहते हैं ॥८६॥ सद्भावस्थापना तथा असद्भावस्थापना इस तरह स्थापना पूजाके दो भेद है । साकारवस्तुमे जो गुणोका आरोप किया जाता है उसे सद्भावस्थापना-पूजा कहते हैं ॥८७॥ [1]वराटक (कमलगट्टा), पुष्प, अक्षतादिमे यह जिन भगवान् हैं ऐसी कल्पना करके जो पूजा की जाती है उसे असद्भावस्थापनापूजा कहते है ॥८८॥ इस हुण्डावसर्प्पिणीकालमे—लोकमे मिथ्यात्वका प्रचार प्रचुरतासे होनेसे असद्भाव (निराकार) स्थापना नही करना चाहिये । क्योकि मिथ्यात्वी लोगोने नाना प्रकारके देवी देवताओकी स्थापना कर डाली हे इसलिये उसमे सन्देह हो सकता है ॥८९॥ अर्हन्त भगवान्की प्रतिष्ठादि विधिको वसुनन्दि इन्द्रनन्दि आदिके

१ सर्वतिका नवदल बीजकोशो वराटक इति कोश ।

सचित्ताऽचित्तमिश्रेण द्रव्यपूजा त्रिधा भवेत् । प्रत्यक्षमर्हदादीना सचित्ताऽर्चा जलादिभि ॥९१
तेषां तु यच्छरीराणा पूजन साऽपरार्चना । यत्पुनः क्रियते पूजा द्वयोः सा मिश्रसंज्ञिका ॥९२
अथवा सा द्रव्यपूजा ज्ञात्वा सूत्रानुसारतः । नोआगमागमाभ्यां च भव्यैर्याऽत्र विधीयते ॥९३
गर्भजन्मतपोज्ञानलाभनिर्वाणसम्भवे । क्षेत्रे निपद्यकासु प्राग्विधिना क्षेत्रपूजनम् ॥९४
गर्भादिपञ्चकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत् । तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वाणि चार्ऽर्चनम् ॥९५
स्नपन क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभि । तत्र गीतादिमाङ्गल्यं कालपूजा भवेदियम् ॥९६
यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम् । त्रिकाल क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥९७
परमेष्ठिपदैर्जाप. क्रियते यत्स्वशक्तित । अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्रं साप्यर्चा भावपूर्विका ॥९८
पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थं रूपवर्जितम् । ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥९९
एतद्भेदास्तु विज्ञेया नाना ग्रन्थानुसारतः । ग्रन्थभूयस्त्वभीतेन प्रपञ्चो नेह तन्यते ॥१००
एवं पूजा समुद्दिष्टा षोढा जैनेन्द्रशासने । इदानीं फलमेतस्या वर्ण्यते नृपते ! शृणु ॥१०१
जिनपूजा कृता हन्ति पाप नाना भवोद्भवम् । बहुकालचितं काष्टराशि वह्निरिवाऽखिलम् ॥१०२

प्रतिष्ठापाठोंके अनुसार करना स्थापनापूजा जानना चाहिये ॥९०॥ द्रव्य पूजाके सचित्त द्रव्यपूजा, अचित्त द्रव्यपूजा, तथा मिश्रद्रव्यपूजा इस तरह तीन विकल्प हैं। साक्षात् अर्हन्तादिकी जलादि द्रव्योंमे पूजा करनेको सचित्त द्रव्य पूजा कहते हैं ॥९१॥ और उन अर्हन्तादिके शरीरकी पूजा करने को अचित्त द्रव्यपूजा कहते हैं तथा अर्हन्तादिकी और उनके शरीरकी एक साथ पूजा करनेको मिश्र द्रव्यपूजा कहते हैं ॥९२॥ अथवा शास्त्रानुसार, नोआगम तथा आगमसे द्रव्य पूजाको समझ कर जो भव्य पुरुषोंके द्वारा पूजा की जाती है उसे भी द्रव्यपूजा समझना चाहिये ॥९३॥ जिन क्षेत्रोंमे जिन भगवान्‌के गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, दीक्षाकल्याण, ज्ञानकल्याण तथा निर्वाणकल्याण हुए हैं उनका पूर्वविधिके अनुसार जलादि आठद्रव्योंसे पूजन करनेको क्षेत्रपूजन कहते हैं ॥९४॥ जिस दिन अर्हन्त भगवान्‌के गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, दीक्षा कल्याण, केवलज्ञान कल्याण तथा निर्वाणकल्याण हुए हैं उस दिन, नन्दीश्वरमे तथा रत्नत्रय पर्वमे जिन भगवान्‌की पूजा करनेको, इक्षुरस घृत दूध दही आदि नाना प्रकारके रसोंसे अभिषेक करनेको तथा गीत, सङ्गीतादि माङ्गलिक कार्यके करनेका काल पूजन कहते हैं ॥९५-९६॥ अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्यादि अनन्तचतुष्टयसे युक्त जिन भगवान्‌के गुणोंको स्तुति-पूर्वक जो त्रिकाल सामायिक की जाती है उसे भावपूजा कहते हैं ॥९७॥ अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पच परमेष्ठियोंका अपनी शक्ति पूर्वक जो नाम स्मरण किया जाता है उसे तथा अर्हन्तभगवान्‌के गुणोंका स्तवन करनेको भाव पूजन कहते हैं ॥९८॥ तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकारके ध्यानोंका अच्छी तरह ध्यान करनेको उत्तम भावपूजन कहते हैं[1] ॥९९॥ ऊपर पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, तथा रूपातीत इस प्रकार ध्यानके चार भेद कह आये हैं इनका विशेष खुलासा वर्णन—अन्य अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। ग्रन्थ बढ जानेके भयसे यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन नही किया गया है ॥१००॥ इस तरह जैनशास्त्रोंमे पूजनके जो छह भेद किये हैं उनका वर्णन तो हम कर चुके। हे महाराज श्रेणिक ! अब इस समय पूजनके फलका वर्णन करते है उसे तुम सुनो ॥१०१॥ जिस तरह अग्नि बहुत समयसे इकट्ठे किये हुए समस्त काष्ठ-समूहको क्षण मात्रमे जला देती है उसी तरह जिन भगवान्‌का पूजन

१ इनका विशेष स्वरूप ज्ञानार्णवसे जानना चाहिए।—सम्पादक

दुर्गतिं दलयत्येषा शम्पेवाऽवनिभृत्तटीम् । पुण्यं पुष्णाति वृक्षाणा कदम्बमिव धोरणिः ॥१०३
यत्किञ्चिदिह सत्सौख्यं वाञ्छितं जगता त्रये । दृश्यते तज्जिनाऽर्चाया फलेनैवाऽऽप्यतेऽङ्गिभि. ॥१०४
गौतमोऽकथयत्तत्र यावत्पूजाफल गणी । तावदेकोऽमर स्वर्गादायान्मण्डूकलाञ्छनः ॥१०५
त्रि परीत्य जिनं स्तुत्वा नत्वा गणधरानपि । अन्येषा च यथायोग्य कृत्वा स्वं कोष्ठमासदत् ॥१०६
तस्य श्रियं च सौन्दर्यं समीक्ष्य मगधेश्वर. । पप्रच्छ गणिन कोऽय केन पुण्येन कार्ति तमान् ॥१०७
निशम्येति गणाधीश उवाच नरकुञ्जरम् । शृण्वस्य चरितं राजन्साश्चर्यं ज्ञानचक्षुषा ॥१०८
अत्रैवार्याऽभिधे खण्डे पद्मिनीषण्डमण्डिते । विषये मगधाख्येऽस्ति परं राजगृहं पुरम् ॥१०९
नागदत्तोऽभवत्तत्र श्रेष्ठी भूरिधनी जनी । भवदत्ता च तस्याऽऽसीत्तया भोगं स भुक्तवान् ॥११०
अवसाने स मूढात्मा स्वार्त्तध्यानोल्लसन्मना । मृत्वाऽसौ गृहपृष्टस्थवाप्या भेकस्त्वजायत ॥१११
अतिष्ठद्रममाणोऽयं विपुले दीर्घिकाजले । यावत्तदैकदा प्राप भवदत्ता जलार्थिनी ॥११२
जज्ञे तद्दर्शनात्तस्य स्वजातिस्मरणं तदा । हा ! हाऽहमार्त्ततश्च्युत्या जातो जलधरो नरात् ॥११३
भार्यास्नेहेन सान्निध्य यावदायादसौ तदा । भीत्या पलाय्य तज्जाया प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥११४
संसर्गं प्राक्कलत्रस्य मण्डूकोऽलभमानक· । अत्यारटञ्जले तस्थौ विपाक कर्मणो बली ॥११५

करनेसे जीवोंके जन्म जन्मका सचित पाप कर्म उसी ममय नाश हो जाता है ॥१०२॥ यही जिन-पूजा दुर्गतिको नाश करनेवाली है और वृक्षोकी श्रेणी जिस तरह कदम्ब तरुको परिवर्द्धित करती है उसी तरह पुण्यकर्मकी वृद्धि करनेवाली है ॥१०३॥ तीन लोकमे जो कुछ भी जीवोके अभिलपित उत्तम सुख देखा जाता है वह सुख जिन भगवान्‌के पूजनके फलसे ही प्राणी प्राप्त करते हैं ॥१०४॥ जिस समय भगवान् गौतम गणधर महाराज श्रेणिकसे जिन भगवान्‌की पूजाका फल कह रहे थे उसी समय मुकुटके ऊपर मेढक चिन्हका धारक एक देव स्वर्गसे आया ॥१०५॥ वह देव जिन भगवान्‌की तीन प्रदक्षिणा देकर तथा नाना प्रकार भक्ति-पूर्वक जिन भगवान्‌की स्तुति करके इसके वाद गणधर भगवान्‌की वन्दना करके और भी मुनि आदिका यथा योग्य सत्कारादि करके अपने कोठेमे जाकर बैठ गया ॥१०६॥ उस समय मगधदेशके स्वामी महाराज श्रेणिकने उस देवकी लक्ष्मी तथा मनोहरताको देखकर भगवान् गौतम गणधरसे पूछा—महाराज ! यह जो अभी आया है वह कौन है ? और किस वड़े भारी पुण्यसे यह ऐसा सुन्दर है ? ॥१०७॥ महाराज श्रेणिकके प्रश्नको सुनकर भगवान् गौतम स्वामीने उनसे कहा—हे राजन् ! इसके आश्चर्यकारी चरितको तुम सावधान होकर सुनो ! ॥१०८॥ हे राजन् ! कमलिनियोके समूहसे शोभित इसी आर्यखण्डमे मगध नामक देश है । उस देशमे राजगृह नाम एक मनोहर नगर है ॥१०९॥ उस राजगृह नगरमे वहुत धनी तथा वहुत कुटुम्वी नागदत्त नाम सेठ था । उसके भवदत्ता नामकी वनिता थी । उसके साथ वह निरन्तर भोगोको भोगता रहता था ॥११०॥ वह मूर्ख नागदत्त धनमे आर्त्तध्यानी होकर अन्त समयमे मरकर अपने घरके पीछेकी वावडीमे मेढक हुआ ॥१११॥ वह मेढक वावडीके गहरे जलमे क्रीडा करता रहता था । एक दिन भवदत्ता जलके लिये वावडीके ऊपर आई ॥११२॥ उसके देखने मात्रसे मेढकको अपनी पूर्व जातिका स्मरण हो आया । जाति-स्मरण हानेमात्रसे वह मेढक हाय ! हाय !! मैं आर्त्तध्यानसे मरकर मनुष्य जन्मसे जलजन्तु हुआ । इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगा ॥११३॥ जब भवदत्ता जलके लिये आई तो उसे आती हुई देख कर पूर्व जन्मकी स्त्रीके अनुरागसे वह उसके पास आया, तब भयसे भवदत्ता भागकर अपने घरमे घुस गई ॥११४॥ मेढक अपनी पूर्व भवकी स्त्रीके साथ सम्बन्ध न पाकर वहुत चिल्लाता हुआ

एतां दृष्ट्वा यदाऽऽयाता तदा सन्मुखमाव्रजत् ।
सा त सन्मुखमायान्त वीक्ष्य जाता पराङ्मुखी ॥११६

तयैकदा मुनि पृष्ट सुव्रताख्योऽवधीक्षण । कोऽयं भेक' स तामाह भद्रे ! शृणु समाहिता ॥११७
नागदत्त' पतिस्ते यो धर्मकर्मविवर्जित । आर्त्तध्यानेन मृत्वा स भेकोऽजनि जलाशये ॥११८
श्रुत्वेति श्रेष्टिनी पापं निन्दन्ती फलमञ्जिन । रुदन्ती स्नेहमाधाय भेकान्तं सा तदाऽऽगमत् ॥११९
पूर्ववत्सम्मुख भेकमागतं निजमन्दिरम् । आनीय जलकुण्डादौ युक्त्या सा तमुपाचरत् ॥१२०
एवं गच्छति कालेऽस्य वसत कुण्डवारिणि । अन्यदा वनपालेन विज्ञप्तस्त्वमिति प्रभो ॥१२१
स्वामिन् ! श्रिया समायातो वर्द्धमानो जिनेश्वर. । त्वत्पुण्येन जगत्पूज्यो विपुलाद्रौ मनोहरे ॥१२२
सानन्दो वनपालाय दत्वा वपुरलङ्कृती । गत्वा सप्तपदानि त्व तद्दिशं जिनमागम ॥१२३
भेरीरावेण पौरैस्त्वं मिलितैर्जिनमर्चितुम् । निर्गत स्वपुराद्दन्तिस्कन्धमारुह्य स्वश्रिया ॥१२४
भेकोऽपि त समाकर्ण्य स्वानन्दभरनिर्भर । यास्याम्यहं जिनेन्द्रस्य यात्रायामित्यचिन्तयत् ॥१२५
ततो वाप्या प्रविश्याऽसौ दद्भिरादाय वारिजम् । चचाल जिनपूजार्थमुत्प्लवन्नृपनागरै ॥१२६

जलमे रहने लगा । अहो ! कर्मका विपाक (फल) अत्यन्त वलवान है ॥११५॥ मेढक जव भवदत्ता-को आती हुई देखता तव ही जल्दीसे उसके सामने जाने लगता था और भवदत्ता भी उसे अपने सामने आता हुआ देख कर झट लौट जाती थी ॥११६॥ किसी समय भवदत्ताने सुव्रत नाम अवधि-ज्ञानी मुनिराजसे पूछा—हे नाथ ! यह मेढक कौन है ? मुनिराजने भवदत्तासे कहा । हे कल्याणि ! तुम सावधान होकर सुनो—मैं इस मेढकका वृत्तान्त कहता हूँ ॥११७॥ मुनिराजने भवदत्तासे कहा—धर्म कर्मसे रहित नागदत्त जो तुम्हारा स्वामी था वह धनके आर्त्तध्यानसे मरकर तुम्हारे घरके पीछेकी वावलीमे मेढक हुआ है ॥११८॥ भवदत्ता अपने पतिकी इस तरह खोटी गति सुनकर पापके वुरे फलकी निन्दा करती हुई और रोती हुई पूर्व-जन्मके स्नेहसे मेढकके पास आई ॥११९॥ भवदत्ता पहलेके समान अपने सामने आते हुए मेढकको देखकर उसे अपने घर ले आई और योग्य रीतिसे जलके कुण्ड वगैरहमे रखकर उसकी सेवा करने लगी ॥१२०॥ इस प्रकार कुण्डके जलमे रहते हुए उस मेढकके कितने दिन वीत जाने पर एक दिन वनपालने आकर तुमसे यो प्रार्थना की ॥१२१॥ हे नाथ ! आपके अमित पुण्यके माहात्म्यसे विपुलाचल पर्वत पर वाह्याभ्यन्तरलक्ष्मीसे शोभायमान त्रैलोक्य पूज्य श्रीवर्द्धमान अन्तिम जिनराज पधारे हैं ॥१२२॥ श्रीवर्द्धमान जिनेश्वरके आगमन सम्वन्धी समाचार सुनकर आनन्द पूर्वक तुमने वनपालको अपने शरीरके सव वस्त्राभूषण उसी समय दे दिये और जिस दिशाकी ओर जिन भगवान् विराजे थे उसी दिशा मे सात पेड आगे जाकर जिन भगवान्को नमस्कार किया ॥१२३॥ तुम्हारी भेरीके शब्दको सुनकर आये हुए पुर-वासी लोगोके साथ जिन भगवान्के पूजनके अर्थ हाथी पर वैठ कर अपनी राज्य लक्ष्मी पूर्वक तुम नगरसे निकले ॥१२४॥ वह मेढक भी भेरीके शब्दको सुनकर और आनन्दमे मग्न होकर विचारने लगा—मैं भी आज श्री वीर जिनराजकी यात्रा करनेके लिये जाऊँगा ॥१२५॥ वह मेढक अपने दिलमे जिन भगवान्की यात्राका निश्चय करके उसी समय वावडीमे गया और वहाँसे अपने मुखमे एक कमल लेकर पुरवासी लोगोके तथा तुम्हारे साथ-साथ कूदता हुआ जिनेश्वरके पूजनके अर्थ चला ॥१२६॥ ससार देहसे विरक्त वह मेढक जिन भगवान्के पूजनकी भावनासे आता हुआ रास्ते-मे तुम्हारे हाथीके पाँवके नीचे दवकर प्राणोको छोड दिया ॥१२७॥ मरकर उस मेढकने-सौधर्म नाम

आयान्भावनया मार्गे गजपादेन ते हत' । प्राणास्तत्याज मण्डूक स सवेगपरायणः ॥१२७
उपपादि स सौधर्मे संपुटके क्वचिदुत्तरे । अन्तर्मुहूर्त्तकालेन सम्पूर्णोऽभूत्सुरोत्तमः ॥१२८
दिव्यनादं कलं गीतं श्रुत्वा चाऽप्सरसा तदा । प्रसुप्तवत्प्रबुद्धवासाविति देवो व्यचिन्तयत् ॥१२९
कोऽहं कुत समायातः कोऽयं देशो मनोरम' । केऽमी जना स्तुवन्तीमं केन पुण्येन मा श्रिता ॥१३०
इति चिन्तयतस्तस्य जातं प्राग्भवबोधनम् । ज्ञात्वा वृत्तान्तमात्मीयं तेनाऽऽत्मानमसस्मरत् ॥१३१
अहं भेकचरो देव आयातो राजमन्दिरात् । अयं मनोहर स्वर्ग स्तोतारोऽमी दिवौकस. ॥१३२
जिनपूजोद्यमोत्पन्नपुण्येन सुरसत्तमा' । मां जीव नन्द वर्द्धस्वेति स्तवै. समुपाश्रयन् ॥१३३
देवदेवीभिरेकत्रीभूयाऽऽगत्येति जल्पितम् । नाथैतस्य विमानस्य कुरु राज्य गृहाण न. ॥१३४
कल्पवृक्षा अमी सन्ति प्रासादा किंकरा वयम् । अमूरप्सरसो रम्यास्त्व तिष्ठाऽत्र चिरं विभो ॥१३५
इति श्रुत्वा वचस्तेषा कृत्याय स्नानवापिकाम् । गत्वा स्नात्वा जिनान्नत्वा विमानस्थजिनालये ॥१३६
अङ्गीकृत्य विमानैश्यं क्षण पुनरचिन्तयत् । अर्हद्यात्राऽनुमोदेन जात सा क्रियतेऽधुना ॥१३७
ततोऽयं मौलिभेकाङ्क आयातो जिनमीडितुम् । सौन्दर्यादिगुणोपेतः कान्तिमान्दिव्यभूषण ॥१३८
श्रुत्वेति गौतमी वाचं प्रशंसुशुर्नृपादयः । भेकोपीदृक्फलं लेभेऽनुमोदात्पूजनान्न किम् ॥१३९

स्वर्गमे उत्तर-दिशाके ओरकी उपपाद शय्यामे जन्म लिया और अन्तर्मुहूर्त्त मात्रमे पूर्ण सुरोत्तम (देव) हुआ ॥१२८॥ वह सुरोत्तम उस समय सोते हुएके समान प्रवुद्ध होकर और देवाङ्गनाओके मनोहर शब्द तथा गीतको सुनकर इस तरह विचारने लगा ॥१२९॥ अहो ! मै कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? यह मनोहर कौन सा देश है ? ये लोग कौन हैं ? जो मेरी स्तुति कर रहे है और ये सव किस अमित पुण्यके उदयसे मेरी शरण आये हैं ? ॥१३०॥ इस तरह विचार करते ही उसे अपने पूर्व जन्मका ज्ञान हो गया । अपने स्वकीय वृत्तान्तको जान कर अपनी आत्माको यो स्मरण करने लगा ॥१३१॥ मैं पहले तो मेढक था अव देव हुआ हूँ और राजगृहसे मै स्वर्गमे आया हूँ । यह सुन्दर स्वर्ग है और ये मेरा गुण कीर्तन करनेवाले देवता लोग हैं ॥१३२॥ ये सब देवता लोग जिन भगवान्की पूजाके उद्यमसे उत्पन्न होने वाले पुण्यके प्रभावसे मेरी 'तुम चिरकाल जीओ ! तुम दिनो दिन आनन्दको प्राप्त होओ ! तुम वृद्धिको प्राप्त होओ !' इत्यादि नाना प्रकारकी सुन्दर स्तुतियोसे सेवा कर रहे हैं ॥१३३॥ उसी समय सर्व देव देवाङ्गनाओने मिलकर उस देवसे कहा कि—हे नाथ ! इस विमानका आप राज्य करे और हमे भी स्वीकार करें ॥१३४॥ हे नाथ ! ये कल्पवृक्ष है, ये वडे-वडे हर्म्य (मन्दिर) हैं, हम सव आपके दास है और ये देवागनाएँ है । आप चिरकाल पर्यन्त यहाँ रहे ॥१३५॥ इस प्रकार देव-देवागनाओके वचनोको सुनकर उस सुरोत्तमने जिन पूजनादि कार्यके लिये स्नान करनेकी वावडीमे जाकर और स्नान करके अपने विमानके जिनालयमे जिन भगवान्की वन्दना की ॥१३६॥ इसके वाद उन देव-देवागनाओकी प्रार्थनाके अनुसार विमानके स्वामीपनेको स्वीकार करके क्षण-मात्रमे फिर विचार करने लगा—अहो ! मै तो श्री अर्हन्त भगवान्की यात्राके अनुमोदनसे देव हुआ हूँ इसलिये मुझे वह यात्रा अव करनी चाहिये ॥१३७॥ इसीसे सुन्दरतादि गुणोसे युक्त, कान्तिमान, तथा स्वर्ग-जनित मनोहर आभरण-का धारक और जिसके मुकुटमे मेढकका चिह्न है ऐसा यह देव जिन भगवान्के पूजन करनेको समवशरणमे आया है ॥१३८॥ महाराज श्रेणिक आदि सर्व सभावासी भव्य पुरुष भगवान् गौतम स्वामीकी इस प्रकार वाणी सुनकर प्रशसा करने लगे । अहो ! जिन पूजनके अनुमोदन मात्रसे एक

इति पूजाफलं काले नि श्रेयसपदप्रदम् । प्रोक्तं निशामयेदानीं भव्य ! पूजकलक्षणम् ॥१४०
नित्यपूजाविधायी यः पूजकः स हि कथ्यते । द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥१४१
ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्यं आद्यः शीलव्रतान्वितः । सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥१४२
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः । गुरूपदिष्टमन्त्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥१४३
इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः ॥१४४
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी । वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः ॥१४५
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गम्भीरो विनयान्वितः । शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः ॥१४६
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणविन्सुधीः । स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥१४७
वारिमन्त्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः । महाभिमानी मौनी च त्रिसन्ध्यं देववन्दकः ॥१४८
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः । क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः ॥१४९
न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः । न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नाऽतिबालकः ॥१५०
न क्रोधादिकषायाढ्यो नाऽर्थार्थी व्यसनी न च । नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥१५१
ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत् । तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥१५२

पशु जाति जन्तुने भी ऐसा अनुपम फल पाया तो जो साक्षाज्जिन देवका भक्तिपूर्वक पूजन करेंगे वे भव्य पुरुष ऐसे फलको नहीं पावेंगे क्या ? अवश्य पावेंगे ॥१३९॥ भगवान् गौतम स्वामी बोले— हे राजन् ! समयानुसार मोक्षकी प्राप्तिका कारण जिन भगवान्की पूजाका फल तुम्हें कहा । अब इस समय पूजक पुरुषका लक्षण तुम सुनो ॥१४०॥ नित्य पूजनका जो करनेवाला होता है उसे पूजक कहते हैं और जो प्रतिष्ठादि विधियोंका करनेवाला है उसे पूजकाचार्य कहते हैं ॥१४१॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णोमे आदिवर्णका धारक (ब्राह्मण) हो शीलव्रतका धारक (ब्रह्मचारी) हो, सत्य शौचादि व्रतका दृढ आचरण करनेवाला हो, हिंसा झूठ चोरी आदि अव्रतसे रहित हो ॥१४२॥ जाति तथा कुल (वंश) से पवित्र बन्धुमित्रादिसे जो शुद्ध हो, तथा गुरुसे उपदेशित मंत्र आदिसे जिसका संस्कार हुआ हो वह पुरुष पूजक कहा जाता है ॥१४३॥ अब पूजकाचार्यका लक्षण कहा जाता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य हो, अनेक प्रकार के उत्तम लक्षणो से युक्त हो, कुल तथा जाति आदिमे शुद्ध हो, सम्यग्दृष्टि हो, एक देश व्रतका धारी हो, जिनागमका अच्छी तरह जानने वाला हो, आलस्य-रहित हो, बहुश्रुती हो, गम्भीर प्रकृतिका धारक हो, विनय-युक्त हो, शौच तथा आचमनमे उत्साह युक्त हो, दान देनेवाला हो, कर्त्तव्य कार्य करनेमे शूर हो, अङ्ग तथा उपांगयुक्त हो, शुद्ध हो, लक्ष्य तथा लक्षणका जाननेवाला हो, बुद्धिशाली हो, अपनी स्त्रीमे ही सन्तोषका धारक हो या ब्रह्मचारी हो, रोग-रहित हो, उत्तम क्रियाओंका करनेवाला हो, जलस्नान, मंत्रस्नान तथा व्रतस्नानका किया हुआ हो, प्रोषधव्रतका करनेवाला हो, अपने अभिमानकी रक्षा करनेवाला हो, मौनव्रतका धारक हो, प्रात काल, मध्याह्न-काल तथा सायकाल इन तीनो कालमे सामायिकका करनेवाला हो, श्रावकाचारसे जिसका आत्मा शुद्ध हो, दीक्षा शिक्षा आदि अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त हो, गृहस्थोंके सोलह संस्कारोंसे पवित्र हो, ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतादि) का धारक हो, न अंगहीन हो, न अधिक अंगका धारक हो, न बहुत लम्बा हो, न बहुत छोटा (वामन) हो, न कुरूप हो, न मूर्ख हो, न वृद्ध हो, न अति बालक हो, न क्रोध मान माया लोभादि कषायोसे युक्त हो, न धनका अर्थी हो, तथा न किसी तरहके व्यसनो का धारक हो। श्रावकोमे न अन्तिम तीन प्रतिमाधारी हो और न आदि की दो प्रतिमाधारी ही

कर्त्ता फलं न चाऽऽप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् । ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठ पूजकाचार्य इष्यते ॥१५३
पूर्वोक्तलक्षणै पूर्ण. पूजयेत्परमेश्वरम् । तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥१५४
असिर्मसि कृषिस्तिर्यक्पोषं वाणिज्यविद्यके । एभिरर्थार्जनं नीत्या वार्त्तेति गदिता बुधै ॥१५५
एभि स्वजीवनं कुर्युर्गृहिणः क्षत्रियादय । स्वस्वजात्यानुसारेण नीतिज्ञैरुदित यथा ॥१५६
तथा समर्जयेद्वित्त यथा धर्मं न नश्यति । सुख न क्षीयते ते च सापेक्षे सेवतां मिथ ॥१५७

एव्वेकशोऽश्रुवाना स्व कृतार्थं जन्म मन्वते ।
केऽपि कौचिद्द्विशो लोका वय वा विद्म तत्त्रयम् ॥१५८

दानायोपार्ज्यते वित्तं भोगाय च गृहाश्रमे । यस्य तस्मिश्च न स्तस्ते तस्यार्थोपार्जनं वृथा ॥१५९
दानं भोगो विनाशश्च वित्तस्य तु गतिस्त्रयी । यो न दत्ते न भुङ्क्ते च तस्यावश्यं परा गति ॥१६०
योऽर्थ समर्ज्यते दु.खाद्रक्ष्यते चाऽतिदु खत' । तत्फलं गृह्यते सद्भिर्दानाद्भोगाच्च नित्यशः ॥१६१
न्यायेनोपार्ज्यते यत्स्वं तदल्पमपि भरिश । बिन्दुशोऽप्यमृतं साधु क्षाराब्धेर्वारि नो बहु ॥१६२

श्रावक हो, अर्थात् मध्यवर्ती छह प्रतिमाओमेसे किसी भी प्रतिमाका धारी हो, सकलन सयमका धारक मुनि न हो । यदि व्यसनादि दोषोका धारक प्रतिष्ठाचार्य कही पर प्रतिष्ठा करावे तो समझो कि—देश, पुर, राज्य तथा राजा आदि सभी नाशको प्राप्त होते है और न प्रतिष्ठा करने वाला तथा करानेवाला ही अच्छे फलको प्राप्त होता है । इसलिये उपर्युक्त उत्तम लक्षणोसे विभूपित ही प्रतिप्ठाचार्य कहा जाता है ॥१४४–१५३॥ ऊपर जो प्रतिप्ठाचार्यके लक्षण कहे हैं यदि उन लक्षणोसे युक्त पूजक तथा प्रतिष्ठाचार्य परमेश्वरकी प्रतिष्ठादि करे तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनो दिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१५४॥

असि (खड्ग धारण), मसि (लिखना), कृषि (खेती करना), तिर्यञ्चोका पालन करना, व्यापार करना तथा विद्या इन छह बातोसे नीतिपूर्वक धनके कमानेको वुद्धिमान् लोग वार्ता कहते हैं ॥१५५॥ इन छहो कर्मोसे क्षत्रियादि वर्णोको अपनी-अपनी जातिके अनुसार जोवन-निर्वाह करना चाहिये । जैसा नीतिके जाननेवाले पुरुपोने वताया है ॥१५६॥ धन उस रीतिसे कमाना चाहिये जिससे धर्म तथा सुखका नाश न होवे और धर्म अर्थका जिस तरह परस्पर सापेक्षपना वना रहे उसी तरह इनका परस्पर सेवन करना चाहिये ॥१५७॥ कितने लोग तो ऐसे है जो केवल धमके अथवा अर्थके अथवा कामके ही सेवनसे अपना जीवन सार्थक समझते है और कितने ऐसे हैं जो धर्म तथा अर्थके या अर्थ और कामके, या धर्म और काम इन दो-दो के सेवनसे अपने मानव जन्मको कृतकृत्य समझते हैं । हम तो धर्म अर्थ तथा काम इन तीनोके सेवनसे ही अपने जीवनको सार्थक समझते है ॥१५८॥ धनका उपार्जन दान देनेके लिए तथा गृहस्थाश्रममे भोगनेके लिये किया जाता है और जिसके गृहस्थाश्रममे न दान है और न भोग है ऐसे पुरुषोका धन कमाना निष्फल है ॥१५९॥ दान देना, नाना प्रकारके समीचीन भोगोका भोगना तथा नष्ट हो जाना ये तीन ही गति धनकी होती है । जो पुरुष न तो दान देता है और न धनका भोग करता है उसके धनकी तीसरी गति (विनाश) स्वय सिद्ध है ॥१६०॥ जो धन अत्यन्त क्लेशके साथ तो उपार्जन किया जाता है और उपार्जनावस्थामे क्लेशसे भी अधिक क्लेश जिसकी रक्षा करनेमे है उस धनका सुख सत्पुरुष—नित्य प्रति दान देनेको अथवा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी भोगोके भोगनेको समझते हैं ॥१६१॥ नीतिपूर्वक कमाया हुआ थोडा भी धन वहुत है । अमृतकी एक बूँद ही अच्छी है परन्तु खारे समुद्रका बहुत जल अच्छा नही है ॥१६२॥ धर्म,

ऋते धर्मार्थकामाना सिद्धिं तज्जीवनं मुधा । तथापि धर्मसिद्धिं नो विना तां यद्भवस्तयो. ॥१६३
तपो द्वादशधा ख्यातं मध्यवाह्यप्रभेदत. । प्रायश्चित्तादिभिर्मध्यं वाह्यं चाऽनशनादिभि ॥१६४
यत्र सक्लिश्यते कायस्तत्तपो वहिरुच्यते । इच्छानिरोधनं यत्र तदाभ्यन्तरमीरितम् ॥१६५
क्षारादिवह्नियोगेन यथा शुद्ध्यति काञ्चनम् । तथा द्विधा तपोयोगाज्जीव शुध्यति कर्मणः ॥१६६
पञ्चमीरोहिणीसौख्यसम्पन्नन्दीश्वरादिकम् । तपोविधिं गृही कुर्यात्तपसा निर्जरा यत ॥१६७
अष्टम्यां च चतुर्दश्यामुपवासं करोत्वमौ । शक्त्यभावे प्रकुर्वीत काञ्जिकाद्येकभक्तकम् ॥१६८
आरम्भजलपानाभ्या म चाऽनाहार उच्यते । आरम्भादनुपवास उपवासोऽम्बुपानत. ॥१६९
महोपवाम स्याज्जैनशास्त्रे द्वयविवर्जित. । इति ज्ञात्वोपवासश्च यथाशक्ति विधीयताम् ॥१७०
विधिं विधाय पञ्चम्यादीनां मोक्षान्तभूतिदम् । उद्योतयेत्स्वसम्पत्त्या निमित्ते स्यान्मन. समुत् ॥१७१
दानं चतुर्विधं पात्रदयासकलसाम्यतः । पात्रदानं यदुक्तं प्राक्तदेवात्राऽपि वुध्यताम् ॥१७२
धर्मपात्रमनुग्राह्यममुत्र स्वार्थसिद्धये । कार्यपात्रं तथाऽत्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥१७३
नित्य सामायिकादीनि पञ्च पात्राणि तर्पयेत् । दानादिनोत्तरोत्तरगुणरागेण सद्गृही ॥१७४

अर्थ तथा कामकी सिद्धिके विना जो जीवन निर्वाह है उसे व्यर्थ ही समझना चाहिये तो भी धर्म-सिद्धिको छोडकर अर्थ तथा कामका सभव नही होता है ॥१६३॥ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान इन छह प्रकार तपसे अन्तरंगतप तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसख्या, रसपरित्याग, विविक्तशय्या-आसन तथा कायक्लेश इन छह भेदोंसे वाह्यतप, इसप्रकार अन्तरग-तप तथा वाह्यतप वारह प्रकार है ॥१६४॥ जिस तपमे शरीरादिको क्लेश होता है उसे वाह्य तप कहते है और जिस तपके करनेमे इच्छा (अभिलाषा) का निरोध होता है उसे आभ्यन्तर तप कहते है ॥१६५॥ जिस प्रकार क्षार वस्तु तथा अग्नि आदिके सम्बन्धसे सुवर्ण शुद्धिताको प्राप्त होता है उसी तरह वाह्य तथा आभ्यन्तर तपके योगसे यह जीव भी कर्मरूप काटसे निर्मलताको प्राप्त होता है ॥१६६॥ इसलिये गृहस्थोको—पंचमीव्रत, रोहिणीव्रत, सुखसम्पत्ति तथा नन्दीश्वर व्रत आदि तप करना चाहिये । क्योंकि तपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥१६७॥ श्रावकोंको अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन उपवास करना चाहिये । यदि उपवास करनेकी शक्ति न हो तो काञ्जिक (एक अन्नका खाना) तथा एक भुक्त करना चाहिये ॥१६८॥ आरम्भके करनेसे तथा जलके पीनेसे तो अनाहार कहा जाता है । केवल आरम्भके करनेसे अनुपवास होता है तथा जलपान करनेसे उपवास होता है ॥१६९॥ जिसमे न तो आरम्भ हो और न जलपान किया जाता है उसे जैन-शास्त्रोंमे महोपवास कहते है । ऐसा समझ कर अपनी सामर्थ्यानुसार भव्य पुरुषोंको उपवास करना चाहिये ॥१७०॥ मोक्ष पर्यन्त सम्पदाके देनेवाली पचमी रोहिणी नन्दीश्वरादि व्रत विधिको करके अपनी सम्पदाके अनुसार इन विधियोका उद्यापन करना चाहिये । क्योंकि—नैमित्तिक कार्यके करनेमे मन वहुत आनन्दित होता है ॥१७१॥ पात्रदत्ति, दयादत्ति, सकलदत्ति तथा सम-दत्ति इस तरह दानके चार विकल्प हैं । इनमे पात्रदानका तो जो हम पहले स्वरूप कह आये हैं वैसा ही यहाँ समझना चाहिये ॥१७२॥ इस लोकमें सुख प्राप्तिके लिये रत्नत्रयके धारण करनेवाले मुनि आदिकोंको उनके योग्य वस्तु देकर उपकार करना चाहिये । धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्ति के लिये सहायता करनेवाले कार्यपात्रको त्रिवर्गकी सिद्धिके लिये उनके योग्य पदार्थ देकर उपकार करना चाहिये तथा कीर्त्ति सम्पादन करनेके लिये दान, प्रिय भाषणादि उचितसे कार्य करना

द्योतते यत्र जैनत्वगुणोऽप्येको गुणाग्रणीः । साधुपात्रै. परैर्द्योत्यं भानौ खद्योतवत्तत ॥१७५
एकोऽप्युपकृतो जैनो वर नाऽन्ये ह्यनेकश । हस्ते चिन्तामणौ प्राप्ते को गृह्णाति शिलोच्चयान् ॥१७६
नाम्नः पात्रायते जैन स्थापनातस्तमा परात् । धन्य. स द्रव्यत. प्राप्यो भाग्यवद्भिश्च भावत ॥१७७
यश्च प्रसिद्धजैनत्वगुणे रज्यति निर्मिषम् । ससारेऽभ्युदयैस्तृप्त स याति तपसा शिवम् ॥१७८
लब्धं दैवाद्धन साऽसु नियमेन विनङ्क्ष्यति । वहुधा तद्व्ययीकुर्वन्सुधीर्जैनान्क्षिपेत्किमु ॥१७९
आरोप्यैदंयुगीनेषु जिनास्तत्प्रतिमास्विव । प्राङ्मुनीनर्चयेद्भक्त्या श्रेयो नास्त्यतिचर्चिनाम् ॥१८०
शुभो भावो हि पुण्यायाऽशुभ पापाय कीर्त्तित । धीरस्त जैनभक्त्यातो दुष्यन्तं रक्षतात्सदा ॥१८१

चाहिये ॥१७३॥ धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थके साधन करनेवाले गृहस्थोको — सामायिक—जिन भगवान् करके उपदेशित शास्त्रके आधार चलनेवाला, साधक—लोकापयोगी ज्योतिषशास्त्र तथा मत्र शास्त्रादिका जाननेवाला, समयद्योतक—जिन शासनकी प्रभावना करनेवाला, नैष्ठिक-मूलगुण तथा उत्तर गुणादिसे स्तुति योग्य तपके अनुष्ठान करनेमे तत्पर, तथा गणाधिप-धर्माचार्य अथवा उन्हीके समान वुद्धिमान गृहस्थाचार्य इन पाँच पात्रोको उत्तरोत्तर गुणकी प्रीतिसे दान, मान सभाषणादिसे सन्तोषित करना चाहिये ॥१७४॥ मुझे ससार सागरसे पार करनेमे जिनदेव ही समर्थ हैं ऐसे निश्चयको जैनत्वगुण कहते है। यह प्रधान जैनत्वगुण एक भी जिस पुरुषमे पाया जाता है उसके सामने—तपश्चरणादिके करनेवाले मिथ्यादृष्टि अच्छे पात्रोको भी उसी तरह तेजरहित रहते हैं जैसे सूर्यके सामने खद्योत (पटवीजना) तेज-रहित रहता है ॥१७५॥

जैनधर्मके धारक एक भी भव्य पुरुषका उपकार करना अच्छा है परन्तु हजारो मिथ्यादृष्टियोका उपकार करना अच्छा नही है। इसी वातको दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं। जव हाथमे चिन्तामणि रत्न आ जावे फिर ऐसा कौन दुर्वुद्धि होगा जो उसे छोडकर पत्थरोको स्वीकार करेगा ? कोई भी नही करेगा ॥१७६॥ नाम जैन (जिसकी जैन सज्ञा है) स्थापना जैन (यह जैन है) ऐसी कल्पना मात्र जिसके विषयमे है वह जैन, अजैन पात्रोकी अपेक्षा—अतिशयतासे जिसे मोक्षके कारणभूत गुण प्राप्त हुए है उनके समान उत्कृष्ट है। यही कारण है कि उन दोनोको सम्यक्त्वके वरावर होनेवाला पुण्य होता है। वह जैन, द्रव्यसे (आगामी प्राप्त होनेवाले जैनत्व गुणसे युक्त) पुण्यवानोको प्राप्त होता है और वही भावसे जिसके पास जैनत्वगुण है ऐसा भाव—भाग्यवानोको प्राप्त होता है ॥१७७॥ जो उपर्युक्त प्रसिद्ध जैनत्वगुणमे छलरहित अनुरागी होता है वह पुरुष ससारमे नाना प्रकारके अभ्युदयसे सन्तोषको प्राप्त होता हुआ तपश्चरण से मोक्षको प्राप्त होता है ॥१७८॥ जन्मान्तरमे उपार्जन किये हुए किसी पुण्य कर्मके उदयसे जो धन प्राप्त हुआ है वह नियमसे प्राणोके साथ नाशको प्राप्त होगा। लोक-लाजसे उस धनको अनेक तरहसे लौकिक कार्योमे खच करता हुआ कौन दुर्वुद्धि होगा जो जैन साधु आदिका तिरस्कार करेगा ? अर्थात् उनके अर्थ धन खच नही करेगा ? अवश्य करेगा ॥१७९॥ जिस प्रकार धातु तथा पाषाणादिकी प्रतिमाओमे साक्षाज्जिन भगवान्का सकल्प किया जाता है उसी तरह इन पचम कालके मुनियोमे प्राचीन कालके मुनियोका आरोप (सकल्प) करके भक्तिपूर्वक उनका पूजनादि करना चाहिये। क्योकि अधिक शोध (परीक्षा) करनेवालोका कल्याण नही होता ॥१८०॥ शुभ परिणाम पुण्यका कारण है तथा अशुभ परिणाम पापका कारण है इसलिये धीर पुरुषोको किसी कारणसे खराव होनेवाले अपने परिणामकी जिन-भक्ति आदिसे रक्षा करनी चाहिये ॥१८१॥

वोधः पूज्यस्तपोहेतुस्तत्परत्वात्तपोऽपि च । शिवाङ्गत्वाद्द्वयं पूज्यं तदाधाराविशेषत ॥१८२
अनुवद्धुं जगद्वन्धुं जिनधर्मं च पुत्रवत् । यस्येज्जनयितुं साधूंस्तथा चाटयितुं गुणे ॥१८३
पुण्यं यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषेण तादृशाम् । असिद्धावपि सिद्धौ स्वान्योपकारो महान्भवेत् ॥१८४
मुनिभ्यो निरवद्यानि रत्नत्रयविवृद्धये । भक्त्या भक्तौषधावासादीनि नित्यं प्रकल्पयेत् ॥१८५
व्रतिनी क्षुल्लिकीश्चापि सत्कुर्याद्गुणमालिनी । यस्माच्चतुर्विधे सङ्घे दत्तं वहुफलं भवेत् ॥१८६
सखीन्धर्मार्थकामानां यथायोग्यमुपाचरन् । त्रिवर्गसम्पदा प्राज्ञोऽमुत्रेह च प्रमोदते ॥१८७
अकीर्त्या क्लिश्यते चित्त तत्क्लेशश्चाऽशुभावह । चित्तप्रसत्तये तस्माच्छ्रेयसे ता सदार्जयेत् ॥१८८
गुणाननन्यसदृशान्कीर्त्यर्थी गुण्यसंस्तुतान् । दानशीलतपोमुख्यांस्तन्नित्य धारयेद् गृही ॥१८९
सर्वेभ्यो जीवराशिभ्य स्वशक्त्या करणैस्त्रिभि । दीयतेऽभयदान यद्दयादानं तदुच्यते ॥१९०

कानीनानाथदीनानां क्षुदाद्यैः पीडितात्मनाम् ।
सुखिन सन्तु बुद्धचेति दानं भुक्त्यादि दीयताम् ॥१९१

ज्ञान तपका कारण है इसलिये पूज्य है और तप ज्ञानका कारण है इसलिये पूज्य है तथा ज्ञान और तप ये दोनो मोक्षके कारण होनेसे पूज्य हैं और ज्ञानी तपस्वी गुणोके आधार हैं इसलिये विशेषतासे पूज्य हैं ॥१८२॥ अपनी कुलपरम्परा सदा चलनेके लिये पुत्रके उत्पन्न करनेमे जैसा उद्योग किया जाता है उसी तरह जगद्-बन्धु जिन धर्म निरन्तर चले इसलिये साधुओंके उत्पन्न करनेमे प्रयत्न करना चाहिये तथा जो वर्तमानमे साधु लोग विद्यमान हैं उनमे ज्ञानादि गुण प्राप्त करानेमे प्रयत्न करना चाहिये ॥१८३॥ यदि इस पचम कलिकालके दोपसे ऊपर कहे अनुसार मुनियोकी सिद्धि न हो तो भी उनके पैदा होनेके लिये प्रयत्न करनेवाले भव्य पुरुषोको पुण्य कर्मका वन्ध होता ही है और यदि उनको सिद्धि हो जाय तो फिर क्या कहना—अपना तथा धर्मात्मा पुरुषोका वडा भारी उपकार होता है ॥१८४॥ रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये मुनि लोगोको निर्दोष आहार औषध तथा आवास आदि वस्तु भक्तिपूर्वक निरन्तर देनी चाहिये ॥१८५॥ क्षुल्लिका, आर्यिका, तथा शीलगुण वगैरह पालन करनेवाली श्राविकाओका भी उनके योग्य सत्कार करना चाहिये । क्योकि मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका इन चार प्रकारके पात्रोको दिया हुआ दान वहुत फलका देनेवाला होता है ॥१८६॥ धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्तिके लिये सहायता करनेवाले मित्रोका जो वुद्धिमान् यथायोग्य सत्कार करते है वे त्रिवर्ग सम्पत्तिसे इह लोकमे तथा परलोकमे आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥१८७॥ ससारमे अपयश होनेसे चित्तमे एक तरहका दु ख होता है और वही क्लेश अशुभ (पाप) का कारण है इसलिये वुद्धिमान् पुरुषोको अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये कल्याणके अर्थ कीर्त्ति (यश) को सदा सम्पादन करना चाहिये ॥१८८॥ ससारमे अपनी कीर्त्तिके चाहनेवाले सज्जन पुरुषोको—जो गुण दूसरे साधारण पुरुषोमे न पाये जायँ, जिनकी वडे-वडे वुद्धिमान् लोग प्रशसा करते हैं ऐसे दान, शील तथा तप आदि प्रधान गुण धारण करना चाहिये ॥१८९॥

अव दयादत्तिका वर्णन करते हैं । सम्पूर्ण जीवमात्रके लिये कृत, कारित तथा अनुमोदनासे अपनी शक्तिके अनुसार अभयदान (जीवदान) देनेका वुद्धिमान् लोग दयादान (दयादत्ति) कहते हैं ॥१९०॥ क्षुधादि असह्य दु खोसे जिनकी आत्मा पीड़ित हो रही है ऐसे कानीन (दीन) तथा अनाथ आदि दु खी पुरुषोके लिये—ये लोग किसी प्रकार सुखी होवें इस वुद्धिसे आहार, औषधादि दान देना चाहिये ।।१९१॥ करुणावान् श्रेष्ठ दाताको सम्पूर्ण दु खी जीवोंका अपनी शक्तिके

आपद्गताङ्गिनात्सर्वानुद्धरेच्च स्वशक्तितः । जैनान्विशेषतो भक्त्या दयावान्दातृकुञ्जरः ॥१९२
इहामुत्र दयार्द्रान्तिः करणो वल्लभो भवेत् । दयारिक्तस्तु सर्वत्र भुवो भारायते जनः ॥१९३
बिभ्यतामङ्गिनां दुःखात्समेषामभयप्रद । दातृज्येष्ठः कृपार्द्रोऽसौ निर्भयो लभते सुखम् ॥१९४
पाक्षिको नैष्ठिकश्चाथ गृही कालादिलब्धित । सामग्रीवशतो दीक्षामेकामादातुमुद्यतः ॥१९५
समर्थाय स्वपुत्राय तदभावेऽन्यजाय वा । यदेतद्दीयते वस्तु स्वीय तत्सकल मतम् ॥१९६
परिग्रहविरक्तस्य दानमेतत्प्रजायते । यतस्तदुत्तम दानं प्रशस्य कस्य नो भवेत् ॥१९७
तृष्णाग्निना ज्वलत्येतज्जगद्वनमशेषत. । परिग्रहपरित्यागघनेनैव प्रशाम्यति ॥१९८
परिग्रहग्रहग्रस्ता भोगभूजेन्द्रचक्रिण । तादृशा. सुखिनो नैव यादृग्दाताऽस्य सर्वदा ॥१९९
त्रिशुद्ध्या गृहिणा तस्माद्वाञ्छता हितमात्मन । दीयता सकलादत्तिरिय सर्वसुखप्रदा ॥२००
कुलजातिक्रियामन्त्रे स्वसमाय सधर्मणे । भूकन्याहेमरत्नाऽश्वरथहस्त्यादि निवपेत् ॥२०१
निरन्तरेहया गर्भाधानादिक्रियमन्त्रयो । व्रतादेश्च सधर्मभ्यो दद्यात्कन्यादिक शुभम् ॥२०२
निस्तारकोत्तम यज्ञकल्पादिज्ञ बुभुक्षुकम् । वरं कन्यादिदानेन सत्कुर्वन्धर्मधारक ॥२०३

अनुसार दु ख दूर करना चाहिये । उसमे भी जिनधर्मानुयायी पुरुषोका तो विशेष भक्तिपूर्वक दू ख दूर करना चाहिये ॥१९२॥ जिन भव्यपुरुषोका हृद । दयासे आर्द्र (भीजा हुआ) है वे पुरुष इस लोकमे तथा परलोकमे भी सम्पूर्ण जीवोंके प्रेमपात्र होते है और जो लोग दयारहित है उन्हे तो मनुष्य रूपमे केवल पृथ्वीको भार देनेवाले कहना चाहिये ॥१९३॥ दु खोसे डरनेवाले जीव-मात्रको अभयदानका देनेवाला अर्थात् उनके प्राणोकी रक्षा करनेवाला और जिसका हृदय अत्यन्त दयालु है वह श्रेष्ठदाता निर्भय होकर सुखको प्राप्त करता है ॥१९४॥ कालादिलब्धिकी प्राप्ति रूप सामग्रीके वशसे पाक्षिक गृहस्थ अथवा नेष्ठिक गृहस्थ दीक्षाके ग्रहण करनेमे प्रयत्नशील होता है ॥१९५॥ अव सकलदत्तिका वर्णन करते हैं—सर्व तरह समर्थ अपने पुत्रके लिये अथवा पुत्रके न होनेपर दूसरेसे उत्पन्न होनेवाले (दत्तक) पुत्रके लिये अपनी धन-धान्यादिसे सम्पूर्ण वस्तुका जो देना है उसे सकलदत्ति कहते हैं ॥१९६॥ यह सकलदत्ति जो पुरुष परिग्रहसे विरक्त है उसीके होती है इसलिये ऐसा कौन होगा जिसे यह उत्तम दान अच्छा न लगेगा किन्तु सभीको अच्छा लगेगा ॥१९७॥ यह ससार रूप गहन वन तृष्णा रूप अग्निसे चारो ओर जल रहा है । यह परि-ग्रहके त्याग रूप मेघसे ही बुझेगा । भावार्थ—जो लोग ससारके नाश करनेकी इंच्छा रखते है उन्हे ससारके कारण परिग्रहका त्याग करना चाहिये ॥१९८॥ इस परिग्रह रूप पिशाचसे ग्रसित भोगभूमि मनुष्य, इन्द्र तथा चक्रवर्त्ती उतने सुखी नही हैं, जितने सुखी इस सकलदत्तिके देनेवाले हैं ॥१९९॥ इसलिये अपने आत्माका हित चाहनेवाले भव्य गृहस्थोको सम्पूर्ण प्रकारके उत्तम सुखोके देनेवाली यह सकलदत्ति मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक देनी चाहिये ॥२००॥ अव समदत्तिका वर्णन करते हैं—कुल, जाति, क्रिया तथा मन्त्रादिसे अपने समान सधर्मी पुरुषोके लिये पृथ्वी, कन्या, सुवर्ण, रत्न, अश्व, रथ, हस्ति आदि वस्तुएँ देनी चाहिये ॥२०१॥ गर्भा-धानादि क्रिया, मत्र तथा व्रतादिके निरन्तर चलनेकी इच्छासे अपने समान सधर्मी पुरुषोके लिये कन्या, पृथ्वी, सुवर्ण, रत्न, हाथी वगैरह उत्तम वस्तुएँ देनी चाहिये ॥२०२॥ ससारके तिरनेके लिये प्रयत्न करनेवालोमे श्रेष्ठ, प्रतिष्ठादि विधियोका जाननेवाला तथा बुभुक्षु ऐसे पुरुषोको—कन्या, सुवर्ण, हाथी, रस, अश्व, पृथ्वी, रत्न आदि उत्तम-उत्तम पदार्थके दानसे सत्कार करनेवाला पवित्र धर्मका धारक कहा जाता है ॥२०३॥ जिस दाताने अपनी कुलवती कन्याका दान दिया है

दात्रा येन सती कन्या दत्ता तेन गृहाश्रमः। दत्तस्तस्मै त्रिवर्गेण गृहिण्येव गृहं यत ॥२०४
कुलवृत्तोन्नतिं धर्मसन्ततिं स्वेच्छया रतिम्। देवादीष्टिं च वाञ्छन्सत्कन्या यत्नात्सदा वहत ॥२०५
धर्मपत्नीं विना पात्रे दानं हेमादिकं मुधा। कीटैर्वाभुज्यमानेऽन्त कोऽम्भः सेकाद्‌गुणो द्रुमे ॥२०६
गोचरेषु सुखभ्रान्तिमोहकर्मोदयोद्भवाम्। हित्वा तदुपभोग्येन मोचयेत्तान्परं स्ववत् ॥२०७
दद्यात्कन्याधरादीनि पाक्षिको न तु नैष्ठिक। हिंसार्थत्वान्न दद्याद्विषसक्रान्तिश्राद्धपर्वणि ॥२०८
समदानफलेनाऽसौ भूत्वा त्रैवर्गिकाग्रणी.। मोहमाहात्म्यमुच्छेद्य मोक्षेऽपि बलवान्भवेत् ॥२०९
वाचनाप्रच्छनाम्नायाऽनुप्रेक्षा धर्मदेशनम्। स्वाध्यायं च पञ्चधा कुर्यात्काले ज्ञानविवृद्धये ॥२१०
स्वाध्यायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तित.। अज्ञानप्रतिकूलत्वात्तप.स्वेष परं तप. ॥२११
स्वाध्यायाज्ज्ञानवृद्धि. स्यात्तस्या वैराग्यमुल्वणम्। तस्मात्सङ्गपरित्यागस्ततश्चित्तनिरोधनम् ॥२१२
तस्मिन्ध्यान प्रजायेत ततश्चात्मप्रकाशनम्। तत्र कर्मक्षयाऽवश्यं स एव परमं पदम् ॥२१३

सिद्धा सेत्स्यन्ति सिद्ध्यन्ति ये ते स्वाध्यायतो ध्रुवम्।
अत स एव मोक्षस्य कारणं भववारणम् ॥२१४

समझो कि उमने कन्यादान लेनेवालेको—धर्म, अर्थ, कामके साथ-साथ गृहस्थाश्रम ही दिया है क्योकि—गृहिणी (पत्नी) ही को तो घर कहते है ॥२०४॥ अपने कुलकी उन्नति, वृत्तकी उन्नति, धर्ममार्गमे चलनेवाली सन्तति (पुत्रादि), अपनी इच्छानुसार सम्भोग सुख तथा जिनदेवादिके पूजन आदिके चाहनेवाले पुरुषोको—प्रयत्नपूर्वक उत्तम कन्याके साथ विवाह करना चाहिये ॥२०५॥ जिस पुरुषके धर्मपत्नी (स्त्री) नही है उसके लिये सुवर्ण, रत्न, रथ, अश्व, हाथी आदि पदार्थोका दान देना एक तरह व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसी विषयको दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—जिस वृक्षके भीतरके भागको कीड़ोने खा लिया है उसमे जलसिंचन करना जिस तरह व्यर्थ है ॥२०६॥ चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाली सुखकी भ्रान्तिको विषयोंके अनुभवसे छोडकर—जिस प्रकार स्वय विषयोसे विरक्त हुआ है उसी तरह उन सधर्मी पुरुषोको भी विषयोसे विरक्त करे ॥२०७॥ कन्या, पृथ्वी, सुवर्ण, रथ, रत्न आदि वस्तुओका दान पाक्षिकश्रावक देवे, नैष्ठिक-श्रावकको नही देना चाहिये। परन्तु हिंसाका कारण होनेसे—सम्यग्दर्शनके शत्रुरूप सक्रान्ति पर्वमे तथा श्राद्धपर्वमे तो यह भी नही देना चाहिये ॥२०८॥ इसी समदत्तिके फलसे यह पाक्षिक श्रावक धर्म, अर्थ, कामके धारण करनेवालोमे अग्रणी होकर और मोहकी महिमाका नाश करके मोक्षमे जाने योग्य होता है ॥२०९॥

ज्ञानकी दिनोदिन वृद्धिके लिये भव्य पुरुषोको—वाचना, पृच्छन्ना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा तथा धर्मोपदेश ये पाँच प्रकार स्वाध्याय करना चाहिये ॥२१०॥ जैन शास्त्रोंके अनुसार अपने लिये अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते है। और यही स्वाध्याय अज्ञानका नाश करनेवाला है इसलिये तपमे यह उत्कृष्ट तप भी है ॥२११॥ स्वाध्यायके करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, ज्ञानकी वृद्धि होनेसे चित्तमे उत्कट वैराग्य होता है, वैराग्यके होनेसे परिग्रहका त्याग (छोडना) होता है, परिग्रहके त्यागसे चित्त अपने वशमे होता है, चित्तके वश होनेसे ध्यान होता है, ध्यानके होनेसे आत्माकी उपलब्धि होती है, आत्माकी उपलब्धि होनेसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका नाश होता है और कर्मोका नाश ही मोक्ष कहा जाता है। भावार्थ—यह स्वाध्याय परम्परा मोक्षका कारण है इसलिये भव्य पुरुषोको—शक्त्यनुसार स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये ॥२१२-२१३॥ पूर्वकालमे जितने सिद्ध हुए हैं, आगामी होगे तथा वर्त्तमानमे होने योग्य है वे सब नियमसे इस स्वाध्यायसे

इति सद्गृहिणा कार्यो नित्यो नैमित्तिकोऽपि च ।
स्वाध्यायो रहसि स्थित्वा स्वयोग्यं शुद्धिपूर्वकम् ॥२१५

मन करणसंरोधस्त्रसस्थावरपालनम् । संयम सद्गृही त च स्वयोग्य पालयेत्सदा ॥२१६
संयमो द्विविधो हि स्यात्सकलो विकलस्तथा । आद्यः तपस्विभि. पाल्य. परस्तु गृहिभिस्तथा ॥२१७
आरम्भेन विना वासो गृहे स न विना वधात् । मुच्यो मुख्य सयत्नेन दुर्मोच्योऽवश्यभाविक. ॥२१८
त्यजेद्गवादिभिर्वृत्ति नैष्ठिको वन्धनादिना । विना भोग्यानुपेयात्तान्निर्दय वा न योजयेत् ॥२१९
तपस्यन्नपि मिथ्यादृक्संयमेन विनाऽधिकम् । पञ्चाग्न्यादिभिरेकाग्र्य देवो भूत्वा भवी भवेत् ॥२२०
सम्यक्त्वरहितं ज्ञान चारित्र ज्ञानवर्जितम् । तप.-सयमहीन च यो धत्ते तन्निरर्थकम् ॥२२१
ऋते नृत्व न कुत्राऽपि संयमो देहिना भवेत् । मत्वेत्येकापि कालस्य कला नेया न तं विना ॥२२२
कर्माणि षण्मयोक्तानि गृहिणो वर्णभेदत । ब्राह्मणा. क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधा. ॥२२३
यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाध्यापने तथा । दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥२२४
यजनाध्ययने दानं परेषा त्रीणि ते पुन । जातितीर्थप्रभेदेन द्विविधा ब्राह्मणादय ॥२२५

ही हुए है तथा होनेवाले हैं इसलिये ससारका नाश करनेवाला यही स्वाध्याय मोक्षका कारण है ॥२१४॥ इस प्रकार स्वाध्यायको परम्परा मोक्षका कारण समझ कर भव्यगृहस्थोको—एकान्त स्थानमे वैठकर मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक स्वाध्याय करना चाहिये ॥२१५॥ मन और इन्द्रियोके वश करनेको तथा त्रस और स्थावर जीवोकी रक्षा करनेको सयम कहते हैं। इसलिये मद्गृहस्थोको—अपने योग्य सयम निरन्तर पालन करना चाहिये ॥२१६॥ उपर्युक्त सयम—सकलसयम तथा विकलसयम इस प्रकार दो भेदरूप हैं। सकलसयम मुनिलोगोके धारण करने योग्य होता है तथा विकलसयम गृहस्थ लोगोके पालन करने योग्य है ॥२१७॥ आरभके विना तो गृहमे रहना नही हो सकता और हिंसाके विना आरम्भ नही होता। अर्थात् आरम्भमे जीवोकी हिंसा अवश्य होती है। इसलिये प्रधान जो आरम्भ है वह तो प्रयत्नपूर्वक छोडना चाहिए। परन्तु जो आवश्यकीय आरम्भ है वह कठिनतासे छूटता है ॥२१८॥ नैष्ठिक श्रावकको गाय आदि पशुओके द्वारा अपनी जीविका नही करनी चाहिये। यदि अपने उपभोगके लिए रखे भी तो वन्धन आदिसे रहित रखना चाहिये और जिनके साथ निर्दय व्यवहार न करे तथा पशुओ की रक्षामे निर्दयी पुरुषोको नियोजित नही करना चाहिये ॥२१९॥ मिथ्यादृष्टि पुरुष सयम (मन और इन्द्रियोका वश करना, त्रस तथा स्थावर जीवोकी रक्षाके) विना पञ्चाग्नि आदिसे एकाग्रता-पूर्वक वहुत तपश्चरण करके तपादिके प्रभावसे देव होकर भी फिर ससारी हो जाता है ॥२२०॥ सयमके बिना कितना भी तपश्चरण क्यो न किया जाय वह सव निष्फल है इसलिये सयमी होना जीवमात्रको आवश्यक है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन-रहित ज्ञान, ज्ञान-रहित चारित्र तथा संयम-रहित तप धारण करता है उसका यह धारण करना सब निष्प्रयोजन है ॥२२१॥ इस पवित्र मानव पर्यायको छोडकर और किसी पर्यायमे जीवोको सयम नही होता है। ऐसा समझकर आत्महित चाहनेवाले सत्पुरुषोको कालकी एक कला भी सयमके विना नही खोनी चाहिये ॥२२२॥ मैंने गृहस्थोके जो छह कर्म है उनका वर्णन किया। वे गृहस्थ वर्णभेदसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इस प्रकार चार भेद रूप हैं ॥२२३॥ जो द्विजन्मा ब्राह्मण है उनके—पूजन करना, कराना, स्वय पढना, पढाना, दान देना तथा दान लेना ये छह कर्म है ॥२२४॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णोके यजन (पूजन करना) अध्ययन (पढ़ना) तथा दान देना ये तीन कर्म हैं। पुन वे

स्वस्वकर्मरताः सर्वे ते च स्युर्जातिक्षत्रिया । मन्त्र्यादिपदमारूढा जीवने तीर्थक्षत्रिया ॥२२६
रत्नत्रयपवित्रत्वाद्ब्रह्मसूत्रेण लाञ्छिता । पूजिता भरताद्यैस्ते ब्राह्मणा धर्मजीविन ॥२२७

क्षतात्पीडनतो लोकांस्त्रायन्ते क्षत्रियाऽस्तु ते ।
ऐक्ष्वाकाद्या स्वखड्गेन प्रजाषड्भागभागिन ॥२२८

मषि कृषिश्च वाणिज्यकर्मत्रितयवेतना । वैश्या केचिन्मताश्चान्यै पशुपालनतोऽपि च ॥२२९
त्रिवर्णस्य समा ज्ञेया गर्भाधानादिका क्रिया । व्रतमन्त्रविवाहाद्यै पङ्क्त्या भेदो न विद्यते ॥२३०
पशुपाल्यात्कृषे शिल्पाद्वर्तन्ते तेषु केचन । शुश्रूषन्ते त्रिवर्णा ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः ॥२३१
ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्रा प्रकीर्तिता । येषा सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाऽऽद्या परथा परे ॥२३२

सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधा ।
दासीदासा पराधीना स्वाधीना स्वोपजीविन ॥२३३

असच्छूद्रा तथा द्वेधा कारवोऽकारव स्मृता । अस्पृश्याः कारवश्चान्त्यजादयोऽकारवोऽन्यथा ॥२३४
अस्पृश्यजनसंस्पर्शान्मृद्भाण्डं वर्जयेत्सदा । लोहभाण्डं भवेच्छुद्ध भस्मन परिमार्जनात् ॥२३५

ब्राह्मणादि जाति तथा तीर्थ इन दो भेदोसे दो-दो प्रकार हैं ॥२२५॥ जो क्षत्रिय अपने-अपने कर्ममे तत्पर रहते हैं वे जातिक्षत्रिय कहलाते हैं और जो क्षत्रिय लोग अपनी आजीविकाके अर्थ मत्री आदि पदको धारण किये हुए हैं उन्हे तीर्थ क्षत्रिय कहते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणादिको भी जानना चाहिये ॥२२६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको धारणकर पवित्र होनेसे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) द्वारा मण्डित, भरत चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषोंसे सत्कार किये हुए तथा धर्म ही जिनका जीवन है वे ब्राह्मण कहे जाते हैं ॥२२७॥ कष्टादिसे दुखको प्राप्त होनेवाले लोकोकी जो अपनी तलवारके बलसे रक्षा करते हैं प्रजाके छठे भागके अधिकारी तथा इक्ष्वाकु वशमे उत्पन्न होनेवाले वे लोग क्षत्रिय कहे जाते हैं ॥२२८॥ मषि, कृषि तथा वाणिज्य (व्यापार) ये तीन कर्म जिनकी लोक यात्राके निर्वाहके कारण हैं वे वैश्य कहे जाते हैं और कितनोका कहना है कि—पशुओका पालन करना भी वैश्योका धर्म है ॥२२९॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों वर्णकी व्रत मत्र तथा विवाहादिसे गर्भाधानादि क्रियाएँ एक सी ही हैं और न इन तीनो वर्णोंमें पक्ति भेद समझना चाहिये ॥२३०॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंमे कितने तो पशु पालनसे अपना निर्वाह करते हैं, कितने कृषिकर्मसे तथा कितने शिल्प विद्यासे करते हैं और जो इन तीन वर्णोंके मनुष्योकी वर्तन, भूषण तथा वस्त्रादिसे सेवा करते हैं उन्हें शूद्र समझना चाहिये ॥२३१॥ उन शूद्रोके सत्-शूद्र तथा असत्-शूद्र ऐसे दो विकल्प हैं। जिन शूद्रोकी कन्याओका एक ही वार विवाह होता है वे सत्-शूद्र हैं और जिनका पुन पुन विवाह होता है वे असत्-शूद्र हैं ॥२३२॥ सत्-शूद्रोके भी स्वाधीन तथा पराधीन ऐसे दो विकल्प हैं। जो दासी तथा दास हैं वे पराधीन सत्-शूद्र हैं और जो दासी दास न रहकर अपनी आजीविकाका निर्वाह स्वय करते हैं उन्हें स्वाधीन सत्—शूद्र कहते हैं ॥२३३॥ तथा असत्-शूद्रके भी—कारु तथा अकारु ऐसे दो भेद हैं। जो स्पर्श करने योग्य हैं उन्हें कारव असत्-शूद्र कहते हैं और जो अन्त्यज चाण्डालादि वे अस्पृश्य-अकारव असत् शूद्र हैं ॥२३४॥ अस्पृश्य शूद्रोका स्पर्श हो जानेसे मृत्तिकाके वर्तनोको फिर काममे न लाकर उन्हें फेंक देना चाहिये। और लोहेका वर्तन यदि अस्पृश्य शूद्रोंसे छू जाय तो वह भस्म (राख) से मांजनेसे शुद्ध हो सकता है ॥२३५॥ अस्पृश्य शूद्रोंसे भोजन किये हुए मृत्तिकाके वर्तन

भुक्तं मृद्भाण्डपर्णादिस्पृश्येतरजनैस्त्यजेत् । लोहं भस्माग्निशुद्धं स्याद्भुक्तं संस्पृश्यजातिभिः ॥२३६
यद्यस्पृश्यजनैर्भुक्तं कांस्यादिघटयेन्नवम् । अस्थ्यादिस्पृष्टं तद्भाण्डमयस्काराग्निना शुचि ॥२३७
अस्पृश्यजनसंस्पृष्टं धान्यकाष्ठफलाम्बरम् । इत्यादिस्वर्णपूताम्बुप्रोक्षणेनैव संस्पृशेत् ॥२३८
स्पृश्याऽस्पृश्यपरिज्ञाने वर्ण्यते जातिनिर्णयः । तद्भेदो मुनिभिश्चक्रे कर्मभूमेः प्रवेशने ॥२३९
अस्यामेवावसर्पिण्यां भोगभूमिपरिक्षये । अभीष्टफलदातॄणां विनाशे कल्पभूरुहाम् ॥२४०
क्षुत्पिपासादिसन्तप्ताः प्रजाः प्रणतकास्तदा । इति विज्ञापयन्देवं नाभेयं समुपेत्य वै ॥२४१
वयं त्वां शरणं प्राप्ता वाञ्छन्तो जीविकां प्रभो । त्रायस्व नः प्रजेशस्त्वं तदुपायोपदेशतः ॥२४२
आकर्ण्येतिवचस्तासां दीनं करुणयेरितः । वृषभश्चिन्तयामास हितमेवं शरीरिणाम् ॥२४३
विदेहेषु स्थितिर्नित्या यासावत्र विधीयते । षट्कर्मविधिसंयुक्ता वर्णत्रयकृता भिदा ॥२४४
मत्वेति चिन्तितं देव तदैवाऽयात्सहाऽमरैः । शक्रस्तज्जीवनोपायमिति चक्रे विभागशः ॥२४५
शुभे लग्ने सुनक्षत्रे विनीतायां जिनालयम् । कृत्वा नगरमन्यच्च ग्रामादिजनरक्षकम् ॥२४६
प्रपाय्येक्षुरसं मिष्टं प्रजानां तत्प्रपालकः । गोत्रमिक्ष्वाकुनामाऽसौ लेभे ताभ्यस्तत्क्षणात् ॥२४७
असिमष्यादिषट्कर्मप्रजाजीवनकारणम् । पृथक्पृथगुपादिश्य विधाताऽऽसीज्जगद्गुरुः ॥२४८

तथा पत्रादिको छोड देना चाहिये और स्पृश्य जातिके शूद्रोंसे भोजन किये हुए लोहेके भाजन भस्म (राख) तथा अग्निमे शुद्ध होते हैं ॥२३६॥

यदि अस्पृश्य शूद्र कांसी, पीतल, आदिके वर्त्तनोंमे भोजन करे तो उसे फिर नवीन ही बनाना चाहिये, जब तक वह फिरसे न बनाया जायगा तब तक शुद्ध नही हो सकता। यदि हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओंका उन वर्तनोंमे स्पर्श हो जाय तो वे लोहारकी अग्निसे अर्थात् लोहारके द्वारा अग्निमे तपानेसे शुद्ध हो सकते है ॥२३७॥ अस्पृश्य शूद्रोंसे छूए हुए धान्य, काष्ठ, फल तथा वस्त्रादि वस्तुओंको—स्वर्णसे पवित्र किये हुए जलसे सींच कर फिर उन्हे स्पर्श करना चाहिये ॥२३८॥ स्पृश्यजाति तथा अस्पृश्य जातिके जानने पर जातिका निर्णय किया जाता है इसका भेद प्राचीन मुनिलोगोने कर्मभूमिके प्रवेशके समयमे किया है ॥२३९॥ इसी हुण्डावसर्पिणी कालमे भोगभूमिका सर्वथा नाश हो जानेपर तथा मनोऽभिलषित फलके देनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्षोंका अभाव हो जानेपर क्षुधा, पिपासादिकी पीडासे आकुलित होकर सर्व प्रजाके लोक उस समय भगवान् आदि जिनेंद्रके पास जाकर यो प्रार्थना करने लगे ॥२४०-२४१॥ हे प्रभो! अपनी आजीविकाके लिये आपके आश्रय आये हैं आप प्रजाके स्वामी हैं इसलिये आजीविकाके उपायका उपदेश दे कर हम लोगोंकी रक्षा करो ॥२४२॥ करुणासे प्रेरित भगवान आदि जिनेन्द्र प्रजाके दीन वचनोंको सुनकर उनके हितका इस प्रकार चिन्तवन करने लगे ॥२४३॥ असि, मषि, कृषि आदि छह कर्म युक्त तथा ब्राह्मण क्षत्रियादि तीन वर्णसे जिसमे भेद है ऐसी नित्य स्थिति जो विदेह क्षेत्रमे है वही यहाँ भी चलाई जाना आवश्यक है ॥२४४॥ भगवान् आदि जिनेंद्रको चिन्ता युक्त देख कर उसी समय सब देवोंके साथ इन्द्र भी आया और विभाग-पूर्वक प्रजाके जीवनका उपाय इस तरह किया ॥२४५॥ प्रजापालक श्रीआदिजिनेन्द्र—शुभलग्नमे तथा शुभ नक्षत्रमे अयोध्या नगरीमे जिन मन्दिर तथा मनुष्योंकी रक्षाके लिये नगर-ग्रामादिका निर्माण करके इसके बाद प्रजाके लोगोंको साठेका रस पिला कर प्रजाके द्वारा उसी समय इक्ष्वाकुगोत्र इस नामको प्राप्त हुए ॥२४६-२४७॥ प्रजाके आजीविका-के कारण असि, मषि, कृषि आदि छह कर्मोंका अलग-अलग उपदेश दे करके जगद्गुरु श्री आदि

तत्तत्कर्मानुसारेण जाता वर्णास्त्रयस्तदा। क्षत्रिया वणिजः शूद्राः कृतास्तेनादिवेधसा ॥२४९
परीक्ष्याऽऽद्येन चक्रेशा क्षत्रिया व्रततत्पराः। ब्राह्मणाः स्थापिता दानहेतवे ब्रह्मभक्तितः ॥२५०
त्रिवर्णेषु च जायन्ते ये चोच्चैर्गोत्रपाकतः। देशावयवशुद्धानां तेषामेव महाव्रतम् ॥२५१
नीचैर्गोत्रोदयाच्छूद्रा भवन्ति प्राणिनो भवे। प्रमत्तादिगुणाभावात्तेषां स्यात्तदणुव्रतम् ॥२५२
मनुष्यगतिरेकैव विपाकान्नामकर्मणः। चारित्रादवृत्तिभेदाच्च गोत्रकर्मोदयादपि ॥२५३
चतुर्वर्णाः समुद्दिष्टाः पुरा सर्वविदा खलु। केवल्याऽऽर्हास्त्रयः पूज्या हीनोऽन्त्यस्तदभावतः ॥२५४
परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पङ्क्तिभोजनम्। कर्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥२५५

स्वां स्वां वृत्तिं समुत्क्रम्य यः परां वृत्तिमाश्रयेत्।
स दण्ड्यः पार्थिवैर्बाढं वर्णसङ्करताऽन्यथा ॥२५६

पञ्चतायां प्रसूतौ च दिनानि दश सूतकम्। एकादशाऽह्नि संशोध्य गृहं वस्त्रं तनुं तथा ॥२५७
मृद्भाण्डानि पुराणानि बहिः कृत्य विधाय च। शुद्धां पाकादिसामग्रीं पूजयेत्परमेश्वरम् ॥२५८
श्रुतं च गुरुपादाश्च पूजयित्वा यथाविधि। व्रतोद्योतनमादाय शुद्धो भूत्वा प्रवर्त्तताम् ॥२५९
सूतके न विधातव्यं दानाऽध्ययनपूजनम्। नीचैर्गोत्रस्य बन्धत्वाद्गोत्रिणां पञ्चवासरान् ॥२६०

जिनेन्द्र आदि विधाता (प्रजापति) हुए ॥२४८॥ उसी समय अपने-अपने कर्मके अनुसार प्रजामें तीन वर्ण हुए उन्हें आदि विधाता ऋषभ देवने क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र इन तीन नामोंसे युक्त किया ॥२४९॥ इसके बाद आदि चक्रवर्ती भरत महाराजने परीक्षा करके व्रत धारण करनेवाले क्षत्रिय लोगोंको ब्रह्मभक्तिमें दानके लिये ब्राह्मण स्थापित किये। २५०॥ जो लोग उच्चगोत्रके उदयसे ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णमें उत्पन्न होते हैं देश तथा अवयवोंसे शुद्ध उन्हीं लोगोंके महाव्रत होता है ॥२५१॥ जो जीव नीच गोत्रके उदयसे शूद्र कुलमें उत्पन्न होते हैं। प्रमत्तादि गुण स्थानोंके न होनेसे उनके अणुव्रत होते हैं। अर्थात् शूद्र महाव्रत धारण नहीं कर सकते ॥२५२॥ यद्यपि नाम कर्मके विपाकसे, मनुष्यगति एक ही होती है। तथापि चारित्रमें, आजीविकाके भेदसे और गोत्र कर्मके उदयसे सर्वज्ञ देवने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण कहे हैं। उनमेंसे आदिके तीनवर्णोंको केवल ज्ञानके योग्य बताया है, इसलिये ये पूज्य हैं और शूद्रोंको केवलज्ञान नहीं होता है इसलिये वे हीन कहे जाते हैं ॥२५३-२५४॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंको परस्परमें विवाह तथा एक साथ भोजन करना चाहिये। शूद्रोंके साथ नहीं करना चाहिये। तथा शूद्रोंको अपने जातिके साथ ही विवाह तथा भोजनादि करना चाहिये ॥२५५॥ इन चारों वर्णोंमें अपनी अपनी वृत्तिका उल्लंघन करके जो दूसरोंकी वृत्तिका आश्रय ले, राजा लोगोंको चाहिये कि उन्हें अच्छी तरह दंड देवे। ऐसा न किया जायगा तो वर्णसंकरता होगी ॥२५६॥ अब सूतकका वर्णन करते हैं—

मरणमें तथा प्रसूतिमें दश दिन सूतक पालन करना चाहिये। इसके बाद ग्यारहवें दिन घर, वस्त्र तथा शरीरादि शुद्ध करके और मृत्तिकाके पुराने वर्तनोंको अलग करके तथा पवित्र भोजनादि सामग्री बनाकर सर्वप्रथम जिनभगवान्‌की पूजा करनी चाहिये ॥२५७-२५८॥ शास्त्रोंकी तथामुनिराजोंके चरणोंकी विधिपूर्वक पूजा करके तथा व्रतका उद्यापन करके शुद्ध होकर फिर कार्य में लगना चाहिये ॥२५९॥ सूतकमें दान, अध्ययन तथा जिन पूजनादि शुभकर्म नहीं करना चाहिये, क्योंकि सूतकके दिनोंमें दान पूजनादि करनेसे नीच गोत्रका बन्ध होता है और गोत्रके लोगोंको

मतान्तराद्दिवापञ्च दश द्वादश पक्षकम् । क्षत्रियद्विजवैश्यानां शूद्राणा सूतकः क्रमात् ॥२६१
कुर्यात्पुष्पवती मौनमास्नानं पुष्पदर्शनात् । अभुक्ता वर्जयेद्भुक्ति पुनर्भुक्ता च तद्दिने ॥२६२
तद्दिनात्त्रीणि सान्यानि दिनानि परिपालयेत् । शुप्ति गेहस्य वस्तूनि मा स्पृशेन्मा भ्रमेद्गृहे ॥२६३
चौरीव रहसि प्रायस्तिष्ठन्ती मा वदेद्बहु । स्नाय स्नायं सचेल चेद्भुञ्जीत रसवर्जितम् ॥२६४
चण्डालिनीव दूरस्था मृद्भाण्डेऽगदले करे । समश्नुवीत मौनेन पापशत्रुभयादियम् ॥२६५
भुञ्जीत पत्रकांशादिपात्रे सा तत्पुनर्नवम् । घटयेद्यद शुद्धं स्यात्तदा नाऽपरथा क्वचित् ॥२६६
तस्या. स्पृष्टं जलाद्य नो कल्पते भोजनेऽर्चने । दानेऽपि यच्च तच्छुप्तिर्बहुकार्यविरोधिनी ॥२६७
नेत्ररोगी भवेदन्ध पक्वान्नाद्य विनश्यति । रङ्गो विरङ्गता याति मञ्जिष्ठादेस्तदाश्रयात् ॥२६८
रात्रौ शयीत भूमादावेकान्ते योगिनीव सा । सावधानमना नारोपर्यायं बहुनिन्दती ॥२६९
चतुर्थरात्रौ भोग्या सा भर्त्रा सन्तानहतवे । अवश्य रात्रौ कामार्त्ता व्यभिचार करोति हि ॥२७०
रजोरक्तसमुत्पन्ना सुसूक्ष्मा क्रमयोऽधिकाः । योनिवर्त्मनि कण्डूतिं नारीणा जनयन्ति हि ॥२७१

एवं प्राग्वासरेणाऽमा चतुरो वासरानपि ।
समुत्क्रम्य दिनेऽन्यस्मिन्स्नात्वा वस्त्रे प्रवर्त्ततााम् ॥२७२

पाँच दिन पर्यन्त उक्त कार्य नही करना चाहिये ॥२६०॥ अन्य मतके अनुसार—क्षत्रिय कुलोद्भव लोगोको पाँच दिन, ब्राह्मण लोगोको दश दिन, वैश्यवश समुत्पन्न लोगोको बारह दिन तथा शूद्र लोगोको पन्द्रह दिन पर्यन्त सूतक पालन करना कहा है ॥२६१॥ पुष्पवती (रजस्वला) स्त्री को पुष्पके देखनेके दिनसे स्नान-पर्यन्त मौनपूर्वक रहना चाहिये। यदि भोजन करनेके पहले रजस्वला हो जाय तो फिर भोजन नही करना चाहिये। अथवा भोजन करनेके वाद रजस्वला होवे तो फिर उस दिन भोजन नही करना चाहिये ॥२६२॥ पुष्प दर्शनके दिनसे लेकर तीन दिन पर्यन्त पालन करना चाहिये तथा शयनागारकी वस्तुओको न तो छूना चाहिये और न घरमे भ्रमण करना चाहिये ॥२६३॥ चोरी करनेवाली स्त्रीके समान वहुधा करके एकान्त स्थानमे ही रजस्वला स्त्री रहे तथा न वहुत बोले। भोजन करनेके समय वस्त्र-सहित स्नान करके रस-रहित भोजन करे ॥२६४॥ चण्डालिनीके समान अलग बैठी हुई रजस्वला स्त्रीको पाप-शत्रुके डरसे मृत्तिका के वर्तनमे, वृक्षोके पत्रोमे अथवा अपने हाथ ही मे भोज्य वस्तु लेकर मौनपूर्वक भोजन करना चाहिये ॥२६५॥ यदि रजस्वला स्त्री काँशी, पीतल आदि धातुओके भाजनमे भोजन करे तो वह भाजन फिरसे नया वनाया जावे तब ही शुद्ध (काममे लाने योग्य) हो सकता हे बिना फिरसे नवीन वनाये कभो पवित्र नही हो सकता ॥२६६॥ रजस्वला स्त्रीसे स्पर्श हुई जलादि वस्तु भोजनमे, जिन पूजनमे तथा दानमे काम नही लानी चाहिये। यही कारण है कि रजस्वला स्त्रीकी शुप्ति (स्पर्श) वहुत कार्यको नाश करनेवाली है ॥२६७॥ रजस्वला स्त्रीके स्पर्शसे जो नेत्र रोगी है वह तो अन्धा हो जाता है, पक्वान्नादि वस्तु नष्ट हो जाती है और मजीठ आदिका रङ्ग विरङ्ग हो जाता है ॥२६८॥ सावधानमन पूर्वक स्त्री पर्यायकी अनेक तरह निन्दा करती हुई रजस्वला स्त्री को योगिनी (साध्वी) स्त्रीके समान एकान्त स्थानमे पृथ्वी आदिपर रात्रिके समय शयन करना चाहिये ॥२६९॥ पतिको सन्तान होनेके लिए उस स्त्रीके साथ चतुर्थ रात्रिमे विषयोपभोग करना चाहिये। यदि उस दिन उसके साथ रमण न किया जाय तो नियमसे वह कामसे पीडित होकर व्यभिचार सेवन करती है ॥२७०॥ क्योकि—रजोरक्तमे उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त छोटे-छोटे जीव स्त्रियोके योनि स्थानमे कण्डूति (खुजली) को उत्पन्न करते है ॥२७१॥ इसी तरह पहले दिनसे

इत्थं रजस्वला रक्ष्या यत्नतो गृहमेधिना । अन्यथा रोगदारिद्रोपद्रवाः सन्त्यनेकशः ॥२७३
रक्ष्यमाणापि या नारी न तिष्ठति दुराशया । सा पापं बहु बध्नाति दुर्गतौ यद्भयावहम् ॥२७४
तिरश्ची तेन पापेन शूकरी कुक्कुरी खरी । मात्रादिसङ्गनिर्मुक्ता दुर्गन्धा दुःखिनी भवेत् ॥२७५
अथ नारी भवेद्रण्डा वन्ध्या मृतसुता खला । दुर्भागिनी कुरूपा च भवे भवे नपुंसकम् ॥२७६
मत्वेति सत्कुलोत्पन्ना ऋतावुक्तविधानतः । तिष्ठेद्यत्नेन पापस्य भीत्या सिंहस्य वा मृगी ॥२७७
गृहाश्रमो मया सूक्तः संहिताद्यनुसारतः । वानप्रस्थस्य भिक्षोश्च आश्रमः कथ्यतेऽधुना ॥२७८

उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक्क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः ।
स चापवादलिङ्गी च वानप्रस्थोऽपि नामतः ॥२७९

अष्टाविंशतिकान्मूलगुणान्ये पान्ति निर्मलान् । उत्सर्गलिङ्गिनो धीरा भिक्षवस्ते भवन्त्यहो ॥२८०
अचेलक्यं शिरोलोचो निराभरणसंस्कृतिः । उत्सर्गलिङ्गमेतत्स्याच्चतुर्धा पिच्छधारणम् ॥२८१
भिक्षां चरन्ति येऽरण्ये वसन्त्यल्पं जिमन्ति च । बहु जल्पन्ति नो निद्रां कुर्वते नो तपोधनाः ॥२८२
ऋषिर्मुनिर्यतिः साधुर्भिक्षुकः स्याच्चतुर्विधः । तद्भेदो विस्तरादास्तां संक्षेपाद्वक्ष्यते शृणु ॥२८३
राजर्षिः परमर्षिश्च देवब्रह्मर्षिकौ तथा । ऋषेश्चतुर्भिदा प्रोक्ता ऋषिकल्पे जिनेश्वरैः ॥२८४

लेकर चार दिन व्यतीत करके पाँचवे दिन स्नान करके दूसरे वस्त्र धारण करना चाहिये ॥२७२॥ इस प्रकार गृहस्थ लोगोको रजस्वला स्त्रीका रक्षण करना चाहिये। ऐसा न करनेसे रोग तथा दरिद्रता आदि अनेक उपद्रव होते है ॥२७३॥ अनेक प्रकारके उपायोसे रक्षा की हुई भी खोटे अभिप्रायवाली जो स्त्री न ठहरती है अर्थात्—सुशील न रहकर व्यभिचार सेवन करती है वह स्त्री बहुत पापका सचय करती है जो पाप कुगतियोमे नाना प्रकार दुःखका देनेवाला है ॥२७४॥ उसी पापके फलमे शूकरी, कुत्ती तथा गधी होकर अपनी माता आदिके सगसे छूटकर दुर्गन्धा तथा दुःखिनी होती है ॥२७५॥

व्यभिचारिणी स्त्री पति विरहित (रण्डा) हो जाती है, वन्ध्या होती है, जिसके मरा हुआ पुत्र होता है, दुष्टा होती है, खोटे भाग्य वाली होती है, कुरूपिणी होती है तथा जन्म-जन्ममे नपुंसक पर्याय धारण करती है ॥२७६॥ इस प्रकार पापके फलको समझ कर उत्तम कुलमे उत्पन्न होनेवाली स्त्रीको चाहिये कि—पापके भयसे ऋतुके समयमे ऊपर कहे हुए विधानके अनुसार प्रयत्न पूर्वक रहे जिस तरह सिंहके भयसे मृगी रहती है ॥२७७॥ संहिता, आदि शास्त्रोंके अनुसार गृहस्थाश्रमका मैंने वर्णन किया। अब वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्षाश्रमका कथन किया जाता है ॥२७८॥ पहले जो उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लकका इसी ग्रन्थमे वर्णन किया जा चुका है उसे ही अपवादलिंगी तथा वानप्रस्थ भी कहते है ॥२७९॥ जो विशुद्ध अट्ठाईस मूल गुण पालन करनेवाले हैं तथा उत्सर्ग लिंग (मुनिलिंग) के धारण करनेवाले हैं सहनशील वे महात्मा भिक्षु (साधु) कहे जाते हैं ॥२८०॥ वस्त्र-रहितपना, शिरके केशोंका लोच करना, आभरण-रहित संस्कार तथा पिच्छी धारण करना इस तरह उत्सर्ग लिंग चार प्रकार है ॥२८१॥ वे तपोधन (साधु लोग) भिक्षा वृत्तिसे आहार लेते हैं, वनमे निवास करते है, बहुत थोडा जीमते हैं, न बहुत बोलते ही है और न अधिक निद्रा लेते है ॥२८२॥ ऋषि, मुनि, साधु तथा यति इस प्रकार भिक्षुकके चार विकल्प हैं। इनका विस्तार तो हम कहाँ लों वर्णन करें परन्तु बहुत थोडेमे कहते हैं इसलिये हे राजन्! उसे तुम सुनो ॥२८३॥ ऋषि सम्बन्धी शास्त्रोमे जिनदेवने राजर्षि, परमर्षि, देवर्षि तथा ब्रह्मर्षि

विक्रियाऽक्षीणऋद्धीशो य स राजर्षिरीरित । परमर्षिर्जगद्वेत्ति केवलज्ञानचक्षुषा ॥२८५
वुद्धयौषधर्द्धिसम्पन्नो ब्रह्मर्षिरिह भाषित । नभस्तलविसर्पी यो देवर्षि परमागमे ॥२८६
प्रत्यक्षं त्रिविधं ज्ञानमवधिश्चित्तपर्यये । केवलं तद्धरप्रोक्तो मुनिर्मुनिर्जिनोत्तमैः ॥२८७
अप्रमत्तगुणाच्छ्रेणी क्षपकोपशमाभिधे । एकत्राऽऽरोहणं कुर्याद्यस्तयो स यतिर्भवेत् ॥२८८
एभ्यो गुणेभ्य उक्तेभ्यो यो बिभर्त्ति परान्गुणान् । ज्ञानर्द्धिनिष्कषायोत्थान्स साधु समयोदित ॥२८९
जिनलिङ्गधरा सर्वे सर्वे रत्नत्रयात्मकाः । भिक्षवस्त्वृषिमुख्या ये तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे ॥२९०
त्र्यूना कोटयो नवाऽसीषा संख्योत्कर्षतया मता । मुमुक्षूणा प्रमत्ताद्ययोगिपर्यन्तवासिनाम् ॥२९१
धर्माऽऽधेयस्य चाऽऽधाराश्चत्वारस्त्वाश्रमा मया । प्रोक्ता ग्रन्थानुसारेण ज्ञातव्यास्ते मनीषिभि ॥२९२

आद्याऽऽश्रमेऽभ्यस्य जिनागमं यो मेधाऽनुसारेण गृही च भूत्वा ।
स्वाचारनिष्ठो भवति त्रिशुद्धया सन्न्यस्य सोऽप्यामरशं लभेत ॥२९३
गृहाऽऽश्रमं य परिहृत्य कोऽपि तं वानप्रस्थं कतिचिद्दिनानि ।
प्रपाल्य भिक्षुर्जिनरूपधारी कृत्वा तपोऽनुत्तरमेति मोक्षम् ॥२९४

इस प्रकार ऋषियोके चार भेद किये है ॥२८४॥ जो मुनिनाथ विक्रियाऋद्धि तथा अक्षीण ऋद्धिके स्वामी हैं (जिन्हे उपर्युक्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई हैं) उन्हे राजर्षि समझना चाहिये । और जो अपने केवलज्ञान लोचनसे अखिल जगत्को जानते है उन्हे परमर्षि समझना चाहिये ॥२८५॥ जिन्हे वुद्धयर्द्धि तथा औपधर्द्धि प्राप्त हो गई है उन्हे परमागम (जिनशास्त्र) मे ब्रह्मर्षि कहा गया है और जो मुनिराज अपनी ऋद्धिके प्रभावसे आकाश मण्डलमे विहार करनेवाले हैं उन्हे देवर्षि कहते है ॥२८६॥ अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान ये जो तीन प्रत्यक्ष ज्ञान है इनके धारण करनेवाले जो मुनिराज है उन्हे जिन भगवान्ने मुनि कहा है ॥२८७॥ अप्रमत्त गुणस्थानसे—क्षपकश्रेणी तथा उपशम श्रेणी इस प्रकार जो दो श्रेणी है उन दोनोमे किसी एकपर आरोहण करे उसे यति समझना चाहिये ॥२८८॥ ऊपर कहे हुए गुणोसे आगेके ज्ञानऋद्धि तथा कषायोकी मन्दतासे होनेवाले गुणोको जो धारण करता है उसे शास्त्रोमे साधु कहा गया है ॥२८९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही जिनका आत्मा है और जिनलिङ्ग (मुनिलिङ्ग) धारण करनेवाले है उन्हे भिक्षु तथा ऋषि कहना चाहिये । उन ऋषि-मुख्योके लिए मेरा निरन्तर नमस्कार है ॥२९०॥ शिव सुखकी अभिलाषा करनेवाले तथा प्रमत्त गुणस्थानको आदि ले अयोगिगुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानोके धारण करनेवाले इन मुनियोकी उत्कृष्ट सख्या तीन न्यून नव कोटी कही गई है ॥२९१॥ धर्म रूप जो एक आधेय वस्तु है उसके आधारभूत ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्षवाश्रम ये जो चार आश्रम है इनका शास्त्रोके अनुसार मैंने वर्णन किया । बुद्धिमानोको ये चारो आश्रम जाननेके योग्य हैं ॥२९२॥ जो भव्यात्मा अपनी वुद्धिके अनुसार पहले ब्रह्मचर्याश्रममे जिन सिद्धान्तका अध्ययन कर इसके वाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करके, मन वचन तथा कायकी शुद्धिपूर्वक अपने गृहस्थाश्रम सम्वन्धी आचारके पालन करनेमे दृढ होता है वह अन्त समयमे सन्यास (सल्लेखना) धारण करके स्वर्ग सुखको प्राप्त होता है ॥२९३॥ और जो शिवसद्माभिलाषी भव्य पुरुष गृहस्थाश्रम छोडकर और कितने दिवस-पर्यन्त वानप्रस्थाश्रमका यथाविधि पालन करके जिनराज समान यथाजातरूप (मुनिचिन्ह) का धारक होता है वह नाना प्रकार दुष्कर तपश्चरणादि करके अन्तमे शिव (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥२९४॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
चतुराश्रमस्वरूपसूचनो नाम षष्ठोऽधिकार ॥६॥

सप्तमोऽधिकारः

भुक्त्यङ्गेहापरित्यागाद्ध्यानशक्त्याऽऽत्मशोधनम् । यो जीवितान्ते सोत्साहः साधयत्येष साधकः ॥१

उपासकस्य सामग्रीविकलस्येयमिष्यते । युक्तिः समग्रसामग्र्यां श्रेयस्करी जिनाकृतिः ॥२

विरक्ताः कामभोगेभ्यः कारणं प्राप्य किञ्चन । धीराः सङ्गं परित्यज्य भजन्ति जिनलिङ्गताम् ॥३

अनादिवामदृगपि पुमान्धृत्वा जिनाकृतिम् । स्वं स्मरन्समतां प्राप्तो मुच्यतेऽसंशयं क्षणात् ॥४

स्यात्तु नाश्यं बुधैर्नाङ्गं धर्मसाधनहेतुतः । केनोपायेन हा ! रक्ष्यमिति शोच्यं पतन्नतैः ॥५

स्वस्थो देहोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतीकार्यश्च रोगवान् । उपकारमगृह्णन्सन्सद्भिस्त्याज्यो यथा खलः ॥६

अवश्यं नाशिनेऽङ्गाय धर्मो नाश्यो न सौख्यदः । नष्टमङ्गं पुनर्लभ्यं धर्मोऽतीवाऽत्र दुर्लभः ॥७

धर्मक्षितावात्मघातो नैवास्त्यङ्गं समुज्झतः । क्रोधाद्युद्रेकतः प्राणान्शस्त्राऽऽद्यैर्हिंसतो हि सः ॥८

उपसर्गेण कालेन निर्णीतायुः क्षयोन्मुखम् । सन्न्यासं विधिवत्कृत्वा कुर्यात्फलवतीः क्रियाः ॥९

अरिष्टाऽध्यायमुख्योक्तैर्निमित्तैः साधु निश्चिते । मृत्यावाराधनाबुद्धेर्न चाऽऽरात्परमं पदम् ॥१०

जो उत्साहपूर्वक मरण समयमे भोजन, शरीर तथा अभिलाषाके त्यागपूर्वक अपनी ध्यान-जनित शक्तिसे आत्माकी शुद्धताको साधन करता है उसे साधक कहते हैं ॥१॥ साधककी यह वक्ष्यमाण विधि मुनिलिंग धारण करनेकी जिसके पास सामग्री नही है उस श्रावकके योग्य समझना चाहिये और जिसके मुनिलिंग धारण करनेकी सब सामग्री है उसके लिये तो फिर मुनिलिंग धारण करना ही कल्याणकारी है ॥२॥ जो लोग संसारमे कुछ भी कारणको पाकर काम भोगादिसे उदासीन होते हैं वे ही धीर पुरुष परिग्रह छोडकर मुनिलिंग स्वीकार करते हैं ॥३॥ जिनलिंगको अगीकार करके अनादिमिथ्यादृष्टि पुरुष भी अपने आत्माका स्मरण करता हुआ समभावको प्राप्त होकर निस्सन्देह क्षणभरमे संसारसे छूट जाता है ॥४॥ बुद्धिमानोंको अल्प दिन रहनेवाला जो यह शरीर है इसे धर्म-साधनका कारण होनेसे नाश नही करना चाहिये। तथा यह स्वभावसे ही नाश होनेवाला है इसलिये इसके नाश होते समय हाय ! ! ! अब कैसे इसको रक्षा करूँ ऐसा शोक भी नही करना चाहिये ॥५॥ जिस समय शरीर स्वस्थ हो उस समय तो उसका अनुवर्तन करना चाहिये और जब व्याधिसे समाकीर्ण हो तो निरोग होनेके लिये औषधादि उपचार करना चाहिये। परन्तु जब देखा कि अब यह बिल्कुल हमारे उपकारको स्वीकार नही करता है (सब तरहसे शिथिल होकर धर्मकार्यमे कुछ भी उपयोगमे नही आता है) तो उस समय इसे दुष्ट पुरुषके समान छोड देना चाहिए ॥६॥ अरे ! यह विनश्वर शरीर तो नियमसे नाश होनेवाला है, इसके लिये बुद्धिमानोको सुख देनेवाला धर्म नाश करना योग्य नही है। क्योंकि—शरीर यदि नाश भी हो गया तो वह फिर भी मिल सकता है, परन्तु धर्मका मिलना तो बहुत दुर्लभ हो जायगा ॥७॥ धर्म रूप पृथ्वीमे शरीर छोड़नेवाला पुरुष, 'इसने आत्मघात किया', ऐसा नही कहा जा सकता क्योंकि—क्रोधादिका उद्रेक होनेसे शस्त्रादिसे प्राणोकी हिंसा करनेवाला पुरुष ही आत्माघाती होता है ॥८॥ उपसर्गादिसे तथा वृद्धावस्थासे आयुको क्षयोन्मुख समझकर विधिपूर्वक सल्लेखना स्वीकार करके सर्व क्रियायोको सफल करना चाहिये ॥९॥ मरणसूचक अरिष्ट अध्यायमे

गाढापवर्त्तकवशाद्रम्भाव्याघातवत्सकृत् । विनश्यत्यायुषि प्रायमविचारं समाश्रयेत् ॥११
फलवत्क्रमत. पक्त्वा स्वत एव पतिष्यति । काये रागान्महाधैर्यः कुर्यात्सल्लेखनां शनैः ॥१२
देहस्य न कदाचिन्मे जन्ममृत्युरुजादय. । न मे कोऽपि भवत्येष इति स्यान्निर्ममस्तत ॥१३
पिण्डोऽयं जातिनामाभ्यां तुल्यो युक्त्या प्रयोजितः । पिण्डे चेत्स्वार्थनाशाय तदा तं परिहापयेत् ॥१४
श्रुतै. कषायमालित्य वपुश्चाऽनशनादिभि । मध्ये परगणं स्थेयात्समाधिमृतये यति ॥१५
सेवितोऽपि चिरं धर्मो विराद्धश्चेन्मृतौ वृथा। आराद्धेऽसावघं हन्ति तदात्वे जन्मसम्भवम् ॥१६
भूपस्येव मुनेर्धर्मे चिरायाऽभ्यासिनोऽस्त्रवत् । युद्धे वा भ्रश्यतो मृत्यौ कार्यनाशोऽयशोऽशुभम् ॥१७
साध्वभ्यस्तामृताध्वान्त्ये स्यादेवाऽऽराधको मुनि । प्रतिकूल महापाप किञ्चिन्नोदेति तस्य चेत् ॥१८

अनभ्यस्ताध्वनो जातु कस्याप्यस्याराधना भवेत् ।
प्रान्तेऽन्धनिधिलाभोऽसौ नालम्ब्यो धार्मिकैः सदा ॥१९

कहे हुए प्रधान कारणोसे आयुका निश्चय हो जानेपर जिन लोगोकी वुद्धि आराधना (सल्लेखना) के धारण करनेमे उत्साहित है उनके लिये मोक्ष स्थान दूर नही है ॥१०॥ अतिशय रोगादिके वशसे कदली तरुके समान एकदम आयुको विनष्ट होते हुए देखकर अविचार भक्त प्रत्याख्यानका आश्रय लेना चाहिए ॥११॥ जिस तरह पका हुआ फल वृक्षसे नियमसे गिर जाता है उसी तरह यह देह भी अपने आपही क्रम-क्रमसे जीर्ण (वृद्ध) होकर गिरेगा, ऐसा समझकर, धीर पुरुषोको अनुरागपूर्वक धीरे-धीरे सल्लेखना धारण करनी चाहिये ॥१२॥ ये जन्म, मरण तथा रोगादि सब देह (शरीर) के हैं मेरे ये कोई कभी नही है और न कोई मेरा है ऐसा समझ कर शरीरमे ममत्व परिणाम नही करना चाहिये ॥१३॥ पिण्ड (आहार) यह जाति (पुद्गल समुदाय रूप जाति) से तथा नाम (पिण्ड नाम) से शरीरके समान (जिस प्रकार शरीर पुद्गल समुदाय रूप है उसी तरह अन्न भी पुद्गल समुदाय रूप है और शरीरका जिस तरह पिण्ड नाम है उसी तरह अन्नका भी पिण्ड नाम है। अत शरीर तथा अन्न ये दोनो एक ही समान) है उस पिण्डका शरीरमे युक्तिपूर्वक उपयोग किया गया है तो अब जिस समय समझो कि शरीरकी सामर्थ्य घटती चली जा रही है उसी समय आहारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥१४॥ शास्त्र-बलके द्वारा कषायोको तथा उपवासादिसे शरीरको कृश करके समाधिमरणके लिये साधुगणके मध्यमे रहे ॥१५॥ अरे ! जो धर्म बहुत समय तक सेवन किया गया है यदि वह मृत्युके समय नाश कर दिया जायगा तो हम तो यही कहेगे कि—उस मनुष्यका धर्म सेवन निष्फल ही है और वही धर्म समाधिमरणके समय यदि आराधन किया जाय तो जन्म-जन्ममे उपार्जन किये हुए सब पाप कर्मोका नाश करता है ॥१६॥ जिस प्रकार बहुत काल पर्यन्त शस्त्र-विद्याके अभ्यास करने-वाले राजाका यदि युद्ध कालमे भ्रंश हो जाय तो उसके कार्यका नाश, लोकमे अयश तथा अशुभ होता है उसी तरह जिसने मुनिधर्मका चिरकाल पर्यन्त अभ्यास किया है यदि उसका मरण समय मे भ्रंश (धर्मसे पतन) हो जाय तो कार्यका नाश, लोकमे अकीर्ति तथा अशुभ होता है ॥१७॥ यदि मरण समयमे समाधिमरण करनेवाले पुरुषके समाधिमरणका प्रतिबन्धक कोई महापाप उत्पन्न न हो तो सम्यक् प्रकार समाधिमरणके मार्गका अभ्यास करनेवाला वह अन्त समयमे आराधक होता है ॥१८॥ जिसने समाधिमरणका अभ्यास नही किया है उस पुरुषके भी यदि आराधना हो जाय तो हो जाय। परन्तु धर्मात्मा पुरुषोको—समीपवर्ती यह अन्धनिधिका लाभ मरण समयमे स्वीकार करने योग्य नही है ॥१९॥ बुद्धिमान पुरुषोको दूर भी यदि मोक्ष है तो भी व्रत धारण

विधातव्यो दवीयस्यप्यमृते यतनो व्रते । व्रतात्स्व' समयक्षेपो वरं न निरयेऽव्रतात् ॥२०
दुर्भिक्षे चोपसर्गे वा रोगे नि प्रतिकारके । तनोर्विमोचन धर्मायाऽऽहु सल्लेखनामिमाम् ॥२१
सल्लेखना स सेवेत द्विविधा मारणान्तिकीम् । चतुर्द्धाऽऽराधनायाश्च स्मरन्नागमयुक्तित ॥२२
दृग्वोधवृत्ततपसा द्विधा साऽऽराधना मता । निश्चयव्यवहाराभ्या तदाऽऽराधकसूरिभि ॥२३
जीवादीना पदार्थाना श्रद्धानं दर्शन हि तत् । सशयादिव्यवच्छेदात्तज्ज्ञानं ज्ञानमुच्यते ॥२४
पापक्रियानिवृत्तिर्या व्रतादिपरिपालनात् । त्रयोदशप्रकारेण प्राज्ञैस्तद्वृत्तमीरितम् ॥२५
वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा द्वादशधा पुन । प्रायश्चित्तोपवासाद्यैस्तपस करणं तप ॥२६
एतेषामुद्वहनं निर्वाह साधनं च निस्तरणम् । उद्योतनं च विधिना व्यवहाराऽऽराधना प्रोक्ता ॥२७
आत्मनो दर्शनं दृष्टिर्ज्ञानं तज्ज्ञानतो भवेत् । स्थिरीभावाच्च चारित्रं तत्रैव तपनं तप ॥२८
निश्चयाऽऽराधना सेयं निर्विकल्पसमाधिभाक् । स्वसंवेदनमाख्यात. शून्यध्यानं च तन्मतम् ॥२९
सल्लेखनाऽथवा ज्ञेया वाह्याभ्यन्तरभेदत । रागादीनां चतुर्भुक्तेः क्रमात्सम्यग्विलेखनात् ॥३०

करनेमे प्रयत्न करना चाहिये । व्रतपूर्वक स्वर्गमे वहुत समयका व्यतीत करना तो अच्छा है परन्तु व्रत धारणके विना नरकमे जाना अच्छा नही है ॥२०॥

दुर्भिक्ष पडनेपर, उपसर्गादिके आनेपर तथा जिसका किसी प्रकार उपचार नही हो सकता ऐसे निरुपाय रोगके होनेपर धर्मके अर्थ शरीरके छोडनेको आचार्य लोग सल्लेखना कहते है ॥२१॥ उसे चाहिये कि – शास्त्रानुसार तथा युक्तिसे चार प्रकारकी आराधनाका स्मरणपूर्वक मरण समयमे होनेवाली दो प्रकारकी सल्लेखनाको धारण करे ॥२२॥ निश्चय तथा व्यवहारसे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तपके आराधन करनेको आराधनाके आराधन करनेवाले महर्षिलोग दो प्रकार आराधना वताते हैं ॥२३॥ जीव, अजीव, आश्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप इन नव पदार्थोके श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते है और सशय, विपरीत तथा अनध्यवसाय इन तीन मिथ्याज्ञान रहित जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते है ॥२४॥ व्रत तपश्चरणादिके पालन करनेसे पाप कर्मकी निवृति होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं उसे वुद्धिमान् पुरुपो ने तेरह प्रकारका वताया है ॥२५॥ प्रायश्चित्त तथा उपवासादिसे तपके करनेको तप कहते हैं वह वाह्यतप तथा आभ्यन्तरतप इस तरह दो भेद रूप है । फिर वही तप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्यादि तथा अनशन, अवमौदर्य वृत्तपरिसख्यादि भेदोसे वारह भेद रूप है ॥२६॥ इन सम्यग्दर्शनादि आराधनाओके धारण करनेको, निर्वाह करनेको, साधन करनेको तथा विधिपूर्वक उद्यापन करनेको व्यवहार आराधना कहते है ॥२७॥ अव निश्चय आराधनाका स्वरूप कहते है— अपने आत्माके श्रद्धानको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते है, आत्माके ज्ञानसे सम्यग्ज्ञान होता है, आत्मा स्थिर (निश्चल) होनेसे सम्यक्चारित्र होता है तथा आत्मामे ही तपनेको निश्चय तप कहते है ॥२८॥ इसी निश्चय आराधनाको निर्विकल्पसमाधि, स्वसवेदन तथा शून्यध्यान भी कहते हैं इस निश्चय आराधनामे अपने आत्माको छोडकर न तो किसीका ध्यान किया जाता है और न किसी दूसरे पदार्थका चिन्तवन करना ही होता है इसीलिए इसे निर्विकल्पसमाधि तथा शून्यध्यान आदि कहते है ॥२९॥ अथवा सल्लेखनाके वाह्य सल्लेखना तथा आभ्यन्तर सल्लेखना ऐसे दो भेद है । क्रम-क्रमसे रागादिके घटानेको आभ्यन्तर सल्लेखना कहते है और चार प्रकारके आहारके घटानेको वाह्य सल्लेखना कहते है ॥३०॥ राग, द्वेष, मोह, कपाय, शोक तथा भयादिका

रागो द्वेषश्च मोहश्च कषाय. शोकसाध्वसे । इत्यादीनां परित्याग साऽन्त सल्लेखना हिता ॥३१
अन्नं खाद्यं च लेह्य च पानं भुक्तिश्चतुर्विधा । उज्झन सर्वथाऽप्यस्या बाह्या सल्लेखना मता ॥३२
पुष्टोऽन्तेऽन्नैर्मलै पूर्ण. कायो न स्यातसमाधये । कार्श्यस्ततसाधुना युक्त्या शोध्यश्चैष तदीहया ॥३३
असंल्लिखत कषायांस्तनो सल्लेखनाऽफला । जडैर्दण्डयितु चैतान्वपुरेव हि दण्डयते ॥३४

प्रायो विधामदान्धाना कषाया सन्ति दुर्द्दमा. ।
येऽपि चाऽऽत्माङ्गभेदज्ञास्तान्दाम्यन्ति जयन्ति ते ॥३५

दुष्करा न तनोर्हानिर्मुने किञ्चाऽत्र सयम. । योगप्रवृत्तेर्व्यावर्त्य तदाऽऽत्मात्मनि युज्यताम् ॥३६

संयत श्रावको वान्ते कृत्वा प्राय जितेन्द्रिय ।
लीनः स्वाऽऽत्मनि च प्राणास्त्यक्त्वा स्यादुदितोदय ॥३७

दुर्दैवेनाऽप्यलं कर्त्तुं प्रविघ्नो भाविताऽऽत्मन । समाधिसाधने दक्षे गणे च गणनायके ॥३८
भ्रमता जन्तुनाऽनेनानन्ता प्राप्ता कुमृत्यव । समाधिपूतश्चैकोऽपि नाऽवापि चरमक्षण ॥३९
श्लाघ्यन्ते साधवोऽत्यन्तं प्रभावं चरमक्षणम् । भव्या समाहिता यत्र प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥४०

जो त्याग करना है उसे हितकारी आभ्यन्तर सल्लेखना कहते है ॥३१॥ अन्न, खाने योग्य वस्तु, स्वाद लेने योग्य वस्तु तथा पीने योग्य वस्तु इस प्रकार चार प्रकार भुक्तिका सर्वथा त्याग करने को वाह्य सल्लेखना कहते हैं ॥३२॥ नाना प्रकारके अन्नादिसे अहोरात्र पुष्ट किया हुआ तथा पुरीष मूत्र, कफादि मलसे पूर्ण यह शरीर यदि मरण समयमे समाधिसाधनके लिए न हो तो साधु पुरुपोको चाहिये कि—इसे युक्ति पूर्वक आहारादिके त्यागसे कृश करे तथा सल्लेखनाकी अभिलापासे शुद्ध करे ॥३३॥ कषायोको कृश नही करनेवाले मनुष्योको शरीरका कृश करना निष्फल है क्योकि कपायोके कृश करनेके लिये शरीर कृश करना मूर्ख लोगोका काम है ॥३४॥ जो लोग ऐसा समझते हे कि—पहले शरीरको कृश करना चाहिये, शरीरके कृश हो जानेसे कपाये तो अपने आप कृश हो जायगी। उनका ऐसा समझना भ्रम है। क्योकि पहले कषायोको कृश करने वाले भव्य पुरुषोके ही शरीरका कृश करना सार्थक समझा जाता है इसलिये पहले कषायोको मन्द करना योग्य है। जो लोग अन्नके मदसे अन्ध है उनके लिये कषाये वहुत ही दुर्दमनीय हे और जो लोग आत्मा तथा शरीरके भिन्न भावको जाननेवाले हैं वे ही इन कषायोका दमन (नाश) करते हैं और विजय प्राप्त करते हैं ॥३५॥ मुनियोको शरीरका त्याग करना बहुत कठिन नही है किन्तु शरीर छोडते समय सयमका रहना वहुत ही कठिन हे। इसलिए मन वचन तथा कायकी प्रवृत्तिको रोककर अपने आत्माको आत्मामे लगाना चाहिये ॥३६॥ जो इन्द्रियविजयी सयमी अथवा श्रावक अन्त समयमे अनशन (उपवास) करके तथा अपने आत्मस्वभावमे लीन होकर प्राणोको छोडता है वह उत्तरोत्तर उदयशाली होता है ॥३७॥ समाधिके साधन करनेमे योग्य ऐसे निर्यापकाचार्य अथवा सघमुनी आदि महात्माओके विद्यमान रहते हुए समाधिमरण करनेवाले भव्यात्मा पुरुपोको दुर्दैव (प्रतिकूल कर्म) भी विघ्न करनेको समर्थ नही हो सकता ॥३८॥ अहो! चिरकालसे अपार ससारमे पर्यटन (भ्रमण) करते हुए इस जीवके कुमरण तो अनन्त वार हुए, परन्तु समाधि (सल्लेखना) से पवित्र मरण एक भी समय नही हुआ ॥३९॥ साधु लोग मरण समयमे होनेवाले अन्तिम समयकी वहुत प्रशसा करते हैं जिस अन्तिम समयमे भव्यपुरुष सावधान मन होकर परम पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥४०॥ सन्यास (सल्लेखना) के अभिलाषी

सन्न्यासार्थी ज्ञकल्याणस्थानमत्यन्तपावनम् । आश्रयेत्तु तदप्राप्तौ योग्यं चैत्यालयादिकम् ॥४१
प्रस्थित स्थानतस्तीर्थे म्रियते यद्यवान्तरे । स्यादेवाऽऽराधकस्तद्धि भावना भवनाशिनी ॥४२
ममत्वाद्द्वेषरागाभ्या विराधकेन येन हि । विराद्धो यस्तं क्षमयेत्क्षाम्येत्तस्मै त्रिधा च स ॥४३
तीर्णो जन्माम्बुधिस्तैर्यै क्षमणं क्षामणं कृतम् । क्षमयता न क्षाम्यन्ति ये ते स्युर्दु खितो भवे ॥४४
योग्ये मठादौ काले च स्वापराधं म सूरये । निवोक्त्वाशोधितस्तेन नि शल्योऽध्वनि सञ्चरेत् ॥४५
सविशुद्धिसुधासिक्तो यथाविधि समाधये । प्राग्वोदग्वा शिर कृत्वा शान्तधी. संस्तर भजेत् ॥४६
संस्थानत्रिकदोषायाऽप्यापवादिकलिङ्गिने । महाव्रतेहिने लिङ्ग दद्यादौत्सर्गिकं तदा ॥४७
कक्षापटेऽपि मूर्च्छितत्वादार्यो नार्हति तद्व्रतम् । आर्यिका साटकेऽमूर्च्छत्वाद्भाक्तं च सदार्हति ॥४८
ह्लीको महर्द्धिको वा यो मिथ्यादृक् प्रौढबान्धव । नाग्न्यं पदे विविक्ते सः साधुलिङ्गोऽपि नार्हति ॥४९
यदापवादिकं प्रोक्तमन्यदा जिनपै. स्त्रिय । पुंवद्भण्यते प्रान्ते परित्यक्तोपधे किल ॥५०
वपुरेव भवो जन्तोर्लिङ्गं यच्च तदाश्रितम् । तद्ग्रहं जातिवत्तत्र मुक्त्वा स्वात्मगृहं श्रयेत् ॥५१

पुरुषोको चाहिये कि—जिस स्थानमे जिन भगवान्का ज्ञान कल्याण हुआ है ऐसे पवित्र स्थानका आश्रय करे और यदि ऐसे स्थानोकी कारणान्तरोसे प्राप्ति न हो सके तो जिन मन्दिरादि योग्य स्थानोका आश्रय करे ॥४१॥ किसी तीर्थ स्थानमे जानेके लिये गमन किया हो ओर वहातक पहुँचने के पहले ही यदि मृत्यु हो जाय तो भी वह आराधक होता ही है क्योकि–समाधिमरणके लिए की हुई भावना भी ससारके नाश करनेवाली है ॥४२॥ ममत्वसे, द्वेपसे अथवा रागसे अपने द्वारा जिसे दु ख पहुँचा है उसमे क्षमा करावे तथा जिसके द्वारा अपनेको दु ख पहुँचा हो उसपर मन वचन कायसे क्षमा करें ॥४३॥ उन महात्मा पुरुषोने इस जन्म रूप समुद्रको तिरकर पार कर लिया है जिन्होने स्वय क्षमा की है अथवा दूसरोसे क्षमा कराई है और जो लोग अपने ऊपर क्षमा करने वाले पुरुषोपर क्षमा नही करते है वे लोग नियमसे भव-भवमे दु खी होते है ॥४४॥ योग्य मठादि स्थानमे तथा योग्य कालमे अपने अपराध (पाप) को मन वचन तथा कायसे आचार्य महाराजके समीप निवेदन करके और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्तसे शुद्ध (निर्दोप) होकर शल्य-रहित रत्नत्रय सम्पादन करनेके मार्गमे विहार करे ॥४५॥ यथाविधि विशुद्धता रूप अमृतसे सिंचित होकर समाधिमरणके लिए उत्तर दिशाकी ओर अथवा पूर्व दिशाकी ओर अपना मस्तक करके शान्तिपूर्वक सस्तरका आश्रय लेना चाहिये ॥४६॥

जिसके दोनो अण्डकोप और लिंग इन तीनो स्थानोमे दोप हो और अपवाद लिंग (सग्रन्थवेप) धारण करनेवाला हो किन्तु जो महाव्रत लेनेकी अभिलापा रखता हो उसके लिए आचार्यको चाहिये कि उत्सर्गलिंग (मुनिलिंग) देवें ॥४७॥ कक्षापट (लगोट) मात्रमे भी मूर्च्छा होनेसे आर्य (ऐलक) महाव्रत धारण करने योग्य नही है और साटिका (साडी) मे मूर्च्छा के न होनेसे आर्यिका महाव्रत धारण करने योग्य कही जाती है ॥४८॥ जो लज्जावान है, ऐश्वर्यशाली है, मिथ्यादृष्टि है, अथवा जिसके बहुत कुटुम्ब लोग हैं ऐसा पुरुष यदि उक्त दोष-रहित प्रशस्त लिङ्गका धारी भी क्यो न हो तो भी वह जन समुदायमे नग्नचिह्न धारण करने योग्य नही है ॥४९॥ स्त्रियोके लिए जिन भगवान्ने अपवादलिंग कहा है परन्तु अन्त समयमे जिन स्त्रियोने परिग्रहादि उपाधि छोड दी हैं उन्हे भी पुरुषोके समान औत्सर्गिक लिंग कहा है ॥५०॥ जीवोको शरीरका प्राप्त होना इसे ही तो संसार कहते हैं इसलिए शरीरके आश्रित ब्राह्मणादि जातिके

अन्यद्रव्यग्रहादेव यद्बद्धोऽनादिचेतन । तत्स्वद्रव्यग्रहादेव मुच्यतेऽतस्तमाद्रियात् ॥५२
विवेकिना विशुद्धेन त्यक्तं येन समाधिना । । जीवितं तेन किं प्राप्तं नाऽपूर्वं वस्तु वाञ्छितम् ॥५३
गुरौ समर्पयित्वा स्वं भिदारोप्य महाव्रतम् । निर्वासा भावयेदेव तदनारोपितं परम् ॥५४
गुर्विनियुज्य तत्कार्ये यथायोग्यं गुणोत्तमान् । यतीस्तं बहु संस्कुर्यात्स त्वार्याणां महामख ॥५५
कल्प्या बहुविधां भुक्तिं प्रदर्श्येष्टां तमाश्रयेत् । जडत्वात्तत्र रज्यन्त ज्ञानवाक्यैर्निषेधयेत् ॥५६
भो जितेन्द्रिय ! मार्गज्ञ ! ऋषिपुङ्गव ! सद्यश । इमे किं प्रतिभासन्ते पुद्गलास्तेऽद्य सौख्यदा ॥५७
न सोऽस्ति पुद्गल कोऽपि यस्त्वया स्वाद्य नोज्झित । अस्य मूर्त्तस्य तेऽमूर्त्तेरुपकार कथं भवेत् ॥५८
शुद्धो बुद्धः स्वभावस्ते स एव स्वहितावह । सुखमिन्द्रियजं दु खकारण स्वास्थ्यवारणम् ॥५९
यन्मन्यते भवानेवं भुञ्जेऽहं सुखदायिनीम् । एना भुक्तिं समालम्ब्य करणैरनुभवन्ननु ॥६०
इमां ततोऽधुना भ्रान्तिं निरस्य स्फुरतीं हृदि । सोऽयं क्षणोऽस्ति ते यत्र जाग्रति स्वहिते चणा ॥६१

समान शरीरका आश्रय करके रहनेवाले नग्नत्व आदि लिंग है उन्हे मृत्युके समय छोडकर अपने आत्म-चिन्तवनमे निमग्न होना चाहिये ॥५१॥ जो यह अनादिचेतन दूसरे द्रव्योके ग्रहणसे ही बधा हुआ है वह अपने द्रव्य (आत्मद्रव्य) के ग्रहण करनेसे ही दूसरे द्रव्यके सम्बन्धसे रहित होगा। इसलिए अपने आत्मद्रव्यको ही ग्रहण करना चाहिये ॥५२॥ जिस विचारशील मानवने विशुद्ध समाधिपूर्वक अपने जीवनका परित्याग किया है (सल्लेखना पूर्वक मरण किया है) उसने ससारमे ऐसी मनोभिलषित अपूर्व वस्तु क्या है जिसे न पाई हो ? अर्थात् सभी अवश्य पाई है ॥५३॥ जो दिगम्बर हो गये है उन्हे अपनेको अपने गुरुके अधीन करके और अपनेमे महाव्रतका आरोप करके भावना भानी चाहिये। अर्थात्—मैं महाव्रतका धारक हू और जिसने जिन दीक्षा नही ली है अर्थात्—वस्त्र सहित है उसे—अपनेमे महाव्रतका आरोप न करके महाव्रतकी भावना भानी चाहिये ॥५४॥ गुरु (आचार्य) को चाहिये कि मोक्षसाधनादि उत्तम गुणोके पात्र सयमी श्रावकोको उनकी योग्यतानुसार उसके कार्य (धर्मकथा सुनाना तथा मलोत्सर्गादिक्रिया कराना आदि) मे नियोजित करके उसमे रत्नत्रयका सस्कार करावे, क्योकि रत्नत्रयका सस्कार करना आर्य पुरुषो का बडा भारी यज्ञ है ॥५५॥ यदि कोई सल्लेखना स्वीकार करनेके तथा अन्न-जलका त्याग करने के पश्चात् भक्तपानकी इच्छा प्रकट करे तो उसके ग्रहण करने योग्य अनेक प्रकारकी उत्तम भोजन सामग्री उसे दिखाकर भोजनके लिए देनी चाहिये। यदि अज्ञानतासे उसमे आसक्त होने लगे तो उसी समय नाना प्रकारके धर्म सम्बन्धी आख्यानो (कथाओ) को सुनाकर भोजनसे विरक्त करना चाहिये ॥५६॥ हे इन्द्रियोके जीतनेवाले ! हे जिनमार्गके जानने वाले ! हे ऋषियोमे उत्तम ! हे सत्कीर्त्ति भाजन ! क्या आज ये पुद्गल तुम्हे सुखके देनेवाले मालूम पडते है ॥५७॥ इस लोकाकाश मे ऐसा कोई पुद्गल नही बचा है जिसे तुमने भोगकर न छोडा हो, दूसरे यह पुद्गल मूर्त्तीक पदार्थ है तो अब तुम्ही कहो कि—इस मूर्त्तीकसे तुम्हारे अमूर्त्तीक आत्मद्रव्यका उपकार कैसे हो सकता है ? ॥५८॥ शुद्ध तथा ज्ञायकस्वभाव तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है और वही आत्महितका कारण है। इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख है वह दु खका हेतु तथा आत्मस्थभावका नाश करने वाला है ॥५९॥ ये भोजनादि केवल इन्द्रियोकी पूर्त्तिके कारण है ऐसा इन्द्रियोसे अनुभव करते हुए भी मैं सुख देनेवाला भोजन करता हूँ ऐसा जो तुम मान रहे हो ॥६०॥ परन्तु यह तुम्हारा भ्रम है। इसलिए अपने हृदयमे स्थित इस भ्रमको दूर करो ! तुम्हारे लिए यह वह समय है जिसमे आत्महितके लिए उद्यमशील पुरुष जाग्रत रहते हैं ॥६१॥ यह पुद्गल भिन्न वस्तु है और मै दूसरा

पुद्गलोऽन्योऽहमन्यच्च सर्वथेति विचिन्तय। अन्यद्रव्यग्रहावेशं येनोज्झित्वा स्वमाविशेः ॥६२
क्वचिच्चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तं चरेद्ध्रुवम्। तत्रैवोत्पद्य सौवर्णचिर्भिटामक्तसाधुवत् ॥६३
किन्त्वङ्गस्योपयोग्यन्नं तद्गृह्णातीदमाशु न। तत्तृष्णां त्यज भिन्धि स्वं कायाद्रुन्ध्यशुभाश्रवम् ॥६४
वितृष्णं क्षपक कृत्वा सूरिरेतद्वचोऽमृतै। पोषयेत्स्निग्धपानेन परित्याज्याऽशनं क्रमात् ॥६५
षोढा पानं घनं लेपि सिक्थवत्सेतर तथा। प्रयोज्य कृशयित्वा च शुद्धपानं च पूरयेत् ॥६६
साधो! सल्लेखना तेऽन्त्या सेयं तमिति शिक्षयेत्। व्यतिक्रमपिशाचेभ्यः संरक्षैनां सुदुर्लभाम् ॥६७
आशंसा जीवित मृत्वो मित्ररागं सुखस्पृहाम्। निदान संस्तराऽऽरूढस्त्यजन्सल्लेखनां चरेत् ॥६८
सपर्याया सजन्नस्था मा शस प्राणितं स्थिरम्। बहिर्द्रव्यं वरं भ्रान्त्या को हास्यो नायुराशिषा ॥६९
क्षुदादिभयतस्तूर्णं माकार्षी मरणे धियम्। दुःखं सोढा शमाप्नोति मुमूर्षुर्दुःखमश्नुते ॥७०
रज क्रीडावता साकं मास्त्व मित्रेण रञ्जय। मोहदुश्चेष्टितैर्भुक्तैरतादृक्षैरलं बहु ॥७१

ही हूँ इस प्रकार विचारते रहो। और इसी पवित्र विचारसे पुद्गलादि द्रव्यके ग्रहणके आवेशको छोडकर अपने आत्मद्रव्यमे प्रवेश करो ॥६२॥ यदि किसी पुद्गलमे आसक्त होकर मरे तो नियमसे उसी जगह उत्पन्न होकर सचार करेगे जिस तरह मृत्यु समय एक साधु चिरभटी (ककड़ी) मे आसक्त होकर उसीमे कीडा हुआ था ॥६३॥

किन्तु यदि तुम यह समझो कि अब यह (आत्मा) शरीरकी स्थितिका कारण अन्न नही ग्रहण करता है तो उसी समय तृष्णाको छोडो। शरीरसे अपने आत्मद्रव्यको भिन्न करो। तथा पापबन्धके कारण खोटे आश्रवको रोको ॥६४॥ आचार्य महाराजको चाहिये—इस प्रकार सुमधुर अपने वचनामृतसे उस क्षपक (मुनि) वेषधारीको तृष्णारहित करके तथा धीरे-धीरे भोजन घटाकर स्निग्ध वस्तुओके पानेमे पोषण करे ॥६५॥ घनपान (दही आदि), अघनपान (फल-रस, काजी आदि), लेपिपान (जो हाथमे चिपकता हो), अलेपिपान (जो हाथमे नही चिपकता हो), सिक्थपान अन्नकण युक्त माड आदि, असिक्थपान अन्नकण-रहित माड इन छह प्रकार पेय पदार्थका प्रयोग करके और फिर क्रमसे एक-एक घटाकर केवल जलपान कराना चाहिये ॥६६॥ हे साधु! तुम्हारे लिए यह अन्तिम सल्लेखना है अतिशय दुर्लभतासे प्राप्त हुई है। इसलिए इसकी अतीचार रूप पिशाचसे रक्षा करो, इस प्रकार उपदेश देना चाहिये ॥६७॥ संस्तर (शय्या) पर सोये हुए भव्यात्मा पुरुषको चाहिये कि आगामी जीवनकी अभिलाषा, दुःख तथा उपसर्गादिसे मरणकी मनोभावना, मित्रमे अनुराग, पहले उपभोग किये हुए सुखोमे इच्छा तथा सल्लेखनाके माहात्म्यसे आगामी जन्ममे सुखाभिलाषा रूप निदान इन पाच अतीचारोको छोडकर सल्लेखना (समाधि) का सेवन करना चाहिये ॥६८॥ हे उपासक! लोगोसे किये हुए सत्कारमे आसक्त होकर यह कभी मत समझो कि यह जीवन चिरकाल पर्यन्त स्थिर रहनेवाला है, क्योकि ये बाह्यपदार्थ भ्रमसे मनोहर मालूम देते है तो फिर इस बाह्यवस्तु देहके जीवनकी इच्छा करनेसे तुम्हे कौन नही हसेगा? किन्तु सब तुम्हारी हसी करेंगे ॥६९॥ भूख प्यासकी आतुरतासे तथा रोग-उपसर्गादिकी यन्त्रणा (पीडा) से मृत्यु अच्छी है ऐसा विचार कभी मत करो। क्योकि दुःखोंके सहन करनेवाला सुखको प्राप्त होता है और मरणाभिलाषी दुःखोको भोगता है ॥७०॥ हे भव्य! जिसके साथ तुम धूलिमे खेले हो उस प्रणयी (मित्र) के साथ भी अब अनुराग मत करो। क्योकि—मूर्खतासे ऐसी खोटी-खोटी लीलाए बहुत की है अब इनसे कुछ साध्य नही है ॥७१॥ हे भद्र! स्नेहके हेतु शय्यादिमे भी

शय्यादौ कुत्रचित्प्रीतिविशेषे मा सज स्मृतिम् । भावितो विषयै प्राणी भ्रंशं भ्राम्यति जन्मनि ॥७२
एतत्फलेन राजा स्या स्वर्गी स्या भोगवानपि । निदान मा कुरुष्वेति निदानं विपदा ध्रुवम् ॥७३
दु खं स्याद्वा सुखं स्याद्वा मरणं स्यात्समाधिना । विना येनेन्द्रिय सौख्यमप्यभूद्दु खदं मम ॥७४
इति भावनया चैतदतिचारगणातिगाम् । साधु. सल्लेखना कुर्यान्निर्मलां सुखसिद्धये ॥७५
इति वृत्तशिखारत्नं जातसंस्कारमुद्धरन् । तीक्ष्णपानक्रमत्यागादयं प्राये प्रवेक्ष्यति ॥७६
सङ्घाय तु निवेद्यैवं गणिना चतुरेक्षिणा । सोऽनुज्ञात समाहारमाजन्म त्यजतात्त्रिधा ॥७७
रुजाद्यपेक्षया वाऽम्भः सत्समाधौ विकल्पयेत् । मुञ्चेत्तदपि चासन्नमृत्यु शक्तिक्षये भृशम् ॥७८
तदा सङ्घोऽखिलो वर्णिमुखग्राहितसत्क्षम । तदविघ्नसमाध्यर्थं दद्यादेकां तनूत्सृतिम् ॥७९
सन्न्यासिनस्तत कर्णे दद्युर्निर्यापका जपम् । संसारभीतिदं जैनैस्तर्पयन्तो वचोऽमृतै ॥८०
मिथ्यात्वं त्यज सम्यक्त्वं भज भावय भावना । भक्ति कुरु जिनाद्येषु त्रिशुद्ध्या ज्ञानमाविश ॥८१
व्रतानि रक्ष कोपादीञ्जय यंत्रय खान्यहो । परिषहोपसर्गांश्च सहस्व स्मर चात्मन ॥८२
तद्दु खं नास्ति लोकेस्मिन्नाभून्न च भविष्यति । मिथ्यात्ववैरिणा यन्न दीयते भवसंकटे ॥८३

अपनी स्मृतिको मत लगाओ, क्योकि इन विपयोके सम्वन्धसे ही तो यह अनुपम शक्तिशाली आत्मा ससारमे भ्रमण करता है ॥७२॥ हे सहनशील ! इस समाधिके प्रभावसे मैं राजा होऊँ, देव बनूँ, भोगवान होऊँ—विपत्तिकेन्द्र ऐसे निदानको कभी भूलके भी न करो ॥७३॥ हे उपासक ! इस सल्लेखनासे दु ख हो, सुख हों, अथवा मरण हो मुझे सव स्वीकार है, क्योकि—जिसके न होनेसे इन्द्रिय सम्वन्धी सुख भी मेरे लिए दु खके समान है ऐसी भावना करो ॥७४॥ इस प्रकार पवित्र भावनासे अतिचार-रहित निर्मल सल्लेखना शिवसुखकी सिद्धिके अर्थ साधु पुरुषको धारण करनी चाहिये ॥७५॥ इस प्रकार अभ्याससे उत्कर्षशाली अथवा सर्व व्रतमे उत्तम इस सल्लेखना का धारक यह श्रावक क्रमसे खरपान छोडकर चार प्रकार आहारका त्याग करेगा। विचारशील निर्यापकाचार्यसे इस प्रकार कहलाकर और फिर उनकी आज्ञानुसार सर्व प्रकारके आहारका मन वचन तथा कायसे त्याग करना चाहिये ॥७६-७७॥ पित्तकोप, उष्णकाल, जलरहित प्रदेश तथा जिसकी पित्तप्रकृति हो इत्यादि कारणोमेसे किसी एक भी कारणके होनेपर निर्यापकाचार्यको समाधिमरणके समय जल पीनेकी आज्ञा उसके लिए देनी चाहिये तथा शक्तिका अत्यन्त क्षय होने पर तथा निकट मृत्यु जानकर धर्मात्मा श्रावकको फिर जलका भी त्याग कर देना चाहिये ॥७८॥ उस समय सर्वसघको चाहिये कि उस ब्रह्मचारी श्रावकके मुखसे "तुमने जो हमारा अपराध किया है उसके लिए मैं क्षमा करता हूँ और जो मैंने तुम्हारा अपराध किया है उसके लिए तुम भी मेरे ऊपर क्षमा करो !" ऐसा कहलवाकर उसकी समाधि "सल्लेखना" मे किसी तरहका विघ्न न आवे इसलिये उसे तथा सर्वसघको कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥७९॥ इसके पश्चात् निर्यापकाचार्य को चाहिये कि—सल्लेखनाधारी पुरुपके कानमे ससारसे भय उत्पन्न करानेवाले नमस्कार मत्रादि का निरन्तर श्रवण कराते रहे तथा जिन वचनामृतोसे उसे तृप्त करते रहे ॥८०॥ हे जितेन्द्रिय ! अब तुम मिथ्यात्वको छोडो ! सम्यक्त्वका आश्रय करो ! अनित्य शरणादि वारह प्रकारकी भावनाओका चिन्तवन करो ! जिन भगवान्, आचार्य, उपाध्याय आदिमे मन वचन कायसे भक्ति करो तथा अपने आत्मज्ञानमे प्रवेश करो ॥८१॥ धारण किये हुए व्रतकी रक्षा करो ! क्रोधादिक पापोका विजय करो ! पञ्चेन्द्रियोको वश करो ! परीषह तथा उपसर्गादिको धैर्यपूर्वक सहन करो ! तथा अपने आत्माका चिन्तवन करो ॥८२॥ अहो ! जीवन ग्रहणकी परम्परासे पूर्ण इस अपार

मिथ्यात्व भावयन्संघश्रीर्भूयो बौद्धरोपितम् । धनदत्तसदस्याशु स्फुटिताऽक्षोऽपतद्भवे ॥८४
सम्यक्त्वसुहृदा यत्र प्राणिनो दीयते सुखम् । अधोमध्योर्द्ध्वभागेषु नास्ति नासीन्न भावि तत् ॥८५
ह्रासितोत्कृष्टश्वभ्राऽऽयुः श्रेणिक प्रथमाऽवने । निर्गत्य दृग्विशुद्ध्यैव तीर्थकर्त्ता भविष्यति ॥८६
अनित्याशृतिसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वत । आस्रव संवरो निर्जरा लोको धर्मदुर्लभौ ॥८७
द्वादशैता अनित्याद्या भावना प्रागभावित. । भावयेद्भाविना. प्रार्च्यमनःकपिवशीकृतौ ॥८८
जीवितं शरदब्दाभं धनमिन्द्रधनुर्निभम् । कायश्च संततापाय कोपेक्षामुत्र साधने ॥८९
वने मृगार्भकस्येव व्याघ्राऽऽघ्रातस्य कोपि न । शरण मरणे जन्तोर्मुक्त्वैकं धर्ममार्हतम् ॥९०
न तद्द्रव्यं न तत्क्षेत्र न स कालो भवो न स । भावश्च भ्रमताऽनेन ल्वात्वा मुक्त मुहुर्न यत् ॥९१
एक स्वर्गे सुखं भुङ्क्ते दु ख चैको भुवस्तले । मध्येऽपि तद्द्वयं चैको न कोऽप्यन्यः सखात्मनः ॥९२
चेतनादात्मनो यत्र वपुर्भिन्नं जडात्मकम् । तत्र तज्जादय किं न भिन्नाः स्यु कर्मयोगजा ॥९३
रेत शोणितसंभूते वर्च्चे कृमिकुलाऽऽकुले । चर्मावृते शिरानद्धे नृदेहे का सतां रति ॥९४

ससारमे ऐसा कोई दु ख नही है, न हुआ और न कभी होगा, जो मिथ्यात्वशत्रुके द्वारा न दिया जाता हो ॥८३॥ देखो – बौद्धगुरुके उपदेशसे वन्दक नाम कोई मानव मिथ्यात्वका चिन्तवन करता हुआ—धनदत्तकी सभामे अन्धा होकर ससार समुद्रमे गिरा ॥८४॥ पाताललोक मध्यलोक तथा ऊर्द्ध्वलोकमे ऐसा कोई सुख नही है, न हुआ तथा न कभी आगामी होगा जो सुख इस आत्माको सम्यक्त्व रूप मित्रके प्रभावसे प्राप्त न होता हो ॥८५॥ ससारमे ऐसा तो कोई दु ख नही है जो मिथ्यात्वके सेवनसे न भोगना पडता हो तथा ऐसा कोई सुख भी नही है जो सम्यक्त्वके सेवनसे न मिलता हो । इसलिए अब हे साधो, तुम मिथ्यात्वको छोडकर सम्यक्त्वको ही धारण करो । देखो । इसी सम्यक्त्वके प्रभावसे महाराज श्रेणिकने सप्तम नरककी उत्कृष्ट स्थितिको घटाकर न्यून कर दी तथा इसी सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे प्रथम नरकसे निकलकर आगे त्रिभुवन महनीय तीर्थंकरका अवतार धारण करेंगे ॥८६॥ अपने मनरूपी वन्दरको यदि तुम वश करनेकी अभिलाषा रखते हो तो—पूर्वकालमे धर्मात्मा पुरुषोने जिन्हे चिन्तवन किया है तथा पहिले जिनकी तुमने भावना नही की है, ऐसी अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, धर्म तथा वोधि दुर्लभ ये जो द्वादश भावनाएं हैं इनका निरन्तर हृदयमे आराधन करो ॥८७-८८॥ यह जीवन शरत्कालीन मेघके समान क्षणनश्वर है, धन इन्द्रधनुषके समान अवलोकन करते-करते नाश होनेवाला है तथा यह शरीर भी निरन्तर विनाश-युक्त है इस प्रकार अपने लोचनोके सामने सर्व वस्तुओको विनश्वर देखनेपर भी परलोक साधनमे क्या उपेक्षा करनी चाहिये ॥८९॥ जिस प्रकार निर्जन अरण्यमे सिहके पजेमे फसे हुए मृगशावकको वचानेके लिए कोई समर्थ नही है । उसी प्रकार इस जीवको यमराजके पजेमे फस जानेपर जिन धर्मको छोडकर कोई शरण नही है ॥९०॥ न तो वह द्रव्य है न वह क्षेत्र है न वह काल है न वह भव है तथा न भाव है जिसे—असार ससारमे भ्रमण करते हुए इस आत्माने वार-वार ग्रहण करके न छोडा हो ॥९१॥ एक तो स्वर्गमे सुखका उपभोग करता है और एक पृथ्वीतल (नरक) मे निरन्तर दु खो को भोगता है तथा मध्यलोकमे सुख तथा दु:ख ये दोनो ही हैं परन्तु इस आत्माका तो दोनोमेसे कोई भी मित्र नही है ॥९२॥ चेतन स्वभाव आत्मासे जड स्वरूप यह शरीर ही जब भिन्न है तो उस शरीरके सम्बन्धसे तथा कर्मके परिपाकसे होनेवाले ये मित्र पुत्र कलत्रादि क्या भिन्न नही हैं अर्थात् अवश्य भिन्न है ॥९३॥ वीर्य तथा शोणित (रक्त) से उत्पन्न होनेवाला, विष्टा तथा कोडो

मिथ्यात्वादिचतुर्द्वारै कर्माऽऽश्रवति देहिन । छिद्रैर्वारीव पोतस्य शुभाऽशुभमिहाम्बुधौ ॥९५
द्रव्यभावाश्रवस्यास्य निरोध संवरो मत । सम्यक्त्वविरतिप्रष्ठै स विधेयो मुमुक्षुभि. ॥९६
कर्मणामेकदेशेन गलनं निर्जराऽऽत्मन । तपसा सा विपाकेन सकामाऽऽकामतो द्विधा ॥९७
लोक्यते दृश्यते यत्र जीवाद्यर्थकदम्बक । स लोकस्त्रिविधोऽनादिनिधन पुरुषाकृति ॥९८
दयादिलक्षणो धर्म सर्वज्ञोक्त स्वशक्तितः । पतन्त दुर्गतो धत्ते चेतन सुखदे पदे ॥९९
हित्वा वोधि समाधि च राज्यभोगादिसम्पदाम् । मध्ये नो दुर्लभ किञ्चित्पुरा बंभ्रमतो मम ॥१००
भावना षोडशाप्यत्र भावनीया महात्मना । सद्दर्शनविशुद्धयाद्यास्तीर्थकृत्त्वप्रदायिका ॥१०१
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यमिति भावना. । भावनीया सदाप्राज्ञैर्मरणे किं न युक्तित ॥१०२
क्षन्तव्य सह सर्वैर्मे मयि ते च क्षमन्त्विति । जीवा ज्ञानमया एत भाव्या मैत्री च मित्रवत् ॥१०३
ये द्विधाऽऽराधनोपेता मूलोत्तरगुणान्विता' । प्रमोदस्तेषु कर्त्तव्यो धनिष्विव दरिद्रिणा ॥१०४
रोगशोकदरिद्राद्यै पीडिता येऽत्र जन्तव । तेषा दु खप्रहाणेच्छा कारुण्य क्रियतामिति १०५

के समूहसे पूर्ण, चर्मसे आच्छादित तथा नाडीसे वधे हुए इस अत्यन्त अपवित्र गरीरमे सज्जन पुरुषोका अनुराग कैसे सभव है ॥९४॥ जिस प्रकार समुद्रमेसे छिद्रोसे जहाजमे जल आता रहता है उसी तरह मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद तथा कषाय इन चारोके द्वारा इस आत्मामे शुभ तथा अशुभ कर्मोका आश्रव होता रहता है ॥९५॥ सम्यग्दर्शन और विरति (सयम) के धारक तथा जिनके हृदयमे ससारसे छूटनेकी उत्कट अभिलाषा है उन्हे चाहिये कि द्रव्याश्रव तथा भावाश्रवके रोकने रूप जो सवर है उसे धारण करे ॥९६॥ पूर्व वँधे हुए कर्मोका एक देशसे जो गलना (नाश होना) है उसे निर्जरा कहते है। वह निर्जरा तपादिसे तथा कर्मोके विपाकसे सकामनिर्जरा तथा अकामनिर्जरा इस प्रकार दो भेद रूप है ॥९७॥ जिस जगह जीव, अजीव आदि पदार्थोका समूह अवलोकन किया जाय वह अनादि निधन तथा पुरुषाकार लोक ऊर्द्ध्वलोक मध्यलोक तथा अधो-लोक इन भेदोसे तीन भेद रूप है ॥९८॥ जिसका सर्वज्ञ भगवान्‌ने उपदेश दिया है तथा जिसमे जीव मात्रकी रक्षा करना ही प्रधान माना गया है वही यथार्थमे धर्म है और वही धर्म दुर्गतिमे गिरते हुए इस आत्माको अपनी सामर्थ्यसे निकालकर सुखदायक मोक्षादि स्थानमे स्थापित करता है ॥९९॥

पहले पुन पुन ससारमे भ्रमण करते हुए मेरे लिये राज्य भोगादि विभूतिके वीचमे वोधि (ज्ञान) तथा समाधिको छोड कर और कोई वस्तु कुछ भी दुर्लभ नहीं थी। यदि दुर्लभ थी तो यही वोधि तथा समाधि ॥१००॥ भव्यपुरुषोको तीर्थंकर पदकी देनेवाली दर्शन-विशुद्धि, विनय, शीलव्रत आदि षोडश भावना भानी चाहिये ॥१०१॥ जीवमात्रमे मैत्री, अपनेसे जो गुणोमे उत्कर्षशाली है उनमे प्रमोद (हर्ष), जो जीव आर्त्तिसे पीडित है उनमे करुणा भाव तथा जो अविनयी है उनमे मध्यस्थ भाव इस प्रकार ये चार भावनाएँ वुद्धिमान् पुरुषोको मृत्युके अवसरमे क्या युक्तिपूर्वक नही भानी चाहिये ? अवश्य भानी योग्य है ॥१०२॥ मुझे सवके साथ क्षमा भाव रखना चाहिये तथा वे सव मेरे साथ क्षमा-भाव रखें क्योकि सव जीव ज्ञानस्वरूप है। इसलिये मुझे अपने मित्रके समान मानने चाहिये ॥१०३॥ जिस प्रकार दरिद्र पुरुष धनवानको देखकर हर्षित होते है उसी तरह जो दो प्रकारकी आराधना सहित है तथा मूलगुण और उत्तर गुणोसे युक्त है उन महात्मा पुरुषोमे धर्मात्मा पुरुषोको सदैव प्रमोदभाव रखना चाहिये ॥१०४॥ रोग, शोक, दरिद्रता आदिसे जो जीव दु खी है उनके दु खोंके दूर करनेकी अभिलाषाको कारुण्य कहते हैं। धर्मात्माओंको यह

अतिमिथ्यात्विनः पापा मद्यमांसातिलोलुपाः ।
नाराध्या न विराध्यास्ते मध्यस्थमिति भाव्यते ॥१०६

जीवास्तु द्विविधा ज्ञेया मुक्ताः संसारिणोऽपरे । आद्या नित्यचिदानन्दा सम्यक्त्वादिगुणैर्युताः ॥१०७
अन्ये नारकतिर्यक्त्वनरदेवभवोद्भवा । एतेषा योनिभेदास्तु लक्षाश्चतुरशीतिका ॥१०८
नारकाणा चतुर्लक्षास्तिरश्चा द्व्यधिषष्टिका । नृणा चतुर्दश प्रोक्ताश्चतुर्लक्षा सुधासिनाम् ॥१०९
नित्येतरनिगोताग्निपृथ्वीवार्वायुकाङ्गिनाम् । प्रत्येकं सप्तसप्तैता वृक्षाणा दशलक्षकाः ॥११०
षड्लक्षा विकलाक्षाणा पञ्चाक्षाणा चतसृका । एवमेकत्र निर्दिष्टा लक्षा द्वाषष्टि योनयः ॥१११
अशुद्धनिश्चयेनैते चेद्रागादिमया खलु । तथापि शुद्धद्रव्येण मुक्तवद्गुणिनोऽखिला ॥११२
अतो ज्ञानमयत्वात्ते समाराध्या. किलाङ्गिन । भेदेन तेषु पञ्चैव परमेष्टिन उत्तमा ॥११३
परमेऽत्युत्तमे स्थाने तिष्ठन्ति परमेष्ठिन । ते चार्हत्सिद्ध आचार्य. पाठक साधुराख्यया ॥११४
स्वभावज्ञानजा मर्त्यविहिताऽतिशयान्वित । प्रातिहार्यैरनन्तादिचतुष्केन युतो जिन ॥११५
सिद्ध कर्माष्टनिर्मुक्तः सम्यक्त्वाद्यष्टसद्गुणः । जगत्पुरुषमूर्द्धवस्थ सदानन्दो निरञ्जन ॥११६
आचाराद्या गुणा अष्टौ तपो द्वादशधा दश । स्थितिकल्प षडावश्यमाचार्योऽमीभिरन्वित ॥११७

कारुण्यभाव भी रखना चाहिये ॥१०५॥ जो लोग महामिथ्यात्वी हैं तथा जो मदिरा मासादि अपवित्र पदार्थोमे अत्यन्त लोलुप हैं ऐसे लोगोकी न तो स्तुति करनी चाहिये और न उनसे विरोध ही करना चाहिये । इमे माध्यस्थ भाव कहते है । यह सदा भावने योग्य है ॥१०६॥ मुक्त जीव तथा ससारी जीव इस प्रकार जीवोके दो भेद हैं । उनमे मुक्तजीव नित्य चिदानन्द स्वरूप तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणोसे विभूपित है ॥१०७॥ ससारी जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव इस प्रकार चार भेद रूप हैं । इनके योनि भेद चौरासी लाख होते है ॥१०८॥ नारकी जीवोके चार लाख, तिर्यञ्चोके बासठ लाख, मनुष्योके चौदह लाख तथा देवोके चार लाख इस प्रकार सामान्यसे चौरासी लाख योनि भेद है ॥१०९॥ नित्यनिगोद सात लाख, इतरनिगोद सात लाख, अग्निकाय सात लाख, पृथ्वीकाय सात लाख, जलकाय सात लाख, वायुकाय सात लाख तथा वनस्पतिकाय दस लाख ये सव मिलाकर बावन लाख हुए ॥११०॥ तथा विकलेन्द्रिया (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियो) के छह लाख और पञ्चेन्द्रियोके चार लाख इस प्रकार ये सव मिलाकर (तिर्यञ्चो) के बासठ लाख भेद होते है ॥१११॥ अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे ये सव जीव रागादि स्वरूप है । परन्तु शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे सिद्धभगवान्‌के समान ही गुणी समझना चाहिये ॥११२॥ ये सव जीव ज्ञान स्वरूप हैं इसलिए तो सव ही आराधन करनेके योग्य है । परन्तु इनमे भेद करने से तो फिर पञ्चपरमेष्ठी ही उत्तम समझना चाहिये ॥११३॥ अव परमेष्ठी शब्दकी व्याकरण शास्त्रके अनुसार व्युत्पत्ति बताते हैं—परम अत्युत्तम स्थानमे जो रहनेवाले है उन्हे परमेष्ठी कहते है वे अर्हन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु नामसे प्रसिद्ध है ॥११४॥ दश, स्वभावसे (जन्मसे) उत्पन्न होनेवाले, दश, केवल ज्ञानके समयमे होनेवाले, चतुर्दश, देवताओके द्वारा होनेवाले, आठ प्रातिहार्य तथा चार अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनादि, इस प्रकार छ्यालीस अतिशयोसे जो विभूपित हैं उन्हे अर्हन्त कहते है ॥११५॥ ज्ञानावरणादि आठ कर्मोसे रहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणोमे विराजमान, लोकाकाशके ऊपर स्थित, सतत आनन्द मडित तथा निरजन (कर्ममलादि रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् है ॥११६॥ दर्शनाचार, ज्ञानाचारादि पच आचार, तीन गुप्ति, बारह प्रकार तपका स्थिति कल्प, आचेलक्यादि दश प्रकार तथा छह आवश्यक कर्म इन छत्तीस गुणोके जो धारक

एकादशाङ्गसत्पूर्वचतुर्दशश्रुतं पठन् । व्याकुर्वन्पाठयन्नन्यानुपाध्यायो गुणाग्रणी ॥११८
दर्शनंज्ञानचारित्रत्रिकं भेदेतरात्मकम् । यथावत्साधयन्साधुरेकान्तपदमाश्रित. ॥११९
भजनीया इमे सद्भि सम्यक्त्वगुणसिद्धये । स्नानपूजनसद्ध्यानजपस्तोत्रसदुत्सवै ॥१२०
भव्य पञ्चपदं मन्त्रं सर्वावस्थासु सस्मरन् । अनेकजन्मजै पापैर्नि सन्देहं विमुच्यते ॥१२१
एकद्वयचतु पञ्चषट्षोडशसदक्षरै । स पञ्चत्रिंशतावर्णैर्वाक्यैर्मन्त्र जपेद् व्रती ॥१२२
पापोऽपि यत्र तन्मन्त्र प्रान्ते ध्यायन्सुरो भवेत् । तत्र सम्यक्त्वपूतात्मा सदा ध्यायन्न किं जन ॥१२३
चौरो रूपखुरो नाम शूलारूढोऽपि तत्पदम् । जिनदासोपदेशेन ध्यात्वा दैवी गतिं ययौ ॥१२४
दत्त नागश्रिया मन्त्रं मातङ्गचरकुक्कुर । समादायाऽभवन्नागदेव स्वाम्युपकारकृत् ॥१२५
गोपो विवेकहीनोऽपि पठन्पञ्च नमस्कृती । जात सुदर्शनश्रेष्ठी चम्पाया य सुदर्शन ॥१२६

सिद्धा सेत्स्यन्ति सिद्धयन्ति ये केचिदिह जन्तव ।
सर्वे ते तत्पद ध्यात्वा रहस्यमिति सूत्रजम् ॥१२७

होते हैं वे आचार्य कहे जाते है ॥११७॥ जो गुणश्रेष्ठ साधु स्वय एकादशाग शास्त्र तथा चर्तुदश पूर्व शास्त्रोको पढते है, व्याख्यान करते है तथा अन्य शिष्यवर्गको पढाते है वे परमेष्ठी है ॥११८॥ जो भेदात्मक और अभेदात्मक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका यथावत् साधन करनेवाले है तथा विजनप्रदेशमे निवेश करनेवाले है उन्हे साधु (मुनि) कहते है ॥११९॥ शिवसुखाभिलापी पुरुषोको—इन अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओकी अभिषेकसे, पूजनसे, ध्यानसे, जपसे, स्तुतिसे तथा उत्तम उत्सव-महोत्सवादिसे सेवा (पूजन) करनी चाहिये ॥१२०॥ जो धर्मात्मा भव्यपुरुष सभी अवस्थाओमे सदा "णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण" इस पच महामन्त्र पदोका चिन्तवन करते रहते है वे भव्यात्मा नि सन्देह अनेक जन्ममे उपार्जन किये हुए पापकर्मोसे विमुक्त हो जाते है ॥१२१॥ व्रती पुरुषोको—एकाक्षरका (ॐ), दो अक्षरोका (सिद्ध, असा, ॐ ह्री , चार अक्षरोका (अरहन्त, असिसाहू), पाच अक्षरोका (असिआउसा), छह अक्षरोका (अरहन्त सिद्धा, अरहन्तसिसा, ॐ नम सिद्धेभ्य), सोलह अक्षरोका (अरहन्त सिद्ध आयरिया उवज्झाया साहु) पैतीस अक्षरोका (णमो अरहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण) इस प्रकार मन्त्रोका जप करना चाहिये ॥१२२॥ अहो ! जिस महामन्त्रका मरण समयमे स्मरण करनेसे पापी पुरुष भी देव होता है तो उसी मत्रराजके ध्यानसे सम्यक्त्व विशुद्ध मानस क्या देव पर्यायको नही प्राप्त होगा ? नि सन्देह होगा ॥१२३॥ इसी महामत्रका जिनदास श्रावकके उपदेशसे शूलीके ऊपर चढा हुआ रूपखुर नामका चौर भी ध्यान करके देवगतिको प्राप्त हुआ ॥१२४॥ पूर्व कालमे किसी चण्डालका पाला हुआ श्वान नागश्रीके द्वारा सुने हुए इसी महामन्त्रका चिन्तवन करके अपने स्वामीका उपकार करनेवाला नागदेव हुआ था ॥१२५॥ ज्ञानहीन गुवाल भी इसी पचनमस्कार महामत्रके स्मरण करनेसे चम्पापुरीमे सुदर्शन नामका सेठ हुआ था । अहो ! वास्तवमे वह सुदर्शन (देखनेमे सुन्दर) था ॥१२६॥ अधिक कहाँतक कहे किन्तु यो समझिये कि —इस ससार मे जितने आत्मा पूर्व समयमे सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए है, आगामी कालमे होगे तथा वर्तमान समयमे होनेवाले है वे सब इसी पचत्रिंशताक्षरात्मक महामत्रराजके ध्यान करनेसे हुए है, होगे तथा होनेवाले है । इस मत्रके विषयमे विशेष क्या कहा जाय ? यह जिनसूत्रका रहस्य है, ॥१२७॥

अर्हत्सिद्धौ समाराध्यौ तेषु पञ्चसु भेदतः । सदाप्तत्वं यदापन्नौ निरावरणबोधिनौ ॥१२८
तत्रापि भेदतः सिद्धः समाराध्यो विशेषतः । नित्यत्वान्निष्कलत्वाच्च सर्वकर्मक्षयत्वतः ॥१२९
ध्यानं यदर्हदादीनां सालम्बं तन्निगद्यते । सरागर्षिगृहस्थानां साधनं तस्य दर्शितम् ॥१३०
कदाचिद्वीतरागाणां दुर्ध्यानापोहनाय वै । सालम्बं तत्स्मृतं ध्यानं गौणत्वेन शुभाश्रवात् ॥१३१
आद्यसंहननोपेता निःकषाया जितेन्द्रियाः । रागद्वेषविनिर्मुक्ताः परीषहभटाजिताः ॥१३२
पर्यङ्काद्यासनाभ्यस्तास्तन्द्रनिद्राविवर्जिताः । इत्यादिगुणसम्पन्ना योगिनो ध्यानसिद्धये ॥१३३
धारणा यत्र काचिन्न न मन्त्रपदचिन्तनम् । मनःसङ्कल्पनं नास्ति तद्ध्यानं गतलम्बनम् ॥१३४
आत्मानमात्मनात्मानं निरुध्यात्मस्थितो मुनिः । कृतात्मात्मगतं ध्यायेत्तन्निरालम्बमुच्यते ॥१३५

गते मनोविकल्पेऽस्य यो भावः कोऽपि जायते ।
स एवाऽऽत्मस्वतत्त्वं च शून्यध्यानं च तन्मतम् ॥१३६

अभेद एक एवाऽऽत्मा भेदे च त्रितयात्मकः । दर्शनज्ञानचारित्रं दाहकादित्रिधाग्निवत् ॥१३७

ऊपर जो हम पञ्चपरमेष्ठीके पाँच विकल्प कर आये हैं उनमें अरहन्त तथा सिद्धजिन निरन्तर आराधन करनेके योग्य हैं। क्योंकि—ये दोनों आप्तत्व (देवत्व) स्वरूपके धारक हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंके आवरणसे रहित हैं और सर्वज्ञ (त्रिभुवनवर्ती समस्त वस्तुओंको एक समयमें जाननेवाले) हैं ॥१२८॥ अरहन्त तथा सिद्धमें भी विशेषपनेसे सिद्ध भगवान् समाराधन करने योग्य हैं क्योंकि—सिद्धभगवान् नित्य हैं अविकल हैं तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय आदि आठ कर्मोंको क्षय कर चुके हैं ॥१२९॥ इन अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंका जो ध्यान करना है उसे सालम्बध्यान कहते हैं। वह सालम्ब ध्यान सराग मुनि तथा गृहस्थोंके साधन करने योग्य है ॥१३०॥ यदि किसी समय वीतरागी मुनियोंके भी आर्त रौद्रादि दुर्ध्यान होने लगे तो उसके नाश करनेके अर्थ यह सालम्ब (अर्हन्तादिका स्मरण रूप) ध्यान—शुभ (पुण्य) कर्मके आश्रयका हेतु होनेसे गौणरूपसे माना गया है ॥१३१॥ वज्रवृषभ-नाराच संहननके धारक, क्रोध मान माया लोभादि कषायोंसे विनिर्मुक्त, इन्द्रियोंके जीतनेवाले, राग तथा द्वेषरहित, परीषह रूप भट पुरुषोंके वश न होनेवाले (परीषहोंके जीतनेवाले), पद्मासन तथा खड्गासन आदि ध्यानासनोंके जाननेवाले, आलस्य तथा निद्राके अधीन न होनेवाले इत्यादि उत्तम गुणोंसे शोभमान साधु लोग ही ध्यानकी सिद्धिके लिए योग्य हैं ॥१३२-१३३॥ जिस ध्यानमें न तो किसी प्रकारकी धारणा है न किसी प्रकारके मन्त्रादिका चिन्तवन है और न मनका संकल्प है उसे आलम्ब-रहित (निरालम्ब) ध्यान कहते हैं ॥१३४॥ अपने स्वभावमें स्थिर जो साधु आत्माको आत्माके द्वारा रोकते हैं तथा आत्माको आत्मामें लगाकर ध्यान करते हैं उसे भी निरालम्ब ध्यान कहते हैं ॥१३५॥ मनका विकल्प मिट जानेपर साधु पुरुषोंका जो अवर्णनीय भाव होता है उसे आत्माका स्वतत्त्व कहते हैं तथा उसे ही शून्यध्यान भी कहते हैं ॥१३६॥ अभेद विवक्षासे यह आत्मा एक ही है और भेद विवक्षासे दर्शन ज्ञान तथा चारित्र इन भेदोंमें त्रितयात्मक है। इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं। यदि वास्तवमें विचारा जाय तो दाहात्मक शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। जो अग्नि है वही दाह है और जो दाह है वही अग्नि है। परन्तु भेद विवक्षाको लेकर "वह्निर्दहति दाहाऽऽत्मशक्तया" अर्थात्—अग्नि अपनी दाह शक्तिसे जलाती है ऐसा प्रयोग होता है। उसी प्रकार आत्मा अभेद विवक्षासे दर्शन ज्ञान तथा चारित्र रूप है इनसे

आत्मनो दर्शने दृष्टिर्ज्ञाने ज्ञानं च योगिनः । स्वरूपाचरणे प्रोक्तं चारित्रं विश्वदर्शिभिः ॥१३८
इत्येतदाऽऽत्मनो रूपं ध्यात्वा चाऽन्तर्मुहूर्ततः । कर्माणि भस्मसात्कृत्य तदनुज्ञानभाग्भवेत् ॥१३९
तपः करोतु चारित्रं चिनोतु पठतु श्रुतम् । यावद्ध्यायेन्न चात्मानं मोक्षस्तावन्न जायते ॥१४०
तद्ध्यानं तु गृहस्थानां जायते न कदाचन । शशानां शृङ्गवत्कच्छपानां रोमप्रचायवत् ॥१४१
अतस्तद्भावना कार्या परोक्षं श्रावकैः सदा । सिद्धौ यादृग्वसेत्सिद्धस्तादृक्काये‌ऽस्मि निर्मलः ॥१४२
सिद्धोऽहमस्मि शुद्धोऽहं ज्ञानादिगुणवानहम् । काये वसन्नसंख्यातप्रदेशोऽहं निरञ्जनः ॥१४३
देहे वसंस्ततो भिन्नः काष्ठे वह्निरिवाऽनिशम् । सम्यगात्मनि संप्राप्ते क्षयं कर्त्तास्मि तस्य तु ॥१४४
इति भावनया चक्री राज्यं भुक्त्वा च मुक्तवान् । लोचानन्तरमेवाऽसौ केवलज्ञानमापिवान् ॥१४५
यथाऽर्हदादयः पञ्च ध्येया धर्मादयस्तथा । चत्वारो देवताभ्यस्तु नवभ्यो मे नमः सदा ॥१४६
चत्वारो देवता एते जिनधर्मो जिनागमः । जिनचैत्यं जिनावास आराध्या सर्वदोत्तमैः ॥१४७

जिनादौ भक्तिरेकास्तु किमन्यैः संयमादिभिः ।
विघ्नानुच्छिद्य या दोग्धि सर्वान्कामानिहामुतः ॥१४८

भिन्न आत्मा नहीं है किन्तु भेद विवक्षासे आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें पृथक् है ॥१३७॥ अनिश्चय रत्नत्रयका स्वरूप कहते हैं—सर्वज्ञ भगवान्‌ने साधु पुरुषोंका—अपने आत्माके श्रद्धानको दर्शन, आत्माके ज्ञानको ज्ञान तथा आत्मामें आचरण करनेको चारित्र कहा है ॥१३८॥ इस प्रकार आत्माके रूपका ध्यान करके तथा अन्तर्मुहूर्त मात्रमें कर्मोंको दग्ध करके तत्पश्चात् यह आत्मा केवलज्ञानका भोगनेवाला होता है ॥१३९॥ चाहे तपश्चरण करो। चाहे व्रतादि धारण करो। चाहे शास्त्रोंका परिशीलन करो। किन्तु जब तक आत्माका ध्यान न किया जायगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी ॥१४०॥ यह निरालम्ब ध्यान गृहस्थ लोगोंको कभी नहीं होता है। इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं कि—जिस प्रकार शशक (खरगोश) के शृंग नहीं होते हैं तथा कछुवोंके केश नहीं होते हैं उसी तरह यह शून्यध्यान भी गृहस्थोंके नहीं होता है ॥१४१॥ इसलिए गृहस्थोंको परोक्षमें निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये कि—"मोक्ष स्थानमें जिस प्रकार कर्ममल-रहित शुद्ध सिद्ध भगवान् निवास करते हैं उसी प्रकार मैं भी इस शरीरमें उन्हींके समान निर्मल हूँ" ॥१४२॥ मैं शरीरमें रहता हूँ तो भी—सिद्ध हूँ, शुद्ध (पवित्र) हूँ, ज्ञानादि गुणका धारक हूँ असंख्यात प्रदेशी हूँ तथा अंजन रहित हूँ ॥१४३॥ जिस प्रकार काष्ठमें अग्नि पृथक् रहता है उसी प्रकार शरीरमें रहकर भी मैं उससे भिन्न हूँ और आत्मामें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर शरीरका नाश करनेवाला भी हूँ ॥१४४॥ इस प्रकार आत्मभावनासे महाराज भरतचक्रवर्तीने राज्यका उपभोग करके उसे छोड़ दिया और केशलौंच करनेके अनन्तर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१४५॥ जिस प्रकार पंच परमेष्ठी ध्यान करनेके योग्य हैं उसी प्रकार जिन धर्मादि चार और भी ध्याने योग्य हैं। इन नव ही देवताओंके लिए मेरा निरन्तर नमस्कार हो ॥१४६॥ जिनधर्म, जिनागम (जैनशास्त्र), जिनप्रतिमा तथा जिनालय ये चार देवता हैं। बुद्धिमानोंको—निरन्तर इनका आराधन करना चाहिये ॥१४७॥ अहो! पंच परमेष्ठीमें एक अविचल भक्ति होना ही अच्छा है और संयमादिसे विशेष क्या साध्य है? क्योंकि एक भक्ति ही ऐसी है जो सर्व विघ्नोंका नाश करके इह लोक तथा परलोकमें मनोऽभिलषित वस्तुओंकी देनेवाली है ॥१४८॥ जो मुनि—शास्त्रोचित समयमें 'अध्ययन करना' आदि आठ

पश्याहो ! नरकं प्राप्त शालिर्मानसदोषत । मुनिनेति विबुध्येद कार्यं चित्तनिरोधनम् ॥१६८
अस्यानेके गुणा सन्ति कृते चित्तनिरोधने । जलसेके तरो. पत्रशाखापुष्पफलानि वा ॥१६९
श्रुतक्रीडावने स्वान्तमर्कटं रामयत्वत । नियन्त्र्य चञ्चलं ज्ञानवैराग्यशृङ्खलेन वै ॥१७०
श्रौतस्कन्धीयवाक्य वा पदं वाऽक्षरमेव वा । यत्किञ्चित्स्वदते तत्राऽऽलम्ब्य चित्तं नय क्षयम् ॥१७१
श्रुतेन शुद्धमात्मानं स्वसंवित्या प्रगृह्य च । आराध्य तल्लयापास्तचिन्तो भूत्वा व्रजामृतम् ॥१७२
सन्न्यास परमार्थेन निश्चयज्ञै स हि स्मृत· । विन्यास स्वस्वरूपे यो विकल्पातीतयोगिन ॥१७३
यदा परीषह कश्चिदुपसर्गोऽथवा मन । क्षिपेत्तस्य तदा ज्ञानसारैर्निर्यापको हरेत् ॥१७४
नरकादिगतिष्वद्य यावत्तप्तोऽसुखाग्निभि । त्वमङ्गसङ्गत साधोऽविशञ्ज्ञानामृताम्बुधौ ॥१७५
अधुना समुपात्तात्मकायभेदस्य साधुभि । भक्त्याऽनुगृह्यमाणस्य किं दु खं प्रभवेत्तव ॥१७६
जडाः शरीरमारोप्य स्वस्मिन्दु खं विदन्त्यहो । आत्मनस्तत्पृथक्कृत्य भेदज्ञा आसते सुखम् ॥१७७
पराधीनेन दु.खानि भृशं सोढानि जन्मनि । त्वयाऽद्यात्मवश. किञ्चिन्निर्जरार्थं सहस्व भो ॥१७८
स्वं ध्यायन्नात्तसन्न्यासो यावत्त्वं संस्तरे वसे । क्षणे क्षणे प्रभूतानि तावत्कर्माणि निर्जरे ॥१७९

जिसने सेनाके स्वामीको जीत लिया है समझो कि उसने सारी सेना ही जीत ली है ॥१६७॥ अहो ! देखो इसी मनके दोषसे शालि नाम कोई मानव नरकमे गया। इस प्रकार मनके वश न करनेको हानिकारक समझकर साधु लोगोको पहले अपना मन वशमे करना चाहिये ॥१६८॥ इस चित्तके रोकने (वश करने) पर मुनियोको कितने ही गुण प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार वृक्षका जलसे सिंचन करनेसे उसमे पल्लव, शाखा, सुमन तथा फलादि समुद्भूत होते हैं ॥१६९॥ अपने मन रूप चचल वानरको ज्ञान तथा वैराग्य रूप शृखला (साकल) से बाधकर शास्त्र रूप केलि काननमे अच्छी तरह रमाना चाहिये ॥१७०॥ हे उपासक ! द्वादशाङ्ग शास्त्रके किसी एक वाक्यका अथवा नमस्कारादि महामन्त्र रूप पदका अथवा "ॐ" इस अक्षरका जो तुम्हे रुचिकर हो उसका अवलम्बन करके अपने मनको वश करो ॥१७१॥ हे क्षपक ! पहले स्वसवेदन (आत्मानुभव) से अपने आत्माका चित्स्वरूप निश्चय करके तथा श्रुतज्ञानसे वह रागद्वेषादिरहित है इस प्रकार भावनासे चिन्तारहित होकर मोक्षको प्राप्त होओ ॥१७२॥ विकल्प-रहित योगीके अपने आत्म-स्वभावमे लीन होनेको निश्चयके ज्ञाताजनोने परमार्थसे सन्यास कहा है ॥१७३॥ यदि किसी समय कोई परीषह अथवा उपसर्गादि उस समाधिशील साधुके मनको क्षोभित करे तो उस समय निर्यापकाचार्यको चाहिये कि ज्ञान सम्बन्धी वचनोंके द्वारा उसके परीषहादिको दूर करे ॥१७४॥ हे साधो ! इस शरीरके ससर्गसे ज्ञानरूप पीयूषपयोधिमे कभी प्रवेश न कर तुम केवल दु खरूप अग्निसे आजतक नरकादि कुगतियोमे सतप्त हुए हो ॥१७५॥ इस समय तो तुम्हे आत्म तथा शरीरकी भिन्नता मालूम हो गई है तथा साधु लोग भक्तिपूर्वक तुम्हारेपर अनुग्रह करते हैं तो क्या अब तुम्हे किसी तरहका दु ख हो सकता है ? कभी नही ॥१७६॥ अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है कि मूर्ख लोग तो अपने आत्मामे शरीरका आरोप करके (शरीर ही को आत्मा समझ कर) दु खको प्राप्त होते है और आत्मा तथा शरीरके भेदको जाननेवाले बुद्धिमान पुरुष अपने आत्मासे शरीरको भिन्न करके सुखको प्राप्त होते हैं ॥१७७॥ हे साधो ! तुमने पराधीन अवस्थासे ससारमे अनेक दु.ख सहे है इसलिये अब आत्मवशवर्त्ती होकर कर्मोकी निर्जराके लिए इस समय भी कुछ दु ख सहन करो ॥१७८॥ अपने आत्माका ध्यान करते हुए सन्यास पूर्वक जबतक तुम सस्तर (शय्या) पर रहोगे तबतक प्रतिक्षण प्रचुर कर्मनिर्जराको प्राप्त होते रहेगे ॥१७९॥ यदि

नाभेयाद्यान्क्षुधापृष्ठपरीषहजये स्मर । तीव्रोपसर्गविजये शिवभूत्यादिकान्मुनीन् ॥१८०
तार्णपूलमहापुञ्जे प्रोड्डायोपरिपातिते । पवनै शिवभूति स्वं ध्यात्वाऽऽसीत्केवली द्रुतम् ॥१८१
श्रीवर्द्धनकुमारादिद्वात्रिंशत्पुरुषीघटा । ललिताद्या सरित्पूरात्स्वं ध्यात्वा सुगति श्रिता ॥१८२
मुनिर्गजकुमारोऽपि पञ्चकीलै प्रकीलितः । विप्रमामेन साम्येन निश्चलो मुक्तिमीयवान् ॥१८३

न्यस्याङ्गेषु धिया भोष्या ज्वलिता लोहशृङ्खला ।
कौन्तेया ध्यानत सिद्धा द्विषद्भि कीलिताङ्घ्रय ॥१८४

शिरीषपुष्पमृद्वङ्गो भक्ष्यमाणो दयातिगम् । शिवया सुकुमारोऽसूस्तत्याज समतां न हि ॥१८५
जननीचरया व्याघ्रया कोशलो द्वेषतो गिरौ । दशनैर्दश्यमानोऽपि ध्यानात्केवलमापिवान् ॥१८६
नि.कारणं कृतैर्दुःखै क्रुद्धभूतैस्तपस्विषु । भग्नेष्वितस्ततोऽमुञ्चत्प्राणान्विद्युच्चरः शमी ॥१८७
व्यन्तर्याऽभयया शुद्धशीलो मुनिसुदर्शनः । कृतोपसर्गान्सोढ्वाऽभूदन्तकृत्केवली तथा ॥१८८
इत्यचिन्नृपशुस्वर्ग्युपसृष्टाऽक्लिष्टचेतस । अन्येऽपि बहवो धीरा किलार्थं स्वमसाधयन् ॥१८९
तत्क्षपकत्वमप्यङ्ग ! संलीय स्वात्मनि ध्रुवम् । मुञ्चाङ्गमन्यथा नाना भवक्लेशान्सहिष्यसे ॥१९०
शुद्ध. स्वात्मैव चाऽऽदेयश्चिदानन्दमयो रुचि । दृष्टिरित्याञ्जसी तस्य स्वानुभूत्या पुरादित. ॥१९१

तुम क्षुधा पिपासादि प्रधान परीषहोको जीतना चाहते हो तो तब तो आदिजिनेन्द्र आदिका ध्यान करो ! और यदि तीव्र उपसर्गका जय करना चाहते हो तो शिवभूति आदि महामुनियोका निरन्तर हृदयमे आराधन करो ॥१८०॥ पवनसे उडाया हुआ बहुत बडा तृण पूलोका समूह शिवभूति मुनिके ऊपर गिरा तो भी वे अपने आत्माका ध्यान करके बहुत शीघ्र केवलज्ञानी हुए ॥१८१॥ श्रीवर्द्धनकुमार प्रभृति बत्तीस मुनियोका समूह तथा ललितादि मुनि नदीके प्रवाहमे वहते हुए भी अपने आत्मध्यानसे सुगतिको प्राप्त हुए ॥१८२॥ ब्राह्मण श्वसुरके द्वारा—पाच कीलो से प्रकीलित गजकुमार मुनिराज अपने अविचल साम्यभावसे मोक्षको प्राप्त हुए ॥१८३॥ शत्रु लोगोने ये भूषण है ऐसा कहकर जलती हुई लोहमयी शृखलायें जिनके शरीरमे पहना दी तथा जिनके चरणोको कील दिया तो भी पाण्डव लोग आत्मध्यानमे तत्पर होकर सिद्ध पदको प्राप्त हुए ॥१८४॥ शिरीषपुष्पके समान अतिशय कोमल अङ्गके धारक अवन्तिसुकुमारके शरीरको पूर्वजन्मके वैरानुबन्धसे शृगालीने निर्दयता पूर्वक भक्षण किया, तब उस धीरने अपने प्राणोको छोड दिया परन्तु धैर्यको नही छोडा ॥१८५॥ अहो ! देखो ससारकी लीला, जो पूर्व भवमे खास माता थी उसी माताने जननान्तरके द्वेषसे अपने दाँतोसे अपने पुत्रका भक्षण किया, तो भी कोशल मुनिने अपने धैर्यको न छोडा और आत्मध्यानसे केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥१८६॥ निष्प्रयोजन क्रोधाविष्ट व्यन्तरदेवादिके द्वारा दिये हुए दु खोसे तपस्वी लोगोके इधर-उधर भागनेपर भी विद्युच्चरने आत्मध्यानमे लीन होकर प्राणोको छोडा ॥१८७॥ अभयानाम व्यन्तरीके द्वारा किये हुए घोर उपसर्गोको सहन करके शुद्धस्वामी सुदर्शनमुनि अन्तकृत्केवली हुए ॥१८८॥ इस प्रकार अचेतन, मनुष्य, पशु तथा देव आदिके द्वारा किये हुए उपसर्गोसे भी जिनका चित्त कभी विचलित नही हुआ है ऐसे और भी कितने धैर्यशाली महात्माओने अपने आत्माकी साधना की है ॥१८९॥

हे क्षपक साधो ! अब तुम अपने आत्मामे लीन होकर इस शरीरको छोडो । यदि अब भी शरीरके छोडनेमे प्रयत्नशील न होओगे तो तुम्हे अनेक प्रकार ससारमे दु ख सहन करना पड़ेंगे ॥१९०॥ शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अपना आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है इस प्रकारकी प्रीतिको

पञ्चधा वाचनामुख्य स्वाध्यायं विदधन्मुनि । सत्कालाध्ययनाद्यष्टशुद्धचा स्याद्व्रतपारगः ॥१४९

खण्डपद्यैस्त्रिभिः कुर्वन्स्वाध्याय चात्मना कृतैः ।
ऋषिनिन्दाप्तजाडचोऽपि यमोऽभूत्सप्तऋद्धिभाक् ॥१५०

स्तोकामपि त्वहिंसा य कुर्याद्दोद्रूयते न स । रुजा यः किं पुन सर्वां स सर्वा न रुजः क्षिपेत् ॥१५१
यमपालो ह्रदेऽहिंसन्पर्वाह्न महितोऽप्सुरैः । धर्माख्यस्तत्र मेषघ्नो भक्षित शिशुमारकैः ॥१५२
मा कृथा कामधेनुं गामसत्यव्याघ्रसम्मुखीम् । स्तोकोप्यत्र मृषावादो नाना दु खाय जायते ॥१५३
अजैर्होतव्यमत्रेति धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति । वाच्यं छागैरिति परावर्त्याऽऽयान्निरयं वसु ॥१५४

चुरास्तान् तदभिध्यापि न कार्या जातुचित्त्वया ।
गृह्णन्परस्वं तत्प्राणाञ्जिहीर्षन्हन्ति च स्वकम् ॥१५५

मुषित्वा निशि कौशाम्बीं दिने पञ्चाग्निमाचरन् । परिव्राट् शिक्यकारूढोऽधोऽगाद्दुर्मृतेर्नृ पात् ॥१५६

प्रकारकी शुद्धि पूर्वक वाचना नाम स्वाध्यायको प्रधानतासे उपयोगमे लाकर पाच प्रकार स्वाध्याय करते हैं उन्हे ही व्रतके पारगामी समझना चाहिये ॥१४९॥ मुनि लोगोकी निन्दा करनेसे जिसे मूर्खता प्राप्त हुई ऐसा यम नामका कोई राजा—अपने बनाये हुए तीन खडित श्लोकोका ही स्वाध्याय करनेसे सप्तऋद्धिका उपभाग करनेवाला हुआ ॥१५०॥ अहो ! जो पुरुष थोडा भी अहिंसा व्रतका पालन करता है वह भी जब रोगसे पीडित नही होता है फिर जो सर्व प्रकार अहिंसा व्रतका दृढता पूर्वक पालन करेगा वह सर्व पीडाओका क्या नाश नही करेगा ? अवश्य करेगा ॥१५१॥ किसी सरोवरमे हिंसा न करनेवाला यमपाल तो जल देवताके द्वारा सत्कार किया गया और उसी जगह—बकरेका मारनेवाला धर्म नामका व्यक्ति मछलियोंके द्वारा खाया गया ॥१५२॥ हे भव्य ! तुम अपनी वाणीरूप कामधेनुको असत्यरूप व्याघ्रके सामने मत करो ! क्योकि—थोडा भी झूठ बोलना इस ससारमे अनेक प्रकारके दु खोका कारण होता है ॥१५३॥ भावार्थ—कामधेनु मनोभिलपित वस्तुकी देनेवाली होती है उसी प्रकार सत्य वाणीको भी कामधेनुके समान इच्छित वस्तुका देनेवाला समझकर उसे असत्य रूप सिंहके सामने कभी मत करो। (कभी झूठ मत बोलो) क्योकि जिस प्रकार व्याघ्र गायको भक्षण कर लेता है उसी प्रकार तुम्हे सत्यवचन रूप कामधेनुका असत्यरूपी व्याघ्र घात कर डालेगा। पुन इसी असत्यसे तुम्हे ससारमे अनेक प्रकार के दु ख देखने पडेंगे। पर्वत और नारदके विवादमे सत्यवादी महाराज वसु असत्यपक्षको अच्छा बताकर उसी समय नरक धाम सिधारे, यह कथा प्रसिद्ध है। उसीका सारांश इस श्लोकमे दर्शाया गया है—"अज" मे हवन करना चाहिये इस स्थलमे एकका तो कहना था कि अज (तीन वर्षके पुराने धान्य) से हवन करना चाहिये। इसपर पर्वतका कहना था—यह अर्थ ठीक नही है किन्तु अज (छाग-बकरे) से हवन करना चाहिये। नारद और पर्वतके इस विवादमे मध्यस्थ वसु भूपतिने कहा कि—"छागैर्वाच्यमिति" अर्थात्–बकरेको मारकर यज्ञ करना चाहिये। इस प्रकार अर्थको पलटनेसे वह उसी समय नरकवासी हुआ ॥१५४॥ हे पुरुषोत्तम ! तुम्हे चोरीका चिन्तवनतक भी कभी नही करना चाहिये, क्योकि—दूसरोके धनको चुरानेवाला उसके प्राणोके हरणकी इच्छा करता हुआ स्वत अपना भी नाश कर लेता है ॥१५५॥ कौशाम्बी नाम नगरीमे रात्रिके समय चोरी करके और दिनमे सीकेपर बैठकर पचाग्नि तपश्चरण करनेवाला कोई सन्यासी साधु अपने पापके प्रकट हो जानेसे राजाके द्वारा शूली दिया जाकर नरक गया ॥१५६॥ प्रतिनारायण रावण

मनसा खण्डयञ्शीलं दशास्य प्रतिकेशव । सीताया लक्ष्मणान्मृत्वा जगाम वालुकाप्रभाम् ॥१५७
अन्येऽपि भूरिशो यत्र गृहस्थाश्च तपोधना । स्खलित्वा दु खिनो जातास्तच्छीलं दृढमाचरे ॥१५८
चेतनाऽचेतना सङ्गा वाह्याऽभ्यन्तरतो द्विधा । भ्रमतस्ते पुराऽभूवन्न ये ते न जगत्त्रये ॥१५९
कूटेट्रस्य स्मरं स्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतिम् । मोपेक्षा त्व कुरु ग्रन्थे मूर्च्छतो मनस क्वचित् ॥१६०
क्रोधाद्याविष्टचित्त प्राग्मुनिर्द्वीपायनादिक । फलयोग्यं तपोवृक्षं भस्मसात्कृतवान्क्षणात् ॥१६१
कषायस्नेहवानात्मा कर्म वध्नात्यनेकधा । स्निग्धो घटो रजो वा यत्तस्त्याज्यो यत्नतो हि स ॥१६२
ज्वलन्तं संयमारामे कषायाग्नि शमाम्वुभि. । विध्यापय यशश्छाये निर्वाणफलदायके ॥१६३
स्पर्शाद् गजो रसान्मीनो गन्धात्षट्चरणः क्षयम् । रूपान्मुधा पतङ्गोऽगात्सारङ्ग. शब्दमोहितः ॥१६४
एकैकविषयादेव दु ख्यभूत्सर्वतो न कः । महानुभाव । मत्वेति तद्वशं स्व कुरुष्व मा ॥१६५
अनुकूले समुत्पन्ने तस्मिन् राग विधेहि मा । प्रतिकूलेऽन्यथा भावमिति गोचरनिग्रह ॥१६६
जयार्थी गोचराणा य स जयेत्प्रागिनजं मन. । नायके हि जिते सर्वा पृतना विजिता भवेत् ॥१६७

केवल मनके सकल्प मात्रसे अपने व्रह्मचर्यको जनकनन्दिनीके सम्वन्धमे खडित कर और लक्ष्मणके द्वारा मृत्युको प्राप्त होकर तीसरे वालुकाप्रभानामक नरकमे गया ॥१५७॥ और भी कितने गृहस्थ तथा तपस्वी (साधु) इस व्रह्मचर्यसे च्युत होकर दु खी हुए हैं, इसलिए इस व्रह्मचर्य व्रतका अखण्डरीतिसे रक्षण करो ॥। यही व्रत दु खोसे तुम्हे वचावेगा ॥१५८॥ वाह्य तथा आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकार ये चैतन तथा अचेतन परिग्रह—इस ससारमे भ्रमण करते हुए तुम्हे पहले कभी प्राप्त न हुए हो ऐसा नही है किन्तु अवश्य कितनी ही वार प्राप्त हुए हैं ॥१५९॥ कूटेष्ट तथा स्मश्रुनवनीत आदिकी इसी परिग्रहके लोभसे खोटी मृत्युका स्मरण करते हुए तुम—परिग्रहमे मूर्च्छाको प्राप्त होनेवाले अपने मनकी उपेक्षा कभी मत करो (परिग्रहमे मनको आसक्त मत होने दो) । नही तो जिस प्रकार श्मश्रुनवनीत आदिकोकी वुरी गति हुई है उसी प्रकार तुम्हे भी दुर्गतिका पात्र होना पडेगा ॥१६०॥ क्रोध, मान, माया आदि कषायोसे जिनका आत्मा आविष्ट था ऐसे द्वीपायनादि कितने ही मुनियोने कल्याण रूप फलके देने योग्य अपने तपश्चरण वृक्षको क्षणमात्रमे क्रोधादि वह्निके द्वारा भस्मसात् कर दिया ॥१६१॥ क्रोध मान माया लोभादि कषाय तथा अनुराग युक्त आत्मा नियमसे अनेक प्रकारका कर्म वन्ध करता है । जिस प्रकार सचिक्कण घट (कलश) धूलीका वन्ध करता है (चिकने घडेपर धूल चिपक जाती है) । इसलिए प्रयत्नपूर्वक क्रोधादि छोडने योग्य हैं ॥१६२॥ निखिल ससारमे कीर्त्तिका विस्तार होना हो जिसकी छाया है तथा जो मोक्षरूप फलका देनेवाला है ऐसे सयम रूप उपवनमे जलती हुई कषाय वह्निको शान्त स्वभावरूप नीरसे वुझाओ ॥१६३॥ स्पर्शन इन्द्रियके वशवर्त्ती होकर हाथी, रसना इन्द्रियके आधीन होकर मत्स्य, गन्धके वश होकर मधुकर (भ्रमर), नयन इन्द्रियकी आसक्तिसे पतग तथा शव्दके श्रवणमे मोहित होकर मृग ये सब एक-एक इन्द्रियके वशवर्त्ती होकर नष्ट होते हैं ॥१६४॥ इस ससारमे ऐसा कौन है जो इस प्रकार एक-एक विपयकी वश वर्तितासे दु खी न हुआ हो ? इसलिए हे महानुभाव । तुम्हे चाहिये कि—इन विषयोके वश न होओ ॥१६५॥ अपने अनुकूल यदि तुम्हे कोई विपय प्राप्त होवे तो उसमे प्रीति मत करो तथा कोई वात प्रतिकूल (विरुद्ध) देखो तो उसमे द्वेष मत करो । क्योकि—इष्ट वस्तुमे अनुराग न करनेको तथा अनिष्ट वस्तुमे द्वेष न करनेको ही तो विपय जीतना कहते हैं ॥१६६॥ जो लोग यह चाहते है कि—हम पचेन्द्रियो के विपयको जीते (अपने अधीन कर ले) उन्हे पहले अपना मन वश करना चाहिये । क्योकि—

पृथक्त्वेनानुभवनं संवित्तत्रैव तृप्ति‍त । अतीवान्तर्लयं प्राप्ते स्थितिश्चर्यात्मनो सता ॥१९२
भेदरत्नात्रयाधीनस्वात्मानं विद्धि तन्मयम् । परमं तपनीयं वा स्निग्धत्वादिगुणान्वितम् ॥१९३

अल्पशोऽपि परद्रव्ये वाञ्छा विनिवार्य श्रुतपर शश्वत् ।
स्वात्मानं प्रतपसि निरन्तरं तपसि तत्तपसि ॥१९४

निराशत्वात्तनै मङ्गचलब्धसाम्यसहायक. । निर्विकल्पसमाधिस्थः पिबाऽऽमोदाऽऽमृतं स्थिर ॥१९५
सन्यस्येति कषायवद्वपुरिदं निष्णातसूरेर्विधौ न्यस्तात्मा यतिराट्तदीयमुररीकुर्वंश्च लिङ्गं परम् ।
सद्दग्बोधचरित्रभावनमयो मुक्तेः समीहाकरो
हित्वाऽसून् गुरुपञ्चकस्मृतिशिवी स्यादष्टमे जन्मनि ॥१९६
सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसां संभाव्य चाराधनां
वाह्याभ्यन्तरसङ्गभङ्गकरणादुत्कृष्ट आराधक ।
क्षिप्त्वा मोहरजोन्तरायकरिपून्ध्यानेन शुक्लेन वै
प्राप्यार्हन्त्यमनुत्तरं शिवपदं याति ध्रुवं तद्भवे ॥१९७
प्रान्ते चाराध्य कश्चिद्विधिवदुरुबल साधुसिंहोऽप्रमत्त-
स्तत्त्वश्रद्धानबोधाविरतिपरिहृतीसत्तपोभिश्चतुर्धा ।
कृत्वा पापस्य रोधं गलनमपि शुभध्यानयोगाद्विहाय
प्राणान्सर्वार्थसिद्धिं श्रयति सुखमयीं मध्यमः सिद्धिकाम ॥१९८

सम्यग्दर्शन कहते है। उसी आत्माका अपने आत्मानुभवसे शरीरादि वस्तुओसे भिन्न अनुभव करनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं, तथा उसी आत्मामे—अत्यन्त वैराग्यसे अन्त करणके लीन होने पर जो आत्माकी स्थिति है यही सम्यक् चारित्र है, इस अभेद रत्नत्रयकी भावना करो ॥१९१-१९२॥ हे उपासक! भेदरूपसे रत्नत्रयाधीन अपने आत्माको भी रत्नत्रयस्वरूप ही समझो! क्योकि—सुवर्ण यद्यपि स्निग्धगुण तथा पीतगुणसे भेदरूप है, तो भी वास्तवमे अभिन्न ही है। उसी तरह आत्माको भी समझो ॥१९३॥ हे पुरुषोत्तम! श्रुत ज्ञानमे श्रद्धाको दृढ करके शरीरादि पर वस्तुओमे थोडी सी अभिलाषाको घटाकर जब तुम अपने आत्मामे निरन्तर तपश्चरण करोगे तभी वास्तवमे तपश्चरण करनेवाले होओगे ॥१९४॥ निरभिलाषासे प्राप्त हुए निर्ग्रन्थव्रतसे अधिगत समताभाव जिनका सहायक है ऐसे तुम निर्विकल्पसमाधिमे स्थित होकर आनन्दरूप अमृतका पान करो ॥१९५॥ क्रोधादि कषायोके समान शरीरको भी कृश करके जिसने अपने आत्माको ससारसे पार करनेवाले निर्यापकाचार्यके आधीन कर दिया है, जिसने दिगम्बरलिङ्गको धारण किया है, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके चिन्तवनमे समासक्त है तथा जिसे मोक्षमे जानेकी अभिलाषा है वह मुनि पञ्चपरमेष्ठीके स्मरण पूर्वक प्राणोको छोड कर अधिकसे अधिक आठ जन्ममे अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥१९६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तपकी आराधनाका आराधन करके, वाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहको दूर करनेसे उत्कृष्ट आराधक वह मुनिराज—मोहनीय रज अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्मशत्रुओका शुक्लध्यानके द्वारा नाश करके तथा निरुपम अर्हन्त पदको प्राप्त होकर नियमसे उसी भवमे शिवसद्मका वासी होता है ॥१९७॥ मृत्युके समयमे शास्त्रानुसार आराधन करके—अत्यन्त शक्तिशाली, सावधान, तथा मनोभिलषित सिद्धिकी अभिलाषा करनेवाला वह मध्यम आराधक साधु केशरी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप इन चार प्रकारकी आराधनासे पापका निरोध तथा नाश

सदृग्वाऽणुव्रती वा भवतनुसुखतो निस्पृह. शान्तमूर्ति-
र्मृत्यौ पञ्चार्हदादीन्गुणगरिमगुरून्सम्यगाराध्य चित्ते ।
कश्चिद्भव्यो जघन्य प्रसुरनरभवं सौख्यमासाद्य चञ्च-
त्सप्ताष्टस्वन्तराले शिवपदमचलं चाश्नुते जन्मसूक्तम् ॥१९९
सम्यक्त्वपूर्वकमुपासकधर्ममित्थं सल्लेखना तमभिधाय गणेश्वरेऽत्र ।
जोषं स्थिते प्रविचकास सभा समस्ता भानाविवोदयगिरिं नलिनीति भद्रम् ॥२००
मेधाविनो गणधरात्स निशम्य धर्मं श्रीगौतमादिति सपौरजनः प्रशस्तम् ।
भूयो निजं दृढतरां प्रविधाय दृष्टिं नत्वा जिन मुनिवराश्च गृहं जगाम ॥२०१
अनादिकाल भ्रमता मया या नाराधिना क्वापि विराधितैव ।
आराधनां मङ्गलकारिणीं तामाराधयामीह जिनेन्दुभक्त ॥२०२

करके शुभध्यानसे प्राणोको छोड कर सुखपूर्ण सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१९८॥ जो ससार-सम्बन्धी अत्यल्प विषय सुखसे निरभिलाषी है जो शान्तस्वरूपका धारक है, वह फिर सम्यग्दृष्टि हो अथवा अणुव्रतका धारक हो ऐसा कोई जघन्य आराधक भव्यपुरुष—मृत्युके समय अपने चित्त-मे गुणके महत्त्वसे महनीय अर्हन्तादि पञ्चपरमेष्ठी का आराधन करके तथा देवगति और मानव-जन्ममे होने वाले उत्तम सुखोका अनुभव करके सातवे आठवे भवमे अविनश्वर शिव-सुखको प्राप्त होता है ॥१९९॥ महाराज श्रेणिकको—इस प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक धर्मका तथा सल्लेखना-का उपदेश देकर जब भगवान् गौतम गणधर चुप हो रहे उस समय सारी सभा इस प्रकार प्रफुल्लित हुई जिस प्रकार कि दिनमणिको उदयगिरिका आश्रय लेने पर कमलिनी प्रफुल्लित होती है ॥२००॥ राजगृह नगर निवासी भव्यजनोके साथ महाराज श्रेणिक बुद्धिशाली भगवान् गौतम गणधरसे उपर्युक्त उपासक धर्मको सुनकर अपने सम्यग्दर्शनको और भी सुदृढ करके समवशरणमे विराज-मान वीरजिनेन्द्र तथा अन्य मुनिराजोको अभिवादन करके अपने गृह गये ॥२०१॥ ग्रन्थकार महाराज श्रेणिकके रूपमे अनुताप करते है कि—अहो ! अनादिकालसे ससारमे भ्रमण करते हुए मैने जिनका कभी आराधन न किया किन्तु प्रत्युत विराधना की । आज कल्याणकारिणी उसी आराधनाका जिन चन्द्रका पादसेवी होकर आराधन करूँगा ॥२०२॥

इति श्री सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसग्रहे
सल्लेखनास्वरूपकथन श्रेणिकस्य राजगृहप्रवेशन सप्तमोऽधिकार ॥७॥

•

आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

प्रथम परिच्छेद

जिनेश वृषभं वन्दे वृषदं वृषनायकम् । वृषाय भुवनाधीशं वृषतीर्थप्रवर्तकम् ।।१
मोहनिद्रातिरेकेण जगत्सुप्तं वचोशुभि· । वोधितं शिरसा येन तस्मै वीराय सन्नम ।।२
द्वाविंशतिजिनान् शेषान् भव्यलोकसुखप्रदान् । वन्दे प्रारब्धसिद्धयर्थं धर्मसाम्राज्यनायकान् ।।३
अष्टकर्मविनिर्मुक्तान् गुणाष्टकविभूषितान् । लोकाग्रशिखरारूढान् सिद्धान् सिद्धयै स्मराम्यम् ।।४
सूरय पंचधाचार स्वयमेवाचरन्ति ये । चारयन्ति विनेयानां तेषा पादौ नमाम्यहम् ।।५
अङ्गपूर्वप्रकीर्णानि ये पठन्ति सर्वामिणाम् । पाठयन्ति सदा तेभ्य पाठकेभ्यो नमोऽस्तु वै ।।६
त्रिकालयोगयुक्तानां मूलोत्तरगुणात्मनाम् । तप.श्रीसंगिनां पादौ साधूनां प्रणमाम्यहम् ।।७
वीतरागमुखोद्गीर्णामङ्गपूर्वादिविस्तृताम् । आराध्यां मुनिभिर्वन्दे ब्राह्मीं प्रज्ञाप्रसिद्धये ।।८
गौतमादिगणाधीशानङ्गपूर्वादिपारगान् । महाकवीनहं वंदे बुद्धिसंज्ञानहेतवे ।।९

जो तीनो लोकोके स्वामी है, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, धर्मके स्वामी हैं और धर्मको देनेवाले हैं ऐसे श्री वृषभदेव जिनेन्द्रदेवको मैं (श्री सकलकीर्त्ति आचार्य) धर्मके लिए नमस्कार करता हूँ ।।१।। जिन्होने अपने वचनरूपी किरणोसे मोहरूपी नीदको दूरकर ससारको जगा दिया अर्थात् भव्य जीवोका मोह दूरकर मोक्षमार्गमे लगा दिया ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।।२।। मैं अपने प्रारम्भ किये हुए ग्रथको पूर्ण करनेके लिये धर्मसाम्राज्यके स्वामी और भव्य जीवोको सुख देनेवाले ऐसे शेप बाईस तीर्थंकरोको भी नमस्कार करता हूँ ।।३।। जो ज्ञानावरणादि आठो कर्मोसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठो गुणोसे सुशोभित हैं और लोकाकाशके शिखरपर विराजमान हैं ऐसे श्री सिद्ध भगवान्को मैं अपने कार्यकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ।।४।। जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार इन पाचो आचारोको स्वय पालन करते हैं और अपने शिष्योको पालन कराते हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोको मैं नमस्कार करता हूँ ।।५।। जो अगपूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोको स्वय पढते हैं और अन्य धर्मात्माओको पढाते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूँ ।।६।। जो सवेरे दोपहर और शाम तीनो समय योग धारण करते हैं, मूलगुण और उत्तर गुणोका पालन करते हैं तथा तप रूपी लक्ष्मीको सदा साथ रखते हैं अर्थात् सदा तपमे लीन रहते हैं ऐसे साधु परमेष्ठीके चरणकमलोको मैं नमस्कार करता हूँ ।।७।। जो वीतराग अरहतदेवके मुखसे प्रगट हुई है, अगपूर्व आदि अनेक रूपसे जो विस्तृत हुई है और मुनिलोग सदा जिसकी आराधना करते रहते हैं ऐसी सरस्वतीदेवीको मैं अपनी बुद्धिको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ।।८।। जो अगपूर्व आदि श्रुतज्ञानके पारगामी हैं और महा कवि है ऐसे गौतम आदि

मंगलार्थं नमस्कृत्य देवसिद्धान्तसद्गुरून् । वक्ष्ये प्रश्नोत्तरं ग्रन्थं धर्मव्याजेन केवलम् ॥१०
मतिश्रुतसमायुक्त श्रावकाचारतत्परः । भवेद्य. श्रावको धीमान् संवेगादिगुणान्वित ॥११
स पृच्छति गुरुं नत्वा रत्नत्रितयभूषितम् । सर्वसगविनिर्मुक्तं निर्ग्रन्थं धर्महेतवे ॥१२
अस्मिन्ननादिसंसारे नि सारे दु खपूरिते । सारं किं भगवनद्य कृपा कृत्वा निरूपय ॥१३
चतुर्गतिमहावर्ते संसारे क्षारसागरे । मनुष्य दुर्लभ विद्धि गुणोपेतं शरीरिणाम् ॥१४
मनुजत्वेऽपि किं सार येन तत्सफलं भवेत् । तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भवत श्रीमुखादहम् ॥१५
सद्धर्मपरमं सारं संसाराम्बुधितारकम् । सुखाकरं जिनैरुक्तं स्वर्गमुक्ति सुखप्रदम् ॥१६
एकभेदं द्विभेदं वा धर्मं विद्मो वय नहि । श्रुतं मया कुशास्त्रेषु नानाभेदै. प्ररूपितम् ॥१७
धर्मं पापं प्रजल्पन्ति तत्त्वहीनाः कुदृष्टय । वस्तुतत्त्वं न जानन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ॥१८
हेमादिकं यथा दक्षैर्गृह्यते घर्षणादिभि । तथा धर्मो गृहीतव्य. सुपरीक्ष्य विवेकिभि ॥१९
यथा दुग्ध भवेन्नाम्ना श्वेतं च स्वादुनान्तरम् । महिष्यर्कप्रभेदेन तथा धम जगुर्बुधाः ॥२०
यो रागद्वेषनिर्मुक्त सर्वज्ञस्तेन भाषितः । धर्म. सत्यो हि नान्यैश्च रागद्वेषपरायणैः ॥२१
स धर्मो हि द्विधा प्रोक्त सर्वज्ञेन जिनागमे । एकश्च श्रावकाचारो द्वितीयो मुनिगोचर ॥२२

समस्त गणधरोको मैं अपनी बुद्धि और ज्ञान वढानेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥९॥ इस प्रकार मगल कामनाके लिये देव, सिद्धान्त और श्रेष्ठ गुरुओको नमस्कारकर मै केवल धर्मके बहानेसे प्रश्नोत्तर श्रावकाचार नामके ग्रन्थको कहता हूँ ॥१०॥ जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान सहित है, श्रावकाचार पालन करनेमे तत्पर है, वुद्धिमान है और सवेग वैराग्यसे सुशोभित है उसको श्रावक कहते हैं ॥११॥ ऐसा कोई श्रावक केवल धर्मश्रवणकी इच्छासे रत्नत्रयसे सुशोभित और सव तरहके परिग्रहोसे रहित ऐसे निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कारकर पूछने लगा ॥१२॥ प्रश्न—हे भगवन् ! अनेक दु खोसे भरे हुए और असार ऐसे इस अनादि ससारमे क्या सार है सो कृपाकर आज मुझसे कहिये ? उत्तर—चारो गतिरूप वडे-वडे भवरोसे गोभायमान इस ससाररूपी क्षारसागरमे ससारी जीवोको गुणोंसे सुगोभित मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ वा सार है ॥१३–१४॥ प्रश्न—हे भगवन् ! इस मनुष्य जन्ममे भी क्या सार है जिससे कि यह मनुष्य जन्म सफल हो सके ? मै आपके श्रीमुखसे ये सव वात सुनना चाहता हूँ। उ०—इस मनुष्य जन्ममे भी श्रेष्ठ धर्मका प्राप्त होना ही परम सार है। यह धर्म ही ससाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, सुखका परम निधि है और स्वर्ग मोक्षके सुखोको देनेवाला है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१५–१६॥ प्रश्न—हे देव ! वह धर्म एक ही प्रकारका है या दो प्रकारका है सो मै कुछ नही जानता हूँ। मैने तो अन्य शास्त्रोमे अनेक प्रकारका धर्म सुना है ? उ०—जिस प्रकार जन्माध पुरुष सूर्यको नही जानते उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थोके स्वरूपको नही पहिचानते। ऐसे तत्त्वहीन पुरुष पापको ही धर्म कह देते है। जिस प्रकार चतुर पुरुप सुवर्णादिकको घिस देखकर लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानी जीवोको परीक्षाकर धर्मको स्वीकार करना चाहिये ॥१७–१९॥ जिस प्रकार भैसका दूध और आकका दूध दोनो ही नामसे दूध है तथा दोनो ही सफेद है तथापि उनके स्वादमे बडा भारी अतर है, उसी प्रकार वुद्धिमान लोग धर्मके स्वरूपको भी अनेक प्रकारका वतलाते है ॥२०॥ जो रागद्वेष रहित है वे सर्वज्ञ कहलाते है, उन सर्वज्ञका कहा हुआ जो धर्म है वही धर्म कहलाता है। अन्य रागद्वेषसे परिपूर्ण लोगोके द्वारा कहा हुआ धर्म कभी धर्म नही हो सकता ॥२१॥ श्री सर्वज्ञदेवने जैन शास्त्रोमे वह धर्म दो प्रकारका वतलाया है—एक श्रावकोके पालन करने योग्य श्रावकाचार और

एको हि देशतो धर्म. सुगम. श्रावकादिभि । शक्यते कर्तुमत्रैव गृहव्यापारभारितै ॥२३
द्वितीयो मुनिभि शक्यो धर्मो घोरपरोषहै । गृहमोहादिसत्यक्तैर्नान्यैर्दीनै कदाचन ॥२४
स्वामिन् तच्छ्रावकाचारं कथय त्वं कृपार्द्रधी. । येनात्मा मे सुखी भूयात् श्रुतेन धर्मतत्पर. ॥२५
एकाग्रचेतसा वत्स शृणु तत्कथयाम्यहम् । यत्प्रोक्तं जिननाथेन सर्वमङ्गे हि सप्तमे ॥२६
अंग सारं विशाल प्रोपासकाध्ययनं जिनात् । अर्थमादाय संदृब्ध वृषभाख्यगणेशिना ॥२७
तस्य सख्या प्रवक्ष्यामि पदानि सकलानि स्युः । सप्ततिश्च सहस्राणि लक्षा ह्येकादशस्फुटाम् ॥२८
षोडशापि शतान्येव द्विसप्तदशकोटय । लक्षास्त्र्यशीतिर्वै सप्तसहस्राणि शताष्टकम् ॥२९
अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा प्रोक्ता एकपदस्य वै । सर्वसंख्या जिनेन्द्रेण ज्ञातव्या तत्त्वदर्शिभि. ॥३०
अजितादिजिनाधीशैर्धर्मतीर्थप्रवर्तकै । सर्वैरंगं प्रणीतं तत् श्रावकाचारगोचरम् ॥३१
श्रीवीरस्वामिदेवेन गौतमेन गणेशिना । प्रोक्तमंगं महाग्रन्थ श्रावकस्य सुखाप्तये ॥३२
श्रीसुधर्ममुनीन्द्रेण चोक्त श्रीजम्बुस्वामिना । केवलज्ञाननेत्रण ज्ञानं गार्हस्थ्यगोचरम् ॥३३
विष्ण्वादिमुनिभि सर्वै द्वादशागश्रुतातगै. । प्रणीतं भव्यसत्त्वानामुपकाराय तत्कृतम् ॥३४
तत कालादिदोषेण प्रायुर्मेधादिहानित । हीयते प्रांगपूर्वादिश्रुतं श्रीधर्मकारणम् ॥३५
तत. श्री कुन्दकुन्दाचार्यादिमुख्ययतीश्वरा । प्रकाशयन्ति संज्ञानं सद्गृहाधिष्ठितात्मनाम् ॥३६
क्रमात्तांश्च समायातं परिज्ञाय महाश्रुतम् । वक्ष्ये सद्धर्मबीजं हि ज्ञानं भव्यसुखप्रदम् ॥३७

दूसरा मुनियोंके पालन करने योग्य यत्याचार ॥२२॥ उनमेसे पहिला श्रावकाचार धर्म एक देशरूप है, सुगम है और उसे श्रावक लोग अपने घरके व्यापार आदि भारको चलाते हुए भी इस ससारमे अच्छी तरह पालन कर सकते हैं। दूसरे यत्याचार धर्मको घोर परीषहोको सहन करनेवाले मुनिराज ही पालन कर सकते है। उसे अन्य दीन गृहस्थी मनुष्य कभी पालन नही कर सकते ॥२३-२४॥

प्रश्न—हे स्वामिन्! आप कृपाकर श्रावकाचारका वर्णन कीजिये जिसके सुननेसे मेरा आत्मा धर्म पालन करनेमे तत्पर हो और सुखी हो ॥२५॥ उ०—हे वत्स! तू चित्त लगाकर सुन। जो श्री जिनेन्द्रदेवने सातवें उपासकाध्ययन नामके अंगमे वर्णन किया है वह सब मै कहता हूँ ॥२६॥ यह उपवासकाध्ययनाग बहुत बडा है और अगोमे सारभूत है। भगवान् वृषभदेवने जो अपनी दिव्यध्वनिमे कहा था उसका अर्थ लेकर श्री वृषभसेन गणधरने उसकी रचना की है ॥२७॥ उसके सब पदोकी सख्या ग्यारह लाख सात हजार है तथा एक एक पदमे सोलह सौ चौंतीस करोड (सोलह अरब चौंतीस करोड) तेरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी वर्ण है ॥२८-३०॥ यह श्रावकाचार धर्म जैसा श्री वृषभदेवने निरूपण किया था वैसा ही अजितनाथ आदि सब तीर्थंकरोने निरूपण किया था ॥३१॥ श्रावकोंके सुखके लिये श्री वर्द्धमान स्वामीने भी निरूपण किया, और गौतम गणधरने भी निरूपण किया ॥३२॥ मुनिराज श्री सुधर्माचार्य तथा श्री जम्बूस्वामीने अपने केवलज्ञानके द्वारा इस सब गृहस्थाचारका निरूपण किया ॥३३॥ इनके अनतर भव्य जीवोका उपकार करनेके लिये द्वादशाग श्रुतज्ञानको जानने वाले विष्णु आदि श्रुतकेवलियोने भी इस अगका निरूपण किया ॥३४॥ श्रुतकेवलियोके बाद काल दोषसे मनुष्योंकी आयु बुद्धि शरीर सहनन आदि घट जानेके कारण धर्मको स्थिर रखनेवाला अग पूर्वोका ज्ञान भी कम हो गया ॥३५॥ तब श्री कुदकुद आदि अनेक आचार्योने इस श्रावकाचारका वर्णन किया। इस प्रकार अनुक्रमसे जिनका वर्णन चला आया है ऐसे महाशास्त्रोको जानकर धर्मके कारण भव्य जीवोको सुख देनेवाले और

यत्प्रोक्तं मुनिभिः पूर्वं महामतिविशारदैः। तच्छक्यं कथमस्माभि प्रोक्तं ज्ञानलवेन वै ॥३८
तथापि तत्क्रमाम्भोजप्रणामार्जितपुण्यतः। स्तोकं सारं प्रवक्ष्यामि धर्मं श्रावकगोचरम् ॥३९
येन धर्मेण जीवाना पापं नश्यति दूरतः। स्वर्गश्री. स्वयमायाति मुक्तिरालोक्यते पुनः ॥४०
धर्मसिंहासनारूढो यद्यदङ्गी समीहते। तत्तदेव समायाति सुखं लोकत्रयोद्भवम् ॥४१
सद्धर्मो यस्य जीवस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत्। कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामधेनुश्च किंकरी ॥४२
धर्मो बन्धुश्च मित्रं स्याद्धर्मं स्वामिसुखाकरः। हितं करोति जन्तूनामत्रामुत्र फलप्रद ॥४३
श्रावकाचारज धर्मं श्रेष्ठं यो वितनोति सः। स्वर्गे षोडशमे भुक्त्वा सुखं मुक्त्यालयं व्रजेत् ॥४४
यथा मेघाद्विना न स्यात्सस्य-निष्पत्तिरत्र भो.। तथा धर्माद्विना लक्ष्मीर्धनधान्यादिगोचरा ॥४५
ऋद्धिः सजायते नैव पापेनाचरणेन वा। यथा हि मुखसंजातममृतं नैव दृश्यते ॥४६
धर्मं य. कुरुते साक्षादलं तस्य फलं परम्। विधत्ते धर्मसन्नाम योऽसौ स्वर्गाधिपो भवेत् ॥४७
असद्विद्याविनोदेन किं साध्य हितकाङ्क्षिणाम्। धर्म सदैव कर्तव्यो येन जीवः सुखायते ॥४८
भ्रातस्त्व भज दर्शनं व्रतमत सामायिकं प्रोषधं, त्याग चैव सच्चित्तवस्तुविषये सूर्यास्तमे भोजनम्।
अब्रह्म त्यज पापदं गृहभव प्रारम्भमेवाञ्जसा, द्रव्य स्वगृहकारणानुमननं प्रोद्दिष्टभुक्तादिकम् ॥४९

ज्ञानको वढानेवाले शास्त्रको मै कहता हूँ ॥३६-३७॥ जो यह शास्त्र पहिलेके बडे बडे बुद्धिमान और चतुर आचार्योने निरूपण किया है उसे मै यद्यपि अपने थोडे ज्ञानसे कह नही सकता तथापि उन आचार्योके चरणकमलोको नमस्कार करनेसे जो पुण्य प्राप्त हुआ है उसके प्रभावसे मै थोडा सा सारभूत श्रावकाचार धर्म कहता हूँ ॥३८-३९॥ इस जैन धर्मके प्रभावसे जीवोको पाप दूरसे ही देखता रहता है पास नही आता, तथा स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप उसके पास आ जाती है और मुक्तिरूपी कन्या भी उसे सदा देखती रहती है ॥४०॥ जो जीव धर्मसिंहासनपर विराजमान है वह तीनो लोकोमे उत्पन्न हुए सुखोमे से जो जो चाहता है वह सब उसके पास स्वय आ जाता है ॥४१॥ जो जीव इस श्रेष्ठ धर्मको पालन करता है उसके हाथमे चिंतामणि रत्न ही समझना चाहिये अथवा कल्पवृक्ष उसके घरमे ही समझना चाहिये और कामधेनु उसकी दासी समझनी चाहिये ॥४२॥ इस ससारमे धर्म ही वधु है, धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही सुख करनेवाला है, धर्म ही हित करनेवाला है और इस लोक तथा परलोक दोनो लोकोमे धर्म ही जीवोको श्रेष्ठ फल देनेवाला है ॥४३॥ जो जीव इस सर्व श्रेष्ठ श्रावकाचार धर्मका पालन करता है वह सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षमहलमे जा विराजमान होता है ॥४४॥ जिस प्रकार इस लोकमे विना मेघोकी वर्षाके अच्छे धान्योकी उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार विना धर्मके धन्य धान्य आदि किसी भी प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त नही होती ॥४५॥ जिस प्रकार सर्पके मुखमे पडी हुई कोई भी वस्तु अमृत रूप नही हो सकती उसी प्रकार पापाचरणोसे धन धान्यादि ऋद्धियाँ कभी नही मिल सकती ॥४६॥ जो जीव इस धर्मको साक्षात् होकर पालन करता है उसको अन्य किसी फलकी आवश्यकता नही है क्योकि इस धर्मको पालन करनेवाला पुरुप स्वय स्वर्गका स्वामी वन जाता है ॥४७॥ इसलिये अपने आत्माका हित चाहनेवाले जीवोको अज्ञान छोडकर सदा धर्मका ही पालन करते रहना चाहिए क्योकि धर्मका पालन करनेसे ही सुखकी प्राप्ति होती है ॥४८॥ हे भाई, तू दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओको अनुक्रमसे पालन कर। ये सव प्रतिमाएँ पापोको नष्ट करनेवाली

बुधजनपरिसेव्यं तीर्थनाथैः प्रणीतं, विमलगुणनिधानं स्वर्गसदानदक्षम् ।
अमलसुखसमुद्रं दानपूजादियुक्तं, भज विगतविकारं त्वं च सागारधर्मम् ॥५०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे संक्षेपव्रतप्ररूपको नाम
प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥



हैं ॥४९॥ जिसमें दान देना और श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करना ही मुख्य है और जो संसारके समस्त विकारोंसे रहित है ऐसे इस श्रावकाचार धर्मको बुद्धिमान लोग पालन करते हैं। श्री तीर्थंकर परमदेवने इसका निरूपण किया है। यह अनेक निर्मल गुणोंका निधि है, स्वर्गोंके सुख देनेमें चतुर है और निर्मल सुखका समुद्र है ऐसे इस श्रावकाचार धर्मको हे भव्य ! तू पालन कर ॥५०॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें संक्षेपसे
व्रतोंको निरूपण करनेवाला यह प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१॥



दूसरा परिच्छेद

अजितं जिनमानम्य निर्जिताशेषविद्विषम् । सविशेषमतो वक्ष्ये शृणु श्रावकसद्व्रतम् ॥१
दर्शन मूलमित्याहुर्जिना सर्वव्रतात्मनाम् । अधिष्ठान यथा धाम्नस्तरूणा मूलमेव च ॥२
तस्मात्सद्दर्शनं सारं गृहीतव्य विवेकिभिः । गृहस्थैर्येन जायन्ते व्रतान्यपि विमुक्तये ॥३
श्रद्धानं सप्ततत्त्वाना सम्यक्त्वं कथ्यते जिनै । श्रद्धेयानि बुधैस्तानि पूर्वं सद्दर्शनान्वितैः ॥४
भगवन् तत्त्वसद्भावं विस्तार कारणं गुणान् । संख्याभेदास्तदर्थं च कथय त्वं ममादरात् ॥५
शृणु धीमन् महाभाग तत्त्वं त्वा कथयाम्यहम् । किंचिन्मेधानुसारेण चागमेनापि तत्त्वत ॥६
जीवाजीवास्रवा बन्ध. संवरो निर्जरा तथा । मोक्षः सप्तैव तत्त्वानि भाषितानि जिनागमे ॥७
जीवितोऽनादितो जीवो जीविष्यति पुनः पुन । द्रव्यभावविभेदैश्च प्राणै सौख्यं चलात्मनाम् ॥८
पंचैव चेन्द्रियप्राणाः कायवाक्चित्तयोगत । बलप्राणास्त्रिधायुश्च नि श्वासोच्छ्वास एव हि ॥९
उपयोगमयो जीव शुद्धनिश्चततो भवेत् । व्यवहारेण मत्यादिज्ञानदर्शनगोचर. ॥१०
अमूर्तो निश्चयादङ्गी भोक्ता कर्मादिकं न च । व्यवहारेण मूर्त्तोऽपि भोक्ता कर्मफल भवेत् ॥११
अकर्ता कर्मनोकर्मरागद्वेषघटादिकान् । शुद्धद्रव्यार्थिकेनापि संसारे भ्रमण न च ॥१२

अब मैं राग द्वेष आदि समस्त दोषोको जीतने वाले भगवान् अजितनाथको नमस्कारकर श्रावकोके व्रतोको विशेष रीतिसे कहता हूँ सो हे भव्य ! तू सुन ॥१॥ जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी जड है उसी प्रकार समस्त व्रतोकी जड सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार विना जडके वृक्ष ठहर नही सकता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके कोई व्रत नही हो सकता ॥२॥ इसलिये विवेकी गृहस्थोको सबसे पहिले सब व्रतोका सारभूत सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये, क्योकि सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाले व्रत ही समस्त पापोको दूर कर सकते है अन्यथा नही ॥३॥ जीवादिक सातो तत्त्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले जीवोको उन तत्त्वोका ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिये ॥४॥ प्र०—हे भगवन् ! वे तत्त्व कौन कौन हैं ? उनमे क्या क्या गुण हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? उनके भेद कितने है ? आदि सब बाते विस्तारपूर्वक मेरे लिये कहिये ? उ०—हे बुद्धिमान् ! भाग्यवान ! सुन, मै उन तत्त्वोका स्वरूप आदि अपनी बुद्धि और आगमके अनुसार सक्षेपसे कहता हूँ ॥५-६॥ जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जैन शास्त्रोमे बतलाये हैं ॥७॥ जो द्रव्य प्राण और भाव प्राणोसे अनादि कालसे लेकर जीवित रहता है और आगे भी बार बार जीवेगा और ऐसा होने पर भी जिसका स्वरूप निश्चल है उसको जीव कहते हैं ॥८॥ द्रव्य प्राण दश हैं—पाँच इद्रियाँ, मन, वचन, शरीर ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनसे ही यह जीव जीवित रहता है। यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो केवल उपयोगमय जीव है। व्यवहार नयसे मत्स्यादि ज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शनके गोचर हैं ॥९-१०॥ निश्चय नयसे अमूर्त है और कर्मादिकोका भोक्ता नही है। व्यवहारनयसे मूर्त है और कर्मोके सुख दु ख आदि फलोका भोक्ता है ॥११॥ शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव न तो कर्म नोकर्मोका कर्ता है न राग द्वेषोका कर्ता है और न घट पट आदि पदार्थोका कर्ता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव ससारमे परिभ्रमण भी नही करता ॥१२॥ किन्तु व्यवहार नयसे यह जीव

कर्ताकर्मशरीरादिमोहद्वेषपटादिकान् । व्रजनं दीर्घसंसारे व्यवहारनयात् पुनः ॥१३
कायप्रमाण आत्मायं समुद्घातं विना भवेत् । प्रदीप इव संकोचविस्तारो व्यवहारत ॥१४
लोकाकाशसमो जीवो निश्चयेन भवेत् सदा । मुक्त पूर्वशरीरस्य किंचिदूनाकृतिर्भवेत् ॥१५
द्विधा जीवा भवन्त्येव सिद्धा संसारिणः पुन । जात्यादिभेदनिष्क्रान्ता. षड्धा कर्मविचेष्टिता ॥१६
भूनीराग्निसमीराश्च नित्येतरनिगोतका । स्यु सप्त सप्त लक्षाणि दशैव तरुजातय ॥१७
द्वित्रितुर्येन्द्रिया द्वौ द्वौ वै तिर्यक् सुरनारका । चतुर्लक्षा मनुष्याश्च चतुर्दशविभेदत ॥१८
चतुरशीतिलक्षा स्यु योनय श्रीजिनागमात् । आयुकायादिभेदेन ज्ञातव्या तत्त्वदर्शिभि ॥१९
चतुर्दशगुणस्थानान् मार्गणादिषु प्रत्यहम् । जीवतत्त्वं च निश्चेयं बुधैर्दृष्टिविशुद्धये ॥२०
अजीव पञ्चधा ज्ञेय पुद्गलस्तत्त्वशालिभि । धर्मोऽधर्मो नभ काल स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक ॥२१
स्पर्शादिगुणसंयुक्त पुद्गलो बहुधा भवेत् । अणुस्कन्धादिजैर्भेदै सुखदु.खप्रदोऽङ्गिनाम् ॥२२
धर्मोऽसंख्यप्रदेश स्याज्जीवपुद्गलयोर्गतौ । सहकारी विमूर्तश्च मत्स्यानामुदकं यथा ॥२३

कर्म नोकर्म वा शरीर आदिका कर्ता है, मोह द्वेष आदिका कर्ता है और घट पट आदि पदार्थोका भी कर्ता है तथा दीर्घ ससारमे परिभ्रमण भी करता है ॥१३॥ इस आत्मामे दीपकके प्रकाशके समान सकोच और विस्तार होनेकी शक्ति है इसलिये व्यवहार नयसे यह जीव [1]समुद्घात अवस्था-को छोडकर कर्मोके उदयके अनुसार प्राप्त हुए छोटे बड़े शरीरके प्रमाणके बराबर है—जब जितना बडा शरीर पाता है तब उतना ही बडा हो जाता है ॥१४॥ परतु निश्चय नयसे लोकाकाशके समान असख्यात प्रदेश वाला है। (उन प्रदेशोमे कभी हीनाधिकता नही होती) जो जीव मुक्त हो जाते हैं उनका आकार अतिम शरीरसे कुछ कम होता है ॥१५॥ जीव दो प्रकारके हैं—ससारी और सिद्ध। (कर्म सहितको ससारी और कर्म रहितको सिद्ध कहते हैं।) यदि जाति आदिका भेद न भी गिना जाय तो भी ससारी जीव छह प्रकारके हैं (त्रस और पाँच प्रकारके स्थावर) ॥१६॥ पृथ्वी कायिक जीवोकी योनियाँ सात लाख हैं, जल कायिककी सात लाख, अग्निकायिककी सात लाख, वायु कायिककी सात लाख, नित्य निगोदकी सात लाख, इतर निगोदकी सात लाख, वनस्पतिकायिककी दश लाख, द्वीन्द्रिय जीवोकी दो लाख, त्रीन्द्रिय जीवोकी दो लाख, चौइन्द्रिय जीवोकी दो लाख, तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोकी चार लाख, देवोकी चार लाख, नारकियोकी चार लाख और मनुष्योकी चौदह लाख इस प्रकार जैन शास्त्रोमे जीवोकी सब चौरासी लाख योनियाँ बतलाई हैं। तत्त्वोके जानकार जीवोको आयु काय आदिके भेदसे ये सब योनियाँ जान लेनी चाहिये ॥१७–१९॥ जो चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओमे रहे वह भी ससारी जीव ही समझना चाहिये। इस प्रकार सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करनेके लिये बुद्धिमानोको जीव तत्त्व समझ लेना चाहिये ॥२०॥ तत्त्वोके जानकार जीवोको अजीव तत्त्वके पाँच भेद समझने चाहिये। धर्म, अधर्म, आकाश और काल चार तो ये हैं, ये चारो ही पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप हैं तथा पाचवा अजीव तत्त्व पुद्गल है उसमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण गुण हैं और वह अणु स्कध आदि भेदसे अनेक प्रकारका है। यह पुद्गल जीवोको सुख दु ख भी देता है ॥२१-२२॥ धर्म द्रव्य असख्यात प्रदेशवाला है और अमूर्त है तथा जिस प्रकार मछलियोके चलनेमे पानी सहायक होता है उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलोके गमन करनेमे सहायक होता है ॥२३॥ अधर्म

१. आत्माके प्रदेश शरीरमें रहते हुए भी शरीरके बाहर निकल जाते हैं उसको समुद्घात कहते हैं।

अमूर्तो निष्क्रियोऽधर्मो जीवपुद्गलयोः स्थितौ । सो ह्यकर्ता यथा छाया पथिकानां जिनैर्मतः ॥२४
अवकाशप्रदो ज्ञेयो द्रव्याणां संभृतश्च तैः । असंख्यातप्रदेशो हि लोकाकाशोऽविनश्वरः ॥२५
अन्तातीतप्रदेशोपि केवलो मूर्तिवर्जित । नित्यो जिनागमाज् ज्ञेयोऽलोकाकाशो विचक्षणै ॥२६
व्यवहाराभिध' कालो दिवसादिमयो भवेत् । द्रव्यप्रवर्तको नित्यो व्यक्त सूर्यादिबिम्बत. ॥२७
अमूर्तो निष्क्रियः प्रोक्तो लोकाकाशसमो जिनै । कालो निश्चयसंज्ञश्च भिन्नभिन्नप्रदेशवान् ॥२८
जीवद्रव्येण संयुक्ता अमी द्रव्या भवन्ति षट् । कालद्रव्याद्विनाप्येते पञ्चास्तिकायका मता ॥२९
मिथ्यात्वाविरतीयोगकषाया एव प्रत्यया । प्रमादसहिता ह्येते कर्मादानस्य हेतवः ॥३०
सच्छिद्रनाववज्जीवा मज्जन्ति भववारिधौ । कर्मास्रवस्य दोषेण मिथ्यात्वादिमलीमसा ॥३१
जीवकर्मादिसंश्लेषो बन्ध संकीर्तितो बुधै । अनन्तदु खसन्तानदाहवह्निर्महेन्धन ॥३२
तैलस्निग्धे भवेदङ्गे यथा रेणुसमागमः । कर्माणवस्तथा यान्ति जीवे रागादिदूषिते ॥३३
सर्वास्रवनिरोधो यः संवरोऽसौ जिनै स्मृत । असंख्यकर्मसन्तानस्फेटको मुक्तिसौख्यद ॥३४
तप समितिचारित्रगुप्तिधर्मपरीषहै । संवर स्यान्मुनीना च ज्ञानध्यानव्रतादिभि. ॥३५

द्रव्य अमूर्त है, क्रिया रहित है और जिस प्रकार पथिकोके ठहरनेमे छाया सहायक होती है उसी प्रकार यह अधर्म द्रव्य भी जीव पुद्गलोके ठहरनेमे सहायक होता है ॥२४॥ आकाशके दो भेद है— एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश। जो जीवादिक समस्त पदार्थोको जगह दे सके उसे आकाश कहते हैं। जो समस्त द्रव्योसे भरा हुआ है और जिसमे असख्यात प्रदेश हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। यह लोकाकाश भी अविनश्वर है, कभी नाश नही होता ॥२५॥ अलोकाकाशमे अनत प्रदेश है वह अकेला है। उसमे अन्य कोई द्रव्य नही है। वह अमूर्त है, नित्य है और जैन शास्त्रोके द्वारा ही चतुर पुरुषोको उसका ज्ञान होता है ॥२६॥ घडी, घटा, दिन आदिको व्यवहार काल कहते है। द्रव्योंकी पर्यायोको बदलनेवाला यह व्यवहार काल ही है। यह व्यवहार काल अनित्य है और सूर्य चद्रमा आदि घूमते हुए ज्योतिषी देवोके विमानोसे मालूम होता है ॥२७॥ निश्चयकाल अमूर्त है और क्रिया रहित है। उसके भिन्न भिन्न असख्यात प्रदेश हैं और वे अलग अलग एक एक करके लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर ठहरे हैं ॥२८॥ इस प्रकार अजीव तत्त्वके ये पाँच भेद है। यदि इनके साथ जीव मिला लिया जाय तो ये ही (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव) छह द्रव्य कहलाते हैं। इनमेसे काल द्रव्यको छोडकर वाकीके पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते है ॥२९॥ कर्मों-के आनेके कारणोको आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति योग, कषाय और प्रमाद ये सब कर्मोंके आनेके कारण हैं अर्थात् इनसे ही कर्म आते है ॥३०॥

जिस प्रकार किसी नावमे छिद्र हो जानेके कारण उसमे पानी भर जाता है और फिर उस नावके साथ उस पर वैठने वाला मनुष्य समुद्रमे डूब जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरत आदि दोषोसे मलिन हुआ यह जीव भी कर्मोंके आस्रव होनेके दोषोसे ससाररूपी समुद्रमे डूब जाता है ॥३१॥ बुद्धिमान लोग जीव और कर्मके सबंध होनेको बध कहते हैं। यह कर्मबध अनत दु खोको देनेवाला है, दाह वा जलन रूपी अग्निके लिये महा ईंधनके समान है ॥३२॥ जिस प्रकार शरीर पर तैल लगा लेनेसे उस पर धूल आकर जम जाती है उसी प्रकार राग द्वेष आदि दोषोसे दूषित होने पर जीवके भी कर्मोका समूह आकर बधको प्राप्त हो जाता है ॥३३॥ सब प्रकारके आस्रवका निरोध हो जाना—रुक जाना—सवर कहा जाता है, यह सवर ही अनत कर्म समूहको नाश करने-वाला है और मोक्ष सुखको देनेवाला है ॥३४॥ मुनियोके यह सवर तप, समिति, चारित्र, गुप्ति, धर्म,

पूर्वकर्मकृतस्यैव ज्ञानध्यानतपोरतै.। विधीयते क्षयं यश्च निर्जरा सा विपाकजा ॥३६
कर्तव्या मुनिभि सा च सर्वमुक्तिनिबन्धना। विपाकात्कर्मणां जाता साप्यन्या परकर्मदा ॥३७
सविपाका हि सर्वेषा भवेत्कर्मवशाच्च सा। हेयान्कर्मदादेया परा मोक्षकरा,बुधैः ॥३८
यो जीवकर्मविश्लेष स मोक्ष कथ्यते जिनै। मुनीनां सत्तपोवृत्तसंवरणादिकृतात्मनाम् ॥३९
यथा बन्धनबद्धस्य पुरुषस्य विमोचनात्। सुखं भवेत्तथा कर्मबन्धस्य तत्क्षयाद्वरम् ॥४०
आत्यन्तिकं स्वभावोत्थमनन्तमविनश्वरम्। अनौपम्य भ्रमातीतं मोक्षसौख्यं जगुर्जिना ॥४१
शुभाशुभेन भावेन पुण्यपापद्वय भवेत्। सातायुर्नामगोत्राणि पुण्यं पापं ततोऽपरम् ॥४२
मिथ्यात्वपञ्चकं क्रूरं कषाया पञ्चविंशति। दशपञ्च प्रमादाश्च योगा कौटिल्यतत्पराः ॥४३
मदाष्टकं चतु सज्ञा विषया सप्तविंशति·। आर्तरौद्राष्टकं ध्यानं सप्तैव व्यसनानि च ॥४४
विषादो द्वादशैर्वापि पापाढ्यास्त्वविरतयः। रागो द्वेषो महामोहो भया सप्त शरीरिणाम् ॥४५
वेदाः शोका क्रियाश्चैव विंशतिश्चतुरुत्तरा। कौटिल्यं सर्वमेतच्च पापबन्धाय सम्भवेत् ॥४६
नियमस्य विभङ्गेन महापाप प्रजायते। प्राणिनां देवसच्छास्त्रगुरुलोपनयोगतः ॥४७
धर्मादिविघ्नकरणात्पापं मिथ्यात्वपोषणात्। सततं मिथ्योपदेशात्कौटिल्याज्जायते पुन ॥४८

परीषहजय और ज्ञान, ध्यान, व्रत आदिके द्वारा होता है ॥३५॥ कर्मोके एक देश क्षय होनेको निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती हैं—अविपाक निर्जरा और सविपाक निर्जरा। जो ज्ञान, ध्यान और तपके द्वारा पहिलेके इकट्ठे किये हुए कर्म नष्ट होते है उसको अविपाक निर्जरा कहते है ॥३६॥ इस अविपाक निर्जराको मुनि लोग ही करते हैं यह निर्जरा स्वर्ग मोक्षकी कारण है। तथा जो कर्मोके विपाकसे होती है, कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं उसको सविपाक निजरा कहते हैं। यह सविपाक निर्जरा अन्य अनेक कर्मोका आस्रव करनेवाली है ॥३७॥ यह सविपाक निर्जरा ससारी सब जीवोके होती है, कर्मके आधीन है और अन्य अनेक कर्मोका आस्रव करनेवाली है तथा दूसरी अविपाक निर्जरा विद्वानोको मोक्ष देनेवाली है ॥३८॥ जीव कर्मोके सबधके छूट जानेको अर्थात् समस्त कर्मोके नाश हो जानेको मोक्ष कहते हैं। सवर निर्जरा आदिको धारण करनेवाले मुनियोके तप चारित्र आदिसे वह मोक्ष प्राप्त होती है ॥३९॥ जिस प्रकार किसी बधनसे बँधे हुए पुरुषको छोड देनेसे सुख होता है उसी प्रकार कर्मोसे बधे हुए जीवको उन कर्मोके नाश हो जानेसे अनत सुख प्राप्त होता है ॥४०॥ मोक्षका सुख स्वाभाविक है, अनत है फिर कभी भी नष्ट नही होता, ससारमे कोई भी इसकी उपमा नही, ससारके परिभ्रमणसे सर्वथा रहित है और आत्यतिक है ऐसा श्री जिनेद्रदेवने कहा है ॥४१॥ जीवोके शुभ अशुभ भावोसे पुण्य पाप होता है अर्थात् शुभ भावोसे पुण्य होता है और अशुभ भावोसे पाप होता है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये कर्म पुण्य हैं और बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये पाप हैं ॥४२॥ मिथ्यात्व पाँच, कषाय पच्चीस, प्रमाद पद्रह, कुटिलतामे तत्पर रहनेवाले योग ये सब पापबन्धके कारण हैं। इनके सिवाय मद आठ, सज्ञा चार, विषय सत्ताईस, आर्तध्यान चार, रौद्रध्यान चार, व्यसन सात, अविरति बारह, राग, द्वेष, मोह, भय सात, वेद, शोक क्रिया चौबीस, इन सबका होना कुटिलता कहलाती है। ये सब पापबन्धके कारण हैं ॥४३–४६॥ किसी स्वीकार किये हुए नियमके भग करनेसे (किसी व्रतका भग कर देनेसे) महापाप उत्पन्न होता है तथा देव शास्त्र गुरुके छिपानेसे अथवा उनकी आज्ञाका भग करनेसे भी जीवोको महापाप होता है ॥४७॥ धर्मकार्योमे विघ्न करनेसे पाप और मिथ्यात्वकी

पापं शत्रुं परं विद्धि महादु:खानलेन्धनम् । श्वभ्रादिदुर्गतेर्बीजं रोगक्लेशादिसागरम् ।।४९
यदा जीवस्य स्यात्पूर्वकृतं पापं च सन्मुखम् । तदा भोजनसद्वस्त्रधनं नश्येद् गृहादिकम् ।।५०
यदि पापं भवेद् गुप्तं तत सिद्धं समीहितम् । अन्यथा विफलः क्लेशस्तपोवृत्तश्रुतादिभिः ।।५१
ते बान्धवा महामित्रा धर्मं व कारयन्ति ये । धर्मविघ्नकरा ये च शत्रवस्ते न संशया. ।।५२
ये तारयन्ति भव्यानां महापापाम्बुधौ च ते । धर्मोपदेशहस्ताभ्यां मुनय सन्ति बान्धवाः ।।५३
किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिद्धि विरूपकम् । दु खदारिद्ररोगादि सर्वं तत्पापजं भवेत् ।।५४
इति मत्वा त्वया धीमन् पापं त्याज्य विवेकत । यदि स्वर्मुक्तिसौख्यादौ वाञ्छा ते वर्तते परा ।।५५
अघस्य बीजभूतानि कारणानि फलानि च । वीरनाथो यदि ब्रूते वक्तुमन्यो न च प्रभु ।।५६
एन कारणभूतानि पूर्वं प्रोक्तानि यानि च । विपरीतानि तान्येव सत्पुण्याय भवन्ति नुः ।।५७
क्षमादिदशधा धर्मो द्वादशैव व्रतानि च । उत्कृष्टश्रावकाचारो द्वादशैव तपांसि च ।।५८
आहारादिचतुर्भेदं दान सन्मुनये वरम् । ज्ञानध्यानादिकाभ्यास पूजन श्रीजिनेशिनाम् ।।५९
सद्धर्मिणां च सन्मान सेवनं सद्गुरो सदा । निर्मापणं जिनार्चायाः भवनानि चाप्यर्हताम् ।।६०
प्रतिष्ठा जिनबिम्बानां महाभ्युदयसाधिनी । अभिषेकोऽर्हन्मूर्तीना महोत्सवपुरस्सर ।।६१
अनुप्रेक्षादिकाचिन्ता प्रोद्यमस्तपस्यञ्जसा । सोपकारोऽन्यजीवस्य धर्मादिकथन नृणाम् ।।६२

पुष्टि करनेसे तथा सदा मिथ्या उपदेश देनेसे सबसे बडी कुटिलता प्रगट होती है अर्थात् सबसे अधिक पाप होता है ।।४८।। यह पाप जीवोका सबसे वडा शत्रु है । अनेक बडे बडे दु खरूपी अग्निके लिये इंधन हैं, नरक आदि दुर्गतियोका कारण और रोग क्लेश आदिका महासागर है ।।४९।। जब इस जीवके पहिले किये हुए पाप सामने आते हैं अर्थात् वे उदयमे आकर अपना फल देते है तव भोजन, वस्त्र, धन, घर आदि सव नष्ट हो जाता है ।।५०।। जब इस जीवके पाप रुक जाते है—नष्ट हो जाते हैं तब इस जीवकी सव इच्छाएँ पूरी हो जाती है । यदि पाप न रुके हो—नष्ट न हुए हो तो फिर तप करना, चारित्र पालन करना, श्रुतज्ञानका वढाना आदि सब व्यर्थ और क्लेश बढानेवाला है ।।५१।। ससारमे वे ही मित्र हैं और वे ही वन्धु हैं जो हम लोगोसे धर्मसेवन कराते हैं । जो धर्ममे विघ्न करनेवाले हैं वे शत्रु है इसमे कोई सदेह नही ।।५२।। जो मुनिराज इस महा-पापरूपी सागरमे पडे हुए भव्य जीवोको धर्मोपदेशरूपी दोनो हाथोका सहारा देकर उस पापरूपी महासागरसे पार कर देते है वे ही इस जीवके सच्चे वान्धव हैं ।।५३।। वहुत कहनेसे क्या लाभ ? थोडेसे मे इतना समझ लेना चाहिये कि ससारमे जो कुछ वुरा है, दु ख है, दरिद्रता है, रोग आदि आधिव्याधि है वे सव पापसे ही उत्पन्न होती है ।।५४।। इसलिये हे धीमन् ! यदि तू स्वर्ग मोक्षके सुख चाहता है और दु खोसे वचना चाहता है तो वुद्धिपूर्वक पापोका त्याग कर ।।५५।। इन पापोके बीजभूत कारणोको व फलोको जव भगवान् वर्द्धमानस्वामीने कहा है फिर भला अन्य कौन कह सकता है ।।५६।। तथापि पापके कारण जो पहिले वतलाये है उनके प्रतिकूल कारण पुण्य सम्पादन करनेके लिये कहे जाते हैं ।।५७।। उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, वारह व्रत, उत्कृष्ट श्रावकाचारका पालन करना, वारह प्रकारका तप, श्रेष्ठ मुनियोको आहार आदि चार प्रकारका दान देना, ज्ञान सम्पादन करना, ध्यान करना, भगवान् अरहतदेवका पूजन करना, धर्मात्मा लोगोका आदर सत्कार करना, गुरुकी सेवा करना, जिन प्रतिमाका वनवाना, अरहन्तदेवकी भावना करना, अनेक विभूतियोकी देनेवाली जिनविंबोकी प्रतिष्ठा करना, वडे भारी उत्सवके साथ अरहन्तदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करना, वारह अनुप्रेक्षाओका चिंतवन करना, तप करना, अपने आत्माका कल्याण करना, अन्य

कृपादिसहितं चित्तं धर्मध्यानादिवासितम् । प्राणिनां यद्भवेदेतत्सर्वं पुण्याय जायते ॥६३
यदा चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु । महापुण्यं तदैव स्यात्तद्विना किं तपोऽखिलैः ॥६४
अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्य परेषां क्रियते न तत् । एतत् पुण्यस्य मूलं स्यात् किं वृथा श्रूयते तराम् ॥६५
रत्नत्रयादिभावेन श्रीजिनस्मरणेन च । निर्ग्रन्थभक्तितो भव्या लभन्ते पुण्यमद्भुतम् ॥६६
देवशास्त्रगुरुसेवा संसारे नित्यभीरुता । पुण्याय जायते पुंसां सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया ॥६७
वैराग्यवासितं चित्तं ज्ञानाभ्यासादितत्परम् । सर्वतत्त्वदयोपेतं सूते पुण्यं शरीरिणाम् ॥६८
धर्मोपदेशसंयुक्तं वाक्यं भूतहितावहम् । विकथादिविनिर्मुक्तं भवेत्सत्पुण्यकर्मणे ॥६९
शुभाय संवृतं देहं भवेत्सौम्यं शरीरिणाम् । आसनादिसमायुक्तं स्थितं वा त्यक्तनिष्क्रियम् ॥७०
महापुण्यनिमित्तं हि महामन्त्रं जगुर्बुधाः । अनन्तपापसन्तानननाशकं गुरुनामजम् ॥७१
दृष्टिपूर्वं मुनीनां च तपोज्ञानयमादिकम् । मुक्तेर्बीजं भवेदग्रे साम्प्रतं पुण्यकर्मदम् ॥७२
दर्शनेन विना पुंसां दानवृत्तादिसेवनम् । पुण्याय न च मुक्त्यै हि भाषितं मुनिपुंगवैः ॥७३
ज्ञानध्यानसुवृत्तादि सर्वं दानादिकं तथा । आचारत्व विमुक्त्यर्थं न च पुण्याय धान्यवत् ॥७४
मुक्त्यर्थं क्रियते किंचित्तपोदानयमादिकम् । महापुण्याय तत्तस्याच्चित्तशुद्धेन देहिनाम् ॥७५

जीवोंके लिये धर्मोपदेश देना, हृदयमें धर्मध्यानका चितवन रहना आदि सब प्राणियोंको पुण्य सम्पादन करनेवाले हैं ॥५८–६३॥ जब यह मनुष्यका हृदय सब प्राणियोंके लिये दयासे द्रवीभूत होता है, दयासे पिघल जाता है तभी इस जीवको पुण्य होता है। बिना दयाके सब प्रकारके तप करनेसे भी कोई लाभ नहीं है ॥६४॥ व्यर्थ ही बहुत कहनेमें क्या लाभ है ? थोड़ेमें मे इतना समझ लेना चाहिये कि अन्य जीवोंका अनिष्ट न करना ही पुण्यकी जड है ॥६५॥ भव्य जीव रत्नत्रयकी भावना करनेसे, भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेसे और निर्ग्रंथ मुनियोंकी भक्ति करनेसे ही अद्भुत पुण्य सम्पादन करते हैं ॥६६॥ जीवोंको देव शास्त्र गुरुकी सेवाका भाव होना, सदा संसारसे भयभीत होकर संवेग धारण करना और सम्यग्दर्शनको बढानेवाली क्रियाओंका होना पुण्यके लिए होते हैं ॥६७॥ हृदयका वैराग्यसे भरपूर होना, ज्ञानके अभ्यास करनेमें सदा तत्पर रहना और सब जीवो पर दया धारण करना इन तीना बातोंसे जीवोंको सदा पुण्य सम्पादन होता रहता है ॥६८॥ प्राणियोंके हितकारक, धर्मके उपदेशसे संयुक्त और विकथाओंसे रहित वचन बोलना उत्तम पुण्य कर्मके उपार्जनके लिए होता है ॥६९॥ सब तरहके विकारोंसे रहित, खड्गासन वा पद्मासन लगाकर बैठना, अपने शरीरको सौम्य और संवृत रीतिसे रखना भी मनुष्योंको पुण्य उत्पन्न करता है ॥७०॥ पंच परमेष्ठीका वाचक जो णमो अरहंताणं आदि महामंत्र है वह सबसे अधिक पुण्यका कारण है तथा वह अनन्त पापोंको नाश करनेवाला है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥७१॥ मुनिराज जो सम्यग्दर्शन पूर्वक तप करते हैं, ज्ञानका अभ्यास करते हैं, यम नियम आदिका पालन करते हैं वह सब आगेके लिये मोक्षका कारण है और वर्तमानमें अनेक प्रकारके पुण्य सम्पादन करनेवाला है ॥७२॥ बिना सम्यग्दर्शनके दान देने व व्रत पालन करने आदिसे न तो पुण्य ही होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥७३॥

हे भव्य जीव ! तू केवल मोक्षके लिये ज्ञानका अभ्यास कर, मोक्षके लिये ही ध्यान कर तथा व्रतोंका पालन व दान आदि सब मोक्षके लिये कर। केवल पुण्यके लिये मत कर ॥७४॥ जो तप दान यम नियम आदि मोक्षके लिये किया जाता है उससे जीवोंको हृदय शुद्ध होनेसे महापुण्य उत्पन्न होता है ॥७५॥ जो मुनिराज मोक्षकी प्राप्तिमें लगे रहते हैं और ज्ञान चारित्रसे सदा

मुक्तिसंगसमासक्ता ज्ञानचारित्रभूषिताः । मुनयो नैव वाञ्छन्ति शुभं संसारवर्द्धनात् ॥७६
जायते पुण्यपाकेन नाकलक्ष्मी सुधीमताम् । भोगोपभोगसम्पन्ना सद्विमानादिसंयुता ॥७७
शुभोदयेन जायन्ते शक्रराजविभूतय । अनेकदेवसम्पूर्णा दिव्यनार्योपलक्षिता ॥७८
चक्रवर्त्यादिदिव्यश्री लभन्ते धर्मिण शुभात् । षट्खण्डानेकभूपालनारीं रत्नादिशोभिताम् ॥७९
यस्य पुण्योदयो जातस्तस्य लक्ष्मीर्वशो भवेत् । धनधान्यादिसम्पूर्णा भुवनत्रयसस्थिता ॥८०
यत्किंचिद्दुर्लभ लोके ऋद्धिसारसुखादिकम् । तत्सर्वं जायते पुसा पुण्यभाजां न संशय ॥८१
सुखं पुण्योद्भवं ब्रूते सर्वज्ञो यदि कोऽपर । प्रतिक्षणभवं शक्रतीर्थराजादिगोचरम् ॥८२
प्ररूपिता. समासेन पदार्था नव चागमात् । विशेषतो विनिश्चेया सम्यग्दर्शनधारिभि ॥८३
तत्त्वश्रद्धानतो जीवा प्राप्नुवन्ति सुखाकरम् । दर्शनं दोषशङ्कादिवर्जितं विमलात्मकम् ॥८४
परमगुणविचित्रैः सर्वलोकप्रदीपै , गतसकलविदोषैः तीर्थनाथै प्रणीतम् ।
विवुधजनसुसेव्यं तत्त्वसारं विशाल, त्वमपि भज विशङ्कं दर्शनं ज्ञानसिद्धचै ॥८५
विशदगुणगरिष्ठं भिन्नभिन्नस्वभावं, जिनवरमुखजातं ग्रन्थितं ज्ञानवृद्धै ।
बहुनयशतकीर्णं दृष्टिरत्नादिवीजं, सकलपरमतत्त्वं मुक्तिहेतोर्भज त्वम् ॥८६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे
सप्ततत्त्वप्ररूपको नाम द्वितीय परिच्छेद ॥२॥



सुशोभित रहते है वे ससारको वढानेवाले पुण्यकी कभी इच्छा नही करते ॥७६॥ वुद्धिमानोको पुण्यकर्मके उदयसे अनेक भोग उपभोगोसे परिपूर्ण और अनेक ऋद्धि सिद्धियोसे भरी हुई स्वर्गकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥७७॥ पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है जिसमे अनेक देव सेवा करते है और अनेक सुन्दर देवागनाएँ प्राप्त होती है ॥७८॥ धर्मके ही प्रभावसे चक्रवर्तीकी दिव्य लक्ष्मी प्राप्त होती है जिसमे छहो खडोके अनेक राजा आकर नमस्कार करते है और नारी-रत्न आदि चौदह रत्न तथा नौ निधियोसे जो सदा सुशोभित रहती है ॥७९॥ इस ससारमे जिस जीवके पुण्य कर्मका उदय होता है उसके धन धान्य आदिसे परिपूर्ण और तीनो लोकोमे रहनेवाली समस्त लक्ष्मी वश हो जाती है ॥८०॥ ससारमे जो कुछ दुर्लभ है, जो कुछ सारभूत ऋद्धियाँ है और जो कुछ सुख है वे सव मनुष्योको पुण्य कर्मके ही उदयसे प्राप्त होते है इसमे कोई सदेह नही ॥८१॥ इद्रादिकको जो प्रतिक्षण नवीन नवीन सुख उत्पन्न होते है अथवा तीर्थंकरोको जो गृहस्थ अवस्थामे सुख उत्पन्न होते है वे सव पुण्य कर्मके उदयसे ही होते हैं ऐसा श्री सर्वज्ञ देवने कहा है ॥८२॥ इस प्रकार आगमके अनुसार सक्षेपसे पदार्थोका स्वरूप कहा। इनका विशेष वर्णन सम्यग्दृष्टि पुरुषोको अन्य ग्रथोसे जान लेना चाहिये ॥८३॥ इन सातो तत्त्वोका श्रद्धान करनेसे जीवोको शका आदि सव दोषोसे रहित और सुखका निधि ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥८४॥ हे भव्य जीव ! यह सम्यग्दर्शन समस्त तत्त्वोका सारभूत है, अनेक देव इसकी सेवा करते हैं, यह अत्यत विशाल है और अनत ज्ञान आदि परम गुणोसे पवित्र, समस्त लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाले तथा समस्त दोषोसे रहित ऐसे तीर्थंकर परमदेवने इसका वर्णन किया है। इसलिये सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये तू भी शका आदि सव दोषोको छोडकर इस सम्यग्दर्शनका सेवन कर इसको धारण कर ॥८५॥ इन सव तत्त्वोका स्वभाव भिन्न भिन्न है। ये सव तत्त्व अनेक

निर्मल गुणोंमें ही उत्तम गिने जाते हैं, उनका स्वरूप श्री जिनेंद्रदेवने कहा है, उनका स्वरूप अनेक नयोंसे कहा जाता है और सम्यग्दर्शन रूपी रत्नके लिये ये मुख्य कारण हैं इसलिये हे भव्य जीव ! ज्ञानको बढानेके लिये और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इन तत्त्वोंको धारण कर—इनको जान ॥८६॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२॥



तीसरा परिच्छेद

शंभव जिनमानम्य भव्यलोकसुखप्रदम् । देवधर्मगुरून् वक्ष्ये सम्यग्दर्शनहेतवे ॥१
वीतरागो भवेद्देवो धर्मो हिंसाविवर्जित । निर्ग्रन्थश्च गुरुर्नान्य एतत्सम्यक्त्वमुच्यते ॥२
कानिचिज्जिननामानि वक्ष्ये शब्दार्थयोगतः । यानि भव्योपकाराय ध्यातव्यानि मुनीश्वरैः ॥३
पञ्चकल्याणपूजाया योग्यः स्वर्गाधिनायकैः । गर्भादिसत्कृतायाश्च बुधैर्योऽर्हन् स संस्मृत ॥४
अरीणां कर्मशत्रूणां दु खशोकविधायिनाम् । हन्ता योसौ भवेल्लोकेऽरिहन्ता प्रोच्यते जिनै ॥५
मोहद्दु कर्मविश्लेषाद्रज कर्मविनाशनात् । अन्तरायक्षयात्सार्थोऽरिहन्ता कथ्यते जिनै ॥६
अनन्तजन्मसन्तानदायिना कर्मवैरिणाम् । जयाज्जिनो भवेत्सर्वकर्मशत्रुविमर्दक ॥७
केवलज्ञानमत्यन्तं लोकालोक विभासते । यस्य नित्यं स्वयं वाप्य विष्णुः स स्यान्न चापर ॥८
लक्ष्मी सभादिका जाता ज्ञानादिप्रभवा पुन । यस्येश्वरो भवेत्सोऽपि नान्यो नाम्ना हि तं विना ॥९
सभाया दृश्यते यो हि चतुर्वक्त्रो नरामरैः । परब्रह्मस्वरूपो वा ब्रह्मा स स्यान्न चापर ॥१०

अथानन्तर—अब मै भव्य जीवोको सुख देनेवाले भगवान् सभवनाथको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनको दृढ करनेके लिये देव धर्म और गुरुका स्वरूप वर्णन करता हूँ ॥१॥ जो वीतराग है वही देव है, जो हिंसासे रहित है वही धर्म है और जो परिग्रह रहित है वही गुरु है। इनके सिवाय न देव है, न धर्म है और न गुरु है ऐसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥२॥ अब मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवके कुछ नाम उनके अर्थ सहित बतलाता हूँ। वे नाम भव्य जीवोका उपकार करनेवाले हैं और मुनियोके द्वारा ध्यान करने योग्य है ॥३॥ वे भगवान् पच कल्याणक पूजाके योग्य हैं, स्वर्गके अनेक इन्द्रोने उनके गर्भ जन्म आदि सस्कार किये है और विद्वान् लोग सदा उनका स्मरण करते रहते हैं इसीलिये उनका नाम अर्हत् (जो पूज्य हो) प्रसिद्ध हुआ है ॥४॥ वे भगवान् दु ख शोक आदिको वढानेवाले, कर्मरूप शत्रुओको नाश करनेवाले है इसीलिये अरिहत (अरि—कर्मरूप शत्रुको हत—मारनेवाले, नाश करनेवाले) कहलाते हैं। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥५॥ अथवा उनका मोहरूपी सबसे अधिक अशुभ कर्म नष्ट हो गया है तथा धूलिके समान ज्ञान दर्शनको रोकनेवाले ज्ञानावरण दर्शनावरण नष्ट हो गये है और अन्तरायकर्म नष्ट हो गया है। इस प्रकार चारो घातिया कर्म नष्ट होनेसे अरहन्त कहलाते है ॥६॥ उन भगवान्ने अनतानत जन्मो तक वरावर दु ख देनेवाले कर्मरूप शत्रुओको जीता है अर्थात् समस्त कर्मरूप शत्रुओको नष्ट किया है इसलिये वे जिन (कर्मोको जीतनेवाले) कहलाते है ॥७॥ उनका केवलज्ञान समस्त लोक अलोकमे व्याप्त होकर रहता है तथा लोक अलोक दोनोको प्रकाशित करता है इसलिये वे विष्णु कहलाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेवके सिवाय अन्य कोई विष्णु नही है ॥८॥ केवल-ज्ञानके उत्पन्न होनेसे उनके अनन्त चतुष्टय वा समवसरण आदि अनेक प्रकारकी लक्ष्मी प्रगट हुई है इसलिये वे ईश्वर कहलाते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई नामका भी ईश्वर नही है ॥९॥ देव और मनुष्योको समवसरण सभामे उनके चारो ओर चार मुँह दिखाई देते है अथवा वे भगवान् परम ब्रह्म स्वरूप हैं, शुद्ध आत्म स्वरूप हैं इसलिये वे ब्रह्मा कहलाते है। ब्रह्मा भी उनके सिवाय अन्य कोई नही है ॥१०॥ वे भगवान् अनन्त सुखसे परिपूर्ण और सव प्रकारकी सिद्धियोसे

शिवशर्माकरं येन सर्वसिद्धिव्यवस्थितम् । प्राप्तं मुक्तिपदं स स्याच्छिवो लोके न तद्विना ॥११
लोकालोकं च जानाति ज्ञानेनैव सपर्ययाम् । योऽसौ बुद्धो भवेन्मान्यो नान्यो नाम्ना हि केवलम् ॥१२
आत्मानमपरं वा यो वेत्ति द्रव्यकदम्बकम् । त्रिकालगोचरं साक्षात्स सर्वज्ञो भवेद्ध्रुवम् ॥१३
य पश्यति चिदानन्दं स्वयं स्वस्मिन् तथा परम् । बाह्यं चराचरं विश्वं सर्वदर्शी स कीर्तितः ॥१४
तीर्थं धर्ममयं यस्तु ज्ञानतीर्थं प्रवर्तयेत् । भवेत्तीर्थंकर सोऽपि सर्वसत्त्वहितोद्यतः ॥१५
योषिद्वस्त्रादिसंत्यागाद्वीतरागो बभूव च । धर्मोपदेशनाद्धर्मो निर्ग्रन्थो ग्रन्थवर्जनात् ॥१६
देवानामधिदेवत्वाद्देवदेवो जगद्गुरु । गुरुत्वादम्बरत्यागाद्दिगम्बर इति स्मृत. ॥१७
ऋषीणामधिज्येष्ठत्वाद् ऋषीशो विमलो भवेत् । मलादिवर्जनाद्देवो मुक्तिसंगमक्रीडनात् ॥१८
इत्यादिनामसंदृब्धामर्हन्नामावलीं जप । सार्थेनापि सहस्राष्टकेन पुण्यकरां वराम् ॥१९
एकचित्तेन यो धीमान् नाम प्रादाय संजपेत् । ध्यायेद्वा जिननाथस्य साक्षात्सोऽपि जिनायते ॥२०
सर्वदोषविनिर्मुक्तं मुक्तिस्त्रीसंगलालसम् । अनन्तमहिमायुक्तं त्वं भज श्रीजिनाधिपम् ॥२१
ये दोषा जिननाथेन नाशिता मे प्ररूपय । स्वीकृतान्मूढलोकैस्तान् स्वामिन् मुक्तिप्रबन्धकान् ॥२२

सुशोभित ऐसे मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं इसलिये ससारमे शिव (कल्याण करनेवाले) कहलाते हैं। शिव भी उनके सिवाय अन्य कोई नहीं है ॥११॥ भगवान् अरहन्तदेव लोकाकाशके समस्त पदार्थोंको तथा अलोकाकाशको उनकी अनन्त पर्यायो सहित जानते हैं इसलिये वे ही बुद्ध हैं, वे ही ससारमें मान्य हैं, उनके सिवाय ससारमे अन्य कोई बुद्ध नही है ॥१२॥ वे भगवान् अपने आत्माको तथा अन्य समस्त द्रव्योको उनकी भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनो कालोमे होनेवाली पर्यायो सहित साक्षात् जानते हैं इसलिये सर्वज्ञ कहलाते हैं ॥१३॥ वे भगवान् अपने चिदानन्दमय आत्माको स्वय अपने आत्मामे ही देखते हैं तथा चर अचर रूप बाहरके समस्त ससारको देखते हैं इसलिये वे सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) कहलाते हैं ॥१४॥ समस्त जीवोका हित करनेवाले वे भगवान् धर्म-रूप तीर्थकी और ज्ञानरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं इसलिये तीर्थंकर कहलाते हैं ।१५॥ उन्होंने स्त्री वस्त्र आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं, अरहन्त अवस्थामे सदा धर्मोपदेश देते रहते हैं इसलिये धर्म कहलाते हैं और सब तरहके परिग्रहसे रहित हैं इसलिये निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ॥१६॥ वे भगवान् देवोके भी देव हैं इसलिये देवदेव वा देवाधिदेव कहलाते हैं, सबके गुरु हैं इसलिये जगद्गुरु कहलाते हैं और वस्त्रादिकके त्यागी हैं इसलिये दिगबर कहे जाते हैं ॥१७॥ ऋषियोमे भी सबसे बडे हैं इसलिये ऋषीश कहे जाते हैं। सब तरहके मल वा दोषोसे रहित हैं इसलिये विमल कहलाते हैं और मुक्तिरूपी कांताके साथ क्रीडा करते हैं इसलिये देव कहलाते हैं ॥१८॥ इस प्रकार सार्थक अर्थको धारण करनेवाले एक हजार आठ नाम भगवान् अरहन्तदेवके ही हैं। उनकी यह नामावली सबसे उत्तम है और पुण्य उत्पन्न करनेवाली है इसलिये हे भव्य! तू उन्हींका जप कर ॥१९॥ जो बुद्धिमान् एकाग्रचित्त होकर भगवान् जिनेन्द्रदेव का नाम लेकर जप करता है वा ध्यान करता है वह भी कालान्तरमे साक्षात् जिनेन्द्रदेव हो जाता है ॥२०॥ हे भव्य! यदि तू मुक्तिरूपी लक्ष्मीका साथ करना चाहता है—मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो सब दोषोसे रहित और अनन्त महिमाको धारण करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सेवा कर ॥२१॥

प्रश्न—हे भगवन्! भगवान् जिनेन्द्रदेवने जिन दोषोको नष्ट कर दिया है, मूर्ख लोक ही

क्षुत्पिपासा भयो द्वेषो रागो मोहो विचिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रति ॥२३
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः । बुधैः कुजन्मसन्तानकारका कुजनैर्धृता. ॥२४
दुर्मोहकर्मनाशत्वाद्वेदनीयातिमन्दतः । अनन्तसुखसंयोगात् क्षुधा न स्याज्जिनेशिनाम् ॥२५
तत्सर्वविगमात्तेषां पिपासा जायते न च । अस्त्रादिवर्जनाद्द्वेषो न भय शाम्यरूपत ॥२६
रामादिसंगसंन्यासात् रागो नैव भवेत् क्वचित् । वस्त्राभरणसत्यागान्मोहो नष्टश्च स्वामिनाम् ॥२७
साधितात्मस्वभावत्वाच्चिन्ता न स्यात्कुकर्मजा । अजरस्थानसंयोगाज्जरा नैवोपजायते ॥२८
असद्वेदनीयाभावाद् रोगा. सर्वे क्षयं गताः । आयु कर्मक्षयान्न स्यान्मृत्यु श्रीतीर्थदेशिनाम् ॥२९
अहंकारनिपातेन मदो नष्टो बुधै' स्मृत । रतिकर्मवियोगेन रतिर्नास्ति सभादिषु ॥३०
लोकालोकपरिज्ञानाद् विस्मयो नैव कुत्रचित् । सर्वकर्मक्षयान्नैव प्रादुर्भावो हि योनिषु ॥३१
निद्रादिकर्मनष्टत्वान्निद्रा संजायते न च । शुक्लध्यानादिहेतुत्वाद्विषादो नाशितो जिनै ॥३२
एतैर्दोषैर्महानिन्द्यै पूरितं भुवनत्रयम् । सर्वं कुदेवसज्ञानं धर्मविध्वंसकैश्च भो ॥३३

जिनको स्वीकार वा धारण करते है और जो मोक्षको रोकनेवाले है—मोक्ष प्राप्त नही होने देते उन दोपोको कहिये। उ०—भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, बुढापा, रोग, मृत्यु, खेद, पसीना, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, विषाद ये अठारह दोप कहलाते है, ये दोष नरकादि अनेक कुजन्मोमे दु ख देनेवाले हैं और नीच लोग ही इनमे रत रहते है ॥२२–२४॥ भगवान् अरहतदेवके दुष्ट मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, वेदनीय कर्म अत्यत मद हो गया है और अनत सुख प्राप्त हो गया है इसलिये भगवान् अरहतदेवके भूखका (क्षुधा नामके दोषका) सर्वथा अभाव है ॥२५॥ इसी प्रकार मोहनीय कर्मके नाश होनेसे, वेदनीय कर्मके मद होनेसे और अनतर सुख प्राप्त होनेसे उनके प्यास भी नही लगती है। उन्होने समस्त अस्त्र शस्त्रोका त्याग कर दिया है इसीसे जान पडता है कि उनके द्वेप नही है। तथा उनका स्वरूप अत्यत सौम्य है, सब तरहके विकारोसे रहित है इसीलिये मालूम होता है कि उनके भय बिल्कुल नही है ॥२६॥ उनके स्त्री समागम सर्वथा नही है इसलिये उनके रागका अभाव स्वय सिद्ध हो जाता है तथा उनके वस्त्र आभरण आदिका सर्वथा त्याग है इसीलिये मालूम होता है कि उनका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है ॥२७॥ उन्होने स्वाभाविक रीतिसे ही अपने आत्माको सिद्ध कर लिया है इसलिये अशुभ कर्मो को उत्पन्न करनेवाली चिन्ता भी उनके कभी नही हो सकती। तथा उन्हे अजर अमर मोक्षस्थान प्राप्त हो गया है अतएव उनके बुढापा भी कभी नही हो सकता है ॥२८॥ उन तीर्थकर भगवान्के असातावेदनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो गया है और आगेके लिये आयु कर्मका बध नही है। आयुकर्मके बधका सर्वथा अभाव है इसलिये उनके मृत्यु भी कभी नही हो सकती अथवा उनका आयु कर्म ही सर्वथा नष्ट हो गया है इसलिये भी उनकी मृत्यु नही हो सकती ॥२९॥ अहकारका नाश होनेसे उनके मद भी नही है और रति कर्मके नाश होनेसे सभा आदिमे उनको रति भी नही है ॥३०॥ वे लोक अलोक सबको एक साथ जानते हैं इसलिये उन्हे किसी पदार्थमे भी आश्चर्य नही हो सकता तथा समस्त कर्मोके नाश होनेसे वे किसी योनिमे भी जन्म नही ले सकते अर्थात् उनके जन्मका भी सर्वथा अभाव है ॥३१॥ निद्रा आदि कर्मोके नाश हो जानेसे उनके निद्राकी सभावना भी नही हो सकती और वे शुक्लध्यानमे लीन रहते है इसलिये उनके विषाद भी किसी प्रकार नही हो सकता ॥३२॥ ये अठारह दोष महा निंद्य है और धर्मको नष्ट करनेवाले है, परन्तु इन दोषोसे तीनो लोक भरा हुआ है यहाँ तक कि कुदेवोके समूह भी इनसे नही बचे हैं ॥३३॥ जो इन अठारह

एतै सर्वैर्महादोषैं वर्जिता ये जिनेश्वरा । ते भवन्ति जगत्पूज्या देवा लोकोत्तमा नृणाम् ।।३४
अष्टादशमहादोषैर्वर्जितं जिननायकम् । सर्वलोकहितं देव भज त्व सुरपूजितम् ।।३५
आहारं वीतरागस्य ये केचन वदन्ति मे । तत्स्यात्सत्यमसत्य वा स्फेटय त्वं हि संशयम् ।।३६
आहार यदि गृह्णाति क्षुधादोषं लभेत स । तृषादोषं पुनर्ज्ञेयं पिपासादवेनादिजम् ।।३७
द्वेष क्षुद्वेदनोत्पन्नो रागो मोहश्च भक्षणात् । चिन्तनं तस्य चिन्ताया आमयं तीव्रदु.खत ।।३८
आहारसंज्ञया युक्तो जन्ममृत्युजरादिकान् । य कथं संत्यजेत्सोऽपि श्रीजिनोऽपीश्वरादिवत् ।।३९
आहारालाभतो द्वेषो विषादश्चारतिर्भवेत् । निद्रा संलभते तस्मात् ज्जिनस्यैवास्मदादिवत् ।।४०
कातरत्वेन यो देवो गृह्णन्नाहारमञ्जसा । अनन्तं तस्य वीर्यं च कथं संकल्पते वृथा ।।४१
क्षुद्वेदना समा न स्यात्काचित्पीडा शरीरिणाम् । क्षुद्वेदनादियुक्तो यस्तस्या अन्तसुखं कुत ।।४२
आहारनाममात्रेण प्रमत्त कथ्यते मुनिः । अत्यक्ताहारभोगो य स सर्वज्ञ कथं भवेत् ।।४३
तुच्छवीर्यो नरो नात्ति मद्यमांसादिदर्शनात् । संयुक्तोऽनन्तवीर्येण कथं भुङ्क्ते जिनोत्तम ।।४४

दोपोसे रहित हैं वे ही भगवान् जिनेन्द्रदेव है, वे ही जगत पूज्य हैं, वे ही ससारमे उत्तम है और वे ही मनुष्योके परम देव हैं ।।३४।। हे भव्य जीव ! भगवान् अरहन्तदेव इन अठारह महादोपोंसे रहित हैं, समस्त जीवोका हित करनेवाले हैं और देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं इसलिये तू उनकी ही सेवा भक्ति कर ।।३५।। कोई कोई लोग भगवान् वीतरागके भी आहार मानते हैं उनका कहना सत्य है अथवा असत्य है तू इस सन्देहको भी सर्वथा छोड दे ।।३६।। यदि भगवान् अरहन्तदेव आहार ग्रहण करे तो उनके क्षुधा दोष अवश्य मानना पडेगा तथा क्षुधाके साथ साथ प्यास भी अवश्य होगी और जव भूख प्यासकी तीव्र वेदना होगी तव भय भी अवश्य ही होगा ।।३७।। द्वेष भूख प्यासकी वेदनासे ही उत्पन्न होता है और भोजन करनेसे राग मोह होता हैं। भोजन आदिका चितवन करनेसे चिता होती ही है और फिर तीव्र दु ख होनेसे रोग होता ही है ।।३८।। जो श्री जिनेद्रदेव ईश्वरके समान आहार सज्ञाको करते हैं—आहार लेते हैं तो फिर वे जन्म-मरण आदि दोषोको भला कैसे छोड सकते हैं ? अर्थात् आहारके साथ जन्म मरण जरा आदि अन्य दोप भी अवश्य मानने पडेगे ।।३९।। यदि आहारकी प्राप्ति न हो तो द्वेष होता है, विपाद होता है और अरति होती है तथा आहारकी प्राप्ति होनेसे निद्रा अवश्य होती है। ऐसी अवस्थामे अरहत देवकी सेवा करना हमारी सेवा करनेके ही समान है। भावार्थ—यदि अरहतदेवके आहार माना जायगा तो फिर उनके भी हमारे तुम्हारे समान सव दोष मानने पडेंगे फिर उनमे हममे कोई अंतर नही रहेगा ।।४०।। अरे जो देवाधिदेव होकर भी कातरता धारण कर आहार ग्रहण करते हैं फिर भला उनके व्यर्थ ही अनत वीर्यकी कल्पना क्यो करते हो अर्थात् कातरोके अनतवीर्य कैसे हो सकता है ।।४१।। इस ससारमे जीवोके भूखके दु.खके समान और कोई पीडा नही है और ऐसी वह सवसे वडी पीडा—सवसे वडा दु ख जिसके है उसके भला अनत सुख कैसे हो सकता है। भावार्थ—भगवान् अरहतदेवके आहारकी कल्पना करनेपर फिर उनके अनत सुखका भी अभाव अवश्य मानना पडेगा ।।४२।। अरे जो मुनि आहारका नाम भी लेते हैं वे भी प्रमत्तसयमी कहलाते हैं—प्रमाद सहित कहलाते हैं फिर भला जिन्होने आहारका त्यागतक नही किया है—जो आहार ग्रहण करते हैं वे सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ? ।।४३।। जो अत्यत अल्प शक्तिका धारण करनेवाले हैं वे भी मद्य मास आदि निषिद्ध पदार्थोके देख लेनेपर भोजन नही करते, अन्तराय मानकर भोजनका त्याग कर देते हैं फिर भला वे श्री जिनेन्द्रदेव अनन्त शक्तिको धारण करते हैं—अनतवीर्य सहित हैं और सर्वज्ञ

इच्छा यस्य भवेन्नित्य भक्षणादिकगोचरा । तस्य लोभ' कथं न स्यात्संसारीजीववत् ध्रुवम् ॥४५
सति लोभे नहि ज्ञान केवलं प्रकटं भवेत् । ज्ञानादिविरहान्नैव सर्वज्ञ कथ्यते बुधै ॥४६
आहारास्वादनाद्यस्य ज्ञानमिन्द्रियसम्भवम् । तस्य श्रीकेवलस्यैव दत्त नीराञ्जलित्रयम् ॥४७
भोजनं कुरुते यस्तु तस्य दोषकदम्बकम् । भवत्येव न सन्देहो भाषितं मुनिपुगवैः ॥४८
आहारादिसमायुक्ता यदि देवा भवन्ति वै । तदा सर्वे मनुष्याश्च सर्वज्ञा सभवन्त्यहो ॥४९
अनेकगुणसम्पूर्ण सर्वज्ञ सर्वलोकवित् । त्यक्ताहारमहासंज्ञो भवेद् घातिविघातनात् ॥५०
यदीन्दुस्तीव्रता धत्ते चंचलत्वं च मन्दर । तथापि वलभने नैव जिनोऽनन्तसुखाकर ॥५१
उपोषितस्य जीवस्य भोजनं कथ्यते यदि । महत्पाप भवत्येव व्यलीकप्रवादत ॥५२
जगद्गुरोः सुदेवस्य वीतरागस्य भोजनम् । ये वदन्ति दुराचारास्तेषा पापं न वेद्म्यहम् ॥५३
निश्चय कुरु भो मित्र क्षुद्दोषादिविवर्जिते । वल्लभादिपरित्यक्ते जिने मुक्तिस्वयंवरे ॥५४
अनेकातिशयापन्नं प्रातिहार्यादिभूषितम् । ज्ञानादिगुणसंयुक्तं भज त्वं जिननायकम् ॥५५

वा सर्वदर्शी होनेसे ससारभरके मद्य मास आदि समस्त निषिद्ध पदार्थोको एक साथ देखते हैं फिर भला वे किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते हैं ? अर्थात् कभो नही ॥४४॥ विचार करनेकी बात है कि जब भगवान् अरहन्तदेवके सदा भोजन करनेकी इच्छा बनी रहेगी तो फिर उनके अन्य ससारी जीवोके समान लोभ भी अवश्य मानना पडेगा (क्योकि इच्छा लोभसे ही होती है लोभकी ही एक पर्याय है) ॥४५॥ तथा लोभके रहते हुए उनके केवलज्ञान प्रगट नही हो सकता और केवलज्ञानके न होनेसे वे कभी सर्वज्ञ नही हो सकते ॥४६॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि आहार ग्रहण करनेसे उनके आहारका स्वाद भी अवश्य होगा और स्वाद होनेसे उनका ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान मानना पडेगा क्योकि स्वादका ज्ञान जिह्वा इन्द्रियसे ही होगा, विना जिह्वा इन्द्रिय ज्ञानके स्वाद आ ही नही सकता तथा उनके ज्ञानको इन्द्रियजन्य माननेपर केवलज्ञानके लिये पानीकी तीन अजलि अवश्य देनी पड़ेगी अर्थात् फिर उनके केवलज्ञानका सर्वथा अभाव मान लेना पडेगा (और केवलज्ञानका अभाव होनेसे सर्वज्ञता आदि सबका अभाव मानना पडेगा । इसीलिये श्री अरहतदेवके आहारकी कल्पना करना सर्वथा भ्रम है) ॥४७॥ जो भोजन करेगा उसके अन्य दोपोका समूह अवश्य उत्पन्न होगा इसमे कोई सन्देह नही है । ऐसा अनेक मुनिराजोने निरूपण किया है ॥४८॥ यदि आहार ग्रहण करते हुए ही देव हो जाय तो फिर संसारके सभी मनुष्योको सर्वज्ञ मान लेना चाहिये ॥४९॥ भगवान् अरहतदेव अनेक गुणोसे परिपूर्ण है, सर्वज्ञ है, समस्त लोक अलोकके जानकार हैं और घातिया कर्मोके नाश होनेसे आहार परिग्रह आदि सब दोषोंसे रहित हैं ॥५०॥ यदि कदाचित् चन्द्रमासे अग्नि निकलने लगे और मदराचल पर्वत चलने लगे तो भी अनत सुखोके निधि भगवान् जिनेन्द्रदेव आहार ग्रहण नही कर सकते ॥५१॥ यदि किसी जीवने उपवास किया हो और उसके लिये कोई यह कहे कि आज इसने भोजन किया है तो उस कहनेवालेको झूठ बोलने के कारण महा पाप होता है, फिर भला जो लोग जगद्गुरु देवाधि-देव वीतराग भगवान् अरहतदेवके आहार ग्रहण करनेकी कल्पना करते है उनके पापको हम लोग कभी नही जान सकते अर्थात् वे सबसे अधिक पापी हैं ॥५२–५३॥ इसलिए हे मित्र ! तुम्हे निश्चय कर लेना चाहिये कि भगवान् अरहन्तदेव भूख, प्यास आदि सब दोपोसे रहित है अतएव आहार भी कभी ग्रहण नही करते इसीलिये मुक्तिस्त्रीने उनको स्वय स्वीकार किया है ॥५४॥ हे भव्य ! वे भगवान् जिनेन्द्रदेव अनेक अतिशयोसे सुशोभित है, आठो प्रातिहार्योसे विभूषित हैं और ज्ञानादि

शृणु वत्स महाप्राज्ञ कथ्यमानं मयाधुना। गुणग्राम जिनेन्द्रस्य सर्वदु खविनाशनम् ॥५६
नि स्वेदत्व भवत्येव वपुर्मलविवर्जितम् । रुधिरं क्षीरतुल्यं संस्थानं प्रथममुत्तमम् ॥५७
वज्रवृषभनाराचनाम्ना संहनन भवेत् । महारूप च सौरभ्यं सौलक्षण्यं बुधैः स्मृतम् ॥५८
अप्रमाणं महावीर्यं वच सत्यं शिव हितम् । दशैवातिशया जाता वपुषा सह स्वामिनाम् ॥५९
सुभिक्षता भवेन्नित्य गव्यूतिशततुर्यकम् । आकाशगमनं हिंसावर्जित सर्वसत्त्वकम् ॥६०
निराहारश्चोपसर्गरहित श्रीजिनेश्वर. । चतुर्मुखो भवेत्सर्वविद्येश छायवर्जित. ॥६१
अस्पंदनयनः केशनखवृद्धिविवर्जितः । दशातिशयसम्पन्नो जिनः स्याद् घातिनाशनात् ॥६२
जिनाधिस्वामिनां भाषा भव्यधान्याब्दवृष्टिका । भिन्नदेशादिजाताना भवेत्सर्वार्थदायिका ॥६३
मार्जारमूषकादीना मित्रत्वं परम भवेत् । सर्वर्तुफलसंयुक्तास्तरव श्रीजिनाधिपे ॥६४
दर्पणेन समा ज्ञेया मही रत्नमयी वभौ । सुगन्धानिल एव स्यात्प्रानन्द सर्वदेहिनाम् ॥६५
मरुत्कृता भवेद् भूमि कटकादिविवर्जिता। गन्धोदकमहावृष्टिं कुर्वन्ति सुरवारिदा ॥६६
पादन्यासे जिनेन्द्राणा हेमपद्मानि सन्ति वै । शाल्यादि धान्यसदोह फलनम्रो विराजते ॥६७

अनन्त गुण सहित हैं ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी तू सेवा भक्ति कर ॥५५॥

हे वुद्धिमान् वत्स ! अव मैं समस्त दु खोको दूर करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंको कहता हूँ, तू चित्त लगाकर सुन ॥५६॥ उनके शरीरपर पसीना नही आता, उनके मल मूत्र नही होता, उनके शरीरका रुधिर दूधके समान सफेद होता है, उनके शरीरका संस्थान समचतुरस्र होता है, सहनन वज्रवृपभनाराच होता है, उनका शरीर अत्यन्त रूपवान होता है, सुगन्धित होता है, उनके शरीर पर सव सुन्दर लक्षण होते हैं, प्रमाण रहित महावीर्य (महावल) होता है और उनके वचन सत्य, सवको प्रिय लगनेवाले और सवका हित करनेवाले होते हैं। ये दश अतिशय भगवान्‌के शरीरके साथ ही उत्पन्न होते हैं ॥५७–५९॥ जव भगवान्‌के घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं तव नीचे लिखे दश अतिशय प्रगट होते हैं। भगवान् अरहन्तदेव जहाँ विराजमान होते हैं उसके चारो ओर चारसौ कोस तक सदा सुभिक्ष वना रहता है, वे भगवान् आकाशमे गमन करते हैं, उनके पास कोई भी प्राणी किसीकी हिंसा नही कर सकता अर्थात् सव जीव आपसमे मित्रता धारण कर लेते है, वे भगवान् निराहार रहते हैं, उन पर कभी किसी प्रकारका उपसर्ग नही हो सकता, समवसरणमे उनका मुह चारो ओर दिखाई देता है, वे समस्त विद्याओंके स्वामी होते हैं, उनके शरीरकी छाया नही पडती, उनके नेत्रोमे टिमकार (पलकसे पलक) नही लगती, उनके केश और नख नही वढते । भगवान्‌के ये दश अतिशय घातिया कर्मोके नाश होनेसे होते हैं ॥६०-६२॥ नीचे लिखे चौदह अतिशय देवकृत कहलाते हैं—भगवान् जिनेन्द्रदेवकी दिव्य-ध्वनि निरक्षरी होकर भी अर्ध मागधीभाषाके रूपमे परिणत हो जाती है फिर उसे सव जीव अपनी अपनी भाषा मे सँभाल लेते हैं। देवलोग उसका प्रसार वा फैलाव करते रहते हैं। चूहे विल्ली वा वाघ हिरण आदि जातिविरोधी जीव भी (जन्मसे ही विरोधी) अपना विरोध छोडकर परम मित्रता धारण कर लेते हैं। भगवान्‌के समीपवर्ती समस्त वृक्ष छहो ऋतुओंके फल फूलोंसे सुशो-भित हो जाते हैं। समवसरणकी पृथ्वी रत्नमयी और दर्पणके समान अत्यन्त निर्मल हो जाती है। समस्त जीवोको प्राण देनेवाला सुख देनेवाला वायु शीतल मद सुगधित वहा करता है। देवलोग वहाकी भूमिको सदा काटे ककर आदिसे रहित वनाये रखते हैं। देवरूपी वादलोसे सर्वदा

आकाश निर्मलं विद्धि प्रांधकारविवर्जिता । दिशश्चाह्वाननं कुर्युर्देवा इन्द्राज्ञया सदा ॥६८
धर्मचक्रं स्फुरद्रत्नं हेमनिर्मापित भवेत् । सहस्रार महादीप्तं श्रीतीर्थस्वामिसन्निधौ ॥६९
एतान् देवा हि कुर्वन्ति जिनेन्द्राणां महागुणान् । चतुर्दश भवन्त्येव सर्वेऽत्रातिशया वरा ॥७०
अशोकाख्यो महावृक्ष' पुष्पवृष्टिरनेकधा । भाति सर्वगुणोपेता दिव्यध्वनिरनोपमा ॥७१
वीज्यमानो जिनो देवैश्चतु षष्टिप्रकीर्णकैः । सिंहासनत्रयं रेजे दीप्तं भामण्डलं सदा ॥७२
सार्द्धद्वादशसंकोटिवादित्रैर्भाति देवजै । दुन्दुभिः शब्द एवात्र श्वेतछत्रत्रय भवेत् ॥७३
प्रातिहार्याष्टकैं देवकृतैं श्रीजिननायका । भान्ति प्रान्तव्यतिक्रान्तं ज्ञानं केवलदर्शनम् ॥७४
अनन्तं च महावीर्यं सुखं वाचामगोचरम् । पिण्डीकृताः गुणा सर्वे षट्चत्वारिंशदेव स्यु ॥७५
अन्ये गुणा जिनेन्द्राणा बहवः सन्ति भूतले । विज्ञेया मुनिभिरन्यशास्त्रादुपशमादिकाः ॥७६
ज्ञायन्ते न यथाऽसंख्या ऊर्मय' सागरे घने । धारा खाङ्गणे तारास्तथा श्रीजिनसद्‍गुणाः ॥७७
अनन्तगुणसम्पूर्णान् पञ्चकल्याणपूजितान् । अनन्तमहिमोपेतान् भज त्वं जिननायकान् ॥७८
अनन्यशरणो यस्तु सेवते तीर्थंकारकान् । कुदेवानपि संत्यज्य स स्यात्ताहग्विधोऽचिरात् ॥७९

गधोदककी महा वृष्टि होती रहती है। भगवान् विहार करते समय जहाँ जहाँ अपने चरण कमल रखते हैं उनके नीचे देवलोग अनेक सुवर्णके कमलोकी रचना किया करते हैं। चावल आदिके खेत सब फलोसे नम्रीभूत हुए (नवे हुए) शोभायमान रहते है। आकाश सदा निर्मल रहता है। दिशाएँ भी सब निर्मल रहती हैं उनमे कभी अधकार नही होता। इन्द्रकी आज्ञासे देवलोग सदा आह्वान करते रहते हैं—बुलाते रहते हैं। देदीप्यमान रत्न और सुवर्णका बना हुआ एक हजार आरोसे सुशोभित और अत्यत देदीप्यमान धर्मचक्र सदा तीर्थंकर भगवान्‌के आगे रहता है। ये भगवान्‌के महागुणरूप चौदह अतिशय देवकृत होते है। इस प्रकार भगवान्‌के चौतीस उत्तम अतिशय होते है ॥६३-७०॥ भगवान्‌के समीप ही अशोक महावृक्ष रहता है, अनेक गुणोसे सुशोभित अनेक प्रकारकी पुष्पवृष्टि होती रहती है, उपमा रहित भगवान्‌की दिव्यध्वनि खिरती रहती है, देवलोग चौसठ चमर सदा ढोरते रहते है, भगवान् सुन्दर तीन सिंहासनपर विराजमान रहते है, उनके पीछे देदीप्यमान भामडल रहता है, देवोके द्वारा साढे बारह करोड दुदुभी बाजे सदा बजते रहते है और उनके मस्तकके ऊपर सफेद तीन छत्र सदा फिरा करते है ॥७१-७३॥ इस प्रकार देवोके द्वारा किये हुए इन आठ प्रातिहार्योसे भगवान् सदा सुशोभित रहते है। इनके सिवाय अनत ज्ञान (केवलज्ञान), अनत दर्शन (केवल दर्शन), अनत महावीर्य और जो वाणीसे भी नही कहा जा सके ऐसा अनत सुख ये चार अनत चतुष्टय भगवान्‌के होते है। इस प्रकार भगवान् अरहतदेवके सब गुण मिलाकर छ्यालीस होते हैं ॥७४-७५॥ इसके सिवाय भी भगवान् जिनेद्रदेवमे अनत गुण रहते हैं जिन्हे मुनिराज ही जान सकते है ॥७६॥ जिस प्रकार महासागरकी लहरें गिनी नही जा सकती, जिस प्रकार बादलोकी धारा गिनी नही जा सकती और जिस प्रकार आकाशमे ताराओकी सख्या नही हो सकती उसी प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देवके गुणोकी सख्या भी कभी नही हो सकती ॥७७॥ हे भव्यजीव! भगवान् जिनेन्द्रदेव अनत गुणोसे परिपूर्ण है, पच कल्याणकोसे पूज्य है और अनत महिमासहित विराजमान हैं इसलिये तू उन्हीकी सेवाभक्ति कर ॥७८॥ जो जीव कुदेवोको छोडकर भगवान् तीर्थंकर परमदेवको ही एक अद्वितीय शरण मानकर उनकी सेवा भक्ति करता है वह उन्ही जैसा परमात्मा हो जाता है ॥७९॥

ये कुदेवा भवन्त्यत्र स्वामिस्तान् मे निरूपय । ज्ञाते सति जनैस्तेषां त्यागं कर्तुं च शक्यते ॥८०
विष्णुब्रह्मादयो ज्ञेया कुदेवा योषिदन्विता । संसारसागरे मग्ना शस्त्राभरणमण्डिता. ॥८१
गोपाङ्गनासमासक्त. पापारम्भप्रवर्तक. । शस्त्रहस्तो भवे रक्तो देव कृष्ण कथ भवेत् ॥८२
अर्द्धांगे योषितायुक्त प्रास्थिमालाविभूषित । लज्जादिरहितो देव कथं स्यादीश्वरो बुधः ॥८३
तपोभिमानसंयुक्तो देवीनृत्यावलोकनात् । रागाविष्टः कथं ब्रह्मा हीनसत्त्वोऽमरो भवेत् ॥८४
विनायकादयो देवा पशुरूपेण संस्थिता । मूढैः संस्थापिता लोके दु खदारिद्रदायका ॥८५
शस्त्रहस्ताः महाक्रूरा व्युद्युक्ता सत्त्वखण्डने । चण्डिका' पापकर्माढ्या कथं सेव्या बुधोत्तमै. ॥८६
विष्ठादिभक्षणे लोला या दुष्टा हन्ति देहिनाम् । पादशृङ्गै कथ सा गौर्वन्द्या भवति देहिनाम् ॥८७
काकविष्टादिकैर्जातास्तरवः पिप्पलादय । एकेन्द्रियत्वमापन्ना. कथ पूज्या भवन्त्यहो ॥८८
आचाम्ल भाजन गेह कूपिका काकमेव ये । पूजयन्ति महामूढा' पशवस्ते न मानवा ॥८९
नीचदेवान् भजन्त्येव क्रूरकर्मात्मनः खला । ये ते पापार्जनं कृत्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥९०
नमन्ति ये पशून् मूढा गोहस्त्यादिबहून् वृथा । पशवस्ते भवन्त्यत्र लोकेऽमुत्र विनिश्चितम् ॥९१
दुर्द्धिया. ये तरून् भक्त्या प्रार्चयन्ति नमन्ति च । स्युस्तेऽमुत्र नगा नूनं तस्करादि कुसंगवत् ॥९२
नद्यादिजलमत्रैव पूजयन्ति नमन्ति ये । स्नानं कुर्वन्ति तेऽमुत्र मत्स्ययोनिं व्रजन्ति वै ॥९३

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कुदेव कौन हैं कृपाकर उनको बतलाइये, क्योंकि उनका ज्ञान होनेपर ही यह जीव उनका त्याग कर सकता है ॥८०॥ उत्तर—जिनके साथ स्त्रियाँ हैं, जो शस्त्र आभरण आदिसे सुशोभित हैं और संसाररूपी महासागरमें डूबे हुए हैं ऐसे विष्णु, ब्रह्मा आदि सब कुदेव ही हैं ॥८१॥ जो कृष्ण गोपियोंमें आसक्त हैं, अनेक पापारम्भोंकी प्रवृत्ति करता है, जिसके हाथमें शस्त्र है और जो संसारमें तल्लीन है वह देव किस प्रकार हो सकता है ? ॥८२॥ जिसके आधे अङ्गमें पार्वती विराजमान है, जिसके गलेमें हड्डियोंकी माला पड़ी हुई है और जो लज्जासे सर्वथा रहित है ऐसा महादेव भला किस प्रकार देव माना जा सकता है ? ॥८३॥ देवीके नृत्यको देखकर जिसने अपने तपका अभिमान छोड़ दिया और रागमें फँस गया वह अत्यन्त तुच्छ पराक्रमको धारण करनेवाला ब्रह्मा देव कैसे हो सकता है ? ॥८४॥ गणेश आदि अन्य कितने ही देव पशु रूपमें विराजमान हैं वे केवल मूर्ख लोगोंने कल्पना कर लिये हैं तथा वे इस संसारमें अनेक दु ख दरिद्रता आदिको देनेवाले हैं ॥८५॥ जिसके हाथमें शस्त्र है, जो महाक्रूर है और जो जीवोंके मारनेमें सदा तत्पर है ऐसी पाप कर्म करनेवाली चण्डीदेवीको विद्वान् लोग कैसे पूजते हैं ? ॥८६॥ जो विष्ठा भक्षण करनेमें तत्पर है, जो दुष्ट है, अपने पैर और सींगोंसे जीवोंको मारती है ऐसी गायको लोग किस प्रकार पूजते हैं ? ॥८७॥ जिनके ऊपर कौवे बैठे हैं ऐसे पीपल आदि एकेन्द्रिय वृक्ष भला किस प्रकार पूज्य हो सकते हैं ॥८८॥ जो लोग छाछकी हंडी, घरका कुआ और कौआ आदिकी पूजा करते हैं वे बड़े मूर्ख हैं उन्हें पशु कहना चाहिए मनुष्य नहीं ॥८९॥ जो क्रूर कर्म करनेवाले, दुष्ट पुरुष नीच देवोंको पूजते हैं वे अनेक पाप उत्पन्न कर नरकरूपी महासागरमें गोता खाते हैं ॥९०॥ जो मूर्ख मनुष्य गाय, हाथी आदि पशुओंको नमस्कार करते हैं वे इस लोकमें भी पशु समझे जाते हैं और मरकर परलोकमें भी पशु ही होते हैं ॥९१॥ जिस प्रकार कोई पुरुष चोरोंकी संगति करनेसे चोर हो जाता है उसी प्रकार जो मूर्ख भक्तिपूर्वक वृक्षोंकी पूजा करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं वे परलोकमें वृक्ष ही होते हैं ॥९२॥ जो मनुष्य नदी सरोवर आदिके जलको पूजते हैं, नमस्कार करते हैं, भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करते हैं वे परलोकमें मछली,

नमन्ति यदि गा मूढाः घ्नन्ति यष्ट्यादिभि कथम् । वन्दते यज्जलं तेन शौचं कुर्यु कथं च ते ॥९४
अहो पिप्पलदूर्वादीन् पूर्वं यान् पूजयन्ति ये । छेदयन्ति पुनस्ताश्च ते खला दुष्टबुद्धयः ॥९५
कुदेवादिसमस्तांश्च त्यक्त्वा त्वं भज श्रीजिनान् । एकचित्तेन भो धीमन् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९६
वीतरागान् परित्यक्त्वा कुदेवान् सेवते कुधीः । योऽमृतं हि स संत्यज्य गृह्णन् हालाहलं विषम् ॥९७
भजते तीर्थनाथान् य. कुदेवान् सेवते पुन । इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः सः स्याज्जम्बुकवत्कुधीः ॥९८
यथाणोश्च परं नाल्प न महद्गगनात्परम् । तथा श्रीजिनदेवेन समो देवो न विद्यते ॥९९
इति मत्वा जिनाधीशान् मनोवाक्कायकर्मभि. । भज त्वं वत्स मुक्त्यर्थं धर्मार्थं वा विशुद्धिदान् ॥१००
निश्चयं कृत्य तीर्थेशं तदुक्तं धर्ममाचर । अहिंसालक्षणं सारं सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥१०१
मुक्तिसौख्याकरो धर्मो मुनीना कथितो जिनैः । स्वर्गऋद्धिप्रदः स्तोक स च श्रावकगोचरः ॥१०२
संसारसागरे मग्नान् जीवानुद्धृत्य यो ध्रुवम् । धत्ते मुक्तिपदे तं हि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ॥१०३
वदन्ति फलमस्यैव धर्मस्य श्रीजिनेश्वरा । नित्याभ्युदयस्वर्गादिसुखं साक्षाद्धि मुक्तिजम् ॥१०४
धर्मादभ्युदय पुंसा सुखं चक्र्यादिगोचरम् । इन्द्रादिजं च स्यान्नित्यं तीर्थनाथनिषेवितम् ॥१०५
सद्दर्शनमहामूल सद्दयाजलसिञ्चितम् । ज्ञानं वृत्तं महास्कन्द क्षमादिशाखशोभितम् ॥१०६

मगरमच्छ आदिकी योनिमे उत्पन्न होते हैं ॥९३॥ जो मूर्ख लोग गायको नमस्कार करते है फिर वे उसे लकडी आदिसे मारते क्यो हैं ? जिस जलको वन्दना करते है फिर वे उस जलसे शौचक्रिया क्यो करते हैं ॥९४॥ आश्चर्य है कि जिन पीपल आदि वृक्षोको पहिले पूजते है, नमस्कार करते हैं फिर उन्हीको वे नष्ट बुद्धि मूर्ख काटते हैं ॥९५॥ इसलिये हे बुद्धिमान् भव्य जीव ! स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिए तू एकाग्रचित्त होकर समस्त कुदेवोको छोडकर श्री जिनेन्द्रदेवकी ही पूजा भक्ति कर ॥९६॥ जो अज्ञानी वीतराग परमदेवको छोडकर कुदेवोकी सेवा भक्ति करता है वह मानो अमृतको छोडकर हलाहल विष ग्रहण करता है ॥९७॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करता हुआ भी अन्य कुदेवोकी पूजा करता है वह उस मूर्ख (उस श्रृगाल)के समान है जो इधरसे भी भ्रष्ट हो जाता है और उधरसे भी भ्रष्ट हो जाता है ॥९८॥ जिस प्रकार परमाणुसे अन्य कोई छोटा नही है और आकाशसे अन्य कोई बडा नही है उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेवके समान अन्य कोई देव नही है ॥९९॥ यही समझकर हे वत्स ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये आत्माका विशुद्ध करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा भक्ति मन वचन कायसे कर ॥१००॥

इस प्रकार तीर्थंकर परमदेवका निश्चय कर लेनेपर तू उन्हीके कहे हुए धर्मका आचरण कर। वही धर्म अहिंसामय है, सारभृत है और सब जीवोको सुख देनेवाला है ॥१०१॥ वह धर्म दो प्रकारका है—एक मुनियोके करने योग्य और दूसरा श्रावकोके पालने योग्य । मुनियोका धर्म मोक्ष सुखको देनेवाला है और एक देश श्रावकोका धर्म स्वर्गोके सुख देनेवाला है ॥१०२॥ जो ससाररूपी महासागरमे डूबे हुए जीवोको निकालकर मोक्षपदमे विराजमान कर दे उसीको गणधरादि देवोने धर्म कहा है । वह धर्म उत्तम क्षमा आदि ही है अन्य नही ॥१०३॥ श्री जिनेन्द्रदेवने इस धर्मका फल सदा ऐश्वर्य विभूतियोका प्राप्त होना, स्वर्गके सुख प्राप्त होना और साक्षात् मोक्षके सुख प्राप्त होना बतलाया है ॥१०४॥ इस धर्मके प्रभावसे मनुष्योको अनेक प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और चक्रवर्ती इन्द्र आदिके सुख सदा प्राप्त होते रहते है ऐसा श्री तीर्थंकर परमदेव ने कहा है ॥१०५॥ श्री जिनेन्द्रदेव इस धर्मको एक कल्पवृक्षके समान बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन इसकी बड़ी भारी जड है, यह दयारूपी जलसे सीचा जाता है, ज्ञान और चारित्र ही इसके महा

दानादिपल्लवोपेतं ध्यानपुष्पं जिनेश्वरा । स्वर्गमुक्तिफलाढ्यं च धर्मं कल्पद्रुमं जगुः ॥१०७
अमृतादपरं न स्यान्मिष्टं कल्पतरोः परम् । वृक्षो यथा तथा धर्मो दयायाश्च परो न च ॥१०८
कुधर्मं दूरतस्त्यक्त्वा श्रीधर्मं कुरु सौख्यदम् । जिनाख्यातं दयोपेतमेकचित्तेन प्रत्यहम् ॥१०९
भगवंस्त्वं कुधर्मं हि प्ररूपय ममादरात् । प्रणीतः केन सल्लोके पापादिदुःखदायकः ॥११०
यागादिकरणं विद्धि जीवहिंसादिसम्भवम् । कुधर्मं स्नानजं निन्द्यं तर्पणं श्राद्धमेव च ॥१११
जीवादिहिंसनं ये च कुर्वन्ति कारयन्त्यहो । धर्मयागकुदेवादिकार्ये श्वभ्रे पतन्ति ते ॥११२
यदि हिंसादिसंसक्ता नाकं गच्छन्ति दुर्मदाः । केनैव कर्मणा श्वभ्रं के च यान्ति विचारय ॥११३
जीवनाशकरं स्नानं रागपापादिवर्द्धनम् । धर्मध्वंसकरं विद्धि सागरादिषु प्रत्यहम् ॥११४
यदि स्वर्गो भवेद्धर्मः स्नानादपि पवित्रता । प्राणिनां च तदा मत्स्या स्वर्गं गच्छन्ति धीवराः ॥११५
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं यस्य नित्यं प्रवर्तते । तस्य शुद्धिः कथं स्नानाज्जायते मद्यकुम्भवत् ॥११६
तिलपिण्डं जले मूढा क्षिपन्ति पितृतृप्तये । ये तेऽतिदुर्गतिं यान्ति त्रसनीराङ्गिहिंसनात् ॥११७
तर्पणं ये प्रकुर्वन्ति मृतजीवादि श्रेयसे । मिथ्यात्वसत्त्वसघाताद्भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥११८

स्कन्ध हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मरूपी शाखाओसे यह सुशोभित है, दान पूजा आदि नित्य कर्म ही इसके पत्ते है, ध्यान ही इसके पुष्प हैं और स्वर्ग मोक्ष ही इसके फल हैं। इस प्रकार यह धर्म एक कल्पवृक्षके समान है ॥१०६–१०७॥ जिस प्रकार अमृतके सिवाय अन्य कोई वस्तु मिष्ट नही है, तथा कल्पवृक्षसे अन्य कोई श्रेष्ठ वृक्ष नहीं है उसी प्रकार दयाधर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नही है ॥१०८॥ इसलिये हे भव्य ! तू पापरूप कुधर्मको छोडकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तथा सुख देनेवाले दयारूपी धर्मको प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर पालन कर ॥१०९॥ प्रश्न—हे भगवन् ! अब कृपाकर मुझे कुधर्मका स्वरूप बतलाइये। यह दुःख देनेवाला पापरूप कुधर्म इस संसारमे किसने चलाया है ॥११०॥ उत्तर—यज्ञ आदिका करना और बुद्धिपूर्वक जीव-हिंसा आदिका करना सब कुधर्म है। इसके सिवाय धर्म समझकर नदी, समुद्रोंमे स्नान करना, तर्पण श्राद्ध करना आदि भी कुधर्म है ॥१११॥ जो यज्ञके लिये, धर्मके लिये वा कुदेवोंके लिये जीवकी हिंसा करते हैं वा कराते हैं वे अवश्य नरकमे पडते हैं ॥११२॥ यदि हिंसा आदि पापोमे आसक्त रहने वाले नीच लोग ही स्वर्गको जाते हैं तो फिर कौनसे जीव कौन कौनसे कामोंके द्वारा नरकमे जायगे ? इसका थोड़ा सा भी विचार कर ॥११३॥ प्रतिदिन नदी समुद्रमे स्नान करनेसे अनेक जीवोका नाश होता है, रागादिक पाप बढते हैं और धर्मका नाश होता है, ऐसा तू समझ ॥११४॥ यदि हिंसा करनेसे ही धर्म होता है और स्नान करनेसे ही पवित्रता आती है तो फिर मछली आदि जलचर जीव और धीवर आदि घातक जीव ही स्वर्गको जायगे अन्य नहीं ? ॥११५॥ जिस प्रकार मद्यसे भरे हुए घडेकी शुद्धि धोनेसे नही होती उसी प्रकार जिसका हृदय सदा दुष्ट बना रहता है उसकी शुद्धि केवल स्नान करनेसे कभी नही हो सकती ॥११६॥ जो अज्ञानी जीव पितरोको तृप्त करनेके लिये तिलोका पिंड जलमे डालते हैं वे जीव त्रस जीवोकी और जलकायिक जीवोकी हिंसा करनेके कारण दुर्गतिमे ही उत्पन्न होते हैं ॥११७॥ जो जीव मरे हुए जीवोका कल्याण करनेके लिये तर्पण करते हैं और उसमे अनेक जीवोकी हिंसा करते है वह सब उनका मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले जीव ससाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण ही किया करते हैं ॥११८॥ जो जीव मृत माता पिताओको सुख पहुँचानेके लिये श्राद्ध करते हैं वे आकाशके

मातृपित्रादिसिद्धयर्थं श्राद्धं कुर्वन्ति ये वृथा । गृह्णन्ति ते खपुष्पेण वैबन्ध्यासुतशेखरम् ॥११९
भोजनं कुरुते पुत्रः पिता पश्यति तं स्वयम् । यदि तृप्तिं भजन्नैव मृत सोऽपि कथं श्रयेत् ॥१२०
द्रव्यार्जनान्नसंपाकजातजीवक्षयाद् ध्रुवम् । बृहत्पापकरं श्राद्धं न च पुण्यप्रद भवेत् ॥१२१
श्रद्धापूर्वं सुपात्राय दानं देयं विवेकिभिः । स्वधर्माय परार्थं न श्राद्धं कार्यं च पापदम् ॥१२२
वर्तमाने स्वपित्राणां धर्मविघ्नं भजन्ति ये । तन्मृतानां च श्राद्धं ते श्वभ्रनाथा भवन्ति वै ॥१२३
बहुनोक्तेन किं मूढ पितृदेवादिकारणम् । तपोदानं च य कुर्याद् व्यर्थं तस्य भवेच्च तत् ॥१२४
सर्वं च पापदं विद्धि संक्रान्तिग्रहणादिजम् । दानमेकादशीसूर्यप्रभवं कुतपोऽखिलम् ॥१२५
रागद्वेषादिसंसक्तैर्धूर्तैं मिथ्योपदेशिभिः । मूर्खैं कुमार्गसंलग्नैर्योषित्ससक्तमानसै ॥१२६
प्रणीतो य कुधर्मो हि मूढसत्त्वप्रतारण । अक्षसपोषको दुष्टस्तं त्यज त्वं विषाहिवत् ॥१२७
हिंसाधर्मरताः मूढाः दुष्टा कुगुरुसेवकाः । कुदेवकुतपःसक्ताः कुगतिं यान्ति पापतः ॥१२८
वरं हुताशने पातो वरं कण्ठे च सर्पिणी । विषस्य भक्षणं श्रेष्ठं मिथ्यात्वान्न च जीवितम् ॥१२९
यदुक्तं जिननाथेन दानपूजाव्रतादिकम् । तप सोऽपि भवेद्धर्म कुधर्मं सर्वमन्यथा ॥१३०

पुष्पोसे वध्यापुत्रके लिये मुकुट वनाते है। भावार्थ—जिस प्रकार वध्यापुत्रके लिये मुकुट वनाना व्यर्थ है क्योकि वंध्याके पुत्र होता ही नही उसी प्रकार मृत पुरुषोके लिये श्राद्ध करना भी व्यर्थ है क्योकि वह उनके पास पहुँचता ही नही ॥११९॥

जिस समय पुत्र भोजन करता है और पिता उसे स्वय देखता है तथापि वह पुत्रके भोजन से तृप्त नही होता फिर भला मरनेपर वह किस प्रकार तृप्त हो सकता है ॥१२०॥ श्राद्ध करनेके लिये द्रव्य कमाना पडता है, वहुत सा अन्न सेकना पड़ता है और इन दोनो कामोमे वहुतसे जीवो की हिंसा होती है इस प्रकार श्राद्ध करनेमे भारी पाप तो होता है परन्तु उससे किसी प्रकारका पुण्य उत्पन्न नही होता ॥१२१॥ विवेकी पुरुषोको केवल अपना धर्मपालन करनेके लिये श्रद्धा-पूर्वक सुपात्रोको दान देना चाहिये यही सवसे उत्तम श्राद्ध है। दूसरोके लिये (मृत पुरुपोके लिये) श्राद्ध कभी नही करना चाहिये क्योकि वह श्राद्ध केवल पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥१२२॥ जो अपने वर्तमान माता-पिताओके धर्ममे तो विघ्न करते हैं और उनके मरनेपर उनका श्राद्ध करते हैं वे अवश्य नरकके स्वामी होते हैं ॥१२३॥ वहुत कहनेसे क्या ? जो मूर्ख अपने पितरोके लिये वा कुदेवोके लिये तप करते हैं वा दान देते है उनका वह सब इस ससारमे व्यर्थ हो जाता है ॥१२४॥ इसी प्रकार सक्रातिके दिन वा ग्रहणके दिन दान देना, एकादशीके दिन उपवास करना, सूर्यको पूजना आदि सब कुतप है, सव पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥१२५॥ जो राग द्वेषमे आसक्त हैं, धूर्त हैं, मिथ्या उपदेश देनेवाले हैं, कुमार्गगामी हैं, मूर्ख है और जिनका हृदय स्त्रियोमे आसक्त है ऐसे लोगोके ही द्वारा इस कुधर्मका उपदेश दिया गया है। यह कुधर्म अज्ञानियोको ठगनेवाला है, इद्रियोंके अनेक दोषोको उत्पन्न करनेवाला है और दुष्ट है इसलिये हे भव्य! तू ऐसे इस कुधर्म-को विषैले सर्पके समान छोड़ ॥१२६-१२७॥ जो अज्ञानी हिंसा धर्ममे आसक्त हैं, जो दुष्ट हैं, कुगुरुओकी सेवा करनेवाले हैं कुदेवोकी सेवा करनेवाले हैं और मिथ्या तप करनेमे लगे हुए है ऐसे जीव पाप करनेके कारण कुगतियोमे जाकर जन्म लेते हैं ॥१२८॥ अग्निमे जल मरना अच्छा है, गलेमे सर्पको डाल लेना अच्छा है और विष खा लेना अच्छा है परतु मिथ्यात्वका सेवन करते हुए जीवित रहना अच्छा नही ॥१२९॥ भगवान् जिनेंद्र देवने जो कुछ दान, पूजा, व्रत, तप, आदिका वर्णन किया है वही धर्म है इसके सिवाय जो कुछ है वह अधर्म है ॥१३०॥ जो धर्म तप दान पूजा

जिनमार्गाद्विपक्षं यद्व्रतधर्मतपोऽखिलम् । दानपूजादिकं तच्च मिथ्यात्वं विद्धि दुःखदम् ॥१३१
विधाय निश्चयं प्रोच्चै धर्मे श्रीजिनभाषिते । जिनवेषान्विता सेव्या निर्ग्रन्था गुरवस्त्वया ॥१३२
सर्वसत्त्वदयोपेतान् शश्वद्धर्मोपदेशकान् । विकथादिविनिर्मुक्तान् हेमतृणसमोपमान् ॥१३३
गिरिशून्यगृहावासान् ध्यानविध्वस्तकिल्बिषान् । बाह्याभ्यन्तरभेदेन त्यक्तसर्वपरिग्रहान् ॥१३४
निर्जितेन्द्रियसच्चौरान् मारमातङ्गघातकान् । त्यक्तकार्यादिसंस्कारान् महासत्त्वान् शुभाशयान् ॥१३५
सर्वाङ्गमलसलिप्तान् निर्मलान् संगवर्जितान् । त्रिकालयोगसंयुक्तान् ध्यानाध्ययनतत्परान् ॥१३६
मौनव्रतधरान् धीरान् सर्वाङ्गश्रुतपारगान् । क्षमादिदशधाधर्मयुक्तान् जितपरीषहान् ॥१३७
दिगम्बरधरास्त्यक्तदण्डशल्यत्रयादिकान् । विरक्तान् कामभोगेषु रक्तान् मुक्त्यादिके सुखे ॥१३८
दुर्बलीकृतसर्वाङ्गान् सबलीकृतसद्गुणान् । सिंहनिष्क्रीडिताद्युग्रतप संसक्तमानसान् ॥१३९
मूलोत्तरगुणोपेतान् प्रसन्नान् सज्जलोपमान् । कर्मेन्धनाग्निसादृश्यान् गम्भीरान् सागरानिव ॥१४०
प्रावृट्काले स्थितान् वृक्षमूले हेमन्तिकेऽचलान् । चतुर्मार्गे च ग्रीष्मे तान् नगशृङ्गेमुखीश्वरान् ॥१४१

अनेकऋद्धिसम्पूर्णान् समर्थान् भव्यतारणे ।
निर्भयान् सद्गुरून् नित्य भज त्वं स्वर्गमुक्तये ॥१४२ दशभिः कुलकम् ।

आदि भगवान् जिनेंद्र देवके कहे हुए मार्गसे विरुद्ध है उस सबको दुःख देनेवाला मिथ्यात्व समझना चाहिये ॥१३१॥ इस प्रकार भगवान् जिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म तुझे बतलाया उसका, तू निश्चय कर। अब आगे गुरुका स्वरूप बतलाते है। जिनका भेष श्री जिनेंद्रदेवके समान है और जो चौबीस प्रकारके परिग्रहसे रहित है ऐसे गुरुकी तू सेवा कर ॥१३२॥ जो समस्त जीवोपर दया करते हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोका उपदेश देते हैं, विकथा आदि पापोंसे सर्वथा रहित है, जो तृण और सुवर्णको समान जानते है, जो पर्वतोपर अथवा कोटर गुफा आदि सूने मकानोमें रहते है, जिन्होने अपने ध्यानसे समस्त पापोको धो डाला है, जिन्होने दश प्रकारका बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकारका अन्तरग परिग्रह सर्वथा छोड दिया है, जिन्होने इन्द्रियरूपी चोरोको सर्वथा जीत लिया है, कामदेवरूपी हाथीको मार भगाया है, शरीरके नहाने धोने आदि सब सस्कारोका त्याग कर दिया है, जो महाबलवान हैं अथवा महापुरुष हैं, जिनके परिणाम सदा निर्मल रहते हैं, यद्यपि जिनके समस्त शरीरमे मैल लगा हुआ है तथापि परिग्रह रहित होनेसे जो सदा निर्मल रहते हैं, जो प्रात काल, मध्याह्नकाल, सायकाल तीनो समय योग धारण करते है, जो ध्यान और अध्ययन करनेमे सदा तल्लीन रहते हैं, जो मौनव्रत पालन करते हैं, धीर वीर है, द्वादशाग श्रुतज्ञानके पारगामी हैं, उत्तम क्षमा आदि दशो धर्मोको पालन करते हैं, समस्त परीषहोको जीतते हैं, दिगम्बर मुद्रा धारण करते है, जिन्होने तीनो शल्य और दण्डोका त्याग कर दिया है, जो काम भोगोंसे विरक्त हैं, मोक्ष सुखमे आसक्त हैं, जिनका समस्त शरीर दुर्बल हो रहा है, परतु श्रेष्ठ गुणोको जिन्होने अत्यत बलवान बना लिया है, जिनका हृदय सिंहनि क्रीडन, उग्र तप आदि कठिन तपोमे सदा तल्लीन रहता है, जो मूल गुण और उत्तर गुणोंसे सुशोभित हैं, जो कर्मरूपी ईंधनके लिये जलती हुई अग्निके समान हैं, जो समुद्रके समान गंभीर हैं, जो वर्षाकालमे वृक्षके नीचे विराजमान रहते है, शीतकालमे चौहटे मैदानमें अकेले विराजमान रहते हैं और ग्रीष्मऋतुमे पर्वतके शिखरपर जाकर तप करते हैं, जो अनेक ऋद्धि सिद्धियोंसे परिपूर्ण हैं, भव्य जीवोको ससार समुद्रसे पार कर देनेके लिये समर्थ हैं और जो सदा निर्भय रहते हैं ऐसे मुनिराज ही श्रेष्ठ गुरु कहे जाते हैं। हे भव्य ! स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू ऐसे श्रेष्ठ गुरुओकी ही सेवा कर ॥१३३-१४२॥ जो अनेक

देशका ये तरति स्वं संसारे दुःखसागरे । तारयन्ति समर्थास्ते परेषा भव्यदेहिनाम् ॥१४३
गुरून् संगविनिर्मुक्तान् ये भजन्ति बुधोत्तमा । नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथा भवन्ति ते ॥१४४

निर्गन्थान् ये गुरून् मुक्त्वा सेवन्ते कुगुरून् पुन ।
चिन्तामणीन् परित्यज्य काचान् गृह्णन्ति तेऽधमा ॥१४५
एकाग्रचेतसा धीमन् त्वं त्यक्त्वा कुगुरून्, भज ।
दिगम्बरान् महाधीरान् निर्ग्रन्थान् मुक्तिहेतवे ॥१४६

स्वामिस्त्वं कुगुरूनत्र तान् मे कथयादरात् । संसारजलधौ मग्नान् धर्मध्यानादिवर्जितान् ॥१४७
धनधान्यादिसंसक्तान् नित्यं कामार्थलालसान् । आर्तरौद्रपरान् मूढान् गृहव्यापारभारितान् ॥१४८
मिथ्यात्वप्रेरकान् पापपण्डितान् योषिताश्रितान् । संप्रार्थनपराल्लोके दुष्टान् दुर्गतिदायकान् ॥१४९
मिथ्योपदेशकान् नीचान् मूढसत्त्वप्रतारकान् । सत्क्रोधानपदान् लग्नान् पथि मिथ्यात्वपूरिते ॥१५०
जिनमार्गपरित्यक्तास्त्यज त्वं कुगुरून् बहून् । सर्पानिव सदा भ्रातो दूरत पापशङ्कया ॥१५१
स्वयं मज्जन्ति ये मूढा भवाब्धि तारयन्ति ते । कथं वा परजीवानां दुष्टाचारपरायणा. ॥१५२
वरं सर्पारिचौराणां संगं स्तान्न परै समम् । मिथ्यात्वपथसलग्नैरनन्तभवदु.खदम् ॥१५३
इति मत्वा महाभाग भज सद्गुरुपुङ्गवान् । स्वर्गमुक्त्यादिसिद्ध्यर्थं सर्वसत्त्वोपकारकान् ॥१५४

दु खोसे भरे हुए इस ससार सागरसे स्वय तरते है और अन्य भव्य जीवोको पार कर देनेमे समर्थ है ऐसे परिग्रह रहित गुरुओकी जो बुद्धिमान् सेवा भक्ति करते है वे स्वर्गादिकके उत्तम साम्राज्य भोगकर अन्तमे मोक्ष सुखके स्वामी होते हैं ॥१४३-१४४॥ जो अधम निर्ग्रन्थ गुरुओको छोडकर कुगुरुओकी सेवा करते हैं वे चिन्तामणि रत्नको छोडकर काचको स्वीकार करते है ॥१४५॥ इसलिये हे विवेकी भव्य ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कुगुरुओको छोडकर एकाग्र चित्तसे महा धीर वीर दिगम्बर और निर्ग्रन्थ मुनियोकी सेवा भक्ति कर ॥१४६॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! जो ससाररूपी महासागरमे डूब रहे है और धर्मध्यान आदिसे शुभ भावनाओसे रहित है ऐसे कुगुरुओका स्वरूप कृपाकर कहिये ॥१४७॥ उ०—जो धन धान्य आदिमे लगे हुए हैं, सदा अर्थ और काम दो पुरुषार्थों-की ही लालसा रखते है, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानमे तत्पर रहते है, घर सवन्धी व्यापारके बोझसे लदे हुए हैं, मिथ्यात्वको प्रगट करनेवाले हैं, पापोके करनेमे चतुर है, स्त्रियोके आश्रय रहते है, सदा माँगनेमे लगे रहते हैं, जो दुष्ट है, मूर्ख है, दुर्गतिके देनेवाले है, मिथ्या उपदेश देनेवाले है, मिथ्या उपदेश देनेवाले है, नीच हैं, मूर्ख जीवोको ठगते फिरते है, क्रोधादिक कषायोमे लगे हुए है, सदा मिथ्यात्वको बढाते रहते हैं, और जिन्होने जिनमार्गको छोड रक्खा है, ऐसे अनेक कुगुरु हैं, हे भाई ! तू पापोंसे बचनेके लिये सर्पके समान दूरसे ही उनका त्याग कर ॥१४८–१५१॥ अनेक दुराचारोमे लगे हुए जो कुगुरु ससाररूपी समुद्रमे स्वय डूब रहे हैं वे भला अन्य जीवोको कैसे पार कर सकेंगे ॥१५२॥ सर्प, शत्रु, और चोर आदिका समागम करना अच्छा परन्तु मिथ्यात्व मार्गमे लगे हुए इन कुगुरुओका समागम अच्छा नही क्योकि सर्प शत्रु आदिके समागमसे एक ही भवमे दु.ख होता है परन्तु इन कुगुरुओके समागमसे अनन्त भवो तक दु ख प्राप्त होता रहता है ॥१५३॥ यही समझकर हे भव्यजीव ! हे भाग्यशालिन् ! स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू समस्त जीवोका उपकार करनेवाले श्रेष्ठ निर्ग्रन्थ गुरुओकी ही सेवा भक्ति कर ॥१५४॥ हे भव्य जीव ! गणधरादि महापुरुष भी जिनकी सेवा करते है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवकी सेवा कर, तथा उन्ही श्री जिनेन्द्र देवके

भज जिनवरदेवं श्रीगणेन्द्रादिसेव्यं, कुरु परमपवित्रं तत्प्रणीतं सुधर्मम् ।
सकलगुणगरिष्ठं सद्गुरुं सश्रय त्व, भवति बुधसुबीजं तत्त्रयं दर्शनस्य ॥१५५
विगतसकलदोषं तीर्थनाथै प्रणीतं, भुवनपतिसुसेव्यं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
परमगुणनिधान मोक्षवृक्षस्य बीज, पिब विगतकुशङ्कां दर्शनाख्यं सुधाम्बु ॥१५६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे
देवधर्मगुरुप्ररूपको नाम तृतीय परिच्छेद ॥३॥



कहे हुए परम पवित्र धर्मको धारण कर, और अनेक गुणोसे सुशोभित निर्ग्रन्थ गुरुओका स्मरण कर। ये तीनो ही सम्यग्दर्शनके प्रधान कारण हैं अर्थात् इन तीनोका यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥१५५॥ हे वत्स ! यह सम्यग्दर्शन एक अमृतके समान है क्योकि यह समस्त दोपोसे रहित है। भगवान् तीर्थंकर परमदेवने स्वय इसको निरूपण किया है, तीनो लोकोके इन्द्र, इसकी सेवा करते हैं, यह भव्यरूपी पात्रमे ही रह सकता है अभव्यके कभी नही होता, तथा यह उत्तम गुणोका निधि है इसके होनेसे अनेक उत्तम गुण अपने आप प्रगट हो जाते हैं और मोक्षरूपी वृक्षका तो यह बीज है। इसके प्रगट होनेसे मोक्ष अवश्य मिलती है इसलिये सव प्रकारकी शकाओ-को छोडकर तू इसका पान कर अर्थात् इस सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥१५६॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे देव गुरु धर्मके
स्वरूपको कहनेवाला यह तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥३॥



चौथा परिच्छेद

आनन्दोत्पत्तिसद्गेह नमस्कृत्याभिनन्दनम् । भेदं च कारणं हेतुं वक्ष्ये सद्दर्शनस्य च ॥१
भव्य पञ्चेन्द्रियः सञ्ज्ञी काललब्ध्यादिप्रेरित । पूर्णः गृह्णाति सम्यक्त्वमङ्ग्युपशमादिकम् ॥२
अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्वं प्रतिपद्य स । क्षायोपशमिकं नाम्ना प्रादत्ते दर्शनं भुवि ॥३
क्षायिकं भजते कश्चिद् भव्योऽत्यासन्नमुक्तिग । अकम्पं मेरुसतुल्य कर्मेन्धनहुताशनम् ॥४
सप्तप्रकृतिदुष्कर्मशमने प्रथम शमम् । जायते भव्यजीवानामूर्ध्वस्वच्छजलोपमम् ॥५
षट्प्रकृतिशमेनैव सम्यक्त्वोदयकर्मणा । क्षायोपशमिकं विद्धि प्राद्धस्वच्छोदकोपमम् ॥६
सप्तप्रकृति नि शेषक्षयाज्जीवा भजन्ति वै । क्षायिक मुक्तिद सारं स्वच्छनीरसमं क्रमात् ॥७
सम्यङ्मिथ्यात्वमिश्रेण मिथ्यात्वप्रकृतिर्भवेत् । त्रिधा चतुर्थानन्तानुबन्धिकर्मकषायजम् ॥८
सप्तप्रकृतिकर्माणि हत्वा त्व भज दर्शनम् । सोपान प्रथम मुक्तिगेहे श्रीजिनभाषितम् ॥९
मिथ्यात्व कीदृश स्वामिन् कषाय मे निरूपय । ज्ञाते सति पुनस्त्याग तत्कर्तुं शक्यते जनै ॥१०

अथानन्तर—आनन्द बढानेवाले भगवान् अभिनन्दन परमदेवको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनके भेद, कारण और हेतु कहता हूँ ॥१॥ जो जीव भव्य हो, सञ्ज्ञी हो, पर्याप्तक हो और काललब्धि आदि समस्त कारण जिसे प्राप्त हो गये हो ऐसा जोव प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है ॥२॥ फिर वह अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यात्व गुणस्थानमे निवास कर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। भावार्थ—औपशमिक सम्यग्दर्शनका समय अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यात्वका उदय हो जाता है। पुन समयानुसार क्षायोपशमिक होता है ॥३॥ अत्यन्त शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होते हैं। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन सुमेरु पर्वतके समान अकम्प है, कभी नष्ट नही होता और कर्मरूपी ईंधनको अग्निके समान है ॥४॥ जिस प्रकार मिट्टी मिले पानीमे फिटकरी या कतकफल डाल देनेसे मिट्टी नीचे बैठ जाती है और शुद्ध जल ऊपर आ जाता है उसी प्रकार अनन्तानुबन्धो क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियोके उपशम होनेसे भव्य जीवोके पहिला औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥५॥ पहली छह प्रकृतियोके उदयाभावी- क्षय होनेसे तथा उपशम होनेसे और देशघाती सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे मिट्टी मिले जलमेसे मिट्टीका कुछ भाग निकल गया हो और थोडा सा बना हो। उसी प्रकार चल मलिन आदि दोष जिसमे हो वही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है ॥६॥ ऊपर लिखी हुई सातो प्रकृतियोके अत्यन्त क्षय होनेसे जीवोके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह स्वच्छ जलके समान सम्यग्दर्शन सारभूत है और मोक्ष प्राप्त करनेवाला है ॥७॥ मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद है—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व। तथा अनन्तानुबन्धी कषायके चार भेद है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। हे वत्स, तू इन सातो प्रकृतियोको नष्ट कर सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महलको प्रथम सीढी है ऐसा भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है ॥८-९॥

प्रश्न—हे स्वामिन्, यह मिथ्यात्व कैसा है और कषाय कैसे है सो कृपा कर बतलाइये।

विवेको हन्यते येन मूढता च प्रसूयते । नीयन्ते प्राणिनः श्वभ्रं मिथ्यात्वं तज्जगुर्जिनाः ॥११
अनन्तदुःखसन्तानदानदक्षं बुधैः मतम् । मिथ्यात्वं पापसद्बीजं धर्मारण्यहुताशनम् ॥१२
रोगक्लेशकरं दुष्टमनन्तभवकारणम् । मुक्तिधामकपाटं च मिथ्यात्वं त्यज दूरतः ॥१३
मिथ्यादृष्टिर्न जानाति धर्मं हिंसाविवर्जितम् । असत्यं च कुधर्मं ना यथोन्मत्तः पदार्थकम् ॥१४
ज्ञानचारित्रधर्मादि सर्वं नश्यति येन तत् । मिथ्यात्वं विषतुल्यं भो त्यज त्वं बुद्धिनाशकम् ॥१५
एकान्तं विपरीतं च वैनयिकं च संशयम् । अज्ञानं पञ्चधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मुनिपुङ्गवैः ॥१६
कथ्यते क्षणिको जीवो यत्र तत्र च सर्वथा । अन्यः कर्म करोत्येव भुङ्क्ते अन्यो हि तत्फलम् ॥१७
मत्स्यादिभक्षणे दोषो नास्ति दुःखाकरं खलम् । मिथ्यात्वं विद्धि तन्मित्र कुबौधमतकल्पितम् ॥१८
पुण्यं जीववधाद्यत्र शुद्धिः स्नानेन कल्प्यते । क्रूरकर्मरता देवा गुरवः कामलालसाः ॥१९
पूजनं पशुवृक्षाणां तर्पणं मृतसज्जनात् । विपरीतं चतं ज्ञेयं मिथ्यात्वं द्विजसंभवम् ॥२०
विनयो गीयते यत्र पात्रापात्रेषु प्रत्यहम् । देवादेवेषु तद्विद्धि मिथ्यात्वं तापसप्रजम् ॥२१
ब्रूयते यत्र तीर्थेशे चाहारो मुक्तिसंभवम् । स्त्रीणां गर्भापहारं च वर्द्धमानस्य दुःखदम् ॥२२
यष्टिकावस्त्रपात्रादि सर्वं धर्मस्य साधनम् । तद्धि संशयमिथ्यात्वं भवेत्श्वेतपटप्रजम् ॥२३

क्योकि ये जीव जानकर ही उनका त्याग कर सकते हैं ॥१०॥ उत्तर—जिससे विवेक सब नष्ट हो जाय, मूढता प्रकट हो और जो प्राणियोको नरकमे पटक दे उसको श्री जिनेन्द्रदेवने मिथ्यात्व कहा है ॥११॥ यह मिथ्यात्व अनेक रोग क्लेश उत्पन्न करनेवाला है, दुष्ट है, अनन्त ससारमे परिभ्रमण करनेवाला है, और मोक्षमहलमे जानेसे रोकनेके लिये जुडे हुए किवाडोंके समान है। यह मिथ्यात्व अनन्त परम्परारूप दुःखोंको देनेमे चतुर है, पापका बीज है और धर्मरूपी वनको जला देनेके लिये अग्निके समान है इसलिये हे वत्स ! इसे तू दूरसे ही छोड ॥१२-१३॥ मिथ्यादृष्टी जीव हिंसा रहित धर्मको कभी नही समझ सकता । जिसप्रकार पागल पुरुष पदार्थोंको उलटा ही जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी असत्य और कुधर्मको ही जानता है ॥१४॥ उस मिथ्यात्वसे ज्ञान चारित्र धर्म आदि सब नष्ट हो जाता है । यह जीवोको विषके समान है और बुद्धिको नाश करनेवाला है इसलिये हे भव्य, इसे तू शीघ्र ही छोड ॥१५॥ मुनिराजोने इस मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाए हैं—एकान्त, विपरीत, वैनयिक, संशय और अज्ञान ॥१६॥ जिस मतमे जीवको सर्वथा क्षणिक बतलाया है, उस मतमे कर्मोको अन्य जीव करता है और उनके फलोको अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदिके भक्षण करनेमे दोष ही नही समझते उनका वह दुःख देनेवाला, दुष्ट और केवल अपनी कुबुद्धिसे कल्पना किया हुआ बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्व है ॥१७-१८॥ जिस मतमे जीवोकी हिंसासे पुण्य बतलाया गया हो, स्नानसे शुद्धि बतलाई गई हो, जिनके देव हिंसा आदि क्रूर कर्मोमे लगे हुए है, गुरु लोग कामकी लालसामे लिप्त हो, जिसमे पशु वृक्ष आदिकी पूजा करना बतलाया हो और मृत मनुष्योका तर्पण बतलाया हो, ऐसा ब्राह्मणोका वैदिक मत विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिए ॥१९-२०॥ जिस मतमे प्रतिदिन पात्र अपात्रोकी, देव अदेवोकी सबकी विनय की जाती हो वह तपस्वियोका विनय मिथ्यात्व कहलाता है ॥२१॥ जो तीर्थंकर अरहन्तदेवमे भी आहारकी कल्पना करते है, स्त्रियोको भी मोक्ष होना बतलाते हैं, जो वर्द्धमान स्वामीका गर्भापहरण मानते हैं, जो लकडी, वस्त्र, पात्र आदि सबको धर्मका साधन मानते हैं (धर्मोपकरण मानकर साधु लोग रखते है) वह दुःख देनेवाला श्वेताम्बरो-

अज्ञानजं कुमिथ्यात्वं भवेत्म्लेच्छादिगोचरम् । खाद्याखाद्यपरित्यक्तविचारं शून्यवादनम् ॥२४
पञ्चप्रकारमिथ्यात्वं दूरं तं मतकल्पितम् । उक्तं स्याद्वहुधाप्यन्यदनेकाशयजं भुवि ॥२५
मिथ्यात्वकर्मजं ज्ञेयं मिथ्यात्वं धर्मनाशकम् । ज्ञानचारित्रनिर्मूलस्फोटकं पापकारणम् ॥२६
सम्यक्त्वप्रकृतिर्ज्ञेया दर्शनस्य मलप्रदा । स्वपरादिषु विम्वेषु ममत्वजनका हठात् ॥२७
समान सर्वदेवेषु सर्वधर्मादिकेषु च । करोति परिणामं यन्मिश्रकर्म तदुच्यते ॥२८
क्रोधमानादिभेदेन कषाया पापहेतव' । चतुर्धा हि भवन्त्याद्या अनन्तभवकारका ॥२९
संत्यज्य सप्तप्रकृती. भज दुःखविनाशकम् । दर्शन स्वर्गसोपानं श्वभ्रतिर्यक्निवारणम् ॥३०
अष्टाङ्गसंयुतं येऽत्र भजन्ति दर्शनं शुभम् । शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं ते व्रजन्ति परं पदम् ॥३१
अङ्गानि यानि सन्त्यत्र दर्शने तानि भोः प्रभो । निरूपय ममाग्रे हि कृपा कृत्वा तदाप्तये ॥३२
चलत्यचलमालेयं शीततां लभतेऽनलम् । दैवात् ज्ञानादिज तत्त्वं न च श्रीजिनभाषितम् ॥३३
सूक्ष्मतत्त्वेषु धर्मेषु जिनेषु सन्मुनौ शुभे । ज्ञाने संत्यज्यते शङ्का या सा निःशङ्किता मता ॥३४
भयमप्रविनिर्मुक्तां कुदेवादिविवर्जिताम् । नि शङ्कां कुरुते योऽसौ मुक्तिश्रीवशमानयेत् ॥३५
सौभाग्ये भोगसारे च स्वर्गे राज्यादिके धने । इच्छा संत्यज्यते धर्माद् या सा नि काङ्क्षिता भवेत् ॥३६

का सांशयिक मिथ्यात्व है ॥२२-२३॥ अज्ञान मिथ्यात्व म्लेच्छ आदि जोवोंके होता है, जो शून्यवादी हैं और जिनमे भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नही होता ॥२४॥ यह पाँचो प्रकारका मिथ्यात्व पापोको उत्पन्न करनेवाला है और वुद्धिके द्वारा स्वय कल्पित किया हुआ है। इनके सिवाय अभिप्रायोंके भेदसे इस ससारमे और भी अनेक प्रकारका मिथ्यात्व समझ लेना चाहिये ॥२५॥ यह मिथ्यात्व मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है। यह धर्मको नाश करनेवाला है। ज्ञान चारित्रको जडसे उखाड देनेवाला और अनेक पापोका कारण है ॥२६॥ सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्दर्शनमे मल उत्पन्न कर देती है तथा यह जिनालय हमारा है, यह प्रतिमा हमारी है, यह दूसरेकी है, इस प्रकार हठ पूर्वक ममत्व उत्पन्न कर देती है ॥२७॥ सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति सव देवोमे तथा सब धर्मोमे समान परिणाम उत्पन्न कर देती है इसीलिये उसको मिश्र प्रकृति कहते हैं ॥२८॥ इसी प्रकार अनन्त ससारमे परिभ्रमण करानेवाले और पापोंके कारण ऐसे अनन्तानुवन्धी कपायके भी क्रोध मान माया लोभके भेदसे चार भेद होते है ॥२९॥ हे वत्स ! तू इन सातो प्रकृतियो-का त्याग कर और दु खोको दूर करनेवाले, स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करानेवाले तथा नरक और तिर्यञ्च गतिको रोकने वाले सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर ॥३०॥ जो भव्य जीव शका आदि दोषोसे रहित और आठो अगो सहित इस शुभरूप सम्यग्दर्शनको स्वीकार करते है वे अवश्य ही परम निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं ॥३१॥ प्रश्न—हे प्रभो ! अव कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके अगोका निरूपण करिये, क्योकि जान लेने पर ही वे स्वीकार किये जा सकते हैं ? ॥३२॥ उत्तर—चाहे पर्वतमाला चलायमान हो जाय और अग्नि शीतल हो जाय तथापि भगवान् सर्वज्ञदेवके कहे हुए तत्त्वोमे कभी अतर नही पड़ सकता। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोमे, धर्मके स्वरूपमे, अरहन्तदेवके स्वरूपमे, श्रेष्ठ मुनियोमे और शुभ ज्ञानमे शकाका त्याग कर देना निश्चय हो जाना नि शकित अग कहलाता है ॥३३-३४॥ जिसे किसी प्रकारका भय नही है जिसने कुदेवादिकोका सर्वथा त्याग कर दिया है और भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्वोमे किसी प्रकारकी शका नही करता वह अवश्य ही मोक्ष लक्ष्मी-को अपने वश कर लेता है ॥३५॥ सौभाग्य प्राप्त होनेमे, धर्मके फलसे उत्तम भोगोके मिलनेमे,

धर्मं कृत्वापि यो मूढ ईहते भोगमात्मनि । रत्नं दत्त्वा स गृह्णाति काचं स्वर्गमोक्षसाधनम् ॥३७
इच्छन्ति ये बुधा नित्यं मुक्तिं कर्मक्षयं पुनः । धर्मं कृत्वा लभन्ते नित्यं सुखं श्रीजिनसेवितम् ॥३८
सर्वाङ्गमलसंलिप्ते मुनौ रोगादिपीडिते । घृणा न क्रियते या सा ज्ञेया निर्विचिकित्सता ॥३९
जिनमार्गे भवेद्द्वन्द्वं सर्वं नो चेत्परीषहाः । इति ज्ञात्वा हि संत्यागे भावपूर्वा मता हि सा ॥४०
रोगादिपीडिता येऽपि तपोवृत्तादिकं सदा । चरन्ति मुनयो वीरास्ते धन्या भुवनत्रये ॥४१
धर्मे देवे मुनौ पुण्ये दाने शास्त्रे विचारणम् । दक्षैर्यत्क्रियते तद्धि प्रामूढत्वं गुणं भवेत् ॥४२
यो दक्षो देवसद्धर्मगुरुतत्त्वविचारणे । नाकराज्यादिकं प्राप्य स स्यान्मुक्तिस्त्रियवरः ॥४३
धर्माधर्मं न जानाति मूढो देवादिकं च यः । धर्ममुद्दिश्य पापं स कृत्वा दुर्गतिमाप्नुयात् ॥४४
सद्धर्मिणां मुनीनां च दृष्ट्वा दोषं विवेकिभिः । छादनं क्रियते यच्च तद्भवेदुपगूहनम् ॥४५
आगतं दोषमालोक्य जिनमार्गस्य ये बुधाः । छादयन्ति न किं तेषां स्वर्गमुक्त्यादिकं भवेत् ॥४६
जिनधर्मस्य यो निन्द्यो मुनीनां वा करोति वै । निन्दां स पापभारेण मज्जति श्वभ्रसागरे ॥४७
व्रतचारित्रधर्मादिचलतां धर्मदेशिभिः । स्थिरत्वं क्रियते यत्तत् स्थितिकरणमुच्यते ॥४८
श्रीधर्मादौ सदा येऽपि कुर्वन्ति स्थिरतां बुधाः । पुंसां नाकादिकं प्राप्य ते व्रजन्ति स्थिरं पदम् ॥४९

स्वर्गके सुखोमे, राज्यमे और धनादिमे इच्छाका त्याग कर देना—इनके प्राप्त होनेकी इच्छा न करना सो निःकांक्षित अंग कहलाता है ॥३६॥ जो मूर्ख धर्म सेवन कर अपने भोग सेवन करनेकी इच्छा करता है वह स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले अमूल्य रत्नको देकर काच खरीदता है ॥३७॥ जो विद्वान् धर्म सेवन कर सदा मोक्ष प्राप्त होनेकी और कर्मोके नाश करनेकी इच्छा करते हैं वे अवश्य ही भगवान् जिनेन्द्रदेवको प्राप्त हुए सुखोको पाते है ॥३८॥ यदि मुनिराजका शरीर रोग आदिसे पीडित हो, अथवा उनके सब शरीरपर मैल लगा हो, तो भी उन्हे देखकर घृणा न करना और उनके गुणोमे प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥३९॥ जिन मार्गमे सब जगह परीषहोका सहन करना ही उत्तम होता है ऐसा विचारकर घृणाका त्याग देना भावपूर्वक निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥४०॥ जो वीर वीर मुनि रोगादिकसे पीडित होकर भी महाव्रतो को पालन करते हैं, घोर तपश्चरण करते है इसलिये वे तीनो लोकमे धन्य गिने जाते हैं ॥४१॥ जो चतुर पुरुष धर्म, देव, मुनि, पुण्यदान और शास्त्र आदिमे पूर्ण विचार करते है उनके वह अमूढदृष्टि अंग होता है ॥४२॥ जो जीव देव, सद्धर्म, गुरु और तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको विचार करनेमे चतुर है, वह स्वर्गादिकके सुख और राज्य आदिको पाकर अन्तमे मोक्षलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥४३॥ जो मूर्ख धर्म अधर्मके स्वरूपको नही जानता, न देव कुदेवोंके स्वरूपको जानता है वह धर्म समझकर अनेक पाप करता है और इसीलिये अन्तमे दुर्गति को प्राप्त होता है ॥४४॥ जो विवेकी पुरुष धर्मात्मा और मुनियोके दोषोको देखकर भी ढक देते है, प्रगट नही करते उसे उपगूहन अंग कहते हैं ॥४५॥ जो विद्वान् जिन मार्गके आये हुए (अज्ञान वा प्रमादसे लगे हुए) दोषोको देखकर ढक देते हैं उन्हे स्वर्ग मोक्षादिक क्यो नही प्राप्त होगे अर्थात् अवश्य प्राप्त होगे ॥४६॥ जो निंद्य पुरुष जिन धर्मकी वा मुनियोकी निन्दा करता है वह पापके भारसे अवश्य नरकरूपी महासागरमे पडता है ॥४७॥ जो धर्मात्मा पुरुष व्रत चारित्र वा धर्मसे डिगते हुए पुरुषो को फिर उसीमे स्थिर कर देता है, धर्ममे लगा देता है वह उसका स्थितिकरण अंग कहलाता है ॥४८॥ जो विद्वान् अन्य मनुष्योको धर्मादिकमे सदा स्थिर करते रहते हैं वे स्वर्गादिकके सुख

कुर्वन्ति ये महामूढा विघ्नं दानवृषादिषु । तपोज्ञानसुपूजादौ स्युस्ते वै श्वभ्रगामिन ॥५०
सद्धर्मिणि मुनौ जैने स्नेह यत्क्रियते बुधै । सद्यः प्रसूतगोवत्सं ज्ञेय वात्सल्यमुत्तमम् ॥५१
ये कुर्वन्ति मुनौ जैने स्नेहं धर्मसुखप्रदम् । ते तीर्थनाथसभूतिं लब्ध्वा मुक्ति भजन्ति भो ॥५२
पुत्रदारादिसन्ताने स्नेहं कुर्वन्ति येऽधमाः । पापाकरं महादु ख प्राप्य ते यान्ति दुर्गतिम् ॥५३
ज्ञानोग्रतपसासक्तै दानपूजादिकारकै । जिनधर्मस्य माहात्म्यं क्रियते सा प्रभावना ॥५४
कुर्वन्ति प्रकटं ये च जिनधर्मं श्रुतादिभि । प्रतिष्ठादिकैरधर्मैस्ते भव्या यान्ति निर्वृतिम् ॥५५
प्रभावनादिकं येऽपि घ्नन्ति दुष्टाः सुपुण्यदम् । जिनधर्मस्य ते दु खं प्राप्य श्वभ्रे पतन्ति वै ॥५६
अष्टागसंयुतं सारं समर्थं दर्शनं भवेत् । नाशने कर्मशत्रूणा यथा सैन्ययुतो नृप ॥५७
एकैकमङ्गमासाद्य गताः भव्याः शिवालयम् । सर्वाङ्गसंयुता ये ते किं न मुक्ता भवन्त्यहो ॥५८
अष्टाङ्गपरिपूर्णं हि भज त्वं दर्शनं शुभम् । अनेककर्मसन्तानस्फोटकं मुक्तिसाधनम् ॥५९
यस्य यच्च फलं यातं स्वामिन्नङ्गादिसेवनात् । तस्य भव्यस्य तत्सर्वं दया कृत्वा प्रकाशय ॥६०

अतुलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकमूल, त्रिभुवनपतिसेव्यं कर्मकक्षे कुठारम् ।
भवजलनिधिपोतं पुण्यतीर्थं पवित्रं, भज रहितकुसङ्गं दर्शनं व्यङ्गयुक्तम् ॥६१

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे
अष्टाङ्गप्ररूपको नाम चतुर्थ परिच्छेद ॥४॥



पाकर अन्तमे मोक्षपदमे जा विराजमान होते है ॥४९॥ जो मूर्ख दान धर्म तप ज्ञान पूजा आदिमे विघ्न करते है वे अवश्य ही नरकोके दु ख भोगते है ॥५०॥ जिस प्रकार सद्य (हालकी) प्रसूता गाय अपने वच्चेपर प्रेम करती है उसी प्रकार जो विद्वान् धर्मात्मा भाइयोमे, मुनियोमे और जैन धर्ममे प्रेम करते है उनका वह सबसे उत्तम वात्सल्य अग समझना चाहिये ॥५१॥ जो भव्य मुनियोमे, जैन धर्ममे और धर्मात्माओमे सुख देनेवाले धर्मरूप प्रेमको करते है वे तीर्थकरकी विभूतिको पाकर मोक्ष प्राप्त करते है ॥५२॥ जो अधम स्त्री पुत्र आदि सन्तानोमे पाप उत्पन्न करनेवाला प्रेम करते है वे अनेक दु खोको पाकर अवश्य ही दुर्गतियोमे जन्म लेते हैं ॥५३॥ ज्ञान के द्वारा, उग्र तपश्चरणके द्वारा तथा दान पूजा आदिके द्वारा जैन धर्मका माहात्म्य प्रगट करना प्रभावना अग है ॥५४॥ जो भव्य जीव श्रुतज्ञानके द्वारा अथवा पूजा प्रतिष्ठाके द्वारा अथवा अन्य धार्मिक कार्योके द्वारा जिन धर्मकी महिमा प्रगट करते है वे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते है ॥५५॥ जो दुष्ट पुण्य उत्पन्न करनेवाली जिन धर्मकी प्रभावनामे विघ्न करते है वे अवश्य ही अनेक दु खोको पाकर नरकमे पडते हैं ॥५६॥ जिस प्रकार अपनी सेनाके साथ होनेसे राजा अपने शत्रुओ को नष्ट कर देता है उसी प्रकार इन आठो अगोसे परिपूर्ण और सारभूत सम्यग्दर्शन समस्त कर्म-रूपी शत्रुओको नष्ट कर देता है ॥५७॥ इस सम्यग्दर्शनके एक-एक अगको पालन करके ही अनेक भव्य जीवोने मोक्ष प्राप्त किया है फिर भला जो समस्त अगोको पालन करते है वे क्यो नही मोक्ष प्राप्त कर सकते अर्थात् वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते है ॥५८॥ इसलिये हे भव्यजीव ! तू इन आठो अगोसे परिपूर्ण सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन शुभ है, अनेक कर्म-समूहको नष्ट करनेवाला है और मोक्षका साधन है ॥५९॥ प्रश्न—हे भगवन् ! इन आठो अगोके सेवन करने से किस-किस भव्य जीवको क्या-क्या फल प्राप्त हुआ है सो आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥६०॥

उत्तर—हे भव्य ! यह सम्यग्दर्शन अनुपम गुणोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षकी जड़ है। तीनों लोकोंके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं। यह कर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठारके समान है। संसाररूपी महासागरसे पार होनेके लिये जहाजके समान है। पुण्यरूप है, तीर्थरूप है और अत्यन्त पवित्र है। इसलिये तू सब तरहकी कुमरगतियोंसे बचकर आठों अंगों सहित इसका पालन कर ॥६१॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें आठों अंगोंको निरूपण करनेवाला यह चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥४॥



पाँचवाँ परिच्छेद

सुमतीशं जिनं नत्वा वक्ष्ये सन्मति-हेतवे । कथामङ्गादिसञ्जातामञ्जनादिभवामहम् ॥१
अङ्गे नि शङ्किताख्येऽपि विख्यातो योऽञ्जनोऽभवत् । कथां तस्य प्रवक्ष्यामि संवेगादिकरामहम् ॥२
वै धन्वन्तरि-विश्वानुलोमौ नृप-द्विजात्मजौ । मित्रौ पुण्यवशाज्जातौ स्वर्गज्योतिष्कसद्गृहे ॥३
अमितप्रभनामा स देवोऽभूद्धर्मतत्पर । नृपो द्विज पुन जातो नीचो विद्युत्प्रभोऽमर ॥४
यो जैन' स समायात इतरस्य गृहे पुन । दातुं सद्दर्शनं सोऽपि न च गृह्णाति मूढधी ॥५
परस्परं विवादं तौ कृत्वा धर्मसमुद्भवम् । पार्श्वे तु यमदग्नेश्च तत्परीक्षार्थमागतौ ॥६
पक्षीरूपं समादाय तपोभङ्गं विधाय च । तस्यैव वचनेनैव प्राप्तौ राजगृहे पुरे ॥७
जिनदत्तो भवेच्छ्रेष्ठी तत्र दर्शनधारक । व्रतेनालङ्कृतो धीमान् दानपूजादितत्पर ॥८
आदाय प्रोषधं रात्रौ कृष्णपक्षेऽष्टमी दिने । कायोत्सर्गं श्मशानेऽसौ ध्यात्वामात्मावलोकत ॥९
अमितप्रभदेवेन प्रोक्तं तिष्ठन्तु साधव । दूरे मेऽत्रास्ति शक्तिश्चेद्भ्रातस्ते गृहनायकम् ॥१०
इमं ध्यानसमापन्नं निस्पृह गुणसागरम् । चालय शीघ्रमागत्य ध्यानाद्धैर्यावलम्बितम् ॥११

अपनी बुद्धिको श्रेष्ठ बनानेके लिये मैं श्री सुमतिनाथ भगवान्को नमस्कार कर आठो अगोमे प्रसिद्ध होनेवाले अजन आदिकी कथा कहता हूँ ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके प्रथम नि शकित अगमे जो मनुष्य प्रसिद्ध हुआ है उसकी सवेग प्रगट करनेवाली कथा मै कहता हूँ ॥ २ ॥ एक धन्वन्तरी राजा था। विश्वानुलोम नामका एक ब्राह्मण उसका मित्र था। पुण्यके प्रभावसे धन्वन्तरीका जीव तो मरकर ज्योतिष्क विमानोमे अमितप्रभ नामका देव हुआ और उस ब्राह्मणका जीव विद्युत्प्रभ नामका देव हुआ। इनमेसे अमितप्रभ धर्मात्मा था और अच्छी ऋद्धियाँ उसे प्राप्त थी तथा विद्युत्प्रभ धर्महीन था और ऋद्धियाँ भी उसे उससे कम प्राप्त हुई थी ॥ ३–४ ॥ किसी एक दिन अमितप्रभ नामका देव सम्यग्दर्शन ग्रहण करानेके लिये विद्युत्प्रभके घर आया परन्तु उस मूर्खने सम्यग्दर्शन स्वीकार किया ही नही ॥ ५ ॥ तदनन्तर वे दोनो धर्मके विषयमे कुछ विवाद करने लगे और अपने-अपने धर्मकी परीक्षा करानेके लिये यमदग्नि नामके तपस्वीके पास आये ॥ ६ ॥ उन दोनोने पक्षीका रूप धारण कर लिया और किसी तरह उसके तपश्चरणको भग कर दिया। फिर वे दोनो देव विद्युत्प्रभकी सलाहसे राजगृह नगरमे आये ॥ ७ ॥ वहाँपर एक जिनदत्त नामका सम्यग्दृष्टी सेठ था, वह बुद्धिमान् व्रतोसे भी सुशोभित था और दान पूजा आदि कार्योमे सदा तत्पर रहता था ॥ ८ ॥ उस दिन कृष्ण पक्षकी अष्टमी थी। उस सेठने प्रोषधोपवास किया था और रात्रिमे कायोत्सर्ग धारणकर स्मशानमे जा विराजमान हुआ था। अकस्मात् वहीपर वे दोनो देव आ निकले और उन्होने ध्यान करते हुए सेठको देखा ॥ ९ ॥ तब अमितप्रभ देवने कहा कि हमारे साधु लोगोकी बात तो दूर ही रहो, हे भाई! यदि तुझमे शक्ति है तो ये गृहस्थ सेठ ध्यान लगाये हुए विराजमान हैं, अनेक गुणोके सागर हैं, निस्पृह है और अपनी शक्तिके अनुसार ध्यान कर रहे है इन्हीको तू ध्यानसे चलायमान कर दे ॥ १०–११ ॥ अमितप्रभकी यह बात सुनकर विद्युत्प्रभने वध, वन्धन, हाव, भाव आदि अनेक कुरीतियोसे असह्य और महा घोर उपसर्ग करना

तेन कृतो महाघोरोपसर्गो दुस्सहो घन· । वधवन्धप्रयोगैश्च हावभावैर्दुरुक्तिभि ॥१२
दध्याच्चित्तं स सद्ध्याने वीतरागादिगोचरे । निश्चल देहनिर्मुक्तं संवेगादिगुणाश्रितम् ॥१३
सुस्थिरोऽचलवद्धीर साधुवत्सङ्गवर्जित. । प्रसन्नो जलवत्सोऽभूदगाध. सागरादिवत् ॥१४
निरर्थकोऽमरो जातो लज्जाकुलितमानस । धर्मसवेगसम्पन्नस्त्यक्तमानस्तदा च सः ॥१५
प्रभातसमये सोऽपि जित्वा शेषपरीषहान् । कायोत्सर्गं विमुच्याशु स्थितो यावत्सुखेन वै ॥१६
ताभ्यामागत्य शीघ्रेण नमस्कारं विधाय स । पूजित परया भक्त्या दिव्यवस्त्रादिभूषणै. ॥१७
आकाशगामिनीं विद्यां गृहाणेमा बुधोत्तम । सिद्धा कार्यकरां सारा धर्मयात्रादिहेतवे ॥१८
सारपञ्चनमस्कारप्राराधनप्रपूजनात् । परेषा सिद्धिमायाति सा विद्या पुण्ययोगत ॥१९
इत्युक्त्वा त नमस्कृत्य प्रशस्य च मुहुर्मुहु. । अनेकवचनालापै स्वस्थानं तौ गतौ पुन ॥२०
पूजामादाय सयाति नृलोके मन्दरादिके । पूजार्थं जिनबिम्बाना प्रत्यहं धर्महेतवे ॥२१
एकदा सोमदत्तादिपुष्पान्तवटुकेन स. । प्रपृष्टः प्रत्यहं कुत्र व्रजतीति भवानहो ॥२२
स ब्रूते शृणु हे वत्स पूजनार्थं व्रजाम्यहम् । अकृत्रिमजिनागारे प्रतिमाना शुभाय वै ॥२३
आह सोऽपि पुन श्रेष्ठिन् कथ तत्र प्रयामि भो । तेनोक्तं तस्य तत्सर्व विद्यालाभादिकारणम् ॥२४

प्रारम्भ किया ॥ १२ ॥ परन्तु वे सेठ भगवान् वीतराग परमदेवके ध्यान करनेमे तल्लीन बने रहे, उन्होने शरीरसे ममत्व छोड दिया । अपने सवेग आदि गुण बढा लिये और वे निश्चल होकर ध्यान करते रहे ॥ १३ ॥ उस समय वे वीरवीर सेठ पर्वतके समान निश्चल थे, मुनिके समान परिग्रह रहित थे, जलके समान निर्मल थे, और सागरके समान गम्भीर थे ॥ १४ ॥ जब देव सब कुछ कर चुका, आगे करनेमे असमर्थ हो गया तब वह अपने चित्तमे बहुत ही लज्जित हुआ । उसने अपना अभिमान छोडकर धर्म स्वीकार किया और सवेग धारण किया ॥ १५ ॥ इधर सवेरा होते हो सब परीषहोको जीतकर सेठने अपने कायोत्सर्गका विसर्जन किया और कुछ देरतक सुखसे बैठे ॥ १६ ॥ इतनेमे ही वे दोनो देव इनके पास आये । दोनोने सेठको नमस्कार किया और बडी भक्तिसे दिव्य वस्त्र और आभूषणोसे सेठकी पूजा की ॥ १७ ॥ तदनन्तर उन देवोंने सब हाल कहा और प्रार्थना की कि हे उत्तम विद्वान् ! आप धर्मकार्योंके लिये तथा यात्रा आदि धार्मिक कार्य करनेके लिये सब कार्योको सिद्ध करनेवाली और सारभूत इस आकाशगामिनी विद्याको स्वीकार कीजिये ॥ १८ ॥ यदि सारभूत पच नमस्कार मत्रके द्वारा आराधना और पूजा की जायगी तो पुण्यकर्मके उदयसे यह विद्या अन्य लोगोको भी सिद्ध हो जायगी ॥ १९ ॥ इस प्रकार कहकर, उनको नमस्कार कर, वार-वार उनकी प्रशसा कर और अनेक प्रकारकी वार्ते कर वे दोनो देव अपने स्थानको चले गये ॥ २० ॥ इधर जिनदत्त सेठ उस आकाशगामिनी विद्याके प्रभावसे पूजाकी सामग्री लेकर मेरु आदि पर्वतोपर ढाईद्वीपके अकृत्रिम चैत्यालयोकी पूजा करनेके लिये प्रतिदिन जाने लगा ॥ २१ ॥

किसी एक दिन उस सेठसे सोमदत्त नामके मालीने पूछा कि हे प्रभो ! आप प्रतिदिन कहाँ जाया करते हैं ? तब सेठने उत्तर दिया कि हे वत्स ! सुन, मैं प्रतिदिन अकृत्रिम चैत्यालयमे विराजमान अत्यन्त मनोहर जिनप्रतिमाकी पूजा करनेके लिये और उससे पुण्य सम्पादन करनेके लिये जाया करता हूँ ॥ २२-२३ ॥ तब सोमदत्तने फिर पूछा कि आप किस प्रकार जाया करते हैं तब इसके उत्तरमे सेठने विद्युत्प्रभ देवकी सब कथा कह सुनाई और उस आकाशगामिनी विद्याका भी सब हाल कह सुनाया ॥ २४ ॥ तब सोमदत्तने फिर प्रार्थना की कि हे विद्वन् ! कृपाकर मुझे

ऊचे स शृणु भो धीमन् ! विद्यां देहि ममादरात् । पुष्पादिकं समादाय गच्छामि भवता सह ॥२५
ततो हि श्रेष्ठिना तस्मै धर्मसंसिद्धिकारण. । उपदेशोऽपि सम्पूर्णो दत्तः श्रीधर्महेतवे ॥२६
तत कृष्णचतुर्दश्या कृत्वा सत्प्रोषधद्वयम् । न्यग्रोधाख्ये नगे पूर्वशाखायां संबबन्धवैः ॥२७
अष्टोत्तरशतापादं दर्भशक्यं निधाय च । अधमूर्ध्वविमुखास्त्राणि श्मशानेऽतिभयप्रदे ॥२८
पुष्पादिकं समादाय शक्यमध्ये प्रविश्य च । उच्चरित्वा नमस्कारान् पञ्चनायकमन्त्रपान् ॥२९
उद्यमं कुरुते यावत् तत्पादेकैकछेदने । तावच्छुरिकयालोक्य तीक्षणास्त्राणि भयं ययौ ॥३०
चिन्तितं तेन मूढेन यद्यसत्य भविष्यति । वचन श्रेष्ठिनो दैवात् तदा मे मरणं भवेत् ॥३१
इति मत्वा शठ सोऽपि चढनोत्तरणं भयात् । कुर्वन् पुन. पुन यावत्तावदन्या कथा शृणु ॥३२
प्रजापाल नृपस्यैव कनकाख्या सुखप्रदा । राज्ञी बभूव तस्या हि हृदि हारो विराजते ॥३३
दृष्ट्वा त चिन्तित सारं विलासिन्या. स्वमानसे । किमनेन विना जीवितव्येनास्ति प्रयोजनम् ॥३४
अञ्जनाख्य पुनश्चौर आगतो निशि तद्गृहम् । सा ब्रूते यदि मे हार ददासि नृपमन्दिरात् ॥३५
तदा भर्ता त्वमेव स्यादन्यथा न च भूतले । इति श्रुत्वा स संतोष्य तामतो निर्गतो गृहात् ॥३६

भी वह विद्या दे दीजिये मैं भी आपके साथ पुष्पादिक लेकर चला करूँगा ॥ २५ ॥ उसकी यह प्रार्थना सुनकर सेठने धर्मकार्य करनेके लिये धर्मकार्योको सिद्ध करनेवाली उस विद्याके सिद्ध करनेका सव उपाय वतला दिया ॥ २६ ॥ उस विद्याको सिद्ध करनेके लिये सोमदत्तने पहिले दो प्रोपधोपवास किये फिर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीके दिन किसी अत्यन्त भयानक स्मशानमे एक भारी वटवृक्षकी पूर्व शाखा पर एक दाभका सीका बाँधा। उस सीकेमे एकसौ आठ दाभकी लडियाँ थी और उसके नीचे भूमिपर ऊपरको मुँह किये हुए तीक्षण शस्त्र गढे हुए थे ॥ २७–२८ ॥ इतना काम करनेपर वह पुष्पादिक लेकर उस सीकेमे जा बैठा और सर्वश्रेष्ठ पच नमस्कार मत्रका उच्चारण कर एक-एक लडी काटनेका उद्योग करने लगा।[1] इस प्रकार वह पहिली लडी काटना ही चाहता था कि नीचेके छुरा आदि तीक्ष्ण शस्त्रोको देखकर वह डर गया और विचार करने लगा कि यदि दैवयोगसे सेठके वचन असत्य हो जाँय (सव लडियोके काट लेनेपर भी विद्या सिद्ध न हो) तो फिर अवश्य ही मेरा मरण हो जायगा ॥२९–३१॥ इस प्रकार विचार कर वह मूर्ख सीकेसे उतर आया परन्तु कुछ सोचकर फिर चढ गया। इसी प्रकार वह बहुत देर तक चढने उतारनेका काम करता रहा। इसी बीचमे एक दूसरी घटना इस प्रकार हुई ॥३२॥

उस समय उस नगरमे प्रजापाल नामके राजा राज्य करते थे, उनको सुख देनेवाली कनकावती रानी थी। उसके गलेमे एक रत्नोका हार था जो कि बहुत ही सुन्दर था ॥३३॥ उस हारको देखकर एक वेश्याने अपने मनमे विचार किया कि इस हारके विना जीना व्यर्थ है ॥३४॥ रातको उस वेश्याके घर अजन नामका चोर आया। उससे उस वेश्याने कहा कि यदि तू राजमहलमे से लाकर वह रानीका हार मुझे देगा तभी मै तुझे अपना स्वामी बनाऊँगी, अन्यथा नही। वेश्या-की यह बात सुनकर चोरने उसे धैर्य वधाया और वडे अहकारसे उस हारको लेनेके लिये

१ एक एक वार पञ्च नमस्कार मत्रका उच्चारण एक एक लडी काट लेने पर अर्थात् एक सौ आठ वार नमस्कार मन्त्रका उच्चारण एक सौ आठ लडियाँ काट लेने पर उस विद्याके सिद्ध होनेका नियम था।

प्रविश्य गृहमध्येऽस्य विज्ञानेन निजेन तम् । समादाय व्रजन् वेगाद्दृष्टो रत्नादितेजसा ॥३७
ध्रियमाण स त त्यक्त' कोटवालाङ्ग रक्षकं । आगतो वटवृक्षे तं दृष्ट्वा पृष्ट्वा ददौ च तम् ॥३८
भूत्वा नि शंकितो धीमान् स श्रेष्ठिवचने शुभे । एकवारेण सर्वं स. शक्यं छित्वा पतेद्यदा ॥३९
तदा विद्या समायाता सिद्धा त प्रार्थयत्यहो । आदेशं देहि मे स्वामिन् कृपया कार्यमावकम् ॥४०
नयेति तेन सा प्रोक्ता समीप श्रेष्ठिनो हि माम् । तया नीत खमार्गेण समारोप्य विमानके ॥४१
सुदर्शनमहामेरौ जिनचैत्यालये शुभे । अनेकमहिमोपेते धृतस्तस्य पुरो भुवि ॥४२
अञ्जनो वीक्ष्य त देवं जिनं चैत्यालयादिकम् । अगमन्मुदमत्यन्त हेमरत्नादितन्मयम् ॥४३
प्रणम्य श्रीजिनं भूयस्त भव्यं भक्तिनिर्भर । अवोचच्च वचो धीमान् श्रेष्ठिन प्रत्यसौ शुभान् ॥४४
स्वामिन् यथा महाविद्या सिद्धा युष्मत्प्रसादत । अत्रामुत्र भवेत्सौख्यं मम धर्म निरूपय ॥४५
ततो मत्वा समीपं तौ नत्वा चारणयो क्रमौ । पृच्छन्तौ स्थितौ धर्मं महानर्घ्यं मुनीशयो. ॥४६

निकला ॥३५-३६॥ अपने विज्ञानबलसे[1] वह राजभवनमे घुस गया और अपनी कुशलतासे हार लेकर चलता बना। परन्तु उस हारमें लगे हुए रत्नोंका प्रकाश बहुत था इसलिये कोतवाल और पहरेदारोसे छिप न सका और उन्होंने पकडनेके लिये चोरका पीछा किया। परन्तु वह चोर पहरेदारोको अपने पीछे पीछे आता हुआ जानकर उस हारको छोड़कर भाग गया। भागते भागते वह उसी वटवृक्षके नीचे आया जहाँ कि सोमदत्त माली आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न कर रहा था और डरकर चढने उतरनेका काम कर रहा था। चोरने उस सबका कारण पूछा। उत्तरमे उस सोमदत्त मालीने भी सब ज्योका त्यो बतला दिया ॥३७-३८॥ अजनचोरको सेठके वचनोपर विश्वास हो गया और उसने बिना किसी शकाके उसपर चढकर एक ही बार पच नमस्कारका उच्चारण कर सब लडियें काट डाली। जिस समय सब लडियोंके कट जानेपर वह नीचे गिरने लगा उसी समय आकाशगामिनी विद्याने आकर उसे रोक लिया और उससे प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! कृपाकर मुझे आज्ञा दीजिये इस समय आपका कौन-सा काम करूँ ॥३९-४०॥ तब अजनचोरने कहा कि इस समय मुझे जिनदत्त सेठके समीप ले चलो। यह सुनकर उस विद्या-देवताने उसी समय विमान बनाया और उसपर बिठाकर आकाश मार्गसे ले चली। उस समय सेठ सुदर्शनमेरुपर चैत्यालयमे थे इसलिये वह विद्या भी उसे अनेक महिमाओंसे सुशोभित उस सुदर्शनमेरुके चैत्यालयमे ले गई और सेठके सामने जाकर पृथ्वी पर उसे उतार दिया ॥४१-४२॥ अजनचोर उस सुवर्ण और रत्नोके बने हुए अकृत्रिम दिव्य जिन चैत्यालयको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥४३॥ उसने बडी भक्तिसे भगवान् अरहन्त देवको नमस्कार किया और फिर उस बुद्धिमानने भव्य जिनदत्तके समीप आकर उनको नमस्कार किया और वह उनसे इस प्रकार मधुर वचन कहने लगा कि ॥४४॥ हे स्वामिन्! जिस प्रकार आपके प्रसादसे मुझे यह महाविद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार इस लोक और परलोक दोनो लोकोमे कल्याण करनेवाला धर्म मुझे बतलाइये ॥४५॥ अजनचोरकी यह बात सुनकर वे सेठ उसको साथ लेकर समीप ही विराजमान दो चारण मुनियोंके समीप पहुँचे। दोनोने उन मुनिराजोंके चरणकमलोको नमस्कार किया और बैठकर सर्वोत्तम धर्मका स्वरूप पूछा ॥४६॥ उन दोनोमे से बडे मुनिराजने उन दोनोंके लिये अनेक महिमाओंसे सुशोभित

१ उस समय एक प्रकारका अजन होता था जिसे लगा लेने से उनको तो सब कुछ दिखाई देता था परन्तु वह स्वयं किसीको भी दिखाई नही पडता था और इसीलिये वह अंजनचोर कहलाता था।

ज्येष्ठो मुनिस्ततो ब्रूयाद्धर्मं तौ प्रतिसौख्यदम् । अनेकमहिमोपेतं यति श्रावकगोचरम् ॥४७
त्यक्तदोषं महाधर्मं श्रुत्वा सगर्वविवर्जितम् । अञ्जनो याचयामास दीक्षा श्रीमुनिपुंगवान् ॥४८
मुनिर्ब्रूते त्वया भद्रा भद्रमेतत्कृतं तप । शाचितं तव चायु स्याद्यत काश्चिद्दिनानपि ॥४९
जिनमुद्रा समादाय कृत्वा घोरतरं तप । शुक्लध्यानादियोगेन हत्वा घातिचतुष्टयम् ॥५०
शीघ्रमुत्पादयामास त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । केवलज्ञानसाम्राज्यमव्यय सोऽञ्जनो मुनिः ॥५१
शेषकर्माणि निर्मूल्य शक्रराजादिपूजित । कैलासशिखरारूढो गतो मोक्षं स ना सुधीः ॥५२
अञ्जनो व्यसनासक्तो धीरो निःशङ्किताश्रयात् । मुक्तिं यदि गतो ध्यानादनन्तसुखसंयुतम् ॥५३
सद्दृष्टि· सन् व्रतोपेतो यो धर्मादिविभूषित । नि शङ्कितगुणात् सोऽपि न स्यात् किं मुक्तिवल्लभः ॥५४
विभीषणमहाराजा नि शङ्कगुणधारक । यः स्यात्तस्य कथा ज्ञेया रामायणनिरूपिता ॥५५
वसुदेवोऽभवद् भूपो राज्ञी तस्यापि देवकी । ज्ञेया कथा तयोरेवं हरिवंशात्सम्यक्त्वजा ॥५६
अन्येऽपि बहव सन्ति नि शङ्का गुणभूषिताः । ये ते सर्वेऽपि विज्ञेया आगमाज्जिनभाषितान् ॥५७
तस्माद्भव्यैर्न कर्तव्या शङ्का सिद्धान्तदेशने । नि शङ्किता विधेयापि दृष्टिज्ञानादिसंयुतै ॥५८
धृतप्रथमगुणो यो नीतचारित्रभार , कृतपरमतपश्च सर्वकर्माणि हत्वा ।
अगमदमलसौख्यं मुक्तिजं सोऽपि नोऽव्याद्, भवजलनिधिपोतादञ्जनाख्यो यतीन्द्रः ॥५९

इति श्री भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे नि शङ्कितगुणव्यावर्णने अञ्जनचोरकथानिरूपणो नाम पञ्चम परिच्छेद ॥५॥



और सदा सुख देनेवाला मुनि और श्रावक दोनोका धर्म निरूपण किया ॥४७॥ सब तरहके परिग्रहसे रहित और सब दोषोसे रहित ऐसे मुनिराजके महाधर्मको सुनकर उस अजनचोरने उन मुनिराजसे दीक्षा धारण करनेकी प्रार्थना की ॥४८॥ उत्तरमे मुनिराजने कहा कि हे भद्र ! तूने यह बहुत ही अच्छा विचार किया क्योकि अब तेरी आयु थोडे ही दिनोकी रह गई है इसलिये अब तपश्चरण करना ही सर्वोत्तम है ॥४९॥ तदनन्तर उस अजनचोरने दीक्षा धारण की, घोर तपश्चरण किया और शुक्लध्यानके निमित्तसे चारो घातिया कर्मोको नष्ट किया ॥५०॥ उन अजन मुनिराजने घातिया कर्मोको नाशकर तीनो लोकोमे क्षोभ उत्पन्न करनेवाला और सदाकाल एक-सा रहनेवाला केवलज्ञान रूपी साम्राज्य बहुत शीघ्र प्राप्त कर लिया ॥५१॥ उस बुद्धिमानने समयानुसार बाकीके अघातिया कर्मोका नाश कर डाला और इन्द्र नरेन्द्र आदि सबसे पूज्य होकर कैलास पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया ॥५२॥ देखो जो अजनचोर अनेक व्यसनोमे लीन था वह भी नि शकित गुणके प्रभावसे ध्यान कर अनन्त सुखोसे परिपूर्ण मोक्षमे जा विराजमान हुआ फिर भला जो सम्यग्दृष्टी है, अनेक श्रेष्ठ व्रतोको पालन करता है और अनेक धर्मकार्यसे सुशोभित है वह नि.शकित गुणके प्रभावसे मोक्षका स्वामी क्यो नही हो सकता ? ॥५३-५४॥ इसी प्रकार महाराज विभीषणने भी नि शकित गुणका पालन किया था उनकी कथा रामायणमे (पद्मपुराणमे) कही है वहाँसे समझ लेना चाहिये ॥५५॥ द्वारिकापुरीके राजा वसुदेव और उनकी रानी देवकी भी नि शकित अगमे प्रसिद्ध हुई है उनकी कथा भी हरिवशपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥५६॥ इस नि शकित गुणसे विभूषित और भी बहुतसे लोग हुए है उन सबकी कथाएँ भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोसे जान लेनी चाहिये ॥५७॥ इसलिये भव्य जीवोको भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सिद्धान्तशास्त्रोमे तथा उनके

उपदेशमे कभी शका नही करनी चाहिये और ज्ञानी पुरुषोको अपना सम्यग्दर्शन निश्चल और निर्मल बना लेना चाहिये ॥५८॥ जिस अजनने सम्यग्दर्शनके नि शकित गुणको सबसे उत्तम रीतिसे पालन किया, फिर चारित्र धारणकर परम तपश्चरण किया, तथा समस्त कर्मोको नष्टकर मोक्षके निर्मल सुखको प्राप्त किया ऐसे ससाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाजके समान वे अजन जिनराज हम लोगोकी रक्षा करे ॥५९॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमे नि शकितगुणके वर्णनमे अजनचोरकी कथाको कहनेवाला यह पाँचवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥५॥



छठा परिच्छेद

पद्मप्रभमहं वन्दे पद्मयानासनं भुवि । सत्पद्मालंकृतं पद्मद्युतिं पद्माकरं परम् ॥१
निःकाङ्क्षितगुणे ख्याता जातानन्तमती हि या । कथां वक्ष्ये समासेन तस्याः सद्दृष्टिहेतवे ॥२
अङ्गदेशे जनाकीर्णे चम्पाख्या नगरी शुभा । उच्चैर्जिनालयोपेता नित्यं सन्मुनिसंयुता ॥३
वर्द्धमानो महीपालस्तत्राभूत्पुण्ययोगतः । राज्ञी लक्ष्मीमती तस्य बभूव प्राणवल्लभा ॥४
संजातः प्रियदत्ताख्यः श्रेष्ठी श्रीधर्मकारकः । भार्या चाङ्गवती तस्य जातानेकगुणाश्रिता ॥५
तयोः पुत्री समुत्पन्ना सम्यक्त्वादिविभूषिता । दानपूजादिसंलीना ख्यातानन्तमती सती ॥६
गृहीतं ब्रह्मचर्यं च स्वयमष्टदिनान्वितम् । धर्मकीर्तिमहाचार्यपार्श्वे नन्दीश्वरविधौ ॥७
ग्राहिताऽसौ विनोदेन ब्रह्मचर्यं सुखाकरम् । पुत्री धर्मादिसंयुक्ता श्रेष्ठिना धर्मशालिना ॥८
प्रदानसमये साऽऽह तात मे दापितं त्वया । ब्रह्मचर्यमतस्तेन तत्पाणिग्रहणेन किम् ॥९
दापितं क्रीडया पुत्रि मया ते तन्न चान्यथा । का क्रीडा तात सद्धर्मदानपूजाव्रतादिके ॥१०
दिनाष्टकमिदं पुत्रि दापितं ते मया तदा । ब्रूतं न मुनिना किंचिद्दिनमानं व्रते वरे ॥११

जो कमलासनपर विराजमान हैं, जिनके चरणकमलोके नीचे कमलोकी रचना होती है, जो कमलके चिन्हसे सुशोभित हैं, कमलकी सी ही जिनकी कान्ति है और जो अन्तरग वहिरग लक्ष्मीके परम निधि हैं ऐसे भगवान् पद्मप्रभको नमस्कारकर मै सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये दूसरे नि काक्षित गुणमे प्रसिद्ध हुई अनन्तमतीकी कथा सक्षेपसे कहता हूँ ॥१–२॥ अनेक मनुष्योसे भरे हुए अग देशकी राजधानी चम्पापुरी थी। वह चम्पापुरी नगरी वडी ही अच्छी थी, अनेक जिनालयोसे सुशोभित थी और सदा अनेक उत्तम मुनियोसे विभूषित रहती थी। पुण्य कर्मके योग से उसमे वर्द्धमान नामका राजा राज्य करता था। उसकी प्राणप्यारी रानीका नाम लक्ष्मीमती था ॥३–४॥ उसी नगरीमे एक प्रियदत्त नामका धर्मात्मा सेठ रहता था। उसकी सेठानीका नाम अगवती था और वह अनेक गुणोसे सुशोभित थी ॥५॥ उन दोनोके एक पुत्री थी जिसका नाम अनन्तमती था। वह अनन्तमती सम्यग्दर्शनसे सुशोभित थी और दान, पूजा आदि धार्मिक कार्योमे सदा लीन रहती थी ॥६॥ किसी एक दिन नन्दीश्वर पर्वके दिनोमे केवल आठ दिनके लिये दोनो सेठ-सेठानियोने श्री धर्मकीर्ति नामके आचार्यके पास ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया ॥७॥ उस धर्मात्मा सेठने सदा धर्मकार्योमे लगी रहनेवाली अनन्तमतीको भी विनोदपूर्वक सुख देनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत धारण करा दिया ॥८॥ अनन्तर जव सेठने उसके विवाहकी चर्चा चलाई तव अनन्तमतीने अपने पितासे कहा कि—हे तात! आपने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया है फिर आप मेरे विवाहकी चर्चा क्यो करते हैं? ॥९॥ उसके उत्तरमे सेठने कहा कि—हे पुत्री! मैंने वह व्रत विनोदके लिये दिलाया था वास्तवमे नही। यह सुनकर अनन्तमती कहने लगी कि हे तात! धर्म, दान, पूजा और व्रतोमे भी कही विनोद हुआ करता है? ॥१०॥ तव सेठने फिर कहा कि हे पुत्री! वह तो केवल आठ दिनके लिये दिलाया था? इसके उत्तरमे अनन्तमतीने कहा कि उस समय मुनिराजने व्रतोके पालन करनेके लिये दिनोकी कुछ मर्यादा नही वतलाई थी इसलिये मैंने तो वह ब्रह्मचर्य जीवनपर्यन्त धारण कर लिया है। अव मै उसे प्राण-नाश होनेपर भी कभी नही छोडूँगी और मेरु

गृहीतं नियमं सारं यावज्जीवं जहामि न । अचलं मेरुवत्तात प्राणान्तेऽपि कदाचन ॥१२

कला विज्ञानसम्पन्ना चैत्रे सख्या वनेऽपि सा । निजोद्याने महारूपा दोलयन्ती यदा स्थिता ॥१३

रूप्याद्रिदक्षिणश्रेण्या किन्नराख्ये पुरे वसन् । विद्याधराधिपो नाम्ना कुण्डलाद्यन्तमण्डित ॥१४

सुकेशीभार्यया युक्तो गच्छन् खे स स्मरत्यहो । दृष्ट्वा तां जीवितव्येन तेन किं मेऽनया विना ॥१५

गृहे धृत्वा स्वरामा च शीघ्रमागत्य तेन सा । नीता दुष्टेन खे बाला रुदन्ती शीलभूषिता ॥१६

उन्मानादागता भार्यां दृष्ट्वा तेन भयेन सा । समर्पितानुप्रज्ञप्त्याख्यपर्णलघुविद्ययो ॥१७

स्थापिता सा महाटव्यां ताभ्यां दु खाकुला सती ।
नीता भीमाख्यभिल्लेन राज्ञापि निजपल्लिकाम् ॥१८

पट्टराज्ञिपदं देवि ददामीच्छसि मा हठात् । अनिच्छन्ती हि प्रारब्धा भोक्तु रात्रौ खलेन सा ॥१९

शीलमाहात्म्यसंक्षोभादागत्य दु खदुष्कृत । वनदेवतया तस्योपसर्गो यष्टिमुष्टिभि ॥२०

भीतेन तेन ता नीत्वा देवता सा समर्पिता । सार्थपुष्पकनाम्नश्च सार्थवाहस्य वेगत ॥२१

लोभ प्रदर्श्य दुर्बुद्धि परिणेतुं स याचते । न वाञ्छति सती तं सा नि काङ्क्षितगुणाश्रिता ॥२२

नगर्यामप्ययोध्याया दत्ता चानीय तेन सा । वेश्यायै कामसेनायै शीलसम्पूर्णभूषणा ॥२३

न जाता तत्र वेश्या सा हावभावविकारिभिः । कृतातिधीरतापन्ना यथा मेरुशिखा दृढा ॥२४

पर्वतके समान निश्चल होकर आजन्म उसका पालन करूँगी ॥११-१२॥ किसी एक दिन युवावस्था प्राप्त होनेपर चैत्रके महीनेमे अपने बगीचेमे महारूपवती और कला विज्ञानसे परिपूर्ण वह अनन्तमती झूल रही थी ॥१३॥ इसी समय विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके किन्नरपुर नगरके विद्याधरोका राजा कुण्डलमडित अपनी रानी सुकेशीके साथ विमानमे बैठा हुआ आकाशमार्गसे जा रहा था। अचानक उसकी दृष्टि अनन्तमतीपर पडी। उसे देखकर वह मोहित हो गया और विचार करने लगा कि इसके बिना मेरा जीना ही व्यर्थ है ॥१४-१५॥ यही सोचकर वह घर लौटा, उसने अपनी रानीको घरपर छोडा फिर वह दुष्ट शीघ्र ही आकर शीलगुणसे सुशोभित और रोती हुई अनन्तमतीको लेकर आकाशमार्गसे चलने लगा ॥१६॥ उसकी रानीको भी कुछ सन्देह हो गया था इसलिये वह भी उसके पीछे-पीछे ही दौडी आई। रानीको देखकर वह विद्याधर डर गया और शीघ्र ही अनन्तमतीको प्रज्ञप्ता और पर्णलघ्वी नामकी विद्याके अधीन किया ॥१७॥ उन दोनो विद्याओने अत्यन्त दु खसे व्याकुल सती अनन्तमतीको किसी एक बडे वनमे छोड दिया परन्तु वहाँ भी उस बेचारीको सुख नही मिला। एक भीम नामके भीलोंके राजाने उसे अपने अधीन कर लिया और अपने घर ले जाकर प्रार्थना की कि तू मुझे स्वीकार कर, मैं तुझे पट्टरानी बना लूँगा, परन्तु वह सती कब स्वीकार करनेवाली थी, उसकी अनिच्छा देखकर रात्रिमे वह भीम उसपर बलात्कार करने लगा ॥१८-१९॥ परन्तु उस सतीके शीलके माहात्म्यसे क्षुब्ध होकर वनदेवी प्रगट हुई और उसने लकड़ी थप्पड आदिकी चोटोसे भीमकी खूब ही खबर ली ॥२०॥ भीम बहुत ही डर गया और उसने समझ लिया कि यह नारी नही है किन्तु नीचेको नेत्र किये हुए कोई देवता है। उसने शीघ्र ही पुष्पक नामके एक साहूकारको वह अनन्तमती सौंप दी ॥२१॥ वह मूर्ख साहूकार भी लोभ दिखाकर उसके साथ विवाह करनेकी प्रार्थना करने लगा, परन्तु नि काक्षितगुणको धारण करनेवाली उस सतीने किसीकी भी इच्छा नही की ॥२२॥ तब उस दुष्ट साहूकारने अयोध्या नगरीमे आकर शीलगुणसे विभूषित वह अनन्तमती एक कामसेना नामकी वेश्याके हाथ सौंप दी ॥२३॥ उस कामसेनाने भी उसे अनेक प्रकारके दु.ख दिये तथा हाव भाव

तया दत्ता पुन. सिंहनृपाय तेन सा निशि । हठात्सेवितुमारब्धा प्राणिच्छन्ती महाव्रता ॥२५
पुरदेवतया तस्य कृतो घोर उपद्रव । तस्या. शीलप्रभावेन यष्टिमुष्टयादिभिर्महान् ॥२६
भीतेन तेन सा बाला गृहान्निस्सारिता हठात् । आर्यिकया समाहृष्टा रुदन्ती कमलश्रिया ॥२७
आकाराच्छ्राविकां मत्वा नीत्वा पार्श्वे स्वयं तया । धृतातिगौरवोपेता स्वस्य धर्मादिहेतवे ॥२८
तदा शोक समुत्पन्नो दुस्सहस्तद्वियोगत । पितृबन्धुजनादीना सुखाधर्मैकनाशकृत् ॥२९
अथानन्तमतीशोकविनाशार्थं जगाम स । यात्रायै जिनतीर्थाना दृष्टायोध्यापुरी शुभात् ॥३०
प्रविष्टो जिनदत्तस्य श्रेष्ठिनो मन्दिरे शुभे । शालकस्यापराह्णे स पुत्री-वार्ता कृता निशि ॥३१
प्रभाते वन्दनाभक्ति कर्तुं यात स्वयं पुरीम् । श्रेष्ठी पूजादिसंयुक्तो जिनचैत्यमुनीशिनाम् ॥३२
सा श्रेष्ठिभार्यया चापि श्राविकाकारिता गृहे । दक्षा रसवती कर्तुं चतुष्कं दातुमप्यहो ॥३३
सर्वं कृत्वा गता सोऽपि स्वस्थानं प्रागतो वणिक् । दृष्ट्वा तं कुरुते तूर्णमश्रुपात विशोकजम् ॥३४
उक्तं तेन यया गेहमण्डनं कृतमप्यहो । तां मम दर्शयानीता जातो मेलापकस्तयो ॥३५
विधायालिङ्गनं तेन पृष्टा वार्ता वियोगजा । श्रेष्ठिना जिनदत्तेन कृतोऽत्यन्तमहोत्सव ॥३६

विकारोसे समझाया, तथापि वह अपने शीलगुणसे रचमात्र भी न डिगी—जिस प्रकार मेरु पर्वत का शिखर निश्चल रहता है उसी प्रकार अत्यन्त धीरवीर वह अनन्तमती अपने व्रतमे निश्चल रही ॥२४॥ अन्तमे हारकर कामसेनाने वह राजा सिंहराजको दे दी। उसने भी उसपर अपना चक्र चलाना चाहा और अत्यन्त दृढ रूपसे व्रतको पालन करनेवाली और किसीको भी न चाहने वाली उस अनन्तमतीपर किसी एक रात बलात्कार करनेपर उतारू हो गया ॥२५॥ परन्तु उसके शीलव्रतके माहात्म्यसे पहिलेकी वनदेवी आ उपस्थित हुई और उसने लकडी घूसोसे राजाकी खूब ही खबर ली ॥२६॥ तब तो राजाको उससे बहुत ही डर लगा और उसने उसी समय उसे अपने घरसे निकाल दिया। चलते-चलते उसे पद्मश्री आर्यिकाके दर्शन हुए। उसे देखकर वह और भी रोने लगी और उसे अपनी सब कथा कह सुनाई ॥२७॥ आर्यिकाने अपना धम पालन करनेके लिये उसे अच्छी श्राविका जानकर अपने ही पास रक्खा और यथायोग्य आदर सत्कारके साथ उसका निर्वाह करने लगी ॥२८॥

इधर पुत्रीके हरे जानेसे सेठ प्रियदत्तको बहुत ही शोक हुआ। साथमे अन्य कुटुम्बियोको भी हुआ। उसके शोकसे वे अपना सुख और धर्म सब भूल गये ॥२९॥ उस शोकको दूर करनेके लिये सेठ प्रियदत्त तीर्थयात्राको निकला और वन्दना करते हुए अयोध्यापुरीमे आया ॥३०॥ अयोध्यापुरीमे एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था, जो प्रियदत्तका साला था, प्रियदत्त उसीके मकानमे आकर ठहरा। सायकालके समय सब कामोसे निबट लेनेपर प्रियदत्तने जिनदत्तसे अपनी पुत्रीके हरे जानेके समाचार कहे ॥३१॥ प्रात काल होनेपर नहा धोकर सेठ प्रियदत्त अयोध्या नगरके जिनमन्दिरोकी तथा वहाँ ठहरनेवाले मुनियोकी वन्दना करनेके लिये निकला ॥३२॥ इधर सेठ जिनदत्तकी स्त्रीने पद्मश्री आर्यिकाके समीप रहनेवाली श्राविकाको (अनन्तमतीको) अपने घर भोजन करनेके लिये और चौक पूरनेके लिये बुलाया ॥३३॥ वह श्राविका (अनन्तमती) भोजनकर और चौक पूरकर अपने स्थानको चली गई। इसके बाद वन्दनाकर सेठ प्रियदत्त आया और अनन्तमतीके द्वारा पूरे हुए उस चौकको देखकर और पहिचानकर उसके शोकसे आँसू डालने लगा ॥३४॥ प्रियदत्तने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है उसे लाकर मुझे दिखलाओ। तब सेठ जिनदत्तने वह श्राविका (अनन्तमती) बुलवा दी ॥३५॥ पुत्रीको देखकर प्रियदत्तने उसे गोदीमे

अथानन्तमती ब्रूते दृष्टं संसारसंभवम् । वैचित्र्यं दु खसम्पूर्णं तात दापय मे तपः ॥३७
गृहाण पुत्रि वेगेन तप कर्मविनाशकम् । स्वर्गमुक्तिकरं सारं दु खदावाग्निवार्मुचम् ॥३८
सा तस्या समीपे च गृहीत्वा संयम परम् । तप कृत्वा महाघोर द्विषट्भेदं जिनोदितम् ॥३९
अन्ते सन्यासमादाय त्यक्त्वा प्राणान् बभूव सा । हत्वा स्त्रीलिङ्गमप्युच्चै. सहस्रारे सुरोत्तम ॥४०
अष्टादशसमुद्रायुर्भुक्त्वा तत्र सुख वरम् । सम्यक्त्वयोगतोऽप्यग्रे क्रमात्मुक्तिं प्रयास्यति ॥४१
या सीताख्या महादेवी धृत्वा नि काङ्क्षित गुणम् । जाता षोडशमे स्वर्गे देवो देवै. प्रपूजित ॥४२
तस्या कथा परिज्ञेया शास्त्रे रामायणादिके । अन्येऽपि बहव सन्ति कस्ताश्च गदितुं क्षम ॥४३
इति मत्वा सदा कार्यो गुणो निकांङ्क्षिताभिधः । काङ्क्षादिकं परित्यज्य भोगे स्वर्गादिगोचरे ॥४४

नि काङ्क्षिताख्य परम हि धृत्वा, गुण गरिष्ठा दृढशीलयुक्ता ।
स्वर्गं व्रजित्वा पुनरेति मुक्ति, सद्दर्शनानन्तमती सुधर्मात् ॥४५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे नि काङ्क्षितगुणप्ररूपणे
अनन्तमतीकथाप्ररूपणो नाम षष्ठ परिच्छेद ॥६॥

उठा ली और फिर पीछेकी सब बातें पूछी । सेठ जिनदत्तने भी अपनी भानजीके मिल जानेपर बडा भारी उत्सव किया ॥३६॥ तदनन्तर अनन्तमतीने कहा कि हे पिताजी ! मैंने इस ससारको खूब देख लिया है । इसमे अनेक प्रकारके विचित्र दु ख भरे हुए है । यह दु खोसे भर रहा है इसलिये हे तात ! अब मुझे दीक्षा दिला दीजिये ॥३७॥ तब प्रियदत्तने उत्तर दिया कि पुत्री ! तू शीघ्र ही तपश्चरण धारण कर, क्योकि यह तपश्चरण ही कर्मोका नाश करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाला है, सबमे सार है और दु खरूपी दावानल अग्निके लिये मेघकी धाराके समान है ॥३८॥ तब पिताकी आज्ञासे उस अनन्तमतीने उस आर्यिकाके समीप जाकर परम सयम धारण किया और वह भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ बारह प्रकारका घोर तपश्चरण करने लगी ॥३९॥ अन्तमे उसने समाधिमरण धारण किया तथा प्राणोको छोडकर और स्त्रीलिंगको छेदकर बारहवें सहस्रार स्वर्गमे उत्तम देव हुई ॥४०॥ वहाँपर उसकी अठारह सागरकी आयु थी । अठारह सागर पर्यन्त उत्तम सुख भोगकर वह अनन्तमतीका जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करेगा ॥४१॥ रामचन्द्रकी पट्टमहादेवी सीताने भी नि काक्षित अगका पालन किया था और उसीके प्रभावसे वह सोलहवें स्वर्गमे इन्द्र हुई थी जहाँ कि अनेक देव उसकी पूजा करते थे ॥४२॥ उस सती सीताकी कथा पद्मपुराणसे जान लेनी चाहिये । इनके सिवाय इस नि काक्षित अगको पालन करनेवाले और भी बहुतसे जीव हुए हैं उन सबको कोई कह भी नही सकता हैं ॥४३॥ यही समझकर भव्य जीवोको सदा नि काक्षित अगका पालन करना चाहिये और स्वर्गादिके सुखोकी इच्छा कभी नही करनी चाहिये ॥४४॥ देखो शीलव्रतको दृढतापूर्वक पालन करनेवाली और अनेक गुणोसे सुशोभित तथा सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाली अनन्तमती एक नि काक्षित परम गुणको धारण करनेसे ही स्वर्गमे उत्तम देव हुई है और धर्मके प्रभावसे अन्तमे मोक्ष प्राप्त करेगी (वह अनन्तमती सबका कल्याण करे) ॥४५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे नि काक्षित गुणमे प्रसिद्ध होनेवाली अनन्तमतीकी कथाको कहनेवाला यह छठा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥५॥

सातवाँ परिच्छेद

सुपार्श्वं जिनमानम्य वक्ष्ये सद्धर्मदेशकम् । गुणं निर्विचिकित्साख्यं नृपोद्दायनगोचरम् ॥१
सौधर्मेन्द्रः सभामध्ये सम्यक्त्वगुणवर्णनम् । करोति देवसम्पूर्णे भव्यसम्बोधहेतवे ॥२
भरते वंगदेशेऽभूद्रोरुकाख्ये पुरे शुभे । उद्दायनो महाराज पूर्वपुण्यप्रभावत ॥३
गुणं निर्विचिकित्साख्यं त्यक्तदोषं स सेवते । इति प्रशंसयामास शक्रस्त्रिज्ञानसंयुत ॥४
वासवाख्योऽमरो नाकादागतस्तं परीक्षितुम् । विकृत्यं मुनिरूपं स कुष्टादिगलितं घनम् ॥५
गृहद्वारे स्थितस्तस्य तं विलोक्य स पुण्यधो । ददौ हि विधिनाऽऽहारं प्रतिगृह्य सुभक्तित ॥६
सर्वान्नं च जलं सोऽपि भक्षयित्वातिमायया । अतिदुर्गन्धवीभत्स वमनं कुरुते पुन ॥७
नष्ट परिजनस्तस्माद् दुर्गन्धाददतिदु स्सहात् । स्थितो राजा प्रभावत्या सहितः सोऽपि पुण्यवान् ॥८
राज्ञः प्रतीच्छतो वान्तं देव्या उपरि छर्दितम् । सा क्षालयति हस्तेन राजा तद्वमनादिकम् ॥९
हा हा दत्तो मयाऽऽहारोऽयोग्यो रुक्पीडितात्मने । इति निन्दा स्वयं स्वस्य करोति स मुनीशिने ॥१०
श्रुत्वा तद्वचनं देव सानन्दो जातनिश्चय । मायारूपं परित्यज्य दिव्यरूपं व्यधादसौ ॥११

मैं श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्‌को नमस्कार कर कुछ धर्मोपदेश कहता हूँ और उसमे भी निर्विचिकित्सा गुणमे प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायनकी कथा कहता हूँ ॥१॥ किसी एक दिन देवोसे भरी हुई सभामे भव्य जीवोको समझानेके लिये सौधर्म इन्द्रने सम्यग्दर्शनके गुणोका वर्णन किया ॥२॥ और कहा कि भरतक्षेत्रके वग देशान्तर्गत रोरुक नामके शुभ नगरमे राजा उद्दायन राज्य करता है। वह अपने पहिले जन्ममे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे सम्यग्दर्शनके तीसरे निर्विचिकित्सा गुणको विना किसी दोषके पालन करता है। इस प्रकार मति श्रुत और अवधि तीनो ज्ञानोको धारण करनेवाले इन्द्रने उद्दायनकी वहुत प्रशंसा की ॥३-४॥ उद्दायनकी ऐसी भारी प्रशसा सुनकर वासव नामका देव उसकी परीक्षा लेनेके लिये आया। उसने विक्रियासे एक मुनिका रूप धारण कर लिया, उस समय उसके उस बनाये हुए शरीरसे कोढ गल रहा था और वह बहुत ही घृणित रूपमे था ॥५॥ अपना ऐसा मुनिका रूप बनाकर वह देव उद्दायनके द्वारपर आया। पुण्यवान् उद्दायनने देखते ही भक्तिपूर्वक उसका पडिगाहन किया और विधिपूर्वक आहार दिया ॥६॥ अपनी मायासे (विद्यासे) वह देव उद्दायनका सब अन्न खा गया और सब पानी पी गया फिर उसने अत्यन्त दुर्गन्ध और घृणित वमन कर दिया ॥७॥ उस वमनकी असह्य दुर्गन्धसे राजाके कुटुम्वी और सेवक सव भाग गये। केवल रानी प्रभावती और पुण्यवान् राजा उद्दायन मुनिकी वैयावृत्य करनेके लिये रह गये ॥८॥ रानी उसके शरीरको पोछने लगी। परन्तु उस मायाचारी मुनिने उसके ऊपर भी वमन कर दिया, परन्तु फिर भी वे दोनो उसके शरीरको धोने लगे और उस दुर्गन्धमय वमनको भी धोने लगे ॥९॥ इतना ही नही उस समय राजाने स्वयं अपनी वडी निंदा की और कहा कि हा हा इन दु खी मुनिराजके लिये मेरे द्वारा न जाने कौनसा अयोग्य आहार दिया गया है उसीके कारण इनको इतना कष्ट हुआ है ॥१०॥ राजाके इस प्रकारके वचनको सुनकर देवको वहुत ही आनन्द हुआ और उसे निश्चय हो गया कि इन्द्रका कहा हुआ सर्वथा ठीक है। इससे अपना बनाया हुआ मुनिका रूप छोड़ दिया और अपना स्वाभाविक दिव्यरूप

कथयित्वा कथा स्वस्य प्रशस्य त मुहुर्मुहु । प्रपूज्य वस्त्राभरणै. स्वर्गलोकं ययौ सुर ॥१२
उद्दायनो नृपो भूयस्त्यक्त्वा राज्यादिसपदः। पार्श्वे श्रीवर्द्धमानस्य दीक्षामन्नीचकार स ॥१३
तप कृत्वा महाघोर हत्वा कर्मकदम्बकम् । उत्पाद्य केवलज्ञानं जातो मुक्तिस्वयंवर ॥१४
प्रभावती तप कृत्वा हत्वा स्त्रीलिङ्गमप्यमौ । ब्रह्मस्वर्गे सुरो जातो दिव्याभरणमण्डित ॥१५

परमसुखनिधिश्चोद्दायनो लोकपूज्यो, विधृतगुणसमग्रो दर्शनस्यैव योगात् ।
कृतपरमतपो हि सर्वकर्माणि हत्वा, परमपदमपारं पात्वमौ नो मुनीन्द्र ॥१६

गुण निर्विचिकित्साख्यं धृत्वाऽन्ये बहवो गता । मुक्ति येऽत्र कथा दक्ष. कस्तेषा गदितुं क्षम ॥१७
विख्याता रेवती राज्ञी ह्यमूढत्वगुणेऽपि या । कथा तस्या प्रवक्ष्यामि दर्शनस्यैव हेतवे ॥१८
रूप्याद्रिदक्षिणश्रेण्या मेघकूटे पुरे खगः । राजा इन्द्रप्रभो जात पुण्यात्सद्दर्शनान्वित ॥१९
चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं स निर्गत । भक्त्यर्थं गुरुदेवाना युक्त कयाचिद्विद्यया ॥२०
आगतो दक्षिणाख्या स मथुरा सत्कृतार्चन । सूरे' श्रीमुनिगुप्तस्य पार्श्वेऽभूत् क्षुल्लको बुधः ॥२१
एकदा श्रीगुरु पृष्टो व्रजता तीर्थहेतवे । तेनोत्तरमथुरायां किं कस्य कथ्यते न वा ॥२२
तेनोक्तं पापभीताय सुव्रताय नमोऽस्तु मे । कथनीयो मुनीन्द्राय तारकाय भवार्णवे ॥२३
राज्ञो वरणनाम्नश्च रेवत्या कथयस्व मे । धर्मवृद्धिमनेकार्थस्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥२४

बनाकर अपनी सब कथा कही, राजाकी बहुत बहुत प्रशंसा की और दिव्य वस्त्राभरणोंसे राजाकी पूजाकर वह देव अपने स्वर्गलोकको चला गया ॥११-१२॥ कुछ दिनोंके बाद राजा उद्दायनने भी अपना सब राज्य छोडकर श्री वर्द्धमान स्वामीके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ॥१३॥ उसने महा घोर तपश्चरण किया, सब कर्मसमूहोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी हुआ ॥१४॥ रानी प्रभावतीने भी दीक्षा धारण कर ली और घोर तपश्चरण कर स्त्रीलिंग-को छेदकर पाँचवें ब्रह्मस्वर्गमे दिव्य आभरणोंसे सुशोभित देव हुई ॥१५॥ जो मुनिराज उद्दायन परम सुखके निधि थे, लोकपूज्य थे, जिन्होने सम्यग्दर्शनके समस्त गुण धारण किये थे, जिन्होंने घोर तपश्चरण किया और समस्त कर्मोको नष्टकर अपार परमपद—मोक्षपद प्राप्त किया वे उद्दायन मुनिराज हम लोगोकी रक्षा करे ॥१६॥ इस निर्विचिकित्सा गुणको धारण कर और भी बहुतसे जीव मोक्ष पधारे हैं, परन्तु उन सबकी कथा कौन कह सकता है ॥१७॥

सम्यग्दर्शनके चौथे अमूढदृष्टि अगमे रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है इसलिये सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये उसकी भी कथा कहता हूँ ॥१८॥ विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमे एक मेघकूट नगर है। पुण्यकर्मके उदयसे वहाँपर सम्यग्दृष्टी राजा चन्द्रप्रभ नामका विद्याधर राज्य करता था ॥१९॥ किसी एक समय वह राजा चन्द्रप्रभ अपने पुत्र चन्द्रशेखरको राज्य देकर भक्ति-पूर्वक गुरु और देवोकी वदना करनेके लिये किसी एक विद्याके साथ चल दिया ॥२०॥ चलते-चलते वह दक्षिण मथुरामे आया। वहाँपर उसे श्रीगुप्ताचार्यके दर्शन हुए। उनकी पूजाकर उस बुद्धिमान राजाने उनके ही पास क्षुल्लककी दीक्षा धारण कर ली ॥२१॥ किसी एक दिन उस चन्द्रप्रभ क्षुल्लकने अपने गुरु गुप्ताचार्यसे पूछा कि हे स्वामिन् ! मैं तीर्थयात्रा करनेके लिये उत्तर मथुराको जा रहा हूँ, क्या आपको किसीसे कुछ कहना है ? ॥२२॥ उत्तरमे मुनिराजने कहा कि पापोंसे डरनेवाले और ससाररूपी समुद्रमे पार कर देनेवाले मुनिराज सुव्रतके लिये हमारा नमस्कार कहना तथा राजा वरुणकी रानी रेवतीसे स्वर्ग मोक्षकी देनेवाली हमारी अनेक प्रकारसे धर्मवृद्धि

एकादशाङ्गविद्भव्यसेनसूरिस्तथापरे । सन्ति तेषां न नामापि नीयते गुरुणाऽधुना ॥२५
द्विष्टेनापि तेनैतदुक्तं नान्यद्विचिन्तितम् । कारणं किंचिदत्रास्ति नाहं जाने क्व मानसे ॥२६
तत्र गत्वा स्थितः पार्श्वे सुव्रतस्य मुनेः स वै । नमस्कृत्योत्तमाङ्गेन तद्गुणग्रामरञ्जितः ॥२७
दृष्ट्वा तदीयवात्सल्यं विशिष्टं जातनिश्चयः । प्रतिपाद्य नमस्कारं सगतो गुरुणोदितम् ॥२८
ततो वसतिकां शीघ्रमागतो भाषणं स्वयम् । न कृतं भव्यसेनेन तस्य गर्वितचेतसा ॥२९
गृहीत्वा कुण्डिकामेष वहिर्भूमिं गतो व्रती । तेनापि सहमार्गेण तत्परीक्षादिहेतवे ॥३०
हरिताङ्कुरसंछन्नो मार्गस्तेनापि दर्शितः । स्वविकुर्वणया तस्य स्वयं मार्गेऽङ्गिसकुलः ॥३१
तं दृष्ट्वाप्याऽऽगमे जीवा कथ्यन्ते जिनभाषिते । एष तत्रारुचिं कृत्वा गतः पादेन मर्दयन् ॥३२
शौचादिसमये नीरं शोषयित्वा वदन्नसौ । कुण्डिकायां जलं नास्ति स्वामिन्नो विकृतिः क्वचित् ॥३३
सरोवरेऽत्र संस्वच्छनीरे शौचं द्रुतं कुरु । भणित्वा पूर्ववत्मूढः प्राकरोच्छौचमञ्जसा ॥३४
ततस्तं स परिज्ञाय दृष्टिहीनं कुमार्गगम् । कृत्वा सोऽभव्यसेनाख्यं तस्य लोके गतो बलात् ॥३५
ततोऽन्यस्मिन् दिने तेन ब्रह्मरूपं प्रदर्शितम् । चतुर्मुखं सुयज्ञोपवीतयुक्तं सुरार्चितम् ॥३६
तत्पूर्वदिशि पद्मासनस्थं तत्रापि मायया । राजादयो भव्यसेनादयो मूढाः समागताः ॥३७

कहना ॥२३-२४॥ इतना कहकर वे चुप हो गये । तब क्षुल्लकने सोचा कि वहाँपर ग्यारह अंगके पाठी मुनिराज भव्यसेन भी हैं तथा और भी मुनि होंगे उनका गुरुदेवने नाम तक नहीं लिया । यही सोचकर क्षुल्लकने फिर पूछा, परन्तु दुबारा पूछनेपर भी मुनिराजने यही कहा कि अब और किसीसे कुछ नहीं कहना है । तब क्षुल्लकने विचार किया कि इसका कुछ भी कारण होना चाहिये, मैं उसे अभीतक समझ नहीं सका हूँ ॥२५-२६॥ इसके बाद वह क्षुल्लक उत्तर मथुरामें पहुँचा और सुव्रत मुनिराजके समीप जाकर मस्तक झुकाकर उनको नमस्कार किया और उनके गुणोंसे वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२७॥ उनके विशेष वात्सल्यको देखकर गुरुके वाक्योंपर उसका दृढ निश्चय हुआ और फिर उसने गुरुका कहा हुआ नमस्कार भी उनको कह सुनाया ॥२८॥ इसके बाद वह शीघ्र ही वसतिकामें आया । वहाँपर भव्यसेन मुनि विराजमान थे, परन्तु उन्होंने अपने अभिमानमें आकर इससे कुछ बात भी नहीं की ॥२९॥ जब वे भव्यसेन मुनि कमण्डलु लेकर शौचके लिये बाहर गये तब उनकी परीक्षा करनेके लिये वह क्षुल्लक भी उनके साथ गया ॥३०॥ क्षुल्लकने कुछ आगे चलकर अपनी विद्यासे सब मार्ग अनेक जीवोंसे भरी हुई हरी घाससे आच्छादित कर दिया ॥३१॥ उस हरी घाससे भरे हुए मार्गको देखकर भी और "भगवान् जिनेन्द्रदेवने इनमें एकेन्द्री जीव कहे हैं" ऐसा जानकर भी भव्यसेनने उसकी परवा नहीं की और उस घासको पैरोंसे कुचलता हुआ चला गया ॥३२॥ जब भव्यसेन शौचको बैठ गया तब उस चन्द्रप्रभ विद्याधरने अपनी विद्यासे उसके कमण्डलुका पानी सुखा दिया और सामने आकर कहने लगा कि—हे स्वामिन् ! कमण्डलुमें जल नहीं है तो न सही इसमें कुछ चिन्ता करनेकी बात नहीं है, यह पासमें ही एक सरोवर स्वच्छ जलसे भरा है उसमें जाकर शुद्धि कर लीजिये । यह कहकर वह तो चला गया और मूर्ख भव्यसेनने उसी सरोवरमें जाकर अपनी शुद्धि कर ली ॥३३-३४॥ इसपरसे उस क्षुल्लकने समझ लिया कि यह कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टी है । उसने उसी दिनसे उसका नाम अभव्यसेन रख दिया ॥३५॥ अब उसने रेवतीकी परीक्षा करनी प्रारम्भ की । दूसरे दिन नगरके पूर्वदिशाकी ओर वह ब्रह्माका रूप धारण कर विराजमान हो गया । उसने विद्याके बलमें अपने चार मुँह बना लिये, यज्ञोपवीत धारण कर लिया, देवोंको अपनी पूजामें लगा लिया और इस प्रकार

रेवती प्रेर्यमाणापि मूढलोकैरनेकधा । भणित्वा ब्रह्मनामायं कश्चिद्देवो हि चागतः ॥३८
रेवत्या ख्यातिमाकर्ण्य तत्परीक्षादिहेतवे । पुनर्दक्षिणदिग्भागे कृष्णरूपं प्रदर्शितम् ॥३९
गोपाङ्गनादिसयुक्तं गरुडारूढं चतुर्भुजम् । शङ्खचक्रायुधोपेतं दृष्टिहीनैर्जनैर्नुतम् ॥४०
ततः पश्चिमादिग्भागे रुद्ररूपं व्यधादसौ । अर्द्धचन्द्रजटामारूढं वृषभस्य च ॥४१
गौरीरूपसमासक्त. तद्दृष्ट्वा भक्तिनत्पर । आगतास्तत्र सर्वे च शठा नैव विचक्षणा ॥४२
अतोऽप्युत्तरदिग्देशे रूपं तीर्थंकरस्य च । व्यधाद्द्विषट्गुणोपेत प्रातिहार्यादिभूषितम् ॥४३
सिंहासनसमासीन देवविद्याधरादिभि । नुतं धर्माकरं दिव्यं सभामध्ये परिस्थितम् ॥४४
श्रावकास्तत्र भक्त्यर्थमागता मुनयो परे । रेवती बहुभि. लोकै प्रेरितापि न चागता ॥४५
नवैव वासुदेवाश्च रुद्रा एकादश स्मृता । चतुर्विंशतिसत्तीर्थंकराः श्रीजिनशासने ॥४६
अतीतास्तेऽप्यहो सर्वे मूढानां भ्रान्तिहेतवे । कश्चिदेव समायातो मायावी ज्ञायते न च ॥४७
अथापरदिने चर्याविलाया व्याधिपीडितम् । पतितो मूर्च्छया रूप विधाय क्षुल्लकस्य सः ॥४८
प्रतोलीनिकटे मार्गे रेवत्या धर्मवाञ्छया । श्रुत्वा तं द्रुतमागत्य नीतो भक्त्या स्वमालयम् ॥४९
तया पथ्यं कृतं तस्य शुद्धाहारजलादिकम् । सर्वमादाय दुर्गन्धं वमनं तद्व्यधादसौ ॥५०

पद्मासन लगाकर बैठ गया। उसे इस प्रकार ब्रह्माके रूपमे देखकर राजा तथा भव्यसेन आदि सब मूर्ख उसकी पूजा करनेके लिये पहुँचे ॥३६-३७॥ अनेक अज्ञानी लोगोने रेवती रानीको भी बहुत समझाया, चलनेके लिये बहुत प्रेरणा की परन्तु उसने सबको यही उत्तर दिया कि भाई, ब्रह्मा नामका कोई देव आ गया होगा ॥३८॥ तीसरे दिन नगरके पश्चिमकी ओर जाकर उस क्षुल्लकने रेवतीकी प्रसिद्धि सुनकर उसकी परीक्षा करनेके लिये विष्णुका रूप धारण कर लिया। विद्याबलसे अनेक गोपियाँ बना ली, चार भुजाएँ बना ली, गरुडपर सवार हो गया, शख चक्र और शस्त्र आदि चिह्न बना लिये और अनेक मिथ्यादृष्टियोको अपनी सेवामे लगा लिया ॥३९-४०॥ परन्तु रेवती रानी वहाँपर भी नही गई। चौथे दिन नगरके दक्षिण ओर जाकर उसने महादेवका रूप बना लिया, माथे पर आधा चन्द्रमा लगा लिया, मस्तकपर जटाजूट रख लिया, वृषभपर (नादिया पर) सवार हो गया और आधे अगमे पार्वतीको धारण कर लिया। उसे देखकर बहुतसे मूर्ख भक्ति करते हुए चले आए, परन्तु रेवती रानी तथा कितने ही अन्य समझदार लोग वहाँ भी नही गये ॥४१-४२॥ पाँचवें दिन उत्तर दिशाकी ओर जाकर उसने तीर्थंकरका रूप बनाया। अतिशय, प्रातिहार्य आदि सब गुण बना लिये, सभाके मध्यभागमे सिंहासनपर विराजमान हो गया, अनेक देव विद्याधरोको नमस्कार करते हुए दिखला दिया और सब तरहसे धर्मको प्रगट करनेवाले तीर्थंकरका रूप बना लिया ॥४३-४४॥ अनेक श्रावक अनेक मुनि भक्ति करनेके लिये आये, रानी रेवतीसे भी अनेक लोगोने प्रेरणा की परन्तु वह वहाँ भी नही गई ॥४५॥ उस बुद्धिमती रानीने सबसे कह दिया कि वासुदेव नौ होते हैं, महादेव ग्यारह होते हैं और तीर्थंकर चौबीस होते हैं ऐसा जैन शास्त्रोमे वर्णन किया है और वे सब हो चुके फिर अब वासुदेव, महादेव वा तीर्थंकर कहाँसे आये। यह तो लोगोको भ्रम जालमे फँसानेके लिये कोई देव अपनी मायासे रूप धारण कर आया है ॥४६-४७॥ इसके दूसरे दिन उस क्षुल्लकने अपना रूप क्षुल्लकका ही रक्खा परन्तु उसे अनेक व्याधियोसे पीडित बनाया और चर्याके समय रेवती रानीके राजमहलकी देहलीके निकट आकर अपनी विद्यासे ही बेहोश-सा होकर गिर गया। रेवती रानी सुनते ही बाहर आई और धर्मकी भावनासे भक्तिपूर्वक उसे उठाकर अपने भवनमे ले गई ॥४८-४९॥ रानीने उसके लिये पथ्य और

अपनीय तदुच्छिष्टं तं प्रक्षाल्य करोति सा । निन्दां स्वस्य मया दत्त आहारोऽद्य विरूपकः ॥५१
रेवत्या वचनं श्रुत्वा त्यक्त्वा रूपादिविक्रियाम् । तोषात्प्रशस्य वृत्तान्तं पूर्वं च कथितं स्वयम् ॥५२
धर्मवृद्धिगु रोस्तस्या प्रतिपाद्य प्रकाश्य च । अमूढत्वगुणं लोके गत स्थानं पुर्निनिजम् ॥५३
सद्राज्यं वरणो राजा दत्वा दीक्षा समाददौ । स्वशिवकीर्तिपुत्राय कर्मनिर्नाशहेतवे ॥५४
कृत्वा तप सुखाधारं त्यक्त्वा देह समाधिना । स्वर्गे माहेन्द्रसंज्ञे स देवो जातो महर्द्धिक ॥५५
रेवती तप आदाय दुष्करं भवभीतिदम् । हत्वा स्त्रीलिङ्गमेवाभूद् ब्रह्मस्वर्गेऽमरो वर ॥५६
दशसागरपर्यन्तमायुभु क्त्वा सुखं क्रमात् । हत्वा कर्माणि निर्वाणं गमिष्यति न चान्यथा ॥५७
अन्ये च बहवः सन्ति प्रामूढत्वगुणाश्रिता. । कस्तां च गदितुं शक्यो ज्ञातव्यास्ते जिनागमे ॥५८
मूढत्वं विवुधैस्त्याज्यं गुरुधर्मामरादिषु । दानपूजादिशास्त्रेषु विचारचतुरै सदा ॥५९
अमूढत्वगुणं लोके स्वर्गमुक्तिसुखाकरम् । भज त्वं हि विशुद्धचात्र दर्शनं च गुणाप्तये ॥६०

अमलगुणविभूषा त्यक्तमूढादिदोषा, जिनचरणविभक्ता संश्रिता श्रीसुधर्मे ।
जिनवचनवियुक्ता रेवती संयमाढ्या, सकलसुखनिधाने ब्रह्मस्वर्गेऽमरोऽभूत् ॥६१

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निर्विचिकित्सामूढत्वगुणव्यावर्णनो उद्दायननृप-रेवतीराज्ञीकथाप्ररूपणो नाम सप्तम परिच्छेद ॥७॥



शुद्ध आहार खिलाया और उचित जल ग्रहण कराया परन्तु उसने ग्रहण करनेके वाद सब दुर्गन्धमय वमन कर दिया ॥५०॥ रानीने उस सव उच्छिष्टको स्वय धोया और अपनी निन्दा की कि अवश्य ही मेरेसे आहारमे कोई अपथ्य वा अयोग्य वस्तु दी गई है ॥५१॥ रेवतीके अपने निन्दात्मक वचन सुनकर उसने अपना वनाया हुआ रूप छोडकर अपना असली रूप धारण कर लिया। उसने रानी-की वार-वार प्रशसा की और पहिलेका अपना सव हाल कह सुनाया ॥५२॥ तदनन्तर उसने रानीसे अपने गुरुदेवकी कही हुई धर्मवृद्धि कही, उसके अमूढदृष्टि अगकी प्रशसा की और फिर अपने स्थानको चला गया ॥५३॥ इसके वाद राजा वरुणने कितने ही दिन तक राज्य किया और फिर अपने पुत्र शिवकीर्तिको राज्य देकर कर्मोंको नाश करनेके लिये दीक्षा धारण कर ली ॥५४॥ उसने वहुत दिन तक सुख देनेवाला तपश्चरण किया और अतमे समाधिपूर्वक शरीरका त्यागकर माहेन्द्र स्वर्गमे वडी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥५५॥ रानी रेवतीने भी दीक्षा धारण कर ली और भयको भी भय देनेवाला घोर तपश्चरण कर, स्त्रीलिंग छेदकर ब्रह्मस्वर्गमे उत्तम देव हुई ॥५६॥ वहाँपर उसकी दस सागरकी आयु थी। दस सागर तक अनेक सुखोका अनुभव कर वह रेवती रानीका जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा ॥५७॥ इस अमूढदृष्टी अगमे और भी वहुतसे लोग प्रसिद्ध हुए है परन्तु उन सवकी कथाएँ कौन कह सकता है। उन सवकी कथाएँ जैन शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥५८॥ जो विद्वान् विचार करनेमे चतुर हैं उन्हे देव, धर्म, गुरु तथा दान पूजा शास्त्र आदिमे होनेवाली मूढता अवश्य छोड देनी चाहिये ॥५९॥ यह अमूढदृष्टी अग इस ससारमे स्वर्ग मोक्षके सुखको देनेवाला है इसलिये सम्यग्दर्शन गुणको प्राप्त करनेके लिये मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक इस अमूढदृष्टी अगको अवश्य पालन करना चाहिये ॥६०॥ जिसने सम्यग्दर्शनके निर्मल गुणोकी विभूतिसे मूढता आदि सव दोषोको छोड दिया था, भगवान् जिनेन्द्र देवकी भक्तिपूर्वक

जिसने श्रेष्ठ धर्मका पालन किया था, जो जिन वचनोमे तल्लीन रही थी और जिसने दृढतापूर्वक सयम पालन किया था ऐसी रेवती रानी समस्त सुखोकी निधि ऐसे ब्रह्म स्वर्गमे जाकर देव हुई थी ॥६१॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टि अगमे प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायन और रेवती रानीकी कथाको निरूपण करनेवाला यह सातवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥७॥



आठवाँ परिच्छेद

चन्द्रप्रभमहं वन्दे चन्द्राभं चन्द्रलाञ्छनम् । जनानन्दकरं देव यद्गुणग्रामहेतवे ॥१
ख्यातो योऽभूदिहैव प्रोपगूहनगुणे शुभे । जिनेन्द्रभक्तस्तस्याहं कथा वक्ष्ये हि श्रेष्ठिन. ॥२
सौराष्ट्रविषये पाटलिपुत्रे हि स्वपुण्यत । राजा यशोधरो जात. सुसीमा तस्य वल्लभा ॥३
तयोः पुत्रः सुवीराख्य सप्तव्यसनपीडित । जातस्तथाविधैर्भृत्यैर्वेष्टितोऽतिकुमार्गग ॥४
पूर्वदेशे हि गौडाख्यविषये श्रेष्ठिनन्दन । ताम्रलिप्तनगर्यां च जिनदत्तो वसन् धनी ॥५
तस्य सप्ततलप्रासादोपर्यस्ति महाशुभा । प्रतिमा पार्श्वनाथस्य वहुरक्षासमन्विता ॥६
तस्या छत्रत्रये लग्ना वैडूर्यमणिरेव च । अत्यनर्घ्या सुवीरेण पारपर्येण सश्रुत ॥७
पुनर्लोभातिशक्तेन तेन पृष्टा सुसेवका । आनेतुं कोऽपि शक्तोऽपि ता मणि स्वप्रपञ्चत ॥८
तस्कर. सूर्यनामापि जल्पदत्यन्तगर्जितम् । हत्वाहमिन्द्रशेखरमणिमप्यानयाम्यहम् ॥९
तस्मान्निर्गत्य संजात क्षुल्लक कपटेन स । कुर्वन् क्षोभं पुरे ग्रामे कायक्लेशेन प्रत्यहम् ॥१०
ताम्रलिप्तनगरी स क्रमाच्छीघ्रं समागत. । जिनेन्द्रभक्त संश्रुत्वा पूर्णं तत्रागत. सुधी ॥११
वदित्वा तं स सम्भाष्य प्रशस्य वचनेन च । गृहमानीय श्रीविम्व पार्श्वनाथस्य दर्शितम् ॥१२

जिनकी कान्ति चन्द्रमाके समान है, जिनके चन्द्रमाका ही चिह्न है और जो भव्य जीवोको सदा आनन्द देनेवाले हैं ऐसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान्को मै उनके गुणोको प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ सम्यग्दर्शनके पाँचवे उपगूहन अगमे जिनेन्द्रभक्त प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अब मै उस सेठकी कथा कहता हूँ ॥२॥ सौराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरमे पुण्य कर्मके उदयसे राजा यशोधर राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सुसीमा था। उन दोनोके एक सुवीर नामका पुत्र हुआ था जो कि पाप कर्मके उदयसे सातो व्यसनोके सेवन करनेमे चतुर था। उसने अपने समान ही वहुतसे सेवक रख लिये थे और इस प्रकार वह कुमार्गगामी वन गया था ॥३–४॥ सौराष्ट्र देशकी पूर्व दिशामे गौड नामके देशकी ताम्रलिप्त नामकी नगरीमे एक जिनेन्द्रभक्त नामका धनी सेठ रहता था ॥५॥ उस सेठका भवन सातमंजिला था और वह सेठ बहुत ही वडा ऐश्वर्यशाली था। उसके उस भवनमे एक चैत्यालय था जिसमे श्री पार्श्वनाथ भगवान्का प्रतिविम्व विराजमान था। सेठने उसकी रक्षाका वहुत ही अच्छा प्रवन्ध कर रक्खा था ॥६॥ उस प्रतिमापर तीन छत्र लगे हुए थे और उन छत्रोमे एक अत्यन्त वहुमूल्य वैडूर्यमणि लगा हुआ था। उस वैडूर्यमणिकी वात परम्परासे उक्त राजपुत्र सुवीरने भी सुनी ॥७॥ उस मणिकी वात सुनकर उसे लोभने दवाया और लोभके वश होकर उसने अपने सेवकोसे पूछा कि तुममेसे कोई सेवक अपना छल-कपट रचकर क्या उस मणिको ला सकता है ? ॥८॥ उन सेवकोमे एक सूर्य नामका चोर था। वह गर्जकर वोला कि यह कौनसी वडी वात है। मै इन्द्रके मुकुटमे लगी हुई मणिको भी ला सकता हूँ ॥९॥ यह कहकर वह उस मणिको लेनेके लिये चल दिया। उसने कपट कर अपना क्षुल्लकका रूप वना लिया और नगर गाँवोमे लोगोंको क्षोभ प्रगट करता हुआ और प्रतिदिन चलता हुआ शीघ्र ही ताम्रलिप्त नगरीमे आ पहुँचा। बुद्धिमान जिनेद्रभक्त क्षुल्लकके आनेकी वात सुनते ही उसके समीप आया। सेठने उसे नमस्कार किया, उसके साथ वातचीत की, उसे

अनिच्छन्नपि तत्पार्श्वे स्थापितो मायया खलः । मणिरक्षार्थमेवासौ श्रेष्ठिना धर्मसिद्धये ॥१३
एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी निर्गत्य संस्थितः । पुराद्बहिः समुद्राद्रियात्रायां गमनोद्यतः ॥१४
सोऽपि गृहजनं व्यग्रं नेतुं वस्त्रादिकं स्वयम् । परिज्ञायार्द्धरात्रौ ता मणिमादाय निर्गतः ॥१५
गच्छन्तं तस्करं तस्मादालोक्य मणितेजसा । आरब्धो धर्तुमेवासौ कोट्टपालैर्भयंकरैः ॥१६
पलायितु क्षमो नैव श्रेष्ठिनः शरणं पुनः । प्रविष्टो रक्ष रक्षेति मम दुष्टो वदन्नसौ ॥१७
कोलाहलं समाकर्ण्य तेषां विज्ञाय तस्करम् । तं शासनोपहासस्यालोच्य प्रच्छादनाय स ॥१८
ब्रूते मद्वचनेनैव नीत रत्नमनेन भो ! । कृतं भवद्भिश्चानिष्टं न चौरो घोषणा कृता ॥१९
ततस्ते तं नमस्कृत्य गताः सर्वे स श्रेष्ठिना । निर्घाटितोऽतिवेगेन धर्मतत्परचेतसा ॥२०
सद्दृष्ट्यालंकृतः श्रेष्ठी व्रतज्ञानगुणान्वितः । विचारचतुरो धीमान् स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥२१
एवं सद्दृष्टिना बालाज्ञानाशक्तजनाश्रयात् । आगतस्यापि दोषस्य कर्तव्यं छादनं वृषे ॥२२
स्वस्य निन्दां प्रकुर्वन्ति स्तुवन्ति परगुणान् ये । धन्यास्ते यान्ति स्वर्लोकं क्रमान्मुक्त्यालयं बुधाः ॥२३

परदोषान् व्यपोहन्ति प्रकटीकृत्य सद्गुणान् ।
सौख्यं शक्रादिजं ये ते भुक्त्वा यान्ति शिवास्पदम् ॥२४

सब तरहसे सन्तुष्ट किया और अपने घर लाकर श्री पार्श्वनाथकी प्रतिमाके दर्शन कराये ॥१०-१२॥ सेठने उससे चैत्यालयमे रहनेकी प्रार्थना की परन्तु उसने कपटपूर्वक अपनी अनिच्छा प्रकट की। तथापि उस सेठने धर्मकी वृद्धि होनेके लिये उस मणिकी रक्षार्थ उस दुष्ट क्षुल्लकको वहाँ ठहरा लिया ॥१३॥

किसी एक दिन सेठने समुद्रयात्रा करनेका विचार किया और उस क्षुल्लकसे आज्ञा लेकर घरसे निकलकर नगरके बाहर ठहर गया ॥१४॥ उस रातको सेठके अन्य कुटुम्बी लोग भी अपना अपना सामान सम्भालनेमे लगे हुए थे। ऐसे समयको देखकर वह चोर क्षुल्लक भी आधी रातके समय उस मणिको लेकर चलता बना ॥१५॥ वह मणिको लेकर जा रहा था परन्तु उस मणिके प्रकाशसे कोटवालको दिखाई पड़ ही गया, इसलिये वह भयकर कोटवाल पकड़नेके लिये उसके पीछे दौडा ॥१६॥ वह क्षुल्लक और अधिक दौड़ न सका। उसने देखा कि मै अब किसी तरह बच नही सकता तब वह दुष्ट उसी सेठकी शरणमे पहुँचा और कहने लगा कि इस समय रक्षा कीजिये ॥१७॥ उधर सेठने पहरेदारोका चोरके भागनेका कोलाहल भी सुन रक्खा था इसलिये उसने उसे चोर तो समझ लिया परन्तु एक क्षुल्लक वेषधारीको चोर कहनेमे जैनधर्मकी हँसी होगी यह समझकर उसने उस विषयको दबाना ही उचित समझा ॥१८॥ सेठने आये हुए कोतवाल और अन्य लोगोसे यही कहा कि यह तो मेरी आज्ञासे ही इस रत्नको लाया है। आप लोगोने यह बहुत बुरा किया जो एक क्षुल्लकके लिये चोरकी घोषणा की ॥१९॥ सेठकी यह बात सुनकर वे सब लोग उसे नमस्कार कर चले गये। उनके चले जानेके बाद धर्ममे सदा तत्पर रहनेवाले सेठने उस दुष्टको शीघ्र ही अपने यहाँसे निकाल दिया ॥२०॥ बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनसे सुशोभित व्रत और ज्ञानादि गुणोमे विभूषित और विचार करनेमे अत्यन्त चतुर वह सेठ आगे स्वर्ग मोक्षके सुखोको प्राप्त होगा ॥२१॥ इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषोको चाहिये कि वे बालक, अज्ञानी अथवा असमर्थ लोगोके आश्रयसे होनेवाले धर्मके दोषोको सदा ढकते रहे ॥२२॥ जो विद्वान् अपनी निन्दा करते हैं और दूसरोके गुणोकी प्रशंसा करते हैं वे मनुष्य संसारमे धन्य हैं। वे अवश्य ही स्वर्गके सुखोको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२३॥ जो मनुष्य अपने मुँहसे दोषोको कभी नही कहते

ये वदन्ति स्वयं स्वस्य गुणान् दोषान् पुनर्न च । गर्दभादिकुयोनिं ते श्वभ्रं वा यान्ति दुर्धिय ॥२५
परनिन्दां प्रकुर्वन्ति गुणान् प्रच्छादयन्ति ये । ते मूढा श्वभ्रगा ज्ञेया भूरिपापावृता खलाः ॥२६

विमलगुणगरिष्ठस्तीर्थनाथस्य भक्तो, विदितपरमतत्त्वो धर्मदानादियुक्तः ।
प्रकटितगुणसारो दर्शनस्यैव वन्द्याद्रहितसकलदोषोऽत्रैव जैनेन्द्रभक्त ॥२७

वारिषेणोऽतिविख्यातो यः स्थितीकरणे गुणे । प्रवक्ष्यामि कथा तस्य तद्‌गुणग्रामसिद्धये ॥२८
मगधाख्ये शुभे देशे पुरे राजगृहेऽभवत् । श्रेणिको भूपतिस्तस्य राज्ञी स्याच्चेलिनी शुभा ॥२९
वारिषेणस्तयोर्जात सुत. सद्दर्शनान्वित । श्रावकाचारसम्पन्नो धीरो जैनो महाशयः ॥३०
एकदा स चतुर्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषधं सुधी' । कायोत्सर्ग समादाय श्मशाने सस्थितो निशि ॥३१
तस्मिन्नेवाह्नि प्रोद्याने विलासिन्या विलोकित । गतया मुग्धसुन्दर्या वै हारोऽतिमनोहर ॥३२
स्थित श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हृदि पुण्यफलेन सा । चिन्तयामास किं मेऽहो जीवितव्येन साम्प्रतम् ॥३३
हारेणापि विना लोके चेति चिन्ताकुलापि सा । गेहं गत्वा स्थिता शोकात्पतित्वा शयनोदरे ॥३४
तदासक्तेन विद्युच्चौरेणागत्य प्ररूपितम् । रात्रावेवं स्थिता किं हे प्रिये चिन्तातुराऽसि वै ॥३५
तयोक्तं यदि मे नाथ ददासि दिव्यभूषणम् । हारं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या भर्त्ता त्व चात्र नान्यथा ॥३६

और दूसरोके श्रेष्ठ गुणोको सदा प्रगट करते रहते है वे इन्द्रादिकके सुख भोगकर अन्तमे मोक्ष पद प्राप्त करते है ॥२४॥ जो मूर्ख अपने गुणोको अपने आप कहते फिरते है और अपने दोषोको कभी प्रगट नही करते वे गधे आदिकी कुयोनियोमे जन्म लेते है अथवा नरकमे जाकर दु ख भोगते हैं ॥२५॥ जो मनुष्य दूसरोकी निन्दा करते रहते है और दूसरोके गुणोको ढँकते रहते है वे दुष्ट सबसे अधिक पापी है। उन मूर्खोको नरकमे ही स्थान मिलता है ॥२६॥ वह श्री जिनेन्द्रभक्त सेठ अनेक निर्मल गुणोसे सुशोभित था, तीर्थंकर परमदेवका भक्त था, परम तत्त्वका जानकार था, दान धर्म आदि क्रियाओमे निपुण था, सम्यग्दर्शनके उत्तम गुण प्रगट करनेमे चतुर था और निन्दा आदि सब दोषोसे रहित था ॥२७॥

इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण गुणमे वारिषेण प्रसिद्ध हुआ है। अब मै सम्यग्दर्शन के गुण बढानेके लिये उसकी कथा कहता हूँ ॥२८॥ मगध देशके राजगृह नगरमे राजा श्रेणिक राज्य करता था। उसकी पट्टरानीका नाम चेलना था ॥२९॥ उन दोनोके वारिषेण नामका पुत्र था जो कि सम्यग्दृष्टी था, श्रावकोके सब व्रतोको पालन करता था, धीर-वीर था, जिनेन्द्रदेवका भक्त था और उदार हृदय था ॥३०॥ किसी एक दिन चतुर्दशी पर्वके दिन उसने प्रोषधोपवास किया था इसलिये उस रातको उस बुद्धिमानने श्मशानमे जा कर कायोत्सर्ग धारणकर ध्यान लगाया था ॥३१॥ उसी दिन दिनके समय किसी बागमे सेठ श्रीकीर्ति वायु सेवनके लिये आया था। पुण्य कर्मके उदयसे उसके गलेमे एक अत्यन्त मनोहर हार पडा था। वह हार मुग्धसुन्दरी नामकी किसी वेश्याने देखा। उस हारको देखकर वह विचार करने लगी कि इस हारके बिना जीना व्यर्थ है। यही सोचती विचारती वह घरको चली गई और शोक करती हुई शय्यापर जा लेटी ॥३२-३४॥ विद्युच्चर नामका एक चोर उस वेश्यापर आसक्त था। वह रातको उसके घर आया और उस वेश्याको रातमे भी इस प्रकार शोकाकुलित देखकर पूछने लगा कि हे प्रिये ! तू तू आज किस चिन्तामे डूब रही है ॥३५॥ इसके उत्तरमे उस वेश्याने कहा कि हे स्वामिन् ! यदि आप सेठ श्रीकीर्तिके गलेमे पडा हुआ दिव्य हार लाकर मुझे दे तो मैं आपको अपना स्वामी बनाऊँगी, अन्यथा नही ॥३६॥ यह सुनकर विद्युच्चरने उसे धीरज बँधाया और आधी रातके

तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्या गेहं प्रविश्य तम् । चौरयित्वार्द्धरात्रौ स कौशलेन विनिर्गत ॥३७
हारोद्योतेन तं चौरं ज्ञात्वा सोऽपि च तस्कर । ध्रियमाणो वलाद्गेहरक्षकै कोटपालक ॥३८
तेभ्य. पलायितुं सोऽसमर्थो हारं स्थितस्य वै । वारिषेणकुमारस्याग्रे धृत्वाऽदृश्यतामगात् ॥३९
कोटपालैस्तथा तं च दृष्ट्वागत्य प्ररूपितम् । श्रेणिकस्य महाचौरो वारिषेण. स्थितोऽधुना ॥४०
तेनोक्तं दृष्टिवैकल्यात्स्थितस्य तस्य मस्तकम् । गृहीध्व त्यक्तदेहस्य यूयं संकृतमायया ॥४१
क्षिप्तोऽसिस्तेन तत्कण्ठे मातङ्गेन स चाजनि । सत्पुष्पदामरूपेण व्रतमाहात्म्ययोगतः ॥४२
तं श्रुत्वातिशयं जातं देवात् निन्दा विधाय स । श्रेणिकेन समागत्य क्षमां स्वकारितोऽप्यसौ ॥४३
याचयित्वाभयं दान विद्युच्चौरेण तत्क्षणम् । प्रकटीकृत्य स्व राज्ञो वृत्तान्तं कथितं निजम् ॥४४
वारिषेणो गृहं नेतुं प्रारब्ध. सोऽवदत्सुधी. । पाणिपात्रेऽपि भोक्तव्यं गृहीतो नियमो मया ॥४५
राजादेश समादाय गत्वा श्रीगुरुसन्निधौ । सूर्यदेवमुनिं नत्वा दीक्षा जग्राह शुद्धधीः ॥४६
राजगृहसमीपे पलाशकूटं स वैकदा । ग्रामं प्रविष्टश्चर्यायै सुतीव्रतपसान्वितः ॥४७
श्रेणिकस्य महामन्त्री योऽग्निभूतसमाह्वय. । तत्पुत्रपुष्पडालेन दृष्ट्वा संस्थापितो मुनि. ॥४८
दानं दत्त्वा मुनीन्द्राय सोमिल्ला ब्राह्मणीं पुन । पृष्ट्वानुव्रजन कर्तुं निर्गतो मुनिना सह ॥४९

समय सेठ श्रीकीर्तिके घर जाकर उस हारको लेकर कुशलपूर्वक बाहर निकल आया ॥३७॥ परन्तु उस हारका प्रकाश छिप न सका इसलिये कोतवालने और पहरेदारोंने उसे चोर समझकर पकडना चाहा। आगे वह चोर दौडता जाता था और पीछे-पीछे पहरेदार। वह चोर उसी श्मशानकी ओर दौडा और अन्तमे पकड़े जानेके डरसे उस हारको ध्यानमे लीन हुए वारिषेण कुमारके आगे पटककर छिप गया ॥३८-३९॥ कोतवालने वारिषेणको हारके पास इस प्रकार खडे देखकर महाराज श्रेणिकसे जा कर कहा कि हे महाराज! कुमार वारिषेण हार चुराकर इस प्रकार श्मशानमे ध्यान लगाकर जा खडा हुआ है ॥४०॥ कोतवालकी यह बात सुनकर महाराज श्रेणिक को अपने पुत्रपर बहुत ही क्रोध आया और उसने सम्यग्दर्शनसे रहित, मायाचारसे संस्कृत और कायोत्सर्गसे स्थित उस वारिषेणका मस्तक काट डालनेकी आज्ञा दे दी ॥४१॥ आज्ञा होते ही चाडालने जाकर उसके गलेपर तलवार चलाई परन्तु उस व्रतके माहात्म्यसे वह तलवार भी पुष्पमाला होकर उसके गलेमे जा पडी ॥४२॥ पुत्रका यह देवकृत अतिशय सुनकर राजा श्रेणिक भी अपनी निन्दा करता हुआ आया और उसने कुमारसे क्षमा माँगी ॥४३॥ विद्युच्चर भी यह सब लीला देख रहा था वह तुरन्त ही आ उपस्थित हुआ और अभयदान माँगकर राजा श्रेणिकसे हार चुरानेकी तथा वारिषेणके आगे डालनेकी अपनी सब कथा कह सुनाई ॥४४॥ तदनन्तर महाराज श्रेणिकने कुमार वारिषेणसे घर चलनेके लिये कहा परन्तु वारिषेणने उत्तर दिया कि अब तो मैंने जिन दीक्षा लेकर पाणिपात्र भोजन करनेकी प्रतिज्ञा ले ली है ॥४५॥ इस प्रकार अपने पिताकी आज्ञा लेकर वह कुमार वारिषेण सूर्यदेव मुनिराजके समीप गया और उन्हे नमस्कारकर उस बुद्धिमानने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली ॥४६॥ किसी एक दिन तपश्चरण और व्रतोंसे सुशोभित वे वारिषेण मुनि आहारके लिये राजगृहके समीपवर्ती पलासकूट गाँवमे पधारे ॥४७॥ वहाँपर महाराज श्रेणिकका महामंत्री अग्निभूत रहता था और उसके पुत्रका नाम पुष्पडाल था। उस पुष्पडालने उन मुनिराजको देखकर शीघ्र ही उनका पडगाहन किया ॥४८॥ उसने मुनिराजको आहार दिया और फिर अपनी सोमिला ब्राह्मणीसे पूछकर उसकी आज्ञानुसार कुछ दूरतक उन

स्वस्य व्याघुटनार्थं स क्षीरवृक्षादिकं मुहुः । दर्शयन् वन्दना कुर्वन् मुहुस्तस्मै मुनीशिने ॥५०
मुनिना हस्तमादाय नीत. स बालमित्रतः । कुर्वता बोधन तस्य परं सद्धर्महेतवे ॥५१
गृहवासं महानिन्द्यं पापबीजं कुदु.खदम् । चिन्तादिशतसम्पूर्णं धर्मविघ्नकरं त्यज ॥५२
मित्र गृहाण चारित्र स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सुखाकर महापापस्फोटकं दु.खदूरगम् ॥५३
लज्जाप्रमानवैराग्याद् गृहीत्वा संयमं परम् । सोमिल्ला स्वचित्तस्था नैव स विस्मरेत् सदा ॥५४
तौ मुनी द्वादशाब्दैश्च कृत्वा सत्तीर्थवन्दनाम् । वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य प्रागतौ सत्सभां शुभात् ॥५५
नमस्कृत्य जिनाधीशमुपविष्टौ निजे गणे । स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य सद्धर्मान्वितचेतसौ ॥५६
पृथिव्यादिसमुद्भूतं गीयमानं सुरैर्वरम् । गीतं सर्वरसाढ्य हि पुष्पडालेन संश्रुतम् ॥५७
कुवस्त्रमललिप्तागा दह्यमाना हृदि त्वया । त्यक्ता शुभा कथ पृथ्वी जीविष्यति महीधर. ॥५८
एतत्स्वस्यापि संयोज्य सोमिल्लायाश्च नष्टधीः । निर्गतो रागसंयुक्तो स्वगेह मोहितो मुनिः ॥५९
तं ज्ञात्वा वारिषेणेन स्थितीकरणहेतवे । नीतो राजगृहं तस्मात्सम्यग्दर्शनशालिना ॥६०
चेलिनी तौ मुनी दृष्ट्वा वारिषेण' किमागत । चारित्राच्चलितो भूत्वा चेति शङ्का चकार सा ॥६
वीतरागसरागौ द्वौ चासनौ दापितौ तया । स्वपुत्रस्य परीक्षार्थं स्वयं सविग्नचेतसा ॥६२

मुनिराजके साथ गया ॥४९॥ कुछ दूर जाकर उसे लौटनेकी पडी । अपने लौट जानेकी आज्ञा मागनेके लिये कभी कोई क्षीरवृक्ष दिखाकर स्मरण कराया और कभी उन्हे वन्दना कर स्मरण कराया परन्तु वे मुनिराज कुछ न बोले, चले ही गये । लाचार होकर पुष्पडालको भी जाना पडा । अपने स्थानपर जाकर मुनिराजने बाल मित्र होनेके कारण उसका हाथ पकडकर सद्धम ग्रहण करनेके लिये उसे समझाया और कहा कि ॥५०-५१॥ हे मित्र ! यह गृहस्थका निवास अत्यन्त निन्दनीय है, पापका कारण है, अनेक दु खोको उत्पन्न करनेवाला है, अनेक चिन्ताओसे। भरपूर है और धर्मकार्योमे विघ्न करनेवाला है, इसलिये तू इसे छोड़ और चारित्र धारण कर यह चारित्र ही स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला है, सुखकी खानि है, महापापोको नाश करनेवाला है और दु खोको दूर करनेवाला है ॥५२-५३॥ मुनिराजका उपदेश सुनकर पुष्पडालको कुछ लज्जा आई, लज्जासे कुछ अभिमान आया और कुछ वैराग्य प्रगट हुआ इसलिये उसने सयम धारण कर लिया परन्तु वह सोमिला ब्राह्मणीको अपने हृदयसे कभी नही भुला सका ॥५४॥ तदनन्तर वे दोनो मुनिराज तीर्थयात्राको निकले । बारह वर्षतक तीर्थयात्रा की और फिर श्री वर्द्धमान स्वामीके समवशरणमे आये ॥५५॥ वहाँ आकर उन दोनोने अपने दोनो हाथ जोडकर तीर्थंकर परमदेवको नमस्कार किया और हृदयमे धर्मकी आराधना करते हुए अपने कोठेमे जा बैठे ॥५६॥ वहाँपर कुछ देव पृथ्वीके विषयमे कुछ रसीले गीत गा रहे थे और उनमेसे एक गीत यह था "कि . हे राजन् ! फटे और मैले वस्त्र पहिने तथा अपने हृदयमे जलती हुई पवित्र पृथ्वी तूने छोड़ दी है इसलिये अब वह किस प्रकार जीवेगी" देवोका यह गीत पुष्पडालने भी सुना और उसने ज्योका त्यो अपनी सोमिला ब्राह्मणीपर घटा लिया । बस फिर क्या था वह बुद्धिहीन मुनि मोहमे फस गया और हृदयमे राग भाव उत्पन्न हो जानेके कारण वहाँसे घरके लिये चल पडा ॥५७-५९॥ उसकी यह लीला सम्यग्दृष्टि मुनिराज वारिषेणने भी जान ली और उसको अपने धर्ममे स्थिर करनेके लिये वे उसे अपने राजभवनमे ले गये ॥६०॥ रानी चेलना ने उन दोनो मुनिराजोको आते हुए देखकर विचार किया कि वारिषेण क्यो आया ? क्या वह चारित्रसे चलायमान तो नही हो गया ? ऐसी शका उसके हृदयमे उत्पन्न हुई ॥६१॥ उस शकाको

उपविश्य ततः प्रोक्त मुनिना मातर प्रति । ममान्त पुरमेवात्र प्रानय त्वं सुवेगत. ॥६३
ततः सुदेव्यो द्वात्रिंशद्वस्त्राभरणभूषिताः । हावभावविलासाढ्या आनीता मुनिसन्निधौ ॥६४
भणित वारिषेणेन पुष्पडाल प्रति स्वयम् । इमा स्त्रियो गृहाण त्व यौवराज्यं पदं च मे ॥६५
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोऽभूल्लज्जाकुलितमानस । वैराग्य परम गत्वा स्वस्य निन्दां करोत्यसौ ॥६६
धन्योऽय येन सन्त्यक्ता राज्यश्री सुभगास्त्रिय । धिङ्मा रागान्वित मूढ त्यक्तभार्यादिचित्तकम् ॥६७
पुष्पडालोऽतिसवेगात्कृत्वा तीव्रं तपोऽनघम् । स्वर्गऋद्ध्यादिकं प्राप्य क्रमान्मोक्षं प्रयास्यति ॥६८
वारिषेणो मुनीन्द्रस्तु रत्नत्रयविभूषित । कृत्वा तपो द्विषड्भेदं स्वर्गऋद्ध्यादिक व्रजेत् ॥६९

निरुपमगुणयुक्तस्त्यक्तशङ्कादिदोषो, विसृतगुणगरिष्ठो दर्शनस्यैव नित्यम् ।
कृतसकलतपो यो ज्ञानविज्ञानदक्षो, दिशतु शिवसुखं नो वारिषेणो मुनीन्द्र ॥७०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे उपगूहनस्थितिकरणप्ररूपणो जिनेन्द्रभक्त-वारिषेणकथाप्ररूपणो नाम अष्टम परिच्छेद ॥८॥

दूर करनेके लिये और अपने पुत्रकी परीक्षा करनेके लिये उसने उन मुनियोके लिये दो प्रकारके आसन डलवाए। एक स्थानपर सुवर्ण चादीके रागरूप और दूसरे स्थानपर वीतराग काठके ॥६२॥ वे मुनिराज वीतराग आसनपर विराजमान हो गये और फिर उन्होने अपनी मातासे कहा कि— हे माता! शीघ्र ही मेरे सामने मेरी सब स्त्रियोको बुलाओ ॥६३॥ रानी चेलनाने वस्त्र और आभूषणोसे सुशोभित तथा हावभाव विलास आदि गुणोसे शोभायमान उनकी बत्तीसो सुन्दर स्त्रिया बुलाकर उनके सामने खडी कर दी ॥६४॥ तब मुनिराज वारिषेणने पुष्पडालसे कहा कि यदि अब भी तेरी लालसा नही मिटी है तो इन स्त्रियोको और मेरे युवराज पदको स्वीकार कर ॥६५॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर (और उनको ऐसी परम विभूतिसे भी विरक्त जानकर) पुष्पडाल हृदयमे बहुत ही लज्जित हुआ। उसे उसी समय वैराग्य प्रगट हुआ और वह स्वय अपनी निन्दा करने लगा ॥६६॥ वह कहने लगा कि इनको धन्य है जिन्होने राज्यलक्ष्मी औरस् ऐसी ऐसी सुन्दर स्त्रिया त्याग दी हैं तथा मुझ मूर्खको बारबार धिक्कार है जो त्याग करनेपर भी स्त्रीकी चिन्तामे लगा रहता हूँ ॥६७॥ तदनन्तर पुष्पडालने परम सवेग धारण किया, निरन्तर तीव्र तपश्चरण किया और अन्तमे स्वर्ग सुख प्राप्त किया। अनुक्रमसे वह मोक्ष प्राप्त करेगा ॥६८॥ रत्नत्रयसे विभूषित हुए मुनिराज वारिषेण भी बारह प्रकारका घोर तपश्चरण कर स्वर्गमे महाऋद्धिके धारक देव हुए ॥६९॥ जो अनुपम गुणोंसे शोभायमान थे, जिन्होने शका आदि सब दोष दूरकर सम्यग्दर्शनके समस्त उत्तम गुणोको धारण किया था, जिन्होने बारह प्रकारका तपश्चरण किया था और जो ज्ञान विज्ञानसे विभूषित थे ऐसे वे मुनिराज वारिषेण हम लोगोको मोक्ष सुख प्रदान करें ॥७०॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे उपगूहन और स्थितिकरण अगमे प्रसिद्ध होनेवाले जिनेन्द्रभक्त और वारिषेणकी कथाको कहनेवाला यह आठवा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥८॥

नवाँ परिच्छेद

पुष्पदन्तमहं वन्दे कामदं कामघातकम् । प्रारब्धार्थप्रसिद्धचर्थं कुन्दाभ धर्मनायकम् ॥१
सद्विष्णवादिकुमारो य. सद्वात्सल्यगुणे मुनि । विख्यातोऽहं कथा तस्य वक्ष्ये तद्गुणप्राप्तये ॥२
अवन्तीविषये रम्ये उज्जयिन्यामभूत्पति । नगर्यामपि श्रीवर्मा पूर्वोपार्जितपुण्यत. ॥३
मन्त्रिणस्तस्य सञ्जाताश्चत्वारः प्रथमो वलिः । बृहस्पतिश्च प्रह्लादो नमुचो दुष्टमानस ॥४
एकदाकम्पनो नाम्नाचार्योऽवधिसुवीक्षण । तत्रागत्य स्थितो ज्ञेयो वने सह मुनीश्वरै ॥५
धीरै सप्तशतैर्दक्षै सज्ज्ञानाम्बुधिपारगै । तपसा कृशसर्वाङ्गैरकृशैर्गुणसंपदा ॥६
गुरुणा वारित' संघ कर्तव्यं नैव जल्पनम् । राजादिके समायाते ह्यन्यथा संघव्यत्यय ॥७
हर्म्योपरिस्थितेनैव राज्ञा पूजाकरान्वितम् । गच्छन्तं मन्त्रिण पृष्टा आलोक्य नागरं जनम् ॥८
क्वायं लोक प्रयात्यद्य यात्रां मत्पुण्यहेतवे । तैरुक्त वहिरुद्याने प्रागता मुनयो ध्रुवम् ॥९
वन्दनार्थमयं तेषा लोको याति निरन्तरम् । गच्छामो वयमपीति भणित्वा निर्गतो नृप' ॥१०
मन्त्रियुक्तेन भूपेन गत्वा सर्वे प्रवन्दिता । आशीर्वादो न दत्तोऽस्य केनापि मुनिना पुन. ॥११

जो सव इच्छाओको पूर्ण करनेवाले है, कामदेवको नष्ट करनेवाले है, कुदके पुष्पके समान जिनका शरीर है और जो धर्मके स्वामी हैं ऐसे श्री पुष्पदन्त भगवान्को मै अपने प्रारम्भ किये हुए कार्यको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ मुनिराज श्री विष्णुकुमार सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अगमे प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये उनके गुणोकी प्राप्तिके लिये मै उनकी कथा कहता हूँ ॥२॥ इसी भरतक्षेत्रके मनोहर अवन्ती देशके अन्तर्गत उज्जयिनी नगरीमे अपने पुण्यकर्मके उदयसे श्रीवर्मा नामका राजा राज्य करता था ॥३॥ उसके चार मत्री थे। वलि, वृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि उनका नाम था। ये चारो ही मत्री वडे दुष्ट थे ॥४॥

किसी एक समय अवधिज्ञानी अकपनाचार्य अनेक मुनियोके साथ उस उज्जयिनी नगरीके वाहर वनमे आ विराजे ॥५। उनके साथ सातसौ मुनिराज थे, वे सव वुद्धिके पारगामी थे, तपश्चरणसे उनका शरीर कृश हो रहा था और वे अनेक गुणरूपी सम्पदाओसे विभूषित थे ॥६॥ गुरुराज अकपनाचार्यने अपने निमित्तज्ञानसे जानकर सव सघको आज्ञा दे दी थी कि राजा आदिके आनेपर भी कोई किसीसे कुछ भाषण न करे क्योकि भाषण करनेपर सघपर किसी उपद्रवके होनेकी आशका है ॥७॥ मुनिराजको आये हुए जानकर नगरके लोग पूजाकी सामग्री लेकर आए। किसी कारणवश उस समय राजा अपने भवनकी ऊपरी छतपर था। वहाँसे उसने सव लोगोको पूजाकी सामग्री लेकर जाते हुए देखा तव उसने मन्त्रियोसे पूछा कि आज ये लोग पुण्य उपार्जन करनेके लिये किसकी यात्रा करने जा रहे है? मन्त्रियोने उत्तर दिया कि हे महाराज! नगरके वाहर उद्यानमे मुनिराज पधारे है ॥८–९॥ उन्हीकी वदना करनेके लिये ये लोग निरन्तर आ जा रहे हैं। मन्त्रियोकी यह वात सुनकर राजाने भी कहा—हम भी उनकी वन्दना करनेके लिये चलेगे। यह कहकर वह राजा उन मन्त्रियोको साथ लेकर चल दिया। वहाँ जाकर उसने सव मुनियोकी वदना की परन्तु किसी मुनिने राजाको आशीर्वाद नही दिया

तिष्ठन्ति निस्पृहाश्चैते त्यक्तदेहा मुनीश्वरा । ध्यानारूढा गुणैर्युक्ता इति मत्वा नृपो गत. ॥१२
उपहास कृतश्चैतैर्मन्त्रिभिर्दुष्टमानसैं । वलीवर्दा न जानन्ति दम्भमौनेन सस्थिता ॥१३
गच्छद्भिस्तैर्महादुष्टैरग्रे दृष्टो मुनीश्वर । चर्या कृत्वा समागच्छन् श्रुतसागरसज्ञक ॥१४
उक्तं चायं वलीवर्दस्तरुणो याति साम्प्रतम् । पूरयित्वोदरं स्वस्य मूर्खो ज्ञानादिभिश्च्युत. ॥१५
तच्छ्रुत्वा मुनिना तेऽपि वादं कृत्वा विनिर्जिता । नीत्वा राजसभामध्ये सत्स्याद्वादनिरुक्तिभि ॥१६
तेनागत्य गुरुं नत्वा स्ववार्ता कथिता पुन. । गुरुणोक्तं त्वया धीमन् संघस्योपद्रव कृतः ॥१७
तच्छ्रुत्वा तं प्रति प्राह सोऽपि स्वामिन् कथ हि स । विनश्यति मुनीना त्वं कृपां कृत्वा निरूपय ॥१८
यदि गत्वा त्वमेकाकी वादस्थाने हि तिष्ठसि । संघस्य जीवितव्य ते शुद्धिश्चैव भविष्यति ॥१९
ततो गत्वाप्यसौ तत्र कायोत्सर्गेण सस्थित' । धीरस्त्यक्तभयो रात्रौ ध्यानारूढोऽचलो यथा ॥२०
गच्छद्भिस्तैर्महाक्रुद्धै सघं मारयितुं निशि । मानभङ्गान्मुनिं दृष्ट्वा मार्गे ब्रूते परस्परम् ॥२१
मानभङ्ग कृतो येन स हन्तव्यो न चापरे । चतुर्भिर्युगपत्खड्गा उद्गीर्णा तद्वधाय तैः ॥२२
जिनधर्मप्रभावेन मुनिमाहात्म्ययोगत । पुरदेवतया तत्र कीलितास्ते तथैव च ॥२३

॥१०-११॥ यह देखकर राजाने समझा कि शरीरसे ममत्व छोडे हुए ये निस्पृह और अनेक गुणोंमे विराजमान मुनिराज अपने ध्यानमे लगे हुए हैं यह समझकर वह वापिस लौट गया ॥१२॥ परन्तु उन दुष्ट मन्त्रियोने उनकी हँसी उडाई और कहा कि ये कोरे वैल है, कुछ जानते नही। इन्होंने केवल छलकपट कर मौन धारण कर लिया है ॥१३॥ आगे जाते हुए उन मन्त्रियोको एक श्रुतसागर नामके मुनि मिले जो चर्या करके वापिस लौट रहे थे। उन्हे देखकर उन दुष्ट मन्त्रियोने कहा कि एक यह भी तरुण वैल आ रहा है। यह भी मूर्ख और ज्ञानादिकसे सर्वथा रहित है और यह अभी अपना पेट भरकर आया है ॥१४-१५॥ यह सुनकर मुनिराजने राजसभाके मध्यमे उन चारो मन्त्रियोके साथ शास्त्रार्थ किया[1] और अनेकातकी युक्तियोसे उन सवको पराजित किया ॥१६॥ फिर अपने सघमे आकर अपने गुरुराजको नमस्कार किया और मार्गमे होनेवाले शास्त्रार्थकी सव कथा कह सुनाई। उसे सुनकर आचार्यने कहा कि हे विद्वन्! आपने सघके लिये एक उपद्रव खडा कर दिया ॥१७॥ आचायकी वात सुनकर श्रुतसागरने प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! वह मुनियोका उपद्रव किस प्रकार दूर हो सकता है? आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥१८॥ तव आचार्यने कहा कि जहांपर शास्त्रार्थ किया है वही जाकर यदि आप आज रहे तो संघका जीवन वच सकता है और आपकी शुद्धि भी हो जायगी ॥१९॥ आचार्यकी यह आज्ञा सुनकर वे वीरवीर मुनिराज वहीपर गये और निर्भय होकर कायोत्सर्ग धारण कर पर्वतके समान निश्चल होकर उस रातको वहीपर विराजमान रहे ॥२०॥ शास्त्रार्थमे हार जाने और मान भग हो जानेके कारण उन चारो दुष्ट मन्त्रियोने क्रोधित होकर सव सघके मारनेका विचार किया। वे इस कामके लिये रातमे निकले परन्तु मार्गमे उन मुनिराजको देखकर परस्पर कहने लगे कि हम लोगोका मानभग तो इसने किया है इसलिये इसे ही मारना चाहिये, दूसरोको नही। यह कहकर चारो मंत्री एक साथ तलवार उठाकर मारनेके लिये तैयार हुए ॥२१-२२॥ परन्तु जैनधर्मके प्रभावसे और मुनिराजके माहात्म्यसे नगरके देवताने वे चारो ही मंत्री उसी प्रकार (मारनेके लिये हाथमे तलवार

---

१ मुनिराज श्रुतसागर आहारको गये थे और उन्होंने आचार्यकी आज्ञा सुनी नही थी इसलिये उन्होने मन्त्रियोंके साथ वातचीत की थी।

प्रभातसमये तेऽपि दृष्ट्वा लोकैश्च निन्दिता। ध्यानारूढं मुनिं धीरं हन्तुं कृतमहोद्यमा ॥२४
निर्धाटिता हता नैव कोपाद्राज्ञा क्रमागत । कारयित्वा महादण्डं गर्दभारोहणादिकम् ॥२५
कुरुजाङ्गलदेशेऽथ हस्तिनागपुरे पति । महापद्मोऽभवदस्य राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥२६
तयो पुत्रौ समुत्पन्नौ पद्मविष्णुसमाह्वयौ। प्राप्य किंचिन्निमित्तं स वैराग्य कृतवान् नृप ॥२७
राज्यं दत्वा स पद्माय बभूव विष्णुना सह। श्रुतसागरसूरेश्च समीपे सन्मुनिर्नृप ॥२८
बलिप्रभृतयस्तेऽपि पद्मराज्यस्य साम्प्रतम्। आगत्य मन्त्रिणो जाता मानभङ्गाकुला खलाः ॥२९
अथ कुम्भपुरे दुर्गे राजा सिंहबलोऽवसत्। उपद्रवं करोत्यस्य मण्डलस्य मदान्वित ॥३०
तद्वृत्ताकर्ण्य संजातचिन्तया तैश्चतुर्बलम्। पद्मं दृष्ट्वोदितं किं हि देव दौर्बल्यकारणम् ॥३१
बलैर्निरूपितं राजा तत श्रुत्वा ससाधनम्। आदेशं प्रार्थ्य शीघ्रं च गतस्तत्र बलान्वित ॥३२
बुद्धिमाहात्म्यसामर्थ्यात् दुर्गं भङ्क्त्वा प्रगृह्य तम्। व्याघुट्यागत्य पद्मस्य बलिना स समर्पित ॥३३
तोषादुक्तं स्वय राज्ञाऽभीष्टं प्रार्थय सद्वरम्। तेनोक्तं प्रार्थयिष्यामि यदा कार्यं भविष्यति ॥३४
अथ तेऽकम्पनाचार्यादयो धीरा मुनीश्वरा । सप्तशतगणोपेता प्रभ्रमंस्तत्र चागता ॥३५
पुरक्षोभात्परिज्ञाय बलिना तन्मुनीश्वरान्। रागद्वेषमदोन्मादभयशोकादिवर्जितान् ॥३६

उठाए) कील दिये ॥२३॥ सवेरा होते ही नगरके सब लोग मुनिराजकी वदनाके लिये आये। सबने उन ध्यानारूढ मुनिराजको मारनेका उद्यम करनेवाले उन चारो मन्त्रियोकी निंदा की ॥२४॥ राजाने स्वय जाकर उनको देखा। उसे बडा क्रोध आया परन्तु उसने उनके प्राण नही लिये। काला मुँह कर गधेपर सवार कराकर नगरमे फिराया और इस प्रकार महादड देकर अपने राज्यसे बाहर निकाल दिया ॥२५॥

कुरुजागल देशके हस्तिनापुरमे राजा महापद्म राज्य करता था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। उन दोनोके दो पुत्र थे। बडेका नाम पद्मकुमार था और छोटेका नाम विष्णुकुमार था। किसी निमित्तको पाकर राजा महापद्मने बडे पुत्र पद्मकुमारको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमारके साथ श्रुतसागर मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥२६–२७॥ दैवयोगसे वे बलि आदि चारो मन्त्री मानभगसे दुखी होकर, राजा पद्मकुमारके यहा आकर मन्त्री हो गये ॥२८–२९॥ हस्तिनागपुर राज्यके पास ही एक कुम्भपुर नगर था। उसमे सिंहबल नामका राजा राज्य करता था। उसके पास एक सुदृढ किला था और इसीलिये वह हस्तिनागपुर राज्य की प्रजापर उपद्रव किया करता था ॥३०॥ राजा पद्म उसे अपने वश नही कर सकता था इसीलिये वह चिन्ता करते करते प्रतिदिन दुर्बल होता जाता था। किसी एक दिन मन्त्रियोने उससे दुर्बलताका कारण पूछा तब राजा पद्मने सब हाल कह सुनाया। राजाकी बात सुनकर मन्त्रियोने सेनाके साथ उसपर चढाई करनेकी आज्ञा मागी। आज्ञा पानेपर सेनाके साथ वे उस पर चढाई करनेके लिये चल दिये ॥३१–३२॥ उन्होने अपनी बुद्धिमानीसे किलेको तोड दिया और बलिने सिंहबलको पकडकर राजा पद्मके सामने उपस्थित किया ॥३३॥ बलिका यह काम देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बलिसे कहा कि इस समय तुम जो कुछ मागोगे वही दूँगा। इसके उत्तरमे बलिने प्रार्थना की कि महाराज, जब हमे आवश्यकता होगी तब माँग लेगे ॥३४॥ इधर अकपनाचार्य आदि धीरवीर सात सौ ही मुनिराज विहार करते हुए हस्तिनागपुर आ पहुँचे ॥३५॥ उनके आते ही नगरमे क्षोभ हो गया। नगरके सब लोग दर्शन करने जाने लगे। इन सब कारणो

ज्ञात्वा भूप हि तद्भक्त गत्वा पद्मोऽभिप्रार्थित । पूर्वं वैर मुनीन्द्राणां वधाय दुष्टचेतसा ॥३७
अस्माक देहि भो देव राज्यं सप्तदिनान्वितम् । तस्मै दत्वा तु स राजा प्रविश्यान्तःपुरे स्थित ॥३८
आतापन गिरौ कायोत्सर्गेणापि स्थितान् मुनीन् । बलिनावेष्ट्य संवृत्या कृत्वा सन् मण्डप पुन ॥३९
यज्ञ कर्तुं समारब्धो नरमेधसमाह्वय । श्वभ्रतिर्यक्फलोपेतो धर्मध्वंसकरोऽपद ॥४०
अस्थिचर्मादिजैर्धूम्रैस्तया जीवकलेवरै । मारणार्थं मुनीन्द्राणामुपसर्गं करोति स ॥४१
आदाय मुनयो धीरा सन्यास द्विविकल्पजम् । त्यक्तदेहाः स्थिता सर्वे निश्चलाङ्गा स्थिराशया ॥४२
अथापि मिथिलाख्याया नगर्यां निर्गतो बहि । अर्द्धरात्रौ स्वयं सागरचन्द्राचार्यमुसज्ञक ॥४३
तेनाकाशे समालोक्य नक्षत्र श्रवण शुभम् । कम्पमान परिज्ञायावधिज्ञानेन तत्क्षणम् ॥४४
उक्तं हा ! हा ! मुनीन्द्राणामुपसर्गोऽति वर्तते । समस्तसगत्यक्ताना दुष्करो भीरुभीतिद ॥४५
तच्छ्रुत्वा पुष्पदन्ताख्यक्षुल्लकेन प्रजल्पितम् । विद्याधरेण भो स्वामिन् क्व स केषां प्रवर्तते ॥४६
उक्त तद्गुरुणा वत्म हस्तिनागपुरे शुभे । वर्ततेऽकम्पनाचार्यादीना सज्ज्ञानशालिनाम् ॥४७
तेनोक्त भगवन् सोऽद्य कथ शीघ्र विनश्यति । उपसर्गो महांस्तेषां यतीनां त्यक्तदेहिनाम् ॥४८
विष्णुकुमारसंज्ञश्च गिरौ धरणिभूषणे । सद्विक्रियर्द्धिसम्पन्नो मुनिर्नाशयितुं क्षम ॥४९

से राग, द्वेष, मद, उन्माद, भय, शोक आदि सब दोषोंसे रहित उन मुनिराजका आना बलि मंत्रीने जान लिया। राजा पद्मकुमारको मुनिराजका भक्त जानकर बलि मंत्रीने उनके पास जाकर प्रार्थना की कि हे महाराज ! हमे पहिले दिये हुए वरके बदले सात दिनका राज्य दे दीजिये। इस प्रकार उस दुष्टने मुनियोको मारनेके लिये वर माँगा। राजा वचन दे चुका था इसलिये वह लाचार होकर सात दिनके लिये बलिको राज्य देकर अन्त पुरमे चला गया ॥३६–३८॥ वे मुनिराज किसी पर्वतपर कायोत्सर्गके द्वारा आतापनयोग धारण किये हुए विराजमान थे, उन सबको उस दुष्टने घेर लिया और सब स्थानके ऊपर एक मण्डप बना डाला ॥३९॥ फिर उस दुष्टने नरक निगोदके दुःख देनेवाला और धर्मको सर्वथा नाश करनेवाला नरमेध यज्ञ (जिसमे मनुष्य मारकर हवन किये जाते हैं) करना प्रारम्भ किया ॥४०॥ उस नीचने मुनियोको मारनेके लिये जीवोके कलेवरोका तथा हड्डी चमडा आदिका बहुतसा धूँआ किया और ऐसे ही ऐसे और भी अनेक उपसर्ग करने प्रारम्भ किये ॥४१॥ परन्तु जिनका हृदय निश्चल है, शरीर निश्चल है, जिन्होने शरीरसे ममत्व छोड दिया है और जो अत्यन्त धीरवीर हैं ऐसे वे मुनिराज उभय विकल्पात्मक (यदि इस उपद्रवमे बचेंगे तो अन्नजलादिक ग्रहण करेंगे, अन्यथा सबका त्याग है) सन्यास धारण कर लिया ॥४२॥

इसी समय मिथिला नगरीके बाहर आचार्य सागरचन्द्रने आकाशमे शुभ श्रवण नक्षत्रको कम्पायमान होते देखा। उसी समय उन्होने अपने अवधिज्ञानको जोडा। अवधिज्ञानसे जानते ही उनके मुँहसे निकला कि हा ! हा ! समस्त परिग्रहके त्यागी मुनिराजोको अत्यन्त दुष्कर और भयानक उपसर्ग हो रहा है ॥४३–४५॥ उनके ये वचन सुनकर पुष्पदन्त नामके क्षुल्लक विद्याधरने पूछा कि हे स्वामिन् ! वह उपसर्ग कहाँ और किनको हो रहा है ॥४६॥ उत्तरमे आचार्यने कहा कि हे वत्स ! हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमे बडे ज्ञानवान अकपनाचार्य आदि बहुतसे मुनियोको उपसर्ग हो रहा है ॥४७॥ विद्याधरने पूछा कि हे भगवन् ! शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले उन मुनिराजोका यह उपसर्ग आज ही शीघ्रताके साथ किस प्रकार नष्ट हो सकता है ॥४८॥ इसके

एतदाकर्ण्य तेनैव गत्वा तत्सन्निधौ पुन । कृत्वा तस्मै नमस्कारं वृत्तान्तं कथितं स्वयम् ॥५०
तच्छ्रुत्वा विक्रियाऋद्धि· किं जाता मम साम्प्रतम् । तत्परीक्षार्थमप्याशु तेन हस्तः प्रसारित ॥५१
सोऽपि भित्वा गिरिं दूरं गतो निश्चित्य ता पुन । आगत्य पद्मराजस्य समीपे भणितं स्वयम् ॥५२
मुनीनामुपसर्गो हि किं त्वया कारितो व्यथा । भवत्कुले न संजात सदृशस्तव दुर्मते ॥५३
तेनोक्त भवन्नद्य किं करोमि सयाऽशुभात् । पूर्वं दत्तो वरो ह्यस्य पापिष्ठस्य विरूपक ॥५४
ततो विष्णुकुमारेण द्विजरूपं विधाय वै । वामनरूपसयुक्त मुनिना बलिसन्निधौ ॥५५
दिव्येन ध्वनिना गत्वा कृतं सत्प्रार्थनं शुभम् । किं ते ददामि तेनोक्तं यदिष्टं तच्च प्रार्थय ॥५६
तेनोक्त देहि मे पादत्रयं भूमेरुवाच स. । अन्यद्‌बहुतरं दानं विप्र गृहिल याचयः ॥५७
तदेवं याचते सोऽपि भण्यमानो मुहुर्मुहु । लोकैरनेकधा लोभाविष्टैः सतोषतत्परः ॥५८
ततो हि बलिना दत्तं भूमिपादत्रयं स्वयम् । हस्तोदकादिविधिना दानं तस्मै शुभप्रदम् ॥५९
दत्तोऽनु मुनिना चैकपादो मेरुगिरौ पुन । द्वितीयो विक्रियायोगान्मानुषोत्तरपर्वते ॥६०
पादेन तृतीयेनाऽपि कृत्वा क्षोभं बलाच्च स । खे देवविमानादीना दत्त पृष्ठे बलेरपि ॥६१
ततस्ते मन्त्रिणः पद्मभयादागत्य तत्क्षणम् । मुनेर्विष्णुकुमारस्य मुनीना शरण गताः ॥६२

उत्तरमे आचार्यने कहा कि धरणिभूषण पर्वतपर विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले विष्णुकुमार मुनिराज विराजमान है। वे इस उपद्रवको दूर कर सकते है ॥४९॥ यह सुनते ही वह विद्याधर स्वय मुनिराज विष्णुकुमारके समीप गया और नमस्कार कर उसने सब वृत्तात कहा ॥५०॥ विद्याधरकी यह बात सुनकर उन्हे आश्चर्य हुआ और मुझे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है इसकी परीक्षा करनेके लिये उन्होने अपना हाथ फैला दिया ॥५१॥ उनका वह हाथ पर्वतको भेदकर दूर तक चला गया तब उन्हे अपनी विक्रिया ऋद्धिका निश्चय हो गया और फिर वे स्वय राजा पद्मके समीप आकर कहने लगे कि तूने यह व्यर्थ ही मुनियोका उपसर्ग क्यो किया है, तेरे कुलमे और कोई भी ऐसा दुर्बुद्धि नही हुआ है ! ॥५२–५३॥ तब पद्मने कहा कि हे भगवन् ! आज मै क्या करूँ ! मैं अपने अशुभ कर्मके उदयसे इस पापीको एक वचन दे चुका हूँ—अर्थात् वरमे सात दिनका राज्य दे चुका हूँ ॥५४॥ तब विष्णुकुमारने वामन रूप ब्राह्मणका भेष बनाया और दिव्य वेद ध्वनि करते हुए बलिके समीप पहुँचे ॥५५॥ तब बलिने प्रार्थना कर कहा कि महाराज आपको क्या दे, आपको जो इच्छा हो वही आप माँग लें ॥५६॥ तब विष्णुकुमारने कहा कि मुझे तीन पेड पृथ्वी दे दीजिये। तब बलिने कहा कि हे ब्राह्मण ! यह क्या माँगा और भी घर आदि बहुतसी चीजें माँगो ॥५७॥ और अधिक माँगनेके लिये बलिने बारबार कहा तथा और भी अनेक लोभी पुरुषोने अधिक माँगनेके लिये कहा, परन्तु सन्तोषको धारण करनेवाले विष्णुकुमार अपनी उसी माँगपर डटे रहे ॥५८॥ तब बलिने हाथपर पानीकी धारा छोडकर विष्णुकुमारके लिये कल्याण करनेवाला तीन पेंड पृथ्वीका दान दे दिया ॥५९॥ मुनिराजने दान लेकर पृथ्वी नापनी प्रारम्भ की। उन्होने विक्रिया ऋद्धिसे अपना शरीर बढाकर एक पैर तो मेरु पर्वतपर रक्खा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर रक्खा, अब तीसरा पैर रखनेके लिये कही स्थान न रहा। उनके इस कृत्यसे समस्त ससारमे क्षोभ हो गया और देवोके विमानोमे भी क्षोभ हो गया तब लाचार होकर उन्होने अपना तीसरा पैर बलिकी पीठ पर रक्खा ॥६०–६१॥ तब वे सब मत्री महाराज पद्मके भयसे घबडाये। वे सब उसी समय मुनिराज विष्णुकुमारके तथा उन सातसौ मुनियोके शरणमे जा

कृत्वा तेभ्यो नमस्कारं जाता सच्छ्रावका शुभात् । चत्वारो जैनधर्मस्य दृष्ट्वा माहात्म्यमीदृशम् ६३
धन्यो विष्णुकुमारोऽयं सद्वात्सल्यगुणान्वित । येन सद्योगिनां साक्षादुपसर्गो निवारित. ॥६४
अन्ये ये बहव सन्ति सद्वात्सल्यविधायका । ते श्रीरामादयो ज्ञेया दक्षै सच्छ्रीजिनागमात् ॥६५
सद्वात्सल्यं प्रकर्तव्यं त्वया धीमन् सुखावहम् । यतीनां श्रावकाणा च यथायोग्यं सुधर्मदम् ॥६६
ये वात्सल्यं न कुर्वन्ति मूढा गर्वसमन्विता । पतित्वा धर्मशैलात्ते मज्जन्ति भवसागरे ॥६७
गुणान्वितं मुनिं दृष्ट्वा ये वात्सल्यं भजन्ति न । गर्वात्ते स्व परित्यज्य धर्म श्वभ्रे पतन्त्यघात् ॥६८
प्रकुर्वन्ति मुनीना ये वात्सल्य धर्महेतवे । ते शक्रादिपद लब्ध्वा मुक्ति गच्छन्ति सयता ॥६९

कलितविविधऋद्धिर्विष्णुसंज्ञं मुनीन्द्र, विधृतगुणगरिष्ठं सप्तम दर्शनस्य ।
गतशिवसुखपार त्यक्तसंसारभारं, भवजलनिधिपोत मुक्तयेऽहं प्रवन्दे ॥७०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे वात्सल्यगुणव्यावर्णनो
विष्णुकुमारकथानिरूपको नाम नवम परिच्छेद ॥९॥



पडे ॥६२॥ उन्होने उन सबको नमस्कार किया और जैनधर्मका ऐसा माहात्म्य देखकर वे चारो मंत्री अच्छे श्रावक बन गये ॥६३॥ इस ससारमे विष्णुकुमार मुनिराज बडे ही धन्य हैं। उनका वात्सल्य अग बहुत ही प्रशसनीय है क्योकि मुनियोका साक्षात् उपसर्ग उन्होने स्वय दूर किया था ॥६४॥ इनके सिवाय रामचन्द्र आदि और भी बहुतसे महापुरुष इस वात्सल्य गुणको धारण करनेवाले हुए हैं उन सबके जीवनचरित्र श्री जैन शास्त्रोसे जान लेना चाहिये ॥६५॥ हे वत्स ! हे बुद्धिमान ! यह वात्सल्य गुण सदा सुख देनेवाला है और धर्मको बढानेवाला है इसलिये यथा-योग्य रीतिसे मुनि और श्रावकोमे सदा वात्सल्य धारण करना चाहिये ॥६६॥ जो अभिमानी मूर्ख धर्मात्माओमे प्रेम नही करते हैं वे धर्मरूपी पर्वतसे गिरकर संसाररूपी समुद्रमे डूब जाते हैं ॥६७॥ जो अभिमानी गुणवान् मुनिको देखकर भी उनमे प्रेम नही करते हैं अपना उत्कृष्ट धर्म छोडकर नरकमे पडते हैं ॥६८॥ जो सयमी पुरुष केवल धर्म-पालन करनेके लिये मुनियोमे प्रेम करते हैं वे इन्द्रादिकके पदको पाकर अवश्य ही मोक्षमे जा विराजमान होते हैं ॥६९॥ जिन मुनिराज विष्णुकुमारको अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थी, जिन्होने सम्यग्दर्शनका सातवाँ उत्तम वात्सल्य अग धारण किया था, जो ससारके भारको छोडकर मोक्षसुखके पारगामी हुए थे और जो ससाररूपी महासागरसे पार कर देनेके लिये जहाजके समान हैं उन्हे मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥७०॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे वात्सल्य अगमे प्रसिद्ध होनेवाले विष्णुकुमार मुनिराजकी कथाको कहनेवाला यह नौवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥९॥



दशवाँ परिच्छेद

शीतलेशमहं वन्दे सद्धर्मामृतवारिदम् । जन्मदाहविनाशाय पापतापविनाशकम् ॥१
गुणे प्रभावनाख्ये यो विख्यातो मुनिपुंगव. । तस्य वज्रकुमारस्य कथा वक्ष्ये समासतः ॥२
हस्तिनागपुरे जातो धर्माधारपुरोहित. । गरुडो वलिराजस्य सोमदत्तस्तदात्मज. ॥३
पठित्वानेकशास्त्राणि चाहिछत्रपुरे शुभे । शिवभूतिमामपार्श्वे गत्वा तेन प्रपूरितम् ॥४
माम दुर्मुखराजस्य त्वं मा दर्शय साम्प्रतम् । शास्त्रार्थपारग तेन गर्वितेन न दर्शित. ॥५
तत. किञ्चिदुपाय स रचयित्वा प्रविश्य वै । सभां सिंहासनस्थ तं ददर्श पुण्ययोगत ॥६
आशीर्वादादिकं दत्वा सत्कौशल्य प्रकाश्य स । सच्छास्त्रस्य परिप्राप्तो वरं मन्त्रिपदं शुभात् ॥७
तथाभूतं तमालोक्य मामेनापि धनान्वितम् । स्वपुत्री यज्ञदत्तास्मै दत्ता भोगाय तत्क्षणम् ॥८
एकदा खलु गुर्विण्यास्तस्या दोहलकोऽजनि । वर्षाकाले पतन्नीरे सदाम्रफलभक्षणे ॥९
सोमदत्तेन तान्युच्चैरुद्यानवनसन्निधौ । अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे योग चकार स ॥१०
आचार्योऽपि सुमित्राख्यस्त दृष्ट्वा फलितं पुन । गृहीत्वाम्राणि सद्भृत्य हस्तेन प्रेषितानि वै ॥११
तमाचार्यं नमस्कृत्य श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकरं सार वैराग्यं सोऽप्यगात्तदा ॥१२

जो धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेके लिये वादलके समान है और पापरूप सन्तापको दूर करनेवाले हैं ऐसे श्री शीतलनाथ भगवान्को मै अपने जन्ममरण रूप दाहको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ सम्यग्दर्शनके आठवे प्रभावना अगमे मुनिराज वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये अव सक्षेपसे उनकी कथा कहता हूँ ॥२॥ हस्तिनागपुरमे राजा बल राज्य करता था। उसके गरुड़ नामका एक धार्मिक पुरोहित था और उसके पुत्रका नाम सोमदत्त था ॥३॥ वह सोमदत्त अनेक शास्त्रोका पारगामी था। वह किसी समय अहिछत्रपुर नगरमे अपने शिवभूति मामाके पास गया। किसी एक दिन उसने अपने मामासे कहा कि हे मामा! इस समय यहाँके राजा दुर्मुखसे मेरी भेट करा दीजिये। उसका मामा भी अनेक शास्त्रोका पारगामी था परन्तु वह अभिमानी था इसलिये उसने राजासे सोमदत्तकी भेट नही कराई ॥४–५॥ तव सोमदत्तने स्वय ही कुछ उपाय किया और पुण्यकर्मके उदयसे राजसभामे जाकर सिंहासनपर विराजमान हुए राजाके दर्शन किये ॥६॥ सोमदत्तने महाराजको आशीर्वाद दिया, अपने शास्त्रोकी कुशलता प्रगट की और इस प्रकार राजाको प्रसन्न कर उसने सर्वोत्तम मत्री पद स्वय प्राप्त कर लिया ॥७॥ शिवभूतिने भी अपने भानजेको इस प्रकार विद्वान् और धनी देखकर उसे यज्ञदत्ता नामकी अपनी पुत्री व्याह दी ॥८॥ समयानुसार उसे गर्भ रहा। किसी एक दिन वर्षाकालके दिनोमे जव कि पानी पड रहा था तव यज्ञदत्ताको आम खानेका दोहला उत्पन्न हुआ ॥९॥ वह समय आमोका समय नही था इसलिये सोमदत्तने वहुतसे उद्यान और वन ढूँढे परन्तु आम कही न मिले। अन्तमे वह एक वनमे गया वहाँ पर एक आमके वृक्षके नीचे सुमित्र नामके आचार्य मुनिराज विराजमान थे। तथा उस वृक्षपर बहुतसे आमके फल लग रहे थे। सोमदत्तने आम तोडकर सेवकके हाथ घर भेज दिये ॥१०–११॥ तदनन्तर उसने उन आचार्यको नमस्कार किया और उनसे सुख देनेवाले

ससारं तमसार च दारापुत्रधनादिकम् । अध्रुवं जीवितव्य च मत्वा जग्राह सयमम् ॥१३
परिज्ञायागम सोऽपि ज्ञानध्यानतपोरत । गत्वा नाभिगिरौ सूर्यसम्मुख सस्थितो मुनि ॥१४
यज्ञदत्ता प्रसूता सा पुत्रं श्रुत्वा स्वभर्तृजम् । वृत्तान्तं कोपसम्पन्ना गता स्वबान्धवान्तिकम् ॥१५
मुने शुद्धि परिज्ञाय गत्वा नाभिगिरौ सह । बन्धुभिस्त्यक्तदेहोऽसौ यतिर्दृष्टोऽचलस्तया ॥१६
कोपाद्धृत्वा स्वबाल तत्पादोपरि कुमार्गगा । दत्वा दुर्वचनान्यस्य मुनेर्गेह गता हि सा ॥१७
मुनिस्तथैव ध्यानेन स्थित एकाग्रमानस । सर्वचिन्तादिनिर्मुक्त त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥१८
तस्मिन्नेव हि प्रस्तावे वसन् रूप्याचले शुभे । नगर्याममरावत्यामाकराया सुधर्मिणाम् ॥१९
दिवाकरादिदेवान्तनामा विद्याधराधिप । पुरन्दरलघुभ्रात्रा पुर्यान्निर्धाटितो बलात् ॥२०
इदं पापफल मत्वा सद्राज्यादिविनाशनम् । वन्दनार्थं समायातः सकलत्रो मुने. स वै ॥२१
प्रणम्य मुनिनाथ त दृष्ट्वा तच्चरणे स्थितम् । गृहीत्वा बालक कान्तं स्वभार्यायै समर्प्य स. ॥२२
नाम वज्रकुमारोऽयमिति कृत्वा पुन स्वयम् । कनकाख्य पुरं रम्यं धर्महर्षान्वितो ययौ ॥२३
तत्र वज्रकुमारश्च जातो विद्यान्वितो युवा । विमलादिवाहनान्तस्वमैथुनिकसन्निधौ ॥२४

तथा स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले धर्मका स्वरूप सुना । उसे सुनते ही उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥१२॥ उसने इस ससारको असार समझा और स्त्री पुत्र धन जीवन आदिको अनित्य निश्चय कर उसने सयम धारण कर लिया ॥१३॥ मुनिराज सोमदत्तने अनेक शास्त्रोका अभ्यास किया और ज्ञान ध्यानमे तल्लीन होनेका अभ्यास किया । किसी एक समय वे नाभिगिरि पर्वतपर तपश्चरण करनेके लिये सूर्यके सामने जा विराजमान हुए ॥१४॥

इधर समय पाकर यज्ञदत्ताके पुत्र उत्पन्न हुआ । इसके कुछ दिन बाद उसने अपने पतिका समाचार भी सुना । उसके मुनि होनेका समाचार सुनकर उसे बहुत ही क्रोध आया और भाई आदिको साथ लेकर वह नाभिगिरि पर्वतपर पहुँची ॥१५॥ वहाँ जाकर देखा शरीरसे ममत्व छोडे हुए पर्वतके समान अचल, सूर्यके सामने विराजमान होकर तप कर रहे हैं ॥१६॥ उस दुष्टाने उन मुनिराजको अनेक दुर्वचन कहे और क्रोधमे आकर उस बालकको उन मुनिराजके पैरोपर डालकर अपने घरको चली गई ॥१७॥ परन्तु समस्त परिग्रहोका त्याग कर देनेवाले और सब तरहकी चिन्ताओसे रहित वे मुनिराज उसी प्रकार एकाग्रचित्त होकर ध्यानमे तल्लीन रहे ॥१८॥ इसी समयकी एक कथा और है और वह इस प्रकार है कि विजयार्द्ध पर्वतपर एक अमरावती नामकी नगरी है जिसमे अनेक धर्मात्मा लोग निवास करते थे ॥१९॥ उस नगरीमे दिवाकरदेव नामका विद्याधर राज्य करता था । उसके छोटे भाईका नाम पुरन्दर था । पुरन्दरने अपने बलसे अपने बडे भाईको नगरसे निकाल दिया था और उसका राज्य स्वय ले लिया था ॥२०॥ दिवाकरदेवने अपने राज्यका नाश होना पापका फल समझा इसलिये वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर मुनियोकी वन्दना करनेके लिये निकला ॥२१॥ वह चलता-चलता नाभिगिरि पर्वतपर आया और मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गया । उसने उनके चरणोपर पडे हुए सुन्दर बालकको देखा और उसे उठाकर अपनी स्त्रीको सौप दिया ॥२२॥ दिवाकरदेवने उसका नाम वज्रकुमार रक्खा और वह मुनिराजके दर्शन कर बडी प्रसन्नताके साथ कनकपुरको चला ॥२३॥ वहाँपर वज्रकुमार का मामा (दिवाकरदेवका साला) विमलवाहन राज्य करता था । वह विमलवाहन बहुत ही विद्वान् था । उसीके पास रहकर वज्रकुमारने अनेक विद्याएँ सीखी ॥२४॥ किसी एक दिन वज्रकुमार

ततो गरुडवेगाख्यगङ्गावत्योर्गुणाकरा । पुत्री पवनवेगाख्या जाता रूपादिभूषिता ॥२५
ह्रीमन्तपर्वते गत्वा विद्या प्रज्ञप्तिसञ्ज्ञिकाम् । साधयन्ती श्रमेणैव स्वयमेकाग्रचेतसा ॥२६
वाताकम्पितवदरीकण्टकेनैव लोचने । विद्धा तत्पीडया जाता चलचित्ता नभेश्वरी ॥२७
नैव सिद्धयति सा विद्या स्वविज्ञानवलेन सा । दृष्ट्वा वज्रकुमारेण स्वयं कण्टक उद्धृत ॥२८
तत. सुस्थिरचित्तायास्तस्या सिद्धि गता पुन । विद्या कार्यकरा पुण्यप्रभावेनैव तत्क्षणम् ॥२९
उक्तं तया ममैषापि विद्या भो भव्य साम्प्रतम् । सिद्धा भवत्प्रसादेन भर्ता त्व मे न चापर ॥३०
महोत्सवेन सा वज्रकुमारेणैव तत्क्षणम् । परिणीता स्वपुण्येन कि कि न स्यान्महीतले ॥३१
तद्विद्यामाशु चादाय गत्वा तेनामरावतीम् । पितृव्यं सङ्गरे जित्वा राज्ये सस्थापित. पिता ॥३२
एकदा तस्य धीरस्य जनन्यापि जयश्रिया । अमर्ष प्रोद्वहन्त्या स्वपुत्रस्य राज्यहेतवे ॥३३
प्रोक्तमन्येन सञ्जातश्चान्यं सन्तापयत्ययम् । श्रुत्वा तद्वचनं सोऽपि पितृपार्श्वे समाययौ ॥३४
भो तात ! कस्य पुत्रोऽह सत्य त्व कथयेति मे । तस्मिन्प्ररूपितेनादौ प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा ॥३५
ततस्तेन खगेशेन सत्यमेव निरूपित । वृत्तान्त पूर्वज सर्वस्तस्याग्रे मायया विना ॥३६
तदाकर्ण्य ततो द्रष्टु स्वगुरु बन्धुभि समम् । मथुरां सक्षत्रियाख्या गुहा सद्भक्तितो ययौ ॥३७
गुरु नत्वा स्थितस्तत्र कुमारः कथितोऽमुना । दिवाकरादिदेवेन वृत्तान्त पुत्रसम्भव ॥३८

शोभा देखनेके लिए ह्रीमत पर्वतपर गया था। वहाँपर गरुडवेग विद्याधरकी स्त्री गगावतीकी पुत्री पवनवेगा प्रज्ञप्ति नामकी विद्याको सिद्ध कर रही थी। वह पवनवेगा वडी गुणवती थी, वडी ही रूपवती थी और उस समय एकाग्रचित्त होकर वडे परिश्रमसे विद्या सिद्ध कर रही थी। दैवयोगसे उसी समय वायुसे उडकर एक वेरका काँटा उसकी आँखमे पड गया था और उसकी पीडासे उसका चित्त चञ्चल हो उठा था। तथा चित्तके चंचल होनेसे वह विद्या सिद्ध नही हो रही थी। वज्रकुमारने अपने विज्ञानवलसे वह काँटा देख लिया था और पास जाकर स्वय अपने हाथसे उसे निकाल डाला था ॥२५-२८॥ काँटेके निकल जानेसे उसका चित्त स्थिर हो गया और चित्तके स्थिर हो जानेसे तथा पुण्यके प्रभावसे उस विद्याधर पुत्रीको अनेक कार्य करनेवाली विद्या स्वयं आकर सिद्ध हो गई ॥२९॥ विद्या सिद्ध हो जानेपर उस विद्याधरपुत्रीने वज्रकुमारसे कहा कि हे स्वामिन् ! मुझे यह विद्या आपके प्रसादसे सिद्ध हुई है इसलिये इस जन्ममे मेरे पति आप ही है अव मै और किसीको स्वीकार कर नही सकती ॥३०॥ तदनन्तर माता-पिताकी आज्ञासे उन दोनोका विवाह हो गया सो ठीक ही है, क्योकि इस ससारमे पुण्योदयसे क्या-क्या प्राप्त नही होता है ॥३१॥ किसी एक दिन मालूम हो जानेपर वज्रकुमार अपनी स्त्रीकी विद्या लेकर और कुछ सेना लेकर अमरावतीपर चढ गया और अपने काकाको जीतकर अपने पिताको राज्यगद्दी पर विठाया ॥३२॥ किसी एक दिन वज्रकुमारकी माता जयश्री (दिवाकरदेवकी रानी) अपने निजी पुत्रको राज्य दिलानेके लिये वज्रकुमारसे कुछ ईर्षाके वचन कह रही थी और कह रही थी कि यह वज्रकुमार कहाँ तो उत्पन्न हुआ है और कहाँ आकर हम लोगोको दु खी करता है। अपनी माताकी यह वात सुनकर वज्रकुमार उसी समय अपने पिताके पास पहुँचा ॥३३-३४॥ और कहने लगा कि हे तात ! आज सच वतला दीजिए कि मै किसका पुत्र हूँ। आज यह वात जान लेनेपर ही मै अन्नपानी ग्रहण करूँगा, अन्यथा नही ॥३५॥ पुत्रके अत्याग्रहसे दिवाकरदेव विद्याधरने भी पहला सव हाल ज्योका त्यो कह सुनाया ॥३६॥ उस कथाको सुनकर वज्रकुमार अपने पूज्य पिताके दर्शन करनेके लिये पिता.

तच्छ्रुत्वा मुनिना ब्रूतं पुत्र दीक्षां गृहाण भो। हत्वा मोहमहामल्लं स्वर्गमुक्तिसुखप्रदम् ॥३९
आकर्ण्य तद्वचो वज्रकुमार सर्वबान्धवान्। महत्कष्टेन संत्यक्त्वा व्रतमङ्गीचकार स ॥४०
अत्रान्तरे मथुराया पूतिगन्धो नृपोऽभवत्। उर्विला तस्य सद्राज्ञी बभूव धर्मतत्परा ॥४१
सम्यक्त्वादिगुणोपेता रता धर्ममहोत्सवे। प्रभावनादिसंयुक्ता भक्ता श्रीजिनपुङ्गवे ॥४२
करोति रथयात्रां सा प्रतिवर्षं दिनाष्टकम्। नन्दीश्वरे त्रिवारं सद्रथे प्रारोप्य श्रीजिनम् ॥४३
तत्रैव सन्नगर्यां च दरिद्राख्या सुताऽजनि। श्रेष्ठिसागरदत्तस्य धनहीनस्य पापत ॥४४
श्रेष्ठिन्या हि समुद्रादिदत्ताया उदरे शुभे। मृते सागरदत्ते सा क्षुधाक्रान्ता बहिर्गता॥४५
भक्षयन्ती कुसिक्तानि परगेहे विरूपिका। दृष्टा चर्याप्रविष्टेन मुनियुग्मेन सा स्वयम् ॥४६
लघुना मुनिना प्रोक्त हा वराका हि जीवति। कष्टेन महता नित्य पूर्वोपार्जितपापत ॥४७
तदाकर्ण्य पुन प्रोक्त ज्येष्ठेन मुनिना स्वयम्। इह अस्य ध्रुवं राज्ञ पट्टराज्ञी भविष्यति ॥४८
वचस्तस्य समाकर्ण्य धर्मश्रीवन्दकेन भो। मत्वेति भ्रमता भिक्षां नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ ४९
शीघ्रेण स्वमठ सा च नीता सपोषिता पुन। मिष्टाहारैश्च संप्राप्ता यौवनं रूपसम्पदम् ॥५०

भाई आदि सबके साथ निकला। उस समय उसके पिता श्री सोमदत्त मुनिराज मथुरा नगरीमे एक क्षत्रिय नामकी गुफामे तपश्चरण कर रहे थे। वज्रकुमार भक्तिपूर्वक वही पहुँचा ॥३७॥ सब लोग मुनिराजको नमस्कारकर बैठ गये। तब दिवाकरदेवने उन मुनिराजसे उस वज्रकुमार पुत्रके होनेकी सब कथा कह सुनाई ॥३८॥ यह सुनकर मुनिराज वज्रकुमारसे कहने लगे कि हे पुत्र! मोहरूपी महा मल्लको नाशकर स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली दीक्षा ग्रहण कर ॥३९॥ मुनिराजके वचन सुनकर वज्रकुमारने भी सब कुटुम्बका त्याग किया और अपने पूज्य पितासे दीक्षा धारण की ॥४०॥

इधर मथुरा नगरमे राजा पूतिगन्ध राज्य करता था। उसकी रानीका नाम उर्विला था जो रानी सदा धर्ममे तत्पर रहती थी ॥४१॥ वह रानी सम्यग्दर्शन गुणसे सुशोभित थी, धर्मोत्सव करनेमे तत्पर थी, प्रभावना अगको पालन करनेमे चतुर थी और जिनेन्द्रदेवमे परम भक्ति रखती थी ॥४२॥ वह प्रत्येक नन्दीश्वर पर्वमे श्रेष्ठ रथमे भगवान् जिनेंद्रदेवको विराजमानकर आठ दिनतक बराबर रथयात्रा करती थी और इस प्रकार प्रत्येक वर्षमे तीन बार किया करती थी ॥४३॥ उसी मथुरा नगरीमे सेठ सागरदत्तकी सेठानी समुद्रदत्ताके उदरसे एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई थी। उसके होते ही पापकर्मके उदयसे उस सेठका सब धन नष्ट हो गया था और माता पिता भी मर गये थे। तब वह दरिद्रा अकेली इधर-उधर फिरा करती थी और दूसरोके घर जूठा और बुरा अन्न खाया करती थी। किसी एक दिन उस नगरीमे दो मुनिराज पधारे। उनमेंसे छोटे मुनिने उस दरिद्राको देखकर बडे मुनिसे कहा कि देखो, पहिले जन्ममे उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे यह दरिद्रा बडे कष्टसे अपना जीवन बिता रही है ॥४४–४७॥ छोटे मुनिकी यह बात सुनकर बडे मुनिने कहा कि कालान्तरमे यह यहाँके इसी राजाकी पट्टरानी होगी ॥४८॥ मुनिराजकी यह बात एक बौद्ध भिक्षुक धर्मश्री वदकने भी सुन ली। उस समय वह भी भिक्षाके लिये आया था। उसने यह बात सुनकर निश्चय कर लिया कि मुनिराजकी बात कभी मिथ्या नही होती है ॥४९॥ वह वन्दक शीघ्र ही उसे अपने मठमे ले गया और उसे मीठे मीठे आहार खिला कर सन्तुष्ट किया। अनुक्रमसे वह दरिद्रा यौवनरूपी सम्पदाको प्राप्त हो गई ॥५०॥

एकदा चैत्रसन्मासे दृष्ट्वा राजा गुणान्विताम् । वभूवान्दोलयन्ती तां कामासक्तोऽतिविह्वलः ॥५१
ततोऽपि याचितस्तूर्णं वन्दको मन्त्रिभि स्वयम् । तदर्थं रूपसम्पन्ना ता पुण्यपरिपाकत ॥५२
तेनोक्तं यदि मे राजा धर्मं गृह्णाति केवलम् । त्यक्त्वा जिनेन्द्रसद्धर्मं ता ददामि न चान्यथा ॥५३
राज्ञा मूढेन तत्सर्वं कृत्वा साऽपि विवाहिता । कृता पट्टमहादेवी जाता तस्यातिवल्लभा ॥५४
सुनन्दीश्वरयात्रायामुर्विलारथमद्भुतम् । फाल्गुने सन्महाटोपं वस्त्राभरणभूषितम् ॥५५
आलोक्य भणितं देव तया बुद्धरथोऽधुना । मदीय प्रथमं पुर्या भ्रमतु धर्महेतवे ॥५६
राज्ञोक्तमस्तु चैवं हि तया निर्मापितो रथः । बुद्धदेवसमोपेत शृङ्गारादिसमन्वित ॥५७
ब्रूते तत्रोर्विलादेवी भ्रमते प्रथमं रथ । मदीयो मे तदाहारे प्रवृत्तिर्नैव चान्यथा ॥५८
गृहीत्वेति प्रतिज्ञां सा सोमदत्तमुनीशिने । गत्वा क्षत्रियगुहायामूचे सा संन्यासकारणम् ॥५९
प्रस्तावेऽस्मिन्मुनेर्वज्रकुमारस्य समागत । नन्तुं खगा दिवाकरदेवादय इहैव च ॥६०
वन्दित्वा मुनिपादौ ते श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । मुनीश्वरमुखाज्जातं स्थिता सद्धर्मवासिता ॥६१
उक्तं वज्रकुमारेण तामुद्दिश्य प्रभावना । भवद्भिरुर्विलायाश्च कर्तव्येति रथादिजा ॥६२
ततस्ते तत्र गत्वाशु बुद्धदासीरथ स्वयम् । शतचूर्णीकृत पुण्याज्जिनधर्मप्रभावकैः ॥६३
पश्चान्नानाविभूत्यापि रथयात्रा सुकारिता । उर्विलाया. महापुण्यदा खे शोभाकरा परा ॥६४

किसी एक समय चैत्रके महीनेमे अनेक गुणोसे सुशोभित वह दरिद्रा झूल रही थी, कि राजा पूतगन्ध भी वायु सेवनके लिये उधर आ निकला था। उस समय वह राजा उसको देख कर मोहित और विह्वल हो गया ॥५१॥ दरिद्रा अब रूपवती और लावण्यवती हो गई थी तथा उसके पुण्य कर्मका भी उदय हो गया था इसलिये मन्त्रियोके द्वारा राजाने वन्दकसे वह कन्या माँगी ॥५२॥ इसके उत्तरमे वन्दकने कहा कि यदि राजा जैन धर्मको छोडकर केवल मेरा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेगा तो मै यह कन्या राजाको दे दूँगा, विना इस शर्तको पूरी किये मैं नही दे सकता ॥५३॥ राजा मूर्ख था इसलिये उसने वन्दककी यह शर्त मान ली और उसके साथ विवाह कर लिया। उसने उसे पट्टमहादेवी वनाया और वह उसपर वहुत प्रेम करने लगा ॥५४॥ इधर उर्विला रानी फाल्गुन महीनेके अष्टाह्निका पर्वमे रथोत्सवकी तैयारी कर रही थी। अनेक प्रकार के वस्त्राभरणोसे सुशोभित उसका अद्भुत और बहुत वडा रथ खडा हुआ था ॥५५॥ उसे देखकर दरिद्राने अपने पतिसे (राजासे) कहा कि हे देव ! इस समय बुद्धका रथ भी निकलना चाहिये और धर्मके लिये वह मेरा रथ इस नगरीमे सबसे पहिले निकलना चाहिये ॥५६॥ राजाने भी उसकी इच्छानुसार आज्ञा दे दी। उसका रथ तैयार होने लगा। अव उर्विलाको वडी कठिनता पडी, क्योकि पहिले बुद्धका रथ निकलनेके लिये उसका रथ रोक दिया गया था। इसलिये उसने प्रतिज्ञा की कि जव मेरा रथ निकल जायगा तभी मै आहार ग्रहण करूँगी अन्यथा नही ॥५७–५८॥ ऐसी प्रतिज्ञाकर वह रानी सोमदत्त मुनिराजके समीप क्षत्रिय गुफामे पहुँची और उन मुनिराजसे सव हाल कहा ॥५९॥ दैवयोगसे इसी समय वज्रकुमार मुनिकी वन्दना करनेके लिये दिवाकरदेव आदि वहुतसे विद्याधर आये थे ॥६०॥ वे मुनिराजकी वन्दनाकर और मुनिराजके श्री मुखसे सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर हृदयमे धर्मकी भावना करते हुए बैठे थे ॥६१॥ रानीकी प्रतिज्ञा सुनकर वज्रकुमारने उन विद्याधरोसे कहा कि आपको यह धर्मकी प्रभावना अवश्य कर देनी चाहिये और इस उर्विला रानीका रथ निकलवा देना चाहिये ॥६२॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर वे सव विद्याधर नगर पहुँचे और बुद्ध दासी दरिद्राका रथ तोड फोड़कर चूर्ण कर डाला।

दृष्ट्वा माहात्म्यमत्यन्तं जैनधर्मस्य तत्कृतम् । त्यक्त्वा बौद्धमतं धर्मं सा जग्राह जिनोदितम् ॥६५
अन्ये चातिशयं दृष्ट्वा कृतं विद्याधरैर्जना । जैनं धर्मं प्रपन्ना हि त्यक्त्वा मिथ्यात्वमञ्जसा ॥६६
धन्येयमुर्विला राज्ञी सम्यग्दर्शनभूषिता । प्रभावनादिससक्ता साऽतिलोकैः प्रशंसिता ॥६७
अन्ये ये बहव सन्ति शासनस्य प्रभावका । जिनस्य चागमाद् ज्ञेया भव्या. सम्यक्त्वभूषिता ॥६८
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य ज्ञानेन तपसाथवा । मुनीश्वरा प्रकुर्वन्ति जैनधर्मप्रभावनाम् ॥६९
अनाच्छाद्य स्वशक्ति च दानपूजामहोत्सवे । श्रावका जैनधर्मेषु व्यक्तं कुर्वन्ति प्रत्यहम् ॥७०

विमलगुणनिधान प्राप्तसंसारपारो, विगतसकलदोषः साररत्नत्रयाढ्य ।
कृतप्रकटप्रभावो जैनधर्मस्य लोके, जयतु खलु कुमारोऽन्त्यादिवज्रो मुनीन्द्रः ॥७१

इति श्री भट्टारकसकलकोर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रभावनागुणवर्णने
वज्रकुमारमुनिकथाप्ररूपको नाम दशम परिच्छेद ॥१०॥



फिर जिन धर्मकी प्रभावना करनेवाले उन लोगोने बडी विभूतिके साथ उर्विलाका रथ निकलवाया जिससे अनेक लोगोने पुण्य सम्पादन किया और नगरमे बडी शोभा हुई ॥६३–६४॥ राजा पूतगन्ध और वुद्धदासी दरिद्राने भी जैन धर्मका ऐसा माहात्म्य देखकर बौद्ध धर्मका त्याग कर दिया और भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ जैनधर्म स्वीकार कर लिया ॥६५॥ उस विद्याधरोंके द्वारा किये हुए बडे भारी अतिशयको देखकर अनेक लोगोने मिथ्यात्व छोड़ दिया और पवित्र जैनधर्मको स्वीकार कर लिया ॥६६॥ लोगोने रानी उर्विलाकी बडी प्रशसा की और मुक्त कण्ठसे कहा कि सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाली और प्रभावना आदि सम्यक्त्वके गुणोमे आसक्त रहनेवाली इस उर्विला रानीको बार बार धन्य है ॥६७॥ सम्यग्दर्शनसे विभूषित होनेवाले और भी ऐसे अनेक भव्य हैं जिन्होने इस जैनधर्मकी प्रभावना की है उनका वर्णन जैन शास्त्रोसे जान लेना चाहिये ॥६८॥ मुनिराज अपनी शक्तिको प्रकटकर ज्ञान और तपश्चरणके द्वारा इस जैनधर्मकी प्रभावना प्रगट करते है तथा श्रावक जन भी अपनी शक्तिको प्रकट कर दान पूजा और उत्सवो द्वारा सदा इस जैनधर्मकी प्रभावना किया करते है ॥६९-७०॥ जो अनेक निर्मल गुणोंके निधि हैं, जिन्होने ससारमे सारभूत पदार्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, जो समस्त दोषोंसे रहित हैं, सारभूत रत्नत्रयसे विभूषित हैं और जिन्होने ससारभरमे जैन धर्मका प्रभाव प्रगट किया था ऐसे मुनिराज वज्रकुमार सदा जयशील हो ॥७१॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकोर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे प्रभावना अगमे प्रसिद्ध होनेवाले वज्रकुमारकी कथाको निरूपण करनेवाला यह दशवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१०॥



ग्यारहवाँ परिच्छेद

श्रेयोभिधं जिनं वन्दे लोके श्रेयोविधायकम् । वृषाकरं गुणैर्युक्तं जिनधर्मादिसिद्धये ॥१
पूर्वं गुणाष्टकस्यैव कृत्वा व्याख्यानमशत. । इदानी दर्शनस्यैव दोषान् वक्ष्ये मलप्रदान् ॥२
गुणाष्टकेन संयुक्तं सर्वदोषविवर्जितम् । सोपानं प्रथमं मुक्तेस्त्वं वत्स भज दर्शनम् ॥३
प्रभो ! ये सन्ति दोषा हि सम्यक्त्वमलहेतवे । कृपां कृत्वा ममाग्रेऽपि तांश्च सर्वान् निरूपय ॥४
शृणु त्वं शिष्य तान् दोषानेकचित्तेन मुक्तये । कथयामि महानिन्द्यान् सम्यक्त्वगुणघातकान् ॥५
मूढत्रयं भवेच्चाष्टौ मदा जात्यादिना बुधैः । षडनायतनान्यष्टौ दोषा शङ्कादयो मता ॥६
सम्यक्त्वमलदोषा स्युस्त्वया पञ्चविंशति । दुस्त्याज्या मूढलोकाना त्याज्या. सम्यक्त्वशुद्धये ॥७
वीतरागोऽतिनिर्दोषा' कृष्णब्रह्मादिकोऽथवा । सदोष पूज्यते मूढै पशुर्वा गतबुद्धिभि ॥८
यत्परीक्षां परित्यज्य मूढभावेन प्रत्यहम् । पुण्यहेतोर्बुधैस्तच्च देवमूढत्वमुच्यते ॥९
जिनसिद्धान्तसूत्रे यः उक्तो धर्मो जिनेश्वरैः । पञ्चमिथ्यात्वसंलग्नैर्मूढैर्वेदादिके च ये ॥१०
सद्विचारं परित्यज्य क्रियते स शठैर्जनै. । कथ्यते तद्बुधैर्लोके मूढत्वं समयोद्भवम् ॥११
अहिंसालक्षणोपेतो जिनोक्तो धर्म एव य । स्नानादिभिश्च श्राद्धादौ लोकाचारेण चागत ॥१२

जो ससारके समस्त प्राणियोका कल्याण करनेवाले है, अनन्तगुणोसे सुशोभित है और धर्मकी खानि है ऐसे श्री श्रेयासनाथको मै श्री जैनधर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ पहिले सम्यग्दर्शनके आठो गुणोका व्याख्यान किया था अव सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले उसके दोषोको कहता हूँ ॥२॥ आठो गुणोसे परिपूर्ण और समस्त दोषोसे रहित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महलकी पहिली सीढी है, हे वत्स ! तू ऐसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥३॥

प्रश्न—हे प्रभो ! सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले वे कौनसे दोष है कृपाकर मेरे लिये उन सवका निरूपण कीजिये ॥४॥ उत्तर—हे वत्स ! तू एकाग्र चित्त होकर सुन, मै केवल त्याग करनेके लिये सम्यग्दर्शनके गुणोको घात करनेवाले महा निंद्य उन दोषोको कहता हूँ ॥५॥ तीन मूढता, जाति आदि आठ मद, छह अनायतन और शका आदि आठ दोप इस प्रकार ये सम्यग्दर्शन-के पच्चीस दोप कहलाते हैं। अज्ञानी लोग वडी कठिनतासे इनका त्याग करते है परन्तु सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये इनका त्याग कर ही देना चाहिये ॥६–७॥ भगवान् वीतराग अरहन्त देव अत्यन्त निर्दोष है तथापि अज्ञानी लोग कृष्ण, ब्रह्मा आदि सदोप देवोकी पूजा करते है, कोई कोई वुद्धिहीन तो पशुओकी भी पूजा करते है। इस प्रकार विना किसी परीक्षाके वे लोग पुण्य करनेके लिये प्रतिदिन मूढ भावोको प्राप्त होते रहते हैं इसीको विद्वान् लोग देवमूढता कहते है ॥८–९॥ जैन शास्त्रोमे, जैन सिद्धान्त सूत्रोमे भगवान् जिनेन्द्रदेवने धर्मका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है तथापि पाँचो प्रकारके मिथ्यात्वमे लगे हुए अज्ञानी जीव वेद आदिमे कहे हुए धर्मको ही मानते हैं। वे लोग श्रेष्ठ विचारोको छोडकर वेदादिके कहे अनुसार चलते है इसीको वुद्धिमान् लोग शास्त्रमूढता वा समयमूढता कहते है ॥१०–११॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय वतलाया है, परन्तु अज्ञानी लोग उसपर विचार न कर स्नान श्राद्ध आदि लोकाचारको ही धर्म

आचर्यते शठैर्लोके परित्यक्त्वा विचारणम् । प्ररूपितं जिनैस्तद्धि लोकमूढत्वमेव भो ॥१३
परीक्षालोचनैस्त्वं सज्जैनं धर्मं परीक्ष्य स । मिथ्यात्वं च समादाय त्यज मूढत्रयं सुकृत् ॥१४
मूढभावेन यो मूढो धर्मं गृह्णाति लोकजम् । पुण्याय स विषं भुङ्क्ते सुखाय प्राणनाशनम् ॥१५
सज्जातिसत्कुलैश्वर्यरूपज्ञानतपःप्रजम् । वलशिल्पभवं मित्र त्यज त्वं मदमञ्जसा ॥१६
सन्मातृपक्षसञ्जातं कुटुम्बादिकदम्बकम् । विनश्वरं परिज्ञाय जात्याख्यं त्वं मदं त्यज ॥१७
सदम्बाना त्वया मित्र पीतं दुग्धं भवार्णवे । भिन्नभिन्नविजातीनामधिकं सागराम्बुधेः ॥१८
पितृपक्षसमुद्भूतं चलं दर्भाग्रविन्दुवत् । ज्ञात्वा स्वं स्वजन दक्ष. कुलनाममदं त्यजेत् ॥१९
धनधान्यादिकं गेहं सर्वं राज्यादिकं बुधै । अग्न्यादिभिश्चलं मत्वा चैश्वर्याख्य मदं त्यजेत् ॥२०
शरीरं सुन्दराकारमनित्य वस्त्रशोभितम् । जराव्याध्यग्निभिर्दग्धं रूपाख्य त्व मद त्यज ॥२१
किञ्चिद्ज्ञानं परिज्ञाय मदो न क्रियते बुधैः । अपेक्षया हि पूर्वस्य अतो न ज्ञायते लवः ॥२२
तपसा संभवो दक्षैर्मदो न क्रियते मनाक् । तपश्चापेक्षया पूर्वमुने. कर्तुं न शक्यते ॥२३
संप्राप्य सवलं देहं गर्वं त्याज्यं विवेकिभि । पुष्टमन्नादिभिस्तद्धि यतो याति क्षय क्षणात् ॥२४

मान लेते हैं इसीको श्रीजिनेन्द्रदेव लोकमूढता कहते हैं ॥१२-१३॥ हे वत्स ! तू परीक्षारूपी नेत्रोसे देखकर मिथ्यात्वको छोडकर जैन धर्मको स्वीकार कर और तीनो मूढताओका त्याग कर ॥१४॥ जो मूर्ख इन तीनो मूढताओको स्वीकार करता है वह जीवित रहनेके लिये विप खाता है अथवा सुखी रहनेके लिये अपने प्राणोका घात करता है ॥१५॥

सज्जाति, सत्कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, वल और शिल्प आदि विद्या—इन आठोंके आश्रय मद करना आठ मद कहलाते हैं। हे मित्र ! तू इनको शीघ्र ही छोड ॥१६॥ मातृपक्षमे उत्पन्न हुए कुटुम्ब समूहको जाति कहते हैं। संसारके सव कुटुम्बादिक नश्वर हैं—नाश होनेवाले हैं यही समझकर हे शिष्य ! तू इस जातिके मदको छोड़ ॥१७॥ हे मित्र ! इस ससारसागरमे परिभ्रमण करते हुए तूने भिन्न-भिन्न सव जातियोकी माताओका अलग अलग इतना दूध पिया है कि जो एक एक जातिका इकट्ठा किया जाय तो वह महासागरसे भी अधिक हो जाय। फिर भला उसका अभिमान करना कैसा ? ॥१८॥ पिताके पक्षमे उत्पन्न हुए कुटुम्बको कुल कहते हैं। ये स्वजन परिजन भी दाभकी नोकपर पडी हुई जलकी बूँदके समान चचल हैं, शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं यही समझकर कुलका अभिमान कभी नही करना चाहिये ॥१९॥ धन धान्य घर राज्य आदि भी अग्नि चोर आदिके द्वारा नष्ट होता हैं किसीकी सम्पदा सदा नही वनी रहती, यही समझ कर ऐश्वर्यका मद छोड देना चाहिये ॥२०॥ यह शरीर सुन्दर होनेपर भी अनित्य है, किसी न किसी दिन अवश्य नष्ट होगा, यह केवल वस्त्रोसे ढका हुआ ही अच्छा दिखता है, वास्तवमे वुढापा रोग आदि अनेक व्याधियोंसे घिरा हुआ है यही समझकर वुद्धिमानोको रूपका अभिमान छोड देना चाहिये ॥२१॥ वुद्धिमानोको थोडा-सा ज्ञान पाकर कभी अभिमान नही करना चाहिये क्योकि यदि पहिलेके ज्ञानियोकी तुलना की जाय तो उनके सामने अवका ज्ञान एक अश मात्र भी नही है ॥२२॥ इसी प्रकार चतुर पुरुषोको तपश्चरणका अभिमान भी नही करना चाहिये। क्योकि पहिलेके मुनि जो तपश्चरण करते थे उसका तो एक अश भी इस समय नही किया जा सकता ॥२३॥ चतुर पुरुषोको वलवान शरीर पाकर भी उसका अभिमान छोड देना चाहिये। क्योकि यह शरीर केवल अन्नादिकसे पुष्ट होता है और क्षणभरमे नष्ट हो जाता है ॥२४॥ इसी प्रकार सुन्दर लेख

शिल्पिगर्वं न कर्तव्यं सुलेखादि-समुद्भवम् । विचित्र दर्शनायैव त्वया वत्साशुभप्रदम् ॥२५
सन्मार्दव समादाय दुःखदुर्गतिकारणम् । मदाष्टकं त्यजेद्धीमान् दर्शनज्ञानप्राप्तये ॥२६
अहंकारं हि यः कुर्यादष्टभेदं कुदु खदम् । विनाश्य दर्शन सोऽपि नीचो नीचगतिं व्रजेत् ॥२७
मिथ्यादर्शनकुज्ञानकुचारित्रत्रयात्मकः । तद्युक्तपुरुषाश्चैव षडनायतनं भवेत् ॥२८
कुदेवकुगुरौ मूढै. कुधर्मे पापदु खदे । निश्चय क्रियते योऽत्र तन्मिथ्यादर्शनं मतम् ॥२९
प्रणीत वेदशास्त्रादौ स्मृत्यादौ वा कुदृष्टिभिः । श्रुतं पापकरं दक्षैस्तन्मिथ्याज्ञानमुच्यते ॥३०
पञ्चाग्निसाधने योऽपि कायक्लेशो विधीयते । कुत्सिततपसा मूढैस्तन्मिथ्याचरणं भवेत् ॥३१
मिथ्यासम्यक्त्वयुक्तो यो न शक्त सुविचारके । जैनधर्मबहिर्भूतो मिथ्यादृष्टिर्बुधैर्मत ॥३२
जनो वेदादियुक्तो य कुशास्त्रादिसमन्वित. । त्यक्तसिद्धान्तसारश्च मिथ्याज्ञानी स कीर्तित ॥३३
पञ्चाग्निसाधवो मिथ्यातपसादिकृतोद्यम । य शठः सोऽत्र सप्रोक्त कुतपस्वी मुनीश्वरैः ॥३४
षडनायतनं ज्ञेयं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । अघाकर बुधैर्निन्द्य दर्शनस्य विनाशनम् ॥३५
सम्यक्त्वं त्वं परिज्ञाय त्यज भेद विदूरत । शत्रुवत्षड्विधं मित्र दु.खदावमहेन्धनम् ॥३६
निशङ्कितादयो ये ते प्रोक्ता अष्टौ गुणा शुभा । विपरीताश्च विज्ञेया दोषा शङ्कादयो बुधै ॥३७

आदि कलाकौशलोका अभिमान भी नही करना चाहिये, क्योकि इस विचित्र सम्यग्दर्शनके लिये उसका अभिमान भी अशुभ ही है ॥२५॥ हे वुद्धिमान् ! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ मार्दव धर्मको स्वीकार कर अनेक दु ख और दुर्गतियोके देनेवाले इन आठो मदोका त्याग कर देना चाहिये ॥२६॥ जो नीच अनेक प्रकारके वुरे दु ख देनेवाले ऊपर लिखे आठो मदोको करता है, इनका अभिमान करता है वह सम्यग्दर्शनको नष्टकर नीच गतिको प्राप्त होता है ॥२७॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी तथा मिथ्या-चारित्रको धारण करनेवाला ये छह षट् अनायतन कहलाते हैं ॥२८॥ अज्ञानी जीवोके द्वारा जो पाप और दु ख देनेवाले कुदेव कुगुरु और कुधर्ममे विश्वास किया जाता है वह मिथ्यादर्शन कहलाता हे ॥२९॥ मिथ्यादृष्टि जीव जो वेदशास्त्र वा स्मृतिशास्त्र आदिका पठन-पाठन करते है और उनके द्वारा पापोको उत्पन्न करनेवाला ज्ञान वढाते हैं चतुर पुरुष उसको मिथ्याज्ञान कहते हैं ॥३०॥ अज्ञानी जीव पचाग्नि तपके द्वारा अथवा और भी कुतपोके द्वारा जो कायक्लेश करते हैं उसे मिथ्याचारित्र कहते है ॥३१॥ जो मिथ्यादर्शन सहित है, श्रेष्ठ तत्त्वोपर अथवा सम्यग्दशनपर जो कभी विचार नही करता और जो जैनधर्मसे बहिर्भूत है उसे विद्वान् लोग मिथ्यादृष्टी कहते हैं ॥३२॥ जो मनुष्य वेदादि कुशास्त्रोका पठन-पाठन करता है और जिसने सिद्धान्तशास्त्रोको सर्वथा छोड दिया है वह मिथ्याज्ञानी कहलाता है ॥३३॥ जो मनुष्य पचाग्नि तप तपता है अथवा और भी तपोमे उद्यम करता है उसको मुनीश्वर लोग कुतपसी कहते है ॥३४॥ ये ऊपर लिखे हुए छह (मिथ्यादर्शन, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और कुतपसी) अनायतन (जो धर्मके आयतन वा स्थान नही, किन्तु अधर्मके स्थान) कहलाते है। ये छहो अनायतन नरक और तिर्यंच गतिके दुख देनेवाले हैं, अनेक पापोको उत्पन्न करनेवाले है, निंद्य है और सम्यग्दर्शन-को नाश करनेवाले है ॥३५॥ हे मित्र ! ये छहो अनायतन शत्रुके समान दु ख देनेवाले है और दु ख रूपी दावानलके लिये महा ईंधनके समान है इसलिये इनको अच्छी तरह जानकर दूरसे ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥३६॥ पहिले जो नि शकित आदि सम्यग्दर्शनके आठ गुण कहे थे उन्हीके

सर्वान् पिण्डीकृतान् दोषान् पापदान् पञ्चविंशति. । सम्यक्त्वस्य त्यज त्वं हि दर्शनस्य विशुद्धये ॥३८
आदर्शे मलिने यद्वत्सन्मुखं नैवं दृश्यते । तथाऽशुद्धे च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीवदनं बुधै ॥३९
यथा च मलिने चित्ते ध्यानं कर्तुं न शक्यते । कर्मारातिं तथा हन्तुं सम्यक्त्वे समले जनै ॥४०
निर्मले दर्पणे यद्वल्लोक्यते वदनं नरै । तद्वद्दक्षैश्च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥४१
इन्द्रश्रीजिनदेवादिलक्ष्मीर्नॄणोपजायते । मुनीनां दर्शनेनैव विना ज्ञानव्रतादिभि ॥४२
अधिष्ठानं भवेन्मूलं हर्म्यादीनां यथा तथा । तपोज्ञानव्रतादीनां दर्शनं कथितं जिनै ॥४३
दर्शनेन विना ज्ञानमज्ञानं कथ्यते बुधै । चारित्रं च कुचारित्रं व्रतं पुंसां निरर्थकम् ॥४४
वरं सम्यक्त्वमेकं च व्रतज्ञानतपश्च्युतम् । न पुन. सद्व्रतं ज्ञानं मिथ्यात्वविषदूषितम् ॥४५
सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशय । धर्माधर्मं न जानाति जात्यन्ध इव भास्करम् ॥४६
सम्यक्त्वेन समं वासो वरं श्वभ्रेऽतिदु खगे । राजते देवलोके न तद्विना देहिनां क्वचित् ॥४७
श्वभ्रान्निर्गत्य जीवोऽयं तीर्थनाथो भवेद् ध्रुवम् । सारसम्यक्त्वमाहात्म्याल्लोकालोकप्रकाशक ॥४८
सम्यक्त्वेन विना स्वर्गात्स्थावरेषु प्रजायते । आर्तध्यानं विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद्भोगतत्पर ॥४९
सम्यक्त्वसदृशो धर्मो न भूतो न भविष्यति । नास्ति कालत्रये लोकत्रितये निश्चितं सदा ॥५०

उलटे शंका आदिक आठ दोष कहलाते है ॥३७॥ हे वत्स ! अनेक पापोको उत्पन्न करनेवाले ये सम्यग्दर्शनके सब दोष मिलकर पच्चीस होते है । सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये तू इन पच्चीसो दोषोका त्याग कर ॥३८॥ जिस प्रकार मलिन दर्पणमे अपना मुख अच्छा दिखाई नही दे सकता उसी प्रकार अशुद्ध (दोष सहित) सम्यग्दर्शनमे विद्वान् लोगोको भी मुक्तिलक्ष्मीका मुख दिखाई नही दे सकता ॥३९॥ जिस प्रकार हृदयके मलिन होनेपर ध्यान नही किया जा सकता उसी प्रकार सदोष सम्यग्दर्शनसे कर्मरूप शत्रु कभी नष्ट नही किये जा सकते ॥४०॥ जिस प्रकार निर्मल दर्पणमे ही मुख दिखाई देता है उसी प्रकार चतुर मनुष्योको निर्मल सम्यग्दर्शनमे ही मुक्ति लक्ष्मीका मुखरूपी कमल दिखाई देता है ॥४१॥ मुनियोको विना ज्ञान और विना व्रतादिकोके केवल सम्यग्दर्शनसे ही इन्द्रकी विभूति तथा तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त हो जाती है ॥४२॥ जिस प्रकार मकानका आधार उसकी जड (नीव) है उसी प्रकार तप, ज्ञान, व्रत आदि सबका आधार सम्यग्दर्शन है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४३॥ विद्वान् लोग विना सम्यग्दर्शनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते है, चारित्रको कुचारित्र कहते हैं और मनुष्योके सब व्रतोको निरर्थक बतलाते हैं ॥४४॥ विना व्रत, तप, ज्ञान और श्रुतके अकेला सम्यग्दर्शन तो अच्छा, परन्तु विना सम्यग्दर्शन-के व्रत तप ज्ञान और श्रुत अच्छे नही, क्योकि विना सम्यग्दर्शनके अकेले तप व्रत ज्ञान श्रुत आदि मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित हो जाते हैं ॥४५॥ इसमे कोई सन्देह नही कि विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी सर्वथा पशु ही है क्योकि जिस प्रकार जन्मका अन्धा पुरुष सूर्यको नही जानता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी धर्म अधर्मको भी नही जान सकता है ॥४६॥ यदि सम्यग्दर्शनके साथ साथ अत्यन्त दु ख देनेवाले नरकमे भी निवास करना पडे तो भी अच्छा परन्तु विना सम्यग्दर्शनके स्वर्गलोकमे शोभायमान होना भी अच्छा नही ॥४७॥ क्योकि इस सारभूत सम्यग्-दर्शनके माहात्म्यसे यह प्राणी नरकसे निकलकर लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला तीर्थंकर होता है, परन्तु विना सम्यग्दर्शनके भोगोमे तत्पर रहनेवाला स्वर्गका देव भी आर्तध्यानमे लीन होकर स्थावर जीवोमे आ उत्पन्न होता है ॥४८–४९॥ सदा कालसे यह निश्चित चला आ रहा है कि तीनो काल और तीनो लोकोमे सम्यग्दर्शनके समान कल्याण करनेवाला धर्म आज तक न

सम्यक्त्वान्नापर मित्रं न धर्मः सार एव च । हितं न पितृमात्रादिकुटुम्बं न सुखं न च ॥५१
सम्यक्त्वालंकृत पूज्यो मातङ्गोऽपि सुरैर्भवेत् । सम्यक्त्वेन विना साधुर्निन्दनीय पदे पदे ॥५२
गृहीत्वा दर्शन येऽपि त्यजन्ति घटिकाद्वयम् । कियत्काले न ते मुक्ति यास्यन्त्यत्र न सशय ॥५३
सम्यक्त्वं यस्य भव्यस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत् । कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामगव्यनुगामिनी ॥५४
प्राप्तं जन्मफल तेन सम्यक्त्वं येन स्वीकृतम् । निधानमिव लोकेऽस्मिन् भव्यजीवेन सौख्यदम् ॥५५
एकाकी त्यक्तहिंस स वनस्थो दर्शनं विना । शीतोष्णादिसहो नित्यं तरुवन्नैव सिद्धयति ॥५६
सम्यक्त्वेन समं किञ्चित्पुण्यं यत् क्रियते जनैः । तत्सर्वं मुक्तिबीजं स्याद्दानपूजाव्रतादिजम् ॥५७
सम्यक्त्वेन विना किंचित्पुण्यं यत्क्रियते जनैः । तत्सर्वं विफलं च स्याद्दानपूजाव्रतादिकम् ॥५८
दृष्टिहीन पुमान् किंचिद्व्रतदानादिकं सकृत् । कृत्वा लब्ध्वा च भोगं हि भवारण्ये भ्रमेत्पुनः ॥५९
सम्यक्त्वस्य बलाज्जीवा निघ्नन्ति कर्म यत्पुन । तद्विना न तदाघोरैस्तपस्तीव्रैर्मुनीशिन ॥६०
वरं गार्हस्थ्यमेवाहं सम्यक्त्वादिविभूषितम् । व्रतदानादिसंपूर्णं भाविनिर्वाणकारणम् ॥६१
जिनरूपं सुरै. पूज्यं सर्वसंगविवर्जितम् । मुनीना व्रतसंयुक्तं तद्विना नैव शस्यते ॥६२

हुआ, न अब है और न आगे होगा ॥५०॥ सम्यग्दर्शनके समान न कोई मित्र है, न धर्म है, न सार पदार्थ है, न हितकारक है, न कुटुम्ब है, न सुख है ॥५१॥ इस सम्यग्दर्शनसे सुशोभित चाडाल भी देवके समान है और विना सम्यग्दर्शनके साधु भी स्थान स्थान पर निन्दनीय गिना जाता है ॥५२॥ जो जीव सम्यग्दर्शनको पाकर दो घडीके लिये भी छोड देते है वे कितने ही काल तक तो मोक्ष जानेसे रुक ही जाते हैं इसमे कोई सन्देह नही ॥५३॥ जिस भव्यके पास सम्यग्दर्शन है उसके हाथमे चिन्तामणि रत्न समझना चाहिये तथा उसके घरमे कल्पवृक्ष समझना चाहिये और कामधेनु उसके पीछे पीछे चलनेवाली समझना चाहिये ॥५४॥ यह सम्यग्दर्शन इस ससारमे एक निधिके समान है और अत्यन्त सुख देनेवाला है इसलिये जिस भव्य जीवने इसको प्राप्त कर लिया उसने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥५५॥ यदि सम्यग्दर्शन न हो तो साधु होकर भी यह मनुष्य वृक्षके समान ही समझना चाहिये क्योकि जिस प्रकार वृक्ष अकेला रहता है उसी प्रकार वह साधु भी अकेला रहता है। वृक्ष हिंसा नही करता, वह साधु भी हिंसा नही करता, वृक्ष भी वनमे रहता है, साधु भी वनमे रहता है और वृक्ष भी शीत, उष्ण आदिकी बाधाएँ सहता है, साधु भी शीत उष्ण आदिकी बाधाएँ सहता है इसलिये जिस प्रकार वृक्षको मोक्ष प्राप्त नही होती उसी प्रकार सम्यग्-दर्शन रहित साधुको भी मोक्ष प्राप्त नही होती ॥५६॥ सम्यक्त्वके साथ यदि मनुष्य यत्-किंचित् भी पुण्य करते हैं तो वह दान-पूजा व्रत आदिसे उत्पन्न हुआ पुण्य मुक्तिका बीज होता है ॥५७॥ सम्यग्दर्शनके विना यह मनुष्य दान पूजा व्रत आदि जो कुछ पुण्यकर्म करता है वह सब व्यर्थ हो जाता है ॥५८॥ विना सम्यग्दर्शनके यह मनुष्य एकादिबार व्रत दान आदि करता है परन्तु उसके फलस्वरूप थोडेसे भोग पाकर फिर वह सदा इस ससाररूपी वनमें परिभ्रमण किया करता है ॥५९॥ इस सम्यग्दर्शनके बलसे मुनिराज जिन कर्मोंको क्षणभरमे नष्ट कर देते है उनको विना सम्यग्दर्शनके घोर और तीव्र तपश्चरण करनेपर भी मुनिजन कभी नष्ट नही कर सकते ॥६०॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाला गृहस्थधर्म ही अच्छा, क्योकि सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थधर्म व्रत दान आदि शुभ कार्योंसे परिपूर्ण होता है और भावि मोक्षका कारण होता है ॥६१॥ सब प्रकारके परिग्रहोसे रहित और व्रतोसे सुशोभित ऐसा मुनियोका अरहतोके समान निर्ग्र थ रूप यद्यपि देवोके

ये भ्रष्टा दर्शनाच्च ते च भ्रष्टा लोकत्रये मता । नैव यास्यन्ति निर्वाणं कदाकालेपि तद्विना ॥६३
सम्यक्त्वालंकृता जीवा चारित्रादिपरिच्युता । कदाचित्संयमं प्राप्य ये ते गच्छन्ति निर्वृतिम् ॥६४
नेत्रहीना यथा जीवा रूप जानन्ति नैव च । दृष्टिहीनास्तथा ज्ञेया देवधर्मं गुणागुणम् ॥६५
त्यक्तप्राण यथा देहं मृतकं कथ्यते जनैः । दृष्टिहीनो नरस्तद्वच्चलन् मृतक उच्यते ॥६६
नमस्कारादिकं ज्ञानं सम्यक्त्वेन सम हि य । जानाति सोऽपि संज्ञानी प्रोक्त. श्रीगौतमादिभिः ॥६७
एकादशाङ्गयुक्तोऽपि यो मुनि सोऽपि तद्विना । अज्ञानी कीर्तित. सद्भिरभव्यसेनवत्सदा ॥६८
ज्ञानचारित्रयोर्बीज दर्शनं मुक्तिसौख्यदम् । अनर्घ्यमुपमात्यक्तं गृहाण त्व सुखाय तत् ॥६९
धन्यास्ते भुवने पूज्या वन्द्या शस्या बुधोत्तमै. । दृष्टिरत्नं स्वस्वप्नेऽपि मलपार्श्वे कृत न यैः ॥७०
सम्यग्दृष्टि स्फुटं नीचकुल नीचगतिं च ना । त्यक्त्वा सुदेवमानुष्य लब्ध्वा मुक्तिवरो भवेत् ॥७१
दृष्टियुक्तो नर स्वामिन् या गतिं यत्कुल न च । याति तत्सर्वमेवाहं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥७२
एकाग्रचेतसा मित्र शृणु त्व कथयाम्यहम् । माहात्म्यं दर्शनस्यैव सारसौख्याकरस्य भो ॥७३
सम्यग्दर्शनसंशुद्धा ये बुधा यान्ति न क्वचित् । श्वभ्रं तिर्यग्गति स्त्रीत्वं क्लीवत्व कुकुलं च ते ॥७४
बधिरत्व च खञ्जत्वं वामनत्व च मूकताम् । अन्धत्व विकलाङ्गत्वमल्पायुस्त्वं दरिद्रताम् ॥७५

द्वारा पूज्य होता है, तथापि विना सम्यग्दर्शनके वह प्रशसनीय नही गिना जाता ॥६२॥ जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वे तीनो लोकोंमे भ्रष्ट हैं क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके वे किसी समयमें भी मोक्ष प्राप्त नही कर सकते ॥६३॥ परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और चारित्र आदिसे रहित हैं वे किसी समय भी सयमको पाकर अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६४॥ जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य रूपको नही जान सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-रहित जीव भी न देवको जान सकता है, न धर्म अधर्मको जानता है और न गुण अवगुणोको जान सकता है ॥६५॥ जिस प्रकार प्राणरहित शरीरको लोग मृतक कहते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-रहित मनुष्य चलता फिरता हुआ जीवित होकर भी मृतक कहलाता है ॥६६॥ सम्यग्दर्शनके साथ साथ केवल नमस्कार मन्त्र आदिका ज्ञान होनेपर वह जीव सम्यग्ज्ञानी कहलाता है ऐसा श्री गौतम आदि गणधरोने कहा है ॥६७॥ परन्तु ग्यारह अगोको जाननेवाला मुनि भी विना सम्यग्दर्शनके अभव्यसेन मुनिके समान चतुर पुरुषोके द्वारा सदा अज्ञानी कहलाता है ॥६८॥ हे भव्य जीव, यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका वीज वा कारण है, मोक्षके सुख देनेवाला है, अमूल्य है और उपमा-रहित है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इसे अवश्य धारण करना चाहिये ॥६९॥ जिन्होने सम्यग्दर्शनको पाकर स्वप्नमे भी उसे मल-दोषके समीप नही रखा है वे ही मनुष्य ससारमे धन्य हैं, पूज्य है, वदनीय है, प्रशसनीय हैं और वे ही विद्वानोमे सर्वोत्तम विद्वान् हैं ॥७०॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव नीच कुल और नीच गतिको छोडकर श्रेष्ठ देव मनुष्य होकर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी ही होता है ॥७१॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! सम्यग्दृष्टी पुरुष किस किस नीच गतिको और किस किस नीच कुलको प्राप्त नही होता, सो मैं आपसे सुनना चाहता हूँ ॥७२॥ उत्तर—हे मित्र ! चित्त लगाकर सुन, मैं अब सारभूत सुखकी खानि ऐसे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा कहता हूँ ॥७३॥ जो विद्वान् शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं वे चाहे व्रत धारण न भी करे तो भी वे नरकगति और तिर्यंच गतिमे उत्पन्न नही होते, स्त्री-पर्याय तथा नपुसक-पर्यायको धारण नही करते, खोटे कुलमे उत्पन्न नही होते, वहिरे, गजे, गूँगे, बौने, अन्धे नही होते, दरिद्री नही होते, उनकी आयु थोडी नही होती,

महाशोकभयत्वं च दुर्भगत्वं च निन्दिताम् । दासत्वं खलु मूर्खत्वं व्रतादिरहिता अपि ॥७६
उद्यमादिगुणोपेतास्तेजोविज्ञानपारगा. । वज्रसहननना दक्षा. महावीर्या महाशयाः ॥७७
यशोयुक्ता महीनाथा धनधान्यादिसंयुताः । निर्जितारिसहावर्गा धर्मार्थकामसाधकाः ॥७८
अनेकमहिमायुक्ता दृष्टिरत्नविराजिता । सर्वेन्द्रियसुखाब्धेश्च मध्यगा धर्मसंयुता ॥७९
अमुत्र सारसम्यक्त्वजातपुण्यफलाद् ध्रुवम् । मनुजत्वे च जायन्ते खगादिनृपसेवितम् ॥८०
षडङ्गबलसंपाद्यं चैकछत्र सुरार्चितम् । लभन्ते चक्रिवर्तितव प्राणिनो दर्शनान्विताः[1] ॥८१
पञ्चकल्याणकोपेतां शक्रादिसुरवन्दिताम् । त्रैलोक्यक्षोभिका सारा धर्मचक्रविभूषिताम् ॥८२
अनन्तमहिमायुक्ता दर्शनाढ्याः सुखाकराम् । तीर्थंकरविभूति च प्राप्नुवन्ति बुधोत्तमाः ॥८३
ज्योतिष्क व्यन्तरत्वं च कुदेवता सर्वा स्त्रियम् । भावनत्वं न गच्छन्ति वाहनत्व सुदृष्टय ॥८४
ऋद्धयष्टकसमायुक्ता ज्ञानत्रितयलोचना । दिव्यदेहधरा धीरा सर्वाभरणशोभिताः ॥८५
मानसाहारसंतृप्ता रोगक्लेशादिवर्जिता । दिव्यमालाम्बरोपेता निष्कम्पा मेरुवत्सदा ॥८६

उनका शरीर विकृत नही होता, उन्हे कभी शोक वा भय नही होता, वे कुरूप नही होते, निंदनीय नही होते, दास नही होते, दुष्ट नही होते और मूर्ख नही होते ॥७४-७६॥ जिन जीवोके पास यह सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न विराजमान है वे जीव उद्यम आदि अनेक गुणोसे सुशोभित होते हैं, तेजस्वी और स्वज्ञान विज्ञानके पारगामी होते हैं, व वज्रसहनन (वज्रवृषभनाराच) वाले होते है, चतुर होते है, बडे बलवान् और बडे उदार होते है, वे यशस्वी होते हैं, अनेक लोगोके स्वामी होते हैं, धन धान्य आदि विभूतियोसे परिपूर्ण होते हैं, समस्त शत्रुओको वश करनेवाले, चारो पुरुषार्थो-को उत्तम रीतिसे प्राप्त करनेवाले और धर्म, अर्थ, कामको सिद्ध करनेवाले होते है। ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव अनेक प्रकारकी महिमासे सुशोभित होते है, वे समस्त इन्द्रियोके सुखरूपी महासागरमे डूबे रहते हैं और बडे धर्मात्मा होते है ॥७७-७९॥ इस सारभूत सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसके फलसे यह जीव यदि परलोकमे मनुष्य भवमे जन्म लेगा तो बडे कुलमे जन्म लेगा ॥८०॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है जिसमे चौदह महारत्न प्राप्त होते है, छह खण्ड पृथ्वीका राज्य प्राप्त होता है, सारभृत नौ निधिया प्राप्त होती हैं, विद्याधर आदि अनेक राजा उसकी सेवा करते है, सेना आदि छह प्रकारका बल प्राप्त होता है, समस्त पृथ्वीके स्वामीपनेको सूचित करनेवाला एक छत्र उसके मस्तकपर फिरा करता है और देव लोग भी उसकी पूजा किया करते है ॥८१॥ इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले परम सुखी उत्तम विद्वान् मनुष्योको तीर्थकरकी परम विभूति प्राप्त होती है, जिसमे पच कल्याणक प्राप्त होते हैं, इन्द्रादि सब देव उन्हे वदना करते हैं, तीनो लोकोमे क्षोभ हो जाता है, धर्मचक्र उनकी अलग ही शोभा बढाता है और उन्हे अनन्त महिमा प्राप्त होती है ॥८२-८३॥ सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोमे उत्पन्न नही होता, तथा कल्पवासियो-मे भी किल्विषक, आभियोग आदि नीच देव कभी नही होता ॥८४॥ जीवादिक पदार्थोमे यथार्थ श्रद्धा रखनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष स्वर्गोमे भी इन्द्र होते है वहाँ पर उन्हे अणिमा महिमा आदि आठो ऋद्धियाँ प्राप्त होती है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तीनो ज्ञान प्राप्त होते हैं, उनका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है, वे धीरवीर होते हैं, समस्त आभरणोसे सुशोभित होते हैं, केवल

१ 'नरा मेते महाकुले' व पाठ ।

सुगन्धीकृतदिग्भागनि श्वासा चारुलक्षणाः । धातुनेत्रपरिस्पन्दत्यक्तरूपा शुभाशया ॥८७
नखकेशादिसंहीना दिव्यस्त्रीभोगसंगता. । सर्वामरैर्नुता नित्यं स्थिता देवसभादिषु ॥८८
गीतनृत्यादिसंसक्ताः सौख्यसागरमध्यगाः । इन्द्रा भवन्ति ते स्वर्गे ये तत्त्वरुचयो नरा. ॥८९
किमत्र वहुनोक्तेन सम्यक्त्वाद्यत्सुखं वरम् । देवलोकेऽनृलोके च तत्सर्वं देहिना भवेत् ॥९०
एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् । एतन्मोक्षतरोर्वीजं सम्यक्त्वं विद्धि तत्त्वत ॥९१
केचित्सद्दृष्टयो भव्या. स्वर्गं गत्वा सुखाकरम् । मनुष्यत्वं पुनः प्राप्य निर्वृतिं यान्ति संयमात् ॥९२
केचिच्छ्रीजिनभक्तया हि भोगान् भुक्त्वा नृदेवजान् । सप्ताष्टभवपर्यन्तं पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥९३
त्यक्त्वा देवगतिं सारां नृगतिं च सुखाकराम् । अन्या गतिर्भवेन्नैव सम्यग्दृष्टिनृणा भुवि ॥९४
अतिचारविनिर्मुक्तं यो धत्ते दर्शनं सुधीः । तस्य मुक्ति समायाति नाकसौख्यस्य का कथा ॥९५
प्रभो सर्वानतीचारान् दयां कृत्वा निरूपय । तेषां त्यागान्ममाद्यैव सम्यक्त्वं निर्मलं भवेत् ॥९६
स्वचित्त सन्निधायोच्चै. स्ववशे श्रावक शृणु । अतीचारान् प्रवक्ष्येऽहं तत्त्यागाय विरूपकान् ॥९७
शङ्का काङ्क्षा भवेत्पापा विचिकित्सा तथा परा । अन्यदृष्टिप्रशंसा च संस्तवो हि कुलिङ्गिनाम् ॥९८
तीर्थेशे सद्गुरौ शास्त्रे सप्ततत्त्वे वृषे च य. । शङ्कां करोति यो मूढः शङ्कादोष लभेत सः ॥९९

मानसिक अमृताहारसे सदा तृप्त रहते हैं, रोग क्लेश आदि दु खोसे सदा रहित होते है, दिव्य वस्त्रोंसे सदा सुसज्जित रहते हैं और मेरुपर्वतके समान सदा निष्कप अचल रहते हैं। वे इन्द्र अपने उच्छ्वाससे समस्त दिशाओको सुगन्धित करते रहते हैं, उनके शरीरपर सुन्दर लक्षण रहते हैं, उनका शरीर धातु उपधातुओंसे रहित होता है, उनके नेत्रोकी टिमकार नही लगती, वे वड़े रूपवान और शुभ हृदयके होते हैं। उनके नख केश नही वढते, दिव्य स्त्रियोंके भोगोमे सदा सुखी रहते हैं, सव देव उनको नमस्कार करते हैं इस प्रकार वे देवोकी सभामे विराजमान होकर आनन्द किया करते है, गीत नृत्य आदि सुख देनेवाले कार्योमे आसक्त रहते हैं और सुख-सागरमे सदा डूवे रहते हैं ॥८५–८९॥ हे मित्र ! वहुत कहनेसे क्या लाभ है थोड़ेसे मे इतना समझ लेना चाहिये कि स्वर्गलोकमे और मनुष्यलोकमे जो कुछ उत्तमसे उत्तम सुख हैं वे सव सम्यग्दृष्टी जीवोको ही प्राप्त होते हैं ॥९०॥ यह विधिपूर्वक ग्रहण किया हुआ सम्यग्दर्शन ही समस्त शास्त्रोका सर्वस्व है, यही सिद्धांतका जीवन है और यही मोक्षरूपी वृक्षका वीज है ॥९१॥ इस ससारमे कितने ही सम्यग्दृष्टी भव्य तो ऐसे हैं जो पहले सुख देनेवाले स्वर्गोमे देव होते हैं फिर वहाँसे आ मनुष्य होकर सयम धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तथा भगवान् जिनेन्द्रदेवके भक्त कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मनुष्य और देवोके सुख भोगकर सात आठ भवके वाद मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥९२-९३॥ इस संसारमे सम्यग्दृष्टी जीवोको सुख देनेवाली देवगति अथवा मनुष्यगतिको छोडकर और कोई गति नही होती है ॥९४॥ जो वुद्धिमान् इस सम्यग्दर्शनको अतिचार रहित पालन करता है उसके लिये मोक्ष अपने आप आ जाती है फिर भला उसके लिये स्वर्गके सुखोकी तो वात ही क्या है ॥९५॥ प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके उन सव अतीचारोका निरूपण कीजिये जिससे उनका त्याग कर देनेपर आज ही मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल हो जाय ! ॥९६॥ उत्तर—हे वत्स ! हे श्रावकोत्तम ! तू अपने चित्तको अपने वशमे करके सुन, अव मैं सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले अतिचारोको त्याग करनेके लिये कहता हूँ ॥९७॥ शका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशसा और अन्यदृष्टि संस्तव ये पाच सम्यग्दर्शनके अतिचार गिने जाते हैं ॥९८॥ जो अज्ञानी तीर्थंकरोंमे,

चरणादिवृषं कृत्वा भोगान् वाञ्छति योऽशुभान् । इहामुत्र भवे सोऽधीराकाङ्क्षादोषभाग्भवेत्॥१००
दृष्ट्वा मुनीश्वराङ्गं यो मललिप्त रुजान्वितम् । घृणा धत्ते भजेत्सोऽपि मल विचिकित्साभिधम् ॥१०१
कुदृष्टेः कुतपोज्ञानव्रतेषु य करोति ना । प्रशसा जायते तस्य सम्यक्त्वस्य मलेऽशुभे ॥१०२
करोति संस्तवं योऽधी कुज्ञानकुव्रतादिजम् । पाखण्डिनामतीचारं लभेत्तद्दर्शनस्य स. ॥१०३
पञ्चातिचारसत्यक्तं सम्यक्त्व शशिनिर्मलम् । ये भजन्ति नरास्तेषा किं नास्ति भुवनत्रये ॥१०४

स्वजनपरमुदारं त्यक्तदेहादिभारं निरुपममतिसारं प्राप्तसंसारपारम् ।
अरुजमजमशङ्क सर्ववाधादित्यक्त, भवति शिवसुखं वै दृष्टियोगान्मुनीनाम् ॥१०५
सकलसुखनिधानं स्वर्गमोक्षैकवीजं नरकगृहकपाटं कर्मनागैकसिंहम् ।
दुरितवनकुदावं सर्वसौख्यादिखानिं विगतनिखिलशङ्कं दर्शनं त्व भजस्व ॥१०६
कर्मपर्वतनिपातनवज्रं दु.खदावशमनैकसुमेघम् ।
मुक्तिसारसुखदं गुणगेह दर्शनं भज मित्र ! विमुक्त्यै ॥१०७
जिनवररुचिमूलस्तत्त्वसस्कंधपीठ सकलगुणपयोधिवर्द्धितो वृत्तशाख ।
अखिलसमितिपत्रपुष्पभारोऽवतान्न शिवसुखफलनम्रो दृष्टिसत्कल्पवृक्ष' ॥१०८

गुरुओमे, शास्त्रोमे, श्रेष्ठ तत्त्वोमे और अहिंसामय उत्तम धर्ममे शका करता है उसके शका नामका पहिला अतिचार लगता है ॥९९॥ जो वुद्धिहीन चारित्र पालन कर अथवा और भी कोई धर्मकार्य कर फिर उससे इस लोक सम्वन्धी अथवा परलोक सम्वन्धी भोगोकी इच्छा करता है वह आकाक्षा दोषका भागी होता है ॥१००॥ जो मुनियोके मलिन अथवा रोगी शरीरको देखकर घृणा करता है वह सम्यग्दर्शनके विचिकित्सा नामक दोषको प्राप्त होता है ॥१०१॥ मिथ्यादृष्टि, कुतपसी, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्या व्रतोको पालन करनेवालेकी जो प्रशसा करता है उन्हे मनमे अच्छा प्रशसनीय समझता है उसके सम्यग्दर्शनका अन्यदृष्टिप्रशसा नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥१०२॥ जो वुद्धिहीन, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्याचारित्रवालोकी वचनसे स्तुति करता है इसके अन्यदृष्टिसस्तव नामका सम्यग्दर्शनका पाँचवा अतिचार लगता है ॥१०३॥ जो मनुष्य इन पाचो अतिचारोका त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं उनके लिये इन तीनो लोकोमे ऐसा कौन सा पदार्थ है जो प्राप्त न हो सके अर्थात् उनके लिये इस ससारमे अलभ्य पदार्थ कोई नही है ॥१०४॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मुनियोको मोक्षका वह सुख प्राप्त होता है जो स्वजन परिजनोके सुखसे पारगत है, शरीरादिके दु खोसे रहित है, उपमा रहित है, सारभूत है, ससारसे पारगत है, ज्ञानावरणादि सव शत्रुओसे रहित है और सव तरहकी वाधाओसे दूर है ॥१०५॥ यह सम्यग्दर्शन समस्त सुखोका निधि है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको वन्द कर देनेके लिये किवाडोके समान है, कर्मरूपी हाथीके लिये सिंह है, पापरूपी वनके लिये कुल्हाडी है, समस्त सुखोकी खानि है और सव तरहकी शकाओसे रहित है। हे वत्स ! ऐसे इस सम्यग्दर्शनको तू धारण कर ॥१०६॥ हे मित्र ! यह सम्यग्दर्शन कर्मरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये वज्रके समान है, दु खरूपी दावानल अग्निको शान्त करनेके लिये मेघकी धाराके समान है, मोक्षके सारभूत सुखको देनेवाला है और अनेक गुणोका घर है अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इसे धारण कर ॥१०७॥ यह सम्यग्दर्शन मोक्ष-सुख देनेवाले एक सर्वोत्तम कल्पवृक्षके समान है। भगवान् जिनेन्द्रदेवमे श्रद्धा रखना ही इसकी जड है, जीवादिक तत्त्वोपर श्रद्धान रखना इसका

धन्यास्ते पुरुषोत्तमा सुकृतिनो लोकत्रये पूजिताः
सारासारविचारमार्गचतुरा. पापारिविध्वसका' ।
सार सर्वगुणैकगेहमसम सद्दृर्शनं ये श्रिता
भुक्त्वा सर्वसुखं नृदेवजनितं यात्येव मुक्त्यालयम् ॥१०९

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सम्यक्त्वमलमाहात्म्यवर्णना नामैकादशम परिच्छेद. ॥११॥



स्कन्ध वा पीड है, नि शकित आदि समस्त गुणरूपी जलके सीचनेसे यह बढता है, चारित्र ही इसकी शाखाएँ हैं, समस्त समितियाँ ही इसके पत्ते और फूल हैं उनके भारसे यह नम्र हो रहा है और मोक्ष-सुख ही इसका फल है। इस प्रकार यह सम्यग्दर्शनरूपी वृक्ष सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है ॥१०८॥ यह सम्यग्दर्शन सबमे सारभूत है, समस्त गुणोका घर है और उपमा रहित है, ऐसे इस सम्यग्दर्शन-को जिन्होने धारण कर लिया है इस ससारमे वे ही पुरुषोत्तम धन्य हैं, वे ही पुण्यवान है, वे ही तीनो लोकोमे पूज्य है, सार असारके विचार करनेमे वे ही सबसे अधिक चतुर हैं और वे ही पापरूप शत्रुओको सर्वथा नाश करनेवाले हैं। ऐसे मनुष्य, देव और मनुष्योके सर्वोत्तम सुखोका अनुभवकर अन्तमे अवश्य ही मोक्षमे जा विराजमान होते हैं ॥१०९॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे सम्यग्दर्शनके दोष और उसके माहात्म्यको वर्णन करनेवाला यह ग्यारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥११॥



बारहवाँ परिच्छेद

वासुपूज्यं जिनं वन्दे लोकत्रितयपूजितम् । पूजार्हं रागनिर्मुक्तं तद्गुणग्रामसिद्धये ॥१
व्याख्याय दर्शनं पूर्वं वक्ष्येऽहं प्रतिमा वराम् । भव्यलोकोपकाराय किलैकादश संख्यया ॥२
तासां मध्ये प्रवक्ष्यामि प्रथमां प्रतिमा वराम् । दर्शनाख्या ससम्यक्त्वामष्टमूलगुणान्विताम् ॥३
दर्शनेन समं यस्तु धत्ते मूलगुणाष्टकम् । जिनैर्दर्शनिकः प्रोक्त स पुमान् व्यसनोज्झित ॥४
स्वामिन् मूलगुणानद्य सर्वाणि व्यसनानि च । कथय त्वं ममाग्रेऽपि कृपा कृत्वा विशुद्धये ॥५
स्वचित्तं निर्मलीकृत्य ज्ञानवैराग्यवासितम् । शृणु तेऽह प्रवक्ष्यामि मित्र ! मूलगुणादिकम् ॥६
मद्यमांसमधून्नेव तथोदुंबरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता श्रीजिनैर्गृहमेधिनाम् ॥७
अनेकत्रससम्पूर्णं धर्मादिक्षयकारकम् । बुद्ध्यादिनाशक मद्यं त्याज्यं वृषजिघृक्षुभि. ॥८
पीतमद्यो बुधैर्निन्द्यः पथि श्वा पतितें मुखे । मूत्रं कृत्वापि लिह्याच्च यो धिक् तस्यास्तु जीवितम् ॥९
मद्यं पिबति योऽमुत्र मुखं तस्य विदार्य वै । क्षिपन्ति नारका श्वभ्रे तप्त ताम्रादिजं रसम् ॥१०
मद्यपानमत्यक्त्वा यो धर्ममिच्छति मूढधी. । विना स चरणेनैव मेरुमारोहितं च सः ॥११

जो तीनो लोकोमे पूज्य है, पूजाके योग्य है और राग-द्वेपसे सर्वथा रहित हैं ऐसे श्री वासुपूज्य भगवान्को मैं उनके गुणसमूह प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यहाँ तक सम्यग्दर्शनका व्याख्यान हो चुका है । अब भव्य जीवोका उपकार करनेके लिये ग्यारह प्रतिमाओका वर्णन करता हूँ ॥२॥ उन ग्यारह प्रतिमाओमे भी मै सबसे पहिले सर्वोत्तम दर्शनप्रतिमाको कहता हूँ । इस दर्शनप्रतिमामे सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोका पालन किया जाता है ॥३॥ जो सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोका पालन करता है और सातो व्यसनोका त्याग करता है उस पुरुषको श्री जिनेन्द्रदेव दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमावाला कहते है ॥४॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! आज आप कृपाकर मेरे लिये आठ मूलगुण और सातो व्यसनोका स्वरूप वर्णन करिये ॥५॥ उत्तर—हे मित्र ! तेरा हृदय ज्ञान और वैराग्यसे सुशोभित है इसलिये उसको और भी निर्मल बनाकर सुन । अब मै तेरे लिये आठो मूलगुणोको कहता हूँ ॥६॥ मद्य मास मधुका त्याग और पाँचो उदम्बरोका त्याग ही श्री जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोके आठ मूलगुण बतलाए है ॥७॥ हे मित्र ! यह मद्य अनेक त्रस जीवोसे भरा हुआ है, धर्म कर्म का नाशक है और बुद्धिको नष्ट करने वाला है इसलिये धर्मकी इच्छा रखनेवालोको इसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥८॥ जो मद्यपान करता है वह चतुर पुरुषोके द्वारा सदा निन्दनीय गिना जाता है, जिस समय वह मद्य पीकर बेहोश होकर मुख फाडकर पड जाता है तो उस समय कुत्ते भी उसके मुखमे मूत जाया करते हैं और वह उस मूतको बडे मजेसे चाटा करता है, हाय हाय ! ऐसे जीवनको धिक्कार है ॥९॥ जो जीव इस जन्ममे मद्य पीते हैं वे मरकर नरकमे पडते है और वहाँपर अन्य नारकी उनका मुख फाडकर जबर्दस्ती उनके मुखमे तपाया हुआ गला हुआ ताम्बेका पानी डालते हैं ॥१०॥ जो मूर्ख मद्यपानका त्याग किये विना ही धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढ़ना चाहते है ॥११॥ यह मद्यपान नरक निगोद आदि कुगतियोंको प्राप्त कराने

कुगतिकर्मसारं बुद्धिनिर्नाशकं वै, नरकगमनमार्गं पापदुःखादिमूलम् ।
विकलकर्मवित्त्वं धर्मवृक्षाग्निदावं, त्यज विषमिव धर्मप्राप्तये मद्यपानम् ॥१२

जीवहिंसादिसञ्जात निन्द्यं पापकरं शठैः । स्वीकृतं चास्पृशं लोके पलं त्याज्यं विवेकिभिः ॥१३
हत्वा यस्यामिषं योऽत्र प्रात्ति दुष्ट कृपा विना । चामुत्र तस्य लोके स वैरसस्कारयोगतः ॥१४
पलाशनं प्रकुर्वन्ति येऽधमा. स्वादुवञ्चिता । मज्जन्ति दु खसम्पूर्णे ते संसारमहार्णवे ॥१५
असक्ता आमिषं त्यक्तुं धर्मं वाञ्छन्ति ये शठा । नयनाभ्यां विना तेऽपि द्रष्टुमिच्छन्ति नाटकम् ॥१६

नरककर्मसारं पापवृक्षस्य कन्दं, कृमिकुलशतपूर्णं चास्पृशं नैव दृश्यम् ।
इह विषमतिपापं सज्जनैर्धर्मयुक्तै त्यज कुगतिकुबीजं त्वं पलं धर्महेतो ॥१७

त्रसजीवादिसंव्याप्तं मक्षिकाच्छर्दितं मधु । पापदु खाकरं निन्द्यं अपवित्रं त्यजेद्बुध. ॥१८
मधु रोगादिशान्त्यर्थं यो गृह्णाति स मूढधी । रोगस्य भाजनं भूत्वा सोऽपि याति च दुर्गतिम् ॥१९
समं मद्यामिषेणैव यो भुङ्क्ते माक्षिकं शठ । भुङ्क्त मद्यादिकं सर्वं तेन दुर्गतिदायकम् ॥२०
रोगनाशं सुवाञ्छन्ति ये खला मधुना स्वयम् । निवारयन्ति ते नूनं तैलेनैव हुताशनम् ॥२१

कृमिकुलशतपूर्णं सत्त्वघातादिजातं, कुगतिगमनहेतुं प्रास्पृशं साधुलोकैः ।
सकलदुरितखानिं क्लेशव्याध्यादिमूलं, त्यज मधु सुखहेतोश्चापवित्रं सुमित्र ॥२२

वाला है, असार है, बुद्धिको नष्ट करनेवाला है, नरकको ले जानेका मार्ग है, पाप और दु.खोकी जड है, व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, इसलिये हे वत्स ! धर्मकी प्राप्तिके लिये तू इस निंद्य मद्यपानका त्याग कर ॥१२॥ इसी प्रकार मास भी महा निंद्य है, जीवोकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक पापोकी खानि है इस-लिये इसे केवल मूर्ख लोग ही सेवन करते हैं। विवेकी पुरुष दूरसे ही इसका त्याग कर देते है ॥१३॥ देख, जो दुष्ट विना किसी कृपा वा दयाके जीवोको मार कर मास खाते है वे वैरभावका सस्कार हो जानेके कारण परलोकमे उन्ही जीवोके द्वारा मारे जाते हैं ॥१४॥ जो नीच केवल स्वादसे ठगे जानेके कारण मांस खाते हैं वे अनेक दु खोसे भरे हुए संसाररूपी महासागरमे अवश्य डूबते हैं ॥१५॥ जो मूर्ख मांस भक्षणका तो त्याग कर नही सकते और धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना नेत्रोंके नाटक देखना चाहते हैं ॥१६॥ यह मास सेवन नरकके दु ख देनेवाला है, असार हैं, पापरूपी वृक्षकी जड़ है, अनेक प्रकारके जीव-समूहोंसे भरा हुआ है, उसके छूने मात्रसे ही अनन्त जीवोका घात होता है, इसलिये धार्मिक सज्जन लोग विषके समान इसका त्याग कर देते हैं। यह पापरूप है और कुगतिका बीज हैं, इसलिये हे वत्स ! धर्म धारण करनेके लिये तू इसका त्याग कर ॥१७॥ यह मधु वा शहद भी अनेक त्रस जीवोके उत्पन्न होनेका स्थान है, और मक्खियो का वमन किया हुआ उच्छिष्ट है इसीलिये इसका सेवन करना अनेक पाप और दु खोको उत्पन्न करनेवाला है, निन्द्य है और अपवित्र है। बुद्धिमानोको दूरसे ही इसका त्याग कर देना चाहिये ॥१८॥ जो अज्ञानी रोग आदिको दूर करनेके लिये भी शहदको काममे लाता है वह अनेक रोगो का पात्र होकर नरकादि दुर्गतियोमे प्राप्त होता है ॥१९॥ जो मूर्ख मद्य और मांसके समान शहद को खाता है वह मद्य मास आदि सबका सेवन करता है और अनेक दुर्गतियोमे प्राप्त होता है, क्योकि शहदमें असख्य जीव रहते हैं ।२०॥ जो मूर्ख मधुके सेवन करनेसे रोगोका नाश करना चाहते हैं वे अवश्य ही तेलसे अग्निको बुझाना चाहते है ॥२१॥ हे मित्र ! यह मधु अनेक छोटे

उदुम्बरफलान्येव न ग्राह्याणि विवेकिभि । सूक्ष्मजन्तुभृतान्येव दुःखश्वभ्रकराणि वै ।।२३
दुर्भिक्षेनैव यो भुङ्क्ते कीटाढ्यानि फलानि स । श्वभ्रतिर्यग्गतिं याति जीवराशिप्रभक्षणात् ।।२४
वरं प्राणपरित्यागो न चोदुम्बरपञ्चकम् । ग्राह्यं विसंख्यजीवादिव्याप्तं तीव्रदरिद्रकम् ।।२५
त्यज त्वं धर्मसिद्ध्यर्थं वटादिफलपञ्चकम् । भिल्लादिकुजनैर्भक्ष्यमामिषेण समं ध्रुवम् ।।२६

नरकगमनमार्गं दुःखदारिद्र्यबीजं, वरशिवसुखशत्रुं सूक्ष्मजीवादिपूर्णम् ।
कुजनगणगृहीतं पिप्पलादिप्रसूतं, फलमपि त्यज धर्मप्राप्तये पापमूलम् ।।२७

अष्टौ मूलगुणानेव पालयन्ति सदाऽनघान् । ये ते स्वर्गं प्रयान्त्येव प्रादाय नियमं वरम् ।।२८
द्वादशव्रतमूलत्वाद् गुणानां प्रथमोद्भवा । स्वर्गादिसुखसंदानादुक्ता मूलगुणा जिनै ।।२९
व्रतं धर्तुमसक्ता येऽधर्मो मूलगुणादिजम् । ते पापसंग्रहं कृत्वा मज्जन्ति भवसागरे ।।३०
एकचित्तेन भो धीमन् ! भज त्वं व्रतशुद्धये । अष्टौ मूलगुणानेव नाकमुक्तिसुखाय वा ।।३१
आदौ मूलगुणान् सर्वान् व्याख्याय शृणु श्रावक । वक्ष्ये श्रीधर्मसिद्ध्यर्थं सप्तैव व्यसनान्यहम् ।।३२
द्यूतामिषसुरावेश्याखेटचौर्यपरस्त्रिय. । सप्तैव व्यसनान्येव पापमूलानि भो त्यज ।।३३

छोटे कीडोंसे भरा हुआ है, अनेक चौइन्द्रिय जीवोके घातसे उत्पन्न होता है, इसका सेवन करना अनेक दुर्गतियोका कारण है, सज्जन लोगोके द्वारा स्पर्श करने योग्य भी नही है, यह समस्त पापो की खानि है, क्लेश तथा व्याधियोकी जड है और अत्यन्त अपवित्र है। हे मित्र ! सुख प्राप्त करने के लिये तू इसका त्याग कर ।।२२।। इसी प्रकार विवेकी पुरुषोको उदम्बर फलोका त्याग भी कर देना चाहिये, क्योकि ये भी अनेक सूक्ष्म जन्तुओसे भरे रहते हैं इसलिये इनके सेवन करनेसे नरकादिकके अनेक दु ख प्राप्त होते हैं ।।२३।। जो मूर्ख दुर्भिक्ष आदि पडनेपर भी अनेक कीडोसे भरे हुए इन फलोको खाता है वह अनेक जीव-राशिका नाशकर देनेके कारण नरक वा तिर्यञ्च गतिमे ही जन्म लेता है ।।२४।। इसलिये प्राणोका त्याग कर देना अच्छा, परन्तु भारीसे भारी दरिद्रता पडनेपर भी असख्यात जीवोसे भरे हुए पाँचो उदम्बरोका सेवन करना अच्छा नही ।।२५।। हे मित्र ! तू धर्मकी प्राप्तिके लिये इन वड, पीपल, ऊमर (गूलर), कठूमर (अजीर), पाकर पाँचो उदम्बर फलोका त्याग कर, क्योकि मासके समान इसे भील आदि नीच लोग ही सेवन करते हैं ।।२६।। हे वत्स ! वट, पीपल आदि पाँचो उदम्वरोका सेवन करना नरकमे ले जानेका कारण है, दु ख और दरिद्रताको उत्पन्न करनेवाला है, और सर्वोत्तम मोक्ष-सुखका शत्रु है। ये पाँचो फल अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे रहते है, और नीच लोगोके द्वारा ही सेवन किये जाते है इसके सिवाय ये पापकी जड है। इसलिये हे मित्र ! धर्मकी प्राप्तिके लिये तू इनका भी त्याग कर ।।२७।। जो मनुष्य श्रेष्ठ नियम लेकर इन आठो मूलगुणोका पालन करते है वे अवश्य ही स्वर्ग सुखको प्राप्त होते हैं ।।२८।। ये आठो मूलगुण आगे कहे हुए वारह व्रतोके मूल कारण है, ओर वारह व्रतोके पहिले धारण किये जाते हैं तथा स्वर्गादिकके सुख देनेवाले है, इसलिये जिनेन्द्र भगवान् इनको मूलगुण कहते हैं ।।२९।। जो अधर्मी मनुष्य धर्मकी जडरूप इन मूलगुणोको भी धारण नही कर सकते वे अनेक प्रकारके पापोका सग्रहकर ससार महासागरमे डूवते हैं ।।३०।। इसलिये हे वुद्धिमान् ! आगे कहे हुए व्रतोको पालन करनेके लिये और स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये इन आठो मूलगुणोको चित्त लगाकर पालन कर ।।३१।। इस प्रकार पहिले मूलगुणोका व्याख्यान किया। अव हे श्रावक ! धर्मकी सिद्धिके लिये सातो व्यसनोको कहता हूँ ।।३२।। जूआ खेलना,

द्यूतक्रीडा प्रकुर्वन्ति ये खला अत्र ते ध्रुवम् । अकीर्ति द्रव्यनाशं च प्राप्य श्वभ्रे पतन्त्यहो ॥३४
द्यूतमूलानि सप्तैव व्यसनानि भवन्ति वै । द्यूतं यो रमते तस्य स्युः सर्वव्यसनान्यलम् ॥३५
युधिष्ठिरादयो द्यूतयोगान्नष्टा नृपा यदि । अन्यो यो रमते द्यूतं न स्यात्किं सोऽपि दुःखभाक् ॥३६
द्यूतासक्तस्य यत्पाप यच्च दुःखं भवे भवे । वधबन्धादिकं यत्स्यात्तद्वक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ॥३७

दुरितवनकुमेघं दुःखदारिद्रबीजं, नरकगृहप्रवेशं मुक्तिगेहे कपाटम् ।
सकलव्यसनमूलं सर्वदाऽकीर्तिहेतु, त्यज कुगतिकर त्वं धर्मलाभाय द्यूतम् ॥३८

सत्त्वघातादिसंजातं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । निन्द्यं पापकरं भ्रातस्त्यज त्वं निखिलामिषम् ॥३९
सूक्ष्मं जीवभृतं मद्य विवेकबुद्धिनाशकम् । धर्मविध्वंसक प्राघप्रदं त्यज सुखाय भो ॥४०
मद्यमांसादिससक्ता मातङ्गादिषु लम्पटाम् । सर्पिणीमिव भो मित्र त्यज वेश्यां कुकीर्तिदाम् ॥४१
जीवहिंसाकरं पापं दुःखदुर्गतिदायिकम् । वधबन्धकरं दक्ष आखेटं दूरतस्त्यजेत् ॥४२
वधाङ्गच्छेदबन्धादिदुःखदारिद्रकारणम् । परपीडाकरं वत्स चौर्याख्यं व्यसनं त्यज ॥४३

मास खाना, मद्यपान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन कहलाते है। ये सातो व्यसन पापोकी जड है इसलिये हे भव्य ! तू इनका त्याग कर ॥३३॥ जो दुष्ट मनुष्य इस ससारमे जुआ खेलते है वे संसारमे अपनी अपकीर्ति फैलाते है, उनके द्रव्यका नाश होता है और अन्तमे नरकमे पडते हैं ॥३४॥ सातो व्यसन इस जूआ खेलनेसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये जो जूआ खेलता है उसे समस्त व्यसनोके सेवन करनेका ही फल प्राप्त होता है ॥३५॥ अरे, जिस जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिर जैसे नष्ट हो गये, फिर भला जूआ खेलनेवाले अन्य साधारण लोग किस प्रकार दुःखी नही हो सकते ? अर्थात् अवश्य होते है ॥३६॥ जूआ खेलनेवालोको जो पाप लगता है तथा भवभवमे जो वध बधन आदिके दुःख भोगने पडते हैं उन्हे कौन कह सकता है ? अर्थात् वे पाप और दुःख किसीसे कहे भी नही जा सकते ॥३७॥ यह जूआ खेलना पापोके वनको बढानेके लिये मेघकी धाराके समान है, दुःख और दरिद्रताका मुख्य कारण हैं, नरकरूपी घरमे ले जानेवाला है, मोक्षमहलके लिये किवाड जुड़ा देनेवाला है, समस्त व्यसनोका मूल कारण है और सदाकालतक अपकीर्तिका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू धर्म प्राप्त करनेके लिये कुगतियोमे डालनेवाले इस जूआका त्याग कर ॥३८॥ इसी प्रकार मास भी जीवोंके घात होनेसे उत्पन्न होता है, नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुःख देनेवाला है, निंद्य है, पापकी खानि है, इसलिये हे भ्रात ! इसका भी तू त्याग कर ॥३९॥ मद्य भी अनेक सूक्ष्म जीवोसे भरा हुआ है, विवेक और बुद्धिको नाश करनेवाला है, अनेक पापोको बढानेवाला है और धर्मका ध्वस करनेवाला है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इस मद्यका भी त्याग कर ॥४०॥ यह वेश्या मद्य मास आदिमे सदा आसक्त रहती है, चाडाल आदिकोमे भी लपट रहती है, और सदा अपकीर्ति देनेवाली है इसलिये हे मित्र ! सर्पिणीके समान इस वेश्याको तू दूरसे ही छोड ॥४१॥ शिकार खेलनेमे भी अनेक जीवोकी हिंसा होती है, हिंसासे पाप, दुःख और दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं तथा अनेक बार वध बधन आदिके दुःख सहने पडते है इसलिये इस शिकारको भी दूरसे त्याग कर ॥४२॥ चोरी करनेसे कभी मर जाना पडता है, कभी शरीर काटा जाता है, बधनमे पडना पडता है तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख तथा दरिद्रता प्राप्त होती है। इसके सिवाय चोरी करनेसे दूसरोको सदा दुःख पहुँचाना पडता है इसलिये हे वत्स ! इस चोरीको भी

सर्वदु खाकरां पापवल्ली भयकुकीर्तिदाम् । परनारी त्यज त्वं भो 'श्वभ्रगृहप्रतोलिकाम्' ॥४४
एकैकव्यसनासक्ता नष्टा जीवा अनेकधा । य सर्वव्यसनासक्तो दु खभाक् किं भवेन्न सः ॥४५
द्यूताद् धर्मसुतो राजा प्राप्तो दु.खमनेकधा । राज्यभ्रष्टाटवीवास संगरादिभव घनम् ॥४६
पलाशनवशान्नष्टः इह लोके वको नृप । राज्यनाशं परिप्राप्य मग्नः संसारसागरे ॥४७
मद्यपानात्प्रनष्टा हि यादवा नृपनन्दनाः । इहैव प्राणपर्यन्तं प्राप्य दुःख कुमार्गगा ॥४८
चारुदत्तेन संप्राप्तं दु.खं वेश्याप्रसंगत । द्रव्यनाशभवं विष्ठामध्यनिक्षेपजं परम् ॥४९
ब्रह्मदत्तो नृपः प्राप्तो दु'खमाखेटत स्वयम् । भवाब्धौ बहुशो घोरं मज्जनोन्मज्जनादिजम् ॥५०
चौर्यव्यसनतो घोरं दु खं प्राप्नोति दुस्सहम् । शिवभूतिरिहामुत्र क्लेशवन्धवधादिजम् ॥५१
दशास्य सीताहरणाद् गत श्वभ्रं त्रिखण्डराट् । कुकीर्तिं राज्यनाशं च वधं प्राप्य कुमार्गग ॥५२
एतेषा व्यसनाज्जाता ज्ञेया शास्त्रे निरूपिता । कथाः संवेगदा तीव्रं पापभीतिप्रदा. वरा. ॥५३
अन्ये ये बहवो नष्टा व्यसनासक्तचेतसा । कथा को गदितुं तेषां समर्थो भुवनत्रये ॥५४
एकैकव्यसनाज्जीवा श्वभ्रं प्राप्ता अनेकश । यः सप्तव्यसनासक्ति धत्ते श्वभ्रं न याति किम् ॥५५
व्यसनान्येव य त्यक्तुमशक्तो धर्ममीहते । चरणाभ्या विना खञ्जो मेरुमारोहितुं स च ।।५६

तू छोड ।।४३।। परस्त्रीसेवन सव दु खोकी खानि है, पापकी बेल है, भय अपकीर्ति देनेवाली है और नरककी देहली है इसलिये परस्त्रीसेवन करना भी सर्वथा छोड देना चाहिये ।।४४।। इन व्यसनोमेसे एक एक व्यसनको सेवन करनेवाले अनेक जीव नष्ट हो चुके है फिर भला जो समस्त व्यसनोमे आसक्त है वह क्यो दु खी नही हो सकता ? अर्थात् वह अवश्य महा दु खी होगा ।।४५।। जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिरको अनेक प्रकारके दु ख प्राप्त हुए थे—उन्हे राज्यसे भ्रष्ट होना पडा था, निर्जन वनमे निवास करना पडा था और फिर भारी युद्ध करना पडा था ।।४६।। मास सेवन करनेसे राजा बकको इस लोकमे ही राजभ्रष्ट होना पडा था—अपने राज्यसे हाथ धोना पडा था और अन्तमे इस अपार ससारसागरमे मग्न होना पडा था ।।४७।। मद्यपानके सेवन करनेसे कुमार्गगामी राजपुत्र यादव अनेक दु खोको पाकर इसी लोकमे प्राण नाशको प्राप्त हुए थे ।।४८।। वेश्यासेवनसे सेठ चारुदत्तको कितने दु ख भोगने पडे थे, उनका सब द्रव्य नष्ट हो गया था और अन्तमे उन्हे विष्टामे फेक दिया गया था ।।४९।। शिकार खेलनेसे राजा ब्रह्मदत्तको बहुससे दु ख भोगने पडे थे और अन्तमे ससाररूपी महासागरमे परिभ्रमण करनेका महा घोर दु ख भोगना पडा था ।।५०।। चोरी करनेसे शिवभूतिको घोर और असह्य दु ख भोगने पडे थे, तथा इस लोकमे भी वध बधन आदिके अनेक दु ख भोगने पडे थे ।।५१।। सीताका हरण करने मात्रसे ही तीन खण्डके स्वामी रावणकी ससारभरमे अपकीर्ति हुई थी, उसका राज्य नष्ट हुआ था, उस कुमार्गगामीको मरना पडा था, और अन्तमे नरक जाना पडा था ।।५२।। ये सब एक एक व्यसनमे आसक्त होनेवालोके नाम है इन सबकी कथा सवेग बढानेवाली है और पापोसे डरानेवाली है इसलिये अन्य शास्त्रोसे अवश्य जान लेनी चाहिये ।।५३।। इन व्यसनोमे आसक्त हो जानेके कारण और भी बहुतसे लोग नष्ट हुए है उन सबकी कथाओको तीनो लोकोमे कोई कह भी नही सकता ।।५४।। एक एक व्यसनके सेवन करनेसे कितने ही जीवोको अनेक बार नरकोमे जाना पडा है, फिर भला जो सातो व्यसनोका सेवन करते है वे भला नरकसे कैसे बच सकते है ।।५५।। जो मनुष्य इन व्यसनोको विना छोडे ही धर्म धारण करनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख विना पैरोके ही मेरुपर्वतपर चढना चाहता है ।।५६।। इस ससारमे सात ही नरक हैं और सात ही व्यसन है

सप्तैवात्र नरकाणि सप्तैव व्यसनानि तत् । अनुक्रमेण गच्छन्ति जीवास्तल्लम्पटाशया ॥५७
धर्मशत्रुविनाशार्थं पापराज्ञा हृढीकृतम् । स्वराज्य सप्तव्यसनैरङ्गैरिव यथापरे ॥५८

कुगतिगमनहेतु दु खशोकादिबीजं, दुरितवनकुमेघं धर्मशत्रुं कुसङ्गम् ।
परभवशतखानि सर्वदारिद्रमूलं, जहि व्यसनसमस्तं शत्रुवद्धर्महेतो ॥५९

दर्शनेन समं योऽत्र सोऽष्टमूलगुणान् सुधीः । दधाति व्यसनान्येव त्यक्त्वा दार्शनिको भवेत् ॥६०
दर्शनाख्यं प्रव्याख्याय प्रतिमा मूलकारणम् । इदानीं खलु वक्ष्येऽहं व्रताख्या प्रतिमां वराम् ॥६१
पञ्चैवाणुव्रतानि स्युस्त्रिधापि स्याद्गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं द्वादशैव व्रतानि च ॥६२
स्थूलहिंसानृतस्तेयान्मैथुनाच्च परिग्रहात् । विरति श्रावकाणां तत् पञ्चभेदमणुव्रतम् ॥६३
स्वय हि त्रसजीवाना हिंसा नैव करोति य । कारयति न चान्येन कृतं नैवानुमन्यते ॥६४
मनोवाक्काययोगेन दयातत्परचेतस । आद्यं व्रतं भवेत्तस्य मूलं सर्वव्रतस्य भो ॥६५
पूर्वोक्तान् जीवभेदान् भो ज्ञात्वा मित्र दया कुरु । सर्वसत्त्वेषु मुक्त्यर्थं भयभीतेषु प्रत्यहम् ॥६६
अहिंसा जननी प्रोक्ता व्रतादीना गणाधिपैः । सर्वजीवहिता शश्वन्मातेव हितकारिणी ॥६७
जन्मभूमिर्गुणानां भो दया प्रोक्ता मुनीश्वरैः । सर्वसौख्यकरा सारा सारसर्वगुणप्रदा ॥६८

इसलिये जो जीव इन व्यसनोमे आसक्त रहते हैं वे अवश्य ही नरकोमे पडते है ॥५७॥ पापरूपी राजाने धर्मरूपी शत्रुको नाश करनेके लिये और अपना स्वराज्य सुदृढ करनेके लिये इन सातो व्यसनोको सेनाके समान स्थापित्त कर रक्खा है ॥५८॥ ये सातो व्यसन अनेक दुर्गतियोमे जन्म देनेवाले है, दु ख शोक आदिके मुख्य कारण है, पापरूपी वनको बढानेके लिये मेघकी वर्षाके समान है, धर्मके शत्रु है, बुरी सगति देनेवाले है, परभवमे परिभ्रमण करानेवाले हैं और सब प्रकारकी दरिद्रताके मूल कारण हैं। इसलिये हे मित्र ! तू धर्म धारण करनेके लिये शत्रुके समान इन सातो व्यसनोका त्याग कर ॥५९॥ जो बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनके साथ साथ ऊपर कहे हुए आठो मूलगुणोका पालन करता है और सातो व्यसनोका त्याग करता है वह दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता हे ॥६०॥ इस प्रकार सब प्रतिमाओकी मूल कारण ऐसी दर्शन प्रतिमाका स्वरूप वर्णन किया। अब आगे उत्तम व्रत प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥६१॥ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके बारह व्रत कहलाते हैं ॥६२॥ स्थूल हिंसाका त्याग, स्थूल असत्यका त्याग, स्थूल चोरीका त्याग, स्थूल अब्रह्मका त्याग और स्थूल परिग्रहका त्याग इस प्रकार हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पाँचो पापोसे एक देश विरक्त होना श्रावकोंके पाँच अणुव्रत कहलाते हैं ॥६३॥ अपने हृदयको दया पालन करनेमे सदा तत्पर रखनेवाला जो मनुष्य मन, वचन, कायसे न तो कभी स्वय त्रस जीवोकी हिंसा करता है न दूसरोसे कराता है और न कभी त्रस जीवोकी हिंसामे अनुमति देता है उसके सबसे पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। यह अहिंसा अणुव्रत अन्य सब व्रतोका मूल है ॥६४–६५॥ हे मित्र ! जीवोके सब भेद पहिले बताये जा चुके हैं अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके भयोसे भयभीत हुए समस्त जीवोपर तू प्रतिदिन दया कर ॥६६॥ श्री गणधरादि देवोने इस अहिंसाको सब व्रतोकी जननी वा माता बतलाया है, क्योकि यह अहिंसा समस्त जीवोकी सदा हित करनेवाली है, और माताके समान सबका कल्याण करनेवाली है ॥६७॥ मुनिराजोने इस दयाको सब जीवोको जन्मभूमि बतलाया है, यह दया सबको सुख देनेवाली है, सबमे सारभूत

निधि सर्वसुखादीना कृपापि कथिता वुधै । स्वर्गमुक्तिगृहद्वारे प्रतोली कृत्स्नसौख्यदा ॥६९
रत्नत्रयस्य सत्खानिर्दयादक्षै. प्ररूपिता । सम्यग्ज्ञानादिसद्रत्नकारणा हितकारिका ॥७०
सद्धर्मारामसारस्य नाकमोक्षफलस्य वै । कृपादृष्टिर्जिनै प्रोक्ता दुःखदाहविनाशिनी ॥७१
सखी सन्मुक्तिभार्या हि वरा तच्चित्तरञ्जिका । अहिंसा मुनिभिः सेव्या नित्यं सत्सङ्गलालसै ॥७२
अहिंसाव्रतरक्षार्थं भो महाव्रतपञ्चकम् । दक्षै समितिगुप्त्यादि सर्वं चाचर्यते स्फुटम् ॥७३
मुनीना च गृहस्थानां सर्वं व्रतकदम्बकम् । एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं भाषितं मुनिपुंगवै ॥७४
अहिंसाख्यं व्रतं धीमान् यस्तनोति प्रयत्नत । तस्य सर्वव्रतानि स्यु विना कष्टेन प्रत्यहम् ॥७५
दयां त्यक्त्वापि य. कुर्याद् यत्तपोऽतिव्रतादिकम् । तत् सर्वं विफलं तस्य विना चाङ्केन शून्यवत् ॥७६
दृढीकृत्य दया चित्ते तपः स्तोकं करोति य । सुधीस्तत्तस्य चामुत्र स्यान्महाफलकारणम् ॥७७
तपो धर्मं व्रतं दान ध्यानं पूजा गुणादिकम् । दया विनात्र व्यर्थं स्यात्कायक्लेशं च प्राणिनाम् ॥७८
वरं चैकव्रतं सारं सर्वजीवाभयप्रदम् । तद्विना देहिनां नैतत् सर्वं व्रतकदम्बकम् ॥७९
मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्य चित्त सुवासितम् । कृपया सर्वजीवेषु धर्मयुक्तस्य प्रत्यहम् ॥८०

है और समस्त उत्तम गुणोको देनेवाली है ॥६८॥ वुद्धिमान् लोग इस दयाको सब सुखोंकी निधि वतलाते है, स्वर्ग मोक्षरूपी घरमे जानेके लिये यह दया ही द्वारकी देहली है और यही समस्त संसारको सुख देनेवाली है ॥६९॥ दया पालन करनेमे अत्यन्त चतुर पुरुषोने निरूपण किया है कि यह दया ही रत्नत्रयकी खानि है, दया ही सम्यग्ज्ञान आदि श्रेष्ठ रत्नोको उत्पन्न करनेवाली है और यही सबका हित करनेवाली है ॥७०॥ श्री जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है कि श्रेष्ठ धर्मरूपी वागकी शोभा वढानेके लिये, उसपर स्वर्ग मोक्षके फल लगानेके लिये और दु खरूपी उष्णता वा अग्निके सतापको नष्ट करनेके लिये यह दया ही मेघकी वर्षाके समान है ॥७१॥ यह अहिंसा ही मुक्तिरूपी स्त्रीकी सखी है और वरके चित्तको प्रसन्न करनेवाली है, इसलिये सत्सगकी लालसा रखनेवाले मुनियोको इस अहिंसाका सेवन अवश्य करना चाहिये ॥७२॥ इस अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही चतुर पुरुषोने पाँचो महाव्रतोका निरूपण किया हे और गुप्ति आदि सब व्रतोका निरूपण केवल अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही किया है ॥७३॥ अनेक मुनिराजोने स्पष्ट शब्दोमे कहा है कि मुनि और गृहस्थोके समस्त व्रतोके समूहका वर्णन केवल अहिंसा व्रतकी रक्षा वा प्रसिद्धिके लिये ही है ॥७४॥ जो वुद्धिमान इस एक अहिंसा नामके व्रतको ही प्रयत्नके साथ पालन कर लेता है उसके विना किसी कष्टके प्रतिदिन समस्त व्रतोका पालन हो जाता है ॥७५॥ जिस प्रकार विना अकके अनन्त शून्य भी व्यर्थ होते है उसी प्रकार जो मनुष्य दयाको पालन किये विना ही तप व्रत आदि करना चाहता है उसका वह तप व्रत आदि सब व्यर्थ और निष्फल हैं ॥७६॥ जो वुद्धिमान् अपने हृदयमे दयाको सुदृढ वनाकर थोडा-सा भी तप करता है वह इस लोक और परलोकमे भी अनेक महाफलोको प्राप्त होता है ॥७७॥ विना दयाके तप, धर्म, व्रत, ज्ञान, ध्यान, पूजा और गुण आदि सव व्यर्थ है। विना दयाके ये तप आदिक सब जीवोके शरीरो-को केवल कष्ट पहुँचानेवाले है और इनसे कोई लाभ नही ॥७८॥ समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाला और सवमे सारभूत ऐसा यह अहिंसा रूप एक व्रत ही अच्छा परन्तु इसके विना समस्त व्रतोका समुदाय भी जीवोके लिये कल्याणकारी नही ॥७९॥ जिस धर्मात्माका हृदय प्रतिदिन समस्त जीवोपर होनेवाली कृपासे सुगन्धित है, भरपूर है उसीको मैं (आचार्य) सबसे अधिक पुण्यवान् मानता हूँ ॥८०॥ जो धर्म दयारहित है, जो तप दयारहित है और प्राणियोका जो जीवन

दयाहीनेन किं तेन धर्मेण तपसाऽथवा । कार्यसिद्धिर्भवेन्नैव जीवितव्येन चाङ्गिनाम् ॥८१
कृपासमं भवेन्नैव पूजा दान जपादिकम् । तपो धर्मं च सर्वेषां दयाबीज यतो मतम् ॥८२
श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च । धर्मो जीवदयोपेतस्तद्विपक्षोऽशुभप्रद ॥८३
एतत्समयसर्वस्वमेतच्चारित्रजीवितम् । मूल धर्मतरोर्यच्च सर्वजीवाभिरक्षणम् ॥८४
जीवहिंसादिसङ्कल्पं ये कुर्वन्ति शठा हि ते । पापात् श्वभ्रे पतन्त्येव शालिशिक्थादिमत्स्यवत् ॥८५
कासश्वासमहापित्तवातकुष्ठादयो ध्रुवम् । बृहद्रोगा प्रजायन्ते प्राणिघातादिहाङ्गिनाम् ॥८६
दीनत्व निर्धनत्व च भीरुत्व स्वल्पजीवितम् । भवेज्जीवस्येहामुत्र दारिद्र्यं ता दया विना ॥८७
पुत्रपौत्रस्वसृभार्यामातृपितृस्वबान्धवै । प्राप्नुवन्ति वियोग च सत्त्वघातात्सहाङ्गिनः ॥८८
किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिद्दु खमञ्जसा । तत्सर्वं हि श्रयेदङ्गी चेहामुत्र कृपां विना ॥८९
कुर्वन्ति प्राणिनां घातं येऽधमा रोगशान्तये । वातपित्तमहाकुष्ठादिकं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥९०
विधत्ते देहिना हिंसां योऽधर्मो मङ्गलाय वै । अमङ्गलं भजेत्सोऽपि पापात्सर्वं कुदु खदम् ॥९१

दयारहित हैं उस धर्म, तप वा जीवनसे इस ससारमे कोई लाभ नही और न ऐसे दयाहीन धर्म, तप वा जीवनमे कोई कार्यसिद्धि हो सकती है ॥८१॥ इस दयाके समान पूजा, दान, जप, तप, धर्म आदि कुछ नही हो सकता क्योकि यह दया उन सबका बीज है, सबका मुख्य कारण है ॥८२॥ 'जो जीवोकी दयासे रहित है वह अनेक दु खोको देनेवाला अधर्म है' यह बात सब शास्त्रोमे और सब मतोमे सुनी जाती है ॥८३॥ यह दयारूप धर्म ही समस्त शास्त्रोका समस्त मतोका सर्वस्व है, यही सजीव चारित्र है, यही धर्मरूपी वृक्षका मूल है और यही समस्त जीवोका रक्षक है ॥८४॥ जो मूर्ख जीवोकी हिंसाका सकल्प भी करते हैं वे उस पापकर्मके उदयसे तदुल[1] मत्स्यके समान नरकमे ही पडते हैं ॥८५॥ इस ससारमे जीवोकी हिंसा करनेसे कास (खाँसी), श्वास (दमा), महापित्त, वात, कोढ आदि अनेक बडे बडे महा रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥८६॥ दयाके विना ही यह जीव इस लोकमे दीन होता है, निर्धन होता है, डरपोक होता है, थोडी आयुवाला होता है और दरिद्री होता है तथा परलोकम भी ऐसे ही अनेक दु खोको प्राप्त होता है ॥८७॥ यह जीव प्राणियोका घात करनेसे ही पुत्र, पौत्र, वहिन, स्त्री, माता-पिता और भाई आदिका तीव्र वियोग पाता है अर्थात् उनके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले दु.खको भोगता है ॥८८॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि इस लोकमे वा परलोकमे जितने दु ख हैं वे सब प्राणियो को दयाका त्याग करनेसे ही होते हैं ॥८९॥ जो नीच मनुष्य केवल रोग शान्त करनके लिये प्राणियोका घात करते हैं उनके वात पित्त और महाकोढ आदि भयकर रोग अवश्य उत्पन्न होते हैं ॥९०॥ जो नीच अपना वा पुत्र पौत्रोका कल्याण करनेके लिये जीवोकी हिंसा करता है वह अनेक अमगलोको—दु खोको प्राप्त होता है तथा भयकर दु ख देनेवाले समस्त पापोको प्राप्त होता है—

१ स्वयभूरमण समुद्रमें सबमे बडा राघवमत्स्य होता है उसकी आँखपर एक तदुलमत्स्य बैठा रहता है । राघवमत्स्य सबमे बडा है इसलिये उसके मुँह फाडते ही अनेक जीव उसके मुँहमें आ जाते हैं और उनमेंसे बहुत साँसके साथ बाहर निकल जाते हैं । तदुलमत्स्य आँखपर बैठा हुआ यह सोचा करता है कि यह मत्स्य मूर्ख है जो इन छोटे मत्स्योको मु हके भीतर आ जानेपर भी फिर बाहर जाने देता है, यदि मैं होता तो एकको भी बाहर न जाने देता सबको खा जाता । बस सदाके इसी सकल्पसे वह मरकर सातवें नरक जाता है ।

धर्मार्थं सत्त्वसंघातं ये शठा. घ्नन्ति मृत्युदम् । पिबन्ति जीवितार्थं ते विषं हालाहलं स्फुटम् ॥९२
उद्दिश्य चण्डिका पापं जीवहिंसां करोति य । दु खादिशान्तये सोऽधी दुख क्लेशादिकं भजेत् ॥९३
पूजार्थं नीचदेवाना ये घ्नन्ति पशून् बहून् । स्वसुखाय ते वाञ्छन्ति सुधां सर्पमुखाच्च ते ॥९४
भोगार्थं जीवराशिं ये घ्नन्ति चेन्द्रियलालसा । दु खदुर्भगदारिद्रं ते लभन्ते भवे भवे ॥९५
पुत्रपौत्रकुटुम्बादिवृद्ध्यर्थं हन्ति य पशून् । कुटुम्बपरिनाश च प्राप्य स याति दुर्गतिम् ॥९६
अहिंसालक्षणो धर्म' उक्त श्रीजिननायकै । सर्व जीवहितायैव स्वर्गमुक्तिसुखप्रद ॥९७
सोऽसत्यबलत धर्म उक्त. सत्त्वक्षयंकरः । कुशास्त्रपाठकैर्मूढैरिन्द्रियस्वादुलालसै. ॥९८
दर्शयित्वा कुशास्त्र भो लोकानामर्थप्राप्तये । सर्वाक्षपोषकं धूर्त्ताः नयन्ति नारकी गतिम् ॥९९
हिंसा प्ररूपिता शास्त्रे दुष्टैर्ये भोगसिद्धये । अङ्गीकृता च लोकैर्यैस्ते सर्वे यान्ति दुर्गतिम् ॥१००
ये कुर्वन्ति स्वयं हिंसा परैः सकारयन्ति ये । दृष्ट्वा हिंसा प्रानन्द ये ते श्वभ्रे पतन्त्यघात् ॥१०१
क्वचित्सर्पमुखाद्दैवादमृत जायते नृणाम् । रात्रौ दिवाकरश्चैव न धर्मो जीवहिंसनात् ॥१०२
हिंसया यदि जायेत धर्मो नाकं च निस्तुष' । तदा स्वर्गं प्रयान्त्येव म्लेच्छाश्च खेटकारिणः ॥१०३
त्यक्त्वा हिंसां च भो धीमन् ! शास्त्रं हिंसादिपोषकम् । अहिंसालक्षणं धर्म कुरु त्वमङ्गिनां दयाम् ॥१०४

अर्थात् उसके तीव्र पापकर्मोका बन्ध होता है ॥९१॥ जो मूर्ख केवल धर्मपालन करनेके लिये जीवोके समूहका घात करता है वह अपने जीवित रहनेके लिये मृत्यु देनेवाले हलाहल विषको पीता है ॥९२॥ जो अज्ञानी चडी मुडी आदि देवियोके बहानेसे जीवोकी हिंसा करता है वह अपने दु खोको शान्त करनेके लिये अपने आप दु ख क्लेशादिकोमे जा पडता है ॥९३॥ जो जीव नीच देवोकी पूजा करनेके लिये अनेक जीवोको मारता है वह मनुष्य अपने सुखके लिये अमृतको सर्पके मुखसे निकालना चाहता है ॥९४॥ इन्द्रियभोगोमे अत्यन्त लालसा रखनेवाले जो नीच अपने भोगोपभोगोके लिये जीवराशिका विनाश करते है—उन्हे मारते है वे महा दु खी होते है, अत्यन्त कुरूप होते हैं और महा दरिद्री होते है ॥९५॥ जो नीच अपने पुत्र पौत्र और कुटुम्बकी वृद्धिके लिये पशुओको मारता है उसके सब कुटुम्बका नाश होता है और अन्तमे उसे अनेक दुर्गतियोमे परिभ्रमण करना पडता है ॥९६॥ श्री जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय कहा है क्योकि समस्त जीवोका कल्याण इसी अहिंसामय धर्मसे हो सकता है और इसी धर्मसे स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त हो सकते है ॥९७॥ परन्तु कुशास्त्रोको पढनेवाले और इन्द्रियोके स्वादकी लालसा रखनेवाले मूर्ख लोगोने असत्य भाषण करके झूठ बोल करके जीवोको नाश करनेवाली हिंसाको ही धर्म बतला दिया है ॥९८॥ जो धूर्त लोग समस्त इन्द्रियोको तृप्त करनेवाले कुशास्त्रोको दिखा दिखाकर लोगोसे धन इकट्ठा करते हैं वे अन्तमे मरकर अवश्य ही नरक गतिमे उत्पन्न होते है ॥९९॥ जिन दुष्टोने केवल भोगोपभोगोके लिये अपने शास्त्रोमे हिंसाका निरूपण किया है और जिन लोगोने उसे स्वीकार किया है वे सब मरकर दुर्गतिमे उत्पन्न होगे ॥१००॥ जो स्वय हिंसा करते हैं वा दूसरोसे कराते है अथवा हिंसाको देखकर आनन्द मानते है वे सब उस पापसे नरकमे पडते हैं ॥१०१॥ यदि कदाचित् दैवयोगसे सर्पके मुँहसे अमृत उत्पन्न हो जाय अथवा रात्रिमे सूर्य दिखाई दे तथापि जीवोकी हिंसासे कभी धर्म नही हो सकता ॥१०२॥ यदि हिंसासे धर्म होता हो और स्वर्गादिकके सुख प्राप्त होते हो तो सदा शिकार खेलनेवाले म्लेच्छ लोगोको भी स्वर्गकी ही प्राप्ति होनी चाहिये ॥१०३॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! हिंसाको छोडकर तथा हिंसा आदिको

सद्यो गालितनीरेण स्नान वस्त्रादि धावनम् । प्रक्षालनं च यत्किंचित्तत्सर्वं कुरु भो बुध ॥१०५
स्नानादिक प्रकुर्वन्ति चागालितजलेन ये । अहिंसाख्य व्रत तेषा जीवघाताद्विनश्यति ॥१०६
गालयित्वा जल दत्वा पशूना यत्नतो बुध । अगालित न योग्य स्यात्पातुं च जीवसक्षयात् ॥१०७
यदैवोत्पद्यते कार्यं जलसाध्य तदेव तत् । गालयित्वा जल धीमन् कुरु त्वं धर्महेतवे ॥१०८
वस्त्रेण स्थूलस्निग्धेन नूतनेनैव भो बुधा । भाजनस्य द्विगुणेन गालय त्वं सदोदकम् ॥१०९
मुहूर्त्तं गालितं तोयं प्रासुक प्रहरद्वयम् । उष्णोदकमहोरात्र पश्चात्सम्मूर्छितं भवेत् ॥११०
माषमुद्गादिक सर्वं धान्य कीटादिसम्भृतम् । जीवहिंसाकरं धर्मसिद्ध्यर्थ त्यज भो सुहृत् ॥१११
शत्रवो बालका नार्य· पशवो मण्डलादय । मुष्टियष्टयादिघातैश्च न हन्तव्या हि श्रावकैः ॥११२
अविचार्य सुख दु खं स्वान्ययोर्ये च देहिन । घ्नन्ति यष्टयादिभिस्तेऽपि मनुजत्वेऽपि राक्षसा ॥११३
आसन शयन सर्वं यत्नेन गमनादिकम् । निरीक्ष्य नयनाभ्या च कुरुध्व गृहिण सदा ॥११४
कर्मबन्धो गृहस्थस्य व्रतभङ्गो भवेत् ध्रुवम् । यत्नहीनस्य जीवादिरक्षणे च वध विना ॥११५
दयायुक्तगृहस्थस्य मृते जीवगणे क्वचित् । अज्ञानात्कर्मबन्धश्च व्रतभङ्गो भवे न वै ॥११६

पुष्ट करनेवाले शास्त्रोको छोडकर अहिंसारूप धर्मको स्वीकार कर और जीवो पर सदा दया कर ॥१०४॥

इसी अहिंसाको पालन करनेके लिये सव पानी उसी समय छानकर काममे लाना चाहिये। नहाना, कपडे धोना, प्रक्षालन करना आदि सव काम उसी समयके छने हुए पानीसे करना चाहिये ॥१०५॥ जो विना छने पानीसे स्नान आदि भी करते हैं उनसे जीवोकी हिंसा होती है और जीवोकी हिंसा होनेसे उनका अहिंसा व्रत नष्ट हो जाता है ॥१०६॥ हे धीमन्! पशुओको भी छना हुआ पानी ही देना चाहिये क्योकि विना छने पानीमें अनन्त जीवोकी हिंसा होती है इसलिये वह पशुओको देने योग्य नही है ॥१०७॥ हे धीमन्! तुझे जलसे जो जो कार्य करने पडे उन सव कामोमें अपना धर्म धारण करनेके लिये छना हुआ पानी ही काममे ला ॥१०८॥ जिस वस्त्रसे पानी छाना जाय वह मोटा होना चाहिये, चिकना होना चाहिये और नया होना चाहिये तथा जितना वडा वर्तनका मुँह हो उससे तिगुना होना चाहिये, ऐसे वस्त्रको दुहराकर फिर उससे जल छानना चाहिये ॥१०९॥ वस्त्र-गालित जल एक मुहूर्तके बाद, प्रासुक जल दो प्रहरके बाद और उष्ण जल अहोरात्र (चौवीस घटे) के बाद सम्मूर्च्छित हो जाता है, अर्थात् उसमे सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अत उक्त अवधिके पश्चात् उसे काममे नही लेना चाहिये ॥११०॥ हे श्रावकोत्तम! जिसमे कीडे पड गये हो ऐसे उडद, मूंग आदि धान्य कभी नही खाना चाहिये। क्योकि ऐसे धान्योके खानेसे जीवोकी हिंसा होती है इसलिये धर्म पालन करनेके लिये इनको छोड देना चाहिये ॥१११॥ श्रावकोको लकडी वा थप्पड आदिसे शत्रु, वालक, स्त्री अथवा कुत्ते आदि पशुओको भी कभी नही मारना चाहिये ॥११२॥ जो प्राणी अपने तथा दूसरोके सुख दु खादिको का विचार किये विना ही लकडी आदिसे अन्य जीवोको मार देते हैं वे मनुष्य होकर भी राक्षसके समान हैं ॥११३॥ गृहस्थी लोगोको अपना वैठना, सोना, चलना आदि सव काम आँखोसे देखकर प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये जिससे किसी जीवकी हिंसा न होने पावे ॥११४॥ यदि जीवोकी रक्षा करनेमे प्रयत्न न किया जाय तो विना किसी जीवकी हिंसा हुए भी व्रतका भग होनेसे भवभवमे कर्मबन्ध होता है ॥११५॥ जो गृहस्थ अपना हृदय दया पालन करनेमें लगाता है उसके अज्ञानसे यदि किसी जीवकी हिंसा भी हो जाय तो भी न तो उसके व्रतका भग ही होता है और न कर्मका

भावेन कथितो धर्मो व्रतं च गौतमादिभि. । तस्माद्भावो विधातव्यो बुधैर्जीवादिरक्षणे ॥११७
सूनादिके सदा यत्न कुरुध्वं श्रावकोत्तमाः । प्रमादं हि परित्यज्य जीवराशिक्षयंकरे ॥११८
हुताशने गृहस्थैश्च षट्जीवादिविनाशके । महायत्नोऽपि कर्तव्यो व्रतरक्षादिहेतवे ॥११९
नीरं चागलितं येन पीतमञ्जलिमात्रकम् । घटेनैव कृत स्नानं तस्य पापं न वेद्म्यहम् ॥१२०
अतिस्तोकेन नीरेण निरीक्ष्य मूत्रसादिकम् । स्नानादिकं प्रकर्तव्यं बुधैः पूजादिहेतवे ॥१२१
वहुनोक्तेन किं साध्यं कायवाड्मनसादिभि. । जीवरक्षां कुरुध्व भो बुधा श्रीव्रतसिद्धये ॥१२२
सवलो दुर्बलं चात्र हन्ति यो दुष्टमानस । सहेत परलोके स तस्माद्धिंसामनेकधा ॥१२३
तृणेन स्पर्शमात्रेण किंचिद्दुःखमवैति य । स कथं परजीवानामङ्गे शास्त्रं निपातयेत् ॥१२४

अन्धा कुब्जकवामनातिविकला. कुष्ठादिरोगान्विताः
दारिद्रोपहता अतीव चपला वीभत्सरूपाः शठा. ।
भृत्या दु खविपीडिता. परभवे चाल्पायुष स्युर्ध्रुवं
मातङ्गादिकुजातिष्वङ्गिहननान्मन्दा नरा निर्दयात् ॥१२५
ये ध्नन्ति दुष्टा हि शठाः पशूंश्चयष्ट्यादिभिस्ते बहुदुःखपूर्णाम् ।
तिर्यग्गतिं यान्ति सदाप्यमुत्र पापव्रजात्स्थावरजातियुक्ताम् ॥१२६
कुर्वन्ति ये दुष्टधियश्च हिंसा, जीवस्य तेऽमुत्र बुधैर्विनिन्द्या ।
कुष्ठ्यादिरोगं प्रतिपद्य लोके पतन्ति श्वभ्रे विषमेऽतिपापात् ॥१२७

वन्ध ही होता है ॥११६॥ इसका भी कारण यह है कि गौतमादि ऋषियोने धर्मका पालन करना वा व्रतोका पालन करना भावपूर्वक वतलाया है इसलिये वुद्धिमान लोगोको जीवोकी रक्षा करनेमे सदा अपने भाव लगाते रहना चाहिये ॥११७॥ उत्तम श्रावकोको जीवराशिको क्षय करनेवाले प्रमादको छोडकर घरमे प्रतिदिन होनेवाले पाँचो पापोमे (चक्की, उखली, चूलि, वुहारी और पानी ये गृहस्थीके पाँच सून वा पाप कहलाते है) जीवोकी रक्षाका सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥११८॥ व्रतोकी रक्षाके लिये गृहस्थोको अग्निके जलानेमे भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये क्योकि अग्निके जलानेमे छहो कायके जीवोकी हिंसा होती है ॥११९॥ इसी प्रकार जो अजलिमात्र भी विना छना पानी पीता है और विना छने एक घडेसे भी नहाता है उसके पापोको हम लोग जान भी नही सकते ॥१२०॥ वुद्धिमान लोगोको भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा, प्रक्षाल आदि करनेके लिये वहुत थोडे छने जलसे देखभाल कर स्नान करना चाहिये ॥१२१॥ वहुत कहनसे क्या, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि विद्वान् लोगोको व्रतका पालन करनेके लिये मनसे, वचनसे और शरीरसे जीवोकी रक्षा करनी चाहिये ॥१२२॥ जो दुष्ट वलवान होकर दुर्वलोको मारता है वह परलोकमे उसी जीवके द्वारा अनेक बार मारा जाता है ॥१२३॥ अरे जो एक जरासे तृणके स्पर्श से दु खी होता है वह दूसरे जीवोके शरीरपर किस प्रकार शस्त्र चलाता है ? ॥१२४॥ जो मनुष्य निर्दयी है, जीवोकी हिंसा करते रहते है वे मूर्ख अन्वे, कुब्जे, वौने, अङ्ग उपाङ्गोसे रहित, कोढ आदि अनेक रोगोसे घिरे हुए, दरिद्री, चचल, देखनेमे घृणित, भयानक, मूर्ख, होते है, दूसरोके दास होते है, अत्यन्त दु खी होते है, परभवमे थोडी आयु पाते है और चाडाल आदि नीच योनियोमे उत्पन्न होते है ॥१२५॥ जो मूर्ख और दुष्ट लकडी आदिसे पशुओको मारते है वे भी अत्यन्त दु खी होते है और मरकर उस पापसे परलोकमे तिर्यंच गतिमे ही जन्म लेते है ॥१२६॥ जो दुष्ट जीव इस जन्ममे जीवोकी हिंसा करते है वे वुद्धिमानोके द्वारा सदा निन्दनीय गिने जाते है तथा

हिंसा श्वभ्रप्रतोलिका बुधजनैर्निन्द्या शठै स्वीकृता
रोगक्लेशभयादिदु खजननी पापादिखानि सदा ।
स्वर्गद्वारमहार्गला स्वपरयोर्बाधाकरा दुस्त्यजा
मुक्तिस्त्रीभयदा त्यज त्वमपि भो जीवेषु कृत्वा दयाम् ॥१२८

भ्रात सर्वसुखाकरा मुनिजनै सेव्या दया भो भज मुक्तिद्वारप्रवेशमार्गकुशलां श्वभ्रगृहेष्वर्गलाम् ।
सद्धिद्यामलरत्नखानिपरमा नाकगृहे दीपिका मत्वा जीवकदम्बकं हि स्वसमं सर्वेषु सत्त्वेषु वै ॥१२९

अमलसुखनिधानं धर्मवृक्षस्य मूलं, सकलसमितिसाध्यं तीर्थनाथस्य सेव्याम् ।
विमलनियमकन्दं स्वर्गमोक्षैकहेतोस्त्वमपि भज व्रतं भो जीवरक्षाख्यमेव ॥१३०

सर्वातिचारनिर्मुक्तं अहिंसाख्यमणुव्रतम् । यो धत्ते मतिमान् सोऽपि याति षोडशमं दिवम् ॥१३१
भवन्त्यणुव्रतस्यैव व्यतिचारा हि ये मुने । अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं तान् सर्वान् मे निरूपय ॥१३२
निश्चल स्ववशे चित्तं कृत्वा त्व शृणु श्रावक । व्यतीपातान् प्रवक्ष्यामि ते धर्माय मलप्रदान् ॥१३३
त्व वन्धवधच्छेदातिभारारोपणमेव हि । अन्नपाननिरोधं च त्यजातिचारपञ्चकम् ॥१३४
रज्ज्वादिभिः पशूना यो विधत्ते वन्धनं दृढम् । अतिचारो भवेद्वन्धो नाम तस्य व्रतस्य वै ॥१३५
यष्ट्यादिभिर्मनुष्यस्त्रीपशूनां हन्ति योऽधम । भवेद्व्यतिक्रमस्तस्य वधो नाम विरूपक ॥१३६

कोढ आदि अनेक रोगोको पाकर परलोकमे उस पापकर्मके उदयसे विषम नरकमे ही जन्म लेते हैं ॥१२७॥ यह हिंसा नरककी देहली है, विद्वानोके द्वारा सदा निंदनीय है। रोग, क्लेश, भय आदि अनेक दुखोकी जननी है, मूर्ख लोग ही इसको स्वीकार करते है, अनेक पापोकी खानि है, स्वर्गका द्वार वन्द करनेके लिये अर्गल है, अपनेको दूसरोको सवको दु ख देनेवाली है, वड़ी कठिनतासे छूटती है और मुक्ति लक्ष्मीको भय देनेवाली (दूर भगानेवाली) है। इसलिये हे भव्य ! तू जीवोपर दया कर इस पापमयी हिंसाको छोड ॥१२८॥ हे भ्रात ! तू समस्त जीवोको अपने समान मानकर सव जीवोपर दया कर, क्योकि यह दया सवको सुख देनेवाली है। मुनि लोग भी इसकी सेवा करते है, मोक्षमार्गमे प्रवेश करानेके लिये यह अत्यन्त कुशल है। नरकरूपी घरको वन्द करनेके लिये अर्गल है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोकी खानि है और स्वर्ग लोककी देहली है, ऐसा समझकर इसको सदा धारण करना चाहिये ॥१२९॥ यह जीवोकी रक्षा करनेवाला व्रत निर्मल सुखकी निधि है, धर्मरूपी वृक्षकी जड है, सव समितियोसे सिद्ध होता है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते है, यह निर्मल यशको देनेवाला है और स्वर्गमोक्षका कारण है। इसलिये हे भव्य ! तू भी इस व्रतका सेवन कर ॥१३०॥ जो वुद्धिमान इस अहिंसा अणुव्रतको समस्त अतीचारोको छोडकर पालन करता है वह अवश्य ही सोलहवे स्वर्गमे जाकर उत्तम देव होता है ॥१३१॥प्रश्न—हे मुने ! इस अहिंसा अणुव्रतको निर्मल निर्दोष पालन करनेके लिये इस व्रतके जितने अतिचार है उन सवको मेरे लिये निरूपण कीजिये ॥१३२॥ उत्तर—हे वत्स ! तू चित्तको एकाग्रकर सुन। मैं केवल धर्मकी वृद्धिके लिये व्रतोमे दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचारोको कहता हूँ ॥१३३॥ इस अहिंसा अणुव्रतके वध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पाँच अतिचार है। इन पाँचो अतीचारोको तू छोड ॥१३४॥ पशुओको रस्सी आदिसे मजवूत वाँध देना (जिससे कि वे अग्नि आदि लगनेपर भी भाग न सके) वह वध नामका अहिंसाणुव्रतका पहिला अतिचार गिना जाता है ॥१३५॥ जो नीच मनुष्य, स्त्री वा पशुओको लकडी आदिसे मारते है उनको यह वध नामका दूसरा निंद्य अतीचार लगता है ॥१३६॥ जो वुद्धिहीन कान नाक आदि

ये कर्णनासिकादीना छेद कुर्वन्ति दुर्धियः। व्यतीपातोऽति स्यात्तेषां छेदो नामा कुदुःखदः ॥१३७
लोभादादधे पशूनां य. प्रभाराधिरोपणम्। अतिक्रमो भवेत्तस्य व्रतस्य मलदायक ॥१३८
पशूना यो नृणा धत्ते चान्नपाननिरोधनम्। अन्नपाननिरोधः स्यादतिचारोऽपि तस्य वै ॥१३९
कृत्स्नातिचारसंत्यक्तं यो धत्ते व्रतमञ्जसा। स्वर्गराज्यादिक प्राप्य क्रमाद्याति शिवालयम् ॥१४०
आद्यं व्रतं विधत्ते य· प्राप्य पूजा सुरैरिह। नाक प्रयाति सोऽमुत्र तद्विना दुःखभाग् भवेत् ॥१४१
येन पूजा परिप्राप्ता अहिंसाव्रतरक्षणात्। भट्टारक ! कथा तस्य कृपा कृत्वा वदस्व मे ॥१४२
निधाय चित्तमेकाग्र श्रृणु वत्स कथा तव। वक्ष्ये समासत. सारामहिंसाव्रतसम्भवाम् ॥१४३
विख्यातो यो भवेदत्र मातङ्ग· प्रथमे व्रते। यमपालाभिधस्तस्य कथा वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥१४४
सुरम्यविषये पुण्यात्पोदनाख्ये पुरे वली। महाबलो भवेद्राजा तस्य पुत्र कुधीर्वल ॥१४५
अथ नन्दीश्वराष्टम्या जीवामारणघोषणा। कृता राजाज्ञया लोके प्रधानैश्च दिनाष्टका ॥१४६
बलनामकुमारेण मासासक्तेन मेढक। राजकीयो हतः शीघ्र कश्चिन्नरमपश्यता ॥१४७
तस्यामिषं सुसंस्कार्य भक्षितं तेन तत्क्षणम्। राजोद्यानेऽपि प्रच्छन्ने नैव पापाढ्यचेतसा ॥१४८
राज्ञा रुष्टेन चाकर्ण्य वार्ता तन्मारणोद्भवाम्। गवेषयितुमारब्धो मारको मेढकस्य य ॥१४९
मालाकारेण प्रोद्यानवृक्षोपरि स्थितेन वै। तन्मारण प्रकुर्वाणो दृष्ट पापोदयात् स्वयम् ॥१५०
गृहमागत्य रात्रौ हि स्वभार्यायाः निरूपितम्। दृष्ट तेनैव यत्तद्धि वृत्त राजकुमारजम् ॥१५१

छेदा करते हैं उनके दु ख देनेवाला यह छेद नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥१३७॥ जो लोभके वश होकर पशुओपर अधिक बोझ लाद देते है उसके दोष उत्पन्न करनेवाला अतिभारारोपण नामका अतीचार लगता है ॥१३८॥ जो मनुष्य वा पशुओका अन्नपान रोक देता है अथवा समयपर नही देता उसके अन्नपाननिरोध नामका पाँचवाँ अतीचार लगता है ॥१३९॥ जो भव्य इन समस्त अतीचारोको छोडकर निर्मल अहिंसाव्रतको पालन करता है वह स्वर्ग वा राज्यादिके सुख भोगकर अन्तमे मोक्ष प्राप्त करता है ॥१४०॥ जो बुद्धिमान् इस प्रथम अहिंसा अणुव्रतको पालन करता है वह देवोके द्वारा भी पूज्य होता है और परलोकमे भी सुखी होता है तथा इस व्रतके न पालनेसे वह सदा दु खी रहता है ॥१४१॥ प्रश्न—हे प्रभो ! इस अहिसा अणुव्रतको पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥१४२॥ उत्तर—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मै इस अहिसा अणुव्रतमे प्रसिद्ध होनेवालेकी सारभृत कथा सक्षेपमे कहता हूँ ॥१४३॥ इस अहिंसा अणुव्रतके पालन करनेमे यमपाल नामका चाडाल प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अव मै उसकी पुण्य बढानेवाली कथा कहता हूँ ॥१४४॥ सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमे पुण्यकर्मके उदयसे महाबल नामका बलवान राजा राज्य करता था। उसका एक पुत्र था जो दुष्टवुद्धिवाला था और बल उसका नाम था ॥१४५॥ किसी एक समय नन्दीश्वरपर्वके दिनोमे राजाकी आज्ञासे मन्त्रीने आठ दिन पर्यंत जीवोके न मारनेकी सब जगह घोषणा कर दो ॥१४६॥ परन्तु राजकुमार बल मासासक्त था उस पापीने राजाके ही बागमे छिपकर राजाका ही मेढा मारा और उसका मास पकाकर खाया ॥१४७-१४८॥ मेढाके न मिलनेसे उसके मारे जानेकी वात राजाने सुनी और वह उस मेढाको मारनेवालेकी तलाश करने लगा ॥१४९॥ जिस समय कुमारने मेढा मारा था उस समय उस बागका माली एक वृक्षपर चढा हुआ था इसलिये उसने उस कुमारके पाप कर्मके उदयसे उसका सब कृत्य देख लिया था ॥१५०॥ रातको घर आनेपर उसने वह सब वात अपनी

प्रच्छन्नेन तदाकर्ण्य वचनं कर्णदुःखदम् । राजश्चरपुरुषेण प्रोक्त सर्वं विशेषत ॥१५२
आकारित पुन पृष्टो मालाकारोऽपि तेन स । प्रभाते तेन तत्सर्वं तस्य सत्यं निरूपितम् ॥१५३
तेन पुत्रेण किं साध्यं जीवघातं करोति य. । आज्ञामुल्लङ्घ्यते राज्ञा प्रोक्तं चेति विचार्य वै ॥१५४
यमाख्य तलवर त्वं नवखण्ड प्रकारय । शीघ्रं बलकुमारं मे रुष्टेन मासभक्षकम् ॥१५५
ततस्तं मारणस्थाने नीत्वा भृत्याश्च प्रेषिता । आनेतुं यमपालाख्यं मातङ्गं तेन तत्क्षणम् ॥१५६
दृष्ट्वा तेनैव तानुक्तं प्रिये त्वं सुनिरूपय । एतेषां सोऽद्य मातङ्गो गतो ग्राम सुनिश्चितम् ॥१५७
इत्युक्त्वा गृहकोणे ता प्रच्छन्न स स्वय स्थित । आगत्याकारितं तैश्च मातङ्गस्तलरक्षकैं ॥१५८
मातङ्ग्या कथितं तेषा सोऽद्य ग्रामं गतो ध्रुवम् । तैरुक्तं हि पापोऽयं पुण्यहीन कुतो गत ॥१५९
कुमारमारणे तस्य वस्त्राभरणमण्डिते । बहुरत्नसुवर्णादिलाभो भवति निश्चितम् ॥१६०
तेषा वचनमाकर्ण्य तया मातङ्गभार्यया । द्रव्यादिलुब्धया सोऽपि दर्शितो हस्तसंज्ञया ॥१६१
भणन्त्या मायया ग्राम गतश्चेति पुन पुन । ततो निस्सारितो गेहाद्धठात्तूर्णं स तै स्वयम् ॥१६२
मारणार्थं कुमारस्तै स तस्यापि समर्पित । तेनोक्तं नाहमद्यैव जीवघातं करोमि भो ॥१६३
तैरुक्तमद्य घस्रे त्व कुमार हसि किं न भो । चतुर्दशीदिने प्राह ध्रुवं स नियमोऽस्ति मे ॥१६४
ततस्तूर्णं तलारै स नीत्वा राज्ञो निरूपित. । देवायं तव पुत्रं तं नैव मारयति स्फुटम् ॥१६५

स्त्रीसे कही थी, क्योकि उसने उस राजकुमारका सब कृत्य देख ही लिया था ॥१५१॥ राजाके किसी गुप्तचरने कानोको दु ख देनेवाली वह सब वात सुन ली और जाकर राजाको सब हाल ज्योका त्यो सुना दिया ॥१५२॥ सवेरा होते ही राजाने मालीको बुलाकर पूछा । उसने महाराजसे सब बात ज्योकी त्यो यथार्थ कह दी ॥१५३॥

महाराजने विचार किया कि ऐसे पुत्रसे क्या लाभ है जो जीव घात करे और राजाकी आज्ञाका उल्लघन करे । यही विचारकर उसने यमपाल चाण्डालको आज्ञा दी कि वह मांसभक्षक राजकुमार बलको मार डाले ॥१५४–१५५॥ तदनन्तर वह राजकुमार वधस्थानमे पहुँचाया गया और उसी समय यमपाल चाण्डालको बुलानेके लिये सेवक लोग भेज दिये गये ॥१५६॥ कोतवाल के सिपाहियोको आते हुए देखकर चाडालने अपनी स्त्रीसे कहा कि 'हे प्रिये ! ये आनेवाले मुझे पूछें तो कह देना कि आज वह गाँवको गया है ।' इस प्रकार अपनी स्त्रीको समझाकर वह घरके एक कोनेमे छिप गया । उन सिपाहियोने आते ही पूछा कि चाडाल कहाँ है ? इसके उत्तरमे उसकी स्त्रीने उत्तर दिया कि आज वह गाँवको गया है । चाडालीका यह उत्तर सुनकर सिपाहियोने कहा कि 'छी छी वह बडा पापी है और बहुत ही पुण्यहीन है । अरे ! आज वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित राजकुमार मारा जायगा इसलिये आज अनेक रत्न, बहुतसा सोना तथा और भी बहुतसी प्राप्ति होगी ॥१५७–६०॥ उन सिपाहियोकी यह बात सुनकर वह चाडाली अपने लोभको न दवा सकी और उस चाडालके डरमे उसने मुँहसे तो कपटपूर्वक यही कह दिया कि 'वह आज तो गाँवको ही गया है, परन्तु उसने हाथके इशारेसे चाडालको दिखला दिया । इसके बाद उन सिपाहियोने उस चाडालको बलात्कार घरसे निकाला और मारनेके लिये कुमार उसको सौपा, परन्तु उस चाडालने कहा कि मैं आज जीवघात कभी नही कर सकता ॥१६१–६३॥ इसके उत्तरमे कोतवालने कहा कि इस कुमारको मारनेकी राजाकी आज्ञा है इसलिये तू इसे मार । तब चाडाल ने कहा कि आज चतुर्दशीका दिन है, आजके दिन मेरे जीवोंके न मारनेका नियम है ॥१६४॥ यह सुनकर कोतवाल बहुत ही शीघ्र उस चाडालको राजाके पास ले गया और महाराजसे प्रार्थना

राजा ब्रूते हि मातङ्गं त्वं पुत्रं हसि किन्न वै। तेनोक्तं शृणु भो देव! काञ्चिन्मम कथा वराम् ॥१६६
एकदा सर्पदंष्टोऽहं मूच्छितो बान्धवादिभि। स्मशाने परिनिक्षिप्तो नीत्वा च मृतक यथा ॥१६७
सत्सर्वौषर्धाद्धमुने शरीरस्पर्शिवायुना। त्यक्तदेहस्य तत्रैव जीवितोऽहं शुभोदयात् ॥१६८
पार्श्वे तस्य मुनीन्द्रस्य गृहीतं हि मया व्रतम्। चतुर्दशीदिने सारे सर्वजीवाभयप्रदम् ॥१६९
अतो देव! तमद्याहं मारयामि न निश्चितम्। स्वर्गमुक्तिसुखायैव पूर्वपापादिशान्तये ॥१७०
व्रतमस्पृश्यचाण्डालस्यापि सारं कथं भवेत्। इति सचित्य रुष्टेन राज्ञा प्रोक्त विरूपकम् ॥१७१
एतयोश्चण्डकर्म त्वं बन्धयित्वा विबन्धनैः। शिशुमारहृदे नीत्वा निक्षेपं कुरु दुष्टयोः ॥१७२
वर प्राणपरित्यागो न च भङ्क्तुं क्वचिद्व्रतम्। व्रतभङ्गोऽतिदु खाय प्राणा सन्ति भवे भवे ॥१७३
जीवितव्यं भवेद् यत्र व्रतं त्यक्त्वातिदुर्लभम्। तेन मे पूर्यतामद्य प्राणान्ते न जहामि तत् ॥१७४
इति निश्चित्य चित्ते स धीर सद्व्रततत्परः। त्यक्तप्राण परित्यक्तभय सिंह इव स्थित ॥१७५
तेन निक्षिपितौ शीघ्रं दृढवन्धनबन्धितौ। मातङ्गव्रतमाहात्म्यदागता जलदेवता ॥१७६
तया च जलमध्येऽपि कृतं सन्मणिमण्डपम्। सिंहासन महाप्रातिहार्यं सदुन्दुभिस्वनम् ॥१७७
जयात्र भो सन्मातङ्ग साधु साधु त्वमेव हि। धन्योऽसीति तया तस्य कृता व्रतप्रभावना ॥१७८

की कि हे महाराज! यह चाडाल कुमारको आपका पुत्र समझकर नही मारता है ॥१६५॥ राजा ने उस चाडालसे पूछा कि तू इस कुमारको क्यो नही मारता है? तब चाडालने कहा कि हे प्रभो! मेरी एक छोटी-सी कथा सुन लीजिये ॥१६६॥ 'किसी एक दिन मुझे सर्पने काट लिया था और मै उसके विषसे मूर्छित हो गया था, तव मेरे भाई वन्धु आदि कुटुम्बियोने मुझे मरा समझकर स्मशानमे लाकर पटक दिया था ॥१६७॥ वहाँपर एक सर्वौषधि ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनिराज विराजमान थे, उनके शरीरको स्पर्श करनेवाली वायु मेरे शरीरपर लगी और शुभ कर्म के उदयसे मै जीवित हो गया ॥१६८॥ जीवित होते ही मैंने परमोपकार करनेवाले उन मुनिराजसे व्रत लिया था कि मैं चतुर्दशीके दिन किसीकी हिंसा नही करूँगा। इसीलिये हे देव! स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये और पर्वके दिनोमे समस्त पापोको शान्त करनेके लिये आज मैं उसे कभी नही मारूँगा' ॥१६९–७०॥ राजाने सोचा कि यह अस्पृश्य चाडाल है इसके ऐसा उत्तम व्रत कहाँसे हो सकता है' यही सोचकर राजाने कडे शब्दोमे कहा कि 'हे कोतवाल! ये दोनो ही दुष्ट हैं इसलिये इन दोनोको रस्सी आदिसे खूव अच्छी तरह व्राँधकर शिशुमार नामके भयकर सरोवरमे पटक दो! ॥१७१–१७२॥ राजाकी यह आज्ञा सुनकर वह चाडाल विचार करने लगा कि 'प्राणोका त्याग कर देना अच्छा, परन्तु व्रतका भग करना अच्छा नही, क्योकि व्रत भग करने से जन्म जन्ममे दु ख प्राप्त होते हैं और प्राण तो प्रत्येक भवमे प्राप्त होने रहते हैं। व्रतकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसे प्राप्त हुए व्रतको छोडकर जीवित रहनेसे क्या लाभ है? इसलिये प्राण भले ही चले जाओ, परन्तु मै अपने व्रतको कभी नही छोड सकता।' हृदयमे ऐसा निश्चयकर वह धीर वीर चाडाल अपने व्रत पालनेमे तत्पर वना रहा और अपने प्राणोका भय छोडकर सिंहके समान निर्भय वना रहा ॥७३–७६॥ तदनन्तर उस कोतवालने उन दोनोको अच्छी तरह वाँधकर उस सरोवरमे पटक दिया। चाडाल अपने व्रतमे अचल रहा था इसलिये उसके व्रतके माहात्म्यसे उसी समय जलकी देवी आई। आते ही उसने उसके मध्यमे ही एक मणियोका मडप वनाया। उसमे एक सिंहासनपर चाडालको विराजमान किया, दुदुभी वाजे वजाये, प्रातिहार्य वनाये और पुकारकर कहा कि 'हे चाडाल! तेरी जय हो, तू ससारमे वहुत अच्छा है, वहुत

तं प्रातिशयमाकर्ण्य स्व विनिन्द्य मुहुर्मुहु । भयकम्पितसर्वाङ्ग स्वयं तत्रागतो नृप ॥१७९
प्रशस्य पूजयित्वा च विशिष्टस्तेन सत्कृत । सस्पृश्य स्नापयित्वा च निजछत्रतले स्वयम् ॥१८०
एवं चादिव्रतेनैव मातङ्गोऽपि दिवं गत । अमुत्रात्र परिप्राप्य पूजां राज्ञा सुरेण स ॥१८१
यो भव्य सत्कुलोत्पन्नो धत्ते जीवदयाव्रतम् । मनोवाक्काययोगेन फलं तस्य न वेद्म्यहम् ॥१८२

नृपजनसुरपूज्यो धीरवीरैकचित्तो, धृतप्रथमव्रतो य कीर्तिलाभादिसारम् ।
अमलमिह समस्तं प्राप्य स्वर्ग गतो ना स जयतु यमपालो नाम मातङ्गसिह ॥१८३

अहिंसाव्रतसारस्य प्रतिपाद्य फलं तव । वक्ष्येऽहं शृणु भो वत्स दोषं जीवदयां विना ॥१८४
कृपा विना धनश्रीर्या प्राप्ताद्दु खपरम्पराम् । कथां तस्या हि वक्ष्यामि भव्यलोकभयप्रदाम् ॥१८५
लाटदेशेऽतिविख्याते भृगुकक्षाख्यपत्तने । लोकपालनृप श्रीमान् वभूव पुण्ययोगत ॥१८६
वणिक् स्याद्धनपालोऽत्र धनश्रीस्तस्य वल्लभा । तयोश्च सुन्दरी पुत्री गुणपालाभिध सुत ॥१८७
पूर्व धनश्रिया योऽपि पुत्रबुद्ध्याऽतिपोषित । मोहेन पुत्रकालेऽपि कुण्डलाख्योऽस्तिबालक ॥१८८
धनपाले मृते पश्चात्तेनैव सह रूपिणा । करोति कामक्रीडां सा दुष्टाचारैकमानसा ॥१८९
गुणपालेन तज्ज्ञात अम्बायाश्चेष्टितं ध्रुवम् । प्रोक्त धनश्रिया जारं प्रतिशङ्कितया स्वयम् ॥१९०
रे कुण्डल ! प्रभातेऽहं चारयितुं स्वगोधनम् । अटव्यां प्रेषयामि त्वं गुणपालं हि मारय ॥१९१

उत्तम है और तू ही धन्य है' इस प्रकार उस देवीने उस चाडालके व्रतकी वड़ी प्रभावना की ॥१७७–१७८॥ उस अतिशयको सुनकर राजा भी दौडता आया, भयमे उसका सव शरीर कंपने लगा और उसने वार वार अपनी निन्दा की ॥१७९॥ राजाने आते ही उसकी प्रशसा की, पूजा की, वस्त्राभूषणोसे उसका सत्कार किया और अपने छत्रके नीचे विठाकर स्वय उसे स्नान कराया ॥१८०॥ इस प्रकार वह चाडाल केवल अहिसा व्रतके माहात्म्यसे राजाके द्वारा पूज्य हुआ, और देवोके द्वारा पूज्य हुआ तथा मरकर स्वर्गमे देव हुआ ॥८१॥ इस अहिसा व्रतके प्रभावसे जव एक चाडालने इतना फल पाया तव फिर श्रेष्ठ कुलमे उत्पन्न हुआ भव्य पुरुष, मन वचन कायसे जीवोकी दया पालन करता है, अहिंसाव्रतको धारण करता है उसके फलको हम जान भी नही सकते ॥१८२॥ देखो धीर वीर सिहके समान निर्भय यमपाल चाडालने एकाग्रचित्तसे प्रथम अहिसा व्रतका पालन किया था इसलिये वह राजा और देवोके द्वारा पूज्य हुआ, ससारमे उसकी निर्मल कीर्ति हुई और सव तरहकी महिमाको पाकर अन्तमे स्वर्गका देव हुआ। इसलिये यह अहिसाव्रत सवको पालन करना चाहिये ॥१८३॥ हे वत्स ! इस प्रकार तुझे सर्वोत्तम अहिसाव्रतका फल वतलाया। अव आगे विना दयाके जो दोष होते हैं उन्हे कहता हूँ तू सुन ॥१८४॥ विना दयाके धनश्रीने वहुत दिनोतक अपार दु ख पाया था इसलिये भव्य जीवोको उस निर्दयताके पापसे भय उत्पन्न करनेवाली उसकी कथा कहता हूँ ॥१८५॥ लाट देशके भृगुकक्ष नामके नगरमे पुण्य-कर्मके उदयसे श्रीमान् राजा लोकपाल राज्य करता था ॥१८६॥ उसी नगरमे एक वनपाल नामका वैश्य रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोके सुन्दरी नामकी पुत्री थी और गुणपाल नामका एक पुत्र था ॥१८७॥ पहिले किसी समय धनश्रीने एक कुडल नामके वालकको पुत्र समझकर पाला था और उसपर उसका वहुत मोह था ॥१८८॥ परन्तु धनपालके मरनेपर वह दुराचारिणी धनश्री उसी कुडलके साथ कामक्रीडा करने लगी ॥१८९॥ धनश्रीके पुत्र गुणपालने अपनी माताका यह सव दुराचार जान लिया इसलिये धनश्रीको उससे कुछ डर लगा और उसने कुण्डल से कहा कि 'हे कुण्डल ! मैं सवेरे ही गुणपालको गाये चरानेके लिये जगलमे भेजूँगी सो तू वहाँ

येनावयोरेकस्थानं भवत्येव निरङ्कुशम् । ब्रुवाण मातरं श्रुत्वा जगौ तत्सुन्दरी स्वयम् ॥१९२
हे बान्धवाद्य यामेऽपि पश्चिमे निशि गोधनम् । गृहीत्वा प्रेषयित्वा च माता त्वा मारयिष्यति ॥१९३
अटव्या कुण्डलस्यैव हस्तेन कूटयोगत । अतस्तत्राधुना त्व हि सावधानो भव स्वयम् ॥१९४
यामे धनश्रिया रात्रौ पश्चिमे भणितोऽङ्गज । हे पुत्र ! कुण्डस्याङ्ग वर्ततेऽति विरूपकम् ॥१९५
अतो व्रज गृहीत्वा त्वं गोधनं प्रसरे स्वयम् । तस्या वचनतस्तेन तत्र नीत तदेव हि ॥१९६
काष्ठ पिधाय वस्त्रेण भूत्वा तत्र निरोहित । स्थितोऽन्वेषयितुं मातुश्चेष्टित सोऽतिमूढत ॥१९७
आगत्य कुण्डलेनैव कृतो घातोऽसिना स्वयम् । मत्वेति गुणपालं तत् काष्ठे सद्वस्त्रकम्पिते ॥१९८
ततोऽघाद्गुणपालेन मारित. सोऽतिदुष्टधी । खड्गेनैव पुन गेहमागत स्वयमेव स ॥१९९
ततो धनश्रिया पृष्टो गुणपालः क्व कुण्डलः । तेनोक्त तस्य वार्ता मे खड्गो जानाति तत्त्वत ॥२००
ततो रक्तसमालिप्तं खड्गमालोक्य कोपत । तया तेनैव खड्गेन हत पुत्रो दया विना ॥२०१
दृष्ट्वा ता मारयन्तीं स्वस्याम्बा बान्धवस्नेहत । हता सा मुशलेनैव सुन्दर्या पापयोगत ॥२०२
पश्चात्कोलाहले जाते कोटवालैरघोदयात् । राज्ञोऽग्रे सा समानीता धनश्री बान्धवै समम् ॥२०३
वृत्तान्त सर्वमाकर्ण्य राज्ञा पुत्रीमुखात्स्वयम् । दत्तो दण्डो महाघोर कोपादस्या महाशुभ ॥२०४
तत्कर्णनासिकाछेदगर्दभारोहणादिकम् । तत्कालार्जितपापस्य प्रोदयेन कुदु खद ॥२०५
अनुभूय महाघोर तत्सर्वं दु.खमञ्जसा । दुर्गति दु खसङ्कीर्णा दुष्टध्यानेन सा गता ॥२०६

जाकर गुणपालको मार आना। गुणपालके मारनेसे फिर हमारे तुम्हारे एक स्थानपर रहनेमे कोई वाधा नही होगी।' धनश्रीकी यह वात सुन्दरीने भी सुन ली और उसने उसी समय अपने भाई गुणपालसे कहा कि भाई माता आज तुझे गाय चरानेको भेजेगी और कुण्डलके हाथसे तुझे मरवावेगी। वह ये सव वाते रातमे कुण्डलसे कह रही थी इसलिये तू खूब सावधान रहना ॥१९०-१९४॥ सवेरा होते ही धनश्रीने गुणपालसे कहा कि हे पुत्र आज कुण्डलका शरीर ठीक नही है इसलिये आज जगलमे जाकर गायोको तू ही चरा ला। माताकी यह वात सुनकर गुणपाल सव गायोको लेकर जगलमे चला गया ॥१९५-१९६॥ वहाँ जाकर उसने अपने सव कपडे एक लकुडीको पहिनाये। उसे सोती हुई बनाकर ऊपरसे वस्त्र उढाकर आप छिप गया और दूरसे ही माताकी चेष्टा देखने लगा ॥१९७॥ कुण्डल आया, उसने कपडोसे गुणपाल समझकर तलवारका वार किया। गुणपाल यह सव कृत्य देख ही रहा था इसलिये वह झट निकल आया और तलवारसे कुण्डलको मारकर स्वय घर आ गया ॥१९८-१९९॥ गुणपालके घर आते ही धनश्रीने उससे पूछा कि कुण्डल कहाँ है ? इसके उत्तरमे गुणपालने कहा कि उसकी वात मेरी तलवार जानती है ॥२००॥ धनश्रीने देखा कि गुणपालकी तलवार रक्तसे लाल हो रही है तव उसे बडा क्रोध आया और उसने उसी तलवारसे विना किसी दयाके गुणपालको मार डाला ॥२०१॥ गुणपालको मारते हुए देखकर सुन्दरीको भी भाईका स्नेह उमड आया और धनश्रीके पाप कर्मके उदयसे सुन्दरीने भी मूसलोसे धनश्रीको खूब मारा ॥२०२॥ पीछे वहुत कोलाहल हो गया, कोतवाल भी आ गया और वह उसे वाँधकर सव कुटुम्वियोके साथ राजाके सामने ले आया ॥२०३॥

राजाने सुन्दरीके मुखसे सव बाते सुनी और क्रोधित हो उसने वहुत ही वुरा और वहुत ही कठोर दण्ड दिया ॥२०४॥ उसके नाक कान कटाकर काला मुँहकर गधेपर चढाकर उसे शहरमे घुमाया। इस प्रकार उसी समय उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे राजाके द्वारा दिये हुए महा

इति घोरतरं दु ख इहामुत्रादि निन्दितम् । हिंसादोषेण संप्राप्ता धनश्रीर्दुष्टचेष्टया ॥२०७
अन्येऽपि वहव श्वभ्रं गता ये नारदादय । हिंसानुरागतस्तेषा कथा को गदितुं क्षम ॥२०८

अशुभसकलपूर्णा दुर्गति दु खदीप्ता, दुरितवनप्रसङ्गां जीवहिंसादियोगात् ।
अतिकुचरणदोषात् सा धनश्रीर्गता त्वं, त्यज सकलवधं भो दु खभीतो यदि त्वम् ॥२०९

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अष्टमूलगुण-सप्तव्यसन-प्रथमहिंसा-विरतिव्रतसमागत-मातङ्गधनश्रीकथाप्ररूपको नाम द्वादशम परिच्छेद ॥१२॥



घोर सब दु खोका अनुभव कर वह दुष्ट धनश्री अनेक दु खोसे भरी हुई दुर्गतिमे जा उत्पन्न हुई ॥२०५-२०६॥ इस प्रकार धनश्रीने अपनी दुष्ट चेष्टासे और हिंसा नामके महा पापसे इस लोकमे भी घोर दु ख पाया और परलोकमे भी उसे अत्यन्त निंद्य गतिमे जन्म लेना पडा ॥२०७॥ नारद आदि और भी ऐसे वहुतसे मनुष्य हुए हैं जो हिंसामे प्रेम रखनेके कारण नरकमे गये हैं उन सबकी कथा कहना भी सामर्थ्यसे वाहर है ॥२०८॥ देखो धनश्रीने निडर होकर जीवहिंसाकी थी और दुराचरण किया था इसलिये उस पापके फलसे उसे अनेक दु खोसे भरी हुई और समस्त अनिष्ट सयोगसे परिपूर्ण ऐसी दुर्गतियोमे जन्म लेना पडा था । इसलिये हे भव्य ! यदि तू दु खोसे डरता है तो तू भी सब तरहकी हिंसाका त्याग कर ॥२०९॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे आठ मूलगुण, सात व्यसन और अहिंसाव्रतको निरूपण करनेवाला तथा यमपाल चाडाल और धनश्रीकी कथाको कहनेवाला यह वारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१२॥



तेरहवाँ परिच्छेद

विमलं विमल वन्दे विमलेश्वरवन्दितम् । नष्टकर्ममल देव पापदुर्मलहानये ॥१
अहिंसाव्रतमाख्याय सत्यसज्ञ व्रतं परम् । सर्वलोकहितार्थं च वक्ष्ये तद्व्रतसिद्धये ॥२
अहिंसाव्रतरक्षार्थं द्वितीय सद्व्रतं जिनै । कीर्तित गृहिणा सारं भाषासमितिसयुतम् ॥३
ये वदन्ति न च स्थूलमलीक वादयन्ति न । परैर्न चानुमन्यन्ते तेषा सत्यव्रतं भवेत् ॥४
हित ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयात्सन्मधुरं वच । बुधो निन्दादिसंत्यक्तं सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥५
हितं स्वस्य भवेद् यत्तद् वचन धर्मकारणम् । यश प्रद च पापादित्यक्त त्व वद सर्वदा ॥६
परस्यापि हित सार रागद्वेषादिवर्जितम् । वक्तव्यं च वचो नित्य धर्मसवेगद बुधै ॥७
आगमोक्तमनिन्द्यं च विकथादिपराङ्मुखम् । धर्मोपदेशनायुक्त वदन्ति सद्वचो बुधा ॥८
हितमुद्दिश्य यत्किंचिदुक्तं भो कठिन वच । असत्यं वा परस्यापि तत्सत्य गदितं जिनै ॥९
परपीडाकरं यत्तद्वच सत्कर्णदु खदम् । वधवन्धादिक सत्यमसत्यं गदितं जिनै ॥१०
सारसत्यामृतादङ्गी यश पूजादिकं भजेत् । सद्धर्मादिमसत्येन वधवन्धादिकं च भो ॥११
सति सत्यामृते पूज्ये हिते सर्वसुखाकरे । अलीक कटुकं निन्द्यं वचन को वदेत् सुधी ॥१२

जिनकी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, जिन्होने समस्त कर्मोको नष्ट कर दिया है, और गणधरादि निर्मल पुरुष भी जिन्हे वन्दना करते है ऐसे श्री विमलनाथ भगवान्‌को मै अपने पापकर्मोको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपरके परिच्छेदमे अहिंसाव्रतका निरूपण किया । अब आगे समस्त जीवोका हित करनेके लिये और श्रेष्ठ व्रतोकी सिद्धिके लिये उत्तम सत्य व्रतको कहता हूँ ॥२॥ सज्जन पुरुषोने अहिंसा व्रतकी रक्षा करनेके लिये ही सत्यव्रतका निरूपण किया है । यह व्रत गृहस्थोके लिये सारभृत व्रत है और भाषासमितिसे परिपूर्ण है ॥३॥ जो न तो स्थूल झूठ स्वय वोलते है न दूसरोसे वुलवाते है और न किसीके द्वारा बोले हुए झूठकी अनुमोदना करते हैं उनके यह सत्यव्रत होता है ॥४॥ विद्वान् गृहस्थोको सवका हित करनेवाला, थोडा और मधुर वचन कहना चाहिये, किसीकी निन्दा नही करनी चाहिये और सव जीवोको सुख देनेवाले वचन कहने चाहिये ॥५॥ हे भव्य ! तू सदा ऐसे वचन कह जिनसे अपने आत्माका कल्याण हो, जो धर्मके कारण हो, यश देनेवाले हो, और पापोसे सर्वथा रहित हो ॥६॥ विद्वान् लोगोको अन्य जीवोका हित करनेवाले, राग-द्वेपसे रहित, सारभूत और धर्म वा सवेगको वढानेवाले वचन ही सदा कहने चाहिये ॥७॥ विद्वान् लोग सदा आगमके अनुसार, अनिन्द्य, विकथादिसे रहित, धर्मोपदेशसे भरे हुए ही वचन कहते है ॥८॥ जो दूसरोके हितके लिये कुछ कठिन वाक्य भी कहे जाते हैं अथवा दूसरोकी रक्षा वा हितके लिये असत्य भी कहा जाता है वह सब भगवान् जिनेन्द्रदेवने सत्य ही वतलाया है ॥९॥ जो दूसरोको दु ख उत्पन्न करनेवाले हो, कानोको दु ख देनेवाले हो, और जीवोका वध वा वन्धन करनेवाले हो ऐसे सत्य वचनोको भी विद्वान् लोग असत्य ही कहते है ॥१०॥ सत्यरूपी सारभूत अमृत वचनोसे जीवोको यश प्राप्त होता है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और धर्मकी प्राप्ति होती है और असत्य वचनोसे वध वन्धन आदि अनेक प्रकारके दु ख प्राप्त होते है ॥११॥ इस ससारमे जव सव जीवोको सुख देनेवाले, सवका हित करनेवाले, और पूज्य

सत्यसीमादियुक्तस्य वाऽसत्यरहितस्य वै। अग्निसर्पादयो नैव पीडा कुर्वन्ति केचन ॥१३
सत्येन वचसा प्राणी पूजनीयो भवेद् ध्रुवम्। नरैर्देवैरिहामुत्र स्वर्ग-मुक्त्यादिकं श्रयेत् ॥१४
कर्कशं निष्ठुरं निन्द्यं पापाढ्यं मर्मसूचकम्। दूतकर्मकरं त्यक्तधर्मं चापरकोपदम् ॥१५
कटुकं परनिन्दादियुक्तं गर्वादिकारणम्। सरागं शोकसम्पन्नं सर्वजीवभयप्रदम ॥१६
हास्यादिप्रेरक कामकारण मुनिदूषितम्। असत्यं दुःखदं त्यक्तविचारं शास्त्रदूरगम् ॥१७
आत्मगुणप्रशसादिकर मूढप्रतारकम्। धर्मदेशविरुद्धं च कृत्स्नक्लेशादिसागरम् ॥१८
विकथादिकरं सर्वनीचलोकोदितं वच। त्यज त्व सर्वथा मित्र प्राणै कण्ठगतैरपि ॥१९
असत्यवचनाल्लोको वराको व्याकुलीकृत। रचयित्वा कुशास्त्रं भो खलैर्धर्मपराङ्मुखै ॥२०
मृषावादेन लोकोऽयं धूर्तै स्वपरवञ्चकै। धर्ममार्गात्स्वद्रव्यार्थमुत्पथे पतितो हठात् ॥२१
जैनशासनमध्ये च बाह्ये श्रीजिनशासनात्। असत्यवलतो नूनं जाता सर्वे मतान्तरा ॥२२
असद्वदनवल्लीके जिह्वाख्या सर्पिणी स्थिता। असत्यकुविषास्येन खादत्येव बहून् जनान् ॥२३
अमेध्यभक्षणं श्रेष्ठं न च वक्तु स्वजिह्वया। हिंसाकरं मृषावादं दुःखपापाकर नृणाम् ॥२४
असत्यसदृशं पापं न भूतं न भविष्यति। नास्ति लोकत्रये तस्मात्त्यज त्वं हि विषादिवत् ॥२५

ऐसे सत्यरूपी अमृत वचन उपस्थित हैं फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो निंद्य, कठोर और झूठ वचनोको कहे ॥१२॥ जो पुरुष सदा वचनोकी सीमामे ही रहता है कभी असत्य नही बोलता, उसे अग्नि सर्प आदि कोई भी पीडा नही दे सकते ॥१३॥ सत्य वचनोंके ही कारण यह प्राणी इस ससारमे देव और मनुष्योंके द्वारा पूज्य होता है तथा परलोकमे स्वर्ग मोक्षादिके सुख प्राप्त करता है ॥१४॥ जो वाक्य कर्कश हो, कठोर हो, निंद्य हो, पापमय उपदेशसे परिपूर्ण हो, किसी मर्मको कहनेवाले हो, दूतपनेके कामको करनेवाले हो, धर्मसे रहित हो, दूसरोको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हो, कडवे हो, दूसरोकी निन्दा करनेवाले हो, अभिमान प्रगट करनेवाले हो, राग उत्पन्न करनेवाले हो, शोक करनेवाले हो, समस्त जीवोको भय उत्पन्न करनेवाले हो, हँसी करनेवाले हो, कामोद्रेक उत्पन्न करनेवाले हो, मुनियोमे दोष लगानेवाले हो, असत्य हो, दुख देनेवाले हो, विचार-रहित हो, शास्त्रोसे विरुद्ध हो, अपने गुणोकी प्रशसा करनेवाले हो, मूर्ख लोगोको ठगनेवाले हो, धर्म-विरुद्ध हो, देश-विरुद्ध हो, कृष्णलेश्या आदिमे डुबानेवाले हो, विकथा आदिको सूचित करनेवाले हो, और नीच लोगोके द्वारा कहने योग्य हो, हे मित्र! ऐसे वचन कठगत प्राण होनेपर भी नही कहने चाहिये। तू ऐसे वचनोका सर्वथा त्याग कर ॥१५-१९॥ असत्य वचन कह कह कर ही दुष्ट पुरुषोने अनेक कुशास्त्र रचकर लोगोको व्याकुल और धर्मसे पराङ्मुख कर दिया है ॥२०॥ झूठ बोल बोल कर ही अपने आत्माको तथा अन्य लोगोको ठगनेवाले और धर्म मार्गसे ही द्रव्य कमाने-वाले धूर्तोंने हठपूर्वक अनेक कुशास्त्रोको रचा है ॥२१॥ असत्य वचनोके प्रभावसे ही जिनशासनके भीतर और जिनशासनके बाहर अनेक मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये है ॥२२॥ नीच मुखरूपी बामीमे जिह्वारूपी सर्पिणी रहती है वह असत्यरूपी हलाहल विषसे भरे हुए मुखसे अनेक लोगोको खा डालती है ॥२३॥ विष्टा भक्षण कर लेना अच्छा, परन्तु अपनी जिह्वासे हिंसा करनेवाले, पाप और दुःख उत्पन्न करनेवाले झूठ वचन कहना कभी अच्छा नही ॥२४॥ इन तीनो लोकोमे असत्य वचनोके समान अन्य कोई पाप न आज तक हुआ है और न हो सकता है इसलिये हे मित्र! विषैले सर्पके समान शीघ्र ही तू इसका त्याग कर ॥२५॥ इस असत्य वचनके फलसे ही लोग गूँगे,

नृणां मूकवधिराहंमुपरोगादिसञ्चयम् । दु स्वरत्वं च मूर्खत्वं जायतेऽनृतभाषणात् ॥२६
ज्ञानं विद्यां विवेकं च सुस्वरत्वं वच पटुम् । वादित्व सुकवित्वं च सत्याज्जीवा भजन्त्यहो ॥२७
अतिचारविनिर्मुक्तं सत्याख्यं यो व्रतं चरेत् । नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथो भवेत्स ना ॥२८
भो भगवन्नतीचारान् दयां कृत्वा प्ररूपय । व्रतशुद्धचर्थमत्रैव सत्यव्रतमलप्रदान् ॥२९
कृत्वा स्वहृदयं वत्स सङ्कल्पादिविवर्जितम् । शृणु तेऽह प्रवक्ष्यामि व्यतीचारान् व्रतस्य भो ॥३०
आद्यो मिथ्योपदेशश्च रहोभ्याख्यानसंज्ञकः । कूटलेखक्रिया न्यासापहारश्च भवेत्तत ॥३१
साकारमन्त्रभेदश्च व्यतीचारा भवन्त्यमी । पञ्चैवाप्यनृतत्यागव्रतस्य दोषदायका ॥३२
कार्यमुद्दिश्य योऽसत्य उपदेशो हि दीयते । परस्य द्रव्यलाभार्थं स स्यादादौ व्यतिक्रम ॥३३
अनुष्ठितं च प्रच्छन्नं स्त्री-भर्तृभ्यां प्रकाश्यते । प्राप्य लोकजनैर्यत्तद् रहोभ्याख्यानमुच्यते ॥३४
परस्य वञ्चनार्थं यः कूटलेखादिकं लिखेत् । कूटलेखक्रिया नाम्ना भवेत्तस्य व्यतिक्रम ॥३५
न्यासात्स्वामिनो योऽपि धन स्वल्पं ददाति भो । अतिचारो भवेत्तस्य स्तोकमाहृत्य तत्स्वयम् ॥३६
गृहीत्वा परमर्थं य प्रपञ्चेनापि चेष्टया । प्रकाशयति लोकाग्रे व्यतिचार लभेत् स ॥३७
एतद्दोषपरित्यक्तं सूनृतं यो वदेद्वच । स एन संवरं प्राप्य नाकं यति क्रमात् शिवम् ॥३८

वधिरकुगतिहेतुं मूकरोगादिबीजं, नरकगृहप्रवेश स्वर्गमोक्षैकशत्रुम् ।
इहपरभवदु खं पापसन्तापबीजं, त्यज सकलमसत्यं त्वं सदा मुक्तिहेतोः ॥३९

वहिरे होते हैं, उनके मुँहमे अनेक रोग हो जाते है, उनका स्वर वुरा होता है और वे मूर्ख होते है ॥२६॥ इसी प्रकार सत्य वचनके फलसे ज्ञान बढता है, विद्या वढती है, विवेक वढता है, अच्छा मीठा स्वर होता है, वचनकी चतुरता आती है, सभाको जीतनेवाला वादो होता है और अच्छा कवि होता है ॥२७॥ जो मनुष्य इस सत्यव्रतको अतीचार-रहित पालन करता है वह स्वर्गादिकके तथा राज्यादिकके सुख भोगकर अन्तमे मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥२८॥

प्रश्न—हे भगवन् ! इस व्रतको शुद्ध पालन करनेके लिये इस सत्य व्रतमे दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचारोको कृपाकर कहिये ॥२९॥ उत्तर—हे वत्स ! तू हृदयके सब सकल्प-विकल्पो को छोडकर सुन ! तेरे लिये मैं उन अतिचारोको कहता हूँ ॥३०॥ मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्य व्रतमे दोप लगनेवाले पाँच अतीचार गिने जाते हैं ॥३१-३२॥ जो अपने किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथवा द्रव्य कमानेके लिये झूठा उपदेश दिया जाता है वह मिथ्योपदेश नामका पहिला अतीचार गिना जाता है ॥३३॥ जो किसी द्रव्यके लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनसे स्त्री पुरुपोके द्वारा अथवा अन्य किसीके द्वारा किये हुए छिपे कार्यको प्रगट करता है उसके वह रहोभ्याख्यान (एकान्तमे किये हुए कार्यको प्रगट करना) नामका अतीचार कहलाता है ॥३४॥ जो किसो दूसरेको ठगनेके लिये झूठे लेख लिखता है उसके कूटलेखक्रिया नामका तीसरा अतीचार लगता है ॥३५॥ किसीके धरोहर रक्खे हुए धन मेंसे जो थोड़ा देता है उसमेंसे कुछ रख लेता है उसके न्यासापहार नामका चौथा अतीचार होता है ॥३६॥ जो किसी छल कपटसे अथवा किसीकी चेष्टा देखकर दूसरेके हृदयकी वातको जानकर उसे अन्य लोगोके सामने प्रकाशित करता है वह साकारमन्त्रभेद नामका पाँचवाँ अतीचार कहलाता हैं ॥३७॥ जो पुरुष इन अतीचारोको छोडकर सत्य भापण करता है वह स्वर्गादिकके सुख भोगकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है ॥३८॥ ससारमे असत्य वचन अनेक

नरकगृहकपाटं नाकमोक्षैकमित्रं, जिनगणधरसेव्यं सर्वविद्याकरं भो।
स्वपरहितमदोष जीवहिंसादित्यक्तं, त्वमपि वद सुसारं सत्यवाक्यं सुखाय ॥४०
य सुधी स्वर्गमुक्त्यर्थं व्रतं सत्यप्रतिष्ठितम्। धत्ते स पूज्यतां याति चेहैव नृसुरासुरैः ॥४१
सुसत्यव्रतमाहात्म्यात्प्राप्ता पूजेह जन्मनि। प्रभो तस्य कथा सारा स्वदयया समादिश ॥४२
निधाय स्ववशे चित्तं शृणु मित्र! शुभप्रदाम्। धनदेवभवा वक्ष्ये कथां मुक्त्यै तवाद्य ताम् ॥४३
जम्बूद्वीपे जनाकीर्णे विदेहे पूर्वनामनि। पुष्कलादिवती देशे जैनधर्माकरे वरे ॥४४
नगर्यां पुण्डरीकिण्यां धनदेवो वणिक् भवेत्। सत्यवाद्यपरस्तत्र जिनदेवोऽतिदुष्टधी ॥४५
अर्द्धमर्द्धं स्वलाभस्य गृहीष्यावो धनम् इति। नि साक्षिकां च व्यवस्थां तौ कृत्वा देशान्तरं गतौ ॥४६
उपार्ज्य बहुशो द्रव्यं पुण्यकर्मोदयाद्दुभौ। व्याघुटच कुशलेनैव स्वगृहं प्रागतौ चिरात् ॥४७
जिनदेवोऽतिलोभार्थं न दत्ते दुष्टमानस.। स्तोकं स्वं धनदेवाय चौचित्येन ददाति वै ॥४८
ततो झकटिको जातस्तयोस्तत्र परस्परम्। मूढा द्रव्यार्थमेवाहो पापं कुर्वन्ति किं न हि ॥४९
नि साक्षिकबलाद् ब्रूते जिनदेवोऽतिपापधी। लोकस्वजनराजादीनामग्रेऽसत्यतत्पर ॥५०
मया नैवास्य लाभार्द्धं सद्रव्यं भणितं तदा। उक्तं तदोचितं तस्मान्नाधिकं प्रददाम्यहम् ॥५१

कुगतियोके कारण हैं, गूंगे, बहिरे आदि अनेक रोगोके बीजभूत हैं, नरकमे प्रवेश करानेवाले हैं, स्वर्गमोक्षके अद्वितीय शत्रु है, अनेक कठिन दु ख देनेवाले है और पाप-संतापके बीज हैं इसलिये हे मित्र! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऐसे असत्य वचनोका सर्वथा त्याग कर ॥३९॥ इसी प्रकार सत्य वचन नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड है, स्वर्ग-मोक्षके मित्र है, श्री जिनेन्द्रदेव और गणधरदेव भी इनकी सेवा करते हैं, ये समस्त विद्याओके देनेवाले हैं, अपने आत्माका परम कल्याण करनेवाले है, सर्वथा निर्दोष हैं और जीवोकी हिंसासे सर्वथा रहित है इसलिये हे वत्स! आगामी सुख प्राप्त करनेके लिये तू भी ऐसे सारभूत सत्य वचनोके भाषण करनेका नियम ले ॥४०॥ जो बुद्धिमान् स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदा प्रतिष्ठित सत्य वचन कहते हैं वे इस लोकमे ही राजा और देव विद्याधरोके द्वारा पूज्य गिने जाते हैं ॥४१॥ प्रश्न—हे प्रभो! इस सत्य व्रतके माहात्म्यसे जिसने इस ससारमे प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसकी कथा कृपाकर मुझे सुना दीजिये ॥४२॥ उत्तर—हे मित्र! तू चित्त लगाकर सुन, मै मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कल्याण करने वाली धनदेवकी कथा तुझे सुनाता हूँ ॥४३॥ अनेक मनुष्योसे भरे हुए इस जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमे जैनधर्मसे अत्यन्त शोभायमान एक पुष्कलावती देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमे एक धनदेव नामका वैश्य रहता था। वह धनदेव सदा सत्य भाषण ही करता था। उसी नगरीमे एक दुष्ट जिनदेव रहता था ॥४३-४५॥ किसी एक समय धनदेव और जिनदेव दोनो ही व्यापारके लिये देशान्तर गये उन्होने बिना किसी अन्यकी साक्षीके परस्परमे यह तयकर लिया था कि हमारे व्यापारमे जो कुछ लाभ होगा उसे हम दोनो आधा आधा बाँट लेंगे ॥४६॥ वहाँ जाकर उन्होने पुण्यकर्मके उदयसे बहुतसा द्रव्य कमाया और फिर वे दोनो शीघ्र ही लौटकर कुशलपूर्वक घर आ गये ॥४७॥ जिनदेव दुष्ट था इसलिये घर आनेपर उसने धनदेवको आधा द्रव्य नही दिया किन्तु उसे थोडासा द्रव्य देना चाहा। इसलिये उन दोनोमे परस्पर झगडा हो गया। सो ठीक ही है क्योकि मूर्ख लोग धनके लिये क्या क्या पाप नही करते हैं? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥४८-४९॥ कोई साक्षी तो था ही नही, इसलिये झूठ बोलनेवाले पापी जिनदेवने सब लोगोके सामने, कुटुम्बियो के सामने और राजादिके सामने यही कहा कि मैंने इस व्यापारके लाभमेसे इसे कुछ भी द्रव्य

धनदेवो नृपादीनां स्वजनानां वणिक्‌विदाम् । वदत्येव स्फुटं सत्यं सत्यव्रतप्रतिष्ठितम् ॥५२
ततो राज्ञा तयोर्दत्तं द्रव्यं वह्निसमुद्भवम् । धनदेवोऽतिशुद्धोऽभूदग्निना नेतरोऽनृतात् ॥५३
अतो हि धनदेवस्य धनं सर्वं समर्पितम् । राज्ञानुपूजित साधु कारितो भूतले शुभात् ॥५४
तथा सर्वजनैर्लोके संस्तुतोऽभ्यर्चितो नुत । धनदेवोति विख्यातो जात सत्यप्रभावत ॥५५

अमलगुणनिधानो वैश्यपुत्रो धनाढ्यो, नृपतिजनगणैश्च लोकमध्ये स पूज्यः ।
विमलवचनसत्यात् प्राप्त एवात्र ख्याति, स जयतु धनदेव सत्यवादी वरिष्ठः ॥५६

गुणं सत्यवचो जातं श्रुत्वा शिष्य प्रपृच्छति । भगवन् सत्यवाक्त्यागात्प्राप्तं दु खं च केन भो ॥५७
शृणु शिष्य प्रवक्ष्येऽहं कृत्वा स्वं निश्चलं मनः । कथा ते सत्यघोषस्य सत्यहीनस्य भीतिदाम् ॥५८
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् क्षेत्रे सद्भारताभिधे । जात. सिंहपुरे राजा सिंहसेनो नृपाग्रणी ॥५९
सद्राज्ञी रामदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा । आसोत् क्षुद्र. पुरोधाश्च श्रीभूति कपटान्वित ॥६०
स बद्धा कर्तिकां तीक्ष्णां ब्रह्मसूत्रे परिभ्रमन् । वदत्येवानृतं किंचिद् ब्रवीमि यदि लोभतः ॥६१
तदा कर्तिकया जिह्वाच्छेदं स्वस्य करोम्यहम् । एवं स वर्तते लोके कपटेनैव प्रत्यहम् ॥६२
सत्यघोषाह्वय तस्य जातं नाम द्वितीयकम् । विश्रुतौ बहवो लोकाः पार्श्वे तस्य धरन्ति स्वम् ॥६३

देना नही कहा था इसलिये मै इसे उचित द्रव्यके सिवाय और कुछ अधिक नही दे सकता ॥५०–५१॥ धनदेव अपने सत्यव्रतमे निश्चल था इसलिये उसने राजा, कुटुम्बी और वैश्योके सामने परस्परमे तय हुए आधे आधे द्रव्यकी ही बात कही ॥५२॥ तब राजाने वह सब धन दोनोसे लेकर जलती हुई अग्निमे रख दिया और कह दिया कि जो सत्यवादी हो वही अग्निमे जाकर ले आवे। धनदेव सत्यवादी और शुद्ध था इसलिये वह झट अग्निमे जाकर द्रव्यको ले आया तथा झूठ बोलने के कारण जिनदत्त उस द्रव्यको न ला सका ॥५३॥ इसलिये वह सब धन राजाने धनदेवको ही सौंप दिया तथा राजाने व अन्य लोगोने उनका यथेष्ट आदरसत्कार किया और ससारमे वह बहुत ही श्रेष्ठ और धन्य गिना गया ॥५४॥ यह बात देखकर अन्य लोगोने भी उसकी स्तुति की, पूजा की और उसे नमस्कार किया। इस प्रकार धनदेव सत्यके प्रभावसे ससारभरमे प्रसिद्ध हुआ ॥५५॥ देखो—वैश्यपुत्र धनदेव निर्मल सत्यवचनोके ही प्रभावसे अनेक निर्मल गुणोका निधि हो गया था, धनाढ्य हो गया था, राजाके द्वारा और अन्य ससारी लोगोके द्वारा पूज्य हो गया था और ससारमे उसकी निर्मल कीर्ति फैल गई, ऐसा सत्यवादी धनदेव सदा जयशील हो ॥५६॥ इस प्रकार सत्यवचनोके गुणोको सुनकर शिष्य फिर पूछने लगा कि हे भगवन्! सत्य वचनोके त्याग करनेसे किसीको दु ख पहुँचा है उसकी कथा और सुना दीजिये ॥५७॥ इसके उत्तरमे आचार्य कहने लगे कि हे शिष्य! तू चित्त लगाकर सुन, अब मै झूठ बोलनेवाले सत्यघोष की भय उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूँ ॥५८॥ इसी जम्बूद्वीपके प्रसिद्ध भरत क्षेत्रमे एक सिंहपुर नगर है। उसमे राजा सिंहसेन राज्य करता था ॥५९॥ उसको सुख देनेवाली उसकी रानीका नाम रामदत्ता था। उसी राजाके एक श्रीभूति नामका अत्यन्त कपटी पुरोहित था ॥६०॥ वह अपने जनेऊमे एक कैंची बाँधे फिरता था और लोगोसे कहता फिरता था कि यदि कभी लोभसे मेरे मुहसे कुछ झूठ निकल जाता है तो मै इस कैंचीसे उसी समय अपनी जीभ काट डालता हूँ। इस प्रकार वह प्रतिदिन अपना सब व्यवहार कपटपूर्वक ही करता था ॥६१–६२॥ परन्तु उसका यह कपट किसीको मालूम नही हुआ था इसलिये उसका दूसरा नाम सत्यघोष पड गया था। तब

स्वल्प द्रव्य पुनस्तेषा स ददाति कुमार्गग । ते पूत्कर्तुं समर्था न लोकास्तत्ख्यातिहेतुत ॥६४
तस्य सत्यं परिज्ञाय न शृणोति स पूत्कृतम् । राजा मत्वेति लोका हि तूष्णीभाव भजन्ति ते ॥६५
अथैकथा पुरे तत्र पद्मखण्डपुरात्सुधीः । श्रेष्ठी सागरदत्ताख्य आगतो धनहेतवे ॥६६
सत्यघोषसमीपे स धृत्वा रत्नानि पञ्च वै । अनर्घ्याणि गतोऽतीव धनार्थं सागरान्तिकम् ॥६७
समुपार्ज्य धन लक्ष्मीं यावदायाति तत्र स. । व्याघुटच पापयोगेन स्फुटितं पोतमंञ्जसा ॥६८
सप्राप्य फलकं ह्येक तितीर्यागाधसागरम् । समीप सत्यघोषस्य स प्राप्त. पुण्यपाकत ॥६९
आगच्छन्तं तमालोक्य रङ्केन सदृश परम् । समीपस्थजनाना स. प्रत्ययार्थमुवाच स ॥७०
श्रूयध्व भो जना. वाच जातोऽयं विफलो नरः । द्रव्यनाशादिहागत्य रत्नानि प्रार्थयिष्यति ॥७१
तेनागत्य प्रणम्योक्त देहि रत्नानि मे प्रभो । न्यासार्थं यानि दत्तानि स्वात्मान प्रोद्धरामि यैं. ॥७२
आकर्ण्य तद्वचस्तेन सत्यघोषेण भाषितम् । तद्द्रव्यहरणार्थं स्वपार्श्ववर्तिजनान् प्रति ॥७३
भो जना वचनस्याद्य मे जातो निश्चयो न किम् । भवता तै पुनरुक्त सर्वं वेत्सि त्वमेव हि ॥७४
तत प्रोक्त पुनस्तेन नाऽयं तु गृहिलो गृहात् । अस्मान्निस्सार्यतामेव स तैर्निस्सारितो हठात् ॥७५
भ्रमन् लोके स पूत्कार कुर्वन्नित्यं प्रति स्थितः । सत्यघोषेण पञ्चैव माणिक्यानि हृतानि मे ॥७६

वहुतसे लोग उसका विश्वास करने लग गये थे और उसके पास आ आकर अपना धन धरोहर रखने लग गये थे ॥६३॥ परन्तु जो द्रव्य रख जाते थे उनको वह कुर्मागगामी पुरोहित सब नही देता था, थोडी ही देता था। तथापि ससारमे उसके सत्यकी प्रसिद्धि हो रही थी इसलिये उससे कोई कुछ कह नही सकता था ॥६४॥ जो पुरुष उसके इस कृत्यको जान लेता था वह उसके सत्य की प्रसिद्धिको सुनकर यही सोच लेता था कि 'क्या कहूँ। यदि मै कुछ कहूँगा भी तो मेरे महाराज मेरे लिये ही नाम रक्खेगे। इसके सत्यकी प्रसिद्धिके सामने मेरी कुछ चल नही सकेगी' यही सोच कर सब चुप हो जाते थे ॥६५॥

किसी एक समय उस नगरमे धन कमानेके लिये वुद्धिमान सागरदत्त नामका सेठ पद्मखडपुर नामके नगरसे आया ॥६६॥ वह अपने अमूल्य पाँच रत्न सत्यघोषके समीप रख गया और स्वय आगे धन कमानेके लिये गया ॥६७॥ वाहर जाकर उसने वहुत धन कमाया और लौटकर सिंहपुर आ रहा था कि पापकर्मके उदयसे उसका जहाज नष्ट हो गया ॥६८॥ परन्तु सागरदत्तका कुछ पुण्यकर्म वाकी था इसलिये वह किसी एक लकड़ीके तख्तेपर वैठकर समुद्रके किनारे पर आ गया और फिर वहाँसे चलकर सत्यघोषके पास आ पहुँचा ॥६९॥ उस समय वह सागरदत्त एक रकके समान आ रहा था। उसे दूरसे ही आते हुए देखकर सत्यघोषने अपना विश्वास जमानेके लिये समीपवर्ती लोगोसे कहा कि हे लोगो! देखो यह मनुष्य जो आ रहा है सो ऐसा मालूम होता है कि इसका द्रव्य सव नष्ट हो गया है इसलिये यह व्याकुल हो रहा है। अव यह यहाँ आकर मुझसे रत्न माँगेगा ॥७०-७१॥ इतनेमे ही सागरदत्त वहाँ आ गया और उसने प्रणामकर सत्यघोषसे कहा कि मै जिन रत्नोको धरोहर रख गया था कृपाकर अव उनको दे दीजिये ॥७२॥ सागरदत्तकी यह वात सुनकर सत्यघोषने उसका समस्त द्रव्य हरण करनेके लिये समीपवर्ती लोगोसे कहा कि देखो जो वात मैने पहिले कही थी वह ठीक निकली। तव सागरदत्तने कहा कि आप सव जानते हैं ॥७३-७४॥ तव सत्यघोषने कहा कि नही यह एक पागल मनुष्य है इसे यहाँसे निकाल देना चाहिये। यह सुनते ही उन मनुष्योने उसे जवरदस्ती वहाँसे निकलवा दिया ॥७५॥ विचारा

चिञ्चावृक्षं समारुह्य स पूत्कारं करोति वै। राजगृहसमीपे तु रात्रौ यामे च पश्चिमे ॥७७
एवं प्रतिदिनं कुर्वन् षण्मासात्स वणिग्वरः। स्थित. पूत्कृतिमाकर्ण्य सुराज्ञ्या भणितो नृपः ॥७८
नाथ ना गृहिलो देव सादृश्यवचनात्सदा। राज्ञोक्तं सत्यघोषस्य किं चौर्यं हि प्रभाव्यते ॥७९
पुनर्निरूपितं रामदत्तया देव भाव्यते। ततोऽपि सिंहसेनेन प्रोक्तं त्वं हि परीक्षय ॥८०
लब्ध्वादेशं प्रभाते स प्रणामार्थं समागत। राज्ञ्या तया समाकार्य पृष्टो दुष्टपुरोहितः ॥८१
किमागतोऽपि भो मित्र बृहद्वेलामुवाच सः। आगतः श्यालको मेऽद्य तस्य भुक्त्यै गृहे स्थितः ॥८२
पुनर्निरूपितं राज्ञ्या क्षणैकं चात्र तिष्ठ भो। ममातिकौतुक जा़त द्यूतक्रीडादिहेतवे ॥८३
करोम्यद्य त्वया सार्द्धमक्षक्रीडामहं स्वयम्। तत्रागत्य नृपेणापि प्रोक्त कुरु समीहितम् ॥८४
ततो द्यूते[1] समं जाते प्रोक्तं कर्णे तदा तया। निपुणादिमतीनामविलासिन्या. प्रपञ्चत ॥८५
पुरोहित स्थित. राज्ञीपार्श्वेऽह तेन प्रेषिता। याचित्वा गृहिलस्यैव माणिक्यानि स्वकार्यतः ॥८६
तद्भार्यायै भणित्वेति शीघ्र नीत्वापि तानि वै। आगच्छात्र तत साऽगात्तद्गृह रत्नहेतवे ॥८७
रत्नानि याचितान्येव विलासिन्या निषिद्धया। तद्भार्यया न दत्तानि तरा पूर्ववचोऽनृतात् ॥८८

सागरदत्त सब तरहसे लाचार होकर रोता हुआ उसी नगरमे घूमने लगा और चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा कि सत्यघोषने मेरे पाँच माणिक्य मार लिये है ॥७६॥ राजभवनके पास एक इमलीका वृक्ष था। उसीपर चढ़कर सवेरेके समय यही कह कहकर वह प्रतिदिन पुकार मचाने लगा ॥७७॥ इस प्रकार पुकार करते करते उसे छह महीने हो गये। तब एक दिन रानीने राजासे कहा कि हे देव! यह पुरुष सदा एकसी पुकार करता है इसलिये यह पागल नही हो सकता। तब राजाने कहा कि क्या सत्यघोष ऐसी चोरी कर सकता है? इसके उत्तरमे रानीने कहा कि हे देव! सम्भव है ऐसा हो। रानीके इतना कहनेपर महाराजने आज्ञा दी कि तू ही इसकी परीक्षा कर ॥७८–८०॥ इस प्रकार रानीको परीक्षा करनेकी आज्ञा मिल चुकी थी और प्रातःकाल ही वह पुरोहित महाराजके पास प्रणाम करनेके लिये आया था। रानीने उस दुष्ट पुरोहितको देखते ही बुलाया और पूछा कि हे मित्र! आज सवेरे ही कैसे आये? पुरोहितने कहा कि आज मेरा साला आया है वह भोजन करनेके लिये घर बैठा है इसीलिये मै यहाँ चला आया ॥८१–८२॥ रानीने फिर कहा कि अच्छा आज कुछ देरतक यहाँ ही ठहरना। हे तात! आज मुझे कुछ पाशा खेलनेकी इच्छा हुई है, मै आज तुम्हारे ही साथ पासेसे खेलूँगी। रानीके इतना कहते ही वहांपर महाराज आ पहुँचे और उन्होने भी आज्ञा दे दी कि महारानीकी इच्छा पूरी करो ॥८३–८४॥ इस प्रकार रानीने पुरोहितको तो रोक लिया और निपुणमती नामकी किसी चतुर वेश्याको बुलाकर और उसे एकान्तमे ले जाकर उसके कानमे सब बात समझाकर कह दी और कहा कि देख, तू पुरोहितके घर जा, पुरोहितानीसे कहना कि 'पुरोहितजी महारानीके पास बैठे हैं उन्होने उस परदेशी पागलके माणिक मँगाये है उन माणिकोसे उन्हे आवश्यक कार्य है मुझे इसीलिये आपके पास भेजा है।' इस प्रकार उसकी स्त्रीसे कहकर और उन माणिकोको लेकर शीघ्र ही मेरे पास आ जा। यह सब समझ बूझकर वह पुरोहितानीके पास गई, उससे जाकर सब बात कही परन्तु उस पुरोहितानीको भी सदा झूठ बोलनेका अभ्यास था और पुरोहित न देनेके लिये कह रक्खा था इसलिये उसने वे माणिक दिये ही नही ॥८५–८८॥ तब लाचार होकर वह वेश्या रानीके पास लौट आई और

1 व्रऽतिसजाते।

आगत्य तद्विलासिन्या राज्ञ्या कर्णे निरूपितम् । ददाति नैव सा तानि माणिक्यानि कदाचन ॥८९
साभिज्ञानं प्रदत्त्वा सा प्रेषिता निजमुद्रिका । तस्यास्तथा न दत्तानि तद्ब्राह्मणातिभीतया ॥९०
ततस्तया जिते यज्ञोपवीतच्छुरिके तदा । साभिज्ञानद्वयं दत्त्वा प्रेषिता साऽनु तद्गृहे ॥९१
कर्तिकां ब्रह्मसूत्रं च दृष्ट्वा दत्तानि भीतया । तद्भामया विलासिन्या शीघ्रं रत्नानि पञ्च वै ॥९२
तयाऽऽगत्य प्रदत्तानि राज्ञ्यस्तानि तथा पुनः । राज्ञ. प्रदर्शितान्येव माणिक्यानि वराणि च ॥९३
ततोऽतिबहुसद्रत्नमध्ये निक्षिप्य तानि स. । आकर्ण्य गृहिलो राज्ञा भणितः सत्यहेतवे ॥९४
माणिक्यानि त्वदीयानि परिज्ञाय गृहाण रे । परीक्ष्य श्रेष्ठिना तानि गृहीतानि निजानि च ॥९५
प्रतिपन्नश्च स तासा पुरस्तोषाच्छुभोदयात् । श्रेष्ठी समुद्रदत्तो नु राज्ञा श्रेष्ठी कृत पुरे ॥९६
सत्यसन्तोषमाहात्म्यात् किं न स्यादिह भूतले । भृत्यायन्ते सुरा नृणा राजसौख्यस्य का कथा ॥९७
ततो नृपतिना पृष्ट सत्यघोषोऽनृताकर । इदं कर्म कृतं मूढ त्वया वा न निरूपय ॥९८
तनोक्त देव नात्राहं निन्द्यं कर्म करोमि तत् । ममेदृशं महापापं कर्तुं किं कर्म युज्यते ॥९९
ततो रुष्टेन भूपेन तस्य दण्डत्रयं कृतम् । गोमयेन भृतं स्यालत्रयं भक्षय निश्चितम् ॥१००
मल्लमुष्टेर्दृढं घातत्रयं चाप्यद्य दुर्मते । स्वद्रव्यं सकल देहि स्वदोषस्यातिशान्तये ॥१०१
आलोच्य तेन प्रारब्धं खादितुं गोमय मलम् । तस्याशक्तेन तन्मुष्टिघातं सोढुं च पापत. ॥१०२

आकर कहा कि वह पुरोहितानी उन माणिकोको किसी तरह नही देती है ॥८९॥ इसी बीचमे रानीने उस पासेके खेलमे पुरोहितकी एक अगूठी जीत ली थी अतएव रानीने पुरोहितके चिन्ह रूपमे वह अगूठी भेजी तथापि पुरोहितानीने ब्राह्मणके डरसे वे रत्न नही दिये ॥९०॥ इधर रानी ने पुरोहितजीका यज्ञोपवीत (जनेऊ) और उसमे बँधी हुई वह कैंची भी जीत ली थी इसलिये रानीने उस वेश्याके साथ चिन्हरूपमे वे दोनो चीज भेजकर वे रत्न मगाये ॥९१॥ अबकी बार जनेऊ और कैंची दोनो चीजें देखकर पुरोहितानीको विश्वास हो गया और उसने शीघ्र ही वे रत्न निकालकर दे दिये ॥९२॥ वेश्याने वे रत्न लाकर रानीको दे दिये और रानीने वे बहुमूल्य माणिक राजाको दिखाये ॥९३॥ अब राजाने उस सेठकी भी परीक्षा लेनी चाही। इसलिये उसने अपने घरके बहुतसे माणिकोमे मिलाकर वे माणिक रख दिये और सेठको बुलाकर कहा कि इनमे जो माणिक तुम्हारे हो वे परीक्षा करके निकाल लो। तब सेठने अपने माणिक छाँट लिये ॥९४-९५॥ सागरदत्तके इस कार्यसे राजाको बहुत सन्तोष हुआ। शुभ कर्मके उदयसे सागरदत्त सेठको अपने नगरका राजश्रेष्ठी बना लिया ॥९६॥ सो ठीक ही है क्योकि सत्य और सन्तोषके माहात्म्यसे इस ससारमे क्या क्या प्राप्त नही होता है। सत्यके माहात्म्यसे देव भी सेवक समान हो जाते हैं फिर मनुष्योको राज्यके सुखको तो बात ही क्या है ॥९७॥ तदनन्तर राजाने महा झूठ बोलनेवाले सत्यघोषसे पूछा कि बता तू यह काम किया है या नही ॥९८॥ इसके उत्तरमे पुरोहितने कहा कि हे देव! मैं ऐसा निंद्य कर्म नही कर सकता। क्या मैं ऐसा महा पाप करने वाला काम कर सकता हूँ? ॥९९॥ तदनन्तर महाराज उसके कामसे बहुत ही क्रोधित हुए और उन्होने उसके लिये तीन प्रकारका दण्ड निश्चित किया। या तो वह तीन थाली गोबरकी खावे, या वह दुर्मति किसी मल्लके तीन घूसे खावे अथवा उस दोषको शान्त करनेके लिये अपना सब धन दे देवे ॥१००-१०१॥ पुरोहितने सोच विचारकर पहिले गोबर खाना प्रारम्भ किया। जब वह उसे न खा सका तब मल्लके घूसे खाये, उनकी भी पूरी चोट न सह सका तब अपना सब धन

तदाशक्यं धनं दातुमारब्ध लोभिना स्वयम् । तस्यासक्तेन प्रारब्धं गोमयादिकभक्षणम् ॥१०३
एवं दण्डं त्रय भुक्त्वा भाण्डागारे नृपस्य स । मृत्वा लोभवशाज्जातः सर्पो गन्धनसञ्ज्ञकः ॥१०४
दिव्याग्निना ततो मृत्वा कुर्कुटो हि समाह्वय । जातो वने महापापोदयाद्राजादिभक्षणात् ॥१०५
ततो मृत्वा गतः श्वभ्रं तद्वनेभादिखादनात् । ततोऽतिदीर्घससारी जातो दु.खाकुलोऽनृतात् ॥१०६

अनृतवचनयोगात्सत्यघोष. पुरोधा , सकलभुवननिन्द्य घोरदु खं प्रभुक्त्वा ।
नृपतिकृतकुदण्डान्मृत्युमासाद्य चाग्नौ, दुरितजलप्रपूर्णे दु'खदे वै भवाब्धौ ॥१०७

वसुराजादयोऽन्ये ये श्वभ्रं च बहवो गता । असत्यवचनान्निन्द्याज्जीवघातकरा शठा. ॥१०८
गदितुं क. कथा तेषा समर्थोऽत्र महीतले । भूरिपापकृताना स प्रलीकादिकलङ्कितास् ॥१०९
इमां कथा समाकर्ण्य बुधै प्राणात्यये सदा । असत्यं नैव वक्तव्यं चेहामुत्राशुभप्रदम् ॥११०

सकलश्रुतकरं त्वं कीर्तिवल्लीसुनीर, शुभवनघनमेघं सेवितं धर्मनाथैं ।
अमलसुखसमुद्र वृद्धिदं सिद्धिदं च । वद शुभगतिहेतुं सत्यवाक्यं प्रमुक्त्यै ॥१११

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे असत्यविरतिव्रत-
धनदेवसत्यघोष-कथाप्ररूपको नाम त्रयोदशम परिच्छेद ॥१३॥

देना प्रारम्भ किया । तब उस लोभी और पापीने फिर गोबर खाना आदि तीनो प्रकारके दण्डोको सहा । इस प्रकार उस नीचको तीनो प्रकारके दण्ड सहन करने पडे ॥१०२-१०३॥ इस प्रकार तीनो प्रकारके दण्डोको भोगकर वह मरा और अतिशय लोभके कारण राजाके भण्डारमे गन्धन् नामका सर्प हुआ ॥१०४॥ वहाँपर वह दिव्य अग्निसे मरकर यहाँ पाप-कर्मके उदयसे किसी वनमे कुर्कुट नामका सर्प हुआ ॥१०५॥ वहाँपर उसने किसी व्रती राजाको काटा था इसलिये मरकर नरकमे जा उत्पन्न हुआ । इस प्रकार केवल मिथ्या भाषण करनेसे अनेक दु खोको भोगता हुआ बहुत दिनतक ससारमे परिभ्रमण करता रहा ॥१०६॥ देखो केवल मिथ्या भाषण करनेसे ही सत्यघोष पुरोहितने तीनो लोकोमे निन्द्य ऐसे घोर दु ख सहे, राजाके दिये हुए तीनो प्रकारके दण्ड सहे और फिर मरकर पापरूपी जलसे भरे हुए तथा अनेक दु खोसे परिपूर्ण ससार सागरमे गोते खाये ॥१०७॥ इस महा निन्द्य असत्य वचनके फलसे जीवोका घात करनेवाला मूर्ख राजा वसु आदि और भी अनेक जीव नरकमे गये हैं वे सब असत्य रूप महापापसे कलकित थे इसलिये इस ससारमे उन सबकी कथा भी कोई नही कह सकता ॥१०८-१०९॥ इस कथाको सुन कर विद्वान् लोगोको इस लोक और परलोक दोनो लोकोमे दु ख देनेवाले असत्य वचन प्राणोका नाश होनेपर भी कभी नही कहने चाहिये ॥११०॥ हे वत्स ! यदि तुझे मोक्ष प्राप्त करना है तो तू सदा सत्य वचन ही बोल, क्योकि ससारमे सत्य वचन ही समस्त श्रुतज्ञानको प्रगट करनेवाले हैं, कीर्तिरूपी बेलको बढानेके लिये अच्छे पानीके समान है, पुण्यरूपी वनके लिये बरसाती मेघ है, निर्मल सुखके समुद्र है, वृद्धि-सिद्धिके देनेवाले हैं, शुभ गतिके कारण है और धर्मके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं । इसलिये तू सदा सत्य वचन ही बोल ॥१११॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे सत्यव्रतका निरूपण करनेवाला तथा धनदेव और सत्यघोषकी कथाको कहनेवाला यह तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१३॥

●

चौदहवाँ परिच्छेद

अनन्त श्रीजिन वन्दे अन्तातीतगुणप्रदम् । अनन्तगुणसम्प्राप्त्यै स्वानन्तगुणसागरम् ॥१
सत्य व्रत समाख्याय सर्वसौख्यमहार्णवम् । अदत्तविरति वक्ष्ये दयादिव्रतहेतवे ॥२
कृपासत्यादिरक्षार्यं अदत्तविरतिव्रतम् । प्रणीत जिननाथेन त्यक्तदोप यश प्रदम् ॥३
अदत्तं यो न गृह्णाति स्थूलं वस्तु धनादिकम् । मनोवाक्काययोगेन तत्तस्यास्तेयाणुव्रतम् ॥४
पतितं विस्मृत नष्ट स्थापितं निहितं सदा । अरण्ये पथि वा गेहे परद्रव्यादिकं त्यज ॥५
यदि त्यक्तु समर्थो न तदादाय धनादिकम् । पूजाद्यर्थं स्वपुण्याय ददस्व श्रीजिनालये ॥६
सर्पादानं वरं लोके भवैकप्राणनाशनम् । न चादानं परस्वं हि विसंख्यभवदु खदम् ॥७
वरं भिक्षादनेनैव स्वस्योदरप्रपूरणम् । परद्रव्यं समादाय न च शाल्योदनैर्नृणाम् ॥८
वरं हालाहल भुक्तं चैकजन्मभयप्रदम् । न परस्वं व्यतीतान्तभवकोटि कुदु खदम् ॥९
अतिस्तोकं परस्व यो लोके गृह्णाति दुष्टधी । वधवन्धादिकं प्राप्य श्वभ्रनाथो भवेत्स वै ॥१०
अरण्ये वा गृहे लोके स्वस्थं चित्तं न जायते । चौरस्य भोजने स्वस्य वाशंकय मरणादिकम् ॥११
चौर्यासक्तं स्वजन च मत्वा माता भयात्त्यजेत् । पुत्री च जनको भार्या वान्धवाश्च त्यजन्ति भो ॥१२

जो अनन्त गुणोंके सागर है, अनन्त गुणोको प्राप्त हुए है और अनन्त गुण देनेवाले है ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान्को मै नमस्कार करता हूँ ॥१॥ समस्त सुखोंके महासागर ऐसे सत्यव्रतका निरूपण हो चुका, अव अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये अचौर्यव्रतको कहते है ॥२॥ श्री जिनेन्द्रदेवने इस अचौर्यव्रतको अहिंसासत्यादिकी रक्षाके लिये ही निरूपण किया है। यह व्रत सब दोषोंसे रहित हैं और यश देनेवाला है ॥३॥ जो धन धान्य आदि स्थूल पदार्थोको मन वचन कायसे विना दिया हुआ ग्रहण नही करता है उसके यह अचौर्याणुव्रत कहलाता है ॥४॥ हे वत्स ! किसी वनमे, मार्गमे वा किसी घरमे पडे हुए, भूले हुए, स्थापन किये हुए, और धरोहर रक्खे हुए धनको दूरसे ही छोड ॥५॥ यदि तू उसके ग्रहण करनेका त्याग नही कर सकता, उसे नही छोड़ सकता तो उस धनको लेकर अपना पुण्य वढानेके लिये पूजा आदि कामोके लिये श्री जिनालयमे दे देना चाहिये ॥६॥ इस ससारमे सर्पको पकड लेना अच्छा, परन्तु, दूसरेका धन लेना अच्छा नही, क्योकि सर्पके पकड़नेसे एक जन्म ही नष्ट होगा किन्तु दूसरेका धन लेनेसे असख्य भवोतक दु.ख प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥ भीख माँगकर पेटभर लेना अच्छा परन्तु दूसरेके द्रव्यको लेकर घी वूरेसे तर शालि चावलोका खाना अच्छा नही ॥८॥ हलाहल विप खा लेना, अच्छा परन्तु दूसरेका धन ले लेना अच्छा नही, क्योकि विप खानेमे एक ही जन्मका भय है किन्तु दूसरेका धन लेनेसे उन्हे करोड़ो जन्मतक दु ख भोगना पडेगा ॥९॥ इस ससारमे जो दुष्ट दूसरेका थोड़ा धन भी लेता है वह वध-वन्धनके अनेक दु खोंको पाकर अन्तमे नरकका ही स्वामी होता है ॥१०॥ चोरी करनेवालेका हृदय न तो किसी वनमे स्वस्थ रहता है न किसी घरमे स्वस्थ रहता है न ससारमे कही स्वस्थ रहता है और न भोजन करनेमे कहीं जी लगता है क्योकि उसे अपने मरने की, पकडे जानेकी आशका सदा वनी रहती है ॥११॥ यदि चोरी करनेवाला अपना कुटुम्बी ही हो तो उससे डरकर माता भी उसे छोड देती है, पुत्री भी छोड देती है, पिता भी छोड़ देता है, स्त्री भी छोड़ देती है

यः परश्रियमादत्ते प्रपञ्चरचनैः परै । स्तोका बहुतरां तस्य गृहात्सा याति निश्चितम् ॥१३
चौरं विज्ञाय सन्तोऽपि घ्नन्ति तृणमिवानिशम् । परवस्त्वादिकेऽत्यन्तलोलुप कपटान्वितम् ॥१४
न्यायमार्गात्समायाति लक्ष्मीर्लोकत्रये स्थिता । पुण्याढ्यस्य गृहं सर्वा महापुण्यविधायिनी ॥१५
अन्यायाचरणात्सोपि स्थिता गेहात्प्रयाति वै । पुण्यहीनमनुष्यस्य धर्मवता गृहम्प्रति ॥१६
स्थितिं करोति सा गेहे चौरव्यापारतो यदि । भवन्ति किं धनाढ्या न दुष्टभिल्लादितस्करा. ॥१७
सदोष व्यवसाय यो विधत्ते धनहेतवे । सङ्कट त समायाति दारिद्र च भवे भवे ॥१८
येन केनाप्युपायेन परद्रव्य हरन्ति ये । हस्तच्छेदादिक प्राप्य ते श्वभ्र यान्ति सप्तमम् ॥१९
नष्टे धने भवेद् दु खं यादृशं मरणेङ्गिनाम् । तादृशं न च लोकेस्मिन्नत्यन्तं प्राणवल्लभे ॥२०
अञ्जलिद्वयधान्यार्थं क सुधी पापमाचरेत् । चौर्यकूटप्रयोगादिजात दुर्गतिदु खदम् ॥२१
कुटुम्बादिप्रभोगार्थं ये हरन्ति परश्रियम् । तेऽपि त्यक्त्वा कुटुम्ब तन्मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥२२
यदर्थं धनमादत्ते कूटोपायात् शठो नर । तत्कुटुम्बं विना श्वभ्रे भुङ्क्ते दुख स केवलम् ॥२३
इति मत्वा परस्वं भो त्यज सर्पविषादिवत् । अभक्ष्यमिव चासार पापक्लेशायशः प्रदम् ॥२४
त्यक्त्वा सर्वानतीचारानस्तेय यो व्रत चरेत् । सन्तोषात्सोपि सम्प्राप्य स्वर्ग याति क्रमाच्छिवम् ॥२५

और भाई वन्धु आदि सब कुटुम्बी उसे छोड देते हैं ॥१२॥ जो अनेक प्रकारके छल कपटोसे दूसरे का थोडा भी धन लेता है उसके घरका सब धन नष्ट हो जाता है इसमे कोई सन्देह नही है ॥१३॥ दूसरोके वस्त्र आदिकी लालसा रखनेवाले कपटी चोरको चोर समझकर सज्जन लोग भी तृणके समान उसे मारते है ॥१४॥

महापुण्यको प्रगट करनेवाली और तीनो लोकोमे रहनेवाली ऐसी समस्त लक्ष्मी नीतिमार्गमे ही पुण्यवानके घर आ जाती है ॥१५॥ अन्यायरूप आचरण करनेसे घरमे रहनेवाली लक्ष्मी भी उस पुण्यहीन मनुष्यके घरसे निकलकर धर्मात्माके घर चली जाती है ॥१६॥ यदि चोरीके व्यापारसे ही लक्ष्मी घरमे रहने लगे तो दुष्ट भील आदि चोर लोगोके घर ही वहुतमा धन क्यो नही दिखाई देता ॥१७॥ जो पुरुष केवल धनके लिये सदोप व्यापार करता है वह कोढी होता है और भवभवमे दरिद्री होता है ॥१८॥ जो पुरुष जिस किसी भी उपायसे दूसरेके धनको हरण करते हैं उनके हाथ पैर आदि अग उपाग काटे जाते है और अन्तमे उन्हे सातवे नरकके दु ख भोगने पडते है ॥१९॥ समारी जीवोको धन नष्ट होनेपर अथवा मरनेपर जैसा दु ख होता है वैसा दु ख इस ससारमे और कही नही होता, क्योकि प्राण और धनके समान और कोई प्रिय है ही नही ॥२०॥ अरे ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो केवल दो मुट्ठी धान्यके लिये चोरी ठगी आदिसे होनेवाले और अनेक दुर्गतियोके दु ख देनेवाले पापोको करे ॥२१॥ जो कुटुम्बी लोगोके उपभोगके लिये दूसरोका धन हरण करते हैं वे भी कुटुम्बको छोडकर नरकरूपी महासागरमे गोते खाते हैं ॥२२॥ यह प्राणी जिस कुटुम्बके लिये धन लेता है वह कोढ आदि अनेक रोगोको भोगता है, तथा विना कुटुम्बके केवल अकेला ही नरकके दु ख भोगता है ॥२३॥ यही समझकर हे भव्य ! तू विषले सर्पके समान अथवा अभक्ष्य भक्षणके समान असारभूत तथा पाप क्लेश और अपयशको देनेवाले दूसरेके धन ग्रहण करनेका त्यागकर ॥२४॥ जो प्राणी सन्तोपपूर्वक सब अतीचारोको छोडकर इस अचौर्य-व्रतको पालन करता है वह स्वर्गादिक सुख पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥२५॥

सन्ति स्वामिन्नतीचारा ये चाचौर्यव्रतस्य भो । निरूपयतु तान् सर्वानद्यैवानुग्रहाय मे ॥२६
शृणु त्व व्रतशुद्धयर्थं वक्ष्येऽतीचारपञ्चकम् । एकचित्तेन भो धीमन् ! सर्वव्रतमलप्रदम् ॥२७
स्तेनप्रयोगश्च तदाहृतादान हि सम्भवेत् । ततो विरुद्धराज्यादिक्रमोपि तृतीयो मत ॥२८
पश्चाद्धीनाधिकमानोन्माननाम प्ररूपित । जिनेन्द्रै प्रतिरूपैकव्यवहारोऽप्यतिक्रमः ॥२९
अन्येषामुपदेश यो दत्ते चौर्यादिकर्माणि । अतीचारो भवेत्तस्य प्राद्यो व्रतविनाशकः ॥३०
आनीतमुपदेशेन विना चौरेण यद्धनम् । तत्स्व गृह्णाति यो मूढो व्यतीपातो लभेत् स. ॥३१
राजनीति परित्यज्य व्यवसाय करोति य. । परेषा वञ्चनाद्यर्थं लभते सोऽप्यतिक्रमम् ॥३२
तुलाप्रस्थादिमानेन हीन दत्ते परस्य य । गृह्णाति चाधिकं वस्तु व्रतदोषं भजेत्स ना ॥३३
श्रष्ठवस्त्वादिके यस्तु हीनवस्त्वादिकं क्षिपेत् । करोति हेमहिंग्वादि कृत्रिम तस्य स्यात्स वै ॥३४
सर्वातीचारसन्त्यक्तं धत्ते यस्तृतीयं व्रतम् । कृत्वा सन्तोषमेकं हि स्युस्तस्य सर्वसम्पद ॥३५

विविधदुखकर वै धर्मविध्वसहेतु, दुरितकुवनमेघं दु.खसन्तापगेहम् ।
नरकगृहकुमार्गं धर्मवृक्षव्रजाग्नि, त्यज सकलमदत्त दुर्धन भो परेषाम् ॥३६
बुधैकसेव्यं हतसर्वदोष सन्तोषमूल सुयश प्रदम् भो ।
स्वर्मुक्तिहेतोर्व्रतधर्मगेह, व्रतं तृतीयं भज सर्वकालम् ॥३७

प्रश्न—हे स्वामिन् ! मुझपर कृपा कर आज इस अचौर्य व्रतके सब अतिचारोको कहिये ॥२६॥ उत्तर—हे धीमन् ! व्रतोकी शुद्धिके लिये मैं व्रतोको दूषित करनेवाले पाँचो अतिचारोको कहता हूँ, तू चित्त लगा कर सुन ॥२७॥ स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान, और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अचौर्य व्रतके अतिचार श्री जिनेन्द्रदेवने कहे हैं ॥२८-२९॥ चोरी करनेके लिये दूसरोको उपदेश देना या चोरीके उपाय बतलाना अचौर्य व्रतका स्तेनप्रयोग नामका पहिला अतिचार है ॥३०॥ अपने बिना किसी उपदेशके जो चोर चोरी करके लाया है उसके धनको घरमे रख लेना तदाहृतादान (चोरीका धन ग्रहण करना) नामका दूसरा अतिचार है ॥३१॥ जो राजनीतिको छोड़कर व्यापार करता है और अधिक धन ग्रहण करता है उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥३२॥ जो तौलनेके बाँट और नापनेके गज पायली आदिको लेनेके लिये अधिक रखता है और देनेके लिये कम रखता है उसके हीनाधिक मानोन्मान नामका चौथा अतिचार लगता है ॥३३॥ जो उत्तम पदार्थोंमे कम कीमतके पदार्थ मिलाकर चलाता है और सुवर्ण हीग आदिको कृत्रिम बनाता है उसके प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार लगता है ॥३४॥ जो प्राणी इन सब अतिचारोंको छोडकर और केवल एक सन्तोष धारणकर इस अचौर्यव्रतको पालन करता है उसके समस्त सम्पदा स्वयमेव आ जाती है ॥३५॥ इस ससारमे दूसरेका धन ग्रहण करनेसे अनेक प्रकारके दु.ख सहने पडते हैं, धर्मका विध्वस हो जाता है, यह पापरूपी वनको सींचनेके लिये मेघके समान है दु ख और सन्तापोका घर है, नरकरूपी घरका कुमार्ग है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है इसलिये हे भव्य ! ऐसे इस परधनहरण करनेका तू सदा त्यागकर ॥३६॥ यह अचौर्य अणुव्रत सब दोषोसे रहित है, सन्तोषकी जड़ है, यश और प्रसन्नताको बढानेवाला है, स्वर्ग-मोक्षका कारण है, धर्म और व्रतोका घर है और समस्त विद्वान् इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! तू भी सदा इसका पालन कर॥ ३७॥ जो प्राणी विना दिये हुए पदार्थोंका ग्रहण नही करता वह देवोके द्वारा भी पूज्य

अदत्तं यो न गृह्णाति स स्यात्पूज्योऽमरैरिह । य परस्वं समादत्ते वधवन्धादिकं भजेत् ॥३८
योगिन् ! येन फलं प्राप्तं चादत्तविरतिव्रतात् । तद्विनेह महादु.खं तयो. कथा निरूपय ॥३९
एकचित्तेन भो मित्र ! शृणु तेऽहं कथाद्वयम् । वक्ष्ये धर्माय मुक्त्यै वा चौर्याचौर्यान्वितात्मनोः ॥४०
अदत्तपरिहारेण वारिषेणो नृपात्मज । इहैव पूजितो देवैर्जनै राजादिभिः पुन ॥४१
ज्ञेया तस्य कथा दक्षैः सा स्थितीकरणे गुणे । निरूपिता मया पूर्वं धीरवीरस्य साम्प्रतम् ॥४२
वत्सदेशे च कौशाम्बीपुरे सिंहरथो नृप । अभवत्पुण्ययोगेन राज्ञ्यस्य विजयाभिधा ॥४३
तत्रैव तस्करो दुष्टो धत्ते पञ्चाग्निसाधनम् । तापसत्वं समादाय कौटिल्येनातिपापधी ॥४४
शिक्यमारुह्य न्यग्रोधे परभूमिं स्पृशन्न च । चौर्यं विधाय रात्रौ च दिने तिष्ठति प्रत्यहम् ॥४५
एकदा नगरं मुष्णं समाकर्ण्य महाजनात् । नृपेण भणितो रोषात्कोट्टपाल. समागत ॥४६
त्वं सप्तदिनमध्ये रे चौरं शीघ्रं समानय । निजं वा मस्तकं देहि चौरव्यापारयोगतः ॥४७
चौर सोऽलभमानो हि तलारश्चिन्तयान्वित । ब्राह्मणेनापराह्णेऽपि केनचित्प्रार्थितोऽशनम् ॥४८
तेनोक्तं शृणु भो विप्र ! सन्देहो वर्तते मम । प्राणानां भोजनं त्व च कथं प्रार्थयसि ध्रुवम् ॥४९
श्रुत्वा तद्वचनं विप्रो वभाषे तं प्रति स्वयम् । कुतस्ते प्राणसन्देहो जातोऽद्यैव निरूपय ॥५०

होता है और जो विना दिये हुए दूसरेके धनको ले लेता है वह वन्धन आदिके अनेक दु खोको भोगता है ॥३८॥

प्रश्न—हे प्रभो ! अचौर्य व्रतके पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है तथा चोरी करनेसे किसको दु ख मिला है उन दोनोकी कथा कृपाकर मुझमे कहिये ॥३९॥ उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन । मै धर्म वढानेके लिये अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दोनोकी कथा कहता हूँ ॥४०॥ विना दिये हुए पदार्थोका त्यागकर देनेसे (औचर्य व्रत पालन करनेसे) राजपुत्र वारिषेण इस जन्ममे देवोके द्वारा, प्रजाके द्वारा और राजा आदिके द्वारा पूज्य हुआ है ॥४१॥ इस धीरवीर वारिषेणकी कथा हमने पहिले सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण अगके वर्णन करनेमे कही है, चतुर पुरुषोको वहाँसे जान लेना चाहिये ॥४२॥ अव आगे चोरी करनेवालेकी कथा कहता हूँ । वत्सदेशके कौशावी नगरमे पुण्यकर्मके उदयसे सिंहरथ नामका राजा राज्य करता था । उसकी रानीका नाम विजया था ॥४३॥ उसी नगरमे एक दुष्ट चोर रहता था वह पापी अपने छल कपटसे दिनमे तपसीका भेप वनाये रखता था, पंचाग्नि तप तपता था और "मै दूसरेकी भूमिका भी स्पर्श नही करता" इस प्रकार प्रगट करता हुआ वह एक वडके पेडके नीचे छीका टाँगकर रहता था । परन्तु वह दुष्ट रात्रिको प्रतिदिन चोरी करता था ॥४४–४५॥ प्रतिदिन चोरी होनेके कारण किसी एक दिन सव महाजनोने मिलकर महाराजसे प्रार्थना की कि महाराज, सव नगर लुटा जा रहा है । महाराजने क्रोधित होकर कोतवालको वुलाया और कहा कि तू सात दिनके भीतर या तो चोरको लाकर उपस्थित कर, अथवा चोरी होनेके अपरावमे तू अपना मस्तक दे ॥४६–४७॥ कोतवालने वहुत ढूँढा, परन्तु चोरका पता न चला तब वह वडो चिन्तामे पडा । वह इसी चिन्तामे डूवा हुआ था कि इतनेमे ही सायकालके समय किसी व्राह्मणने आकर उससे भोजनकी प्रार्थना का ॥४८॥ कोतवालने कहा कि हे व्राह्मण ! यहाँ तो मेरे प्राणोमे भी सन्देह है और तू मुझसे ही भोजन माँग रहा है ? ॥४९॥ कोतवालकी यह वात सुनकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि तुझे आज अपने प्राणोका सन्देह क्यो है, तू मुझसे सव कथा कह ॥५०॥ इसके उत्तरमे कोतवालने सव हाल कह सुनाया, तव

वृत्तान्त कथितं तेन कोट्टपालेन तस्य तत् । विप्रेणापि पुन पृष्टः सोऽपि किं कोऽपि चास्ति ना ॥५१
अत्यन्तनिस्पृहो लोके तेनोक्त चास्ति तापस. । महातपस्विनस्तस्य नैतत्सम्भाव्यते स्फुटम् ॥५२
प्रोक्त द्विजेन सोऽपि स्याच्चौरोऽत्यन्तनि.स्पृहात् । शृणु मित्र मदीया त्वं कथा सवेगकारिणीम् ॥५३
ममैव ब्राह्मणी जाता ख्याता सातिमहासती । अन्येषां पुरुषाणां चास्पृशन्ती कायमेव भो ॥५४
शरीरं निजपुत्रस्य प्रच्छाद्य कपटेन मा । स्तनं ददाति नि शीला पापिष्ठात्यन्तकौटिला ॥५५
रात्रौ स्वस्यैव गेहस्य गोपालेन समं सदा । कुकर्म विदधे पापलम्पटा विषयेषु सा ॥५६
तदकृत्यं समालोक्य जातं वैराग्यमेव मे । कृत्वा निन्दा स्वरामाया भोगदेहगृहादिषु ॥५७
शलाका हेमजा क्षिप्य संवलार्थं विनिर्गत । मद्वशयष्टिकामध्ये तीर्थयात्रादिहेतवे ॥५८
अग्रे प्रगच्छतश्चैको वटुको मिलितो मम । न विश्वास दधे तस्य यष्टिरक्षा करोम्यहम् ॥५९
तेन सा कलिता यष्टि सर्गभिता प्रयत्नत. । कुम्भकारगृहे रात्रौ सुप्तस्तेनैकदा सह ॥६०
दूरं गत्वा तृण लग्नं तेन दृष्ट स्वमस्तके । अति जीर्णं ममाग्रेति कुटिलेन निरूपितम् ॥६१
हा ! हाऽन्यस्य मयादत्त तृणमद्येव हिंसितम् । ममेत्युक्त्वा स व्याघुटय कुम्भकारगृहं गत ॥६२
धृत्वा तृणं समागत्य मिलितो मे दिनात्यये । कृतागनस्य भिक्षार्थं गच्छन् सा तेन याचिता ॥६३
श्वानादिवारणार्थं सा मया तस्मै समर्पिता । निर्लोभं तं परिज्ञाय विश्वासान्वितचेतसा ॥६४
ततो यष्टिं समादाय नष्टो लोभात्स दुष्टधीः । ये गृह्णन्ति परस्वं भो छला ते यान्ति दुर्गतिम् ॥६५

ब्राह्मणने फिर पूछा कि क्या इस नगरमे कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो अत्यन्त निस्पृह हो ? कोतवालने कहा कि हाँ है, एक तपसी है जिसके साथ अन्य बडे-बडे तपस्वी हैं, क्या उसके चोर होनेकी सम्भावना हो सकती है ? ॥५१-५२॥ तव ब्राह्मणने कहा कि वह अत्यन्त नि स्पृह है इसलिये वही चोर है। हे मित्र ! तू सवेग उत्पन्न करनेवाली मेरी कथा सुन ॥५३॥ मेरी ही ब्राह्मणी बडी प्रसिद्ध महासती थी। वह अपने शरीरसे दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श तक नही होने देती थी ॥५४॥ जव वह व्यभिचारिणी पापिनी अपने पुत्रको भी दूध पिलाती थी तो कपटपूर्वक अपने शरीरको ढककर पिलाती थी ॥५५॥ परन्तु वही ब्राह्मणी विषयोमे लपट होकर अपने ही घरपर किसी गवालियेके साथ बड़े आनन्दसे कुकर्म करती थी ॥५६॥ हे मित्र ! उसीके कृत्यको देखकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है। इसप्रकार उस ब्राह्मणने अपनी स्त्रीकी निन्दा की तथा भोग शरीर और घर आदिकी निन्दा की ॥५७॥ वह ब्राह्मण फिर कहने लगा कि मैं मार्ग खर्चके लिये किसी वनी हुई लकडीमे थोडासा सोना रखकर तीर्थयात्राके लिये निकला ॥५८॥ चलते चलते मार्गमे एक ब्रह्मचारी मिला। परन्तु मैं उसका विश्वास नही करता था। मैं वडे यत्नसे उस लकडीकी रक्षा करता था ॥५९॥ जिसके भीतर सोना रखा हुआ है ऐसी वह लकडी उस ब्रह्मचारीने ताड़ ली। किसी एक दिन हम दोनो रातको एक कुम्भारके घर सोए ॥६०॥ सवेरे ही उठकर वहाँसे चल पडे। दूर जाकर उसने देखा कि उसके मस्तकपर एक बहुत पुराना तृण लगा हुआ है। उसे देखकर उस दुष्टने मुझसे कहा कि "हा हा देखो, यह विना दिया हुआ तृण मेरे साथ चला आया है और टूट गया है" यह कहकर वह लौटा, उस कुम्भारके घर गया, तृणको वहाँ रक्खा और फिर शामको आकर मुझसे मिला। फिर सन्यासी भिक्षाके लिये गया और कुत्ता आदिको मारनेके लिये वह लकडी मुझसे माँगी ॥६१-६३॥ मैंने भी उसे अत्यन्त निर्लोभ जानकर उसपर विश्वास किया और वह अपनी लकडी कुत्ता आदिके निवारणके लिये उसको दे दी ॥६४॥ परन्तु वह दुष्ट लोभके वश होकर उस लकड़ीको लेकर न जाने कहाँ चला गया। अरे ! इस

पश्चात्तापं विधायोच्चै स्थितस्त्यक्तधनादिक । गच्छता भो मयाऽटव्या दृष्टमेक प्रकुर्कुटम् ॥६६
मयैकस्मिन्नगे तुङ्गे समूहो मिलितो निशि । पक्षिकाणा प्रवृद्धेन पक्षिणा भाषित तदा ॥६७
रे पुत्राः अतिवृद्धोऽहं गन्तुं शक्नोमि नैव हि । करोमि भवदीयाना पुत्राणां भक्षणं क्वचित् ॥६८
ततो मम मुखं बध्वा यूयं गच्छत निश्चितम् । प्रभाते ते पुनस्तस्य मुख बध्वा गताः स्वयम् ॥६९
गतेषु तेषु सर्वेषु चरणाभ्या स्वबन्धनम् । मुखादुत्तार्य वृद्धेन भक्षितास्तेऽपि बालका ॥७०
तेषामागमने काले मुखे संयोज्य बन्धनम् । भूत्वा क्षीणोदर पश्चात् कौटिल्येन स्थितो हि स ॥७१
तत पुरगतेनैव मया दृष्ट' प्रकुर्कुट । तपस्विरूपमादाय स्थितश्चौरोऽतिपापधी. ॥७२
मस्तकस्योपरि दोर्भ्यामूर्ध्वं धृत्वा बृहच्छिलाम् । भ्रमत्यपसराख्यो हि प्राहोरात्रि स तत्पुरे ॥७३
गर्तादिनिर्जनस्थाने जनं हेमादिभूषितम् । नमन्तं शिलया हत्वा हेम गृह्णाति लोभत ॥७४
इत्येवं हि समालोक्य कोट्टपाल विचार्यताम् । संसारे दुखदं पापं श्लोकोऽयं सकृतो मया ॥७५
बालमस्पर्शिका नारी ब्राह्मणोऽतृणग्राहकः । वने गृद्धश्च पक्षी स्याद् भ्रमेदपसर पुरे ॥७६
इत्येवं कथयित्वा स तत्कथाना चतुष्टयम् । धीरयित्वा च सन्ध्यायां गतस्तापससन्निधिम् ॥७७
सः तपस्विनरैस्तस्मात्स्थितो मायान्वितो द्विज । निर्घाटितोऽपि न याति भूत्वा रात्र्यध एव स ॥७८

ससारमे जो जबर्दस्ती दूसरेका धन ले लेते है वे अनेक दुर्गतियोके दु ख भोगते है ॥६५॥ सब धन नष्ट हो जानेके कारण मुझसे बहुत पश्चात्ताप हुआ परन्तु अन्तमे चुप हो जाना पडा । फिर मैं वहाँसे अकेला चल पडा । चलते चलते देखा कि किसी पर्वतपर जगलमे एक गीध रहता था उसी वृक्षपर रातको बहुतसे पक्षी आकर ठहरते थे । जब अन्य पक्षियोस उसे हटाना चाहा तो उस बूढे गीधने कहा कि "हे प्रभो ! मै अत्यन्त बूढा हूँ कही दूसरी जगह जानेको सामर्थ्य मुझमे नही है । कदाचित् मैं तुम्हारे बच्चोका भक्षण कर लूँ यह तुम्हे डर है तो तुम सब लोग मेरी मुख (मेरी चोच) बाँध दो और फिर निश्चिन्त होकर चले जाओ ।" उसकी यह बात सबने मान ली सवेरे ही उसका मुँह बाँधकर सब पक्षी चले गये ॥६६-६९॥ उन पक्षियोके चले जानेपर उस बूढे गीधने अपने पजोसे चोचके बन्धनको उतारा और पक्षियोके बच्चोको खा डाला ॥७०॥ जब उन पक्षियोके आनेका समय हुआ तब उस गीधने पजोसे वह बन्धन चोचके ऊपर चढा लिया और फिर खालीसा पेट दिखलाता हुआ कपटपूर्वक चुपचाप बैठ गया ॥७१॥ यह कृत्य देखकर मै आगे चला । मार्गमे मैने देखा कि एक अपसर नामका पापी चोर तपसीका रूप धारण कर खडा है । उसने अपने मस्तकके ऊपर दोनो हाथ ऊँचे कर रक्खे थे और उन दोनो हाथोमे एक पत्थरकी शिला ले रक्खी थी । इस प्रकार शिला लिये वह रातदिन फिरा करता था ॥७२-७३॥ वह प्राय गढे आदि निर्जन स्थानमे जाकर खडा होता था, जब कभी सुवर्णालकारोसे सुशोभित कोई धनी आदमी आकर उसे नमस्कार करता तभी वह उसके ऊपर वही शिला पटक देता था और लोभके वश हो इस प्रकार उसे मारकर उसका सब धन हरणकर लेता था ॥७४॥ इस प्रकार ससारभरको दु ख देनेवाले चार पापियोको देखकर हे कोट्टपाल, मैने यह श्लोक बनाया है ॥७५॥

इस ससारमे अपने बच्चेको भी स्पर्श न करनेवाली स्त्री, तृणको भी वापस लौटा देनेवाला ब्राह्मण, वनमे रहनेवाला बूढा गीध और अपसर नामका चोर भी पुरमे फिरा करता है ॥७६॥ इस प्रकार उस ब्राह्मणने उस कोतवालसे चार कथाएँ कही तथा उसको धैर्य बँधाकर सायकालके समय वह स्वय उस तपसीके पास गया ॥७७॥ वह ब्राह्मण छल कपटकर वही बैठ गया, हटानेसे

तैस्तस्य च नयनाग्रे तृणांगुल्यादिकं धृतम् । परीक्षणाय पश्यत्स स्थितो मौनं विधाय वै ॥७९
अर्द्धरात्रौ पुनस्तेषां सर्वं दृष्टं धनादिकम् । गुहायामन्धकूपे च तेन प्रच्छन्नयोगतः ॥८०
प्रभाते मार्यमाणोऽपि तलारस्तेन रक्षितः । रात्रिदृष्टं समावेद्य राज्ञस्तापसवृत्तकम् ॥८१
स तपस्वी तलारेण मारितोऽत्यन्तकोपतः । अनेकवधबंधादिच्छेदनैश्च कदर्थनैः ॥८२
मृत्वा सोऽपि महादुःखं तीव्रं वाचामगोचरम् । अनुभूय गतः पापाद् दुर्गतिं बहुयोनिजाम् ॥८३
तापसस्य कथां ज्ञात्वा पापभीतैर्महाजनैः । अदत्तं तृणमात्रं च न ग्राह्यं दन्तशुद्धये ॥८४
अन्ये ये बहवो नष्टाः शिवभूत्यादयोऽधमाः । चौर्याच्च कः कथां तेषां गदितुं स्यात्क्षमो भुवि ॥८५
अशुभसकलपूर्णां घोरदुःखादिखानिं, परधनहरणाच्च दुर्गतिं तापसोऽगात् ।
विविधकुवधवन्धं प्राप्य त्यक्त्वा च प्राणान्, इह दुरितकुकीर्तिं पापतोऽमुत्र मूढः ॥८६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अदत्तादानविरतिव्रत-वारिषेण-तापसकथाप्ररूपको नाम चतुर्दशमः परिच्छेदः ॥१४॥



भी नहीं हटा और कहने लगा कि मुझे रात्रिमें कुछ दिखाई नहीं देता है ।।७८।। उन तपसियोंने उसके नेत्रोंके सामने बहुतसी उँगली दिखाकर पूछा, बहुतसे घास पात आदि रक्खे और सब तरहसे उसकी परीक्षा करनी चाही परन्तु वह ब्राह्मण तो मौन धारणकर चुप हो रहा ॥७९॥ आधी रातके समय उस ब्राह्मणने देखा कि सब तपसी धन ला लाकर एक अन्धे कूएमें रख रहे हैं। ब्राह्मणने छिपकर सब कृत्य देख लिया ॥८०॥ सवेरे ही वह कोतवाल मारा जानेवाला था परन्तु उस ब्राह्मणने आकर उसकी रक्षा की और उस तपसी चोरको पकडवाया। वहाँपर उसे वध बन्धन आदिके अनेक दुःख भोगने पडे और ऐसे ऐसे महा दुःख भोगने पडे जो वचनसे भी नहीं कहे जा सकते। उन सबको भोगकर और कोतवालके द्वारा मारा जाकर उस पापीने अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया ॥८१-८३॥ तपसीकी यह कथा सुनकर पापोंसे डरनेवाले महाजनोंको दाँतोंको साफ करनेके लिये विना दिया हुआ एक तृण भी नहीं लेना चाहिये ॥८४॥ इस चोरी करनेके कारण शिवभूति आदि और भी बहुतसे नीच पुरुष नष्ट हुए हैं। इस संसारमें उन सबकी कथाओंको भला कौन कह सकता है ॥८५॥ देखो, दूसरेका धन हरण करनेके कारण मूर्ख तपसीको वध बन्धन आदिके अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडे और उन्हीं पापोंके कारण प्राणोंका त्यागकर सब तरहके पापोंसे परिपूर्ण घोर दुःखोंकी खानि तथा पाप और अपकीर्तिको बढानेवाली ऐसी अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पडा। यही समझकर चोरी करनेका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥८६॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें अचौर्याणुव्रतका स्वरूप और वारिषेण तथा तपसीकी कथाको कहनेवाला यह चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१४॥



पन्द्रहवाँ परिच्छेद

धर्मनाथजिन देवं धर्मदं धर्मनायकम् । सर्वधर्ममयं धर्मकरं सद्धर्महेतवे ॥१
अणुव्रतं प्रवक्ष्येऽहं चतुर्थं ब्रह्मसंज्ञकम् । तृतीयं व्रतमाख्याय सर्वसौख्याकरं परम् ॥२
प्रणीतं जिननाथेन सारं तुर्याणुसद्व्रतम् । पवित्रमङ्गिना सर्वपरस्त्रीत्यागलक्षणम् ॥३
स्वरामयातिसन्तोषं कृत्वा योऽत्र हि पश्यति । मातृवत्परराम स स्थूल शीलव्रतं भजेत् ॥४
चतुर्थं व्रतमादाय कृत्वा वैराग्यमञ्जसा । किंपाकफलवन्नारी सुरूपामपराम् त्यज ॥५
परभार्यादिसंसर्गात् कलङ्कं जायते नृणाम् । व्रतभङ्गो भवेच्चैव यावज्जीवायश प्रदम् ॥६
संसर्ग हि न कुर्वन्ति क्षणमेक सुधीजनाः । कलङ्ककारणं निन्द्यं परेषा रामया सह ॥७
नवनीतमम ज्ञेय मन स्त्री चाऽनलोपमा । पुंसा कथ भवेत्तद्धि स्थिरं तत्र खु स्त्र्यग्निना ॥८
वरमालिङ्गिता क्रुद्धा. सर्पिणी प्राणहारिणी । परस्त्री न च रूपाढ्येहामुत्र प्राणनाशिनी ॥९
परस्त्रिय समं पाप न भूत न भविष्यति । नास्ति लोके महानिन्द्य पुंसा सप्तमश्वभ्रदम् ॥१०
परस्त्रिया सम भोगो भवेन्मा वा शठात्मनाम् । तद्वाञ्छाचिन्तया तेषा महापापं प्रजायते ॥११
परभार्या परिप्राप्य निर्जनेऽत्र क्वचिच्छठ । कथ सलभते सौख्य वधमाशक्य चात्मन. ॥१२

जो धर्मके देनेवाले हैं, धर्मके स्वामी हैं, पूर्ण धर्ममय है और धर्मकी खानि हैं ऐसे श्री धर्मनाथ जिनेन्द्रदेवको मैं केवल धर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अब मैं तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहकर समस्त सुखोको देनेवाले और परम उत्कृष्ट ऐसे चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहता हूँ ॥२॥ परस्त्रीके त्याग करनेरूप यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत श्री जिनेन्द्र-देवने सबमे सार बतलाया है, यही व्रत समस्त जीवोके लिये परम पवित्र और श्रेष्ठ है ॥३॥ जो अपनी स्त्रीमे सन्तोप रखकर अन्य स्त्रियोको माताके समान देखता है, उसके यह स्थूल शीलव्रत या स्थूल ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है ॥४॥ इस चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतको पालनकर जीवोको विरक्त होना चाहिये और किंपाकफलके समान परस्त्रियोका त्याग कर देना चाहिए ॥५॥ परस्त्रीके ससर्गसे मनुष्योको कलक लगता है और जीवनपर्यन्त अपयशको देनेवाला व्रत भग होता है ॥६॥ बुद्धिमान पुरुपोको परस्त्रियोके साथ एक क्षणभर भी ससर्ग नही करना चाहिये। क्योकि परस्त्रियोका ससर्ग कलक उत्पन्न करनेवाला है और अत्यन्त निंद्य है ॥७॥ पुरुपोका मन मक्खनके समान है और स्त्री अग्निके समान है फिर भला दोनोका ससर्ग होनेपर वे दोनो कबतक स्थिर रह सकते हैं ॥८॥ केवल इस लोकमे प्राणोको हरण करनेवाली क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन कर लेना अच्छा, परन्तु इस लोकमे प्राणोको हरण करनेवाली और परलोकमे प्राणोको नाश करनेवाली परस्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नही ॥९॥ इस ससारमे परस्त्रीसेवनके समान अन्य कोई पाप न हुआ है न हो सकता है, ससारमे इसके समान और कोई महानिंद्य काम नही है और न इसके समान मनुष्योके दु ख देनेवाला अन्य कोई काम है ॥१०॥ मूर्ख लोगोको परस्त्रीके साथ भोगोकी प्राप्ति हो या न हो, किन्तु परस्त्रीकी इच्छा और चिन्तासे ही उन्हे महापाप लग जाता है ॥११॥ जो मूर्ख किसी निर्जन स्थानमे परस्त्रीके समीप जाता है वह सुखी किस प्रकार

मन्येहमेव मूढाना वरस्त्रीसङ्गसम्भवम् । यद्दुःखं तद्धि सौख्य च भासते बुद्धिनाशत ॥१३
परनारीं समीहन्ते ये चेह विषयाकुला. । वधबन्धादिकं क्लेश सर्वस्वहरणं तथा ॥१४
प्राप्यतेऽमुत्र लोकेऽहो मज्जन्ति श्वभ्रसागरे । दुस्सहे विषमे घोरे दु.खमीनसमाकुले ॥१५
परस्त्रिया समं येऽत्र कुर्वन्त्यालिङ्गनादिकम्.। तदामुत्र भवेत्तेषाम् तप्तलोहाग्निरामया ॥१६
कामदाहो न शाम्येत परस्त्रीतैलसिञ्चित । स एवोपशमं याति ब्रह्मचर्याम्बुसिञ्चित ॥१७
कामज्वरमपीहन्ते निराकर्तुं हि येऽधमा । पररामौषधेन तैलेनाग्नि सिञ्चन्ते बुधा ॥१८
वरं हालाहलं भुक्तमग्नौ वा सागरेऽचले । झंपापातो न पुंसा च शीलादिच्युतजीवितम् ॥१९
वैराग्याधिष्ठितं कृत्वा हृदयं शीलवासितम् ।,परदारां त्यज त्वं भो सर्पिणीमिव सर्वथा ॥२०
मद्यमांसादिसंसक्ता मातङ्गादिषु लम्पटाम् । अयश पापदुखादिकरां वेश्या त्यजेद् बुधः ॥२१
सर्वव्यसनदां क्रूरा कुटिलां कुटिलाननाम् । त्यज त्वं गणिजा पापां धनवर्मेषु तस्करीम् ॥२२
गौरचर्मावृतां बाह्ये वस्त्राभरणमण्डिताम् । मधुरां मधुरालापा गीतनृत्यकरा वराम् ॥२३
स्वरूपा हीनसत्त्वाना मन क्षोभकरा सुहृत् । स्वैरिणीं गणिका चान्यां दृष्ट्वा मध्ये विचारय ॥२४

हो सकता है क्योकि वहाँ तो उसे सदा अपने मारे जानेकी ही आशंका लगी रहती है ॥१२॥ मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि परस्त्री समागम करनेवालोकी बुद्धि नष्ट हो जाती है इसलिये उन मूर्खोको परस्त्रीके समागमसे जो दु ख उत्पन्न होता है उसे ही वह सुख मान लेता है ॥१३॥ विषयोसे व्याकुल हुए जो मनुष्य परस्त्रीकी इच्छा करते है वे वध बन्धनके अनेक क्लेश सहते हैं, उनका सब धन हरण कर लिया जाता है और मरकर परलोकमे दु खरूपी अनेक मछलियोसे भरे हुए असह्य, विषम और घोर ऐसे नरकरूपी महासागरमे डूबते हैं ॥१४–१५॥ जो पुरुष परस्त्रियोके साथ आलिगनादिक करते हैं, परलोकमे नरकमे जाकर उनके शरीरसे, अग्निसे लालकी हुई लोहेकी पुतलियाँ चिपकाई जाती हैं ॥१६॥ परस्त्रीरूपी तेलके सीचनेसे यह कामरूपी अग्नि कभी शान्त नही होती और ब्रह्मचर्यरूपी जलके सींचनेसे यह कामाग्नि अपने आप शान्त हो जाती है ॥१७॥ जो नीच पुरुष कामज्वरको परस्त्री रूपी औषधिसे दूर करना चाहते हैं वे अग्निको तेलसे बुझाना चाहते हैं ॥१८॥ हालाहल विष खा लेना अच्छा, अग्निमे जल मरना अच्छा, समुद्रमें डूब जाना अच्छा, तथा पर्वतसे गिर पडना अच्छा, परन्तु मनुष्योका शीलरहित जीवित रहना अच्छा नही ॥१९॥ इसलिये हे भव्य ! अपने हृदयमे वैराग्य धारण कर और हृदयको शीलव्रतसे सुशोभित कर सर्पिणीके समान परस्त्रीका सर्वथा त्याग कर ॥२०॥

इसी प्रकार मद्य, मास आदिमे आसक्त होनेवाली चाडालादिकके साथ लम्पटता धारण करनेवाली तथा अपयश, पाप और दु खादिको उत्पन्न करनेवाली वेश्याका भी तू सर्वथा त्याग कर ॥२१॥ यह वेश्या समस्त व्यसनोको उत्पन्न करनेवाली है, क्रूर है, कुटिल है, पापिनी है, धन और धर्मको चुरानेवाली है और इसका मुख स्वाभाविक कुटिल है (कहती कुछ है करती कुछ है) ऐसी वेश्याका तू दूरसे ही त्याग कर ॥२२॥ यद्यपि यह वेश्या ऊपरसे गोरे चमडेसे मढी हुई है, बाहरसे वस्त्र आभरणोसे सुशोभित हो रही है, इसका स्वर भी मधुर है, गीत नृत्य करने वाली है, रूपवती है और अच्छीसी जान पडती है तथापि हे मित्र ! यह नीच प्राणियोके ही मनमे क्षोभ उत्पन्न करती है, यही विचार कर हे मित्र ! इस स्वेच्छाचारिणी वेश्याका तू त्याग कर

मद्यलालांबुसड्क्लिष्टं खर्परं मण्डला इव । वेश्यास्यं ये हि लिह्यन्ति श्वानपुत्रा कथं न ते ॥२५
निषेवन्ते हि नारी ये जातिहीना कुमार्गगाः । सम्प्राप्य जातिनाशं ते गर्दभीमश्ववत्तथा ॥२६
जातिहीनो दिवं याति धर्माचरणयोगत. । पापान्ना दुर्गति याति कुलजो धर्मव्यत्ययात् ॥२७
जीवन्तोपि मृता ज्ञेया शीलहीना हि मानवा. । न तिष्ठन्ति गुणास्तेषु केचिद्धो मृतके यथा ॥२८
स्वनारीं य परित्यज्य परनारी निषेवते । भुड्क्ते मातङ्गगेहे स त्यक्त्वा स्वान्नं वरं खलः ॥२९
वेश्यादिपरनारीणा सङ्ग कुर्वन्ति येऽधमा । मातङ्गवत् तेऽप्यस्पृश्या भवन्ति भुवनत्रये ॥३०
इति मत्वा हि भो मित्र ! पररामा सदा त्यज । पूर्वं कृत्वातिसन्तोषं पुण्यदं स्वस्य रामया ॥३१
ब्रह्मचर्यं चरेद्यस्तु मुक्तिस्त्रीचित्तरञ्जकम् । प्राप्य स्वर्ग च राज्यं स मुक्तिनाथो भवेद् ध्रुवम् ॥३२
एकचित्तेन ये शीलं पालयन्ति बुधोत्तमा । सेवा कुर्वन्ति देवेन्द्रास्तेषा भृत्या इव स्वयम् ॥३३
दिनैकं ब्रह्मचर्यं यो विधत्तेऽभयदानत. । वै नवलक्षजीवाना तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥३४
शीलयुक्त इहामुत्र भवेत्पूज्य पदे पदे । नृदेवखेचरेन्द्रैश्च नाकमोक्षाधिपः स ना ॥३५
कुर्वन्ति भुवने शीलाभरणं या स्त्रियोऽमरै' । प्राप्य पूजामिहामुत्र यान्ति षोडशमे दिवे ॥३६
मन्ये स एव पुण्यात्मा शीलरत्नं सुनिर्मलम् । स्त्रीकटाक्षादिलुण्टाकैर्न हृतं यस्य भो हठात् ॥३७
ते धन्या' शीलसद्रत्न येषां सारं न लुण्ठितम् । कामेन्द्रियादिचौरैश्च मनोराजादिप्रेरितै. ॥३८

॥२३-२४॥ जिस प्रकार कुत्ता खप्परको चाटता है उसी प्रकार जो नीच मद्यकी लारसे झरे हुए वेश्याके मुँहको चाटते हैं उन्हे श्वानपुत्र (कुत्ते) क्यो नही कहना चाहिये ॥२५॥ जिस प्रकार घोडा गर्दभीका सेवनकर अपनी जातिको नष्ट करता है उसी प्रकार जो कुमार्गगामी पुरुष नीच जातिकी स्त्रियोका सेवन करते हैं वे खच्चरोके समान अपनी जातिको नष्टकर देते है क्योकि खच्चरोके फिर सन्तान नही होती ॥२६॥ धर्मरूप आचरण करनेसे जातिहीन पुरुप भी स्वर्गमे जा उत्पन्न होता है किन्तु पाप करनेमे वा धर्मका नाश करनेसे यह प्राणी दोनो लोकोमे दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥२७॥ जो मनुष्य शीलरहित हैं वे जीवित रहते हुए भी मरे हुएके समान है क्योकि जिस प्रकार किसी मरे हुए पुरुषमे कोई गुण नही ठहर सकते, उसी प्रकार उस शीलरहित पुरुषमे भी कोई गुण नही ठहर सकते ॥२८॥ जो मूर्ख अपनी स्त्रीको छोडकर परस्त्रीका सेवन करते हैं वे अपने उत्तम भोजनोको छोडकर चाडालके घर सबका उच्छिष्ट खाते हैं ॥२९॥ जो नीच पुरुष वेश्याओका वा परस्त्रियोका समागम करते हैं वे चाडालके समान तीनो लोकोमे अस्पृश्य (न छूने योग्य) गिने जाते हैं ॥३०॥ यही समझकर हे मित्र ! पहिले अपनी स्त्रीमे ही पुण्य बढानेवाला सन्तोप धारणकर और फिर सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर ॥३१॥ जो मनुष्य मुक्तिरूपी स्त्री के चित्तको प्रसन्न करनेवाला ब्रह्मचर्य पालन करते हैं वे स्वर्गका साम्राज्य पाकर अन्तमे मुक्तिके स्वामी होते हैं ॥३२॥ जो उत्तम विद्वान् एकाग्रचित्तसे शीलका पालन करते हैं उनकी इन्द्र भी आ कर स्वय सेवा करता है ॥३३॥ जो एक दिन भी ब्रह्मचर्य पालन करता है वह नौ लाख जीवो के अभयदान देनेका पुण्य प्राप्त करता है ॥३४॥ शीलवान पुरुष इस लोक और परलोकमे मनुष्य, देव, विद्याधरोके द्वारा पद पदपर पूज्य होता है और अन्तमे स्वर्ग-मोक्षका स्वामी होता है ॥३५॥ इस ससारमे जो स्त्रियाँ शीलरूपी आभरणको धारण करती है वे देवोके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा पाकर सोलहवे स्वर्गमे जाकर देव होती हैं ॥३६॥ जिसका निर्मल शीलरूपी रत्न स्त्रियोके कटाक्षरूपी लुटेरोके द्वारा नही हरा गया, वही पुरुष ससारमे पुण्यवान है ऐसा मै मानता हूँ ॥३७॥ जिनका

परीषहभटैरुच्चै स्त्रीकृतोपद्रवैस्तथा । न त्यक्तं शीलमाणिक्यं यैश्च तेभ्यो नमोऽस्तु मे ॥३९
किमत्र वहुनोक्तेन त्व शीलं भज सर्वथा । सार सर्वव्रतादीना धर्मरत्नादिसद्गृहम् ॥४०
शील यो मतिमान् धत्ते सदातिचारप्रच्युतम् । यश पूजा स आसाद्य स्वर्गं वा याति निर्वृतिम् ॥४१
निर्मलस्यापि शीलस्य मलसम्पादनक्षमान् । आदिश त्वं हि भो नाथ ! व्यतिचारान् समादरात् ॥४२
शृणु भो वत्स ! ते वक्ष्ये अतीचारान् मलप्रदान् । नारीसंसर्गतो जातान् मोहाद्वाप्यशुभोदयात् ॥४३
अन्यविवाहकरण गृहीतेतरभेदत. । इत्वरिकागमनं च द्विधा स्यान्मलकारणम् ॥४४
चतुर्थोऽनङ्गक्रीडा स्यादतीचारो विरूपकः । पञ्चम कामतीव्राभिनिवेशश्च जिनैर्मत ॥४५
परेषा यो मनुष्याणा विवाह पापकारणम् । करोति मूढधीस्तस्य भवेद्दोषो मलप्रद. ॥४६
इच्छन्ति ये खला नूनमित्वरिका सभर्तृकाम् । अतीचारो भवेत्तेषां रागाच्छीलव्रतस्य वै ॥४७
समीहन्ते शठा येऽपि परस्त्री भर्तृविच्युताम् । गणिका वातिलोभेन व्यतीपातं भजन्ति ते ॥४८
मुक्त्वा योनिं हि ये क्रीडां प्रकुर्वन्ति मुखादिके । यत्र तत्र शरीरे वा रागात्तेषामतिक्रमः ॥४९
अतितृष्णा विधत्ते य कामसेवादिके बुधा । अग्निवच्च न सन्तोषमतीचारं श्रयेत्स ना ॥५०
परनारीं तिरश्चीं च सेवन्ते ये व्रतच्युता षण्ढत्वं प्राप्य ते दुष्टा श्वभ्रनाथा भवन्ति वै ॥५१

शीलरूपी श्रेष्ठ भण्डार मनरूपी राजाके द्वारा प्रेरणा किये गये काम और इन्द्रियरूपी चोरोंके द्वारा नही लूटा गया वे ही पुरुष ससारमे धन्य हैं ॥३८॥ जिन्होने स्त्रियोके किये हुए अनेक उपद्रवोके होनेपर तथा सैकडो कठिन परीषहोंके उपस्थित होनेपर अपना शीलरूपी माणिक-रत्न नही छोड़ा है उनके लिये मैं वार-वार नमस्कार करता हूँ ॥३९॥ वहुत कहनेसे क्या, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि यह शीलव्रत सव व्रतोका सार है और धर्मरूपी रत्नोका भण्डार है इसलिये हे मित्र ! तू इसको सव तरहसे पालन कर ॥४०॥ जो वुद्धिमान अतिचार-रहित इस शीलव्रतको पालन करता है वह इस ससारमे पूजा प्रतिष्ठा पाकर अन्तमे स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करता है ॥४१॥ प्रश्न—हे प्रभो ! यद्यपि यह शीलव्रत स्वय निर्मल है तथापि इसमे मल उत्पन्न करनेवाले अतिचारोंको आप कृपाकर कहिये ॥४२॥ उत्तर—हे वत्स ! सुन । इस व्रतमे मल उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोके ससर्गसे और अत्यन्त अशुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए अतिचारोको मैं कहता हूँ ॥४३॥ अन्य विवाहकरण, परिग्रहीता इत्वरिकागमन, अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन, अनंगक्रीडा, और काम तीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहलाते हैं ॥४४-४५॥ जो अज्ञानी जीव दूसरोके पुत्र पुत्रियोके विवाह करते हैं उनके ब्रह्मचर्यमे मल उत्पन्न करनेवाला अन्यविवाहकरण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥४६॥ जो पुरुष रागपूर्वक किसीकी विवाहिता व्यभिचारिणीकी इच्छा करते हैं उनके शीलव्रतमे परिग्रहीता इत्वरिकागमन नामका दूसरा अतिचार होता है ॥४७॥ जो मूर्ख पतिरहित परस्त्रियोको अथवा अविवाहित वेश्या आदिकोकी इच्छा करते हैं उनके व्रतमे अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥४८॥ जो पुरुष योनिको छोडकर रागपूर्वक मुखादिकमे क्रीडा करते हैं अथवा शरीरपर यत्र तत्र क्रीडा करते हैं उनके अनगक्रीडा नामका चौथा अतिचार लगता है ॥४९॥ जो वुद्धिमान कामसेवनमे अत्यन्त तृष्णा रखता है और अग्निके समान जिसे सन्तोष होता ही नही, उसके काम-तीव्राभिनिवेश नामका पाँचवाँ अतिचार लगता है ॥५०॥ जो मूर्ख अपने शीलव्रतको छोडकर परस्त्रीका अथवा किसी तिर्यचिनीका सेवन करता है वह परलोकमे नपुसक होकर नरकका स्वामी

त्यक्त्वपञ्चव्यतीपात ब्रह्मचर्यमणुव्रतम् । धत्ते य प्राप्य नाकं च राज्यं गच्छति निर्वृतिम् ॥५२

नरकगृहप्रतोली धर्मवृक्षे कुठारीं दुरितवनकुवृष्टिं बन्धुविध्वंसदा त्वम् ।
सुरगतिशिवगेहेष्वर्गलां साधुनिंद्यां त्यज सकलपरस्त्रीं स्थूलब्रह्म विधाय ॥५३

अखिलकुजनसेव्यां मद्यमासादिसक्तामशुभभुवनभूमिं तस्करीं धर्मरत्ने ।
कुगतिकुमतिदा त्वं मुक्तिमार्गार्गला भो त्यज भुवि बुध वेश्यां शीलगेहं प्रविश्य ॥५४

स्वर्मोक्षैककरं यशःशुभप्रदं त्यक्तोपम निस्पृह
सद्धर्मामलरत्नभाण्डमसमं पापस्य निर्नाशकम् ।
सत्सौख्याकरमेकमेव शुचिदं धीरैः सदा सेवितं
संसाराम्बुधितारकं हि भज भो त्व सारशील शुभम् ॥५५

ब्रह्मचर्यफलाज्जीव' प्राप्य पूजामिहामरै । कृतामभुत्र लोकेऽपि स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥५६
शीलमाहात्म्यत केन फलं लब्धं निरूपय । भगवन्निह लोकेऽपि विधायानुग्रहं मम ॥५७
शृणु धीमन्नहं वक्ष्ये कथा शीलसमुद्भवाम् । एकचित्तान्वितो भूत्वा नील्याः पुण्यफलप्रदाम् ॥५८
लाटदेशे मनोज्ञेऽस्मिन् वसुपालो नरेश्वर । पत्तने भृगुकच्छाख्ये जात पुण्योदयात्सुधीः ॥५९
जिनदत्तो भवेत् श्रेष्ठी जिनदत्ताभिधा प्रिया । पुत्री जाता तयोर्नीली रूपशीलसमन्विता ॥६०

होता है ॥५१॥ जो मनुष्य इन पाँचो अतिचारोका त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है वह स्वर्गका राज्य पाकर अन्तमे मुक्त होता है ॥५२॥ हे भव्य ! परस्त्रीका सेवन नरकरूपी घरकी देहली हे, धर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाडी) के समान है, पापरूपी वनको बढानेके लिये वर्षाके समान है, भाई वन्धु आदिको नाश करनेवाला है, देवगति और स्वर्गरूपी घरको वन्द करनेके लिये अर्गल (वेडा) के समान है और सज्जन पुरुषोके द्वारा सदा निंद्य है इसलिये हे भव्य ! स्थूल ब्रह्मचर्य धारण करके तू सब प्रकारकी परस्त्रियोका त्याग कर ॥५३॥ इसी प्रकार वेश्या भी मद्य मासादिकमे सदा आसक्त रहती है, ससारमे जितने दुष्ट हैं सब उसे सेवन करते है, पापरूपी वनको उत्पन्न करनेके लिये भूमिके समान है, धर्मरूपी रत्नोकी चोर है, दुर्गति और दुर्वुद्धियोको उत्पन्न करनेवाली है, और मोक्षमार्गको रोकनेके लिये अर्गलके समान है। इसलिये हे विद्वन् ! तू शीलरूपी घरमे प्रवेशकर इस वेश्या सेवनका भी सदा त्याग कर ॥५४॥ यह शीलरत्न स्वर्ग मोक्षको देनेवाला है, यश और पुण्यको वढानेवाला है, ससारमे इसकी कोई उपमा नही, यह अत्यन्त निस्पृह है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोका पिटारा है, पापोका नाश करनेवाला है, उत्तम सुख देनेवाला है, अत्यन्त पवित्र है, धीरवीर पुरुषोके द्वारा ही यह सेवन किया जाता है, अत्यन्त शुभ है, सार है और ससाररूपी महासागरसे पारकर देनेवाला है। इसलिये हे भव्य ! तू ऐसे शीलव्रतका पालन कर ॥५५॥ ये जीव ब्रह्मचर्य व्रतके फलसे इस लोकमे भी देवोके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और परलोकमे भी स्वर्ग मोक्षके स्वामी होते है ॥५६॥

प्रश्न—हे भगवन् ! इस शीलव्रतके माहात्म्यसे इसी लोकमे किसको फल मिला हे उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कह दीजिये ॥५७॥ उत्तर—हे चतुर ! तू चित्त लगाकर सुन । मै पुण्य फल देनेवाली शीलव्रतकी कथा कहता हूँ ॥५८॥ इसी मनोहर ललाट देशके भृगुकक्ष नामके नगरमे पुण्यकर्मके उदयसे वुद्धिमान् राजा वसुपाल राज्य करता था ॥५९॥ उसी नगरमे एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था । जिनदत्ता उसकी सेठानीका नाम था । उन दोनोके रूप और शीलसे

श्रेष्ठी समुद्रदत्ताख्यस्तिष्ठत्येव पुरेऽपर । भार्या सागरदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा ॥६१
पुत्र सागरदत्तो हि तयोर्जातोऽतियौवने । गतो जिनालय सोऽपि मित्रेण सममेकदा ॥६२
कायोत्सर्गान्विता नीली वस्त्राभरणमण्डिता । महापूजां विधायोच्चैर्जिनस्याग्रे स्थिता स्वयम् ॥६३
आलोक्य स्वय तेन पृष्टो मित्रस्तदा स्फुटम् । एषा किं देवता काचित् रूपलावण्यसंयुता ॥६४
तदाकर्ण्याशु मित्रेण प्रियदत्तेन भाषितम् । श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य नीली पुत्रीयमेव हि ॥६५
तद्रूपालोकनाज्जातो तीव्रासक्त स तत्क्षणम् । ताडित कामबाणेन हृदये रागहेतुत. ॥६६
रूपलावण्यसीमेय कथ लभ्या मयाऽधुना । परिणेतुं महापुण्या चेत्यभूच्चिन्तया कृश ॥६७
ज्ञात्वा समुद्रदत्तेन तत्पुत्रो भणितस्तदा । मुक्त्वा जैन खु हे पुत्र ! पुत्रीं नैव ददाति भो ॥६८
श्रेष्ठ्यय जिनदत्ताख्यो मातङ्गानिव पश्यति । अस्मान् कथं स्वपुत्रीं स परिणेतुं ददाति वै ॥६९
पर्यालोच्य ततो जातौ श्रावकौ तौ मुनीश्वरात् । कौटिल्येन जिनेन्द्रस्य शासने धर्मदीपकौ ॥७०
परिणेतु प्रदत्ता सा पुत्रिका तस्य श्रेष्ठिना । त्यक्त्वा मिथ्यात्वसर्वस्व गृहीतजिनधर्मत ॥७१
नीत्वा नीलीं स्वय गेहे निषिध्य गमन पुन. । पितृगृहे ततो जातौ बुद्धभक्तौ कुमार्गगौ ॥७२
ज्ञात्वा तद्वचन श्रेष्ठी जगादेयं न मे सुता । जाता वा पतिता कूपे नीता वा च यमेन वै ॥७३
वरं क्षिप्तान्धकूपादौ पुत्री सन्मृत्युहेतवे । न च दातु कुमिथ्यात्वाधिष्ठिताय जडात्मने ॥७४

सुशोभित नीली नामकी पुत्री थी ॥६०॥ उसी नगरमे एक समुद्रदत्त नामका दूसरा सेठ रहता था और उसको सुख देनेवाली उसकी सेठानीका नाम सागरदत्ता था ॥६१॥ उन दोनोंके सागरदत्त नामका पुत्र था। वह सागरदत्त अत्यन्त यौवनावस्थामे किसी एक दिन अपने किसी मित्रके साथ जिनालयमे गया था। वहाँपर सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली वस्त्राभरणोंसे सुशोभित होकर भगवान् की पूजा कर भगवान्के ही सामने कायोत्सर्ग धारण कर खडी थी ॥६२-६३॥ उसे देखकर सागरदत्तने अपने मित्रसे पूछा कि रूप और लावण्यसे सुशोभित क्या यह कोई देवता है ? ॥६४॥ सागरदत्तकी यह वात सुनकर उसके मित्रने कहा कि यह देवता नही है, किन्तु सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली है ॥६५॥ उसके रूपको देखकर वह सागरदत्त उसमे तीव्र आसक्त हो गया, वह कामवाणसे वीधा गया और उसका हृदय रागसे भर गया ॥६६॥ वह रात-दिन यही चिन्तवन करने लगा कि यह नीली रूप-लावण्य की सीमा है और महा पुण्यवती है, मैं इसके साथ किस प्रकार विवाह करूँ ? इसी चिन्तामे वह रात-दिन कृश होने लगा ॥६७॥ उसके पिता समुद्रदत्तने यह वात जानकर अपने पुत्र सागरदत्तसे कहा कि हे पुत्र ! जिनदत्त जैनको छोडकर और किसीको अपनी पुत्री नही देगा ॥६८॥ वह जिनदत्त सेठ हम लोगोको चण्डालके समान देखता है फिर भला विवाहके लिये वह हमे अपनी कन्या देगा ? ॥६९॥ यही सोच-विचारकर वे दोनो वाप वेटे कपट धारण कर किसी मुनिराजके पास गये और वहाँ पर जिनधर्म धारण कर दोनो ही धर्मको वढानेवाले श्रावक वन गये ॥७०॥ सागरदत्तने मिथ्यात्व छोड दिया है और जिनधर्म धारण कर लिया है यह सव जगह प्रसिद्ध हो गया और फिर सेठ जिनदत्तने भी सागरदत्तके लिये अपनी पुत्री दे दी ॥७१॥ जव नीली सागरदत्तके घर चली गई तव उन्होने उसे अपने पिताके घर जानेसे रोक दिया और फिर वे दोनो कुमार्गगामी वाप वेटे बुद्धके भक्त वौद्ध हो गये ॥७२॥ जव यह वात जिनदत्तने सुनी तव वह वहुत पश्चात्ताप करने लगा और कहने लगा कि मेरे पुत्री हुई ही नही थी, अथवा होकर कूएँमे पड गई अथवा मर गई ॥७३॥ पुत्रीको अन्धे कूएँमे डाल देना अच्छा

सा कूपे पतिता दुःखं भुङ्क्ते चैकभवं पुनः। अनन्तभवजं पापान्मिथ्यादृष्टिगृहे गता ॥७५
बालहत्या भवेद्दोष कन्याकूपादिक्षेपणात् । नृणां भवेत्कुनीचाय दानात्पापमनेकशः ॥७६
श्वसुरस्य गृहे नीली पृथग्भूत्वा प्रियान्विता । जैनं धर्मं करोत्येव चैकचित्तेन प्रत्यहम् ॥७७
धर्मादिश्रवणाद्दानात्संसर्गाद्वा भविष्यति । कालेन बौद्धभक्तेयं श्रेष्ठी मत्वेति संजगौ ॥७८
हे नीलि ! ज्ञानिनां त्वं हि वन्दकाना सुभोजनम् । आमन्त्र्य विदुषां देहि अस्मदर्थं सुखाकरम् ॥७९
नील्याहूय पुनस्तेषां भोक्तु दत्तातिखण्डिता । एकैका पादरक्षिका सत्कार्यातिरसान्विता ॥८०
गच्छद्भिर्भोजनं कृत्वाऽदृष्टा प्राणहिता वरा । क्व गता नैव पश्यामस्तैरागाङ्कितविग्रहैः ॥८१
तयोक्तं यत्र ताः सन्ति यूयं जानीत शीघ्रतः । ज्ञानेन यदि तन्नास्ति कथं पूज्या बुधोत्तमैः ॥८२
तैरुक्तं नास्ति चास्माकं ज्ञानमीदृग्विधं पुनः । तयोक्तं तर्हि ताः सन्ति प्रोदरे श्रीमता स्थिताः ॥८३
नोचेद्वचनविश्वासः कुर्वीध्वं वमनं तदा । दृष्टानि चर्मखण्डानि तैः कृते वमने बलात् ॥८४
ततोऽतिनष्टसन्माना गता लज्जाकुला हि ते । श्वसुरस्य जनाः सर्वे रुष्टास्तन्मानखण्डनात् ॥८५
कोपात्सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरप्यघात् । नील्या दत्तो महादोषः परनृगमनादिकः ॥८६

परन्तु मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले मूर्खके लिये देना अच्छा नही ॥७४॥ इसका भी कारण यह है कि यदि वह कूएँमे डाल दी जायगी तो केवल इसी एक भवमे दुःख भोगेगी, परन्तु मिथ्यादृष्टिके घर जानेपर वह मिथ्यात्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पाप करेगी और फिर अनन्त भवोतक दुःख पावेगी ॥७५॥ कन्याको कूएँमे डाल देनेसे मनुष्योको बालहत्याका दोष लगाता है और नीच मनुष्यको देनेमे अनेक प्रकारके पाप होते हैं ॥७६॥

इधर नीली अपने श्वसुरके घर अपने पतिके साथ अलग रहती हुई प्रतिदिन चित्त लगाकर जैनधर्मका पालन करने लगी ॥७७॥ समुद्रदत्तने यह सोचा कि धर्म श्रवण करनेसे और बौद्ध भिक्षुकोको दान देनेसे समय पाकर यह बुद्धकी भक्ति करने लगेगी । यही विचार कर किसी एक दिन उसने नीलीसे कहा कि हे नीली ! हमारे जो बौद्ध भिक्षु हैं वे बडे ज्ञानी है, बडे विद्वान् है, इसलिये तू उन्हे आमन्त्रण कर किसी एक दिन भोजन दे । उनको भोजन देनेसे हमे बहुत सुख होगा ॥७८–७९॥ नीलीने यह बात स्वीकार करली, भिक्षुकोको आमन्त्रण दिया गया, वे आये और नीलीने सबको भोजन दिया परन्तु उनकी अनेक प्राणियोको नाश करनेवाली एक एक जूती बारीक कतर कतर कर घी बूरेमे पागकर खिला दी ॥८०॥ जब वे भिक्षु भोजन करके जाने लगे और उन्हे एक एक जूती नही मिली तब उन्होने क्रोधित होकर पूछा कि प्राणोका हित करनेवाली हमारी एक एक जूती कहाँ है ॥८१॥ इसके उत्तरमे नीलीने कहा कि आप तो बडे ज्ञानी और विद्वान् हैं आप ही बतलाइये कि आपकी जूती कहाँ है ? यदि आपमे इतना ज्ञान नही है तो फिर विद्वान् लोग आपको पूज्य कैसे मान सकते हैं । यह सुनकर भिक्षुकोने कहा कि हमलोगोमे ऐसा ज्ञान नही है । तब नीलीने कहा कि तो सब जूतियाँ आप लोगोके पेटमे है । यदि आपको मेरे वचनोका विश्वास न हो तो वमन कर डालिये । इसपर उन्होने जबर्दस्ती वमन किया और उसमे चर्मके छोटे टुकडे दिखाई दिये ॥८२-८४॥ तदनन्तर बडे निरादरके साथ और लज्जासे व्याकुल होकर वे सब भिक्षु चले गये । नीलीके इस कर्तव्यसे और भिक्षुकोका मान खण्डन हो जानेके कारण श्वसुरके घरके सब लोग नीलीसे रुष्ट हो गये ॥८५॥ क्रोधित होकर सागरदत्तकी बहिन आदिने पापकर्मके उदयसे नीलीके लिये पर मनुष्यके साथ गमन करनेका महादोष लगाया ॥८६॥ जब

जातो दोषः प्रसिद्धोऽस्मिन् लोकमध्ये यदा तदा । जिनाग्रे सत्प्रतिज्ञात्र गृहीताशु तया दृढा ॥८७
यदि नश्यति दोषोऽयमहं भक्ष्ये तदा स्फुटम् । नोचेदनशनं चास्तु यावज्जीवं सुखाकरम् ॥८८
इति संन्यासमादाय कार्योत्सर्गेण संस्थिता । निश्चलाङ्गा महाधीरा सा स्मरन्ती जिनं हृदि ॥८९
पुरदेवतयाऽऽगत्य रात्रौ सा भणिता सती । पुरः क्षुभितया शीघ्रं शीलमाहात्म्ययोगत. ॥९०
हे महासति ! प्राणानां त्यागं त्वं मा कुरु वृथा । स्वप्नं ददाम्यहं राज्ञः प्रधानानां च श्रेष्ठिनाम् ॥९१
प्रतोल्यो नगरे सर्वा उद्घाटिष्यन्ति कीलिताः । स्पृष्टा महासतीवामपादेनैव न चान्यथा ॥९२
तासां संस्पर्शनं कुर्याः पादेनैवातिशीघ्रतः । उद्घटिष्यन्ति चेत्पादस्पर्शाच्छुद्धा त्वमेव ता' ॥९३

इत्युक्त्वा सा ततो गत्वा दत्वा स्वप्नं हि तादृशम् ।
राजादीनां प्रतोलीश्च कीलित्वाऽपि स्वयं स्थिता ॥९४

प्रतोलीरक्षकाच्छ्रुत्वा प्रभाते ताः प्रकीलिताः । राजादयोपि तत्स्मृत्वा स्वप्नं तत्रागताः स्वयम् ॥९५
आकार्यं नगरस्त्रीणां वामपादेन ताडनम् । प्रकारितं प्रतोलीनां राज्ञा नोद्घटिता हि ताः ॥९६
पश्चान्नीली समुत्क्षिप्य तत्रानीता शुचिव्रतात् । तत्पादस्पर्शनात्ता हि सर्वा उद्घटितास्तदा ॥९७
ततो राजादिभिर्नीली ज्ञात्वा शील प्रशंसिता । पूजिता वस्त्राभरणैः स्तुता लोकैस्तथा परै. ॥९८
त्यक्तदोषास्तदा जाता लोकमध्येऽतिसत्त्वतः । इहामुत्र च विख्याता पूज्या नीली नरामरैः ॥९९

सकलविगतदोषा शीलसारेण जाता, अमरनृपजनैश्च पूजिताऽत्रैव लोके ।
यमदमशमपूर्णा श्रेष्ठिपुत्री हि नीली, विमलगुणचरित्री शीलरत्नादिखानि ॥१००

नीलीका यह महादोष संसारमे प्रसिद्ध हो गया तब नीली नीचे लिखी प्रतिज्ञाकर भगवानके सामने खडी हो गई कि "यदि मेरा यह झूठा लगा हुआ दोष नष्ट हो जायगा तब मैं भोजन करूँगी अन्यथा जीवनपर्यन्त जीवोको सुख देनेवाला अनशन व्रत धारण करूँगी ॥८७-८८॥ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा कर और निश्चल शरीरको धारण कर, धीर वीर महासती नीली हृदयमे भगवान जिनेन्द्रदेवको स्मरण करती हुई कायोत्सर्ग धारण कर भगवानके सामने खड़ी हो गई ॥८९॥ उसके शीलके माहात्म्यसे नगरके देवताको भी क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसने रात्रिमे उसके सामने आकर कहा कि—॥९०॥ हे महासती ! तू व्यर्थ ही प्राणोका त्याग मत कर, मैं आज रातको ही यहाँके राजाको, मन्त्रीको तथा मुख्य मुख्य सेठ लोगोको एक स्वप्न देता हूँ कि नगरके जो दरवाजे कीलित हो गये हैं वे किसी महासतीके बाये पैरके स्पर्श होते ही खुल जायँगे।' इसके बाद तू अपने बाये पैरसे उनका स्पर्श करना, तेरे पैरका स्पर्श होते ही वे सब किवाड खुल जायगे और तेरी शुद्धता प्रगट हो जायगी ॥९१-९३॥ यह कहकर वह देवता चला गया, उसने जाकर राजा और मन्त्रियो को वैसा ही स्वप्न दिया और फिर नगरके दरवाजोको कीलितकर स्वयं वहाँ बैठ गया ॥९४॥ दरवाजोके रक्षकोने सवेरे ही आकर महाराजसे निवेदन किया। उधर उन्हे स्वप्न आया ही था इसलिये रक्षकोकी बात सुनते ही स्वप्नकी बात याद की और नगरकी सब स्त्रियोको बुलाकर सबके बाये पैरका स्पर्श उन दरवाजोसे कराया परन्तु वे दरवाजे किसीसे नहीं खुले ॥९५-९६॥ तब पवित्र प्रभाको धारण करनेवाली नीली वहाँसे उठाकर लाई गई। उसका पैरका स्पर्श कराते ही दरवाजे झट खुल गये ॥९७॥ तब राजा प्रजा सबने नीलीको अत्यन्त शीलवती समझा और वस्त्राभरणोसे उसकी पूजा की तथा अन्य लोगोने भी उसकी स्तुति की ॥९८॥ इस प्रकार वह नीली संसारभरमे निर्दोष प्रसिद्ध हुई, सबके द्वारा पूज्य हुई और परलोकमे भी देवोके द्वारा पूज्य हुई ॥९९॥ देखो, यम नियम इन्द्रिय-दमन और शान्त परिणामोंसे परिपूर्ण तथा निर्मल गुणोको

सीताशीलप्रभावेन चाग्निकुण्डं सरोवरम् । जातं देवैः कृतं नूनं श्रीरामादिगोचरै ॥१०१
तथा देवैर्नरैः पूज्या या सीतातिमहासती । तस्या. कथा जनैर्ज्ञेया शास्त्रे रामायणादिके ॥१०२
सुदर्शनमहाश्रेष्ठी कामदेवोऽतिरूपवान् । पूज्योऽमरैस्तथा भूपै शीलात् त्यक्तोपसर्गत ॥१०३
योऽत्रैव तस्य धीरस्य गुणरत्नाकरस्य वै । सुदर्शनाभिधे शास्त्रे कथा ज्ञेया बुधोत्तमैः ॥१०४
चक्रिसेनाधिपो धीरो जयो नाम गुणाकर । देवराजसभाया य. स्तवनीयः सुराधिपै ॥१०५
तथा पूज्यो महाशीलान्मुक्तिभर्तुश्च तस्य वै । आदिनाथपुराणेऽपि कथा ज्ञेया बुधैर्वरा ॥१०६
अन्ये ये वहव ख्यात सुकेत्वादिवणिग्वरा । पूज्याः सुरैः कथास्तेषा क क्षमो गदितुं भुवि ॥१०७
सच्छीलेन विना प्राणी वधवन्धादिक्लेशजम् । प्राप्य दु.खमिहामुत्र श्वभ्रादिकुगतिं व्रजेत् ॥१०८
शीलाद्दते महादु खं येन प्राप्तं प्रभो ! मम । कथा तस्य दया कृत्वा सद्धर्माय प्ररूपय ॥१०९
विधाय स्ववशे चित्तं शृणु वक्ष्ये कथां तव । आरक्षकभवां शीलत्यक्तलोकस्य भीतिदाम् ॥११०
अहीराख्ये शुभे देशे नाशिक्यनगरे वरे । कनकादिरथो राजा जात. पुण्यफलोदयात् ॥१११
राज्ञी कनकमालाभूत्तस्य शीलादिवर्जिता । तलारो यमदण्डाख्यो माता तस्य वसुंधरी ॥११२
एकदा पुंश्चली रात्रौ रण्डातितरुणा शुभा । वध्वा धर्तुं प्रदत्तानि गृहीत्वाभरणानि वै ॥११३

उत्पन्न करनेके लिये पृथ्वीके समान और शीलरूपी रत्नोकी खानि ऐसी सेठकी पुत्री नीली शील–रत्नके प्रभावसे समस्त दोषोसे रहित हुई तथा इसी लोकमे देव राजा प्रजा आदि सब लोकोके द्वारा पूज्य हुई॥१००॥ इस शीलरत्नके प्रभावसे ही सती सीताका अग्निकुण्ड रामचन्द्र आदि सव महापुरुषोके सामने देवोके द्वारा सरोवर बन गया था ॥१०१॥ जो महासती सीता देव और मनुष्योके द्वारा पूज्य हुई थी उसकी कथा रामायण (पद्मपुराण) आदि शास्त्रोसे जान लेनी चाहिये ॥१०२॥ महासेठ सुदर्शन कामदेव थे, और अत्यन्त रूपवान थे, वे भी शीलरत्नके प्रभावसे उपसर्गसे छूटे और राजा तथा देवोके द्वारा पूज्य हुए थे ॥१०३॥ गुणोके सागर और अत्यन्त धीरवीर ऐसे उन सुदर्शनसेठकी कथा विद्वानोको सुदर्शनचरित्र नामके ग्रन्थसे जान लेनी चाहिये ॥१०४॥ इसी प्रकार धीर वीर चक्रवर्ती तथा राजा भरतके सेनापति और गुणोकी खानि राजा जयकुमार इन्द्रकी सभामे भी इन्द्रोके द्वारा स्तुति करनेयोग्य समझे गये थे ॥१०५॥ तथा महाशीलके प्रभावसे वे पूज्य हुए थे, और मुक्तिके स्वामी हुए थे। विद्वानोको उनकी कथा आदिनाथपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥१०६॥ इस शीलव्रतके कारण सुकेतु आदि कितने ही पुरुष देवोके द्वारा पूज्य हुए हैं उन सबकी कथाओको कोई कह भी नही सकता ॥१०७॥ जो प्राणी इस शीलव्रतको पालन नही करते वे इस जन्ममे भी अनेक वध बन्धन आदि महा दु खोको पाते हैं और परलोकमे मरकर नरक आदि दुर्गतियोमे जन्म लेते है ॥१०८॥ प्रश्न—हे प्रभो, इस शीलको पालन नही करनेसे जिसने अनेक दु ख पाये हैं उसकी कथा भी कृपाकर मेरे लिये कह दीजिये ॥१०९॥ उत्तर—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन। जिसने अपने शीलव्रतको छोड दिया है उसकी भय उत्पन्न करने वाली कथा कहता हूँ ॥११०॥ अहीर नामके देशके नाशिक्य नामके नगरमे अपने पुण्यके फलसे राजा कनकरथ राज्य करता था ॥१११॥ उसकी रानीका नाम कनकमाला था। दैवयोगसे वह शील-रहित थी। उसी राजाके यहाँ एक यमदण्ड नामका कोतवाल था और उसकी माताका नाम वसुन्धरी था ॥११२॥ वह वसुन्धरी विधवा थी, रूपवती, तरुणी और व्यभिचारिणी थी। किसी एक दिन शामके समय यमदण्डकी स्त्रीने अपने कुछ आभूषण अपनी सासु वसुन्धरीके पास

गच्छन्ती जारपार्श्वे सा यमदण्डेन सेविता । दृष्ट्वा तद्भूषणं नीत्वा स्वभार्यादत्तमेव च ॥११४
तद्दृष्ट्वा तु तया प्रोक्त मदीयं भूषणं स्फुटम् । एतद्दिनावसाने च मया श्वश्रु करे धृतम् ॥११५
तस्या वाचं समाकर्ण्य चिन्तितं तेन तत्क्षणे । या मया सेविता नूनं सा मे माता भविष्यति ॥११६
ततोऽसौ जारसंकेतगृहं गत्वा सदा निशि । कुकर्म गूढवृत्त्या हि करोत्येव तया समम् ॥११७
मात्रासमं स मूढात्मा प्रत्यहं दुरितोदयात् । अत्यासक्तो हि सञ्जात. प्रच्छन्नेन कुमार्गत ॥११८
एकदा रुष्टया प्रोक्तं रजक्यास्तस्य भार्यया । निजमात्रासमं भर्ता तिष्ठत्येव सदा मम ॥११९
रजक्या कथितं मालाकारिण्या. प्रीतियोगत । तद्वृत्तान्तमहो याति व्यक्तं पापं स्वयं भुवि. ॥१२०
सत्पुष्पाणि समादाय सा राज्ञीनिकटं गता । अपूर्वा च कथा काचिद् तया पृष्टा कुतूहलात् ॥१२१
तयोक्तं देवि पापात्मा कामक्रीडा करोति वै । यमदण्डतलारोऽयं स्वाम्बया सह प्रत्यहम् ॥१२२
राज्याशु भणितो राजा देव वै रक्षकस्तव । अम्बया सह लुब्धोऽयं तिष्ठत्येव विमूढधीः ॥१२३
ततो राज्ञा तदाकर्ण्य प्रच्छन्नपुरुषै स्फुटम् । गूढवृत्तं समालोक्य कृतं तन्निश्चयं स्वयम् ॥१२४
ततो राज्ञा महादु खैश्छेदबन्धवधादिजै । निगृहीतोऽतिसंघोरैर्यमदण्डोऽति पापत. ॥१२५
अनुभूय महादु खं सोऽपि पापकुकर्मजम् । मृत्वा गतोऽतिसङ्घोरां दुर्गतिं तीव्रक्लेशदाम् ॥१२६
परस्त्रीदोषत प्राप्तो रावण त्रिप्रमाक्षितिम् । राज्यनाशादिकं प्राप्य तस्य ख्याता कथा भुवि ॥१२७

रखनेके लिये दे दिये थे। उन आभूषणोको लेकर वह वसुन्धरी रात्रिके समय जारके पास जा रही थी। मार्गमे यमदण्डने उसे रोक लिया, उसके साथ विषयसेवन किया और उसके पास जो आभूषण थे वे लेकर अपनी स्त्रीको दे दिये ॥११३–११४॥ उन आभूषणोको देखकर उसकी स्त्रीने कहा कि ये तो मेरे आभूपण हैं, मैंने ये शामको रखनेके लिये अपनी सासुको दिये थे ॥११५॥ अपनी स्त्रीकी यह बात सुनकर यमदण्डने उसी समय सोच लिया कि रातको जिसे मैंने सेवन किया है वह मेरी माता ही होगी ॥११६॥ तदनन्तर वह मूर्ख जान-बूझकर भी प्रतिदिन रातको जार बनकर उसके सकेत किये हुए घर जाने लगा और उस अपनी माताके साथ कुकर्म करने लगा ॥११७॥ वह कुमार्गगामी महामूर्ख यमदण्ड अपने पापकर्मके उदयसे छिपकर प्रतिदिन अपनी माताके पास जाने लगा और उसमे अत्यन्त आसक्त हो गया ॥११८॥

किसी एक दिन यमदण्डकी स्त्रीने क्रोधित होकर धोबिनसे कह दिया कि "मेरा पति अपनी माताके साथ सदा रहता है" ॥११९॥ धोबिनने यह बात मालिनसे कह दी। इस प्रकार वह यमदण्डका पाप समस्त ससारमे प्रसिद्ध हो गया ॥१२०॥ किसी एक दिन सुन्दर फूल लेकर वह मालिन रानीके पास गई। रानीने कौतूहलपूर्वक उससे कोई अपूर्व बात पूछी ॥१२१॥ मालिनने कहा कि हे देवी ! पापी यमदण्ड कोतवाल प्रतिदिन अपनी माताके साथ विषय-सेवन करता है ॥१२२॥ रानीने यह बात राजासे कह दी कि हे देव ! आपका मूर्ख कोतवाल अपनी माताके साथ आसक्त हो गया है ॥१२३॥ राजाने रानीकी यह बात सुनकर गुप्तचरोंके द्वारा छिपकर सब बात देखी और फिर उसपर विश्वास किया ॥१२४॥ तदनन्तर राजाने उस पापी यमदण्डको वध, बन्धन, छेदन, आदि महा घोर दु ख देकर दण्डित किया ॥१२५॥ पाप और कुमार्ग चलनेके महा दु खोको भोगकर वह यमदण्ड मरकर अत्यन्त दु ख देनेवाली घोर दुर्गतियोमें परिभ्रमण करने लगा ॥१२६॥ परस्त्रीहरण करनेके दोषसे ही रावणका त्रिखण्ड राज्य नष्ट हो गया और वह मरकर तीसरे नरकमे पहुँचा उसकी कथा ससारमे प्रसिद्ध है ॥१२७॥ अमृतादेवी

अमृताख्या महादेवी षष्ठं च नरकं गता । या शीलेन विना भुक्त्वा दुःखं कुष्ठादिसम्भवम् ॥१२८
तस्याः कथा जनैर्ज्ञेया वैराग्यादिकरा वरा । यशोधरमहीपालचरित्रे शीलहेतवे ॥१२९
एकादश गता रुद्रा दशपूर्वाङ्गपारगाः । जिनमुद्राधरा श्वभ्रं शीलभङ्गाघपाकतः ॥१३०
अन्ये ये बहवो जाताः प्राघूर्णा दुर्गते भुवि । वासुदेवादयः ख्यातास्ते शीलव्रतवर्जनात् ॥१३१

अशुभसकलपूर्णां दुर्मतिं दुःखतप्तामतिकुपथगतत्वाद् दुष्ट आरक्षकोऽत्र ।
विषयपरवशाद्वा सङ्गतः पापपाकात् नृपकृतमपि तीव्रं दुःखभारं च भुक्त्वा ॥१३२

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे स्थूलब्रह्मचर्याव्रते नील्यारक्षककथाप्ररूपको नाम पञ्चदशमः परिच्छेदः ॥१५॥



नामकी महा पट्टरानी इस शीलव्रतके अभावसे ही अनेक प्रकारके कष्ट और दुःखोको सहकर छठवे नरकमे पहुँची ॥१२८॥ वैराग्यको बढानेवाली उसकी कथा महाराज यशोधरके जीवन-चरित्रसे (यशोधरचरित्र अथवा यशस्तिलकचम्पूसे) जान लेना चाहिये ॥१२९॥ ग्यारह रुद्र दश-पूर्वोके जानकार थे और जिनमुद्राको धारण करनेवाले थे तथापि केवल शीलभगके पापसे उन्हे नरकके दुःख भोगने पडे थे ॥१३०॥ वासुदेव आदि और भी अनेक पुरुष हुए हैं जिन्हे दुर्गतियोके घोर दुःख भोगने पड़े हैं वे सब शीलव्रतके खण्डन करनेसे ही भोगने पडे है ॥१३१॥ देखो ! यमदड कोतवाल विषयोके वश होकर कुमार्गगामी हुआ था इसलिये उस पापके फलसे उसे राजाके द्वारा दिये हुए अत्यन्त तीव्र दुःख भोगने पडे और फिर समस्त दुःखोंसे परिपूर्ण दुर्गतियोके दुःख भोगने पडे । इसलिये ऐसे पापोसे बचना ही कल्याणकारक है ॥१३२॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप, नीलीबाई और कोतवालकी कथाको कहनेवाला यह पन्द्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१५॥



सोलहवाँ परिच्छेद

शान्तिनाथं नमस्यामि जगच्छान्तिविधायकम् । शान्तकर्मारिसंचक्रं शान्तिदं कर्मशान्तये ॥१॥
पञ्चमाणुव्रतं वक्ष्ये सन्तोषादिकरं परम् । परिग्रहप्रमाणाख्यं लोभाद्यादिप्रशान्तये ॥२
परिग्रहप्रमाणं सद्व्रतं प्रोक्तं गणाधिपैः । लोभादिकविनाशार्थं श्रावकाणां जिनागमे ॥३
कृत्वा सन्तोषसारं ये संख्यां कुर्वन्ति सद्बुधाः । परिग्रहस्य तेषां स्यात्सतस्थूलं पंचमं व्रतम् ॥४
क्षेत्रं गृहं धन धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् । आसनं शयनं वस्त्र भाण्डं स्याद्गृहमेधिनाम् ॥५
जिनेन्द्रैर्दशधा प्रोक्ता गृहस्थानां परिग्रहा. । तेषां संख्या नरै कार्या पापारम्भादिहानये ॥६
अथ हिंसाकरं क्षेत्रं त्यज त्वं धर्महेतवे । यदि त्यक्तुं समर्थो न संख्या कुरु हलादिके ॥७
ममत्वजनके सारे स्थावरत्रसघातके । सन्तोषधर्मसिद्ध्यर्थं भज संख्यां गृहादिके ॥८
द्रव्यरूप्यसुवर्णादौ स्तोकां सख्या विधेहि भो । लोभं पापकरं त्यक्त्वा पीत्वा सन्तोषजामृतम् ॥९
शाल्यादि-सर्वधान्यानां प्रमाणं भज सर्वथा । कीटाद्युत्पत्तिहेतूनां ह्रस्वव्रतविशुद्धये ॥१०
भृत्याना दासदासीनां भार्याणा च शुभाय वै । परिमाणं प्रकर्तव्यं श्रावकैः गुरुसन्निधौ ॥११
अश्ववृषभगोसर्वचतुष्पदकदम्बके । त्रसादिहिंसके स्तोकां कुरु संख्यां प्रपापदे ॥१२

जिन्होने कर्मरूप शत्रुओके समूहको शान्त कर दिया है, जो शान्ति देनेवाले हैं, और ससार-भरमे शान्तिके स्थापक हैं ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान्को मैं अपने कर्म शान्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अव मैं उत्कृष्ट सन्तोषको उत्पन्न करनेवाले और लोभके नाश करनेवाले परिग्रहपरिमाण नामके पाँचवें अणुव्रतको कहता हूँ ॥२॥ गणधरादि देवोने परिग्रहपरिमाणको सबसे श्रेष्ठ व्रत कहा है तथा श्रावकोका लोभ दूर करनेके लिये ही शास्त्रोमे इसका निरूपण है ॥३॥ जो वुद्धिमान् सन्तोष धारणकर परिग्रहोकी संख्या नियत कर लेते हैं उनके यह पाँचवाँ परिग्रह-परिमाण नामका व्रत होता है ॥४॥ खेत, घर, धन, धान्य, नौकर चाकर, घोडा वैल आदि पशु, आसन, शयन, वस्त्र और भाड ये गृहस्थोंके दश प्रकारके परिग्रह भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहे हैं। गृहस्थोको पापरूप आरम्भोको घटानेके लिये इन सब परिग्रहोकी सख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥५–६॥ इनमे पहिला परिग्रह खेत है वह सबसे अधिक हिंसा करनेवाला है अतएव धर्म-पालन करनेके लिये तू उसका त्याग कर। यदि तू उसका त्यागकर नहीं सकता तो हल आदिकोकी संख्या नियत कर ले ॥७॥ ससारमे जितनी भी घर आदिकी सम्पत्ति है वह सब ममत्व वढानेवाली है और त्रस स्थावर जीवोकी हिंसा करनेवाली है इसलिये सन्तोषधर्मको सिद्ध करनेके लिये तू घर आदिकोकी भी सख्या नियत कर ले ॥८॥ हे वत्स ! पाप उत्पन्न करनेवाले लोभको छोडकर और सन्तोषरूपी अमृतको पीकर सोना चादी आदि धनकी भी थोडीसी सख्या नियत कर ले ॥९॥ चावल, गेहूँ, चना आदि अनेक कीडोंके उत्पन्न होनेके कारण हैं अतएव अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये तू इनका भी थोडासा प्रमाण नियत कर ले ॥१०॥ श्रावकोको अपने गुरु के पास जाकर दास दासी आदि सेवकोका तथा स्त्रियोका प्रमाण नियत कर लेना चाहिये ॥११॥ घोडा, वैल, गाय आदि जितने पशु हैं सबके पालन करनेमे त्रस जीवोकी हिंसा होती है इसलिये इनका भी प्रमाण

यानें सिंहासने चैव शकटादौ तथा भज । प्रमाणं मित्र ! धर्माय खट्वादिशयने वरे ॥१३
क्षौमादिके सुवस्त्रे च भज संख्या व्रताय भो. । मञ्जिष्ठादौ चसद्भाण्डे महार्घे भाजने तथा ॥१४
परिग्रहप्रमाणेन लोभश्चैव विलीयते । नृणां सन्तोषसद्राज्यं भवत्येव गृहेशिनाम् ॥१५
सन्तोषाज्जायते धर्मो धर्मात्स्वर्गस्ततः सुखम् । तस्मात्सुखार्थिना लोके त्याज्यो लोभोऽतिदूरतः ॥१६
सन्तोषसदृशं सौख्यं न भूतं भुवनत्रये । भविष्यति न सारं च नास्ति धर्माकरं परम् ॥१७
सन्तोषासनमासीनो यद्यद्वस्तु समीहति । तत्तदेव समायाति स्थितं लोकत्रयेऽचिरात् ॥१८
सन्तोषाख्यसुधां पीत्वा जन्ममृत्युजराविषम् । हत्वा भुक्त्वा महासौख्यं शिव यान्ति बुधोत्तमा ॥१९
न लभन्ते यथा लोके याञ्चाशीला धनं नरा । तथा लोभात्समीहन्ते ये ते द्रव्यं भजन्ति न ॥२०
यथा च निस्पृहा जीवा प्राप्नुवन्ति धनं हठात् । तथा सन्तोषद्रव्येण द्रव्यमायाति देहिनाम् ॥२१
सन्तोषाच्छ्री समायाति लोभाद्याति गृहात् पुनः । विचार्येति कुरु त्वं भो यदिष्ट धर्मदं पुन ॥२२
अथवा सातिपुण्येन नृणामायाति भो स्वयम् । तद्विना सा गहाच्छ्रीघ्रं नश्यत्येव चिरार्जिता ॥२३
तस्माद्धनार्थिना लोके पुण्यं कार्यं स्वशक्तितः । येनायाति महालक्ष्मीस्तद्विना काङ्क्षया हि किम् ॥२४
धर्माद् गृहे स्थितिं कुर्युः श्रियश्चक्रादिगोचरा. । तीर्थादिका इहामुत्र शक्रादिसुखदा नृणाम् २५

कर सख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥१२॥ इसी प्रकार गाडी, पालकी आदि सवारियोकी सख्या भी नियत कर लेनी चाहिए और धर्म-पालन करनेके लिये पलङ्ग आदि सोने व आराम करनेके साधनोकी भी सख्या नियत कर लेनी चाहिए ॥१३॥ इसी तरह वस्त्रोंकी सख्या तथा वर्तन आदि अन्य सामग्रियोकी सख्या भी नियत कर लेनी चाहिए ॥१४॥ इस परिग्रहके परिमाण करनेसे गृहस्थोका लोभ नष्ट हो जाता है और तृष्णा सन्तोष रूपमे परिणत हो जाती है ॥१५॥ सन्तोषसे धर्म होता है, धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और स्वर्ग प्राप्त होनेसे सुख मिलता है इसलिये सुख चाहनेवाले लोगोको यह लोभ दूरसे ही छोड देना चाहिये ॥१६॥ सन्तोषके समान सुख तीनो लोकमे न तो हुआ है न हो सकता है न इसके समान अन्य कुछ सार है और न कोई इसके समान उत्तम धर्म प्रगट करनेवाला है ॥१७॥ सन्तोषरूपी आसन पर वैठा हुआ मनुष्य जो-जो पदार्थ चाहता है वह चाहे तीनो लोकोमे कही भी क्यो न हो उसे उसी समय मिल जाता है ॥१८॥ जो उत्तम विद्वान् सन्तोषरूपी थोडेसे अमृतको भी पी लेता है वह जन्म मरण बुढापा आदि विषको नष्टकर और महा सुखोको भोगकर अन्तमे मोक्ष प्राप्त करता है ॥१९॥ जिस प्रकार माँगनेवाले लोगोको धनकी प्राप्ति नही होती उसी प्रकार जो लोभसे द्रव्यकी इच्छा करते है उन्हे द्रव्यकी भी प्राप्ति नही होती ॥२०॥ जिस प्रकार नि स्पृह जीवोको विना इच्छाके भी धनकी प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार सन्तोष धारण करनेसे मनुष्योको धनकी प्राप्ति अपने आप हो जाती है ॥२१॥ सन्तोष धारण करनेसे द्रव्य आता है और लोभ करनेसे घरमे रक्खा हुआ द्रव्य भी चला जाता है । यही विचार कर हे भव्यपुरुषो ! जो धर्म और धन प्राप्त करना इष्ट हो तो सन्तोष धारण करना चाहिए ॥२२॥ अथवा पुण्यकर्मके उदयसे मनुष्योके लक्ष्मी स्वय आ जाती है और विना पुण्यके बहुत दिनसे इकट्ठी की हुई और घरमे रक्खी हुई लक्ष्मी भी नष्ट हो जाती है ॥२३॥ इसलिये धन चाहनेवाले लोगोको अपनी शक्तिके अनुसार पुण्यकार्य करना चाहिये । क्योकि लक्ष्मी पुण्यसे ही आती है विना पुण्यके केवल इच्छा करनेसे कुछ नही होता ॥२४॥ इस लोकमे चक्रवर्तीकी लक्ष्मी तथा तीर्थंकरोकी लक्ष्मी और परलोकमे इन्द्रादिकको सुख देनेवाली लक्ष्मी धर्मात्मा मनुष्यके ही घर स्थिरताके साथ

परिग्रहप्रमाण ये स्वल्पं कुर्वन्ति धीधनाः । आगच्छति हठात्तेषां परीक्षार्थं महद्धनम् ॥२६
नियमेन विना प्राणी पशुरेव न सशय. । परिग्रहप्रमाणस्य स्वेच्छाचारणकारणात् ॥२७
क्वचित्सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं च सुराचल । विना न नियमात्पुंसा पुण्य सञ्जायते तराम् ॥२८
यथा हि पशवो नग्ना पुण्यं सन्नियमाद्विना । न लभन्ते तथा ज्ञेया प्राणिनो धनवर्जिताः ॥२९
नियमेन सदा नृणा पुण्यं जायेत पुष्कलम् । सन्तोषं च यशो लोके इन्द्रियादिजयं शमम् ॥३०
मनोगजो वशं याति नियमाङ्कुशताडनात् । भ्रमन् स विषयारण्ये मूलयन् धर्मसद्द्रुमान् ॥३१
हत्वा लोभं दुराचार स्वशक्तिमनिगुह्य भो । सन्तोषखड्गतीक्ष्णेन भज त्वं नियमादिकम् ॥३२
यतो लोभाकुल प्राणी हन्ति सद्गुरुसज्जनान् । धनार्थं पापमाचष्टे येन श्वभ्रालय व्रजेत् ॥३३
लोभाविष्टो न जानाति धर्मं पापं सुखासुखम् । हिताहितं गुरुं देवं कुगर्ति च गुणागुणम् ॥३४
लोभादङ्गी भ्रमेद्देशान्द्वीप-सागरगोचरान् । धनार्थं प्रविधत्ते च कपटादिसहस्रकान् ॥३५
लोभाक्रुष्टो व्रजेन्नैव सन्तोषं धनभूरिभि । इन्धनैरनलो यद्वत्सागरो वा सरिज्जलैः ॥३६
लोभाविष्टमनुष्याणामाशा विश्वं विसर्पति । तस्या न शान्तये विश्वं दत्तं रत्नादिसम्भृतम् ॥३७
अर्थं दु.खेन चायाति स्थिर दुःखेन रक्ष्यते । गते दुखं भनेन्नृणां विगर्थं दु'खभाजनम् ॥३८

निवास करती है ॥२५॥ जो बुद्धिमान् थोडेसे भी परिग्रहका परिमाण कर लेते हैं उनके घर उनकी परीक्षा करनेके लिये बहुत-सा धन स्वयमेव आ जाता है ॥२६॥ परिग्रहोका नियम किये विना यह प्राणी पशुके समान है इसमे कोई सदेह नही, क्योकि दोनो ही परिग्रहका परिमाण किये विना अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते हैं ॥२७॥ कदाचित् सूर्य अपना तेज छोड दे और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड दे तो भी विना नियमके मनुष्योको पुण्यकी प्राप्ति कभी नही हो सकती ॥२८॥ जिस प्रकार पशु नग्न रहते हुए भी विना किसी प्रकारका नियम धारण किये पुण्य प्राप्त नही कर सकते, उसी प्रकार धर्मरहित प्राणी भी विना नियमके पुण्य सम्पादन नही कर सकते ॥२९॥ यम नियम पालन करनेसे मनुष्योको प्रचुर पुण्यकी प्राप्ति होती है और सन्तोष धारण करनेसे ससारमे यश फैलता है तथा इन्द्रिया वशमे हो जाती हैं, मन शान्त हो जाता है ॥३०॥ नियमरूपी अकुशके ताडन करनेसे विषयरूपी वनमे इच्छानुसार घूमता हुआ और धर्मरूपी श्रेष्ठ वृक्षोको उखाड़ता हुआ मनरूपी हाथी वशमे हो जाता है ॥३१॥ हे भव्य ! सन्तोषरूपी तीक्ष्ण तलवारसे अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लोभरूपी दुराचारका नाशकर और नियमादिक वा परिग्रहका परिमाण धारण कर ॥३२॥ इसका भी कारण यह है कि लोभके फदेमे फँसा हुआ यह प्राणी धनके लिये गुरु और सज्जन लोगोको भी मार देता है और अनेक प्रकारके पाप उपार्जन करता है जिन पापोके फलसे उसे नरकमे ही जाना पडता है ॥३३॥ लोभी मनुष्य न तो धर्मको समझता है, न पापको जानता है, न सुख-दु खको जानता है, न हित-अहितको जानता है, न गुरुको समझता है, न देवको समझता है, न कुगतिको जानता है और न गुण-अवगुणको जानता है ॥३४॥ यह जीव लोभके ही कारण अनेक देशोमे तथा द्वीप-समुद्रोमे परिभ्रमण करता है और धनके लिये ही हजारो कपट बनाता है ॥३५॥ जिस प्रकार अग्निको बहुतसे ईंधनसे भी सन्तोष नही होता और समुद्रको अनेक नदियोके जलसे भी सन्तोष नही होता उसी प्रकार लोभी पुरुषको बहुत-सा धन मिल जाने-पर भी सन्तोष नही होता ॥३६॥ लोभी मनुष्योकी आशा समस्त ससारमे फैल जाती है और रत्न आदि ससारभरका समस्त धन दे देनेपर भी वह शान्त नही होती ॥३७॥ यह धन दु खसे आता

अर्थात्सञ्जायते चिन्ता रक्षणादिकृताङ्गिनाम् । इहामुत्र महादुःखं सर्वं श्वभ्रादियोनिजम् ॥३९
किमत्र वहुनोक्तेन सर्वदु.खाकरं धनम् । दानं विना गृहस्थानां शोकक्लेशाशुभप्रदम् ॥४०

इति मत्वा हि भो मित्र ! हत्वा लोभं कुकीर्तिदम् ।
नीत्वा सन्तोषजं राज्यं भज संख्या धनादिके ॥४१
गणधरमुनिनिन्द्यं सर्वदानादिवज्र्यं, दुरितकुवनमेघं धर्मकल्पद्रुमाग्निम् ।
नरककुगतिमार्गं मुक्तिगेहे कपाट, सुभग त्यज कुलोभ सङ्गसख्यां विधाय ॥४२

पञ्चातिचारनिर्मुक्ता सत्परिग्रहसंख्यया । प्राप्य षोडशमं नाक क्रमाद्यान्ति शिवं बुधा ॥४३
भट्टारक ! व्यतीचारानादिश व्रतशुद्धये । पञ्चमाणुव्रतस्यैव कृपा कृत्वा शुभाय मे ॥४४
एकाग्रचेतसा सर्वान् शृणु श्रावक ! तेऽधुना । कथयामि व्यतीपातान् त्याज्यान् व्रतमलप्रदान् ॥४५
स्यादतिवाहनं चादौ ततोऽतिसंग्रहो भवेत् । अतिविस्मयोऽतिलोभश्चातिभाराधिरोपणम् ॥४६
कुर्वन्ति वृषभादीनामतिरेकेण वाहनम् । मार्गे प्रमाणतो लोभात् ये विक्षेप भजन्ति ते ॥४७
अत्यन्तसग्रहं योऽपि धान्यादीनां करोति वै । लोभावेशवशात्तस्य व्यतीपातो बुधै. स्मृत ॥४८
क्रयाणकं च विक्रीय मूलतो गृहणे तथा । लोभाद् धृते विषादं यस्तस्य स्यादतिविस्मय. ॥४९
लब्धेऽप्यर्थे विशिष्टे च तृष्णा कुर्वन्ति ये पुन' । लोभार्थं लोभतस्तेषा व्यतिचारो मलप्रद ॥५०

है, पुन आये हुए धनकी वडे दु खसे रक्षा होती है और इसके चले जानेपर भी मनुष्योको दु ख ही होता है इस प्रकार सव जगह दु ख देनेवाले इस धनको धिक्कार हो ॥३८॥ धन प्राप्त हो जानेसे मनुष्योको उसकी रक्षा आदिकी चिन्ता उत्पन्न हो जाती है इसके सिवाय वह परलोकमे भी नरक आदि दुर्गतियोके महा दु ख देनेवाला है ॥३९॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि यह धन समस्त दु खोकी खानि है और विना दानके गृहस्थोको अनेक प्रकारके शोक क्लेश और दुखोको देनेवाला है ॥४०॥ यही समझकर हे मित्र ! सन्तोषरूपी सार पदार्थको धारणकर अपकीर्ति देनेवाले लोभको नाशकर और धनादिककी सख्या नियत कर ॥४१॥ हे मित्र ! देख, यह कुलोभ गणधर और मुनियोके द्वारा निन्द्य है, दानादिक शुभ कार्योसे रहित है, पापरूपी वनको वढानेके लिये मेघ है, धर्मरूपी कल्पवृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, नरकादिक दुर्गतियोका मार्ग है और मुक्तिरूपी घरको वन्द करनेके लिये किवाडके समान है इसलिये तू परिग्रहका परिमाण नियत कर इस कुलोभका त्यागकर ॥४२॥ जो पुरुष पाँचो अतिचारोको छोडकर परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह वुद्धिमान् सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर अन्तमे मोक्ष प्राप्त करता है ॥४३॥ प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर इस व्रतको शुद्ध करनेके लिये इस व्रतके पाँचो अतीचारोको कहिये ॥४४॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन । इस व्रतमे मल उत्पन्न करनेवाले और त्याग करने योग्य अतिचारोको कहता हूँ ॥४५॥ अतिवाहन, अतिसग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारारोपण ये पाँच परिग्रहपरिमाणके अतिचार है ॥४६॥ घोडे वैल आदिको उनकी शक्तिसे अधिक चलाना और मार मारकर चलाना अतिवाहन नामका पहिला अतिचार है ॥४७॥ लोभके वश होकर धन धान्यादिकका अतिशय सग्रह करना अतिसग्रह नामका दूसरा अतिचार है ॥४८॥ जो खरीनेयोग्य पदार्थ वेच दिया हो अथवा उस खरीदने योग्य पदार्थकी प्राप्ति ही न हुई हो उस समय लोभके वश होकर विषाद करना अतिविस्मय नामका तीसरा अतीचार है ॥४९॥ जो धन प्राप्त हो जानेपर भी उसको देने वा खर्च करनेमे अत्यन्त तृष्णा करते हैं अथवा धनकी प्राप्तिके

उल्लंघ्य न्यायमार्गं यो धत्ते भाराधिरोपणम् । दयां विना भवेत्तस्य व्यतिपातोऽशुभप्रद. ॥५१

सुगतिगृहप्रवेशं धर्मरत्नादिभाण्डं, नरकगृहकपाटं धर्मरत्नाकरं वै ।
अशुभतरुसमीरं लोभमातङ्गसिंहं, कुरु धनपरिमाणं तोषसारं गृहीत्वा ॥५२

पञ्चमाणुव्रतं धत्ते य पूजा प्राप्य देवजाम् । इहैवाशु क्रमाद्याति स्वर्गं मुक्तिं च शुद्धधीः ॥५३
सम्प्राप्ता येन सत्पूजा व्रतादिहामरैः कृता । विधायानुग्रहं स्वामिन् ! कथा तस्य निरूपय ॥५४
शृणु श्रावक ! संकृत्वा मन संकल्पवर्जितम् । जयाख्यस्य नृपस्यैव कथां वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥५५
कुरुजाङ्गलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे । कुरुवंशे नृपः पुण्यादभवत्सोमप्रभाह्वय ॥५६
तस्य पुत्रो जयो नाम कृतसंख्यां परिग्रह । भार्या सुलोचनायां तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा ॥५७
एकदा दम्पती पूर्वं विद्याधरभवस्य तौ । कथयित्वा कथां यावत्स्थितौ अवधिवीक्षणौ ॥५८
तावदागत्य विद्याभिर्भणितोऽसौ नराधिप' । आदेशं देहि भो देव सर्वकार्यकरं भुवि ॥५९
तद्‌बलाद्रूपमादाय तद्विद्याधरगोचरम् । हिरण्यवर्म तद्भार्या प्रभावत्योः परिस्फुटम् ॥६०
सुमेर्वादौ विधायाशु यात्रा पुण्यकरा शुभाम् । कैलाशमागतौ तौ वन्दितुं जिनपुङ्गवान् ॥६१
भरतेशकृतान् तत्र चतुर्विंशतिसद्‌गृहान् । पूजयित्वा स्थितौ यावत्पृथग्भूतौ परस्परम् ॥६२

लिये अतिशय लोभ करते हैं उनके लोभ नामका चौथा अतिचार लगता है ॥५०॥ जो निर्दय होकर न्यायमार्गको छोडकर (शक्तिसे अधिक) बोझा लाद देते हैं उनके अतिभारारोपण नामका अतिचार लगता है ॥५१॥ हे मित्र ! यह परिग्रहका परिमाण करना शुभगतिरूपी रत्नोका पात्र है, नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाडोके समान है, धर्मरूपी रत्नोकी खानि है, अशुभरूप वृक्षोको उखाडनेके लिये वायुके समान हैं और लोभरूपी हाथीको मारने के लिये सिंह है । इसलिये तू साररूप सन्तोषको धारणकर परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण कर ॥५२॥ जो बुद्धिमान् इस परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह देवोके द्वारा आदर सत्कार पाकर अनुक्रमसे स्वर्गमोक्षके सुख प्राप्त करता है ॥५३॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! जिसने इस व्रतको पालनकर इस लोकमे भी देवोके द्वारा आदर सत्कार प्राप्त किया उसकी कथा कृपाकर निरूपण करिये ॥५४॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू मनके अन्य सब सकल्प छोडकर सुन ! मैं पुण्य बढानेवाली राजा जयकुमारकी कथा कहता हूँ ॥५५॥ कुरुजागलदेशके हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमे पुण्य-कर्मके उदयसे कुरुवशी राजा सोमप्रभ राज्य करता था ॥५६॥ उसके पुत्रका नाम जयकुमार था उसने परिग्रहपरिमाणका व्रत लिया था और स्त्रीपरिमाणमे उसके केवल सुलोचना ही थी, और सबका त्याग था ॥५७॥ किसी एक दिन जयकुमार और सुलोचना दोनो दम्पती अपने पहिले विद्याधर भवकी कथा कहकर अनेक प्रकारके दृश्य देखते हुए बैठे थे कि इतनेमे ही पहिले भवकी विद्याने आकर कहा कि हे राजन् ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं इस ससारमे आपके सब काम कर सकूँगी ॥५८-५९॥ उस विद्याके बलसे उन दोनोने पहिले भवके हिरण्यवर्मा और प्रभावती नामके विद्याधर विद्याधरीका रूप धारण किया ॥६०॥ उन दोनोने पुण्य बढानेवाली सुमेरुपर्वत आदिकी यात्रा की और फिर चौबीस तीर्थंकरोकी वन्दना करनेके लिये वे दोनो कैलास पर्वतपर आये ॥६१॥ वहाँपर महाराज भरतने जो चौबीस तीर्थंकरोके जिन भवन बनवाये थे उनकी वन्दना की और फिर वे दोनो अलग अलग स्थानपर जा विराजमान हुए ॥६२॥ इसी समय सुधर्मा सभामे सौधर्म इन्द्रने जयकुमारके सन्तोषव्रतकी

तत्प्रस्तावे जयस्यैव प्रशंसा हि कृता वरा। सौधर्मस्वर्गनाथेन जाता सन्तोषसद्व्रतात् ॥६३
परीक्षितुं जयं तत्रागतो रविप्रभाह्वय.। परिवारेण सयुक्तो देवो दिव्यगुणान्वितः ॥६४
हावभावविलासाढ्यं लावण्यरसवर्द्धितम्। रूपं कृत्वा गुणोपेतं खेचरीगोचर वरम् ॥६५
चतुर्विलासिनीभिश्च सह प्रागत्य शीघ्रतः। स्त्रीरूपधारिणा तेन भणितोऽसौ नरेश्वर ॥६६
स्वयंवरे कृतो येन संग्रामोपि त्वया सह। रौद्र सुलोचनाया हि भीरुभीतिप्रदो हठात् ॥६७
नमेर्विद्याधराधीशपतेस्तस्य गुणाकराम्। स्वरूपाख्या महाराज्ञी तद्विरक्ता सुयौवनाम् ॥६८
महाविद्यान्वितां शीघ्र मामिच्छ पुरुषोत्तम। यदि वाञ्छसि तस्यैव राज्य च स्वस्य जीवितम् ॥६९
तदाकर्ण्य जयेनोक्तं हे सुन्दरि विरूपकम्। प्रोक्तं त्वयातिनिन्द्य च पापसन्तापकरि यत् ॥७०
नित्यं स्यान्नियमो मेऽपि परस्त्रीगमनादिके। सुलोचनां विना सर्वा नार्यो मे जननीसमा ॥७१
तस्माच्छीलवती त्वं च भव नित्यं बुधार्चिता। कुत्सितं परिणामं स्वं त्यक्त्वा धर्मव्रतान्विता ॥७२
इत्युक्त्वा सस्थितो यावत्कार्योत्सर्गं विधाय च। चित्तं विधाय तीर्थेशपादमूले गुणाकरे ॥७३
तावत्तथा कृतो घोर उपसर्गोऽतिदुस्सह। हावभावकटाक्षैश्च दृढैरालिंगनादिभि ॥७४
संस्थितोऽकम्पमानोऽसौ महामेरुरिवानिशम्। जित्वा परीषहान् सर्वान् तत्कृतान् घोरदु खदान् ॥७५
ततोसावुपसंहृत्य मायां वक्ति जयं प्रति। प्रकटीभूय सन्तुष्टस्तत्परीक्षणतोऽमर. ॥७६
त्वं देव। महता पूज्यो धीरोऽसि त्वं बुधैःस्तुत। तव कीर्ति श्रुतास्माभि स्वर्गे देवसभादिषु ॥७७

प्रगसा की ॥६३॥ इसलिये उसकी परीक्षा करनेके लिये दिव्य गुणोसे सुशोभित ऐसा रविप्रभ नामका देव अपने परिवारके साथ आया ॥६४॥ रविप्रभने हावभाव विलास और लावण्यरससे परिपूरित ऐसा विद्याधरीका उत्तमरूप धारण किया ॥६५॥ तथा चार विलासिनी उसने अपने साथ लीं। इस प्रकार स्त्रीका रूप धारणकर वह शीघ्र ही जयकुमारके पास आया और जयकुमारसे कहने लगा कि हे नरेश्वर। जिस विद्याधरोके स्वामी राजा नमिने सुलोचनाके स्वयम्वरमे तेरे साथ कातरोको भय उत्पन्न करनेवाला भयकर युद्ध किया था उसकी मै समस्त गुणोसे परिपूर्ण स्वरूपा नामकी महारानी हूँ, मैं इस समय अत्यन्त युवती हूँ, मेरे पास अनेक विद्याएँ हैं और मैं महाराज नमिसे विरक्त हो गई हूँ। इसलिये हे पुरुपोत्तम। यदि आप महाराज नमिका राज्य चाहते है और अपनेको जीवित रखना चाहते है तो मुझे स्वीकार कीजिये ॥६६-६९॥ उस बनी हुई विद्याधरीकी यह बात सुनकर जयकुमारने कहा कि तूने यह बडी ही प्रतिकूल, निंद्य, पाप सन्तापको उत्पन्न करनेवाली, और बुरी बात कही ॥७०॥ मेरे परस्त्रीगमन करनेका सदाके लिये त्याग है। सुलोचनाके विना अन्य स्त्रियाँ मेरे लिये माताके समान है ॥७१॥ इसलिये हे देवी। तू भी कुत्सित परिणामोको छोड, धर्म और व्रतोको धारण कर तथा विद्वानोके द्वारा पूज्य होती हुई शीलवती हो ॥७२॥ इतना कहकर जयकुमार गुणोकी खानि और ध्यानके मूल कारण ऐसे श्री तीर्थंकर भगवानको हृदयमे विराजमान कर कायोत्सर्ग धारणकर खडा हो गया ॥७३॥ तब उस देवने कोई उपाय न देखकर हावभाव कटाक्षोके द्वारा तथा दृढ आलिंगनोके द्वारा अत्यन्त असह्य और घोर उपसर्ग किया ॥७४॥ जयकुमार मेरु पर्वतके समान अचल होकर खडा रहा, उसने घोर दु ख देनेवाली और त्याग करनेयोग्य ऐसी समस्त घोर परीषह सहन की ॥७५॥ तब उस देवने अपनी माया सकोची और प्रगट होकर जयकुमारसे कहा कि मै तेरी परीक्षासे अत्यन्ती सन्तुष्ट हुआ है ॥७६॥ हे देव। आप महा पुरुषोके द्वारा भी पूज्य है, धीर वीर है, विद्वानोके द्वारा स्तुति करने योग्य है, हमने आपकी कीर्ति स्वर्गमे भी देवोकी सभामे सुनी है। हे देव। सौधर्म

सौधर्मपतिना नाके ते प्रशंसा यथा कृता । साधिकातो भवेन्नूनं सन्तोषव्रतसम्भवा ॥७८
तां समाकर्ण्य देवाहं प्रागतस्ते परीक्षितुम् । अद्य मे निर्णयो जातो दृष्ट्वा त्वां पुरुषोत्तमम् ॥७९
इत्युक्त्वा पूजयित्वा च वस्त्राभरणमण्डनैः । प्रणम्य सोऽमरो नाकं प्रशस्य मुहुरभ्यगात् ॥८०
ततो जयकुमारोपि गृहमागत्य प्रत्यहम् । धृत्वा स्वमानसे धर्मं भुङ्क्ते ससारजं सुखम् ॥८१
कदाचिज्जातवैराग्यस्त्यक्त्वा राज्यं तृणादिवत् । हत्वा मोहं महापापं दीक्षां जग्राह पुण्यधी ॥८२
कृत्वातिदुस्सहं सारं तपो वैराग्यभावत । हत्वा कर्माणि सर्वाणि जयोऽगादव्ययं पदम् ॥८३
अन्ये ये बहव प्राप्ता. सुखं सन्तोषसद्व्रतात् । श्रावका कः कथां तेषां क्षम कथयितुं भुवि ॥८४

अखिलगुणसमुद्र. पूजितो नाकदेवैः, सुरपतिकृतशंसो धीरवीरो बुधार्च्य ।
विगतसकलशङ्कस्त्यक्तलोभो मुनीन्द्रो, जयतु भुवनसेव्यो मुक्तिनाथो जयाख्य ॥८५

व्रतसन्तोषज त्यक्त्वा धर्मसारगुणाकरम् । लोभं करोति यो मूढः प्राघूर्णो दुर्गतेः स ना ॥८६
भो भट्टारक ! येनैव प्राप्तं दु खं व्रतं विना । परिग्रहप्रमाणाख्यं कथां तस्य निरूपय ॥८७
उपासक ! शृणु त्वं हि कृत्वा चित्तं सुनिश्चलम् । प्रवक्ष्येऽहं कथां सारां ते श्मश्रुनवनीतजाम् ॥८८
अत्रैव भारते वर्षेऽयोध्यायां श्रेष्ठिनन्दन । भवदत्तोऽभवद्भार्या धनदत्ता सुखप्रदा ॥८९
तयो. पुत्रोऽभवल्लुब्धदत्तो लोभसमाकुलः । वाणिज्येन गतो दूरमेकदा द्रव्यहेतवे ॥९०

इन्द्रने आपके सन्तोष व्रतकी बहुत अधिक प्रशसा की थी परन्तु वास्तवमे आपकी प्रशसा उससे भी अधिक है उसे सुनकर ही हम आपकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे। हे पुरुषोत्तम ! आपको देखकर अब हमारा निर्णय हो गया ॥७७-७९॥ इस प्रकार कहकर तथा वस्त्राभरणोसे उसकी पूजाकर नमस्कारकर और अनेक प्रकारसे प्रशसाकर वह देव अपने स्थानको चला गया ॥८०॥ तदनन्तर जयकुमार भी अपने घर आया और प्रतिदिन धर्मको हृदयमे धारणकर ससारके सुख भोगने लगा ॥८१॥ किसी समय उस पुण्यवानको वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसने तृणके समान राज्यका त्याग कर दिया, और मोहरूपी महा पापका नाश कर दीक्षा धारण कर ली ॥८२॥ तदनन्तर उन जयकुमारने वैराग्यभावनाओंके द्वारा सारभूत असह्य तपश्चरण किया और समस्त कर्मोको नाश कर अजर अमर मोक्षपद प्राप्त किया ॥८३॥ और भी बहुतसे श्रावकोने इस सन्तोष व्रतको धारणकर अनुपम सुख प्राप्त किया है, इस ससारमे उन सबकी कथाओको कौन कह सकता है ॥८४॥ जो समस्त गुणोके समुद्र थे, स्वर्गके देवोने भी जिनकी पूजा की थी, इन्द्रने भी जिनकी प्रशसा की थी, जो धीरवीर थे, विद्वानोके द्वारा पूज्य थे, समस्त शकाओंसे रहित थे, लोभके सर्वथा त्यागी थे, ससारभर जिनकी सेवा करता था और जो मुक्ति-लक्ष्मीके स्वामी हुए थे ऐसे मुनिराज जयकुमार सदा जयशील हो ॥८५॥ जो मूर्ख धर्मरूप और साररूप गुणोकी खानि ऐसे सन्तोष व्रतको छोडकर लोभ करता है वह अनेक दुर्गतियोके दु ख भोता है ॥८६॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! इस परिग्रहपरिमाण नामके व्रतके विना जिसने दु ख पाया है उसकी कथा कृपाकर कहिये ॥८७॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन, मै परिग्रहपरिमाण व्रतको न पालनेवाले अत्यन्त लोभी ऐसे श्मश्रुनवनीतकी कथा कहता हूँ ॥८८॥ इसी भरतक्षेत्रके अयोध्या नगरमे भवदत्त नामका एक सेठका लडका था उसको सुख देनेवाली धनदत्ता नामकी उसकी स्त्री थी ॥८९॥ उन दोनोंके एक पुत्र हुआ था उसका नाम लुब्धदत्त था। वह अत्यन्त लोभी था। किसी एक समय द्रव्य कमाने और व्यापार करनेके लिये वह दूर देशान्तरमे गया ॥९०॥ वहापर

दुर्गमार्गे हठान्नीत सर्वद्रव्यमुपार्जितम् । तस्करैर्दुःखदैस्तस्य पूर्वपापविपाकतः ॥९१
एकदा निर्धनेनैवागच्छतागृहमात्मन. । कुमार्गे गोकुले तक्रं तेन पीतु हि याचितम् ॥९२
तस्मिन्पीते समालोक्य कूर्चे लग्न कथचन । स्वल्पं सुनवनीतं च गृहीत्वा तेन चिन्तितम् ॥९३
प्रभविष्यति मेऽनेन कालेनैव धनादिकम् । तृणकुटचा स्थितेनैव सद्व्यवसायहेतवे ॥९४
इति सञ्चिन्त्य तत्रैव स्थितोऽसौ तस्य प्राप्तये । तावल्लोकैः कृत नाम हि श्मश्रुनवनीतकम् ॥९५
अथैकदा घृते जाते कालात्प्रस्थप्रमाणके । संस्तरे शीतकाले स कुटीद्वारे ससंकटे ॥९६
पादान्ते स तृणं धृत्वा वह्निं च घृतभाजनम् । मानसे चिन्तयत्येव महारम्भादिसंग्रहम् ॥९७
इदानी सद्व्रतेनाहं करोमि क्रयविक्रयम् । कार्पासादिभव पश्चात्सार्थवाहो भवामि वै ॥९८
अश्वहस्त्यादिसल्लक्ष्म्या सामन्तादिपदं तत । राज्याधिराजजं प्राप्य पद च व्यवसायत ॥९९
क्रमेण चक्रवर्ती च भविष्यामि न संशयं । अवाप्स्यामि तदा भोगान् सर्वेन्द्रियसुखप्रदान् ॥१००
यदा सप्ततले रम्ये प्रासादे शयने शुभे । स्त्रीरत्नं प्रोपविष्ट मे पादान्ते शुभलक्षणम् ॥१०१
महारूपान्वितं सारं मुष्टया पादो गृहीष्यति । पादमर्दनमाकर्तुं भोगतत्परमानसम् ॥१०२
न जानासि त्वमेवाहं भणित्वेति तदा स्वयम् । पादेन ताडयिष्यामि स्नेहेनाति वरं हि तत् ॥१०३

जाकर उसने द्रव्य भी कमाया परन्तु पापकर्मके उदय होनेसे मार्गमे ही दु ख देनेवाले चोरोने उसका सव धन लूट लिया ॥९१॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्धन होकर वह अपने घरको आ रहा था। मार्गमे किसी एक दिन उसने गवालियेके घरसे पीनेके लिये छाछ माँगी ॥९२॥ छाछके पी लेनेपर उसने देखा कि उस छाछमेके मक्खनके कुछ कण मूछोमे लग गये हैं। उन्हे देखकर उसने अपने हृदयमे विचार किया कि थोडे दिन इसी प्रकार छाछ पी पीकर मक्खनके कण इकट्ठे करने से व्यापार करने योग्य धन हो सकता है इसलिये कुछ दिनतक घासकी एक झोपडी वनाकर यहाँ ही रहना चाहिये ॥९३–९४॥ इस प्रकार विचारकर वह वही एक झोपडी बनाकर उसीमे रहने लगा। वह प्रतिदिन मूछोमे लगे हुए मक्खनको इकठ्ठा करता था इसलिये लोगोने उसका नाम श्मश्रुनवनीत रखलिया था ॥९५॥ कुछ समय पाकर इकट्ठा होते होते वह घी लगभग एक सेरके हो गया तव किसी एक दिन शीतकालके समय उस छोटी झोपडीको वन्दकर वह लघुदत्त दरवाजेकी ओर पैरकर सो गया। दरवाजेके पास ही घीका वर्तन रक्खा हुआ था और उसके पास ही शीतसे वचनेके लिये अग्नि जला रक्खी थी। इस प्रकार लेटे लेटे वह वडे भारी आरम्भ और सग्रहका विचार करने लगा ॥९६–९७॥ वह सोचने लगा कि अव मै इस घीसे कपास आदिका व्यापार कर सकता हूँ। इस प्रकार धीरे धीरे व्यापार करते करते वाहरसे माल लानेवाला ले जानेवाला वडा व्यापारी हो जाऊंगा ॥९८॥ तदनन्तर मेरे हाथी, घोडे आदिकी विभूति हो जायगी। वडे वडे सामान्त हो जायगे, राज्य मिल जायगा और फिर इसी व्यवसायसे राजाधिराज पद मिल जायगा ॥९९॥ तदनन्तर मैं चक्रवर्ती हो जाऊँगा इसमे कोई सन्देह नही। फिर मुझे समस्त इन्द्रियोके सुख देनेवाले भोगोपभोग प्राप्त हो जायगे ॥१००॥ तव मै सतखने महा मनोहर शुभ राजभवनमे सोऊँगा, अनेक शुभ लक्षणोसे सुशोभित स्त्री—रत्न मेरे पैरोके पास वैठेगी ॥१०१॥ वह वडी रूपवती होगी और हृदयमे भोगोकी लालसा करती हुई वह मेरे पैर दबानेके लिये अपने हाथोसे मेरे पैर पकडेगी ॥१०२॥ तव मै वडे प्रेमके साथ उस सुन्दर स्त्रीको यह कहकर स्वय लात मारूँगा कि अरी, यह क्या करती है, तू नही जानती कि मै स्वयं तेरे रूपमे मिल गया हूँ ?

एवं चिन्तयतो तेन मूढेन रभसा स्वयम् । पादप्रसारितश्चक्रे चिवर्त्यान्वितचेतसा ॥१०४

पतित तेन पादेन तस्यैव घृतभाजनम् । द्वारे सधुक्षितोग्निश्च घृतेन ज्वलितस्तराम् ॥१०५

महाग्निज्वलिताद्द्वारान्निस्सर्तुं सोऽक्षमो मृतः । दग्धदेहोऽतितीव्र प्रभुज्य दु खं कुर्वन्निजम् ॥१०६

दुर्ध्यानेन गतो घोरा दुर्गति दु खपूरिताम् । व्रतादिरहितो मूढस्तीव्रलोभाकुलोत्पथात ॥१०७

अन्ये ये वहवो लोके लोभाकुलितचेतस. । चक्रवर्तिसुभौमादिप्रमुखा धनलोलुपा. ॥१०८

श्वभ्रतिर्यग्गति प्राप्ता वह्वारम्भपरिग्रहात् । प्राज्ञः पुमान् कथां लोके कस्तेषां कथितु क्षम' ॥१०९

अखिलदुरितमूला दुर्गति दु'खयोनि विवुधजनविनिन्द्यां लुब्धदत्तो वणिग् भो ।

गत इह धन लोभाच्चेति मत्वा मनुष्य ! त्वमपि हन कुलोभं सारसन्तोषशस्त्रै. ॥११०

नि शकादिगुणान्विता हि मुदिता श्रीजैनसच्छासने,सन्तोषादिषु तत्परा जिनपतेः भक्ता मुनीना तथा ।

धर्मध्यानपरायणा शुभधिय पञ्चैव चाणुव्रतान् धृत्वा यान्ति शिवालय सुखकर प्राप्याच्युत श्रावका ॥

सुरगतिसुखगेहं दानरत्नादिभाण्ड धृतिकरमपि सारं मुक्तिकन्दं गुणाढ्यम् ।

कुगतिगृहकपाटं पापवृक्षव्रजाग्निमणुव्रतमपि मित्र ! पञ्चकं प्राचर त्वम् ॥११२

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे परिग्रहपरिमाणव्रत-
जयश्मश्रुनवनीतकथाप्ररूपको नाम षोडशमः परिच्छेद ॥१३॥

॥१०३॥ इस प्रकार चिन्तन करते और अपने हृदयमे अपनेको चक्रवर्ती मानकर लोभसे अन्धे बने हुए उस मूर्खने वेगके साथ पैर फैलाये ॥१०४॥ दैवयोगसे वे पैर घीके वर्तनपर जा लगे जिनसे वह सव घी फैलकर अग्निमे जा पडा और उस घीमे दरवाजेके पास की अग्नि वडी तेजीके साथ जलने लगी ॥१०५॥ वह अग्निकी भारी ज्वाला दरवाजेके पास ही जल रही थी इसलिये वह वाहर निकल भी न सका और उस अग्निमे ही जलकर मर गया ॥१०६॥ व्रत-रहित होने और अत्यन्त तीव्र लोभी होनेके कारण रौद्रध्यानसे उसके प्राण छूटे और इसीलिये उसे अनेक दु खोसे भरपूर अनेक दुर्गतियोमे परिभ्रमण करना पडा ॥१०७॥ इसके सिवाय सुभौम चक्रवर्तीको आदि लेकर और भी ऐसे वहुतसे लोग हो गये हैं जिनका हृदय लोभसे सदा व्याकुल रहता था और जो अत्यन्त लोभी थे, और इसीलिये वहुतसे आरम्भ और परिग्रहके कारण उन्हे नरक और तिर्यंच गतियोंके दु ख भोगने पडे । उन सवकी कथाओको कोई भी विद्वान् नही कह सकता ॥१०८-१०९॥ हे मित्र ! देख ! यह कुलोभ समस्त पापोकी जड है, अनेक दुर्गतियोके दु ख देनेवाला और विद्वानोंके द्वारा निंद्य है । इसी कुलोभके कारण लघुदत्त वैश्यको दुर्गतिमे जाना पडा, इसलिये सारभूत सन्तोष-रूपी शस्त्रोके द्वारा कुलोभको नष्टकर ॥११०॥ इस ससारमे जो श्रावक नि शकित आदि अङ्गोको पालन करते है, जैनधर्मको पालनकर प्रसन्न होते है, सन्तोष आदि सद्‌गुणोको धारण करनेमे तत्पर है, श्री जिनेन्द्रदेव और मुनियोके भक्त है, धर्मध्यानमे लीन रहते है, और जिनकी वुद्धि शुभ है ऐसे श्रावक पाँचो अणुव्रतोको पालनकर सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गको पाते हैं और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥१११॥ ये पाँचो अणुव्रत देवगतिके सुखके घर हैं, ज्ञानरूपी रत्नके पिटारे है, मोक्षकी जड हैं, अनेक गुणोसे सुशोभित हैं, दुर्गतिरूपी घरको वन्द करनेके लिये किवाड हैं, पाप-रूपी वृक्षोको जलानेके लिये अग्नि है । हे मित्र ! ऐसे इन पाँचो अणुव्रतोको तू पालन कर ॥११२॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे परिग्रहपरिमाणका स्वरूप और जयकुमार तथा श्मश्रुनवनीतकी कथाको कहनेवाला यह सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१६॥

सत्रहवाँ परिच्छेद

कुंथुं कुंथ्वादिजीवाना दयादक्षं जिनाधिपम् । वन्दे चक्रधरं देवं कुंथ्वंग्यादिदयाप्तये ॥१
अणुव्रतानि व्याख्याय त्रिप्रकार गुणव्रतम् । गुणाकरं प्रवक्ष्यामि गृहस्थानां सुखप्रदम् ॥२
दिग्विरतिव्रतं प्रोक्त चानर्थदण्डवर्जनम् । भोगोपभोगसंख्याख्यं श्रावकाणा गणाधिपै ॥३
गुणव्रतानि सारानि गुणानामपि वृंहणात् । भवन्ति धर्मसिद्ध्यर्थं दयादिव्रतकारणात् ॥४
संख्यां विधाय यो धीमान् दिक्समूहे वहि कदा । न याति तस्य धर्माय भवेद्दिग्विरतिव्रतम् ॥५
सागराद्रिनदीद्वीपदेशोऽटव्यादयो मता । मर्यादा जिननाथेन दिग्विरतिव्रतस्य वै ॥६
गृहस्थैरथवा कार्या योजनैर्गणनादिभि । संख्या दशदिशां यावज्जीवर्हिसादिहानये ॥७
मर्यादा परत. पापं स्थूलं सूक्ष्मं न जायते । वन्धादिपञ्चकोपेतं सङ्कल्पाभावतो नृणाम् ॥८
महाव्रतानि कथ्यन्तेऽणुव्रतान्यऽपि धीधनैः । कृतसख्यावहिर्भागे सर्वसावद्यवर्जनात् ॥९
हिंसादिपञ्चपापानां यस्त्यागस्तन्महाव्रतम् । मनोवाक्काययोगै स्यान्नृणा स्वान्यकृतादिकै. ॥१०
सद्भिश्चैवोपचारेण प्रणीतं सन्महाव्रतम् । देशहिंसादित्यक्तानां दिग्विरतिकृतात्मनाम् ॥११
महापुण्यं भजेदंगी सद्दिग्विरतिसख्यया । सन्तोषाद् गमनाभावान्नित्यं हिंसाविवर्जनात् ॥१२

जो कुन्थु आदि समस्त जीवोकी दया पालन करनेमे चतुर हैं, जो तीर्थकर और चक्रवर्ती हैं और जो देवाधिदेव है ऐसे श्री कुथुनाथ भगवानको मै कुंथु आदि समस्त जीवोकी दया पालन करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इस प्रकार अणुव्रतोका स्वरूप कहकर अव आगे गृहस्थोको सुख देनेवाले और गुणोकी खानि ऐसे तीनो प्रकारके गुणव्रतोका वर्णन करते है ॥२॥ गणधरदेवोने दिग्विरतिव्रत, अनर्थदण्ड विरतिव्रत, और भोगोपभोग सख्यान ऐसे श्रावकोके तीन गुणव्रत वतलाये हैं ॥३॥ ये गुणव्रत दया आदि व्रतोके कारण हैं और गुणोको वढानेवाले हैं। इसलिये धर्मकी सिद्धिके लिये इनको सारभूत गुणव्रत कहते है ॥४॥ जो वुद्धिमान् समस्त दिशाओकी मर्यादा नियत कर उसके वाहर कभी नही जाता है उसके दिग्विरति नामका पहिला गुणव्रत होता है ॥५॥ स्वामी जिननाथने समुद्र, नदी, पर्वत, द्वीप, देश, व आदि इस दिग्व्रतकी मर्यादा वतलाई है ॥६॥ अथवा जीवोकी हिंसा वचानेके लिये गृहस्थोको योजनोके द्वारा दगो दिशाओकी मर्यादा नियतकर लेनी चाहिये ॥७॥ नियत की हुई मर्यादाके वाहर स्थूल अथवा सूक्ष्म सव तरहके हिंसा आदि पापोका त्याग हो जाता है तथा मर्यादाके वाहर पापोके लिये मनुष्योके सकल्प और भाव भी नही होते इसीलिये वुद्धिमान् मर्यादाके वाहर समस्त पापोका त्याग हो जानेसे उन अणुव्रतोको मर्यादाके वाहर महाव्रत कह देते हैं ॥८-९॥ हिंसादिक पाँचो पापोका मन, वचन, कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना महाव्रत कहलाता है ॥१०॥ यद्यपि इस प्रकारका त्याग दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोके नही होता, तथापि एक देश हिंसादिकका त्याग करनेवाले और दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोके मर्यादाके वाहर उपचारसे महाव्रत माना जाता है ॥११॥ इस दिग्व्रतको धारण करनेसे सन्तोप होता है, मर्यादाके वाहर भ्रमणका त्याग हो जाता है और हिंसादि पापोका सर्वथा त्याग हो जाता हे इसलिये दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोको महा पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥१२॥

कर्तव्यो नियमः सारो दिग्विरतिव्रते बुधै । यावज्जीवं व्रतायोच्चै' कृत्वा स्वान्तं वशे स्वयम् ॥१३
अतीचारपरित्यक्त दिग्विरतिव्रत चरेत् । यो गृही तस्य जायेत सत्पुण्यं च सुखाकरम् ॥१४
भगवन्तो व्यपीपातान् संदिशध्व व्रतस्य मे । एकचित्तेन भो मित्र ! शृणुतात् कथयाम्यहम् ॥१५
ऊर्ध्वव्यतिक्रमश्चाधो व्यतिपातो भवेन्नृणाम् । तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिविस्मरणं दिशाम् ॥१६
प्रमादाज्ञानतो येऽपि कार्य्यत्वाल्लंघयन्ति ये । ऊर्ध्वसंख्यामतीचार लभन्ते मलदायकम् ॥१७
क्वचित्कार्यवशाद् येऽपि अध सख्या त्यजन्ति ते । प्राप्नुवन्ति व्यतीपातं व्रतस्य नाशकं नरा ॥१८
तिर्यग्दिक्षु सुमर्यादां ये त्यजन्ति कुलोभत । अतिक्रमो भवेत्तेषां दुस्सहो व्रतघातक. ॥१९
क्षेत्रवृद्धि प्रकुर्वन्ति दिक्समूहस्य ये बुधा । अतीचारो भवेत्तेषां प्रमादाज्ञानलोभत' ॥२०
यो दिग्विरतिभूमीनां धत्ते विस्मरण शठ' । व्यतीपात श्रयेत्सोऽपि पापसन्तापदु.खदम् ॥२१
व्यतीपातविनिष्क्रान्तं दिग्विरतिव्रत दृढम् । भज त्वं परलोकार्थं दयार्थं च शुभप्रदम् ॥२२
गुणव्रतं द्वितीय ते व्याख्यायैकं गुणव्रतम् । वक्ष्ये धर्माय चानर्थदण्डविरतिलक्षणम् ॥२३
मध्ये दिग्विरतेर्नित्यं य. करोति नरोत्तम' । कारणेन विना पापत्यागं तस्याऽपि तद्भवेत् ॥२४
अनेकभेदयुक्तस्यानर्थदण्डस्य साम्प्रतम् । पञ्चभेदान् प्रवक्ष्यामि वृथा पापप्रदायकान् ॥२५
आद्य पापोपदेशश्च हिंसादान भवेत्तत । अपध्यानं दुराचारं दु श्रुतिः श्रुतिदूषितः ॥२६

इस दिग्व्रतको धारण करते समय वुद्धिमान गृहस्थोको अपने स्वार्थको वशमे कर जीवन-पर्यंततकके लिये नियम करना चाहिये ॥१३॥ जो गृहस्थ अतिचार-रहित इस दिग्व्रतको पालन करता है वह सुख देनेवाले महा पुण्यको प्राप्त होता है ॥१४॥ प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर इस व्रतके अतिचारोका निरूपण कीजिये । उत्तर—हे मित्र तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोको कहता हूँ ॥१५॥ ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और विस्मरण ये पाँच इस दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥१६॥ जो प्रमादसे अज्ञानसे अथवा किसी कार्यके वश होकर ऊपरकी (ऊर्ध्व दिशाकी) नियत की हुई मर्यादाको उल्लघन करते हैं उनके दोष उत्पन्न करनेवाला ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका पहिला अतिचार होता है ॥१७॥ जो किसी कार्यके वशसे नियत की हुई अधोलोककी मर्यादाका उल्लघन करते हैं उनके व्रतको नाश करनेवाला दूसरा अधोव्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥१८॥ जो लोभके वश होकर आठो दिशाओकी मर्यादाका त्याग कर देते हैं उनके व्रतको घात करनेवाला और असह्य ऐसा तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥१९॥ जो पुरुष प्रमाद अज्ञान अथवा लोभसे सब दिशाओके क्षेत्रकी मर्यादाको बढा लेते हैं उनके क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार होता है ॥२०॥ जो दिग्व्रतमें धारण की हुई मर्यादाको ही भूल जाते हैं उनके पाप-सन्ताप और दु ख देनेवाला विस्मरण नामका अतिचार होता है ॥२१॥ हे भव्य ! तू दयाको पालन करनेके लिये और व्रतोको शुद्ध करनेके लिये अतिचारोको छोडकर पुण्य बढानेवाले दिग्व्रतको धारण कर ॥२२॥ इस प्रकार पहिले गुणव्रतका व्याख्यानकर अब तेरे लिये अनर्थदण्डविरति नामके दूसरे गुणव्रतका व्याख्यान करता हूँ ॥२३॥ जो पुरुषोत्तम दिग्व्रतका पालन करता हुआ भी विना कारणके लगनेवाले पापोका त्याग करता है उसके अनर्थदण्डविरति नामका व्रत होता है ॥२४॥ यद्यपि अनर्थदण्डके बहुतसे भेद हैं तथापि व्यर्थ ही पापोको उत्पन्न करनेवाले उसके पाँचो भेदोको मैं कहता हूँ । भावार्थ—बहुतसे भेद इन्ही पाँचोमे अन्तर्भूत हैं ॥२५॥ पापोपदेश, हिंसादान, दुराचरणोको करनेवाला अपध्यान, कानोको दूषित करनेवाली दु श्रुति और प्रमादके वश रहनेवालोकी प्रमादचर्या

जिनैः प्रमादचर्यापि प्रमादवशवर्तिनाम् । उत्सर्गात्पञ्चभेद चानर्थदण्डं व्रतं मतम् ॥२७
तिर्यग्हस्त्यश्वबन्धादौ क्रयविक्रयकारणे । सत्त्वहिंसादिके कृष्यारम्भादौ वञ्चनादिके ॥२८
विवाहविषयेऽसत्यस्तेयादौ च परिग्रहे । कुदेवे कुगुरौ पापमिथ्यात्वादिप्रप्रेरणे ॥२९
गृहव्यापारसावद्ये सद्धर्मादिनिवारणे । द्रव्यार्जननिमित्ते च प्रवृज्यादिनिषेधने ॥३०
दीयते प्रोपदेशो योऽन्येषा वा बुधैर्नरैः । पापोपदेश उक्तोऽय जिननाथेन पापदः ॥३१
शठै पापादियुक्तो य उपदेशोऽत्र दीयते । निरूपित बुधै पापोपदेशः सकलोऽपि स ॥३२
मुक्त्वा धर्मोपदेशं च हितं स्वस्य परस्य च । न दातव्यो बुधै पापोपदेशो दु खसागर ॥३३
यत करोति य पापमुपदेश ददाति य । अनुमन्ये तयोर्मूढ सर्वेषा तद्भवेद् ध्रुवम् ॥३४
तस्मात्त्वं कुरु भो मित्र ! नित्यं धर्मोपदेशनम् । त्यज पापोपदेश च प्राणै कण्ठगतैरपि ॥३५
खड्गसर्वायुधान्येव खनित्रादिकमञ्जसा । कुठारो यष्टिका रज्वाद्यग्निश्शृङ्खलिकादिकम् ॥३६
शकटे वा बलीवर्दे घोटके वधकारणम् । हिंसोपकरण कृत्स्नं सर्वं सूना हि पापदा ॥३७
यत्किञ्चिद्धिंसक वस्तु परेषा दीयते शठै । हिंसादान जिनैरुक्त तत्सर्वं बन्धकारणम् ॥३८
यज्जीवबाधकं मूढैरन्येषा वस्तु दीयते । हिंसादानं च तत्सर्व प्रणीत गौतमादिभिः ॥३९
गृहस्थैर्नैव कर्तव्यो व्यवसायोऽतिपापद. । महाहिंसाकरो दक्षैर्लोहादिजनितोऽशुभः ॥४०
क्वचिल्लोहं न नेतव्यं बन्धविध्वंसकारणम् । आयुधादिकर पापगेह द्रव्याय सन्नरै ॥४१

ये पाँच अनर्थदण्डके औत्सर्गिक वा मुख्य भेद है ॥२६–२७॥ हाथी घोडे आदि तिर्यचोके बाँधने, उनके खरीदने बेचनेके लिये, जीवोकी हिंसा करनेके लिये, खेती आरम्भ आदिके वचन कहनेके लिये, विवाहके लिये, झूठ चोरी परिग्रहके लिये, कुगुरु कुदेव आदिकी पूजा करने, पाप बढाने मिथ्यात्व सेवन करनेके लिये, घरके निंद्य व्यापार करनेके लिये, श्रेष्ठ धर्मकी क्रियाओको रोकनेके लिये, धन कमानेके लिये, दीक्षा लेनेसे रोकनेके लिये, जो अज्ञानी जीव दूसरे लोगोको उपदेश दिया करते है उसके भगवान जिनेन्द्रदेवने पापोपदेश नामका पहिला अनर्थदण्ड कहा है ॥२८–३१॥ जो मूर्ख लोगोके द्वारा पापरूप उपदेश दिया जाता है उसको विद्वान् लोग दु ख देनेवाला पापोपदेश अनर्थदण्ड कहते ॥३२॥ विद्वान् लोगोको धर्मोपदेश छोडकर अपने वा दूसरेके लिये दु खका सागर ऐसा पापोपदेश कभी नही देना चाहिये ॥३३॥ इसका भी कारण यह है कि जो उन पापोको करता है या उनका उपदेश देता है, या उनमे अपनी सम्मति देता है उन सब मूर्खोके एकसा पाप लगता है ॥३४॥ इसलिये हे मित्र ! तू सदा धर्मोपदेश कर। कण्ठगत प्राण होनेपर भी पापोपदेश मत कर, पापोपदेशका सर्वथा त्याग कर ॥३५॥ तलवार आदि सब प्रकारके शस्त्र, कुदाल, कुठार लकडी, रस्सी, अग्नि, साँकल आदि जो जो बैल घोडा आदि पशुओके मारने वा बाँधनेके कारण हो, जो जो हिंसाके उपकरण हो, चक्की, उखली, चूलि, बुहारी आदि पाप उत्पन्न करनेवाले हो तथा विप आदि और भी जो जो जीवोके घातक हो उन सबका दूसरोके लिये देना हिंसादान कहलाता है। क्योकि ये सब कर्मोके बन्धका कारण है ॥३६–३८॥ मूर्ख लोग जीवोको दु ख देनेवाले, बाधा पहुँचानेवाले जो जो पदार्थ दूसरोको देते है वह सब गौतमादि देवोने हिंसादान कहा है ॥३९॥ गृहस्थोको महा हिंसा करनेवाला लोह आदिका व्यापार भी नही करना चाहिये, क्योकि ऐसा व्यापार सब अशुभ है और पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥४०॥ हिंसा और जीवोका विध्वस करनेवाला लोहा आदि कही नही ले जाना चाहिये, क्योकि उस लोहेसे पाप उत्पन्न करनेवाले शस्त्र

मधु पापाकरं नैव गृहीतव्यं विवेकिभिः । जीवहिंसादिसञ्जातं बहुसत्त्वसमाकुलम् ॥४२
शृङ्गवेरादिका कन्दा सत्त्वानन्तसमुद्भवा । महापापप्रदा दक्षैः स्वीकर्तव्या धनाय न ॥४३
तिलान्नीत्वा न दातव्या कीटाढ्या धनहेतवे । तेषां तैलं न कार्यं च नरैर्जीवविनाशकम् ॥४४
वापीकूपतडागादि न कर्तव्यमघप्रदम् । पञ्चेन्द्रियादिजन्तूनां घातकं कीर्तिसिद्धये ॥४५
छेदं कार्यं न वृक्षाणां गृहस्थैर्गृहहेतवे । असंख्यैनःप्रदं दुःखधाम सत्त्ववधाकरम् ॥४६
इष्टादिकं विधेयं न मनुष्यैर्धामसिद्धये । स्थावरत्रससर्वासु क्षयदं दुरितार्णवम् ॥४७
द्रव्याय शकटं नीत्वा न गन्तव्यं नरोत्तमैः । ग्रामादौ हि चतुर्मासे महीसत्त्वाकुले क्वचित् ॥४८
नवनीतादनल्पाल्पाह स्थितात्त्रससंभृतात् । कारायं न घृतं दक्षैः परगेहेऽशुभप्रदम् ॥४९
त्रमाढ्यं गुडपुष्पं च लाक्षामैणादिकं तथा । वस्त्रादिशोधनं वस्तु द्विपदं च चतुष्पदम् ॥५०
कीटादिसम्भृतं यच्च पापाढ्यं हि क्रयाणकम् । जीवहिंसाकरं लोके निन्द्यं च साधुदूषितम् ॥५१
तत्सर्वं द्रव्यलोभाय न नेतव्यं विवेकिभिः । न दातव्यं परेषां चाहिंसादिव्रतशुद्धये ॥५२
लक्ष्मीर्गृहात्स्वयं याति कुक्रयाणकसंग्रहात् । लोभातुरस्य पापेन दारिद्र्यं सन्मुखायते ॥५३
उत्तमाचरणात्सल्लक्ष्मीश्चायाति पुण्यतो नृणाम् । न्यायमार्गरतानां हि लोभादित्यक्तचेतसाम् ॥५४

आदि बन सकते हैं ॥४१॥ विवेकी पुरुषोंको पाप उत्पन्न करनेवाला मधु वा शहद नहीं लेना चाहिये क्योंकि वह अनेक जीवोंकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक जीवोंसे भरा रहता है ॥४२॥ अदरख आदि कन्दमूल भी अनेक जीव उत्पन्न करनेवाले महा पाप प्रकट करनेवाले हैं इसलिये इनका व्यवसाय कर धन कमाना भी उचित नहीं है ॥४३॥ तिल आदि ऐसे धान्य जो कि कीड़ोंके घर हैं नहीं भरने चाहिये और न ऐसे धान्योंका तेल निकलवाना चाहिये, क्योंकि ऐसे धान्योंका तेल निकलवानेसे अनेक जीवोंका विनाश होता है ॥४४॥ अपनी कीर्ति बढ़ानेके लिये भी बावड़ी कूआ तालाब आदि भी नहीं बनवाना चाहिये, क्योंकि इन सबका बनवाना पाप उत्पन्न करनेवाला और अनेक पचेन्द्रिय जीवोंका घात करनेवाला है ॥४५॥ गृहस्थोंको अपने घरके कामोंके लिये भी वृक्षोंको नहीं कटवाना चाहिये। क्योंकि वृक्षोंका कटवाना अनेक पापोंका उत्पन्न करनेवाला, दुःखोंका घर और अनेक जीवोंका नाश करनेवाला है ॥४६॥ अपना घर बनवानेके लिये भी गृहस्थोंको ईंटे नहीं पकवाना वा बनवाना चाहिये। क्योंकि ईंटोंका बनवाना वा पकवाना त्रस स्थावर सब जीवोंकी हिंसा करनेवाला और पापोंका सागर है ॥४७॥ उत्तम पुरुषोंको बरसातके दिनोंमें द्रव्य कमानेके लिये गाड़ी लेकर नहीं जाना चाहिये, क्योंकि बरसातमें गाड़ी ले जानेसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती है ॥४८॥ बहुत दिनके रक्खे हुए मक्खनमें अनेक त्रस जीव भरे रहते हैं। इसलिये चतुर पुरुषोंको उसका घी नहीं बनवाना चाहिये, क्योंकि यह कार्य भी परलोकमें पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥४९॥ इसी प्रकार अनेक त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाले गुड, पुष्प, लाख, मृगचर्म, वस्त्र धोनेकी सामग्री, कीड़ोंसे भरे हुए पशु सेवक आदि तथा और भी जो जो पाप उत्पन्न करनेवाले, जीवोंकी हिंसा करनेवाले, निन्द्य और सज्जन पुरुषोंके द्वारा वर्जित पदार्थ हैं वे सब पदार्थ द्रव्य कमानेके लिये विवेकी पुरुषोंको नहीं ले जाना चाहिये और अहिंसाव्रतको शुद्ध रखनेके लिये न ऐसे पदार्थ किसी दूसरेको देने चाहिये ॥५०-५२॥ जो पुरुष अत्यन्त लोभी हैं तथा हिंसा करनेवाले पदार्थोंका व्यापार करते हैं, पाप-कर्मके उदयसे उनके घर रहनेवाली लक्ष्मी भी अपने आप चली जाती है और वे दरिद्रताके सन्मुख हो जाते हैं ॥५३॥ जो न्यायमार्गमें रहकर काम

इति मत्वा जनैर्निन्द्यं ग्राह्य नैव क्रयाणकम् । द्रव्यार्थं धनलाभाय दारिद्रद्याादिप्रपीडितै ॥५५
ख्यातिलोभातिमानेन हिंसाकारणवस्तु यत् । तत्सर्वं हि न दातव्य बुधै प्राणात्यये क्वचित् ॥५६
वधबन्धादिके द्वेषादुच्चाटनकदम्बके । शोकक्लेशमहादु खे रागाद्भोगादिवस्तुषु ॥५७
पररामादिसंयोगे द्रव्यादिहरणे च यत् । चिन्तनं क्रियते मूढैरपध्यानं च तद्भवेत् ॥५८
यत्किञ्चिच्चितनं पुंसा पापाढ्च दु खकारणम् । अहितं स्वान्ययोस्तद्धि कुध्यानं स्याच्च श्वभ्रदम् ॥
अपध्यान करोत्येव योऽतिदुष्टो वृथा स वै । महाघसङ्ग्रहं कृत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥६०
तस्मादादाय सद्धर्मध्यानं स्वर्गगृहाङ्गणम् । दुर्ध्यानं दुःखसञ्जात त्यज त्वं मुक्तिहेतवे ॥६१
द्रव्यार्जनस्य वाणिज्यकृष्यारम्भकरस्य च । गृहादिशिल्पशास्त्रस्य पश्वादिपोषणस्य च ॥६२
संग्रामवर्णनस्यापि मिथ्यैकान्तमतस्य च । वशीकरणविद्वेषहेतुभूतस्य प्रत्यहम् ॥६३
कुधर्मस्य कुशास्त्रस्य कुदेवस्यागुरोस्तथा । कुश्रृंगारस्य रागाढ्याकरस्य दु श्रुते स्फुटम् ॥६४
या कथा श्रूयते मूढैरेनोदुर्गतिदु.खदा । दुश्रुति सा जिनै प्रोक्ता स्वर्गमुक्तिगृहार्गला ॥६५
या काश्चिद् विकया राजाचौरमुक्तादिजा बुधै । श्रूयते दु श्रुति सोऽपि सर्वस्वाध्यायवर्जिता ॥६६
कुज्ञानाद् द्वेषरागादि सर्वं सञ्जायते तत । पापं पापाच्च श्वभ्र हि ततो दु खं परं नृणाम् ॥६७

करते है और जिन्होने लोभको अपने हृदयसे निकाल दिया है ऐसे मनुष्योके उत्तम आचरण करनेसे और पुण्यकर्मके उदयसे लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥५४॥ ऐसा जानकर दारिद्रय आदिसे पीडित भी गृहस्थोको धन कमानेके लिये निन्द्य पदार्थोको स्वीकार नही करना चाहिये ॥५५॥ अपनी कीर्ति वढानेके लिये, लोभके लिये वा अपनी प्रतिष्ठा प्रगट करनेके लिये कठगत प्राण होनेपर भी हिंसा करनेवाले पदार्थोको कभी नही देना चाहिये, क्योकि इनका देना हिंसादान है ॥५६॥

जो मूर्ख लोग राग अथवा द्वेपसे दूसरोके वध वन्धनका, उच्चाटन, मारण वशीकरण आदिका, शोक क्लेश महा दु ख देने आदिका, दूसरेके भोगोपभोगके पदार्थोके हरण करने वा परस्त्रीके हरण करनेका अथवा किसीके द्रव्य मारनेका चिन्तवन करते है उसको अपध्यान कहते है ॥५७–५८॥ दूसरे मनुष्योका जो कुछ पापरूप चिन्तवन करना है अथवा दूसरोको दु ख देनेके कारणोका चिन्तवन करना है, और दूसरोके अहितका चिन्तवन करना है वह सव नरकमे पटकनेवाला अपध्यान वा कुध्यान हे ॥५९॥ जो दुष्ट व्यर्थ ही अपध्यान करता रहता है वह महा पाप इकट्ठे कर अन्तमे नरकरूपी कूएमे पडता है ॥६०॥ इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये स्वर्गरूपी घरके आगनके समान धर्मध्यान धारणकर और दु खसे उत्पन्न होनेवाले अपध्यानका त्याग कर ॥६१॥ जो द्रव्य कमानेकी, व्यापार, खेती आरम्भ आदि करनेकी, घर वनाने आदि शिल्पशास्त्रकी, पशुओके पालन करनेकी, युद्ध वर्णन करनेकी, मिथ्या एकान्त मतके पुष्ट करनेकी, वशीकरण आदिके कारणोकी, कुधर्म, कुशास्त्र, कुदेव, कुगुरुकी, कुसस्कारकी और राग प्रगट करनेकी कथाएँ कही वा सुनी जाती है और जिन्हे मूर्ख लोग ही कहते वा सुनते है उसे दु श्रुति कहते है । यह दु श्रुति अनेक पाप और दु ख देनेवाली और स्वर्ग मोक्षरूपी घरको वन्द करनेके लिये अर्गलके समान हे ॥६२–६५॥ जो अज्ञानी लोग राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा आदि विकथाओको सुनते है वह भी स्वाध्यायसे रहित दु श्रुति ही है ॥६६॥ ऐसी दु श्रुतिरूप कथाओके सुननेसे मिथ्याज्ञान होता है, मिथ्याज्ञानसे रागद्वेष आदि विकार उत्पन्न होते है, विकारोसे पाप होता है, पापोसे नरकमे पडता है और नरकोमे अनेक प्रकारके दु ख सहने पडते है ॥६७॥ जो अज्ञानी इन विकथाओ-

करोति विकथा यस्तु य. शृणोति विमूढधी । द्वयो पापं समानं स्यात् श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥६८
इति मत्वा कुशास्त्रं च पापदं धूर्त्तनिर्मितम् । श्रुत्वा जिनोदितं शास्त्रं किंपाकफलवत्त्यज ॥६९
भूखननं वहुनीरक्षेपणं चाग्निज्वालनम् । वातप्रकरण हस्ताद्वनशाखा. प्रछेदनम् ॥७०
वृथा पर्यटनं लोके गमनागमनं तथा । प्रेरणं वा परस्यापि सत्कार्येण विनापि यत् ॥७१
गृहस्थै क्रियते मूढै' प्रमादादिसमन्वितै । प्राहु प्रमादचर्यां च तामेव श्रीगणाधिपा. ॥७२
विना कार्यं शठैर्लोके काचिदाचर्यते क्रिया । पापाढ्या च प्रमादाख्या चर्या सर्वापि सा भवेत् ॥७३
प्रमादाज्जायते घातो घातादेनस्ततोगिनाम् । नरकं च ततो दु'ख दीर्घं वाचामगोचरम् ॥७४
यत्न विधाय सद्धर्मे सुखागारं वृषाकरम् । त्यज प्रमादचर्या सद्व्रतादिभङ्गदु खदाम् ॥७५
कारणेन विनाऽनर्थं दु.खद पापसङग्रहं । करोत्येव ततोऽनर्थदण्ड स उच्यते वुधं ॥७६
सर्वपापकर पञ्चभेद चानर्थसञ्ज्ञकम् । त्यज यत्न विधायोच्चैर्मनोवाक्कायनिग्रहम् ॥७७
त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् यो वृत्तादिप्रसिद्धये । भजेदनर्थदण्डाख्यविरतिं गच्छेत्स्वर्गृहम् ॥७८
भगवन्तो दिशध्वं मे कृत्वा कृपा सर्वव्यतिक्रमान् । महाशय ! शृणु त्वं ते व्यतीपातांश्च ब्रूमहे ॥७९
कन्दर्पो वत् कौत्कुच्यं ततो मौखर्यामिष्यते । चासमीक्ष्याधिकरणं त्वतिप्रसाधन भवेत् ॥८०
भण्डिमादिकरो रागोद्रेकाद्दा समन्वित । योऽतिनिन्द्यो हि दुर्वाक्य. कन्दर्पो हि स उच्यते ॥८१

को कहता है और जो इनको सुनता है उन दोनोको नरक और तिर्यग्गतिके दु ख देनेवाला समान पाप लगता है ॥६८॥ इसलिये हे भव्य ! इन कुशास्त्रोको पाप उत्पन्न करनेवाले और धूर्तोंके वनाये हुए जानकर और जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोको सुनकर किंपाकफलके समान अवश्य ही इनका त्यागकर देना चाहिये ॥६९॥ विना किसी प्रयोजनके पृथ्वी खोदना, वहुतसा पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वायु करना, अपने हाथसे किसी वन-शाखाको काटना, व्यर्थ ही घूमना, आना जाना, वा विना किसी कार्यके दूसरोको आने-जानेकी प्रेरणा करना, इत्यादि जो अज्ञानी गृहस्थ प्रमादसे करते हैं उसको गणधरादि देव प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड कहते हैं ॥७०–७२॥ अज्ञानी लोग जो विना किसी प्रयोजनके पापरूप कुछ भी क्रियाएँ करते हैं उन सव क्रियाओको प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहते हैं ॥७३॥ प्रमादचर्या अनर्थदण्डसे जीवोका घात होता है, जीवोंका घात होनेसे पाप होता है, पापसे नरक मिलता है और नरकोमे जो वचनोसे भी नहीं कहा जा सके ऐसा घोर दु ख मिलता है ॥७४॥ यह श्रेष्ठ धर्म ही सुखका घर है और धर्मकी खानि है, यही समझकर इस श्रेष्ठ धर्मको धारण करनेके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये और दु ख देनेवाले और व्रतोका भग करनेवाले प्रमादचर्याका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥७५॥ ये पाँचो ही अनर्थदण्ड विना ही कारणके दु ख देते हैं और पापोका सग्रह करते हैं इसीलिये वुद्धिमान् लोग इनको अनर्थदण्ड कहते हैं ॥७६॥ ये पाँचो ही प्रकारके अनर्थदण्ड समस्त पापोको उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये मन वचन शरीरका निग्रहकर अपने वशमे कर प्रयत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ॥७७॥ जो वुद्धिमान अपने चारित्रकी प्रसिद्धिके लिये अतिचारोको छोडकर इस अनर्थदण्डविरति नामके व्रतको धारण करता है वह स्वर्गरूपी घरमे अवश्य पहुँचता है ॥७८॥ प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मुझे इस व्रतके सव अतिचारोका निरूपण कीजिये । उत्तर—हे महाभाग ! सुन, मैं उन सव अतिचारोको कहता हूँ ॥७९॥ कदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और अतिप्रसाधन ये पाँच अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार कहे जाते हैं ॥८०॥ जो रागपूर्वक हँसीसे मिले हुए अत्यन्त निन्द्य और भड वचन कहे जाते हैं उन दुर्वचनोको कदर्प कहते है ॥८१॥ जो हँसी और भडरूप दुर्वचनोके साथ शरीरकी निन्द्य और दुष्ट

प्रहासभण्डिमोपेतं वक्ति दुर्वचनं हि यः । दुष्टकार्यक्रियायुक्तं कौत्कुच्यं तस्य जायते ॥८२
धार्ष्ट्यं बहुप्रलापित्वं ब्रूते य कारणं विना । वचन तस्य लोकेस्मिन् मौखर्यातिक्रमो भवेत् ॥८३
कार्यं हिताहितं किञ्चिद्योऽविचार्यं करोति ना । लभेत सोऽसमीक्ष्याधिकरणं दु खपापदम् ॥८४
भोगोपभोगसंख्याया योऽधिक च करोत्यधी । भोगादिकं भवेत्तस्य व्यतीपातो व्रतस्य वै ॥८५
अनेकभेदसंकीर्णं वृथा पापप्रदं त्यज । व्रतायानर्थदण्ड च स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥८६
भोगोपभोगसंख्यानं तृतीय सद्गुणव्रतम् । कामेन्द्रियदमनार्थं वक्ष्ये च गुणहेतवे ॥८७
भोगस्यैवोपभोगस्य संख्यायांक्रियते बुधै । तदेवाहुर्जिनाः भोगोपभोगाख्यं व्रतं शुभम् ॥८८
पानाशनादि ताम्बूलगन्धपुष्पादिगोचर. । वारैकसुखदो भोग उक्त. श्रीगणनायकै' ॥८९
वस्त्राभरणसद्यानगृहस्त्रीतुरगादिज । उपभोगो बुधैर्ज्ञेयो मुहुर्मुहुः सुखप्रद ॥९०
शृङ्गवेरादिकन्दादिभक्षण त्यज सर्वथा । अनन्तानन्तजीवानामभक्ष्यमिव पापदम् ॥९१
यत्रैको म्रियते जीवस्तत्रैव मरण भवेत् । प्राणिनामप्यनन्तानामार्द्रकाविविघातनात् ॥९२
यत्रैको जायते प्राणी तत्रोत्पत्तिर्भवेद्ध्रुवम् । अनताङ्गिना लोके च नीरबीजाग्नियोगत ॥९३
यत्र न ज्ञायते दक्षै सिरा सन्धिश्च निश्चलम् । पर्वापि स्यान्नगादीना तत्रानन्ताङ्गिसंस्थिति ॥९४
समभङ्गो भवेद्यस्तु छिन्नभिन्नः प्ररोहति । वृक्ष' स एव विज्ञेय आगमेऽनन्तकायिकः ॥९५

चेष्टाकी जाती है उसको कौत्कुच्य कहते है ॥८२॥ जो विना ही कारणके धृष्टता पूर्वक बहुत वोलता है उसके मौखर्य नामका अतिचार लगता है ॥८३॥ जो मनुष्य हिताहितको विना सोचे समझे किसी कार्यको कर वैठता है उसके पाप और दु ख देनेवाला असमीक्ष्याधिकरण नामका अतिचार लगता है ॥८४॥ जो अज्ञानी भोगोपभोगकी सामग्रीको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठी कर लेता है उसके अतिप्रसाधन नामका अतिचार लगता है ॥८५॥ हे भव्य ! व्रतोको पालन करनेके लिये और स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये अनेक भेदोसे भरे हुए और व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाले इन अनर्थदण्डोका तू त्यागकर ॥८६॥ अव आगे गुण वढानेके लिये भोगोपभोग सख्यान नामके तीसरे गुणव्रतको कहते है। यह गुणव्रत कामेन्द्रियको दमन करनेके लिये है ॥८७॥ जो वुद्धिमान् लोग भोग और उपभोगोकी सख्या नियत कर लेते है उसीको भगवान् जिनेन्द्रदेव भोगोप भोग परिमाण नामका श्रेष्ठ व्रत कहते हैं ॥८८॥ पीनेके पदार्थ, भोजनके पदार्थ, तावूल, गध, पुष्प आदि जो पदार्थ एकवार काममे आते है उनको श्रीगणधरदेव भोग कहते है ॥८९॥ वस्त्र, आभूषण, शय्या, सवारी, घर, स्त्री, हाथी, घोडे आदि जो वार-वार सुख देते है उनको विद्वान् लोग उपभोग कहते हैं ॥९०॥ हे भव्य ! तू अदरक आदि कदमूलका भक्षण करना सर्वथा छोड दे, क्योकि वह पाप देनेवाला अनन्तानत जीवोका समुदाय है इसलिये वह अभक्ष्य ही है ॥९१॥ उन अदरक आदि कंदमूलोके विदारण करनेसे जहाँ एक जीवका मरण होता है वही पर अनन्तानन्त जीवोका मरण अवश्य हो जाता है ॥९२॥ कदमूलोमे पानी और वीजका सयोग होनेसे जहाँ एक प्राणीकी उत्पत्ति होती है वही अनन्तानन्त जीवोकी उत्पत्ति हो जाती है ॥९३॥ ककडी आदि जिन फलोमे सिरा सन्धिका निश्चय न हो वा गन्ना आदिकी गाठ हो उसमे अनन्तानन्त प्राणियोका निवास रहता है ॥९४॥ तोडनेसे जिसका समान भाग हो जाय (जिस प्रकार चाकूसे काटते है वैसा एकसा टुकडा हो जाय) अथवा छिन्न-भिन्न हो जानेपर भी जो उग आवे, पैदा हो जाय ऐसे फल वा वृक्ष अनन्त-कायिक कहलाते है ॥९५॥ जो मूर्ख सरसोके समान भी कदमूल खाते हैं वे अनन्त जीवोका भक्षण

सर्षपेण समं कन्दं ये खादन्ति शठा ध्रुवम् । दुर्गतिं यान्ति तेऽमुत्रानन्तजीवप्रभक्षणात् ॥९६
रोगादिपीडितो यस्तु अत्ति कन्द सुखाप्तये । स रोगभाजनं भूत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥९७
तिलमात्रसमे कन्दे चानन्तजीवसस्थिति' । तस्य भक्षणतो भुक्ता. सर्वे जीवा. कुदृष्टिभि ॥९८
योऽनन्तजीवसंयुक्तं ज्ञात्वा कन्दं च खादति । निकृष्टस्तस्य किं पापं का गतिर्वा न वेद्म्यहम् ॥९९
अतस्त्याज्यं नरैरेतत्कन्दमूलकदम्बम् । हालाहलमिवानन्त जीवराशिसमुद्भवम् ॥१००
निम्बादिकुसुमं सर्वं सूक्ष्मसत्त्वसमाकुलम् । त्रसाङ्गिसम्भृतं मित्र ! सर्वपापाकरं त्यज ॥१०१
पत्रशाकं त्यजेद्धीमान् पुष्पं कीटसमन्वितम् । ज्ञात्वा पुण्याय जिह्वादिदमनायाशुभप्रदम् ॥१०२
कीटाढ्यं विल्वजम्ब्वादिवदरीना फलं बुध । त्यजेत्पापाकरं सर्वजीवरक्षादिहेतवे ॥१०३
वृन्ताक हि कलिङ्गं वा कूष्माण्डादिफलं तथा । अन्यद्वा दूषित लोके शास्त्रे वा वर्जयेत्सुधी ॥१०४
अज्ञातादिफलं दोषादोषसंशयदं त्यजेत् । धर्माय पापसंत्रस्तो वरं वा पुण्यधी पुमान् ॥१०५
सूक्ष्मजीवभृत श्वभ्रे नवनीत कुदु खदम् । दोषाकर महानिन्द्यं जहि त्वं पापहानये ॥१०६
पुङ्गीफलादिसर्वं चाभग्न जीवसमन्वितम् । अभक्ष्यपरिहारार्थं त्याज्यं नित्यं विवेकिभि ॥१०७
अभग्नं कीटसंयुक्तं फलं भुङ्क्ते हि योऽधमः । आमिषाशीसमो ज्ञेय सोऽपि कीटादिभक्षणात् ॥१०८

करनेके कारण मरकर परलोकमे अनेक दुर्गतियोमे परिभ्रमण करते है ॥९६॥ जो रोगी सुख प्राप्त करनेके लिये कदमूलका भक्षण करता है वह अनेक प्रकारके रोगोसे पीडित होकर नरकरू ी कूएमे पडता है ॥९७॥ तिलके समान जरासे कदमूलमे भी अनन्त जीवोका निवास रहता है इसलिये जो मिथ्यादृष्टि उस कदमूलका भक्षण करते हैं वे उन सव जीवोको खा जाते है ॥९८॥ कदमूल अनन्त जीवोका पिण्ड है यह समझकर भी जो उसे भक्षण करते है उन्हे कौनसे पाप लगेंगे अथवा उनकी कौनसी गति होगी इस वातको हम जान भी नही सकते ॥९९॥ इसलिये मनुष्योको विपके समान सव तरहके कदमूलका त्याग कर देना चाहिये क्योकि उसमे अनन्त जीवोकी राशि सदा उत्पन्न होती रहती है ॥१००॥ नीम आदिके फूल भी अनेक सूक्ष्म जीवोसे भरे हुए होते है तथा उनमे त्रस जीव उत्पन्न होते रहते है उनके खानेसे सव तरहके पाप होते हैं इसलिये हे मित्र ! इनका शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये ॥१०१॥ वुद्धिमानोको पुण्य सम्पादन करने जिह्वा आदि इन्द्रियोको दमन करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले पत्तोवाले शाक व कीडोसे भरे हुए पुष्प आदि सवको जानकर त्याग कर देना चाहिये ॥१०२॥ विद्वानोको जीवोकी रक्षा करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले वेलकी गिरी जामुन छोटे वेर आदि सवका त्याग कर देना चाहिये ॥१०३॥ वैंगन, तरवूज, कुहडा (पेठा या काशीफल) तथा और भी जो कुछ लोकमे वा शास्त्रोमे सदोष कहे गये हैं उन सवका त्याग कर देना चाहिये ॥१०४॥ पुण्यवान् मनुष्योको पापोसे डरनेके लिये और धर्म पालन करनेके लिये जिनमें दोप-अदोपका सन्देह हो ऐसे अजान फलोका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१०५॥ हे भव्य ! पापोको दूर करनेके लिये मक्खनका भी त्याग कर देना चाहिये, क्योकि मक्खन भी अनेक सूक्ष्म जीवोसे भरा हुआ है, महा निन्द्य है अनेक दोपोको उत्पन्न करनेवाला है और नरकके दु ख देनेवाला है ॥१०६॥ विना कतरी हुई सावूत सुपारी छुहारे आदि फलोमे भी जीव रहते हैं इसलिये अभक्ष्य पदार्थोका त्याग करनेके लिये विवेकी पुरुपोको ऐसे फलोका भी सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥१०७॥ जो नीच कीडोसे भरे हुए सावूत फलोको खाता है वह अनेक कीड़ोको खा जानेके कारण मास-भक्षीके समान समझा जाता है ॥१०८॥ पापोसे

दधितक्रादिकं सर्वं त्यजेदूर्ध्वं दिनद्वयात् । सुधी' पापादिभीतस्तु भृत द्व्येकेन्द्रियादिभिः ॥१०९
सर्वाशनं न च ग्राह्यं दिनद्वययुतं नरै । एकद्वित्र्यक्षसंयुक्तमेनोभीतैः सुखाप्तये ॥११०
स्वस्वादुपरिसंत्यक्तं दुर्गन्धादिसमन्वितम् । अन्नं तद्वह्निसञ्जात त्यजाखाद्यमिदाशुभम् ॥१११
अत्यानकं प्रखादन्ति जिह्वया दण्डिता हि ते । नीचजातिसमा ज्ञेयास्ते कीटामिषभक्षणात् ॥११२
अत्यानकं नचादेयं सुहृत् प्राणात्ययेऽपि भो । पुष्पिकाकीटसछन्नं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥११३
भक्षयन्ति शठा ये भो अन्न तक्रादिकं स्थितम् । दिनद्वयेन कीटादिखादनान्नीचनृसमा' ॥११४
ये जिह्वालम्पटा मूढा अभक्ष्यं भक्षयन्ति च । तेऽमुत्र पापभारेण मज्जन्ति नरकार्णवे ॥११५
वरं विषाशनं नृणा वारैकप्राणनाशनम् । न भक्षणं भवानन्तजन्मदु खविधायकम् ॥११६
इति मत्वा फलं त्याज्यमभक्ष्य श्रावकोत्तमैः । धर्मव्रतादिशुद्धचर्थममेध्यमिव दूरतः ॥११७
अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्यानुपसेव्यं हि वस्तु यत् । उष्ट्री दुग्धादिक तच्च सर्वं त्यक्त्वा व्रतं कुरु ॥११८
यमश्च नियमः प्रोक्तो भोगादीनां गणाधिपै. । यावज्जीवेतरेणैव गृहस्थस्य सुखाप्तये ॥११९
यावज्जीवं त्यजेद्यस्तु किञ्चिद् वस्त्वादिकं बुधः । सदोषं निर्दोष वा भजेन्निर्वृतिद यमम् ॥१२०
भोगादिकं त्यजेद्यस्तु मासवर्षादिसंख्यया । धर्माय नियम सोऽपि श्रयेन्नाकगृहाङ्गणम् ॥१२१

डरनेवाले बुद्धिमानोको दो दिनसे ऊपरके दही और छाछका त्याग कर देना चाहिये, क्योकि दो दिनके बाद उसमे अनेक एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न हो जाते है ॥१०९॥ पापोसे डरनेवाले मनुष्योको सुख प्राप्त करनेके लिये दो दिनके ऊपरका सब प्रकारका भोजन छोड देना चाहिये क्योकि उसमे दो दिनके बाद एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न हो जाते है ॥११०॥ अग्नि पर पका हुआ जो अन्न दुर्गन्धयुक्त हो गया हो, जिसका स्वाद बिगड गया हो तो अभक्ष्य और अशुभ समझकर उसे भी छोड देना चाहिये ॥१११॥ जो जिह्वा इन्द्रियसे पीडित होकर अचार खाते हैं वे उसमे पडनेवाले अनेक कीडोका मास खानेके कारण नीच लोगोके समान समझे जाते हैं ॥११२॥ हे मित्र ! प्राणोका नाश होनेपर भी अचार नही खाना चाहिये और जिस पर सफेदी आ जाती है ऐसी फूली हुई चीज भी अनेक कीडोसे भरी हुई होती है इसलिये वह भी नही खानी चाहिये, क्योकि ऐसे पदार्थोका खाना भी नरक और तिर्यंचगतिके दु खोका कारण है ॥११३॥

जो मूर्ख छाछमे अन्नको दो दो दिन रखकर (राबरी वा महेरी बनाकर) खाते है वे अनेक कीडोको खा जानेके कारण नीचोके समान समझे जाते हैं ॥११४॥ जो जिह्वालम्पटी मूर्ख अभक्ष्य पदार्थोका भक्षण करते हैं वे अपार पाप-भारके कारण परलोकमे नरकरूपी महासागरमे डूबते हैं ॥११५॥ मनुष्योको विष मिला भोजन खा लेना अच्छा, एक प्राणीको मार डालना अच्छा परन्तु अनन्त जन्मोतक दु ख देनेवाले अभक्ष्य पदार्थोका भक्षण करना अच्छा नही ॥११६॥ यही समझकर श्रावकोको धर्म और व्रतोको शुद्ध रखनेके लिये अभक्ष्य फलोका विष्टाके समान दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥११७॥ जो पदार्थ अपने लिये अनिष्ट हो अथवा ऊँटनीका दूध आदि अनुपसेव्य (जिसे सद्गृहस्थ सेवन न करते हो) हो ऐसे समस्त पदार्थोका त्यागकर व्रत धारण करना चाहिये ॥११८॥ गणधर देवोने गृहस्थोको सुख पहुँचानेके लिये भोगोपभोगोका त्याग करनेके लिये यम और नियम बतलाये हैं । भोगोपभोगोका जन्म पर्यन्त त्याग करना यम है और कुछ दिनके लिये त्याग करना नियम है ॥११९॥ जो सदोष वा निर्दोष पदार्थ जन्म पर्यन्तके लिये त्याग किया जाता है वह बुद्धिमानोको मोक्ष देनेवाला है ॥१२०॥ तथा धर्म पालन करनेके लिये जो भोगोपभोग पदार्थोका महीना पन्द्रह दिन दो महीना चार महीना वर्ष दिन आदिकी सख्या नियत

यम वा नियमं कुर्यात्सुधीर्भोगादिवस्तुषु । स्वशक्ति प्रकटीकृत्य परलोकसुखाप्तये ॥१२२
भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने । पुष्पताम्बूलगीतेषु नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥१२३
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने । सचित्तवस्तुसख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहम् ॥१२४
भोगोपभोगवस्तूना व्रताना नियम कुरु । मुहूर्तदिनसद्रात्रिपक्षमासायनादिभि ॥१२५
भोगादिसख्यया यान्ति वश चित्तेन्द्रियादय. । पुंसा नश्यति तृष्णा च क्रोधलोभादिविद्विषः ॥१२६
भोगसन्तोषतो नृणां सुख सन्तोषज भवेत् । ख्यातिपूजादिलाभं च बहुभोगादिसम्पद ॥१२७
आनन्दश्च महाधर्म्यध्यानं स्वर्मुक्तिसाधनम् । इहामुत्र महत् ऋद्धिरिन्द्रचक्र्यादिगोचरा ॥१२८
त्रैलोक्यक्षोभकं तीर्थकरत्वं चापि जायते । भोगादिसंख्यया लोके सदा सज्ज्ञानचेतसाम् ॥१२९
तस्माद्भोगादिसख्यानं कर्तव्य विधिवद् बुधै । व्रतशून्या न कर्तव्या चैकाऽपि घटिका क्वचित् ॥१३०
भोगसंख्या न कुर्वन्ति येऽधमा नष्टबुद्धय । पशवस्ते मता सद्भि सर्वभक्षणतो भृशम् ॥१३१
नियमेन विना मूढा दारिद्र्यादिसमन्विता । तृष्णया पापमादाय दुर्गति यान्ति निश्चितम् ॥१३२

इच्छया येऽपि गृह्णन्ति धनाढ्या भोगसम्पद ।
ते नियमाद्विना प्राप्य दारिद्र्यं यान्ति दुर्गतिम् ॥१३३

त्यजन्ति भोगतृष्णां ये पीत्वा सन्तोषजामृतम् । गृहस्था मुनितुल्यास्ते कीर्तिता श्रीजिनागमे ॥१३४

कर त्याग किया जाता है वह स्वर्गकी सम्पदा देनेवाला नियम कहलाता है ॥१२१॥ बुद्धिमान् लोगोको परलोकके सुख प्राप्त करनेके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर समस्त भोगोपभोगके पदार्थोमे यम नियम धारण करना चाहिये ॥१२२॥ छहो रसोसे परिपूर्ण भोजन, पान, कुकुम, पुष्प, ताम्बूल, गीत, नृत्य, ब्रह्मचर्य स्नान, आभूषण, वस्त्र, वाहन, शयन, आसन और सचित्त पदार्थोकी सख्या नियतकर प्रतिदिन इन सबका प्रमाण नियतकर लेना चाहिये ॥१२३–१२४॥ मुहूर्त, दिन रात्रि, पक्ष महीना छह महीना आदिका नियम लेकर भोगोपभोगोकी मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये ॥१२५॥ भोगोपभोगोको सख्या नियतकर लेनेमे मन और इन्द्रियाँ वशमे हो जाती है और मनुष्योके तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि सब विकार वा अन्तरङ्ग शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥१२६॥ भोगोमे सन्तोष धारण करनेसे मनुष्योको सन्तोषजन्य सुख प्राप्त होता है, कीर्ति और प्रतिष्ठा बढती है तथा भोगोपभोगोकी अनेक सम्पदाएँ प्राप्त होती है ॥१२७॥ ज्ञानी पुरुषोको भोगोपभोगोका परिमाण नियतकर लेनेसे इस ससारमे आनन्द प्राप्त होता है, स्वर्ग-मोक्षका साधन महा धर्मध्यान प्रगट होता है तथा परलोकमे इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी ऋद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त होती है और तीनो लोकोको क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर पद प्राप्त होता हे ॥१२८–१२९॥ इसलिये बुद्धिमानोको विधिपूर्वक भोगोपभोग पदार्थोकी सख्या नियतकर लेनी चाहिये । विना व्रतो के एक घडी भी कभी व्यतीत नही करनी चाहिये ॥१३०॥ जो नष्ट बुद्धिवाले नीच पुरुष भोगोपभोगोकी सख्या नियत नही करते वे सदा समस्त पदार्थोका भक्षण करते रहनेके कारण सज्जन लोगोमे पशु माने जाते हैं ॥१३१॥ विना यम नियमके मूर्ख लोग दरिद्री होते हैं और तृष्णासे अनेक पापोको उत्पन्नकर दुर्गतियोमे परिभ्रमण करते हैं ॥१३२॥ जो धनी पुरुष इच्छापूर्वक भोगोपभोग सम्पदाओको ग्रहण करते हैं वे विना नियमके दरिद्री होकर दुर्गतिमे परिभ्रमण करते हैं ॥१३३॥ जो गृहस्थ सन्तोषरूपी अमृतको पीकर भोगोकी तृष्णाका त्याग कर देते है वे जैन शास्त्रोमे मुनियोके समान माने जाते हैं ॥१३४॥ समस्त भोगोपभोगोका त्यागकर देनेसे गृहस्थ

गृहस्थो मुनितां याति सर्वभोगादिवर्जनात् । गृहस्थान्नीचतां नित्यं मुनिस्तु भोगवाञ्छया ॥१३५
इति मत्वा त्वया धीमन् ! विधेया स्वल्पभोगदा । भोगोपभोगसत्सख्या धर्ममुक्तिसुखाप्तये ॥१३६
अतीचारविनिर्मुक्तां भोगसख्या भजन्ति ये । गत्वा षोडशमे नाके क्रमाद्यान्ति शिवालयम् ॥१३७
प्रभो ! मह्यं दयां कृत्वा व्यतीपातान्निरूपय । शृणु वत्सैकचित्तेन वक्ष्येऽहं ते व्यतिक्रमान् ॥१३८
स्याद्विषयानुपेक्षा हि ततोऽनुस्मृतिरुच्यते । अतिलौल्यं भवेच्चातितृषा चानुभवोऽङ्गिनाम् ॥१३९
य उपेक्षां परित्यज्य भुङ्क्ते भोगाननारतम् । आदरात्तस्य जायेत चानुपेक्षाव्यतीक्रम ॥१४०
यो भुक्त्वा विषयान् पश्चाद्‌धेऽनुस्मरणं शठ । अतीचारो भवेत्तस्य सुखसौन्दर्यलक्षणम् ॥१४१

कामातुरोऽतिगृद्ध्या यो भुङ्क्ते भोगान्पुनश्च तान् ।
इच्छेच्च सोऽतिलोभेन भजेद्व्रतव्यतिक्रमम् ॥१४२

भाविकालेऽपि भोगान् यो वाञ्छत्यत्यन्तलोभत । अतितृषाव्यतीपातो व्रतस्य जायते पुन ॥१४३
भुङ्क्ते भोगादिकं योऽत्यासक्त्याऽकाले यदा तदा । गुणव्रतस्य तस्याप्यनूभव स्यादतिक्रम ॥१४४
स्वल्पं भोगादिकं योऽपि सेवन्ते गृहमेधिनः । कामपीडा व्यथार्थं ते न लभन्ते व्यतिक्रमान् ॥१४५
चौरो मृत्युं समीहेत कोट्टपालात् यथा तथा । सदृष्टिर्विषयान् भुङ्क्ते वृत्ताचरणयोगत ॥१४६

शिवसुखगृहमार्ग सर्वभोगस्य नित्यं, शुभवनघनमेघं पापवृक्षव्रजाग्निम् ।
अतिसुखगुणगेहं स्वर्गसोपानभूतं कुरु बुध परिमाणं चोपभोगस्य मुक्त्यै ॥१४७

भी मुनिके समान माना जाता है और भोगोकी इच्छा करता हुआ मुनि भी गृहस्थके समान नीच श्रेणीमे गिना जाता है ॥१३५॥ हे विद्वन् ! यही समझकर तुझे धर्म मोक्ष और सुखकी प्राप्तिके लिये थोडेसे भोगोमे सन्तोष देनेवाली भोगोभोगोकी सख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥१३६॥ जो बुद्धिमान् अतीचारोको छोडकर भोगोकी सख्या नियत करते है वे सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१३७॥

प्रश्न—हे प्रभो ! मुझपर दयाकर उन भोगोपभोगपरिमाणके अतीचारोको कहिये । उत्तर—हे भव्य ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतीचारोको कहता हूँ ॥१३८॥ विषयानुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृष्णा और अनुभव ये पाँच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार गिने जाते हे ॥१३९॥ जो उपेक्षा त्याग वा उदासीनताको छोडकर आदरपूर्वक सदा भोगोपभोगोको भोगता रहता है उसके विषयानुपेक्षा (विषयोसे उदासीन न होना) नामका अतिचार लगता है ॥१४०॥ जो मूर्ख विषयोको भोगकर पीछेसे उनके सुख और सुन्दरताका स्मरण करता है उसके अनुस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥१४१॥ जो अत्यन्त कामातुर और लोलुपी होकर उन भोगोका भोग करता हैं और अत्यन्त लोभके कारण फिर भी उनकी इच्छा करता है उसके अतिलौल्य नामका अतिचार होता है ॥१४२॥ अत्यन्त लोलुपताके कारण जो आगामी कालके लिये भी भोगोकी इच्छा करता है उसके व्रतमे अतितृष्णा नामका अतिचार लगता है ॥१ ३॥ जो अत्यन्त आसक्त होनेके कारण जब कभी असमयमे भी भोगोका भोग करता है उसके भोगोपभोग परिमाण नामके गुण व्रतमे अनुभव नामका अतिचार लगता है ॥१४४॥ जो गृहस्थ केवल काम-पीडाको दूर करनेके लिये थोडे समयसे भोगोको सेवन करते हैं उनके ये अतिचार नही लगते ॥१४५॥ जिस प्रकार चोर कोतवालसे मृत्यु चाहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे विषयोका सेवन करते है ॥१४६॥ यह समस्त भोगोपभोगका परिमाण मोक्षके सुखका कारण है,

सकलगुणसमुद्रं दोषवृक्षानलं वै, बुधजनपरिसेव्यं नाकधामैकमार्गम् ।
नरकगृहकपाटं पापसन्तापदूरं, भज मनुज गुणाढ्य सद्व्रतं त्वं त्रिधा भो ॥१४८

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे गुणव्रतत्रयप्ररूपको नाम सप्तदशम परिच्छेद ॥१७॥

●

पुण्यरूपी वनको बढानेके लिये प्रबल मेघ है, पापरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, अनन्तसुखरूपी गुणका कारण है और स्वर्गकी सीढियोंके समान है इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू भोग और उपभोगोका परिमाण सदाके लिये नियत कर ॥१४७॥ हे भव्य जीव ! यह भोगोपभोग परिमाण नामका व्रत समस्त गुणोका समुद्र है, दोषरूपी वृक्षोको जलानेके लिये अग्नि है, विद्वान् लोग भी इसकी सेवा करते हैं, स्वर्ग मोक्षका यह एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड है, पाप तथा सन्तापोको दूर करनेवाला है और गुणोंसे परिपूर्ण है। इसलिये हे मित्र ! तू मन वचन कायसे इस व्रतका पालन कर ॥१४८॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे तीनों गुणव्रतोका निरूपण करनेवाला यह सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१७॥

●

अठारहवाँ परिच्छेद

अरतीर्थकरं वन्दे अनन्तगुणसागरम् । नष्टकर्मारिसन्तान जिनेशमरिशान्तये ॥१
गुणव्रतानि व्याख्याय वक्ष्ये शिक्षाव्रतान्यहम् । उपकाराय भव्याना शिक्षासम्पादनानि च ॥२
देशावकाशिक पूर्वं तत समायिक भवेत् । सत्प्रोषधोपवासश्च वैयावृत्यं सुदानजम् ॥३
मर्यादीकृत्य देशस्य मध्ये तिष्ठन्ति धीधना । वहिर्न च ततो गीत जिनैर्देशावकाशिकम् ॥४
देशावकाशिकं लोके भवेदेच्छस्यं हि सन्नृणाम् । दिनादिसख्यया सर्वं दिक्संहारोघशान्तये ॥५
वनदेशनदीग्रामक्षेत्रक्रोशादियोजनै. । देशावकाशिकस्यैव जिनाः सीमामुशन्ति वै ॥६
दिनादिपक्षमासैक-ऋत्वयनाब्दगोचरा । कालावधिर्जिनैरुक्ता आद्यशिक्षाव्रतस्य भो ॥७
मर्यादापरतो न स्यात्पञ्चपापप्रवर्तनम् । मनोवाक्काययोगेन व्रताधिष्ठितचेतसा ॥८
तस्मान्महाव्रतायैव कल्पन्तेऽणुव्रतान्यपि । प्रमाणतो वहिर्भागे नृणा घातादिवर्जनात् ॥९
सन्तोषं स समाधत्ते पुण्य जीवदयादिकम् । आशालोभादिनाशं च धत्ते देशव्रताद् गृही ॥१०
चञ्चलत्व परित्यज्य कुरु देशानकाशिकम् । कालादिसख्यया मित्र ! सद्धर्माय व्रताय च ॥११

जो अनन्त गुणोके सागर हैं जो गुणस्वरूप हे जिनराज हैं और जिन्होने कर्मरूप शत्रुओकी सव सन्तान नाश कर दी है ऐसे श्री अरनाथ तीर्थंकरको मै कर्मरूप शत्रुओको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इस प्रकार गुणव्रतोका निरूपणकर अव मै भव्य जीवोका उपकार करनेके लिये शिक्षाको सपादन करनेवाले शिक्षाव्रतोको कहता हूँ ॥२॥ देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और दानके साथ होनेवाला वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहलाते ह ॥३॥ दशो दिशाओकी मर्यादा नियतकर जो वुद्धिमान उसके वाहर नही जाते भीतर ही रहते है उनके श्रीजिनेन्द्रदेव देशावकाशिक व्रत कहते हैं ॥४॥ इस ससारमे जो दिनोकी सख्या नियत कर उतने दिनोके लिये दिग्व्रतका उपसहार करना, दिशाओकी मर्यादा और घटा लेना यह सज्जनोका प्रशसनीय देशावकाशिक व्रत कहलाता है ॥५॥ श्री जिनेन्द्रदेव वन, घर, नदी, गाँव, खेत, कोस, योजन आदिको देशावकाशिककी सीमा वतलाते हैं अर्थात् देशावकाशिक व्रतमे इनकी सीमा नियत करनी चाहिये अथवा कोस और योजनोके द्वारा सीमा नियत करनी चाहिये ॥६॥ श्री जिनेन्द्रदेव इस देशावकाशिक व्रतकी दिन पक्ष महीना छह महीना एक वर्ष आदिको कालकी मर्यादा कहते है अर्थात् कालकी अवधि नियतकर देशावकाशिक व्रत धारण करना चाहिये ॥७॥ जिसने अपने हृदयमे देशावकाशिक व्रत धारण कर लिया है उसके मर्यादाके वाहर मन वचन कायसे पाँचो पापोकी प्रवृत्ति नही होती, इसलिये मर्यादाके वाहर समस्त जीवोकी हिंसाका त्याग हो जानेसे उसके अणुव्रत भी महाव्रतके लिये कल्पना किये जाते हैं। भावार्थ—प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे उसके महाव्रत हो तो सकते नही परन्तु मर्यादाके वाहर उससे कोई पाप भी नही होता इसलिये उसके अणुव्रत मर्यादाके वाहर महाव्रतके समान गिने जाते हैं ॥८-९॥ देशावकाशिक व्रतको धारण करनेवाले पुरुषके सन्तोष धारण होता है, जीवोकी दया करने रूप महा पुण्यकी प्राप्ति होती है और तृष्णा लोभ आदि विकार सव उसके नष्ट हो जाते है ॥१०॥ इसलिये हे मित्र !

त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् ये देशविरतिं नराः । कुर्वन्ति च भवेत्तेषां स्वर्गलक्ष्मीर्गृहाङ्गणे ॥१२
स्वामिनो मे व्यतीपातान् सन्दिशध्वं व्रतस्य वै । वक्ष्येऽहं शृणु ते वत्स ! व्रतपञ्चव्यतिक्रमान् ॥१३
प्रथमं प्रेषणं शब्दो भवेच्चानयनं ततः । रूपाभिव्यक्तिरप्येव पुद्गलक्षेप एव हि ॥१४
यो मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थित्वा ततो बहिः । अन्यस्य प्रेषणं दत्ते व्यतीचारं लभेत् सः ॥१५
संख्याद्देशाद् बहिर्दृष्ट्वा यो ना कर्मकरान् प्रति । खात्करणादिकं चक्रे कार्यार्थं सोऽपि दोषभाक् ॥१६
तद्देशाद्बहिरन्यस्मान्नराद्वस्त्वादिकं हि यः । आनापयति कार्यार्थं दोषमानयनं भवेत् ॥१७
स्थित्वा मर्याददेशे यो विधत्ते रूपसंज्ञया । कार्यं कर्मकराणां च व्यतीपातं भवेद् ध्रुवम् ॥१८
सेवकेभ्योऽपि यत्कार्यं लोष्टादिक्षेपसंज्ञया । कारापयति तस्यैव भवेद्दोषो व्रतस्य वै ॥१९
मर्यादादेशतो बाह्ये कारापयति यो जनः । प्रेषणादीन्न तस्य स्यादतीचारो मनागपि ॥२०
इति मत्वा कुरु त्वं भो देशावकाशिकं सदा । प्रयत्नेन व्रतायैव धर्मदं पापनाशनम् ॥२१
उक्तं शिक्षाव्रतं चाद्यं वक्ष्ये सामायिकं ततः । सागाराणां विशुद्धयर्थं व्रतायाशुभघातकम् ॥२२
नामसंस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालेषु श्रीजिनैः । उक्तं सामायिकं भावे षड्विधं धर्मशुक्लदम् ॥२३

धर्म धारण करनेके लिये और व्रतोंको पालन करनेके लिये चंचल परिणामोंको छोड़कर कालकी मर्यादाकर तथा घर आदिकी सीमा नियतकर तुझे यह देशावकाशिक व्रत अवश्य धारण करना चाहिये ॥११॥ जो मनुष्य समस्त अतिचारोंको छोडकर इस देशावकाशिक व्रतको धारण करते हैं उनके घरके आंगनमें स्वर्गकी लक्ष्मी आपने आप आ जाती है ॥१२॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर देशावकाशिक व्रतके अतिचारोंको निरूपण कीजिये । उत्तर—हे वत्स ! सुन, अब मैं इस व्रतके पाँचों अतिचारोंको कहता हूँ ॥१३॥ प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेपण, ये पाँच अतिचार देशावकाशिकके कहलाते हैं ॥१४॥ जो स्वयं मर्यादा किये हुए देशके भीतर रहकर भी मर्यादाके बाहर किसी दूसरेको भेजता है उसके प्रेषण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥१५॥ जो मनुष्य मर्यादाके भीतर रहता हुआ भी काम करनेवालोंको मर्यादाके बाहर देखकर उनको काम लगानेके लिए या भीतर बुलानेके लिए खकारकर या और किसी प्रकारके शब्दोंका इशारा करता है वह भी दोषी ही है अर्थात् उसके शब्द नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥१६॥ अपनी नियतकी हुई मर्यादाके बाहर रक्खे हुए पदार्थोंको अपने किसी कामके लिये किसी मनुष्यके द्वारा मँगाना आनयन नामका अतिचार है ॥१७॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके भीतर रहकर भी काम करनेवालोंको अपना रूप दिखाकर उनसे कोई काम लेना रूपाभिव्यक्ति नामका अतिचार है ॥१८॥ जो मर्यादाके भीतर रहकर भी मर्यादाके बाहर ईंट पत्थर ढेले आदि फेंककर उनके इशारेसे अपने सेवकोंसे वा अन्य किसीसे काम कराना पुद्गलक्षेपण नामका अतिचार है ॥१९॥ जो नियत की हुई मर्यादाके बाहर न तो किसीको भेजता है न बाहरसे कुछ मंगाता है और न किसी प्रकारका इशारा करता है उसके व्रतमें कोई दोष नहीं लग सकता ॥२०॥ यही समझकर हे भव्य ! व्रतोंको पालन करनेके लिये तू धर्मको बढानेवाले और पापोंको नाश करने वाले इस देशावकाशिक व्रतको बड़े प्रयत्नसे पालन कर ॥२१॥ इस प्रकार शिक्षाव्रत कह चुके । अब आगे व्रतोंके लिए और श्रावकोंकी विशुद्धता बढानेके लिए पापोंको नाश करनेवाले सामायिकको कहते हैं ॥२२॥ यह धर्मध्यान और शुक्लध्यानको प्रगट करनेवाला सामायिक श्री जिनेन्द्र-देवने नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह प्रकारका बतलाया है ॥२३॥ जो

शुभेतरविकल्पं य श्रुत्वा नाम कदम्बकम् । रागादिकं त्यजेद्धीमान् नाम सामायिकं श्रयेत् ॥२४
दृष्ट्वा शुभाशुभं रूपं चेतनेतरजं हि य । त्यजेद्रागादिकं स स्थापनासामायिकं भजेत् ॥२५
लोष्टहेमादिद्रव्येषु समचित्तं करोति यः । द्रव्यसामायिकं तस्य भवेन्नान्यस्य सर्वथा ॥२६
शुभेतरप्रदेश य. सुखदु'खादिसङ्कुलम् । प्राप्य रागादिकं हन्यात् क्षेत्रसामायिक भजेत् ॥२७
शीतोष्णादिषु कालेषु समतां ये वितन्वते । कालसामायिकं तेषा भवत्येव न संशयः ॥२८
त्यक्त्वा रागादिकं योऽरिमित्रादिषु करोति ना । समताधिष्ठित भावं भावसामायिक श्रयेत् ॥२९
स्वचित्तं यो विधत्ते हि सर्वसावद्यवर्जितम् । त्यक्त्वा रागादिसन्दोहं धर्मध्यानसमन्वितम् ॥३०
तस्य सामायिकं सारं भवेत्सर्वसुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकर कर्मकक्षदावानलोपमम् ॥३१
गह्वरादिवनाद्रौ वा शून्यागारे जिनालये । स्वगृहे तीव्रशीतादिवर्जिते चित्तसाम्यदे ॥३२
त्यक्तकर्कशशब्दस्त्रीपशुलोकादिके सुहृत् । एकान्ते ध्यानयोगे च दंशकीटाद्यगोचरे ॥३३
एकवस्त्र विना त्यक्त्वा सर्ववाह्यपरिग्रहान् । प्रोषधं चैकभक्त वा कृत्वा सामायिकं कुरु ॥३४
कृत्वा सुनिश्चलं देहं भ्रूविकारादिवर्जितम् । मुखादिसाम्यतापन्नं त्यक्तहस्तादिसंज्ञकम् ॥३५
उत्तराभिमुखं चैत्यगेहादौ चाह्निसंस्थित. । सामायिकं सुधीः स्वस्थो विदध्यात्करकुड्मलम् ॥३६
मन स्थिरं विधायोच्चै सङ्कल्पादिविवर्जितम् । गृहचिन्तादिसंत्यक्त ध्यानाध्ययनतत्परम् ॥३७

बुद्धिमान् शुभ और अशुभके भेदोको सुनकर राग-द्वेषका त्याग कर देता है उसके नाम सामायिक होता है ॥२४॥ जो शुभ और अशुभरूप चेतन तथा जड पदार्थोको देखकर राग-द्वेषादिकका त्याग करता है उसका वह स्थापना सामायिक कहलाता है ॥२५॥ जो सुवर्ण मिट्टी आदि पदार्थोंमे समान भाव रखता है उसके द्रव्य सामायिक होता है। यह द्रव्य सामायिक समतावालेके ही होता है अन्य किसीके नही ॥२६॥ जो किसी शुभ देशमे सुख पाकर और अशुभ देशमे दु ख पाकर राग-द्वेषका त्यागकर देता है वह क्षेत्र सामायिक कहलाता है ॥२७॥ जो शीतकालमे तथा उष्णकालमे समता धारण करते है किसी कालको भी सुख वा दु ख देनेवाला नही मानते उनके काल सामायिक होता है इसमे कोई सन्देह नही ॥२८॥ जो मित्र शत्रु आदिमे रागद्वेष छोडकर अपने हृदयको समस्त पापोसे रहित वना लेता है और धर्मध्यान धारण करता है उसके समस्त सुखोकी खानि, स्वर्गमोक्षको देनेवाला और कर्मरूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान सारभूत भावी सामायिक होता है ॥२९–३१॥ वह सामायिक किसी गुफामे, वनमे, पर्वतपर, सूने मकानमे जिनालयमे वा अपने घरमे जहाँ कि न तो अधिक शीत हो न अधिक उष्णता हो, जहाँपर चित्तमे समता वनी रहे, जहाँपर कठोर शव्द न होते हो, स्त्रियाँ न हो, पशु न हो, लोग न हो, मित्र न हो, जो ध्यानके योग्य एकान्त स्थान हो और जहाँपर डाँस मच्छर कीडे आदि न हो ऐसे स्थानपर एक धोतीके (एक वस्त्रके) विना अन्य सर्व वाह्य परिग्रहोका त्यागकर प्रोषधोपवास अथवा एकाशन करके अवश्य सामायिक करना चाहिये ॥३२–३४॥ उस समय शरीरको निश्चल रखना चाहिये, भौह चलाना मुँह मटकाना आदि सवका त्याग कर देना चाहिये, मुखपर समताभाव प्रगट होना चाहिये, हाथसे इशारा करना आदि सवका त्यागकर देना चाहिये ॥३५॥ बुद्धिमानोको जिनालय अथवा घरमे उत्तरकी ओर मुँहकरके हाथ जोडकर और स्वस्थचित्तसे स्थित होकर सामायिक करना चाहिये ॥३६॥ सकल्प-विकल्प आदिका त्यागकर मनको स्थिर रखना चाहिये, घरकी चिन्ता सव छोड देनी चाहिये, तथा ध्यान और अध्ययनमे तत्पर रहना चाहिये ॥३७॥

धर्मसंवेगवैराग्यविष्ठितं रागदूरगम् । सामायिकादिसूत्रस्य चार्थं सञ्चिन्तयेद् बुध ॥३८
त्यक्त्वा वाग्जालदु शब्दविकथादिकदम्बकम् । तीव्रादिध्वनिनिर्मुक्त त्यक्तहीनादिकं शुभम् ॥३९
स्वराक्षरपदार्थादिशुद्ध सामयिकस्य भो । मधुरादिस्वरेणैव पठ सूत्र स्वशुद्धये ॥४०
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं द्वयादिघटिकाङ्किताम् । मर्यादा च विधायादौ चैत्यभक्ति भजस्व भो ॥४१
नमस्कार कुरु त्वं भो प्रतिलिख्य धरा शुभाम् । वस्त्रेणान्येन वा धीर पञ्चाङ्गादिसमन्वितम् ॥४२
ऊर्ध्वीभूय पुनश्चैव कार्योत्सर्गं विशुद्धिदम् । नमस्कारनवोपेतं कुरु त्वं भव्य ! मुक्तये ॥४३
आदावन्ते बृहन्नाम नमस्कारस्य त्वं भज । एकैकं सत्प्रणाम च त्रितयावर्तसंयुतम् ॥४४
चतुर्विंशतिलोकेशस्तवनस्यापि भो बुधा । आदावन्ते नमस्कार भजावर्तत्रयान्वितम् ॥४५
एकस्मिन्नेव व्युत्सर्गे नमस्कारचतुष्टयम् । भवेयु द्वादशावार्ता सामायिकवशात्मजनाम् ॥४६
चैत्यादिस्तवन कृत्वा नु पञ्चपरमेष्ठिनाम् । कायोत्सर्गादिक सर्वं कुरु लोकोत्तमात्मनाम् ॥४७
एकचित्तेन मुक्त्यर्थं भव्य ! आदरसयुत । सुव्युत्सर्गादिकं सर्वं कुर्यात्सामायिकस्य वै ॥४८
विचिन्तय त्वमनुप्रेक्षा अनित्याशरणादिका । वैराग्यादिविवृद्धयर्थ धर्मसंवेगकारकाः ॥४९
देहसंसारभोगेषु वैराग्यं भावय स्फुटम् । अशुच्यातिमहादु खश्वभ्रमार्गप्रदेषु भो ॥५०
षड्द्रव्यसप्ततत्त्वेषु सम्यक्त्वाद्याकरेषु च । भावना कुरु भो भव्य ! साररत्नत्रयादिषु ॥५१

उस समय बुद्धिमानोको अपने हृदयमे धर्म सवेग और वैराग्य धारण करना चाहिये, रागद्वेष छोड देना चाहिये और सामायिक पाठके अर्थका चिन्तवन करना चाहिये ॥३८॥

वाग्जाल, कठोर शब्द, विकथा आदिका त्याग कर देना चाहिये। सामायिक पाठको मधुर स्वरसे पढना चाहिये, स्वर अक्षर पदार्थ आदिका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये, न जोरसे न धीरे पढना चाहिये, पाठके अक्षर न कम हो न अधिक हो। अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये शुभ और शुद्ध पाठ पढना चाहिये ॥३९–४०॥ सबसे पहिले ईर्यापथ शुद्धि करनी चाहिये और फिर दो घडीका नियम लेकर चैत्य भक्तिका पाठ पढना चाहिये ॥४१॥ फिर वस्त्रसे वा अन्य किसी पीछी आदि साधनसे पृथ्वीको शुद्ध कर पचाग वा अष्टाग नमस्कार करना चाहिये ॥४२॥ फिर खडे होकर आत्माको शुद्ध करनेवाला कायोत्सर्ग करना चाहिए, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नौवार नमस्कार मन्त्र पढना चाहिये ॥४३॥ आदि और अन्तमे बृहत् नमस्कार करना चाहिये अर्थात् एक एक प्रणाम करना चाहिये और तीन तीन आवर्त करना चाहिये ॥४४॥ तदनन्तर बुद्धिमानोको चौबीस तीर्थंकरोकी स्तुति करनी चाहिये तथा इसके आदि अन्तमे भी एक-एक नमस्कार और तीन-तीन आवर्त करने चाहिये ॥४५॥ सामायिक करनेवालोको एक-एक व्युत्सर्गमे (कायोत्सर्गमे जो कि आदि अन्तमे किया जाता है) चार-चार नमस्कार और बारह-बारह आवर्त करने पड़ते है ॥४६॥ फिर चैत्यस्तवन कर पाँचो परमेष्ठियोका स्तवन करना चाहिये। और फिर कायोत्सर्गादि समस्त क्रियाएं कर लोकोत्तम पाँचो परमेष्ठियोका स्तवन करना चाहिये ॥४७॥ हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सामायिक करते समय चित्तको एकाग्रकर आदरपूर्वक व्युत्सर्ग आदि सब क्रियाएँ करनी चाहिये ॥४८॥ वैराग्य परिणामोको बढ़ानेके लिये, आत्माका कल्याण करनेके लिये, और सवेग धारण करनेके लिये अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन करना चाहिये ॥४९॥ यह शरीर अपवित्र है, ससार अनेक महा दु खोसे परिपूर्ण है और भोग नरकोके दु:ख देनेवाले है इसलिए शरीर ससार और भोगोसे सदा विरक्त रहना चाहिये ॥५०॥ छह द्रव्य और सातो तत्त्व

आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयात्मकम् । धर्मध्यानं चतुर्भेदं भज स्वर्गगृहाङ्गणम् ॥५२
येनाक्षाणि विलीयन्ते मनो भवति निश्चलम् । तदेव चिन्तयेद्धीमान् स्थित सामायिके समे ॥५३
अतिशीतोष्णदंसादिद्वाविंशति परीषहा । प्रतिज्ञातात्परै धीरै सोढव्या भीरुभीतिदा ॥५४
उपसर्गा हि सोढव्यास्तिर्यग्देवनृजा दुधै । अचेतनादिजाताश्च दु खदा. समसंयुतै ॥५५
अनिष्टेष्टप्रसयोगे वियोगादिरुगादिजम् । तिर्यग्योनिकरं चार्तं निदानं भव्य ! त्वं त्यज ॥५६
हिंसानन्दानृतस्तेयार्थसरक्षणसम्भवम् । रौद्राख्यं श्वभ्रदं ध्यान त्यजेत् सामायिके व्रती ॥५७
महापापकरं निन्द्यं दुर्ध्यानद्वयमञ्जसा, घोरोपसर्गसञ्जाते त्याज्यं सामायिकान्वितै ॥५८
धर्मध्यानादिसंयोगैस्तत्त्वचिन्तावलम्बनैः । सामायिकादिकालस्य कुरु वृद्धि व्रताय भो ॥५९
सामायिके न सन्त्येव बाह्येतरपरिग्रहाः । आरम्भार्थेन्द्रियाद्यर्था कषायाश्च तदा नृणाम् ॥६०
त्रयोदशविधं वृत्तं जायते गृहिणां ध्रुवम् । सामायिकेन हिंसादिसर्वसावद्यवर्जनात् ॥६१
गृही सामायिकस्थो हि यतिभावं प्रपद्यते । सङ्गादित्यजनान्नूनं वस्त्रयुक्तो मुनिर्यथा ॥६२

सम्यग्दर्शनकी खानि हैं इसलिये हे भव्य ! छहो द्रव्योमे, सातो तत्त्वोमे और सारभूत रत्नत्रयमे सामायिक करते समय सदा विशुद्ध भावनाएँ रखनी चाहिये ॥५१॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय ये चारो ही धर्मध्यान स्वर्गरूपी घरके आँगन है इसलिए सामायिकमे इन चारो धर्मध्यानोको अवश्य धारण करना चाहिये ॥५२॥ सामायिक करते समय बुद्धिमानोको ऐसा ही चिन्तवन करना चाहिये जिससे इन्द्रियाँ सब वशमे हो जायँ और मन निश्चल हो जाय ॥५३॥ सामायिक करनेवाले धीर वीर पुरुषोको प्रतिज्ञापूर्वक कातर लोगोको भय उत्पन्न करनेवाली शीत, उष्ण, दशमसक आदि बाईसो परीषह सहन करनी चाहिये ॥५४॥ समताभावोको धारण करनेवाले बुद्धिमानोको तिर्यंच, देव मनुष्य ओर अचेतनोके किये हुए तथा घोर दु ख देनेवाले उपसर्गोको भी सहन करना चाहिये ॥५५॥ अनिष्ट सयोग, इष्ट वियोग और रोगसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यान तथा निदानका भी त्याग कर देना चाहिये, क्योकि यह चारो प्रकारका आर्तध्यान तिर्यंच योनिका कारण है ॥५६॥ सामायिक करनेवाले पुरुषको हिंसानन्द, स्तेयानन्द, अनृतानन्द और विषय सरक्षणानन्द (हिंसामे आनन्द मानना, झूठ बोलनेमे आनन्द मानना, चोरीमे आनन्द मानना और परिग्रहोंकी रक्षा करनेमे आनन्द मानना) इन चारो प्रकारके रौद्रध्यानोका त्याग कर देना चाहिये, क्योकि ये चारो प्रकारके रौद्रध्यान नरकमे पटकनेववाले है ॥५७॥ आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनो प्रकारके ध्यान अपध्यान है, महा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और निन्द्य है इसलिये सामायिक करनेवाले पुरुषोको घोर उपसर्ग होनेपर भी इनसे बचते रहना चाहिए (इनका त्यागकर देना चाहिए) ॥५८॥ व्रतोको निर्दोष पालन करनेके लिये सामायिक करनेवालोको तत्त्वोके चिन्तवनका अवलम्बन लेकर धर्मध्यान आदिके द्वारा सामायिकके समयकी वृद्धि करनी चाहिए, अर्थात् धर्मध्यान धारणकर अधिक समय तक सामायिक करनेका अभ्यास करना चाहिए ॥५९॥ सामायिक करते समय बाह्य अन्तरग परिग्रह नही होते और न आरम्भ इन्द्रियोके विषय ही होते हैं तथा न कषाय ही होते हैं, अतएव सामायिकमे हिसा आदि समस्त पापोका त्याग हो जानेके कारण उस समय गृहस्थोके तेरह प्रकारका चारित्र हो जाता है ॥६०–६१॥ सामायिक करता हुआ गृहस्थ समस्त परिग्रहोका त्याग कर देनेके कारण वस्त्रसहित मुनिके समान साधु अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ॥६२॥ यह गृहस्थ सामायिकके बलसे पहिलेके इकट्ठे किये हुए पाप-

नाश पूर्वाजितानां स विधत्ते पापकर्मणाम् । नूतनानि न गृह्णाति सामायिकबलाद् गृही ॥६३
महापुण्य समाधत्ते नाकराज्यादिकारणम् । समचित्तवशाद्धीमान् सामायिकसमन्वित ॥६४
सामायिक विधत्ते यो भव्य शुभव्रतादिभाक् । याति निर्वाणमेकं स प्राप्य षोडशम दिवम् ॥६५
मुनि सामायिकेनैवभव्य शास्त्रव्रतान्वित । अत्यन्तसमभावेन याति ग्रैवेयकेऽग्रिमे ॥६६
सामायिकसमो धर्मो न स्याद् सद्गृहिणां क्वचित् । सर्वसङ्गपरित्यागात्सकलाशुभवर्जनात् ॥६७
इति मत्वा बुधै पूर्वं प्रातरुत्थाय प्रत्यहम् । सामायिक सुसम्पूर्ण कर्तव्य धर्महेतवे ॥६८
पश्चाद् गृहादिकर्माणि कर्तव्यानि यतो जनै । धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्म प्रकीर्तित ॥६९
मध्याह्नेऽपि तथा दक्षै कृत्वा सामायिकं शुभम् । कर्तव्य भोजन पश्चाद्धर्मसंवेगकारणम् ॥७०
प्रविधायापराह्णेऽपि सारं सामायिकादिकम् । कुर्वीध्व शयनं पश्चाद्भो बुधा धर्मसिद्धये ॥७१
दिने दिने सदा तद्धि कार्यं वारत्रयं नरै । प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं महारोगादिकेऽथवा ॥७२
कालत्रयेषु कुर्वन्ति धर्मध्यानादिकं बुधा । हत्वा हिंसादिज पाप पुण्यं समर्जयन्ति ते ॥७३
कुबह्वारम्भद्रव्यादिभृत सामायिके न भो । याति ससारतीरं च गृही सद्यानपात्रवत् ॥७४
सामायिकादि सत्सूत्र पाठीकर्तुं क्षमा न ये । शतपञ्चाशन्नमस्कारं ते जपन्त्वेकचित्तत ॥७५
सामायिक न कुर्वन्ति युक्ता गेहरथेऽधमा । पापचिन्तान्विता नित्यं वृषभास्ते न संशय ॥७६

कर्मोका नाश करता है और नये कर्मोको ग्रहण नही करता है ॥६३॥ सामायिक करनेवाला बुद्धिमान चित्तमे समता धारण करनेके कारण स्वर्ग राज्यका कारण ऐसा महापुण्य उपार्जन करता है ॥६४॥ जो भव्य जीव शुभ व्रतादिको करता है वह सोलहवे स्वर्गकी सम्पदा पाकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥६५॥ शास्त्रोको जाननेवाला और व्रतोको पालन करनेवाला अभव्य मुनि भी सामायिकके कारण अत्यन्त समताभाव धारण करता है इसलिए वह अग्रिम (उत्तम) ग्रैवेयकमे जाकर जन्म लेता है ॥६६॥ सामायिकमे समस्त परिग्रहोका त्याग हो जाता है और समस्त अशुभ कार्य छूट जाते है अत गृहस्थोंके लिए सामायिकके समान अन्य कोई भी धर्म किसी तरह नही हो सकता ॥६७॥ यही समझकर बुद्धिमानोको प्रतिदिन सवेरे ही उठकर धर्म धारण करनेके लिए सबसे पहिले पूर्णरीतिसे सामायिक करना चाहिए ॥६८॥ तदनन्तर मनुष्योंको घरके काम करने चाहिए क्योकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो पदार्थोमे सबसे पहिले धर्म पुरुषार्थ ही कहा है ॥६९॥ इसी प्रकार चतुर पुरुषोको दोपहरके समय भी पहिले धर्म और सवेगका कारण ऐसा शुभ सामायिक करना चाहिए और फिर भोजन करना चाहिए ॥७०॥ तथा बुद्धिमानोको धर्मकी सिद्धिके लिये शामके समयमे भी पहिले सारभूत सामायिक करना चाहिए और फिर शयन करना (सोना) चाहिए ॥७१॥ इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन तीन तीन वार सामायिक करना चाहिए और प्राण नाश होनेपर भी तथा महा रोगादिक होनेपर भी इस सामायिकके नियमका भग नही करना चाहिए ॥७२॥ जो बुद्धिमान सवेरे दोपहर शाम तीनो समय धर्मध्यान करते है, तथा सामायिक वा जप आदि करते हैं वे हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोको नष्टकर महापुण्य उपार्जन करते हैं ॥७३॥ सामायिकमे बहुतसे आरम्भ और बहुतसे परिग्रहका भार भरा नही रहता, इसलिए सामायिक करनेवाले गृहस्थ हलके जहाजके समान शीघ्र ही ससाररूपी समुद्रके पार हो जाते हैं ॥७४॥ जो सामायिकके सूत्रपाठोका पाठ नही कर सकते उन्हे एकाग्रचित्त होकर एकसी पचास वार पच नमस्कारमन्त्रका जाप करना चाहिये ॥७५॥ जो गृहस्थाश्रमरूपी रथमे लगे रहनेपर भी

ये सत्पञ्चनमस्काराम्न जपन्ति दुराशया. । वदनं विलवत्तेषा महापापाकरं भवेत् ॥७७
सामायिकमहामन्त्रस्तवनादिकगोचरम् । धर्मध्यानं न कुर्वन्ति श्वभ्रे तेऽघात्पतन्त्यहो ॥७८
इति मत्वा जप त्वं च मन्त्रराजं पदे पदे । सुखे दु खे भये मार्गे व्यधौ च शयनासने ॥७९
यथाप्यणोः परं नाल्पं न महद्गगनात्परम् । तथा पञ्चनमस्कारमन्त्रान्मन्त्रो न विद्यते ॥८०
शाकिनीगृहदुर्व्याधिचौरवन्धनृपादिजम् । पुंसा नश्याद् भयं सर्वं मन्त्रराजप्रतापत ॥८१
सप्तव्यसनसंसक्ता महापापान्विता नराः । मरणे सर्वमन्त्रेश प्राप्य स्वर्गे गता शुभात् ॥८२
सल्लक्ष्मीर्गृहदासीव वश याति विवेकिनाम् । मन्त्रराजप्रसादेन दारिद्रयं च पलायते ॥८३
चिन्तामणिनिधिकल्पद्रुमकामदुधादय' । मन्त्रराजस्य सर्वेऽपि मन्ये भृत्याश्चिरन्तना ॥८४
इन्द्रतीर्थेशचक्र्यादिभुवा लक्ष्मीं भजन्त्यहो । सार पञ्चगुरूणा सद्ध्यानादेकाग्रतो नराः ॥८५
किमत्र बहुनोक्तेन सुखं लोकत्रयोद्भवम् । प्राप्य मुक्ति प्रयान्त्येव बुधा मन्त्रप्रभावत ॥८६
अहोरात्र्यादिजातस्य पापस्य क्षयकारणम् । प्रतिक्रमद्वयं कार्यमुभयो कालयोः बुधै ॥८७
धर्मध्यानादिसिद्ध्यर्थं सत्स्वाध्यायचतुष्टयम् । यथाशक्ति हि कर्तव्यं नित्यमेव नरोत्तमै ॥८८
योगद्वयमनुष्ठेयमुत्कृष्टश्रावके सदा । रात्रौ धर्माय चाहिंसाव्रतरक्षादिहेतवे ॥८९

सामायिक नही करते, सदा पापकार्योकी चिन्तामे ही लगे रहते है वे नीच बैल हैं, इसमे कोई सन्देह नही ॥७६॥ जो अज्ञानी इस श्रेष्ठ पच नमस्कार मन्त्रका जाप नही करते उनका मुँह महा-पाप करनेवाले विलके समान समझना चाहिए ॥७७॥ जो मनुष्य सायायिक, महामन्त्र, स्तवन आदिसे भरपूर धर्मध्यानको नही करते हैं वे पापके कारण नरकमे ही पडते हैं ॥७८॥ यही समझ-कर तू सुखमे, दु खमे, भयमे, मार्गमे सोनेमे, बैठनेमे सर्व स्थानोमे पद पदपर इस मन्त्रराज (पच नमस्कार मन्त्रका) का जप कर ॥७९॥ जिस प्रकार परमाणुसे कोई छोटा नही है और आकाशसे अन्य कोई बडा नही है उसी प्रकार पचनमस्कारमन्त्रसे बढकर और कोई मन्त्र इस ससारमे नही है ॥८०॥ इस मन्त्रराजके प्रतापसे शकिनी, भूत, पिशाच, रोग, चोर, राज्यबन्धन आदि किसी प्रकारका भय मनुष्योको नही होता हैं ॥८१॥ जो जीव सातो व्यसनोमे आसक्त थे और महा पापी थे वे भी मरनेके समय सब मन्त्रोके स्वामी इस पच नमस्कार मन्त्रको जपकर शुभ कर्मके उदयसे स्वर्गमे जा पहुँचे हे ॥८२॥ इस मन्त्रराजके प्रतापसे श्रेष्ठ लक्ष्मी भी विवेकी पुरुषोके घरकी दासीके समान वश हो जाती है और दरिद्रता सब नष्ट हो जाती है ॥८३॥ मुझे तो ऐसा निश्चय है कि चिन्तामणि रत्न, निधियाँ, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि सब इस पच नमस्कार मन्त्रके सदा कालसे चले आये सेवक ही हैं ॥८४॥ जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे सारभूत पच परमेष्ठियोका ध्यान करते हैं वे इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरकी सम्पदाको अवश्य प्राप्त होते है ॥८५॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिए कि मन्त्रके प्रभावसे तीनो लोकोमे उत्पन्न होनेवाले जितने सुख हैं उन सबको पाकर बुद्धिमान लोग मोक्षमे ही विराजमान होते हैं ॥८६॥ दिन रातमे जो पाप उत्पन्न होते हैं उन सबके क्षय होनेका कारण प्रतिक्रमण है इसलिये बुद्धिमानोको शाम सवेरे दोनो समय प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये ॥८७॥

उत्तम गृहस्थोको धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन चारो[1] प्रकार-

---

१ चारो प्रकारके स्वाध्यायसे वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायमे अभिप्राय जान पडता है क्योकि धर्मोपदेश साधारण गृहस्थोका मुख्य कार्य नही है ।

इत्याद्यावश्यकं येऽपि प्रकुर्वन्ति बुधोत्तमा । यान्ति स्वर्गं क्रमान्मोक्षं चानगारा इवाशु ते ॥९०
सर्वमावश्यकं नित्यं क्षुल्लकव्रतधारिभि । अनुष्ठेयं न मोक्तव्य रोगक्लेशादिके क्वचित् ॥९१
दन्तहीनो गजो व्याघ्रो दंष्ट्राहीन क्षमो न च । तथा नावश्यकेनापि हीन कर्मनिपातने ॥९२
वटवीजं यथाकाले चोप्त भूरिफलप्रदम् । भवेदावश्यकं तद्वत्कृतं कालान्वितात्मनाम् ॥९३
वीजमुप्तं यथाऽकाले न स्यात् सफलदायकम् । तथानावश्यकं पुसामलं कर्मनिपातने ॥९४
आदौ मध्येऽवसाने च सद्घटिकाचतुष्टयम् । तद्दिनस्य समादाय मित्र ! सामायिकं भज ॥९५
अतिक्रमो न कर्तव्यो दक्षैरावश्यकादिषु । व्यतिक्रमोऽप्यतीचारोऽप्यनाचारश्च दुस्सह ॥९६
मनसा शुद्धिहीनेन भवेच्चातिक्रमोऽङ्गिनाम् । विषयादिप्रसक्तेन श्रयेज्जीवो व्यतिक्रमम् ॥९७
आवश्यके व्यतीचार स्यादालस प्रमादत । व्रतस्य भङ्गत पुंसामनाचारो जडात्मनाम् ॥९८
इमे दोषा वुधैस्त्याज्या आवश्यकव्रतादिषु । सर्वव्रतविशुद्ध्यर्थं प्रतिज्ञातत्परै सदा ॥९९
सर्वातिचारनिर्मुक्त शुद्ध सामायिक हि ये । भजन्ति जायते तेषामेनस्त्यक्त महावृषम् ॥१००
भट्टारक ! व्यतीपातान् कथय त्वं समादरात् । शृणु भो ते व्यतीपातान् कथयामि विरूपकान् ॥१०१
त्रिधा दु प्रणिधानानि वाक्कायमनसा वुध । अनादरोऽस्मरणं च त्यजातीचारपञ्चकम् ॥१०२
सामायिकसमापन्नो वक्ति दुर्वचनादिकम् । त्यक्त्वा मौनं भजेत्सोऽपि व्यतीपात कुदु खदम् ॥१०३

का स्वाध्याय करना चाहिए ॥८८॥ उत्कृष्ट श्रावकोको रात्रिके समय धर्म पालन करनेके लिये और अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षा करनेके लिये प्रतिदिन दो योग धारण करने चाहिये अर्थात् सुवह शाम दोनो समय ध्यान करना चाहिए ॥८९॥ जो उत्तम वुद्धिमान् ऊपर लिखे आवश्यकोको प्रतिदिन करते हैं वे मुनियोके समान शुभ स्वर्गमे जाते हैं और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥९०॥ क्षुल्लक व्रतोको (एक देश व्रतोको) धारण करनेवाले अणुव्रतियोको प्रतिदिन समस्त आवश्यक करने चाहिए, तथा रोग क्लेश आदि आ जानेपर भी कभी नही छोडने चाहिए ॥९१॥ जिस प्रकार दात-रहित हाथी और दाढ-रहित वाघ अपने काम करनेमे समर्थ नही होता, उसी प्रकार आवश्यको-को न करनेवाला मनुष्य अपने कर्मोको नाश नही कर सकता ॥९२॥ जिस प्रकार समय पर वोया हुआ वटका वीज वहुतसे फलोको फलता है उसी प्रकार अपने-अपने समय पर किये हुए आवश्यक भी वहुतसे फलोको फलते हैं ॥९३॥ जिस प्रकार असमयमे वोये हुए वटके वीज पर उत्तम फल नही लगते, उसी प्रकार आवश्यक भी यदि समय पर नही किये जायँ तो उनमे कर्म नष्ट नही हो सकते ॥९४॥ इसलिये हे मित्र ! सवेरे, दोपहर और शामको तीनो समय चार-चार घड़ी पर्यन्त प्रतिदिन सामायिक करना चाहिये ॥९५॥ चतुर पुरुषोको इन आवश्यक कार्योमे अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और असह्य अनाचार कभी नही करना चाहिये ॥९६॥ अपने मनसे शुद्धताकी कमी करना अतिक्रम कहलाता है और विषयोमे आसक्त होना गृहस्थोके लिये व्यतिक्रम कहलाता है ॥९७॥ प्रमादके कारण आवश्यकोमे वा चारित्रमे आलस करना अतिचार है और अत्यन्त मूर्ख मनुष्य जो व्रतोका भँग कर देते हैं उसे अनाचार कहते है ॥९८॥ अपनी प्रतिज्ञामे तत्पर रहनेवाले वुद्धिमानो-को समस्त व्रतोको विशुद्ध रखनेके लिये आवश्यकोमे तथा व्रतादिकोमे अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि दोषोका त्याग कर देना चाहिए ॥९९॥ जो समस्त अतिचारोको छोड़कर शुद्ध सामायिक करते हैं उनको समस्त पापोसे रहित महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥१००॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर मेरे लिए उन अतिचारोका निरूपण कीजिए ? उत्तर—हे वत्स ! मैं उन दु ख देनेवाले अतिचारोको कहता हूँ, तू चित्त लगाकर सुन ॥१०१॥ वचनदु प्रणिधान, कायदु प्रणिधान,

कायचेष्टा विधत्ते यस्त्यक्त्वा स्थानासनादिकम् । हस्तादिसंज्ञया तस्य भवद्दोषो व्रतस्य वै ॥१०४
कुर्वन्ति चित्तसङ्कल्पमशुभं वधबन्धजम् । समभाव परित्यज्य व्यतिचार व्रजन्ति ते ॥१०५
आदरेण विना योऽधीर्विधत्ते समय शुभम् । प्रमादेन च शाठ्येन श्रयेद्दोषं व्रतस्य स ॥१०६
नित्यकर्माणि एकाग्रचेतसा य करोति न । सामायिकादिजातानि तस्य दोष लभेत स ॥१०७
क्रियाकर्म विधत्ते यस्त्यक्त्वातीचारपञ्चकान् । किल द्वात्रिंशद्दोषाश्च लभते सोऽव्ययं पदम् ॥१०८
गणिस्तान् मम दोषाश्च स्वपुण्याय प्ररूपय । वक्ष्येऽहं शृणु भो धीमन् कृत्वातिनिश्चल मन ॥१०९
अनादृतश्चस्तब्ध स्यात्प्रविष्ट परिपीडित । दोलायितोऽङ्कुशितोऽपि भवेत्कच्छपरिङ्गित ॥११०
मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव हि । भयो विभ्यद्धृवेद्दद्धिगौरवो गौरवस्तथा ॥१११
स्तनित प्रतिनीकश्च प्रदुष्टस्तर्जितस्तथा । शब्दश्च हेलितश्च त्रिवलितश्चैव कुञ्चित ॥११२
दृष्टोऽदृष्टो भवेत्सङ्घकरमोचन एव हि । आलब्ध स्यादनालब्धो हीन उत्तरचूलिक ॥११३
मूकश्च दर्दुरो दोषो भवेत्सुललित सुहृत् । द्वात्रिंशत्प्रमितान् दोषांस्त्यक्त्वा सामायिकं भज ॥११४
क्रियते यत्क्रियाकर्म प्रादरेण विना नरै । अल्पभावयुतैस्तद्धि अनादृत इवोच्यते ॥११५
विद्यादिगर्वितो योऽधीरुद्धताशयसंयुत । क्रियाकर्म विधत्ते य स्तब्धदोष श्रयेद् ध्रुवम् ॥११६
अत्यासन्नो हि यो भूत्वा सत्पञ्चपरमेष्ठिनाम् । कुर्यात्सामायिकं दोषं प्रविष्टाख्य लभेत स ॥११७

मनोदु प्रणिधान, अनादर और अस्मरण सामायिकके इन पाँच अतिचारोको हे ज्ञानिन्, तू त्याग कर ॥१०२॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने मौनव्रतको छोडकर वुरे वचन (गाली, गलौच वा हिंसा आदि करनेवाले) कहता है उसके दु ख देनेवाला वचन दु प्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०३॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने स्थान वा आसनको छोड़कर हाथ वा अन्य किसीके इशारेसे शरीरकी चेष्टा करते हैं उनके व्रतमे कायदु प्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०४॥ जो सामायिक करते हुए भी समताभावको छोडकर अपने मनमे वध वन्ध आदिसे उत्पन्न होनेवाला अशुभ सकल्प-विकल्प करते हैं उनके मनोदु प्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०५॥ जो मूर्ख अत्यन्त प्रमादके कारण या शठतासे विना ही आदरके शुभ सामायिकको करता है उसके अनादर नामका अतिचार लगता है ॥१०६॥ जो सामायिकमे होनेवाले नित्य कर्मोको चचल हृदयसे करता है (चचल हृदयके कारण कभी किसी क्रियाको व कभी किसी पाठको भूल जाता है) उसके अस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥१०७॥ जो अपने समय पर पाँचो अतिचारोको छोडकर और वत्तीस दोषोको टालकर सामायिक करता है वह अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त करता है ॥१०८॥ प्रश्न—हे प्रभो ! पुण्य उपार्जन करनेके लिये उन दोषोको कृपाकर कहिये ? उत्तर—हे वुद्धिमान् ! मन लगाकर सुन, अव मैं उन दोषोको कहता हूँ ॥१०९॥ अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यता, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तनित प्रतिनीक, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हेलित, त्रिवलित, कुचित, दृष्ट, अदृष्ट, सघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दुर्दर, सुललित इन वत्तीस दोषोको छोडकर हे मित्र ! तू सामायिक कर ॥११०–११४॥ जो मनुष्य सामायिककी क्रियाएँ विना आदरके अपने थोडेसे भाव लगाकर करते हैं उनके अनादर (अनादृत) नामका दोष लगता है ॥११५॥ जो मूर्ख विद्या आदिके अहकारसे हृदयमे उद्धतता सामायिककी क्रियाओको करता है उसके स्तब्ध नामका दोष अवश्य लगता है ॥११६॥ जो परमेष्ठियोके अत्यन्त समीप वैठकर सामायिक करता है उसके प्रविष्ट नामका दोष लगता है ॥११७॥ जो अपने दोनो हाथोमे

दोर्भ्यां जानुप्रदेशं यः संस्पृश्य परिपीड्य च। करोति वन्दनां तस्य दोषः स्यात्परिपीडितः ॥११८
आत्मानं च चलं कृत्वा संशयित्वा तनोति वा। तद्दोलामिव यः सोऽधीर्भजेद्दोलायितामिषम् ॥११९
कराङ्गुष्ठं ललाटेऽयों विधायाधीर्यथाङ्कुशम्। करोति वन्दनां सोऽपि श्रयेद्दोषमिहाङ्कुशम् ॥१२०
कटिभागेन यः कृत्वा कच्छपस्येव चेष्टितम्। तद्विधत्ते स आप्नोति दोषं कच्छपरिङ्गितम् ॥१२१
मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं यो विधाय वा। पार्श्वद्वयेन तां दध्यात् मत्स्योद्वर्तं लभेत सः ॥१२२
सूर्यादीनां हि यो दुष्टो भूत्वा तां मनसा भजेत्। क्लेशयुक्तेन वा तस्य मनोदुष्टोऽभिजायते ॥१२३
हस्ताभ्यां स्वशरीरं यो बद्ध्वा वापि प्रपीड्य तम्। जानुद्वयं विधत्ते स वेदिकाबद्धदोषभाक् ॥१२४
करोति वन्दनां योऽपि मरणादिभयान्वितः। सप्तभयेन वा त्रस्तो भयदोषं लभेत हि ॥१२५
गुर्वादिभ्यो बिभीतो यः क्रियाकर्म करोति वै। अज्ञातपरमार्थोऽपि बिभ्यद्दोषं लभेत सः ॥१२६
चातुर्वर्ण्यमहासङ्घाद्भक्त्यादिगौरवेच्छया। यो बुधो वन्दनां दध्याल्लभते ऋद्धिगौरवम् ॥१२७
प्रकटीकृत्य माहात्म्यमात्मन आसनादिभिः। सुखार्थं चाविधत्ते तद् व्रजेद्दोषं स गौरवम् ॥१२८
गुर्वादिभ्यो प्रच्छन्ना यो वन्दनां कुरुते बुधः। परेषां चोरयंस्तश्च स्तनितं दोषमाश्रयेत् ॥१२९
भूत्वातिप्रतिकूलो यो देवगुर्वादियोगिनाम्। वन्दनां कुरुते दोषं प्रत्यनीकं लभेत ना ॥१३०
अन्यैः कृत्वापि प्रद्वेषं वैरं वा कलहादिकम्। प्रदुष्टं यो भजेच्चक्रे क्षन्तव्यं सो विधाय तत् ॥१३१

—

जंघाओंका स्पर्श करता हुआ अथवा दबाता हुआ सामायिक करता है अथवा वन्दना करता है उसके परिपीडित नामका दोष होता है ॥११८॥ जो अपने शरीरको झूलेके समान हिलाता हुआ सामायिक करता है अथवा जो अपने आत्माको चंचल रखता है, जिसके संदेह बना रहता है—सामायिक वन्दना वा उसके फलमें जो संदेह रखता है उसके दोलायित नामका दोष लगता है ॥११९॥ जो अज्ञानी अंकुशके समान अपने अंगूठेको ललाट वा मस्तक पर रखकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके अंकुशित नामका दोष लगता है ॥१२०॥ जो कटिभागमें (कमरसे) कछुएके समान कुछ आगेको सरका कर वन्दना करता है उसके कच्छपरिंगित नामका दोष लगता है ॥१२१॥ जो मच्छके समान एक ही बगलसे अथवा दोनों बगलोंसे वन्दना करता है उसके मत्स्योद्वर्त नामका दोष लगता है ॥१२२॥ जो दुष्ट आचार्य वा गुरुके ऊपर खेद प्रकाशित करता हुआ सामायिक वा वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नामका दोष लगता है ॥१२३॥ जो दोनों हाथोंसे अपने शरीरको वा दोनों जंघाओंको बांधकर, दबाकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके वेदिकाबद्ध नामका दोष लगता है ॥१२४॥ जो मरण भय आदि सातों भयोंसे डरकर सामायिक वा वन्दना करता है उसे भय नामका दोष लगता है ॥१२५॥ जो परमार्थको न जानकर केवल गुरु आदिके डरसे ही सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके बिभ्यत् नामका दोष लगता है ॥१२६॥ चारों प्रकारका महासंघ मेरी भक्ति करेगा, मेरा गौरव करेगा यही समझकर जो अज्ञानी सामायिक वा वन्दना करता है उसके ऋद्धिगौरव नामक दोष लगता है ॥१२७॥ जो अपने सुखके लिये आसन आदिके द्वारा अपने माहात्म्यको प्रगटकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके गौरव नामका दोष लगता है ॥१२८॥ जो गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सबसे छिपकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके स्तनित नामका दोष लगता है ॥१२९॥ जो देव, गुरु वा योगियोंके प्रतिकूल होकर उनकी आज्ञाको न मानकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके प्रत्यनीक नामका दोष लगता है ॥१३०॥ जो दूसरों-के साथ द्वेष वैर वा कलह करके भी मन वचन कायसे न तो दूसरोंसे क्षमा कराता है न क्षमा करता

परेषां यो भयं कुर्वन्नाचार्यैर्वातितर्जित । नित्यकर्म विधत्ते स तर्जितं दोषमाप्नुयात् ॥१३२
यो मौनं हि परित्यज्य वक्ति सामयिके स्थित । वचनं जायते तस्य शब्ददोषोऽशुभप्रद ॥१३३
कृत्वा परिभवं योऽपि नाचार्यादिसुयोगिनाम् । वचनेन विधत्ते तद्दोष हेलितमाप्नुयात् ॥१३४
शरीरस्य त्रिभङ्गं यो नाभे रेखा त्रय हि वा । कृत्वा करोति सत्कर्म श्रयेत्त्रिवलितं स ना ॥१३५

य: कुर्वन् स्वशिरस्पर्शं हस्ताभ्या विदधाति तत् ।
भूत्वा सङ्कुचितो वा हि स दोष कुञ्चितं भजेत् ॥१३६

आचार्यादिगणैर्दृष्ट सत्कर्म कुरुते हि य । अन्यथा स्वेच्छया दृष्ट श्रयेद्वा दिग्विलोकनात् ॥१३७
आचार्यादिषु प्रच्छन्नं काय वाऽप्रतिलेख्य य: । अनेकाग्रो विधत्ते तत्सोऽदृष्ट दोषमाप्नुयात् ॥१३८
सङ्घस्य रञ्जनार्थं यस्तस्माद्भक्त्यादिवाञ्छया । वन्दनां विधदे तस्य स्यात्सङ्घकरमोचनम् ॥१३९
आवश्यकं विधत्ते य प्राप्योपकरणादिकम् । नान्यथा जायते तस्यालब्धदोषो मदप्रद ॥१४०
विदध्याद्य षट्कर्मोपकरणादिकवाञ्छया । लोभाविष्टो भजेद्दोषं सोऽत्रानालब्धसंज्ञकम् ॥१४१
कालव्यञ्जनग्रन्थार्थहीनमावश्यकं हि य' । करोति जायते तस्य हीनदोषोऽशुभप्रदः ॥१४२
वन्दनां स्तोककालेन निर्वर्त्य वेगतो ध्रुवम् । वन्दना चूलिकायाश्च किञ्चिदुद्धरतिस्म य ॥१४३

है—विना क्षमा करे कराये योही सामायिक वा वन्दना करता है उसके प्रदुष्ट नामका दोष लगता है ॥१३१॥ जो अन्य शैक्ष्य आदिकोको उँगलीसे तर्जनाकर भय उत्पन्न कर अथवा आचार्य वा गणसे तर्जित होकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके तर्जित नामका दोप लगता है ॥१३२॥ जो सामायिक करता हुआ भी मौन छोडकर बातें करता है उसके पाप वढानेवाला शब्द नामका दोष लगता है ॥१३३॥ जो आचार्य आदि अन्य मुनियोका तिरस्कार कर वचनसे उनका उपहासकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके हेलित नामका दोप लगता है ॥१३४॥ जो कमर मोडकर, गर्दन टेढीकर वा छाती नवाकर अथवा भोह चलाकर अथवा ललाट पर तीन रेखा चढाकर सामायिक आदि सत्कर्म करता है उसके त्रिवलित नामका दोप लगता है ॥१३५॥

जो दोनो हाथोसे अपने मस्तकको स्पर्शकर सामायिक वा वन्दना करता है, अथवा सकुचित होकर मस्तकोको जघाओके समीप ले जाकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके कुचित दोष लगता है ॥१३६॥ जो आचार्य वा अन्य मुनियोके देखने पर तो सामायिक आदि क्रियाओको अच्छी तरह करता है और उनके न देखने पर अपनी इच्छानुसार सव दिशाओकी ओर देखता हुआ सामायिक आदि क्रियाओको करता है उसके दृष्ट नामका दोष होता हैं ॥१३७॥ जो गुरुकी दृष्टिसे छिपकर सामायिक आदि करता है अथवा पीछी आदिसे विना शोधे, विना देखे चचल मनसे क्रियाओ-को करता है उसके अदृष्ट नामका दोष कहलाता है ॥१३८॥ जो सघको प्रसन्न करनेके लिये अथवा सघसे भक्ति आदि करानेकी इच्छासे सामायिक वा वन्दना करता है उसके सघकरमोचन नामका दोप लगता है ॥१३९॥ जो उपकरण आदिको पाकर आवश्यक आदि क्रियाओको करता है—विना उपकरण आदिके मिले जो नही करता उसके मद उत्पन्न करनेवाला आलब्ध नामका दोप लगता है ॥१४०॥ जो लोभके वशीभूत होकर उपकरण आदिकी इच्छासे सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओको करता है उसके अनालब्ध नामका दोष लगता है ॥१४१॥ जो काल, व्यजन, ग्रन्थ अर्थ (अथवा मात्रा आदि) आदिसे रहित सामायिक वा आवश्यकोके पाठोको पढता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला हीन नामका दोष लगता है ॥१४२॥ जो सामायिक वा वन्दनाको बड़ी शीघ्रता-

आलोचनादिकस्यातिकालेनापि विवर्तनम् । कृत्वा सामायिकं दद्यात्लभेतोत्तरचूलिकम् ॥१४४
मूकवन्मुखमध्ये वा हुङ्काराङ्गुलिसंज्ञया । युक्तो य कुरुते तद्धि मूकदोषं लभेत स· ॥१४५
स्वशब्देन परेषां य. सच्छब्दमभिभूय वै । बृहद्गलेन·तं दद्याद् दर्दुरं दोषमाप्नुयात् ॥१४६
स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे य सर्वेषां वन्दना भजेत् । श्रयेत्सुललितं दोषं पञ्चमादिस्वरेण वा ॥१४७
एतैर्मुक्तं हि द्वात्रिंशद्दोषैः सामायिकं च य । करोति निर्जरा पापकर्मणा स भजेत्पराम् ॥१४८
त्यक्त्वाशुभं महापुण्यं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सर्वसौख्याकरं सारं संसाराम्बुधितारकम् ॥१४९
अपरित्यज्य तान् दोषान् य कुर्याद्वन्दनादिकम् । कर्मक्षयो भवेन्नैव तस्य क्लेशो हि केवलम् ॥१५०
कायोत्सर्गोऽपि कर्तव्यो द्वात्रिंशद्दोषवर्जित । बुधैः कायममत्वादित्यजनार्थं सुधर्मद· ॥१५१
दु ख यथा समायाति पादसञ्जातपीडया । तथा कर्माणि नश्यन्ति कायोत्सर्गस्थितस्य वै ॥१५२

कायोत्सर्गभवान् दोषान् मे गणेश प्ररूपय ।
भो श्रावक प्रवक्ष्येऽहं तान् दोषान् शृणु ते स्फुटम् ॥१५३

घोटकश्च लतादोष स्तम्भ कुड्योऽपि सम्भवेत् । मालदोष शवरादिवधू स्यान्निर्यल्पे ध्रुवम् ॥१५४

से थोडे ही समयमे कर लेता है और आलोचना आदि उसकी चूलिकाको (अन्तिम क्रियाको) बड़ी देरसे करता है इस प्रकार जो सामायिक करता है उसके उत्तर चूलिका नामका दोष लगता है ॥१४३–१४४॥ जो गूंगेके समान मुखके भीतर ही भीतर सामायिक वा वन्दना करता है अथवा उँगलीके इशारे वा हुँकार आदि करता हुआ सामायिक आदि क्रियाओको करता है उसके मूक नामका दोष लगता है ॥१४५॥ जो अपने जोर-जोरके शब्दोसे दूसरोके अच्छे शब्दोको भी दबाकर सामायिक आदि क्रियाओको करता है उसके दुर्दर नामका दोष लगता है ॥१४६॥ जो एक स्थान पर बैठकर ही सबकी वन्दना करता है अथवा जो पचम स्वर आदिसे गा-गाकर वन्दना करता है उसके सुललित नामका दोष लगता है ॥१४७॥ जो इन बत्तीस दोषोंसे रहित होकर सामायिक करता है उसके पापकर्मोकी सबसे अधिक निर्जरा होती है ॥१४८॥ जो इन दोषोंको छोड़कर सामायिक करता है उसके स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला समस्त सुखोकी खानि सारभूत और ससाररूपी महासागरसे पार कर देनेवाला शुभरूप महा पुण्य प्राप्त होता है ॥१४९॥ जो इन दोषों-का विना त्याग किये ही सामायिक वा वन्दना आदि क्रियाओको करता है उसके कर्मोका नाश कभी नही हो सकता उसका सामायिक आदि करना केवल शरीरको दु ख पहुँचाना है ॥१५०॥ इसी प्रकार बुद्धिमानोको शरीरसे ममत्वका त्याग करनेके लिये श्रेष्ठ धर्मको प्रगट करनेवाला कायोत्सर्ग भी बत्तीस दोषोसे रहित होकर ही करना चाहिए, अर्थात् कायोत्सर्गके भी बत्तीस दोषों-का त्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ जिस प्रकार पैरमे उत्पन्न हुई पीडासे दु ख आ जाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले मनुष्यके अवश्य ही कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥१५२॥

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये कायोत्सर्गके दोषोका निरूपण कीजिये ।

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! सुन, अब मैं कायोत्सर्गके दोषोको कहता हूँ ॥१५३॥ घोटक, लता, स्तम्भ[1], कुड्य, माल शवर, लम्बोदर, तनुदृष्टि, वायस, खलित, युग, कपित्थ, शिर प्रकपन, मूकित,

१ इसमें स्तम्भ और कुड्य अलग-अलग लिखे हैं परन्तु अनगारधर्मामृतमें दोनो एक स्तम्भमें ही शामिल कर लिये है ।

लम्बोदरो वपुर्दृष्टिर्वायसस्खलिनो युग । कपित्थाख्यो भवेद्दोष शिर प्रकम्पितो भवेत् ॥१५५
मूकितोऽङ्गुलिदोषश्च भ्रूविकारो हि सम्भवेत् । तथा च वारुणीपायी दिशामालोकनाभिधा ॥१५६
ग्रीवोन्नमनमेव प्रणमनः स्यान्निष्ठीवन । स्वाङ्गमर्षो बुधैस्त्याज्या अमी दोषा मलप्रदा ॥१५७
उत्क्षिप्य चैकपादं यो चाविन्यस्येह तिष्ठति । कार्योत्सर्गे भवेत्तस्य घोटकाख्यो मलोऽश्ववत् ॥१५८
अङ्गानि चालयन् योऽपि व्युत्सर्गं कुरुते यमी । लतेव संश्रयेत्सोऽपि लतादोषं प्रचञ्चलः ॥१५९
स्तम्भमाश्रित्य व्युत्सर्गं यो विधत्ते हि संयत । स्तम्भदोष भजेत्सोऽपि स्वशून्यहृदयोऽथवा ॥१६०
कायोत्सर्गं विधत्ते यः कुडचमाश्रित्य श्रावक । अन्यद्वाश्रित्य तस्यैव कुडचदोष प्रजायते ॥१६१
पीठिकादिकमारुह्य यो व्युत्सर्गं करोति च । मस्तकादूर्ध्वमाश्रित्य मालादोषं भजेत्स ना ॥१६२
जङ्घाभ्यां शवरवधूरिव निष्पीडच तिष्ठति । यो जघन व्युत्सर्गे शवरिदोषं लभेत स ॥१६३
व्युत्सर्गस्थित एवोन्नोन्नमनं कुर्याद् यो बुधः । बाह्याधो नमन प्राय स लम्बोदरदोषभाक् ॥१६४
नयनाभ्यां शरीरं य. स्वस्य पश्यति रागदम् । कायोत्सर्गस्थितो दोषं तनुर्दृष्टि लभेत सः ॥१६५

अगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिशावालोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन, स्वागस्पर्श ये कायोत्सर्गके दोष[1] कहलाते है अत बुद्धिमानोको इनका त्याग कर देना चाहिये ॥१५४–१५७॥ जिस प्रकार अच्छा घोडा एक पैर ऊँचा करके खडा होता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्ग करते समय एक पैरको ऊँचा कर केवल एक पैरसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ खडा होता है उसके घोटक नामका दोष होता है ॥१५८॥ जो सयमी लताके समान अग उपागोको कँपाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामका दोष लगता है ॥१५९॥ जो सयमी किसी खम्भेका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है अथवा जो अपने हृदयको शून्य बनाकर (आत्मा चितवन किये विना) कायोत्सर्ग करता है उसके स्तम्भ नामका दोष लगता है ॥१६०॥ जो श्रावक किसी दीवालका अथवा अन्य किसी पदार्थका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके कुडच नामका दोष लगता है ॥१६१॥ जो किसी वेदी, पटा आदिपर खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके पट्टक नामका दोष लगता है। जो मस्तकसे ऊँचे स्थानपर माला वा रस्सी बाँधकर उसका सहारा लेकर कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके माला नामका दोप लगता है ॥१६२॥ जो भीलिनियोके समान जघनस्थलको (गुह्य प्रदेशको) दोनो जघाओसे दवाकर (अथवा हाथसे ढककर) कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके शवरी नामका दोष होता है ॥१६३॥ जो कायोत्सर्गमे खडा होकर भी मस्तकको ऊँचा करता है अथवा नीचा करता है उसके लम्बोदर नामका दोष होता है ॥१६४॥ जो कायोत्सर्गमे खड़ा होकर भी अत्यन्त राग उत्पन्न करनेवाले अपने शरीरको अपने दोनो नेत्रोकी दृष्टिसे देखता रहता है

---

1 बाकीके दोप इस प्रकार हैं। पट्टक—इसका स्वरूप ६२ वें श्लोकमें लिखा है। शृङ्खलित—जो अपने पैरोको साँकलमे बँधे हुएके समान करके कायोत्सर्ग करे। उत्तीरत—मस्तकको ऊँचाकर कायोत्सर्ग करना। स्तनोन्नति—दूध पिलाने वालीके समान छातीको ऊँचा उठाकर कायोत्सर्ग करना। न्यूनत्व—मात्रा आदि छोडकर कायोत्सर्गका पाठ पढना। मायाप्रायस्थितिश्चित्र—दूसरोको ठगनेवाली और अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली शरीरकी स्थिति वनाना। वयोपेक्षाविवर्जन—अपना बुढापा समझकर कायोत्सर्गका छोड देना। व्याक्षेपासक्तचित्तत्व—चित्तको इधर-उधर भटकाते हुए कायोत्सर्ग करना। कालापेक्षाव्यतिक्रम—समय देखकर कायोत्सर्गका कुछ अग छोड देना। लोभाकुलत्व—लोभके कारण कुछ अश छोड देना। मूढत्व—कर्तव्य अकर्तव्यका विचार न करना। पापकर्मैकसर्गता—हिंसादिकके कामोमें अत्यन्त उत्साह होना।

कायोत्सर्गान्वितो योऽपि पार्श्वं पश्यति काकवत् । तस्य वायसदोषोऽत्र जायते नेत्रसम्भवः ॥१६६
यो दन्तकटक सीसं कृत्वा व्युत्सर्गमाश्रयेत् । अश्ववत्खलिनाख्यं स श्रयेद्दोष मलप्रदम् ॥१६७
ग्रीवां प्रसार्य य कुर्यात् व्युत्सर्गं वलीवर्दवत् । युगदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गस्य दोषद. ॥१६८
कृत्वा कपित्थवन्मुष्टिं यो व्युत्सर्गेण तिष्ठति । व्रजेत्कपित्थदोषं स कायोत्सर्गमलप्रदम् ॥१६९
कायोत्सर्गान्वितो यस्तु प्रकम्पयति मस्तकम् । शिर.प्रकम्पितं दोषं श्रयेत्सोऽपि मलादिजम् ॥१७०
व्युत्सर्गेण स्थितो योऽपि नासिकामुखसम्भवम् । विकारं कुरुते तस्य मूकदोष प्रजायते ॥१७१
त्यक्त्वा देहादिसङ्गोऽयं विकारं कुरुते नर. । अङ्गुल्यादिभव दोषमङ्गुल्याख्यं लभेत स ॥१७२
कायोत्सर्गेण युक्तो यो भ्रूविकारं करोति ना । भ्रूदोषस्तस्य स्यान्नून वा पादाङ्गुलिनर्तनात् ॥१७३
घूर्णमानो हि व्युत्सर्गे सुरापायीव तिष्ठति । दोष. स्याद्वारुणीपायी तस्य दोषविधायकः ॥१७४
आलोकन दशदिशा त्यक्तदेहाः श्रयन्ति ये । नेत्रचञ्चलतस्तेऽत्र दृतदोषान् भजन्ति वै ॥१७५
यो ग्रीवोन्नमन कुर्यात्कायोत्सर्गान्वितो नरः । दोषं ग्रीवोन्नमनं स भजेद् ग्रीवादिसम्भवम् ॥१७६
कायोत्सर्गेण संयुक्तो धत्ते प्रणमनं पुमान् । दोषं प्रणमनं सोऽपि श्रयेन्मलविधायकम् ॥१७७
निष्ठीवन करोत्युच्चै यो वा खात्करणादिकम् । कायोत्सर्गसमायुक्तो दोषं निष्ठीवन भजेत् ॥१७८
शरीरस्पर्शन योऽत्र करोति स्वस्य कारणात् । कायोत्सर्गादिसंयुक्तो स्पर्शदोष लभेत सः ॥१७९

उसके तनुदृष्टि नामका दोष लगता है ॥१६५॥ जो कायोत्सर्गमे खडा होकर भी कौएके समान अपनी दोनो अगल वगलोकी ओर देखता है उसके नेत्रोसे उत्पन्न होनेवाला वह वायस नामका दोष कहलाता है ॥१६६॥ जिस प्रकार लगामके दु खसे दु खो हुआ घोडा दाँत कटकटाकर मस्तक हिलाता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्गके समय दाँतोको कटकटाता हुआ मस्तक हिलाता है उसके मल उत्पन्न करनेवाला खलीन नामका दोष लगता है ॥१६७॥ जिस प्रकार जूँआके दु खसे दु खी हुआ वैल गर्दन फैलाता है उमी प्रकार जो गर्दनको फैलाकर सामायिक करता है उसके कायोत्सर्गमे दोप उत्पन्न करनेवाला युग नामका दोष होता है ॥१६८॥ जो कपित्थ या कैथके समान अपनी मुट्ठियोको वाधकर कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके कपित्थ नामका दोप लगता है ॥१६९॥ जो कायोत्सगके समय मस्तकको कँपाता है वह मलको पैदा करनेवाला शिर प्रकम्पित दोष है ॥१७०॥ जो कायोत्सर्गमे खडा होकर भी गूँगेके समान मुँह और नाकके विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूक नामका दोष लगता है ॥१७१॥ जो शरीरसे ममत्व छोड़कर भी उँगली आदिसे विकार उत्पन्न करता रहता है (अथवा उँगलियोसे गिनती करता रहता है) उसके अँगुली नामका दोष लगता है ॥१७२॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी भौह चलाता रहता है अथवा पैरकी उँगलियोको नचाता रहता है उसके भ्रूविकार नामका दोष होता है ॥१७३॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी शराव पीनेवालेके समान घूमता (हिलता) रहता है उसके कायोत्सर्गमे दोष लगानेवाला वारुणीपायी (उन्मत्त) नामका दोप लगता है ॥१७४॥ जो शरीरसे ममत्व छोडकर भी दशो दिशाओकी ओर देखते रहते हैं उनके नेत्र चचल होनेके कारण दिशावलोकन नामका दोप लगता है ॥१७५॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपनी गर्दनको बहुत उँची कर लेता है उसकी ग्रीवा वा गर्दनसे उत्पन्न होनेवाला ग्रीवोन्नमन नामका दोष होता है ॥१७६॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपनी गर्दनको नीची कर लेता है उसके प्रणमन नामका दोप लगता है ॥१७७॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी थूकता रहता है उसके निष्ठीवन नामका दोप लगता है ॥१७८॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी किमी कारणसे अपने शरीरका स्पर्श करता रहता है उसके स्पर्श

एते दोषाः परित्याज्या गृहस्थैश्च मुनीश्वरैः । व्युत्सर्गसंयुतैर्धीरैर्मलदा कर्मशान्तये ॥१८०
चतुरङ्गुल्यन्तरितौ समपादौ विधाय य. । व्युत्सर्गं कुरुते तस्यैको दोषोऽपि न जायते ॥१८१
चञ्चलत्व परित्यज काष्ठवन्निश्चलो यतिः । एकाग्रमनसा युक्तदेहादिविक्रिया सदा ॥१८२
सर्वाङ्गस्पन्दनिर्मुक्तस्त्यक्तदोषं सुधीर्भजेत् । यो व्युत्सर्ग भजेत्सोऽपि स्वर्गमुक्तिसुखादिकम् ॥१८३
एकचित्तेन व्युत्सर्गं यः कुर्याद् घटिकाद्वयम् । अनेकजन्मजं पाप क्षिपेद् ज्ञानी स शुद्धधीः ॥१८४
ममत्वं देहतो नश्येत् कायोत्सर्गेण धीमताम् । निर्ममत्वं भवेन्नूनं महाधर्मसुखाकरम् ।।१८५
न भूतं भुवने नृणां कायोत्सर्गसमं तप । नाममोक्षगृहद्वारं नास्ति चाग्रे भविष्यति ॥१८६
मन्ये तावेव पादौ यौ कायोत्सर्गान्वितौ दृढौ । पुंसा धर्मप्रदौ धन्यौ धीरौ स्वर्मुक्तिदायकौ ॥१८७
कायोत्सर्गं विना पादौ हिंसादिपरिवर्तिनौ । ज्ञेयौ व्यर्थौ मनुष्याणा गमनादिकतत्परौ ॥१८८
येऽधमा शक्तिमापन्ना कायोत्सर्गं न कुर्वते । तेषा जन्म वृथा याति भृत्या इव कुमार्गगाः ॥१८९
कायोत्सर्गं समादाय जित्वा घोरपरीषहान् । ये गता मुक्तिसाम्राज्ये ते धन्या विदुषा मता' १९०
इति मत्वा विधातव्य कायोत्सर्गो बुधोत्तमै । स्वशक्ति प्रकटीकृत्य प्रत्यह सत्सुखाकरः ॥१९१

सकलसुखनिधानं स्वर्गसोपानभूतं नरकगृहकपाटं दु खदावाग्निमेघम् ।
अतुलगुणसुखं वा धर्मवृक्षस्य बीज भज शिवसुखहेतोस्त्वं हि व्युत्सर्गमेकम् ॥१९२

नामका दोष लगता है ॥१७९॥ कायोत्सर्ग करनेवाले धीर वीर श्रावकोको व मुनियोको कर्मोको शान्त करनेके लिये मल उत्पन्न करनेवाले इन दोषोका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१८०॥ जो चार अगुलके अन्तरसे दोनो पैरोको एक-सा रखकर कायोत्सर्ग करता है उसके कोई दोप नही लग सकता ॥१८१॥ जो बुद्धिमान् मुनि चचलताको छोडकर काष्ठके समान निश्चल होकर शरीर-के समस्त विकारोको छोडकर अग उपागोके हलन चलनको छोडकर तथा समस्त दोषोका त्यागकर एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है उसे स्वर्ग मोक्षके सुख अवश्य ही प्राप्त होते है ॥१८२–१८३॥ जो शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला ज्ञानी पुरुष दो घडी पर्यन्त एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है वह उस कायोत्सर्गसे अनेक जन्मके पापोको नष्ट कर देता है ॥१८४॥ कायोत्सर्ग धारण करनेसे बुद्धिमानोका शरीरसे ममत्व छूट जाता है तथा शरीरसे ममत्वका छूट जाना ही महा धर्म और सुखकी खानि है ।।१८५॥ इस ससारमे मनुष्योको कायोत्सर्गके समान तपश्चरण न तो आजतक हुआ है और न आगे कभी हो सकता है । यह कायोत्सर्ग स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है ॥१८६॥ मनुष्योके जो पैर कायोत्सर्ग धारण कर दृढताके साथ खडे है ससारमे उन्हीको पैर समझना चाहिये, वे ही पैर धन्य है, वे ही धीरवीर है, वे ही धर्म धारण करनेवाले है और वे ही पैर स्वर्ग मोक्ष देनेवाले है ॥१८७॥ जिन पैरोसे कभी कायोत्सर्ग नही हुआ—जो केवल आने जानेमे ही काम आते हैं और हिंसादिक पाप करते रहते है मनुष्योके ऐसे पैरोको सर्वथा व्यर्थ समझना चाहिये ॥१८८॥ जो नीच समर्थ होकर भी कायोत्सर्ग नही करते हैं उनका जन्म कुमार्गगामी सेवकके समान व्यर्थ ही वीत जाता है ॥१८९॥ जो कायोत्सर्ग धारण कर और घोर परीपहोको जीतकर मोक्षके साम्राज्यमे जा विराजमान हुए हैं, ससारमे वे ही धन्य है और वे ही विद्वान् लोगोके द्वारा माननीय वा पूज्य माने जाते हैं ॥१९०॥ यही समझकर उत्तम बुद्धिमानोको प्रतिदिन अपनी शक्तिको प्रगट-कर मोक्षका श्रेष्ठ सुख देनेवाला यह कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥१९१॥ यह कायोत्सर्ग समस्त सुखोका निधि है, स्वर्गकी सीढी है, नरकरूपी घरको वन्द करनेके लिये किवाड है, दु खरूपी दावानल अग्निके लिये मेघोकी वर्षा है, निरुपम गुणोकी खानि है और धर्मरूपी वृक्षका बीज है,

शमदमयमजातं मुक्तिकान्तासुनाथं, सुरगतिसुखगेहं तीर्थनाथै सुसेव्यम् ।
भज हि सकलर्द्धेर्वीजभूत गुणाढ्यं, दुरिततिमिरसूर्यं मित्र सामायिकं वै ॥१९३
दुरितवनकुठार चित्तमातङ्गसिंहं, विषयसफरजालं कर्मकक्षानल भोः ।
दमशमयमगेहं धर्मशुक्लादिहेतुं, भज विगतविकार सारसामायिकं त्वम् ॥१९४
प्राप्ता ये मुनय श्रुतार्णवधरा ग्रैवेयकं चाग्रिमं
तेऽप्याराध्य सुधर्मदं सुखकरं सामायिकं केवलम् ।
प्राभव्याः शिवसौख्यसारमपि ये रत्नत्रयालङ्कृता
तस्मात्त्वं बुधसारमेकमसमं सामायिकं भो भज ॥१९५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे देशावकाशिकसामायिकप्ररूपको नामाष्टदशम परिच्छेद ॥१८॥

●

इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष-सुख प्राप्त करनेके लिये इस कायोत्सर्गको धारण कर ॥१९२॥ हे मित्र ! यह सामायिक शम (परिणामोका शान्त होना), दम (इन्द्रियोको दमन करना) और यम (यम नियम-रूपसे त्याग करना) से उत्पन्न होता है, मुक्ति रूपी स्त्रीका स्वामी है, स्वर्गके सुखोका घर है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त ऋद्धियोका वीजभूत या कारण है, अनन्त-गुणोसे भरपूर है और पापरूप अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्य है । हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू प्रतिदिन धारण कर ॥१९३॥ यह सामायिक पापरूपी वनको उखाड़नेके लिये कुठार या कुल्हाड़ी है, मनरूपी हाथीको वश करनेके लिये सिंह है, विषयरूपी मछलियोको पकडनेके लिये जाल है, कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्नि है, दम शम यमका घर है, धर्मध्यान और शुक्लध्यानका कारण है तथा समस्त विकारोसे रहित है और सबमे सारभूत है । हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥१९४॥ जो रत्नत्रयसे सुशोभित मुनिराज श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी हुए हैं, अथवा उत्तम ग्रैवेयकमे जा विराजमान हुए हैं वे केवल इस सामायिककी आराधनासे ही हुए हैं । यह सामायिक श्रेष्ठ धर्मको देनेवाला सुखकी खानि है, मोक्षसुखका सारभूत है, विद्वानोके लिये सारभूत है, इसके समान ससारमे अन्य कोई पदार्थ नही है, यह अद्वितीय है इसलिये हे भव्य ! ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥१९५॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे देशावकाशिक और सामायिक व्रतका निरूपण करनेवाला यह अठारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१८॥

●

उन्नीसवाँ परिच्छेद

मल्लिनाथं महामल्लं कामारातिनिपातने । वन्दे कर्मविनाशाय भव्यजीवप्रबोधकम् ॥१
सामायिकं समाख्याय ततो वक्ष्ये गुणप्रदम् । शिक्षाव्रतं तृतीय हि प्रोषधादिभवं नृणाम् ॥२
अष्टम्यां च चतुर्दश्या कर्तव्यः श्रावकै सदा । सत्प्रोषधोपवासोऽपि सर्वसावद्यवर्जितः ॥३
दिने धारणके चैकभक्तं यत् क्रियते नरै । तथा पारणके प्रोषधोपवास स उच्यते ॥४
सर्वाशनं च पान च खाद्य स्वाद्य त्यजेद् बुध । उपवासदिने मुक्त्यै कृत्स्नमाहारमञ्जसा ॥५
उपवासदिने धीरैः ग्राह्य नीर न खण्डकम् । उपवासस्य सारस्य कृत्वा प्राद्भुतसाहसम् ॥६
नीरादानेन हीयेत भागश्चैवाष्टमो नृणाम् । उष्णेनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधी ॥७
कषायद्रव्यसन्मिश्रं जलं गृह्णाति यो नरः । उपवासं समादाय तेषां स हीयतेतराम् ॥८
तन्दुलादिकसन्मिश्रं ये पिबन्ति जल शठा । आदाय प्रोषधं तेषां स स्याद्भग्नस्ततो ध्रुवम् ॥९
उपवासो जिनैरुक्तः पानाहारादिवर्जित । उत्कृष्ट सर्वसावद्यचिन्तादिकपराङ्मुख ॥१०
उपवासदिने सारे सर्ववस्तुकदम्बकम् । विनैकं भूषण स्नान गन्धं पुष्पाणि कुङ्कुमम् ॥११
अञ्जनं मुखसंस्कारं चाङ्गोपाङ्गादिविक्रियाम् । शय्यादिकं त्यजेद्धीमान् वीतरागगुणाप्तये ॥१२

जो कर्मरूपी शत्रुको चूर चूर करनेके लिये महामल्ल हैं और भव्य जीवोको धर्मोपदेश देनेवाले हैं ऐसे श्रीमल्लिनाथ भगवान्‌को मै अपने कर्म नष्ट करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इस प्रकार सामायिकका निरूपण कर अब आगे अनेक गुणोको उत्पन्न करनेवाले प्रोषधोपवास नामके तीसरे शिक्षाव्रतको कहते है ॥२॥ श्रावकोको अष्टमी और चतुर्दशीके दिन सब तरहके पापोका त्यागकर सदा प्रोपधोपवास करना चाहिये ॥३॥ जिस दिन प्रोपधोपवास करना हो उसके एक दिन पहिले धारणा और उपवासके दूसरे दिन पारणा की जाती है। मनुष्योको धारणाके दिन एकाशन करना चाहिये। और पारणाके दिन भी एकाशन करना चाहिये। इस प्रकार एक एकाशन, दूसरे दिन उपवास व तीसरे दिन एकाशन करनेको प्रोपधोपवास कहते हैं ॥४॥ बुद्धिमानोको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये उपवासके दिन अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारो प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥५॥ धीरवीर पुरुषोको उपवासके दिन अद्भुत साहस प्रगट कर पानीकी एक बूँद भी ग्रहण नही करनी चाहिये ॥६॥ उपवासके दिन उष्ण जलके पीनेसे उपवासके फलका आठवाँ भाग कम हो जाता है, अत बुद्धिमानोको उपवासके दिन जल पीनेका त्याग करना चाहिए ॥७॥ जो उपवास ग्रहण करके कपाय द्रव्योसे मिले हुए जलको (किसो काढेको वा शरबत आदिको) पीते है उनके उपवासमे अवश्य कमी होती है ॥८॥ जो प्रोपधोपवास ग्रहण करके भात मिले हुए जलको (चावलोके माँडको जिसमे कुछ चावलोका तत्त्व मिला रहता है) पीते हैं उन मूर्खोंका प्रोपधोपवास अवश्य नष्ट हो जाता है ॥९॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने आहार पानी सबका त्याग करने व समस्त पाप और चिन्ताओसे अलग रहनेको उत्कृष्ट उपवास कहा है ॥१०॥ उपवासके दिन वीतराग भगवान्‌के गुण प्राप्त करनेके लिये बुद्धिमानोको एक वस्त्रको (धोतीको) छोडकर अन्य सब वस्त्रोका त्याग कर देना चाहिये तथा आभूपण, स्नान, गन्ध, पुष्प, कुकुम,

गृहव्यापारजां हिंसामसत्यं विकथादिकम् । स्तेयमब्रह्मसेवां च द्रव्यादिकपरिग्रहम् ॥१३
अशुभं सर्वसङ्कल्पं वचो हिंसादिकारणम् । गमनादिप्रयुक्तं न कार्यं वस्तु च पापदम् ॥१४
मनोवाक्काययोगेन त्यक्त्वा सर्वाशुभं बुधा । उपवासदिने धीरा तिष्ठन्ति मुनयो यथा ॥१५
आदाय प्रोषधं धीरस्तिष्ठेत्साधुसमाश्रये । जिनागारेऽथवा शून्यगेहे गिरिगुहादिषु ॥१६
श्रुतामृतं पिबेत्तत्र धर्म-संवेगकारणम् । एकचित्तेन तीर्थेशमुखोत्पन्नं शुभं सुधी ॥१७
ज्ञानवान् धर्मसंयुक्त स्वयं धर्मामृतं पिबेत् । अन्येषां पाययेद्वापि प्रोपकाराय स्वान्ययो ॥१८
अनुप्रेक्षाश्च षट्द्रव्यसप्ततत्त्वादिकान् सुधी. । धर्मध्यानं चतुर्भेदं स्वागमं वा विचिन्तयेत् ॥१९
संसारदेहभोगेषु पापश्वभ्रप्रदेषु वै । वैराग्यं भावयेद्धीमान् नाकमुक्तिगृहाङ्गणम् ॥२०
अनन्तगुणसन्दोह केवलज्ञानभास्करम् । मुक्तिबीजं जिनैर्ध्येयं लोकालोकप्रकाशकम् ॥२१
असंख्यमहिमायुक्तं परमात्मानमञ्जसा । भजेद्धीमान् पुमान् धीरो मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ॥२२
एकचित्तेन वा धीमान् जपेत्पञ्चपदानि वै । अर्हदादिगुरूणां हि नामोत्पन्नानि निश्चितम् ॥२३
किमत्र बहुनोक्तेन त्यक्त्वा सावद्यमञ्जसा । यतिवत्तिष्ठ भो मित्र प्रोषधे स्वर्गमुक्तये ॥२४

अञ्जन, ताबूल, अङ्ग उपांगोंके विकार और शय्या आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥११-१२॥ घरके व्यापारसे होनेवाली हिंसा, विकथा आदि असत्य, चोरी, अब्रह्म, द्रव्यपरिग्रह आदि सब पापोका त्याग कर देना चाहिये। मनके सब अशुभ सकल्पोका, हिंसा आदि पापोके करनेवाले वचनोका, आने जाने आदि क्रियाओका तथा और भी पाप उत्पन्न करनेवाले कामोका सबका त्याग कर देना चाहिये ॥१३-१४॥ धीरवीर बुद्धिमानोको उपवासके दिन मन, वचन, काय तीनो योगसे समस्त अशुभोका त्याग कर मुनियोके समान विराजमान रहना चाहिये ॥१५॥ धीरवीर पुरुषोको उपवास ग्रहण कर मुनियोके आश्रममे (मुनियोके समुदायमे वा उनके रहने योग्य स्थानोमे) जिनालयमे, किसी सूने मकानमे अथवा पर्वतकी गुफा आदिमे रहना चाहिये ॥१६॥ बुद्धिमानोको ऐसे स्थानोमे रहकर चित्त लगाकर धर्म और सवेगको बढ़ानेवाले तथा श्री तीर्थंकरके मुखसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानरूपी शुभ अमृतका पान करना चाहिये अर्थात् शास्त्र श्रवण करना चाहिये ॥१७॥ यदि प्रोषधोपवास करनेवाला ज्ञानवान् और धर्मात्मा हो तो उसे स्वय धर्मरूपी अमृतका पान करना चाहिये और अपना वा दूसरोका उपकार करनेके लिये अन्य भव्य जीवोको उसका पान कराना चाहिये अर्थात् उसे स्वय शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए और दूसरोको सुनाना चाहिए ॥१८॥ इसी प्रकार बारह अनुप्रेक्षाएँ, छह द्रव्य, सात तत्त्व, चारो प्रकारका धर्मध्यान और शास्त्रोका मनन वा चिंतवन भी उन बुद्धिमानोको करना चाहिए ॥१९॥ इसी प्रकार बुद्धिमानोको पाप और नरक देनेवाले ससार, शरीर और भोगोसे वैराग्य भावनाओका चिंतवन करना चाहिए, क्योकि यह वैराग्य ही स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका आँगन है ॥२०॥ धीरवीर बुद्धिमान् मनुष्योको केवलज्ञानरूपी सूर्यका चिंतवन करना चाहिए, क्योकि यह केवलज्ञानरूपी सूर्य लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, अनन्तगुणोका समुद्र है, मोक्षका कारण है और जिनेन्द्रदेव भी इसका ध्यान करते है। इसी प्रकार अनन्त महिमाओसे सुशोभित परमात्माका ध्यान भी उनको करना चाहिए ॥२१-२२॥ इसी प्रकार उस दिन बुद्धिमानोको चित्त लगाकर अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन पाँचो परमेष्ठियोके वाचक पच नमस्कार मन्त्रका जप और ध्यान करना चाहिए ॥२३॥ हे मित्र ! बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोडेमेमें इतना समझ ले, कि प्रोषधोपवासके

एवं यः प्रोषधं कुर्यात्सर्वहिंसादिवर्जितम् । क्षिपेद्वैराग्यमापन्न एनः संख्याविवर्जितम् ॥२५
उपवासं विधत्ते य कुर्यात्पापं गृहादिजम् । गजस्नान इव खेदस्तस्य पापक्षयो न च ॥२६
तस्माद्धीरैर्न कर्तव्य उपवासदिके शुभे । गृहपापादिकारम्भः प्राणान्तेऽपि कदाचन ॥२७
य पर्वण्युपवास हि विधत्ते भावपूर्वकम् । नाकराज्य च सम्प्राप्य मुक्तिनारो वरिष्यति ॥२८
प्रोषधं नियमेनैव चतुर्दश्यां करोति य । चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥२९
चतुर्दश्या समं पर्व नास्ति कालत्रये वरम् । धर्मयोग्यं महापूतमुपवासादिगोचरम् ॥३०
प्रोषध यच्चतुर्दश्यामेकचित्तेन सम्भजेत् । प्राप्य षोडशक नाकं व्रजेन्मुक्तिवराङ्गनाम् ॥३१
द्विसप्ताद्युपवासेन पापं हत्वा गृहादिजम् । चतुर्दशादिसञ्जातं महापुण्यं लभेत ना ॥३२
प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यश्चतुर्दश्या हि धीधनै. । उपवासोऽतिधर्मार्थकाममोक्षफलप्रद ॥३३
अष्टम्यामुपवासं हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमा' । हत्वा कर्माष्टकं तेऽपि यान्ति मुक्ति सुदृष्टयः ॥३४
अष्टमीदिवसे सारे य कुर्यात्प्रोषधं वरम् । इन्द्रराज्यपद प्राप्य क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ॥३५
नियमेनोपवासं यस्त्वष्टम्यां कुरुते पुमान् । स्वाष्टकर्माणि हत्वा स भजेत्सारं गुणाष्टकम् ॥३६
सदाष्टम्युपवासस्य धर्मेण गृहनायका । अष्टादिदिनजं पापं हत्वा पुण्य भजन्ति वै ॥३७

दिन स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त पापोका त्याग कर मुनिके समान रह ॥२४॥ इस प्रकार जो बुद्धिमान् वैराग्य धारण कर तथा हिंसा आदि समस्त पापोका त्याग कर प्रोषधोपवास करते है वे असख्यात पापोको नष्ट करते है ॥२५॥ जो उपवास धारण करके भी गृहस्थीके आरम्भ व्यापार आदिके समस्त पाप करते हैं उनका वह उपवास हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है—उस उपवाससे केवल खेद ही होता है, पाप नष्ट नही होते ॥२६॥ इसलिये धीरवीर पुरुषोको उपवासके शुभ दिनमे प्राण नष्ट होनेपर भी घर सम्बन्धी आरम्भादिक पाप कभी नही करना चाहिए ॥२७॥ जो पुरुष पर्वके दिनोमे भावपूर्वक उपवास धारण करते हैं वे स्वर्गके राज्यका उपभोग करके अन्तमे अवश्य मुक्ति स्त्रीके स्वामी होते हैं ॥२८॥ जो चतुर्दशीके दिन नियमपूर्वक प्रोपधोपवास करता है वह चौदह गुणस्थानोको पार कर मोक्षमे जा विराजमान होता है ॥२९॥ चतुर्दशीके समान धर्म करने योग्य महा पवित्र और उपवास प्रोषधोपवास आदि करने योग्य उत्तम पर्व तीनो कालोमे भी अन्य कोई नही हो सकता ॥३०॥ जो चतुर्दशीके दिन चित्त लगाकर प्रोषधोपवास करता है वह सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर मुक्तिरूपी सर्वोत्तम स्त्रीके समीप जा पहुँचता है ॥३१॥ जो प्रत्येक चतुर्दशीके दिन घर सम्बन्धी समस्त पापोको छोडकर उपवास करता है वह चतुर्दशीको उपवास करनेसे महा पुण्य उपार्जन करता है ॥३२॥ बुद्धिमानोको चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास प्राण नष्ट होनेपर भी नही छोडना चाहिये, क्योकि चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थोको देनेवाला है ॥३३॥ जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमीके दिन उपवास करते हैं वे आठो कर्मोको नष्ट कर मोक्षमे जा विराजमान होते हैं ॥३४॥ अष्टमीका दिन सबमे सारभूत है । उस दिन जो उत्तम प्रोषधोपवास करता है वह इन्द्रका साम्राज्य पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥३५॥ जो पुण्य प्राप्त करनेके लिये अष्टमीके दिन नियमपूर्वक उपवास करता है वह अपने आठो कर्मोंको नष्ट कर सम्यक्त्वज्ञान दर्शन आदि सिद्धोके सर्वोत्तम आठो गुणोको धारण करता है ॥३६॥ जो गृहस्थ अष्टमीके दिन उपवास धारण कर धर्म पालन करते है वे इस दिनके समस्त पापोको नष्ट कर महा पुण्य उपार्जन करते हैं ॥३७॥

तस्मान्न प्रोषधस्त्याज्यस्तैरष्टम्यां च गृहान्वितैः । धर्मार्थकाममोक्षादिप्रदः प्राणात्यये क्वचित् ॥३८
इति मत्वा सदा सारमुपवासचतुष्टयम् । मासमध्ये कुरु त्वं हि धर्माय त्यज काम्यया ॥३९
कायसेवा प्रकुर्वन्ति शठाः सर्वदिनेषु ये । उपवासादिकं त्यक्त्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥४०
अष्टम्यादिदिने सारे रमन्ते रामया सह । तस्या अमेध्यमध्ये ते कृमियोनिं भजन्त्यघात् ॥४१
चतुर्दश्यादिकं पर्वव्रतं कुर्वन्ति ये न वै । दरिद्रत्वं च क्लीवत्वं ते भजन्ति भवे भवे ॥४२
इति मत्वा बुधैः कार्यं तपोऽनशनगोचरम् । पर्वादिषु विशिष्टेषु स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरम् ॥४३
तपो मुक्तिपुरीं गन्तुं पाथेयं स्याद्धि पुष्कलम् । मुक्तिरामावशीकर्तुं तपो मन्त्रोऽङ्गिनां भवेत् ॥४४
तपः समीहितस्यैव दातुं कल्पद्रुमो भवेत् । तपश्चिन्तामणिर्ज्ञेयश्चिन्तितार्थप्रदोऽङ्गिनाम् ॥४५
तपः कामदुघाप्युक्ता कामितार्थप्रदा बुधैः । तपोनिधिश्च रत्नादि सर्ववस्त्वाकरो भवेत् ॥४६
तपः आकर्षणे मन्त्रं सर्वलोकस्थितश्रियाः । तपः औषधमेव स्याज्जन्मज्वरविघातने ॥४७
तपः कर्ममहारण्यदहने ज्वलनोपमम् । तपः पापमलापाये जलं प्रोक्तं गणाधिपैः ॥४८
तपो वज्रं जिनैरुक्तं दुरिताद्रिविखण्डने । तपोऽशुभमहाशत्रुं हन्तुं तीक्ष्णायुधोपमम् ॥४९
तपः सिंहो भवेद्दक्षो मत्तमातङ्गघातने । मनोमर्कटसंरोधे तपः पाशोऽङ्गिना मतः ॥५०

इसलिये गृहस्थी पुरुषोंको प्राण नष्ट होनेपर भी अष्टमीके दिनका प्रोषधोपवास कभी नही छोड़ना चाहिये क्योंकि अष्टमीके दिन किया हुआ उपवास धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थोको देनेवाला है ॥३८॥ इसलिये हे भव्य ! तू विना किसी इच्छाके केवल धर्मपालन करनेके लिये प्रत्येक महीनेमे सारभूत चार (दो अष्टमीके दो चतुर्दशीके) उपवास कर ॥३९॥ जो मूर्ख पर्वके दिनोमे उपवासको छोडकर कामसेवन करते हैं वे नरकरूपी महासागरमे अवश्य डूबते हैं ॥४०॥ जो सारभूत अष्टमीके दिन स्त्रीसेवन करते हैं वे उस पापकर्मके उदयसे मरकर विष्टाके कीडा होते हैं ॥४१॥ जो चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोमे व्रत नही करते वे भव-भवमे दरिद्री और नपुसक होते हैं ॥४२॥ यही समझकर बुद्धिमानोको पर्व आदिके विशेष दिनोमे उपवास नामका तपश्चरण अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह पर्वके दिनोमे किया हुआ उपवास स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मीको वश करनेवाला है ॥४३॥ यह उपवासजन्य तपश्चरण मुक्तिरूपी नगरमे जानेके लिये भरपूर पाथेय (मार्गमे खाने योग्य पदार्थ) है तथा यही उपवासरूपी तपश्चरण मुक्तिरूपी स्त्रीको वश करनेके लिये परम मन्त्र है ॥४४॥ यह उपवासरूपी तपश्चरण इच्छानुसार पदार्थोंके देनेके लिये कल्पवृक्ष है और यही तपश्चरण मनमें सोचे हुए पदार्थोंको देनेके लिये चिन्तामणि रत्नके समान है ॥४५॥ विद्वान् लोग इसी तपश्चरणको रत्न आदि समस्त पदार्थोंकी खानिभूत निधि कहते हैं ॥४६॥ तीनो लोकोमे रहनेवाली लक्ष्मीको आकर्षण करने—अपनी ओर खीचनेके लिये यही उपवासरूपी तप परम मन्त्र है तथा जन्ममरण-रूपी ज्वरको दूर करनेके लिये यही उपवास परम औषध है ॥४७॥

कर्मरूपी महा वनको जला देनेके लिये यही तपश्चरण अग्निके समान है और पापरूपी मलको धोनेके लिये गणधर देवोने इसी उपवासरूपी तपश्चरणको जलके समान बतलाया है ॥४८॥ पापरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये भगवान् जिनेन्द्रदेवने इसी तपको वज्र बतलाया है और यही तपश्चरण अशुभरूपी महा शत्रुओको नष्ट करनेके लिये तीक्ष्ण शस्त्रोंके समान है ॥४९॥ इन्द्रिय-रूपी मदोन्मत्त हाथीको मारनेके लिये यह तपश्चरण सिंहके समान है और मनरूपी बन्दरको रोकने वा वश करनेके लिये यही तपश्चरण जालके समान माना जाता है ॥५०॥ तपश्चरणसे

तपसालङ्कृतो धीमान् यद् यद् वस्तु समीहते । तत्तदेव समायाति त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ॥५१
एकचित्तेन यो धीमान् मुक्तिस्त्रीरञ्जिताशय । तप करोति तस्यैव किञ्चिल्लोके न दुर्लभम् ॥५२
ये बुधा मुक्तिमापन्ना यान्ति यास्यन्ति निश्चितम् । केवल तपसा तेऽपि नान्येन केन हेतुना ॥५३
हीने संहनने धीरा ये कुर्वन्ति तपोधनम् । स्वशक्ति प्रकटीकृत्य ते धन्या विदुषा मता. ॥५४
तीर्थनाथा ध्रुवं मुक्तिनाथा इन्द्रादिपूजिताः । तपः कुर्वन्ति तेऽत्यन्तं षण्मासावधिगोचरम् ॥५५
आदिश्रीजिनदेवोऽपि समं गणधरादिभि. । तपः करोति लोकेऽस्मिस्तर्ह्यन्यैः क्रियते न किम् ॥५६
तप्तं यथाग्निना हेम शुद्धं भवति योगत । जीवस्तपोऽग्निना तप्त शुद्धो दृष्टचादियोगत ॥५७
यद्वन्मलभृतं वस्त्रं शुद्धं नीरेण स्याद् ध्रुवम् । तपोजलेन धौतो हि जीव शुद्धो भवेन्महान् ॥५८
ये तपो नैव कुर्वन्ति स्थूलदेहादिलम्पटाः । रोगक्लेशादिजं दु खं ते लभन्ते भवे भवे ॥५९
तपोहीनो भवेद्रोगी दु खदारिद्रचपीडितः । इहामुत्र महापापात् श्वभ्रतिर्यग्गतिं व्रजेत् ॥६०
तपोलंकारत्यक्तो यो लिप्त पापमलादिभि । तस्य दु ख न शक्तोऽहं वक्तुं श्वभ्रादिगोचरम् ॥६१
तपो यो न विधत्ते ना कुर्याद्रागादिरोगत । लङ्घनादिसमूहं स पक्षमासादिगोचरम् ॥६२

सुशोभित होनेवाला बुद्धिमान् तीनो कालोमे उत्पन्न होनेवाले और तीनो लोकोमे रहनेवाले जिन जिन पदार्थोकी इच्छा करता है वे सब पदार्थ उसके समीप अपने आप आ जाते है ॥५१॥ जिसका हृदय मुक्तिरूपी स्त्रीमे आसक्त है ऐसा जो बुद्धिमान् पुरुष एकाग्रचित होकर तपश्चरण करता है उसके लिये इस ससारमे कोई पदार्थ दुर्लभ नही है ॥५२॥ जो बुद्धिमान् पहिले मोक्ष जा चुके हैं, अब जा रहे है अथवा आगे जायँगे वे केवल तपश्चरणसे ही गये है, तपश्चरणसे ही जा रहे हैं और तपश्चरणसे ही जायँगे । तपश्चरणके सिवाय अन्य किसी भी कारणसे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता ॥५३॥ जो धीरवीर पुरुष अपनी शक्तिको प्रगट कर तपश्चरणरूपी धनका सग्रह करते हैं वे विद्वानोके द्वारा इस ससारमे धन्य माने जाते हैं ॥५४॥ तीर्थंकर परमदेव होनहार मोक्षके स्वामी हैं और इन्द्रादिक सब उनकी पूजा करते हैं परन्तु वे भी दो दिन चार दिन महीने दो महीने वा छह छह महीनेतकके उपवासवाले तपश्चरणको करते हैं ॥५५॥ इस ससारमे भगवान् श्री ऋषभदेवने भी गणधरोके साथ तपश्चरण किया था फिर भला अन्य लोगोकी तो बात ही क्या है, उन्हे तो अवश्य करना चाहिए ॥५६॥ जिस प्रकार सुहागा आदिके सयोगसे अग्निके द्वारा तपाया हुआ सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सयोगसे तपरूपी अग्निके द्वारा तप्त हुआ यह जीव कर्ममल कालिमासे रहित होकर शुद्ध हो जाता है ॥५७॥ जिस प्रकार मैल लगा हुआ वस्त्र पानीसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपरूपी जलसे धुल जानेपर अत्यन्त नीच पुरुष भी शुद्ध हो जाता हे ॥५८॥ स्थूल शरीरमे आसक्त होकर जो पुरुष तपश्चरण नही करते वे पुरुष भव-भवमे रोग क्लेश आदिके बहुतसे दु खोको भोगते रहते हैं ॥५९॥ जो तपश्चरण नही करता वह इस लोकमे रोग दु ख और दरिद्रता आदिसे महादु खी होता है तथा परलोकमे अनेक पापो का उपार्जन कर नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुखोको भोगता है ॥६०॥ जिसने तपरूपी आभूषण छोड दिया है और जो पापरूपी मैलमे सदा आसक्त रहता है उसको मिलनेवाले नरक आदिके दु खोको हम लोग कह भी नही सकते हैं ॥६१॥ जो राग द्वेषरूपी रोगोके कारण तपश्चरण नही करता उसे पन्द्रह पन्द्रह दिन महीने महीने भरके लघन करने पडते हैं अथवा और भी ऐसे ही अनेक दुःख भोगने पडते हैं ॥६२॥ तपश्चरणके विना यह मनुष्य पशु ही है इसमे कोई सन्देह

तपो विना पुमान् ज्ञेय पशुरेव न संशयः । इहामुत्र भवेद् दु खी सर्वाह्नि परिभक्षणात् ॥६३
इति मत्वा तपो मित्र ! स्वशक्त्या कुरु प्रत्यहम् । वीर त्वं प्रकटीकृत्य स्वकर्मक्षयहेतवे ॥६४
नियमेनैव यो दध्याच्चतुःपर्वसु प्रोषधम् । पञ्चातिचारनिष्क्रान्तः श्रयेत् त्रैलोकजं सुखम् ॥६५
भगवन्तो व्यतीपातान् दिशध्वं कृपया मम । प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं ते स्थिरं कृत्वा मनो हि तान् ॥६६
अदृष्टामृष्टव्युत्सर्गादानसस्तरणानि स्यु । प्रोषधेऽनादर प्रोक्तस्ततश्चास्मरणं भवेत् ॥६७
प्रमार्जनावलोकाभ्यां विना भूमौ हि य क्षिपेत् । कायादिजं मलं दोषमुत्सर्गाख्यं लभेत ना ॥६८
विना यो दृष्टमृष्टाभ्यां वस्त्रं पूजादिवस्तु वा । क्षुत्पीडितोऽभिगृह्णाति चादानातिक्रमं श्रयेत् ॥६९
पिच्छिकानेत्रकर्मभ्या विना रात्री प्रमादत । विधत्ते संस्तरं योऽस्य संस्तरातिक्रमो भवेत् ॥७०
क्षुधादिपीडितो योऽपि पुमानावश्यकादिषु । अनादरं विधत्ते स श्रयेद्दोषमनादरम् ॥७१
गृहकार्यादिसंसक्तो य करोति न निश्चलम् । चित्तं कामार्थसंयुक्तं भजेदस्मरणं स ना ॥७२
कृत्वातिनिश्चलं चित्त यो धत्ते प्रोषधं सुधी । प्रमादानपि संत्यक्त्वा सोऽतीचारं लभेत न ॥७३

दुरितवनमहाग्नि धर्मवृक्षस्य मेघं, सकलसुखसमुद्रं दु खदावाग्निवृष्टिम् ।
सुरशिवगतिमार्गं साधुलोकै सुसेव्य भज विमलगुणाप्त्यै प्रोषधं पर्वसारे ॥७४

नही । उपवासरूपी तपश्चरणके विना लगातार सब दिन भक्षण करनेसे यह जीव अवश्य ही दु खी होता है ॥६३॥ यही समझकर हे धीर वीर मित्र ! अपने कर्मोको नष्ट करनेके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर तू प्रतिदिन तपश्चरण कर ॥६४॥ जो पाँचो अतीचारोको छोडकर प्रत्येक महीनेके चारो पर्वोमे नियमपूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह तीनो लोकोके समस्त सुखोको प्राप्त होता है ॥६५॥ प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर उन अतिचारोको मेरे लिये निरूपण कीजिये ? उत्तर—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोका निरूपण करता हूँ ॥६६॥ अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग, अदृष्टमृष्ट आदान, अदृष्टमृष्ट सस्तरोपकरण, प्रोषधमे अनादर और अस्मरण ये पाँच प्रोषधोपवासके अतिचार गिने जाते हैं ॥६७॥ जो विना देखे विना शोधे अपने काममें आने योग्य जल आदिको पृथ्वीपर रख देता है उसके अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग नामका दोष लगता है ॥६८॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीडित होकर वा अन्य किसी कारणसे विना देखे विना शोधे वस्त्र वा पूजाके पदार्थोको ग्रहण करता है उसके अदृष्टमृष्टदान नामका अतिचार लगता है ॥६९॥ जो मनुष्य प्रमादके कारण रात्रिमे पीछेसे विना शोधे वा नेत्रोंसे विना देखे विछौना वा साँथरा (सोनेके लिये चटाई आदिका विछाना) करता है उसके अदृष्मृटष्ट सस्तरोपकरण नामका अतिचार लगता है ॥७०॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीडित होकर (भूखसे घवडाकर) आवश्यक आदि कार्योमे अनादर करता है उसके अनादर नामका दोष लगता है ॥७१॥ अपने हृदयको घरके काममे आसक्त रखनेवाला अथवा काम अर्थ इन दो ही पदार्थोमे हृदयको आसक्त रखनेवाला जो पुरुष अपने चित्तको निश्चल नही करता है उसके अस्मरण नामका दोष लगता है । (जिसका चित्त निश्चल नही है उससे भूल हो जाना स्वाभाविक ही है इसलिये चित्तका स्थिर न रहना ही अस्मरण कहलाता है ।) ॥७२॥ जो बुद्धिमान् समस्त प्रमादोको छोडकर और अपने हृदयको निश्चल कर प्रोषधोपवास करता है उसके कोई अतिचार नही लग सकता ॥७३॥ यह प्रोषधोपवास पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है, धर्मरूपी वृक्षको बढ़ानेके लिये मेघकी धारा है, समस्त सुखोका सागर है, दु खरूपी दावानल अग्निको शान्त करनेके लिये पानीकी वर्षा है, स्वर्ग मोक्षका कारण

अमलगुणनिधानं स्वान्तसर्पस्य मन्त्रं, विषयवनदवाग्निं कर्मकक्षे कुठारम् ।
सकलभुवनपूज्यं तीर्थनाथै प्रणीतं, बुध भज परिमुक्त्यै चोपवास सदा त्वम् ॥७५

स्वर्गश्रीरुपयाति तं च विमला मुक्तिस्तमालोक्यते,
सद्वाणी स्वयमेव कीर्तिरतुला राज्यादिलक्ष्मी ध्रुवम् ।
दुर्दान्तेन्द्रियमत्तहस्तिहनने सिंहोपमं धर्मदं
पापारिक्षयदं बुधो हि कुरुते यः प्रोषधं पर्वसु ॥७६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रोषधोपवासप्ररूपको नाम एकोनविंशतिम परिच्छेद ॥१९॥



है और साधु लोग भी इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! निर्मल गुणोको प्राप्त करनेके लिये सारभूत पर्वके दिनोमे तू इस प्रोषधोपवासको धारण कर ॥७४॥ यह प्रोषधोपवास निर्मल गुणोका निधान है, अपने हृदयरूपी सर्पको वश करनेके लिये महामन्त्र है, विषयरूपी वनको जला देनेके लिये दावानल अग्नि है, कर्मरूपी वनको काटनेके लिये कुठार है, तीनो लोक इसकी पूजा करता है और तीर्थकर परमदेवने इसका निरूपण किया है। इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इस प्रोपधोपवासको सदा धारण कर ॥७५॥ यह प्रोषधोपवास किसीके वश न होनेवाली इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथीको मारने वा वश करनेके लिये सिंहके समान है, धर्मको प्रगट करनेवाला वा देनेवाला है और समस्त पापोको नाश करनेवाला है इसलिये जो बुद्धिमान् प्रत्येक पर्वके दिनोमे इस प्रोषधोपवासको धारण करता है उसके समीप स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप आ जाती है, निमल मुक्ति भी उसे सदा देखती रहती है, श्रेष्ठ वाणी वा सरस्वती अपने आप आ खडी होती है, उसकी कीर्ति चारो ओर फैल जाती है और अनुपम मोक्षरूपी राज्यकी लक्ष्मी उसे अवश्य प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थोको पर्वके दिनोमे अवश्य प्रोपधोपवास करना चाहिए ॥७६॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे प्रोषधोपवासको निरूपण करनेवाला यह उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१९॥



वीसवाँ परिच्छेद

महाव्रतधरं धीरं वन्देऽहं मुनिसुव्रतम् । अनेकव्रतसन्दानप्रणीत पुण्यहेतवे ॥१
शिक्षाव्रतं तृतीय च व्याख्याय कथयाम्यहम् । चतुर्थं दानसञ्जातं स्वस्यान्यस्य हिताय वै ॥२
आहार चौषध शास्त्रदान वसतिका जिनै । चतुर्धा गृहिणा दानं प्रणीत पुण्यहेतवे ॥३
ज्ञात्वा दानं तथा पात्रं विधिं स्वर्मुक्तिप्राप्तये । चतुर्विधं महादानं दधीध्व गृहनायका ॥४
उत्कृष्टमध्यनिकृष्टैर्भजन्ति पात्रतां भुवि । मुनिश्रावकसद्दृष्टिर्जना दर्शनशालिन ॥५
सर्वसङ्गपरित्यक्ता. उक्ता सद्वृत्तगुप्तिभि । धीरवीरास्तपस्तप्ता सुखसंस्कारवर्जिताः ॥६
मलेन लिप्तसर्वाङ्गास्त्यक्तदेहा सुदुर्लभा । तपसा क्षामसर्वाङ्गा. परीषहसहा वरा. ॥७
मूलोत्तरगुणाढ्याश्चाप्यसख्यगुणसागरा । लाभालाभे समा धीरा निन्दास्तुतिपराङ्मुखा ॥८
तृणहेमादिसंतुल्या' संसार दु.खवारिधिम् । स्वयं तरन्ति भव्यानां क्षमास्तारयितुं बुधा ॥९
कृतादिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिन । उच्चनीचगृहेष्वेव प्रविशयन्तोऽतिनिस्पृहा ॥१०
इन्द्रियादिजये शूरा सर्वजीवहितप्रदा । रत्नत्रयसमायुक्ता ज्ञानध्यानपरायणा ॥११
सदेर्यापथसन्नेत्रा ये मुनीन्द्रा. शुभाशया । रागद्वेषमदोन्मादभयमोहादिवर्जिता ॥१२

जो महाव्रतोको धारण करनेवाले हैं, धीरवीर हैं और अनेक व्रतोको प्रदान करनेमे समर्थ हैं ऐसे श्री मुनिमुव्रत भगवान्को मै पुण्य उपार्जन करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपरके परिच्छेदमे प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतका व्याख्यान कर चुके। अव आगे अपने और दूसरोंके हित के लिये चौथे दान वा वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतको कहते हैं ॥२॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोको पुण्य सम्पादन करनेके लिये आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान और वसतिका दान ऐसे चार प्रकारका दान वतलाया है ॥३॥ गृहस्थोको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दान, पात्र और विधि-को जानकर चारो प्रकारका महादान देना चाहिए ॥४॥ इस ससारमे पात्र तीन प्रकारके हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। मुनि उत्तम पात्र हैं, श्रावक मध्यम पात्र है और असयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं ॥५॥ जो मुनिराज वाह्य आभ्यन्तर सव तरहके परिग्रहोसे रहित हैं, जो श्रेष्ठ व्रत और गुप्तियोसे शोभायमान हैं, धीरवीर आदि अनेक प्रकारके तपश्चरण करनेवाले हैं, जो सुखके सव सस्कारोसे रहित हैं, धूल मिट्टी आदि मैलसे जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है, जिन्होने अपने शरीरसे ममत्व छोड दिया है, जो संसारमे अत्यन्त दुर्लभ हैं, तपश्चरणसे जिनका सव शरीर कृश हो रहा है, जो परीषह सहन करनेमे चतुर हैं, मूलगुण उत्तरगुणोसे सुशोभित हैं, असख्यात गुणोके सागर हैं, लाभ अलाभमे जिनके परिणाम एकसे रहते हैं, जो धीरवीर हैं, जो निन्दा स्तुति दोनोसे प्रतिकूल हैं, तृण सुवर्ण दोनोमे समान भाव रखते हैं, जो अनेक दु खोके सागर ऐसे ससारको स्वय तरते हैं और दूसरोको तार देने—पार कर देनेमे समर्थ हैं, जो कृत कारित अनुमोदना आदिके द्वारा किये हुए दोषोसे सर्वथा रहित हैं, जो आहार करनेके लिये उच्चकुली नीचकुली सवके घर विना किसी इच्छाके प्रवेश करते हैं, जो इन्द्रियोको जीतनेमे शूरवीर हैं, सव जीवोका हित करने-वाले हैं, रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, ज्ञान ध्यानमे सदा तल्लीन रहते हैं, जिनके नेत्र सदा ईर्यापथमे लगे रहते हैं, जिनका हृदय शुभ है, जो राग द्वेष मोह मद उन्माद भय आदि विकारोसे रहित हैं,

तानेवोत्तमसत्पात्रान् विद्धि त्वं मुनिनायकान् । दानयोग्यान् महापूज्यान् दातृसन्तारकान् भुवि ॥१३
सम्यक्त्वादिगुणोपेतान् श्रावकव्रततत्परान् । धर्मसवेगसयुक्तान् सत्प्रोषधविधायिन ॥१४
देवगुर्वादिसम्भक्तान् दानपूजादिकारकान् । विद्धि त्व श्रावकानेन पात्रमध्यमसंज्ञकान् ॥१५
सम्यग्दर्शनसंशुद्धा भक्ताः श्रीजिनशासने । पूजादितत्परा लोके सवेगादिविभूषिता ॥१६
तत्त्वज्ञानादिश्रद्धानयुक्ता येऽष्टगुणान्विता । ते एव पात्रता प्राप्ता जघन्याख्यं सुदृष्टय ॥१७
शुद्धं सत्प्रासुकं स्निग्धं कृतादिदोषवर्जितम् । तपो वृद्धिकरं सार त्यक्तमिश्रसचित्तकम् ॥१८
कुटुम्वकारणोत्पन्नमन्नदानं सुखप्रदम् । स्वयमागतपात्राय दातव्य गृहनायकै. ॥१९
श्रद्धा शक्तिश्च सद्भक्तिरलुब्धत्व दया क्षमा । विज्ञानं सद्गुणा उक्ता दातॄणा हि मुनीश्वरैः ॥२०
प्रतिग्रहो मुनीन्द्राणामुच्चस्थान तथैव च । पादप्रक्षालनं पूजा प्रणामश्चैकचित्तत ॥२१
कायवाङ्मनसां शुद्धिरेषणाशुद्धिरेव हि । विधेर्नव सुभेदा स्युर्गृहिणा पुण्यहेतवे ॥२२
संसप्तगुणयुक्तेन दानमाहारसंज्ञकम् । नवपुण्यान्वितेनैव देय पात्राय भक्तितः ॥२३
प्रासुकं सर्वहिंसादित्यक्तं योग्यं सुखप्रदम् । लोकनिन्दाविनिष्क्रान्तं सर्वामयविनाशकम् ॥२४
व्याधिग्रस्तमुनीन्द्राय चौषधं श्रावकोत्तमै. । ज्ञात्वा रोगं प्रदातव्य तत्व्याध्याद्युपशान्तये ॥२५
विश्वतत्त्वादिसम्पूर्णं लोकालोकप्रकाशम् । जिनेश्वरमुखोत्पन्नं ग्रथितं गौतमादिभिः ॥२६

जो दान देने योग्य है, महा पूज्य है, और दाताओको ससारसे पार कर देनेवाले है ऐसे मुनिराजोको ही तू उत्तम पात्र समझ ॥६–१३॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुशोभित है, श्रावकोके धर्मको पालन करनेमे सदा तत्पर रहते हैं, धर्म और सवेग (संसारसे डर) से सुशोभित हैं, प्रोषधोपवास आदि आवश्यक क्रियाओको करनेवाले है, देव गुरु शास्त्रके भक्त हैं, और और दान पूजा आदि कर्तव्यकर्मोको सदा पालन करते है, ऐसे श्रावकको तू मध्यम पात्र समझ ॥१४–१५॥ जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, श्री जिनेन्द्रदेवके शासनके भक्त है, जो पूजा प्रतिष्ठा आदि करनेमे तत्पर है, सवेग आदि गुणोसे सुशोभित है, जिनको सातो तत्त्वोका वा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादिका पूर्ण श्रद्धान है और जो आठ मूलगुणोसे विभूषित है ऐसे असयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र गिने जाते है ॥१६–१७॥ गृहस्थोको अपने आप आये हुए पात्रोके लिये शुद्ध, प्रासुक, चिकना वा मुलायम, कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोसे रहित, तपश्चरणको बढानेवाला, सचित्त-रहित, सचित्तकी मिलावटसे रहित, सारभूत, सुख देनेवाला और जो कुटुम्बी आदिके लिये बनाया गया हो ऐसा आहार दान देना चाहिये ॥१८–१९॥ मुनिराजोने श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, अलुब्धता, दया, क्षमा और विज्ञान ये सात दाताओके श्रेष्ठ गुण बतलाये है ॥२०॥ मुनियोका पडगाहन करना, उनको ऊँचा आसन देना, उनके चरणकमल धोना, पूजा करना, चित्त लगाकर प्रणाम करना, मनको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, शरीरको शुद्ध रखना और आहारकी शुद्धि रखना ये नौ गृहस्थोको पुण्य बढानेवाले दानकी विधिके भेद कहलाते है इन्हीको नवधाभक्ति कहते है ॥२१–२२॥ नवधा भक्ति करनेवाले और ऊपर लिखे हुए सातो गुणोसे सुशोभित गृहस्थोको भक्तिपूर्वक उत्तम पात्रोके लिये प्रासुक, हिंसादिक समस्त पापोसे रहित योग्य सुख देनेवाला, लोकनिन्दासे रहित और समस्त रोगोको दूर करनेवाला आहार दान देना चाहिए ॥२३–२४॥ उत्तम गृहस्थोको किसी मुनिराजको रोगी जानकर उस रोगको शान्त करनेके लिये उन्हे औषधि दान देना चाहिए ॥२५॥ इसी प्रकार वुद्धि और सवेगको धारण करनेवाले ज्ञानी मुनियोके लिये विवेकी गृहस्थोको ज्ञानदान देना चाहिए तथा समस्त तत्त्वोके कथनसे भरे हुए, लोक अलोकको

आचारसूचकं सारं मुनीनां गृहिणामपि । द्रव्याणां गुणपर्यायभेदाभेदप्ररूपकम् ॥२७
पूर्वापरविरुद्धादिदोषदूरं विवेकिभि । ज्ञानिनो हि सुपात्राय बुद्धिसवेगशालिने ॥२८
ज्ञानदानं प्रदातव्यं पुस्तक वा मुनीश्वरे । गृहस्थै स्वोपकाराय पात्राज्ञानादिहानये ॥२९
शीतवातादिसत्यक्ता शून्यगृहमठादिका । सूक्ष्मजीवादिनिर्मुक्ता कारितादिविवर्जिता ॥३०
स्वभावनिर्मिता सारा देया वसतिकाऽमला । गृहस्थै सारपात्राय धर्मध्यानादिसिद्धये ॥३१
मृत्युवादिभयभीतेभ्यस्त्रस्तेभ्योऽपि निरन्तरम् । दु खशोकादिग्रस्तेभ्य स्थावरेभ्योऽपि सुपुण्यदम् ॥३२
अभयाख्यं महादानं सर्वजीवेभ्य एव हि । दातव्यं व्रतशुद्ध्यै सद्गृहस्थैर्मुनिनायकै. ॥३३
आहारदानत सम्यग्ज्ञानवृत्तादयो गुणाः । वृद्धिं यान्ति यतीशानां यथानन्दा सुध्यानत ॥३४
वपु स्थिरं भवेन्नूनं व्युत्सर्गादितपोगुणे । आहारदानयोगेन मुनीनां पर्वतादिवत् ॥३५
प्राणास्तिष्ठन्ति नश्येच्च क्षुधादिजनिता व्यथा । अन्नात्सत्पात्रवृन्दानां यथा रोगो वरौषधात् ॥३६
आहारेण विना किंचित्तपोवृत्तादिकं मुनि । अनुष्ठातुं न शक्नोति त्यक्तग्रासो यथा गज ॥३७
आहारबलसामर्थ्यात्तप सर्वे यतीश्वरा । आचरन्ति महाघोरं ग्रासपुष्टा गजा इव ॥३८
तस्माद् दत्तो वराहारो येन पात्राय भावत । सर्वं यमादिकं तेन दत्त ज्ञानादिभि समम् ॥३९

प्रकाशित करनेवाले, भगवान् जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न हुए, गौतमादि गणवरोके द्वारा गूँथे हुए गृहस्थ व मुनियोके चारित्रको निरूपण करनेवाले, द्रव्योंके गुण पर्यायोके द्वारा होनेवाले भेद अभेदोको प्रगट करनेवाले तथा पूर्वापर विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित ऐसे शास्त्र अपना उपकार करनेके लिये और पात्रोका अज्ञान दूर करनेके लिये अवश्य देने चाहिए । यह ज्ञान दान वा शास्त्र दान गृहस्थ भी मुनियोके लिये करते हैं तथा मुनि भी परस्पर एक दूसरेके लिये करते हैं ॥२६–२९॥ इसी प्रकार उत्तम पात्रोको धर्मध्यानादिकी सिद्धिके लिये गृहस्थोको ऐसी वसतिकाका दान देना चाहिए जिसमे शीत वायु आदि न जा सके, जो सूने घरके रूपमे हो वा सूने मठके रूपमे हो, जिसमे सूक्ष्म जीवोका निवास न हो, जो कारित आदि दोषोंसे रहित हो, स्वभावसे बनी हो, अच्छी हो और निर्मल हो । ऐसे वसतिकाका दान मुनियोंके लिये अवश्य देना चाहिए ॥३०–३१॥ श्रेष्ठ गृहस्थोको अथवा मुनियोको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये पुण्य बढ़ानेवाला अभयदान नामका महादान देना चाहिए और वह ऐसे जीवोको देना चाहिए जो मृत्युके भयसे भयभीत हो, जो सदा दु खी रहते हो और दु ख शोक आदिके फन्देमे पड गये हो, ऐसे त्रस वा स्थावर जीवोको भी वह अभयदान देना चाहिए ॥३२–३३॥

आहारदान देनेसे मुनियोके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोकी वृद्धि होती है और फिर उत्तम ध्यान होनेसे उनके आत्मानुभवका आनन्द आया करता है ॥३४॥ आहारदानके सम्बन्धसे मुनियोका शरीर कायोत्सर्ग आदि गुणरूप तपश्चरणमे पर्वतके समान स्थिर हो जाता है ॥३५॥ जिस प्रकार उत्तम औषधिसे रोग नष्ट हो जाते हैं और प्राण बच रहते हैं उसी प्रकार आहारसे उत्तम पात्रोकी क्षुधा आदिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और उनके प्राण बने रहते हैं ॥३६॥ जिस प्रकार आहार छोड़ देनेपर हाथी कुछ नही कर सकता, उसी प्रकार विना आहारके मुनि भी तपश्चरण, चारित्र, ध्यान आदि कुछ नही कर सकते ॥३७॥ जिस प्रकार भोजनसे पुष्ट हुआ हाथी सब कुछ कर सकता है उसी प्रकार समस्त मुनिराज आहारके बलकी सामर्थ्यसे ही महा घोर तपश्चरण करते हैं ॥३८॥ इसलिये जिसने भावपूर्वक उत्तम पात्रके लिये श्रेष्ठ आहार

पात्रदानं जिना प्राहु पोतं संसारसागरे । गृहस्थानां महाघोरे दुःखमीनाकुले वरे ॥४०
महाहिंसादिजे पापकर्मेन्धनसमुत्करे । जगुः सुपात्रदानं हि बुधाः सञ्ज्वलनोपमम् ॥४१
पापं विलीयते दानाद् हस्ते न्यस्तांबुवत्क्षणम् । वर्द्धते च महापुण्यमिंदुयोगेन वार्धिवत् ॥४२
जायते च महासौख्यं ध्यानजातमिवाङ्गिनाम् । दु खं पलायते दानात् प्रभाते तस्करादिवत् ॥४३
वृद्धि यान्ति गुणाः सर्वे दोषा यान्ति पुन क्षयम् । कीर्तिरालिङ्गन दत्ते कुकीर्तिर्नाशमिच्छति ॥४४
लक्ष्मीः सम्मुखमायाति स्वभार्येव कृतादरा । दारिद्रयं च विनश्येच्च यथा व्याधिर्वरौषधात् ॥४५
सञ्जायन्ते महाभोगा सर्वेन्द्रियसुखप्रदाः । सर्वे रोगा विनश्यन्ति कृत्स्नदु खप्रदा भुवि ॥४६
उत्तमाचारमायाति दुराचारं न तिष्ठति । महासत्पात्रदानेन श्रावकाणां विवेकिनाम् ॥४७
गृहस्थतापि दानेन भवेद्गुणवती नृणाम् । पूज्यपात्रोपकारश्च यथा सञ्जायतेतराम् ॥४८
यादृशं पात्रदानेन महत्पुण्यं भवेन्नृणाम् । तादृशं च व्रते नैव जीवघातादिदूषिते ॥४९
धन्यास्ते सद्गृहे येषा समायान्ति मुनीश्वराः । आहारार्थं महापूज्या इन्द्रचक्रधरादिभि ॥५०
पात्रदानानुमोदेन तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः । भोगभूमौ सुखं भुक्त्वा परमाह्लादकारणम् ॥५१
वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गताः । देवालयं सुखं भुक्त्वा भोगभूम्यादिजं सुखम् ॥५२
महापात्रस्य दानेन दर्शनादिविभूषिता । अच्युताख्यं बुधा नाकं प्रगच्छन्ति सुखाकरम् ॥५३

दिया उसने ज्ञानादिकके साथ-साथ यम नियम आदि सब कुछ दिया ॥३९॥ यह ससार अनेक दु ख-रूपी मगरमच्छोसे भरा हुआ महा घोर सागर है इससे पार होनेके लिये गृहस्थोको एक पात्र दान ही जहाज है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४०॥ विद्वान् लोग इस पात्र दानको महा हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए पापकर्मरूपी ई धनके समूहको जलानेके लिये अग्निके समान वतलाते हैं ॥४१॥ जिस प्रकार हाथकी अजलिमे रक्खा हुआ जल क्षणभरमे नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस पात्रदानसे सब पाप क्षणभरमे नष्ट हो जाते हैं और जिस प्रकार चन्द्रमाके निमित्तसे समुद्र वढता है उसी प्रकार इस पात्रदानसे महापुण्य वढता रहता है ॥४२॥ इस पात्रदानसे प्राणियोको महा सुखकी प्राप्ति होती है और जिस प्रकार सवेरेके समय चोर भाग जाते है उसी प्रकार इस पात्रदानसे सब दु ख भाग जाते है ॥४३॥ विवेकी श्रावकोको उत्तम पात्रोके लिये श्रेष्ठ दान देनेसे गुण सव वढते रहते है और दोष सव नष्ट हो जाते है, कीर्ति अपने आप आकर आलिगन करती है, अपकीर्ति स्वय नष्ट होना चाहती है, लक्ष्मी अपनी स्त्रीके समान आदरपूर्वक अपने आप सामने आती है, जिस प्रकार औपधिसे व्याधि नष्ट हो जाती है उसी प्रकार दरिद्रता सव नष्ट हो जाती है, समस्त इन्द्रियोको सुख देनेवाले महा भोगोकी प्राप्ति होती है, अनेक दु ख देनेवाले रोग सव नष्ट हो जाते हैं, सदाचार आ जाता है और दुराचार अपने आप नष्ट हो जाता है ॥४४–४७॥ आहारदान देनेसे जिस प्रकार पूज्य पात्रोका अत्यन्त उपकार होता है उसी प्रकार सातो गुणोसे सुशोभित गृहस्थ मनुष्योका उपकार भी दानसे ही होता है ॥४८॥ उत्तम पात्रोको दान देनेसे मनुष्योको जैसे महापुण्यकी प्राप्ति होती है वैसे पुण्यकी प्राप्ति अन्य व्रत आदि किसीसे नही होती, क्योकि उनमे भी जीव घात होनेकी सम्भावना है ॥४९॥ ससारमे वे मनुष्य धन्य है जिनके घर इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि सवके द्वारा महा पूज्य मुनिराज आहारके लिए आते हैं ॥५०॥ इस पात्रदानकी केवल अनुमोदना करनेसे अनेक तिर्यंच भी परम आनन्दको देनेवाले भोग भूमिके सुख भोगकर स्वर्गमे जा उत्पन्न हुए हैं ॥५१॥ जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भी केवल एक वार पात्रोको दान देनेसे भोग-भूमिके सुख भोगकर स्वर्गमे देव हुए हैं ॥५२॥ जो

लभन्ते पात्रदानेन इन्द्रचक्रधरादिजान् । दक्षा भोगाश्च लोकेऽस्मिन् तीर्थराजनिषेवितान् ॥५४
यथा शिल्पी व्रजेदूर्ध्वं कृतगेहादिभि समम् । तथा दानोच्चपात्रेण नम दानादियोगत ॥५५
पुसा कल्पाङ्घ्रिपचिन्तामणिकामदुधादय. । मनोऽभिलषितं भोग प्रदद्युर्भुवि दानत ॥५६
किमत्र वहुनोक्तेन पात्रदानप्रभावत । भुक्त्वा नृदेवजं सौख्यं यान्ति मुक्ति क्रमाद् बुधाः ॥५७
औषधाख्येन दानेन नश्येद्रोगकदम्बकम् । मुनीना त्यक्तसङ्गाना स्वस्थं सञ्जायते वपुः ॥५८
ततः संज्ञानवृत्तादि सर्वमाचरितुं क्षम । भवेन्मुनिस्ततो गच्छेत्स्वर्गमुक्तिगृहादिकम् ॥५९
तस्मादौषधदानेन महत्पुण्य भवेन्नृणाम् । त्यक्तरोगं शरीरं च लावण्यादिविभूषितम् ॥६०
ज्ञानदानेन पात्राणामज्ञानं प्रपलायते । जायते च महज्ज्ञान लोकाग्रपथदीपकम् ॥६१
ज्ञानात्सद्ध्यानवृत्तादि सर्व यमकदम्बकम् । आचरित्वा व्रजेन्मुक्ति मुनिः सर्वसुखाकराम् ॥६२
ज्ञानपोतं समारूढः संसाराब्धिदुस्तरम् । स्वयं तरति भव्याना तारयेच्च मुनीश्वर ॥६३
ज्ञानहीनो न जानाति कृत्याकृत्य शुभाशुभम् । हेयाहेय विवेकं च बन्धमोक्षादिकं मुनि ॥६४
तस्माद् ज्ञानं महादानं य पात्राय ददाति ना । वहुभव्योपकारत्वात्तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥६५
मनोज्ञा सुस्वरा वाणीं मधुरा कर्णसौख्यदाम् । कवित्व चैव पाण्डित्य वादित्वं च प्रतापताम् ॥६६

पुरुष सम्यग्दर्शनसे विभूपित हैं वे वुद्धिमान् महापात्रोको दान देनेसे सुखकी खानि ऐसे अच्युत स्वर्गमे उत्तम देव होते हैं ॥५३॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेसे चतुर पुरुषोको इस ससारमें इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके द्वारा सेवन करने योग्य उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥५४॥ जिस प्रकार मकान वनानेवाला कारीगर ज्यो-ज्यो मकान वनाता जाता है त्यो-त्यो ऊँचा चढता है उसी प्रकार दान देनेवाला गृहस्थ जैसे-जैसे उत्तम पात्रोको दान देता है वह उस दानके प्रभावसे वैसा ही उत्तम वा उच्च होता जाता है ॥५५॥ इस ससारमे दान देनेसे ही मनुष्योको कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु आदि इच्छानुसार भोग देते हैं ॥५६॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि इस पात्रदानके ही प्रभावसे वुद्धिमान् लोग मनुष्य और देवोंके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥५७॥ इसी प्रकार औषधदानसे समस्त परिग्रहोका त्याग करनेवाले मुनियोके सव रोग नष्ट हो जाते हैं और उनका शरीर स्वस्थ हो जाता है ॥५८॥ शरीर स्वस्थ होनेसे ही वे मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेमे समर्थ होते हैं और फिर उस सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्रके प्रभावसे वे स्वर्ग मोक्षमे जा विराजमान होते हैं ॥५९॥ इसलिये औषधदानसे मनुष्योको महापुण्यकी प्राप्ति होती है, उनका शरीर सदा नीरोग रहता है और लावण्यता आदिसे सुशोभित रहता है ॥६०॥ ज्ञान दान देनेसे मुनियोका वा पात्रोंका अज्ञान दूर होता है और मोक्षमार्गको दिखानेवाला महाज्ञान प्रगट होता है ॥६१॥ सम्यग्ज्ञानके कारण ही मुनि श्रेष्ठ ध्यान, चारित्र, यम, नियम आदि सवको पालनकर समस्त सुखोकी निधि ऐसे मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥६२॥ मुनिराज ज्ञानरूपी जहाजपर वैठकर अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य इस ससाररूपी महासागरसे स्वय पार हो जाते हैं और अन्य कितने ही भव्य जीवोको पार कर देते हैं ॥६३॥ जो मुनि ज्ञान-रहित हैं वे करने योग्य, न करने योग्य, शुभ, अशुभ, हेय, उपादेय, विवेक, वन्ध, मोक्ष आदि कुछ नही जानते हैं ॥६४॥ इसलिये जो मनुष्य पात्रोके लिये (मुनिराजोके लिये) ज्ञानदानरूपी महादान देते हैं वे अनेक भव्योंका उपकार करते हैं, अतएव उनके उपार्जन किये हुए पुण्यको हम लोग जान भी नही सकते ॥६५॥ उत्तम विद्वान् इस ज्ञानदाता-के प्रतापसे इस लोक और परलोक दोनो लोकोमे मनोहर, सुस्वर, मधुर और कानोको सुख

समस्तशास्त्रविज्ञानं मतिवाहुल्यमेव च । अवधिं षड्विधां द्वेधा मनःपर्ययसंज्ञकम् ॥६७
कलाविज्ञानकौशल्यं लोकचेष्टादिकं तथा । लभन्ते ज्ञानदानेन चेहामुत्र बुधोत्तमाः ॥६८
शास्त्रदानेन सारेण द्वादशाङ्गमहोदधे । व्रजन्ति ज्ञानिन पारं संसारस्य क्रमात् पुन ॥६९
केवलज्ञानसाम्राज्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । ज्ञानदानप्रसादेन लभन्ते सुधियो भुवि ॥७०
ज्ञानदानप्रभावेन विभूतिं गौतमादिजाम् । प्राप्य हत्वा स्वकर्माणि बुधा यान्ति परं पदम् ॥७१
श्रुतज्ञानप्रदानेन लब्ध्वा नाकं महाग्रिमम् । सद्राज्यं केवलं चापि यान्ति मोक्षं नरोत्तमाः ॥७२
यो ना वसतिकां दत्ते सत्पात्राय सुखाप्तये । उच्चैर्गेहं विमानं स चेहामुत्र श्रयेत्स्फुटम् ॥७३
प्राप्य वसतिकां सारा ध्यानं वाध्ययनं तपः । मुनिः संहनने हीने कर्तुं शक्नोति नान्यथा ॥७४
वज्रकाया महाधैर्या महासत्त्वा शुभाशया । परीषहसहा धीरा ह्यादिसहननान्विता ॥७५
ध्यानाध्ययनकर्मादि सर्वं गिरिगुहादिषु । भवन्ति मुनय कर्तुं समर्थास्त्यक्तदेहिनः ॥७६
तस्माद्वसतिकादानं यः पात्राय ददाति ना । सार गेहं विमानं च प्राप्य मुक्त्यालयं व्रजेत् ॥७७
सर्वाङ्गिभ्योऽभय दानं वरिष्ठं यो ददाति स । नृदेवज सुखं भुक्त्वा निर्भयं स्थानमाप्नुयात् ॥७८
अभयाख्येन दानेन विना दानचतुष्टयम् । व्यर्थं भवति लोकानां तपोहीन यथा वपु. ॥७९

देनेवाली वाणी प्राप्त करते है। कविता करना, पाडित्य प्राप्त करना, वादी होना, प्रतापी होना, समस्त शास्त्रोका सबसे अधिक ज्ञान होना, छह प्रकारका अवधिज्ञान प्राप्त होना, दोनो प्रकारका मन पर्यय प्राप्त होना, कला विज्ञान आदिमे कुशल होना, समस्त लौकिक व्यवहारका प्राप्त होना आदि सव ज्ञानदानके ही प्रतापसे प्राप्त होता है ॥६६–६८॥ इस सारभूत ज्ञानदानके प्रतापसे ज्ञानी पुरुष द्वादशाग, श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पार हो जाते है और फिर वे अनुक्रमसे इस ससारके भी पार हो जाते है ॥६९॥ वुद्धिमान् लोग इस ससारमे ज्ञानदानके ही प्रसादसे तीनो लोकोको क्षोभित करनेका कारण ऐसे केवलज्ञानरूपी साम्राज्यको प्राप्त होते हैं ॥७०॥ बुद्धिमान् लोग इस ज्ञानदानके ही प्रभावसे गौतमादि गणवरोकी विभूति पाकर तथा समस्त कर्मोको नाशकर मोक्षरूपी परमपदमे जा विराजमान होते है ॥७१॥ उत्तम मनुष्य इस ज्ञानदानके ही प्रसादसे सबसे अन्तिम स्वर्गको पाकर तथा श्रेष्ठ राज्य भोगकर और केवलज्ञान पाकर मोक्षमे जा विराजमान् होते है ॥७२॥ जो मनुष्य सुख प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ पात्रोको (मुनियोको) वसतिका दान देते हैं वे इस लोक वा परलोकमे ऊँचे भवनोमे अथवा उत्तम विमानोमे जा विराजमान होते है ॥७३॥ मुनिराज हीन सहनन होनेपर उत्तम वसतिकाको पाकर ही ध्यान, अध्ययन वा तपश्चरण कर सकते है। विना वसतिकाके वे ध्यानादिक नही कर सकते। हाँ जिनका शरीर वज्रके समान है, जो महा धीरवीर है, महा पराक्रमी है, जिनका हृदय शुभ है, जो परीषहोको सहन करनेमे धीरवीर है, जो वज्र-वृषभनाराच सहननको धारण करनेवाले है और जिन्होने अपने शरीरसे ममत्वका त्याग कर दिया है, ऐसे मुनिराज पर्वतकी गुफाओमे वा अन्यत्र भी ध्यान अध्ययन आदि समस्त कर्म कर सकते है ॥७४-७६॥ इसलिये जो मनुष्य उत्तम पात्रोके लिये वसतिका दान देते है वे उत्तम भवन और सुन्दर विमानोको पाकर अन्तमे मोक्षमहलमे जा विराजमान होते है ॥७७॥

जो मनुष्य समस्त जीवोके लिये उत्तम अभयदान देता है वह मनुष्य और देवोके उत्तम सुख भोगकर अन्तमे निर्भयस्थानमे सब तरहके भयोसे रहित मोक्षस्थानमे जा विराजमान होता है ॥७८॥ जिस प्रकार विना तपश्चरणके शरीर व्यर्थ है उसी प्रकार अभयदानके विना लोगोके

दत्तं येनाभयं दानं सर्वजीवसुखप्रदम् । तेन दत्तं च पूर्वोक्तं सर्वं दानकदम्बकम् ॥८०
यथात्मनोऽपृथग्भूता भवन्ति दर्शनादय. । गुणा दानादयस्तद्वदभयेन सदैव च ॥८१
अद्रिमध्ये यथा मेरुर्देवमध्ये जिनो यथा । प्रधानोऽपि सुदानानां चाभयाख्यं वरं भवेत् ॥८२
अभयेन समं दानं न स्याल्लोकत्रये क्वचित् । मुनीना श्रावकाणां वा महाफलप्रदेन वै ॥८३
प्रदत्ते मरणार्थे ना कोऽपि कृत्स्नां धरां यदि । रत्नपूर्णां तथाप्यङ्गी नैव मृत्युं समीहते ॥८४
त्यक्तरोगवपुः कान्तं लावण्यादिविराजितम् । आदिसंहननोपेतं लभन्ते प्राणिनोऽभयात् ॥८५
मनोहरा शुभा सारा दक्षा धर्मोपदेशने । व्यक्ताक्षरान्विता वाणी पुंसां स्यादभयेन च ॥८६
तत्त्वचिन्तादिसंयुक्तं रागद्वेषपराङ्मुखम् । अभयाख्येन दानेन मनो धीरं भवेन्नृणाम् ॥८७
यो ना दत्तेऽभयं दानं सर्वजीवेभ्य एव हि । तस्य श्रीर्गृहदासीव वश याति जगत्स्थिता ॥८८
आलिङ्गनं समादत्ते स्वर्गश्री स्वयमेव हि । गृहस्त्रीव गृहस्थानां कृपादानविपाकत ॥८९
स्थूलसूक्ष्मादिजन्तुभ्यो यो ददात्यभयं सदा । स्वप्ने न तस्य जायन्ते सर्वे रोगभयादिका ॥९०
षट्खण्डवसुधारत्ननिधिदेव्यादिसंयुतम् । चक्रवर्तित्वमेव स्यात्कृपादानान्विताङ्गिनाम् ॥९१
अनेककोटिदेवैश्च पूज्यमिन्द्रत्वमेव भो । श्रयेन्नभयदानेन महाभोगप्रदं वरम् ॥९२
अनन्तमहिमोपेतं पूज्यं शक्रनृपादिभि । भवेत्तीर्थकरत्वं हि नृणां प्राभयदानत ॥९३

चारो दान सव व्यर्थ हैं ॥७९॥ जिस वुद्धिमान्‌ने समस्त जीवोको सुख देनेवाला अभयदान दिया उसने पहिले कहे हुए चारो दान इकट्ठे दिये ऐसा समझना चाहिये ॥८०॥ जिस प्रकार ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण आत्मासे भिन्न माने जाते हैं और उनका दान दिया जाता है उसी प्रकार अभयदानको समझना चाहिये अर्थात् अभय भी आत्माका ही गुण है और आत्माके साथ रहता है, परन्तु भिन्न मानकर उसका दान दिया जाता है ॥८१॥ जिस प्रकार पर्वतोमे सुमेरु पर्वत मुख्य है और देवोमे भगवान् जिनेन्द्रदेव मुख्य हैं उसी प्रकार समस्त दानोमे अभयदान ही मुख्य है और यही सवसे उत्तम है ॥८२॥ मुनि वा श्रावकोको महाफल देनेवाले इस अभयदानके समान अन्य तीनो लोकोमे कोई नही हो सकता ॥८३॥ यदि किसीको मरनेके वदलेमे रत्नोसे भरी हुई समस्त पृथ्वी भी दे दी जाय तो भी कोई मरना स्वीकार नही करता ॥८४॥ अभयदानके प्रभावसे यह प्राणी वज्रवृषभनाराच सहननसे सुशोभित लावण्य आदि गुणोंसे विभूषित और समस्त रोगोंसे रहित ऐसे मनोहर शरीरको पाता है ॥८५॥ अभयदानके प्रतापसे मनुष्योको मनोहर, शुभ, सारभूत धर्मोपदेश देनेमे चतुर और व्यक्त अक्षरोसे सुशोभित ऐसे उत्तमवाणी प्राप्त होती है ॥८६॥ इस अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योका हृदय सातो तत्त्वोके चिन्तवन करनेसे भरपूर, रागद्वेष रहित और अत्यन्त धीरवीर हो जाता है ॥८७॥ जो मनुष्य समस्त जीवोको अभय दान देता है उसके घर तीनो लोकोकी लक्ष्मी घरकी दासीके समान अपने आप वश हो जाती है ॥८८॥ गृहस्थोंको दयादानके फलसे स्वर्गकी लक्ष्मी घरकी स्त्रीके समान आप आकर आलिगन करती है ॥८९॥ जो स्थूल सूक्ष्म समस्त जीवोको सदा अभयदान देता रहता है उसके रोग भय आदिक सव स्वप्नमे भी कभी नही होते हैं ॥९०॥ दयादान करनेवाले मनुष्योको छहो खण्ड पृथ्वी, नौनिधि, चौदह रत्न और अनेक सुन्दर रानियोसे भरपूर चक्रवर्तीकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥९१॥ अभयदानके प्रतापसे यह मनुष्य—अनेक करोड देव जिसकी पूजा करते हैं, जो महा भोगोको देनेवाला है और सवसे उत्तम है ऐसे—इन्द्रपदको प्राप्त होता है ॥९२॥ अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योको अनन्त महिमासे सुशोभित और इन्द्र, नरेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकरपदकी प्राप्ति होती है ॥९३॥

दयादानेन पापस्य संवरो निर्जरा भवेत् । जायते प्रत्यहं नृणा महाधर्म. सुखाकर ॥९४
अनर्घ्यं यद्दुराराध्यमसाध्यं तपसादिभि । तत्सर्वमभयात्पुसां भवेल्लोकत्रये स्थितम् ॥९५
अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यसौख्यादिको नृणाम् । पूज्य शक्रादिभिर्मोक्षो दयादानेन जायते ॥९६
इति मत्वा हि दातव्यं दानं चाभयसंज्ञकम् । धर्माय सर्वजीवेभ्य· श्रावकै मुनिभि सदा ॥९७
इत्यादिक महादानं ये ददन्ति निरन्तरम् । सुपात्रस्य भवेत्तेषां सफलं जन्म सद्गृहम् ॥९८
ये धनाढ्या न रातपात्रदानं कुर्वन्ति नैव भो । व्यर्थं जन्म भवेत्तेषामजाकण्ठे स्तनादिवत् ॥९९
दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रम. । तदारूढा निमज्जन्ति संसाराब्धौ सुदुस्तरे ॥१००
मुनिपादोदकेनैव यस्य गेहं पवित्रितम् । नैव श्मशानतुल्यं हि तस्यागारं बुधै स्मृतम् ॥१०१
यदि विनात्र दानेन गृहस्था हि भवन्ति भो । तदा खगाः गृहस्था स्यु गृहव्यापारयोगत ॥१०२
दत्ते दानं न पात्राय यल्लोके कृपणो नर । य स मोहेन मृत्वा हि सर्पादिकुगतिं व्रजेत् ॥१०३
वरं दारिद्रचमेवार्थं न च मोहकरं धनम् । दानहीनं नृणामग्रे श्वभ्रादिगतिकारणम् ॥१०४
समर्थो यो महालोभी ददाति मुनये न वै । दानं परत्रय शर्म सोऽपि छिनत्ति चात्मन ॥१०५
दत्ते दानं न पात्राय तपो नैव करोति य । स ज्ञेयो मनुजत्वेऽपि त्यक्तश्रृङ्गपशोरिव ॥१०६
स्वोदरं पूरयन्त्येव पशवोऽपि मुनीशिनाम् । कुर्वन्ति चोपकार ये ते श्लाघ्या भुवनत्रये ॥१०७

इस दयादानसे ही पापकर्मोका सवर होता है और निर्जरा होती है तथा इस दयादानसे ही प्रतिदिन मनुष्योको सुख देनेवाले महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥९४॥ ससारमे जो पदार्थ अमूल्य है, जो कठिनतासे प्राप्त हो सकते है अथवा जो तपश्चरण आदिसे भी सिद्ध नही हो सकते ऐसे तीनो लोकोमे रहनेवाले समस्त पदार्थ मनुष्योको केवल अभयदानसे प्राप्त हो जाते है ॥९५॥ इस दयादानके प्रतापसे मनुष्योको अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य और इन्द्रादिके द्वारा पूज्य ऐसा परम मोक्ष प्राप्त होता है ॥९६॥ यही समझकर श्रावकोको और मुनियोको केवल धर्मपालन करनेके लिये समस्त जीवोको सदा अभयदान देते रहना चाहिये ॥९७॥ जो मनुष्य सुपात्रोके लिये ऊपर कहे हुए समस्त दान सदा देते रहते है उन्हीका जन्म और उन्हीका गृहस्थाश्रम सफल समझना चाहिये ॥९८॥ जो मनुष्य धनी होकर भी कभी पात्रोको दान नही देते उनका जन्म बकरीके गलेके स्तनोके समान व्यर्थ समझना चाहिये ॥९९॥ जिस गृहस्थाश्रममे दान नही दिया जाता वह गृहस्थाश्रम पत्थरकी नावके समान समझना चाहिये । ऐसे गृहस्थाश्रममे रहकर मूर्ख लोग अत्यन्त अथाह ससाररूपी महासागरमे डूब जाते है ॥१००॥ जिनका घर मुनियोके चरणकमलोके जलसे पवित्र नही हुआ है उनका घर श्मशानके समान है ऐसा विद्वान् लोग मानते है ॥१०१॥ यदि दान दिये विना ही गृहस्थ गृहस्थ कहलाने लगे तो फिर घरके व्यापारमे लगे रहनेके कारण सब पक्षियोको भी गृहस्थ कहना चाहिये ॥१०२॥ ससारमे जो कजूस मनुष्य पात्रोको दान नही देता वह धनके मोहसे मरकर सर्प आदिकी कुगतिमे जन्म लेता है ॥१०३॥ इस ससारमे दरिद्रता अच्छी परन्तु मनुष्योको आगे नरकादिक कुगतियोको देनेवाला तथा मोह उत्पन्न करनेवाला दान रहित धन अच्छा नही ॥१०४॥ जो महालोभी मनुष्य समर्थ होकर भी मुनियोको दान नही देता वह अपने परलोकके समस्त सुखोको नष्ट कर देता है ॥१०५॥ जो न तो पात्रोको दान देता है और न तपश्चरण करता है वह मनुष्य होकर भी सीग रहित पशुके समान समझा जाता है क्योकि जिस प्रकार वह अपना ही पेट भरता है उसी प्रकार पशु भी अपना पेट भर लेते है ॥१०६॥ इसलिये जो गृहस्थ मुनियोका उपकार करते रहते है वे तीनो लोकोमे प्रशसनीयगि ने

इति ज्ञात्वा कुपात्रं चापात्रं त्यक्त्वा विधेहि भो । त्रिभेदाय सुपात्राय मित्र ! दानं सुखाकरम् ॥१०८
कुपात्रापात्रयोः स्वामिन् ! लक्षणं कथय स्फुटम् । प्रवक्ष्येऽहं शृणु त्वं भो तयोर्लक्षणमत्र ते ॥१०९
सम्यक्त्वेन विना यो ना व्रतानि सकलान्यपि । मुनीनां श्रावकाणां च धत्ते भोगादिवाञ्छया ॥११०
तपः करोति घोरं च शास्त्रं पठति प्रत्यहम् । कायक्लेशं विधत्तेऽपि स कुपात्रो मतो जिनैः ॥१११
इन्द्रियादिषु संसक्तः सम्यक्त्वव्रतवर्जितः । त्यक्तधर्मादिसंवेगः सर्वपापप्रवर्तकः ॥११२
देवशास्त्रगुरूणां यो निन्दाकरणतत्परः । गृहकर्मरतोऽपात्रः स प्रोक्तः श्रीजिनाधिपैः ॥११३
तपोवृत्तादिसंयुक्तो मुनिर्मिथ्यात्वपोषणे । श्रावको वा कुपात्रस्य पदं प्राप्नोति निश्चितम् ॥११४
यः कुपात्राय ना दत्ते सदन्नं पुण्यहेतवे । कुभोगभूषु तिर्यक्त्वं कुनृत्वं वा लभेत सः ॥११५
कालोदधौ नृणां यः स्यात्कुनृत्वं लवणार्णवे । लम्बकर्णादिसंयुक्तं कोलविद्युन्मुखादिजम् ॥११६
भोगभूमिषु तिर्यक्त्वं सदीर्घायुः सुखान्वितम् । तत्सर्वं विबुधैर्ज्ञेयं कुपात्रदानजं फलम् ॥११७
तिर्यग्द्वीपेष्वसंख्येषु नरत्यक्तेषु जायते । पशुत्वं प्राणिनां नूनं कुपात्रादिप्रदानतः ॥११८
भोगान्वितं गजत्वं च घोटकत्वं भजन्ति वै । जनाः कुपात्रदानेन राजगेहेषु निश्चितम् ॥११९
म्लेच्छाखेटकभिल्लादिकुलेषु जन्मसम्भवम् । लभन्ते नीचपात्रेण धनाढ्येषु शठा भुवि ॥१२०
लक्ष्मीः कुपात्रदानेन लभ्यते प्राणिभिः स्फुटम् । कुमार्गजातिपापाढ्या श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदा ॥१२१

जाते हैं ॥१०७॥ यही समझकर हे मित्र ! कुपात्र और अपात्रोको छोड़कर तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये (उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोके लिये) सुख देनेवाला दान सदा देते रहना चाहिये ॥१०८॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर कुपात्र और अपात्रोंका लक्षण निरूपण कीजिये । उत्तर—हे वत्स ! चित्त लगाकर सुन, मैं उन दोनोंके लक्षण कहता हूँ ॥१०९॥ जो मनुष्य सम्यग्दृष्टी नही हैं किन्तु भोगोकी इच्छासे मुनि वा श्रावकोके समस्त व्रत पालन करते हैं तथा घोर तपश्चरण करते हैं, प्रतिदिन शास्त्र पढते हैं और अनेक प्रकारके कायक्लेश करते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव कुपात्र कहते हैं ॥११०-१११॥ जो इन्द्रियोंके विषयोमे आसक्त है, सम्यग्दर्शन और व्रतोंमे रहित है, जो धर्म संवेग आदिसे रहित है, समस्त पापोकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जो देव शास्त्र और गुरुओंकी निन्दा करनेमे तत्पर हैं और सदा घरके ही कामोमे लगे रहते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव अपात्र कहते हैं ॥११२-११३॥ जो श्रावक अथवा मुनि तप वा चारित्र आदिसे सुशोभित होकर भी मिथ्यात्वकी पुष्टि करता है वह भी कुपात्रके ही पदको प्राप्त होता है इसमे कोई सन्देह नही ॥११४॥ जो मनुष्य पुण्य सम्पादन करनेके लिये कुपात्रोको श्रेष्ठ अन्न दान देता है वह कुभोग-भूमिमे तिर्यंच अथवा कुमनुष्य होता है ॥११५॥ कालोद समुद्रमे वा लवण समुद्रमें कुभोग भूमियाँ हैं उनमे लम्बकर्ण, लोकमुख, विद्युन्मुख आदि कुमनुष्य होते हैं तथा भोगभूमियोमे अत्यन्त सुखी और दीर्घ आयुको धारण करनेवाले तिर्यंच होते हैं वे सब कुपात्र दानके फलसे ही होते हैं ऐसा विद्वान् लोगोको समझ लेना चाहिये ॥११६-११७॥ ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यंच लोकके असंख्यात द्वीप समुद्रोमे जो पशु प्राणी उत्पन्न होते हैं वे सब कुपात्र दानके फलसे ही होते हैं ॥११८॥ राजघरोमे जो घोडे और हाथी बड़े सुखी होते हैं वे कुपात्र दानके ही फलसे होते हैं यह निश्चित है ॥११९॥ नीच पात्रोंको दान देनेसे ही मूर्ख प्राणी म्लेच्छ, खेटक, भील आदि धनाढ्य कुलोमे जन्म लेता है ॥१२०॥ कुपात्रोको दान देनेसे प्राणियोको जो लक्ष्मी प्राप्त होती है वह कुमार्गमे खर्च होती है, बडी पापिनी होती है और नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियोको देनेवाली होती है

अन्यायतोऽपि या लक्ष्मी समायाति गृहे नृणाम् । कुपात्रदानजा सोऽपि बुधैर्ज्ञेयाऽघकारिणी ॥१२२
यत्सुखं प्राप्यते लोकैर्महानीचकुलेषु भो । श्वभ्रादिकारणं तच्च कुपात्रदानजं भवेत् ॥१२३
महापापेन आयाति या नृणा दुःखदायिका । अन्यायकारिणी साऽपि बुधैरुक्ता कुपात्रजा ॥१२४
यो भोगो लभते लोके दुष्टैरन्यायतोऽशुभ । कुपात्रदानसभूत सोऽपि ज्ञेयोऽशुभप्रद ॥१२५
कुपात्रदानतो जीवा प्राप्य भोगं कुयोनिषु । स्वल्पं पापकर पापान्मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥१२६
कुपात्रदानदोषेण भुक्त्वा तिर्यग्गतौ सुखम् । स्तोक भ्रमन्ति संसारवने जीवा कुदु खिता ॥१२७
या काचिज्जायते लक्ष्मी पुंसां नीचकुलेषु भो । सा सर्वाऽपि जिनैरुक्ता पापयुक्ता कुपात्रजा ॥१२८
कुपात्रदानतो नाकभोगं वाञ्छन्ति ये शठा । गोश्रृङ्गतोऽपि ते क्षीरं समीहन्ते कुबुद्धय ॥१२९
इति मत्वा कुपात्रं हि त्यक्त्वा दानं ददस्व भो । स्वर्गमुक्तिकरं सार सत्पात्राय विमुक्तये ॥१३०
अपात्रदानजं दोषं वक्तु शक्नोति को बुध । दृषत्पोतसमं दान ह्यपात्रगतमञ्जसा ॥१३१
शिलोपरि यथा चोप्त बीजं भवति निष्फलम् । तथापात्राय यद्दत्तं तद्दानं निष्फल भवेत् ॥१३२
येन दत्तमपात्राय दानं तत्तेन नाशितम् । कुमार्गे हि यथारण्ये गृहीतं तस्करैर्धनम् ॥१३३
पोषितोऽपि यथा शत्रुरहिर्वा दु खमञ्जसा । ददाति प्राणिनां तद्वदपात्रो दुरितं परम् ॥१३४

॥१२१॥ मनुष्योके घर जो लक्ष्मी अन्यायसे आती है वह लक्ष्मी पाप उत्पन्न करनेवाली होती है और वह कुपात्र दानसे ही आती है ऐसा विद्वानोको जान लेना चाहिये ॥१२२॥ महा नीच कुलोमे उत्पन्न हुए मनुष्योकी जो नरकादिके कारण रूप पापोको उत्पन्न करनेवाला सुख प्राप्त होता है वह सव कुपात्र दानके फलसे ही होता है ॥१२३॥ मनुष्योको दु ख देनेवाली और अनेक प्रकारके अन्याय करनेवाली जो लक्ष्मी महापापके कामोसे आती है वह भी कुपात्र दानके फलसे ही आती है ऐसा विद्वान् लोगोने कहा है ॥१२४॥ इस ससारमे दुष्ट लोग जो अन्यायसे अशुभ भोगोपभोग को प्राप्त करते हैं वे भी कुपात्र दानसे ही होते है और आगेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले होते हैं ऐसा निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिये ॥१२५॥ ये प्राणी कुपात्र दानके फलसे नीच योनियोमे थोडेसे भोगोपभोग प्राप्त करते हैं परन्तु उन भोगोसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करते है और उन पापकर्मोके उदयसे नरकरूपी महासागरमे ही डूबते है ॥१२६॥ इस कुपात्रदानके दोषसे तिर्यंच-गतिके थोडेसे सुख भोगकर फिर ससाररूपी वनमे जा पडते है और वहाँपर अनेक प्रकारके दु ख भोगते है ॥१२७॥ मनुष्योको जो नीच कुलोमे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है वह सव पाप उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी कुपात्रदानसे ही होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने वतलाया है ॥१२८॥ जो मूर्ख इस कुपात्रदानसे स्वर्गोके भोग चाहते हैं वे कुवुद्धि लोग गायके सीगोसे दूध दुहना चाहते हैं ॥१२९॥ यही समझकर हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू कुपात्रोको छोड़कर सुपात्रोके लिये स्वर्ग मोक्ष देनेवाला दान दे ॥१३०॥

इसी प्रकार अपात्रदानके दोषोको कौन वुद्धिमान् कह सकता है । यह अपात्रदान इस लोक और परलोकके लिये पत्थरकी नावके समान है ॥१३१॥ जिस प्रकार पत्थरकी शिलापर वोनेसे वीज निष्फल हो जाता है उसी प्रकार अपात्रके लिये जो कुछ दिया जाता है वह सव निष्फल हो जाता है ॥१३२॥ जिस प्रकार किसी वनमे चोर लोग धनको छीन लेते हैं उसी प्रकार जिसने अपात्रको दान दिया वास्तवमे उसने वह द्रव्य कुमार्गमे नष्ट कर दिया समझना चाहिये ॥१३३॥ जिस प्रकार पालन किया हुआ शत्रु वा सर्प प्राणियोको दु ख ही देता है उसी प्रकार अपात्रको

वरं हालाहलं दत्तं भवैकप्राणनाशनम् । न कुदानं कुपात्रेभ्यो वृत्तज्ञानादिघातकम् ॥१६०
कुदान सन्मुनिभ्यो यो दत्ते मूढोऽशुभप्रदम् । वृत्तघातादिसञ्जातपापात्श्वभ्रे पतत्यधी. ॥१६१
कृपणत्वं वरं लोके नैव दातृगुणो नृणाम् । कुदानप्रभवो दु खकारणं पापसागरः ॥१६२
यो धनाढ्यो मुनीशेभ्यो दत्ते चारित्रनाशकम् । कुदानं स श्रयेत्पापाद्दारिद्र्यं च भवे भवे ॥१६३
कुदानस्यैव यो दाता स दाता कथ्यते न च । सुदानस्य प्रदत्ता यो दाता स उच्यते जिनै' १६४
तस्मात्त्यक्त्वा कुदानं हि दानमुत्तममञ्जसा । महत्पुण्यप्रदं दक्षैर्दातव्य कर्महानये ॥१६५
यदि स्वामिन्न दातव्यमन्यद्दानं गृहाश्रितै. । धनाढ्यैश्च महद्द्रव्यं लोके किं क्रियते वद ॥१६६
कुरु वत्स जिनागारं बिम्ब च नित्यजिनम् । प्रतिष्ठादिकसत्कर्म मुक्त्यै द्रव्येण प्रत्यहम् ॥१६७
चैत्यगेहं विधत्ते यो जिनबिम्बसमन्वितम् । फल तस्य न जानामि नित्यं धर्मप्रवर्द्धनात् ॥१६८
अनेकजीवसाधारं जिनागार करोति यः । धर्मप्रवर्द्धकं तस्य प्रत्यहं स्यान्महद्वृषम् ॥१६९
जिनगेहसम पुण्यं न स्याच्च सद्गृहिणां क्वचित् । स्वर्गसोपानमादौ च मुक्तिस्त्रीदायकं क्रमात् ॥१७०
जिनेन्द्रमन्दिरे सारे स्थितिं कुर्वन्ति येऽङ्गिन । तेभ्यः संवर्द्धते धर्मो धर्मात्संपत्परं नृणाम् ॥१७१
सारचन्दनपुष्पादिद्रव्यै पूजां विधाय वै । समर्जयन्ति सत्पुण्यं भव्या श्रीजिनमन्दिरे ॥१७२

ऐसा दान उत्तम विद्वानोको कठगत प्राण होनेपर भी नही देना चाहिये ॥१५६-१५९॥ हलाहल विष देना अच्छा परन्तु कुपात्रोको व्रत और ज्ञानको घात करनेवाला कुदान देना अच्छा नहीं, क्योकि हलाहल विष देनेसे एक भवमे ही प्राण नष्ट होते है, परन्तु कुपात्रोको कुदान देनेसे अनेक भवोमे दु ख भोगना पडता है ॥१६०॥ जो अज्ञानी उत्तम मुनियोके लिये पाप उत्पन्न करनेवाला कुदान देता है, वह सम्यक्चारित्रके घात करनेसे उत्पन्न हुए पापसे नरकमे ही पड़ता है ॥१६१॥ ससारमे कृपण होना अच्छा परन्तु कुदानसे होनेवाले अनेक दु खोके कारण और पापोके महासागर ऐसे दाताके दुर्गुण होना अच्छा नही ॥१६२॥ जो धनी पुरुप मुनिराजोंके लिये सम्यक्चारित्रको नाश करनेवाला कुदान देता है वह महापापी होता है और उस पापसे भव-भवमे दरिद्रता धारण करता है ॥१६३॥ जो कुदानोको देनेवाला है वह दाता कभी दाता नही कहा जा सकता और जो सुदानका देनेवाला है, भगवान् जिनेन्द्रदेवने उसीको दाता बतलाया है ॥१६४॥ इसलिये चतुर पुरुषोको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये कुदानोको छोडकर महापुण्य उत्पन्न करनेवाला उत्तम दान देना चाहिये ॥१६५॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! यदि गृहस्थ लोगोंको धन आदिका दान नही देना चाहिये तो फिर ससारमे प्राप्त हुए बहुतसे धनका क्या करना चाहिये ॥१६६॥ उत्तर—हे वत्स ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये शुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए धनसे जिनभवन बनवाना चाहिये और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठाकर पूजा आदि सत्कर्म सदा करते रहना चाहिये ॥१६७॥ जो धनी जिनबिम्बके साथ-साथ जिनभवन बनवाता है वहाँपर पूजा, स्वाध्याय आदि नित्य कर्म सदा होते रहते हैं इसलिये उसके पुण्यरूप फलोको हम जान भी नही सकते ॥१६८॥ जो धनी अनेक जीवोका आधारभूत (जिसमे अनेक जीव आकर पुण्य उपार्जन करते हैं) जिनभवन बनवाता है उसके प्रतिदिन धर्मकी वृद्धि होनेसे महाधर्म वा महापुण्य प्राप्त होता है ॥१६९॥ गृहस्थोको जिन-भवन बनवानेके समान अन्य कोई पुण्य नही है। यह प्रथम तो स्वर्गकी सीढी है और फिर अनुक्रमसे मुक्तिरूपी स्त्रीको देनेवाला है ॥१७०॥ सारभूत मनोहर जिनभवनोमे मुनिराज आकर निवास करते हैं, उन मुनिराजोसे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मसे मनुष्योको परम सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥१७१॥ भव्य जीव श्री जिनभवनमे जाकर चन्दन,पुष्प आदि उत्तम-उत्तम द्रव्योंसे भगवान्

प्रणामं नृत्यसद्गीतं सत्तूर्यादिकदम्बकम् । कृत्वा पुण्यार्जनं तत्र प्रकुर्वन्ति गृहेशिन ॥१७३
चन्द्रोपकमहाघण्टाचामरध्वजदीपकान् । झल्लरीतालकंसालभृङ्गारकलशादिकान् ॥१७४
दत्वा चान्यानि साराणि धर्मोपकरणानि वै । अर्जयन्ति बुधा धर्मं धर्माधारे जिनालये ॥१७५
स सङ्घाधिपतिर्ज्ञेयो य कुर्याच्छ्रीजिनालयम् । धर्महेतुं हि सर्वस्य सङ्घस्य धर्मवर्द्धनम् ॥१७६
यथा शिल्पी जिनागारं कुर्वनूर्ध्वं शनैर्व्रजेत् । तथा तत्कारको धीमान् स मोक्षं धर्मयोगत ॥१७७
दिनैकजातसत्पुण्यं चैत्यगेहकरस्य ते । अनेकभव्यसंयोगाद्वक्तुं कः स्यात्क्षमो बुध ॥१७८
चैत्यालयं विधत्ते यः स पूज्यश्चाखिलैर्जनैः । वन्दनीयो जगल्लोके भव्यपुण्योपकारत ॥१७९
आलयं जिनदेवस्य य कुर्याद्भक्तितत्परः । प्राप्य षोडशमे नाके राज्यं च मुक्तिमाप्नुयात् ॥१८०
कारापयति यो भव्यो जिनेन्द्रभवनं शुभम् । तस्यैव जायते लक्ष्मी सफला स्वर्गमुक्तिदा ॥१८१
करोति जिनबिम्बानि यो भव्योऽत्यन्तभक्तिमान् । नित्यपूजादिसंयोगात्तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् १८२
सज्जिनार्चां विधत्ते यो महत्पुण्यप्रदां सदा । शक्रत्वं चक्रवर्तित्वं न स्यात्कस्यैव दुर्लभम् ॥१८३
पूजयन्ति बुधा यावत्कालं सत्प्रतिमां वराम् । तावत्कालं च तत्कर्ता श्रयेत्पुण्यांशमेव हि ॥१८४
यस्य गेहे जिनेन्द्रस्य बिम्बं न स्याच्छुभप्रदम् । पक्षिगृहसमं तस्य गेहं स्यादतिपापदम् ॥१८५

जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं और इस प्रकार जिनभवनसे महा पुण्य उपार्जन करते है ॥१७२॥ गृहस्थ लोग जिनभवनमे जाकर भगवान्‌को प्रणाम करते है, नृत्य, स्तुति करते है, उत्तम बाजे बजाते है और इस प्रकारके अनेक कामोसे महापुण्य उपार्जन करते है ॥१७३॥

विद्वान् लोग धर्मके आधारभूत जिनभवनमे चन्दोवा, घण्टा, चमर, दीपक, झल्लरी, ताल, कंसाल, भृङ्गार, कलश आदि उत्तम उत्तम धर्मोपकरण देकर महापुण्य सम्पादन करते हैं ॥१७४-१७५॥ जो गृहस्थ धर्मके कारणभूत श्री जिनभवनको बनवाता है वह समस्त सघके धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह सघाधिपति (सघका स्वामी) कहलाता है ॥१७६॥ जिस प्रकार जिन-भवनको वनाता हुआ कारीगर धीरे धीरे ऊपरको चढता जाता है उसी प्रकार उस जिनभवनको बनवानेवाला बुद्धिमान् गृहस्थ भी धर्मके निमित्तसे मोक्षमे जा विराजमान होता है ॥१७७॥ जिन-भवन बनवानेवालेको उस भवनमे अनेक भव्योके द्वारा होनेवाली पूजा आदिके सम्बन्धसे जो एक दिनमे पुण्य होता है उसको भी कोई विद्वान् कह नही सकता ॥१७८॥ जो पुरुष चैत्यालय वा जिनभवन बनवाता है वह अनेक भव्य जीवोको पुण्य उपार्जन करने रूप उपकारको करता है इसलिये वह सब लोगोके द्वारा पूज्य होता है और समस्त लोकमे वन्दनीय गिना जाता है ॥१७९॥ जो पुरुष भक्तिमे तत्पर होकर जिनभवन वनवाता है वह सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षका राज्य प्राप्त करता है ॥१८०॥ जो भव्य पुण्य उत्पन्न करनेवाले जिनभवनको बनवाता है उसीकी लक्ष्मी सफल और स्वर्ग मोक्ष देनेवाली होती है ॥१८१॥ श्री जिनेन्द्रदेवका भक्त जो भव्य पुरुष जिनबिम्बोका निर्माण कराता है वह नित्यपूजा आदिके सम्बन्धसे अपरिमित पुण्यको प्राप्त करता है, उसके पुण्यको कोई जान भी नही सकता ॥१८२॥ जो पुरुष महा पुण्यको देनेवाली भगवान्‌की पूजा प्रतिदिन करते हैं उनके लिये इन्द्रपद अथवा चक्रवर्तीका पद कुछ कठिन नही है ॥१८३॥ विद्वान् लोग जबतक उस प्रतिमाकी पूजा करते रहते है तबतक उसके निर्माण करनेवाले कर्ताको पुण्यकी प्राप्ति होती रहती है ॥१८४॥ जिसके घरमे पुण्य उपार्जन करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा नही है उसका घर पक्षियोके घोसलेके समान है और वह अत्यन्त पाप उत्पन्न करने

अश्मपोताधिरूढो ना यथा मज्जति सागरे। अपात्रपोषकस्तद्वत् ससाराब्धौ प्रमज्जति ॥१३५
अपात्राय प्रदत्ते यो दानं धर्माय मूढधी । तद्दानजेन पापेन श्वभ्रादिकुगतिं व्रजेत् ॥१३६
यथाऽपात्रो भ्रमत्येव ससारे पापयोगत । तद्दातापि तथा पापाच्चतुर्गतिषु प्रत्यहम् ॥१३७
अपात्रदानयोगेन यच्च पापं करोत्यधी । मैथुनादिभवं दाता श्रयेत्तस्यात्रमेव हि ॥१३८
अन्धकूपे वरं क्षिप्त धनं निर्नाशहेतवे। नैव दानमपात्राय यतो दुर्गतिदायकम् ॥१३९
पोषितो हि यथा व्याघ्र बलादत्ति स्वस्वामिनम्। तथाऽपात्रोऽपि दातॄणां श्वभ्रं नयति शीघ्रत ॥
यथा मेघजलं भूमियोगान्निम्बेक्षुतां व्रजेत्। सुपात्रापात्रयोर्दानं तथा च पुण्यपापदम् ॥१४१
स्वातिनक्षत्रज विंदु शुक्तिकाया च मौक्तिकम्। विषं सर्पमुखे तद्वद्दानं पात्रादिकं भवेत् ॥१४२
यथाहि पोषितो दत्ते विष क्षीर च गौ च नु । तथाऽपात्रो महत्पापं पुण्यं सत्पात्र एव च ॥१४३
यथा कल्पद्रुमो दत्ते भोगं धत्तूरको विषम्। तथा स्वर्गं सुपात्रो वै कुपात्र श्वभ्रमेव च ॥१४४
तृणानत्ति यथा गौश्च दत्ते दुग्धामृतं नृणाम्। तथा च यमिन स्तोकं भुक्तं स्वर्गामृतं घनम् ॥१४५
वटबीजं यथा स्तोकं चोप्तं भूरिगुण भवेत्। सुक्षेत्रे च महापात्रदानं भोगवरादिषु ॥१४६

दिया हुआ दान केवल पाप ही उत्पन्न करता है ॥१३४॥ जिस प्रकार पत्थरकी नावपर बैठा हुआ मनुष्य समुद्रमे डूबता ही है उसी प्रकार अपात्रको पालन पोषण करनेवाला मनुष्य भी संसाररूपी सागरमे डूब ही जाता है ॥१३५॥ जो मूर्ख धर्म पालन करनेके लिये अपात्रोको दान देता है वह उस अपात्रदानसे उत्पन्न हुए पापसे नरकादिक दुर्गतियोमे जा पहुँचता है ॥१३६॥ जिस प्रकार अपात्र पापोके सयोगसे ससारमे परिभ्रमण करता है उसी प्रकार दाता भी पाप कर्मोके सयोगसे प्रतिदिन चारो गतियोमे ही परिभ्रमण करता रहता है ॥१३७॥ मूर्ख लोग अपात्रदानसे जो पाप उत्पन्न करते है वैसे पाप कुशील सेवन आदि अन्य पापोसे भी नही होते ॥१३८॥ धनको नाश करनेके लिये अन्धे कुँएमे डाल देना अच्छा, परन्तु अपात्रको देना अच्छा नही, क्योकि अपात्रको देनेसे धन भी नष्ट होता है और नरकादिक दुर्गतियाँ भी प्राप्त होती हैं ॥१३९॥ जिस प्रकार पाला हुआ बाघ छलसे अपने स्वामीको खा ही जाता है उसी प्रकार अपात्र भी अपने दाताओंको शीघ्र ही नरकमे पहुँचा देता है ॥१४०॥ जिस प्रकार बादलोसे वर्षा हुआ पानी भूमिके सम्बन्धसे नीम और ईखरूप (नीममे पड़कर कड़वा और ईखमे पडकर मीठा) हो जाता है उसी प्रकार सुपात्र और अपात्रको दिया हुआ दान भी पुण्य पापरूप हो जाता है अर्थात् सुपात्रको दिया हुआ दान पुण्यरूप हो जाता है और अपात्रोको दिया हुआ दान पापरूप हो जाता है ॥१४१॥ जिस प्रकार स्वाति नक्षत्रमे पडी हुई पानीकी बूँद (वर्षाकी बूँद) सीपमे जाकर मोती हो जाती है और सर्पके मुँहमे जाकर विष हो जाती है उसी प्रकार सुपात्रोको दान देनेसे पुण्य होता है व अपात्रोको देनेसे पाप होता है ॥१४२॥ जिस प्रकार पाला हुआ सर्प विष ही देता है और पाली हुई गाय दूध ही देती है उसी प्रकार अपात्रोको दिया हुआ दान महा पाप उत्पन्न करता है और सुपात्रको दिया हुआ दान महा पुण्य उत्पन्न करता है ॥१४३॥ जिस प्रकार कल्पवृक्षोसे भोगोपभोगोकी ही प्राप्ति होती है और धतूरेसे विषकी ही प्राप्ति होती है उसी प्रकार सुपात्रोको दान देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और कुपात्रोको देनेसे नरककी ही प्राप्ति होती है ॥१४४॥ जिस प्रकार गाय तृणोको खाती है और दूधरूपी अमृतको देती है उसी प्रकार मुनिराज थोडासा आहार लेते हैं, परन्तु उसीसे मनुष्योको स्वर्गरूपी बहुतसे अमृतकी प्राप्ति हो जाती है ॥१४५॥ जिस प्रकार अच्छे स्थानपर बोया हुआ वटका बीज बहुतसी छाया और फलोंसे फलता है उसी प्रकार सुपात्रोको दिया हुआ दान भी

सुपात्राय कुपात्राय वापात्राय बुधोत्तमै । कुदान नैव दातव्यं यत स्यात्स्वान्ययोरघम् ॥१४७
भगवन् ! किं कुदानं तद्यत सञ्जायतेऽशुभम् । प्रवक्ष्येऽहं कुदानं च दशभेद कुदु खदम् ॥१४८
गोकन्याहेमहस्त्यश्वगेहक्ष्मातिलस्यन्दिन । दासी चेति कुदानानि प्रणीतानि शठैर्भुवि ॥१४९
गोदानं योऽति मूढात्मा दत्ते पुण्यादिहेतवे । वधबन्धाङ्घ्रिघातादिजातं पापं लभेत स ॥१५०
कन्यादानं प्रदत्ते य पुण्याय दुरितार्णवम् । गेहमैथुनहिंसादिजातं पापं च तस्य हि ॥१५१
सुवर्णं य प्रदत्ते ना शुभाय पापकारणम् । हिंसामोहादिजं पापं तस्य जायेत दुस्तरम् ॥१५२
हस्त्यश्वरथसद्दासीभूमिगेहतिलादिकम् । यो दत्ते मूढधीर्जीवघातात्पापं परं श्रयेत् ॥१५३
द्रव्यदानं न दातव्यं सुपुण्याय नरैः क्वचित् । महामोहकरं ज्ञानवृत्तादिगुणघातकम् ॥१५४
द्रव्यदानं प्रदत्ते यो हिंसामोहादिवर्द्धनम् । पापारम्भस्य मूलं स श्रयेद्दुरितमुल्वणम् ॥१५५
महापात्रं प्रणस्येच्च मोहः क्रोधो भयस्तथा । लोभः शोको महाचिन्ता ध्यानाध्ययनविच्युति. ॥१५६
जीवघातो वचो दुष्टं द्वेषो रागोऽपि देहिनाम् । लोकनिन्दादिकं पापमब्रह्म च मनोऽशुभम् ॥१५७
आर्तरौद्रद्वयं ध्यानं विघ्न च धर्मशुक्लयो. । मदश्चेन्द्रियव्यापारो गुणहानिर्व्रतच्युति. ॥१५८
दोषो रत्नत्रयाणां च येन सञ्जायतेतराम् । तद्दान नैव दातव्य प्राणान्तेऽपि बुधोत्तमै १५९

भोगभूमि और स्वर्गादिके अनेक फलोको फलता है ॥१४६॥ दान चाहे सुपात्रको दिया जाय, चाहे कुपात्रको दिया जाय, चाहे अपात्रको दिया जाय परन्तु उत्तम विद्वानोको कुदान कभी नही देना चाहिये, क्योकि कुदान देनेसे अपनेको भी पाप लगता है और दूसरेको भी (लेनेवालेको भी) पाप लगता है ॥१४७॥

प्रश्न—हे भगवन् ! जिनसे पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुदान कितने है और कौन-कौन हैं ? उत्तर—हे वत्स, मै उन दु ख देनेवाले कुदानोके दस भेद कहता हूँ, तू सुन ॥१४८॥ गौ, कन्या, सुवर्ण, घोडा, घर, पृथ्वी, तिल, रथ और दासी आदिका दान करना कुदान कहलाते है। ससारमे इन कुदानोको अज्ञानी ही किया करते हैं ॥१४९॥ जो अत्यन्त अज्ञानी पुरुष पुण्य सम्पादन करनेके लिये गायका दान देता है वह बन्धन घात आदिसे उत्पन्न हुए अनेक पापोको उत्पन्न करता है ॥१५०॥ इसी प्रकार जो पुरुष पुण्य वढानेके लिये पापोका महासागररूप कन्यादान करता है वह घर, मैथुन, हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोको प्राप्त होता है ॥१५१॥ जो मनुष्य शुभ कर्मोके लिये अनेक पापोको उत्पन्न करनेवाले सुवर्णका दान देते है वे हिंसा, मोह आदिसे उत्पन्न हुए अत्यन्त भारी पापोको उत्पन्न करते हैं ॥१५२॥ जो अज्ञानी हाथी, घोडे, रथ, दासी, पृथ्वी, घर, तिल आदिकोका दान करता है वह अनेक जीवोके घातका कारण होनेसे महा पापकर्मोको उपार्जन करता है ॥१५३॥ मनुष्योको पुण्य उपार्जन करनेके लिये धनका दान तो कभी देना ही नही चाहिये, क्योकि धनका दान देना महा मोहको उत्पन्न करनेवाला है और ज्ञान चारित्र आदि गुणोको घात करनेवाला है ॥१५४॥ जो मनुष्य हिंसा मोह आदिको वढानेवाले धनका दान करता है वह पाप और आरम्भोका मूल कारण ऐसे भारी पापोको इकट्ठा करता है ॥१५५॥ जिस दानसे महापात्रता नष्ट हो जाय, मोह, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता आदि उत्पन्न हो जाँय, जीवोका घात हो, वचन दुष्ट वा कठोर कहने पडें, मनुष्योको राग वा द्वेष उत्पन्न हो जाय, लोक निन्दा हो वा और भी अनेक प्रकारके पाप हो, ब्रह्मचर्यका घात हो, मन मलिन हो जाय, आर्तध्यान रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति हो जाय, धर्मध्यान और शुक्लध्यानमे विघ्न हो जाय, मद उत्पन्न हो जाय, इन्द्रियाँ अपने व्यापारमे लग जाँय, गुण नष्ट हो जाँय, व्रत छूट जाँय और रत्नत्रयमे दोप लग जाय

धन्यास्ते ये नरा विम्ब पूजयन्ति स्तुवन्ति च । कारापयन्ति धर्माय जिनस्य भुवनत्रये ॥१८६
चतुर्विंशतिका सारां प्रतिमा यः करोति ना । नाकराज्यं नृराज्यं च प्राप्य मोक्षं व्रजेदनु ॥१८७
हेमरूपादिजां सारा रत्नाश्मादिमयामपि । विधत्ते यो जिनेन्द्रस्य तस्य श्रीधर्मसौख्यदा ॥१८८
न प्रतिष्ठासमो धर्मो विद्यते गृहिणा क्वचित् । वहुभव्योपकारत्वाद् धर्मसागरवर्द्धनात् ॥१८९
य' प्रतिष्ठा विधत्ते ना शक्रत्वं चक्रवर्तिताम् । प्राप्य मुक्ति प्रयात्येव स धर्मोदयकारणात् ॥१९०
ये कुर्वन्ति वुधा सारां प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिनाम् । तीर्थराज्यपदं लब्ध्वा मुक्तिकान्तां भजन्ति ते ॥
यावन्ति जिनविम्वानि पूजां नित्यं श्रयन्ति वै । प्रतिष्ठाया च तत्कर्ता तद्धर्मा सम्भजेत् सदा ॥१९२
प्रतिष्ठा ये प्रकुर्वन्ति ते पूज्या नृसुरासुरै । स्तुत्या वन्द्या इहामुत्र भजन्ति सुखसागरम् ॥१९३
किमत्र वहुनोक्तेन य प्रतिष्ठा करोति ना । तस्यैव सफलं जन्म सा धर्मार्थसुखप्रदा ॥१९४
कर्तव्या जिनसत्पूजा गृहस्थैर्भुक्तिमुक्तिदा । भक्त्या शक्त्याऽनुसारेण प्रत्यहं स जलादिभिः ॥१९५
जिनाङ्गं स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति स्वभावत । येऽतिपापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मत ॥१९६
अर्चयन्ति जिनेन्द्रं ये नित्यं कर्पूरकुङ्कुमै । मिश्रैः सच्चन्दनैः स्वर्गे सुगन्ध्यङ्गं भजन्ति ते ॥१९७

वाला है ॥१८५॥ वे लोग तीनो लोकोमे धन्य हैं जो केवल धर्म पालन करनेके लिये भगवान्‌की पूजा करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और जिनभवन अथवा जिनविम्बोका निर्माण कराते है ॥१८६॥ जो भव्य पुरुष चौवीस तीर्थकरोकी उत्तम प्रतिमाओका निर्माण कराता है वह स्वर्गके राज्यको व मनुष्य लोकके राज्यको पाकर अन्तमे मोक्षका साम्राज्य प्राप्त कर लेता है ॥१८७॥ जो भव्य पुरुष सुवर्णकी, चाँदीकी, रत्नोकी अथवा पाषाण आदिकी उत्तम जिनप्रतिमा वनवाता है उनके धर्म और सुख देनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१८८॥ गृहस्थोको विम्वप्रतिष्ठाके समान और कोई धर्म नही है, क्योकि विम्वप्रतिष्ठामे अनेक भव्य जीवोका उपकार होता है और धर्मरूपी महासागरकी वृद्धि होती है ॥१८९॥ जो भव्य जीव विम्वप्रतिष्ठा कराता है वह श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह इन्द्र और चक्रवर्तीके सुख भोगकर अन्तमे मोक्षरूप महा ऋद्धिको प्राप्त करता है ॥१९०॥ जो वुद्धिमान् श्री जिनेन्द्रदेवकी उत्तम प्रतिष्ठा करते हैं वे तीर्थंकरका परम पद पाकर मुक्तिरूपी ललनाका सेवन करते है ॥१९१॥ प्रतिष्ठामे जितनी प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा होती है और उनकी जवतक नित्य पूजा आदि होती रहती है[1] तवतक उसके कर्ताओको धर्मकी प्राप्ति होती रहती है ॥१९२॥ जो भव्य जीव प्रतिष्ठा कराते है वे देव विद्याधर सवके द्वारा पूज्य होते हैं, स्तुति और वन्दना करने योग्य होते हैं और इस लोक तथा परलोक दोनो लोकोमे महासागरके समान महा सुखको प्राप्त होते हैं ॥१९३॥ वहुत कहनेसे क्या जो मनुष्य प्रतिष्ठा कराता है, ससारमे उसीका जन्म सफल है क्योकि वह प्रतिष्ठा धर्म, अर्थ और सुख देनेवाली है ॥१९४॥ गृहस्थोको भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन जल चन्दनादिक से भुक्ति मुक्ति देनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेवकी उत्तम पूजा करनी चाहिये ॥१९५॥ जो स्वभावसे ही स्वच्छ जलसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करते है उस धर्मके प्रभावसे उनका समस्त पापरूपी कर्म नष्ट हो जाता है ॥१९६॥ जो प्रतिदिन कपूर और कुकुमसे मिले हुए चन्दनसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे उसके प्रभावसे स्वर्गमे अत्यन्त सुगन्धित शरीर

१ यह ऐसा कथन उपचारसे है वास्तवमें इतना पुण्य उसी समय हो जाता है ।

शाल्यक्षतैरखण्डैश्च सदुज्ज्वलैर्जिनेश्वरान् । समर्चयन्ति ये भव्या ते भजन्त्यक्षयं सुखम् ॥१९८
जातीचम्पकसत्पद्मकेतक्यादिप्रसूनकै । पूजयन्ति जिनान् भव्या नाके ते यान्ति पूज्यताम् ॥१९९
क्षीरमोदकपक्वान्नशाल्यन्नवटकादिभि । जिनपूजा विधत्ते यो भजद्भोगं त्रिलोकजम् ॥२००
अभ्यर्चयन्ति ये दीपै सत्कर्पूरघृतादिजै । अर्हन्तं केवलज्ञानं ते भजन्ते सुदृष्टयः ॥२०१
चन्दनागुरुकर्पूरसद्द्रव्यादि दहन्ति ये । जिनाग्रे कर्मकाष्ठाना भस्मीभावं श्रयन्ति ते ॥२०२
सदाम्रकदलीनालिकेरपूगीफलादिकान् । ढौकयन्ति जिनाग्रे ये लभन्ते फलमीप्सितम् ॥२०३
पुष्पाञ्जलिं जिनेन्द्राणा ये क्षिपन्ति गृहाधिपा. । पुष्पवृष्टिसमाकीर्णं भजन्ति नाकमुत्तमम् ॥२०४
इत्यष्टभेदसञ्जातैर्महापूजामहोत्सवै । अर्चयन्ति जिनेन्द्रान्ये तेषां स्यु सर्वसम्पद ॥२०५
पादपद्मौ जिनेन्द्राणा ये बुधाः पूजयन्ति वै । इन्द्रभूतिं शुभात्प्राप्य देवैस्ते यान्ति पूज्यताम् ॥२०६
जिनेन्द्रपूजया भव्या लभन्ते चक्रवर्तिताम् । षट्खण्डवसुधायुक्ता रत्ननिध्यादिसंयुताम् ॥२०७
जिनपूजाप्रभावेन सत्तीर्थेशपदं नृणाम् । जायते महिमोपेतं त्रैलोक्यपतिपूजितम् ॥२०८
पूजां विना जिनेन्द्राणां भोगसौख्यादिकं सदा । जायते न मनुष्याणा तस्मात्सा क्रियते बुधै. ॥२०९
त्रिकालं जिननाथान् ये पूजयन्ति नरोत्तमाः । लोकत्रयभवं शर्म भुक्त्वा यान्ति परं पदम् ॥२१०

पाते हैं ॥१९७॥ जो भव्य जीव अखण्ड और उज्ज्वल अक्षतोसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते है वे अक्षयपद वा मोक्षके परम सुखको प्राप्त होते हैं ॥१९८॥ जो भव्य जीव जाती, चम्पा, कमल, केतकी आदिके सुन्दर पुष्पोसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते है वे स्वर्गमे भी पूज्य गिने जाते हैं ॥१९९॥ जो भव्य दूध, लड्डू, पकवान, शाली चावल, बडे आदि नैवेद्यसे भगवान्‌की पूजा करते हैं वे तीनो लोकोमे उत्पन्न हुए समस्त भोगोको प्राप्त होते है ॥२००॥ जो सम्यग्दृष्टी पुरुष कपूर और घीके बने हुए दीपकसे भगवान्‌की पूजा करते है वे केवलज्ञानको अवश्य प्राप्त करते है ॥२०१॥ जो भव्य भगवान्‌के सामने चन्दन, अगुरु, कपूर आदि श्रेष्ठ द्रव्योको दहन करते हैं, इनकी धूप बनाकर खेवते हे वे कर्मरूपी ईंधनको भस्म कर डालते है ॥२०२॥ जो गृहस्थ आम, केला, नारियल, सुपारी आदि फलोको भगवान्‌के सामने समर्पण करते है वे इच्छानुसार फलको प्राप्त होते हैं ॥२०३॥ जो गृहस्थ भगवान् जिनेन्द्रदेवपर पुष्पाजलि क्षेपण करते है वे पुष्पवृष्टिसे भरे हुए उत्तम स्वर्गमे जा विराजमान होते हैं ॥२०४॥ इस प्रकार आठ भेदोसे उत्पन्न हुई महा पूजाके महोत्सवोसे जो भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते है उनके सव तरहकी सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥२०५॥ जो विद्वान् भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोको पूजा करते है वे प्राप्त हुए उस पुण्य कर्मके उदयसे इन्द्रकी विभूति पाकर अनेक देवोके द्वारा पूज्य होते हैं ॥२०६॥

भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे भव्य जीवोको छहो खण्ड पृथ्वीसे सुशोभित तथा रत्न और निधियोसे विभूषित चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती हे ॥२०७॥ भव्य जीवोको इस भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजाके प्रभावसे अनन्त महिमासे सुशोभित और तीनो लोकोके स्वामियोके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥२०८॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा किये विना मनुष्योको भोग और सुखकी प्राप्ति कभी नही होती हे इसीलिये विद्वान् लोग भगवान्‌की पूजा सदा किया करते है ॥२०९॥ जो उत्तम पुरुष सवेरे, दोपहर और शाम तीनो समय भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे तीनो लोकोमे उत्पन्न होनेवाले समस्त भोगोको भोगकर मोक्षपदमे जा विराजमान होते हैं ॥२१०॥ जो भव्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवकी एक वार भी उत्तम पूजा कर

जिनार्चागस्य सत्पूजां वारैकं यः करोति सः । सुखं संसारजं लब्ध्वा मुक्तिस्त्रीं च वशं नयेत् ॥२११
पूजा कल्पद्रुमः पूजा कामधेनुश्च स्यान्नृणाम् । निधिश्चिन्तामणि पूजा समीहितफलप्रदा ॥२१२
पूजयन्ति जिनेन्द्रान्न पूजया ये शठा नरा । हस्तौ व्यर्थौ वृथा जन्म तेषां चात्र गृहाश्रम ॥२१३
इति मत्वा बुधैर्नित्यं सुकर्तव्या श्रीजिनेशिनाम् । पूजा द्रव्यानुसारेण चेहामुत्र हितप्रदा ॥२१४
जिनानां पूजया रोगा नश्यन्ति बहुदु खदा । दु सहा ज्वरसम्पित्तवातकुष्ठादयोऽङ्गिनाम् ॥२१५
शाकिनी ग्रहदुष्टारिचौरक्षोभनृपादिजा. । उपद्रवा क्षयं यान्ति पुंसा श्रीजिनपूजनात् ॥२१६
वधबन्धाद्भवं दु खं शृङ्खलाहिविषादिजम् । नश्यत्येव नृणां लोके श्रीतीर्थेश्वरपूजया ॥२१७
जिनपूजायुतं दक्षं लक्ष्मी संवरते स्वयम् । भुवनत्रये च सञ्जाता स्वयंवरवधूरिव ॥२१८
ये जिनार्चां विधायोच्चैर्ग्रामं गच्छन्ति भावत । द्रव्यार्थं जायते लाभस्तेषां बहुरैदायक ॥२१९
निर्विघ्नेन भवन्त्येव मङ्गलानि गृहेशिनाम् । विवाहादिस्वभावानि सर्वाणि जिनपूजया ॥२२०
तस्मात्पूर्वं गृहस्थैश्च कार्या पूजा जिनेशिनाम् । मङ्गलादिककार्यादौ निर्विघ्नार्थं शुभाय च ॥२२१
इहामुत्र हितार्थाय कर्तव्या गृहनायकै. । सदा पूजा जिनेन्द्राणां सर्वाभ्युदयसाधिनी ॥२२२
सद्दृष्टय प्रकुर्वन्ति चाभिषेकं जिनस्य ये । जन्मस्नानं च ते प्राप्य मेरौ यान्ति शिवालयम् ॥२२३
घण्टां श्रीजिनदेवस्य ये दद्यु पुण्यहेतवे । घण्टादिसहितं यानमारूढा हि व्रजन्ति ते ॥२२४

लेता है वह समस्त सुखोको पाकर मुक्तिस्त्रीको वश कर लेता है ॥२११॥ यह भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा मनुष्योको इच्छानुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षके समान है, कामधेनुके समान है, निधिके समान है अथवा चिन्तामणि रत्नके समान है ॥२१२॥ जो मूर्ख मनुष्य अष्टद्रव्यसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा नही करते उनके हाथ व्यर्थ है, उनका जन्म व्यर्थ है और इस लोकमे उनका गृहस्थाश्रम व्यर्थ है ॥२१३॥ यही समझकर विद्वानोको अपने द्रव्यके अनुसार इस लोक व परलोकमे हित करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा नित्य और अवश्य करनी चाहिये ॥२१४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जीवोंके असह्य, वात, कोढ आदि घोर दु ख देनेवाले रोग सब नष्ट हो जाते है ॥२१५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे मनुष्योके शाकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच, दुष्ट, शत्रु, चोर, कोतवाल, राजा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त उपद्रव नष्ट हो जाते हैं ॥२१६॥ भगवान् तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करनेसे वध बन्धनसे होनेवाले दु ख तथा सांकल, सर्प, विष आदिसे उत्पन्न होनेवाले ससारी मनुष्योंके दु ख सब नष्ट हो जाते हैं ॥२१७॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले चतुर पुरुषको स्वयवरमे आयी हुई कन्याके समान तीनो लोकोमे रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आकर स्वीकार कर लेती है ॥२१८॥ जो भावपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करके द्रव्य कमानेके लिये दूसरे गाँवोको जाते है उनको बहुतसी लक्ष्मी देनेवाला भारी लाभ होता है ॥२१९॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे गृहस्थोंके विवाह आदि समस्त मगलकार्य निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो जाते हैं ॥२२०॥ इसलिये गृहस्थ लोगोको निर्विघ्नतापूर्वक कार्यकी समाप्तिके लिये अथवा पुण्योपार्जन करनेके लिये भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥२२१॥ इस लोक तथा परलोक दोनो लोकोका हित करनेके लिये समस्त कल्याणोको करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये ॥२२२॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करते हैं वे मेरु पर्वतपर जन्माभिषेक पाकर मोक्षमे जा विराजमान होते हैं—अर्थात् वे तीर्थंकर होते हैं, इसलिये मेरुपर्वतपर उनका जन्माभिषेक किया जाता है और अन्तमे वे मोक्ष जाते हैं ॥२२३॥ जो मनुष्य पुण्य उपार्जन करनेके लिये श्री जिनेन्द्रदेवको (उनके भवनमें) घण्टा समर्पण

दत्ते चन्द्रोपकं यो ना जिनागारे मनोहरे। एकछत्रं महद्राज्यं श्रयेत्सोऽपि शुभोदयात् ॥२२५
शोभार्थं श्रीजिनागारे दद्यु' सच्चामराणि ये। चामरैर्वीज्यमाणं ते नाकराज्यं व्रजन्ति वै ॥२२६
धर्मोपकरणान्येव ये ददन्ति जिनालये। भोगोपकरणान्येव ते लभन्ते भवे भवे ॥२२७
सिद्धान्तादिसमुद्धारे दातव्यं द्रव्यमञ्जसा। सफलं येन तत्पुसां भवेज्ज्ञानसुखादिकम् ॥२२८
चतुर्विधाय संघाय दानं देयं चतुर्विधम्। द्रव्याढ्येन गृहस्थेन यथायोग्यं शुभाय वै ॥२२९
जिनालये च तद्बिम्बे पूजोद्धारादिहेतवे। सिद्धान्तलेखने चाऽपि धन देयं शुभाय वै ॥२३०
इत्युक्तेऽतिसुक्षेत्रे यो दानं दद्याद्वृषाप्तये। परलोके श्रयेत्सोऽपि संख्यातीतं धनं शुभात् ॥२३१
दीनानाथमनुष्येभ्यः प्रारौद्रेभ्यो गृहान्वितै। अन्नदानं च दातव्यं कृपयातिदयाप्तये ॥२३२
कृपादान न कुर्वन्ति ये तेषा कठिनं मनः। स्यादतो जायते पापं तस्माद्देयं हि तत्सदा ॥२३३
वापीकूपतडागादि सर्वं कार्यं न सन्नरैः। महाहिंसाकरं लोके नित्यं दुरितदायकम् ॥२३४
कूपादिखननाच्छिल्पी यथाऽधो याति निश्चितम्। तद्वत्तत्कारको मूढो यावत्श्वभ्रं च सप्तकम् ॥२३५
यथा चैत्यालये पुण्यं नित्य तत्कारिणां भवेत्। तथा कूपादिके पापं जीवोत्पत्तिविनाशतः ॥२३६
तडागेऽति महामत्स्य प्राप्ति मीनलघून् बहून्। वकसारससङ्घश्च चक्रवाककद वकम् ॥२३७

करते है वे परलोकमे अनेक घटाओसे सुशोभित विमानपर चढकर गमन करते हैं ॥२२४॥ जो मनुष्य मनोहर जिनभवनमे चन्दोवा देते है वे अपने पुण्य कर्मके उदयसे एक छत्र महाराज्यका उपभोग करते है ॥२२५॥ जो मनुष्य श्री जिनभवनकी शोभा वढानेके लिये उसमे चमर समर्पण करता है वह अनेक ढुलते हुए चमरोसे शोभायमान स्वर्गके साम्राज्यका उपभोग करता है ॥२२६॥ जो मनुष्य श्री जिनालयमे धर्मोपकरण देते हैं वे भव-भवमे भोगोपभोगके उपकरण (साधन) प्राप्त करते है ॥२२७॥ मनुष्योको सिद्धान्त ग्रन्थोका उद्धार करनेके लिये अवश्य द्रव्य प्रदान करना चाहिये। क्योकि सिद्धान्तोका उद्धार करनेसे ही मनुष्योका ज्ञान वा सुख आदि सव सफल गिना जाता है ॥२२८॥ धनाढ्य पुरुषोको पुण्य उपार्जन करनेके लिये चारो प्रकारके सघको यथायोग्य रीतिसे चारो प्रकारका दान देना चाहिये ॥२२९॥ गृहस्थोको अपना पुण्य वढानेके लिये, जिनालय के लिये, जिन प्रतिमाओके लिये, जिन पूजाका उद्धार करनेके लिये और सिद्धान्त ग्रन्थोका उद्धार करनेके लिये अपना धन देना चाहिये ॥२३०॥ जो गृहस्थ धर्मकी वृद्धिके लिये ऊपर कहे हुए पुण्यक्षेत्रोमे दान देता है वह उस पुण्य कर्मके उदयसे परलोकमे अनन्त धनको प्राप्त होता है ॥२३१॥ गृहस्थोको अपना दयाधर्म वढानेके लिये दयापूर्वक जो हिंसक वा रुद्रपरिणामी नही है ऐसे दीन और अनाथ लोगोको अन्नदान अवश्य देना चाहिये ॥२३२॥ जो पुरुष करुणादान नही करते उनका मन कठोर हो जाता है और मन कठोर हो जानेसे पाप लगता है इसलिये गृहस्थोको सदा करुणादान देते रहना चाहिये ॥२३३॥ उत्तम पुरुषोको वावडी, कूँआ और तलाव आदि नही करना चाहिये क्योकि इनके वनवानेमे महा हिंसा होती है और इनसे ससारमे सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं ॥२३४॥ कुँआ खोदनेवाला कारीगर जिस प्रकार नीचे ही नीचेको चलता जाता है उसी प्रकार उसका खुदानेवाला अज्ञानी पुरुष भी सातवे नरकतक नीचे ही नीचे चला जाता है ॥२३५॥ जिस प्रकार चैत्यालयके वनवानेमे उसके वनवानेवालेको सदा पुण्यकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार कुँआमे भी सदा जीवोकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये उनके वनवानेवालोको भी सदा ही पापकी प्राप्ति होती रहती है ॥२३६॥ तलावोमे वडे वडे मगरमच्छ छोटी छोटी अनेक मछलियोको खा जाते हैं, वगला, वाज, चकवा चकवी आदि अनेक पक्षियोका

आखेटिन समागत्य तत्र जालं क्षिपन्ति भो। मत्स्यार्थं ततस्तेभ्यो महाहिंसा प्रवर्तते ॥२३८
इति मत्वा न कर्तव्यं सर्वं कूपादिकं क्वचित्। अहिंसाव्रतरक्षार्थं पापभीतैरघप्रदम् ॥२३९

सकलसुखनिधानं सर्वभोगैकखानिं, विमलगतिकरं वै स्वर्गसोपानभूतम्।
नरकगृहकपाटं स्वान्ययो सौख्यहेतुं सुभग! सुमुनये त्वं प्रान्नदानं ददस्व ॥२४०
मुनिजनसुखहेतुं रोगमातङ्गसिंह, विमलगुणसमुद्रं प्रासुकं धर्मसिद्ध्यै।
मनुज हि यतये त्वं रोगग्रस्तापसारं, प्रचुरसुखसुगेहं स्वौषधं वै ददस्व ॥२४१
शिवगतिगृहमार्गं सर्वलोकोपकारं, त्रिभुवनपतिसेव्यं विश्वतत्त्वप्रदीपम्।
दुरिततिमिरसूर्यं धर्मवृक्षस्य कन्द, बुध! कुरु श्रुतप्राप्त्यै ज्ञानदानं मुनिभ्य ॥२४२

ये कुर्वन्ति जिनालयं बुधजना धर्माकरं धर्मदं
स्वर्मोक्षैकनिबन्धनं यतिजनै सेव्यं निधानोपमम्।
ते वन्द्या परलोकसाधनधिय प्राप्याच्युतं शर्मदं
राज्यं चानुव्रजन्ति मोक्षमतुलं धर्मोदयान्निश्चितम् ॥२४३
कुर्वन्ति बिम्बं भुवनैकपूज्यं जिनेश्वराणां सुसमर्चनीयम्।
सत्पुण्यगेहं च महास्वरूपं भुक्त्वा सुखं तेऽपि व्रजन्ति मोक्षम् ॥२४४

समुदाय मछलियोकी हिंसा करते रहते है, और अनेक शिकारी आ आकर मछलियोके लिये जाल फैलाते है। इन सब कामोसे महा हिंसा होती है ॥२३७-२३८॥ यही समझकर अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेके लिये पापोसे डरनेवाले श्रावकोको पाप उत्पन्न करनेवाला बावड़ी कुँआ तलाव आदि कभी नही बनवाना चाहिये ॥२३९॥

हे भव्य! मुनियोके लिये आहारदान देना समस्त सुखोकी निधि है, समस्त भोग उपभोग-की खानि है, स्वर्गादिक निर्मल गतियोको देनेवाला है, स्वर्गकी सीढी है, नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ है, अपने और दूसरोके लिये सुखका कारण हे और सबसे सुन्दर वा उत्तम है इसलिये हे भव्य! तू मुनिराजोके लिये सदा आहारदान दे ॥२४०॥ इसी प्रकार मुनियोके लिये औषधदान देना मुनियोके लिये सुखका कारण है, रोगरूपी हाथीको मारनेके लिये सिंहके समान है, निर्मल गुणोका समुद्र है और अनन्त सुखका घर है, इसलिये हे भव्य, तू धर्मकी सिद्धिके लिये रोगी मुनियोका सारभूत और प्रासुक औषधि दे, अर्थात् औषधदान कर ॥२४१॥ आहारदान और औषधिदानके समान ज्ञानदान भी मोक्षमहलमे पहुँचानेका कारण है, समस्त जीवोका उपकार करनेवाला है, तीनो लोकोके स्वामी तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते है, यह समस्त तत्त्वोके प्रकट करने-दिखलानेके लिये दीपक है, पापरूपी अँधेरेको दूर करनेके लिये सूर्य है और धर्मरूपी वृक्षकी जड है, इसलिये हे विद्वन्! श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिये तू मुनियोके लिए ज्ञानदान दे ॥२४२॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवका जिनभवन धर्मकी खानि है, धर्मकी वृद्धि करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षका कारण है, मुनिराज भी इसकी सेवा करते हैं (वन्दना करते है) और यह जिनालय एक निधानके समान है। ऐसे जिनालयको जो विद्वान् लोग बनवाते है वे ससारमे वन्दना करने योग्य है। उन्होने अपनी बुद्धिको परलोककी सिद्धिमे ही लगा रक्खा है। ऐसे लोग उस इकट्ठे किये हुए धर्मके प्रभावसे सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गके राज्यको पाकर मोक्षमे जा विराजमान होते हैं। इसमे कोई सन्देह नही है ॥२४३॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवका प्रतिबिम्ब भी ससारभरमे पूज्य है, सदा पूजनीय है और श्रेष्ठ

ये कुर्वन्ति जिनेशिनां सुविमलां सारां प्रतिष्ठां बुधा
सद्धर्मैकधुरामसंख्यजनसत्पुण्यप्रदां सौख्यदाम् ।
ते धन्याः सुभगां श्रियं सुखकरां लब्ध्वा त्रिलोकोद्भवा
पश्चाद्यान्ति शिवालयं सुखनिधिं सद्धर्मसंवर्द्धनात् ॥२४५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे चतुर्विधदानप्ररूपको नाम विंशतितम परिच्छेद ॥२०॥

पुण्यका घर है, इसलिये जो भव्य पुरुप ऐसे महा सुन्दर प्रतिविम्वका निर्माण कराते है, जिनप्रतिमा वनवाते हैं वे अनेक सुखोको भोगकर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते है ॥२४४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठा कराना सबमे सारभूत है, निर्मल गुणोकी खानि है, श्रेष्ठ धर्मकी एक मात्र पृथ्वी हे अर्थात् श्रेष्ठ धर्मकी उत्पत्ति प्रतिष्ठासे ही होती है, यह असंख्यात लोगोको पुण्य कर्मोंका उपार्जन करानेवाली है और अनन्त सुख देनेवाली है इसलिये जो विद्वान् जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराते है वे ससारमे धन्य हैं और वे ही सुन्दर है। ऐसे लोग श्रेष्ठ मोक्ष मार्गरूप धर्मकी वृद्धि करनेके कारण तीनो लोकोमे उत्पन्न होनेवाली और अपरिमित सुख देनेवाली लक्ष्मीका उपभोग कर अन्तमे अनन्त सुखकी निधि ऐसे मोक्षस्थानमे जा विराजमान होते है ॥२४५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे चारो प्रकारके दानके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह बीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२०॥

इक्कीसवाँ परिच्छेद

नमिनाथ जिनाधीशं नमिताशेषविद्विषम् । धर्मामृतमहामेघं नमस्यामि सुखाप्तये ॥१
पञ्चातिचारसन्त्यक्तं मुनिभ्यो यो ददाति स । अन्नदानं शिवं याति प्राप्य भोगं त्रिलोकजम् ॥२
भगवन् ! मे व्यतीपातान् दयां कृत्वा निरूपय । वक्ष्येऽह श्रृणु ते मित्र ! दोषान् दानमलप्रदान् ॥३
स्याता सचित्तनिक्षेपपिधाने स्यादनादर । मत्सरत्वं च कालातिक्रमो दानस्य दोषत. ॥४
सचित्तपद्मपत्रादावन्नं संस्थापयेन्नरः । प्रासुकस्यैव वा मध्येऽपुण्यार्थं सोऽपि तं श्रयेत् ॥५
पत्रादिनापि य· कुर्यादन्नं यतेश्च हेतवे । आच्छादनं श्रयेत्सोऽपि दोषं लोके पिधानकम् ॥६
आदरेण विना दानं सत्पात्राय ददाति यः । दानस्यानादरो दोषो जायते तस्य पापत ॥७
अन्येषा योऽपि दातृणा गुण दानसमुद्भवम् । सहते नैव तद्दोषं भजते दानमदान्वितः ॥८
स्थापयित्वा गृहे पात्रं दत्ते दानं प्रमादत । योग्यकालं परित्यज्य स कालातिक्रमं भजेत् ॥९
दूरीकृत्य जनो दोषान्सर्वान् दानं ददाति य । महापात्राय प्राप्नोति मनोऽभीष्टं फलं स वै ॥१०
चतुर्विध महादान दत्ते पात्राय यो बुध । इहाऽमुत्र सुखं भुक्त्वा क्रमाद्याति शिवालयम् ॥११
चतुर्विधमहादानात्प्राप्तं यैश्च सुखं शुभम् । दक्षैस्तेषां कथां स्वामिन् ! कथय त्वं ममादरात् ॥१२

जिन्हे समस्त शत्रुमडल भी नमस्कार करता है और जो धर्मरूपी अमृतको वरसानेके लिये महामेघके समान हैं ऐसे श्री नमिनाथ जिनेन्द्रदेवको मैं सुखकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो वुद्धिमान् पाँचो अतिचारोका त्यागकर मुनिराजके लिये आहारदान देता है वह तीनो लोकोके भोगोका अनुभव कर अन्तमे मोक्ष प्राप्त करता है ॥२॥ प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मेरे लिये उन अतिचारोका निरूपण कीजिये। उत्तर—हे मित्र ! सुन, मैं दानमे मल उत्पन्न करनेवाले उन अतिचारोको कहता हूँ ॥३॥ सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, अनादर, मत्सर और कालातिक्रम ये पाँच दानमे दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचार हैं ॥४॥ जो कमलपत्र आदि सचित्त पदार्थोंपर मुनिराज-के लिये देनेयोग्य प्रासुक आहार रखता है अथवा प्रासुक आहारके मध्यमे सचित्त वस्तुको रखता है उसके सचित्तनिक्षेप नामका अतिचार लगता है, यह भी पापके लिए होता है ॥५॥ जो पुरुष मुनिराजके लिये देनेयोग्य दानको कमलपत्र आदि सचित्त पदार्थसे ढकता है उसके सचित्तापिधान नामका अतिचार लगता है ॥६॥ जो उत्तम पात्रोके लिये विना आदर सत्कारके दान देता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला अनादर नामका अतिचार लगता है ॥७॥ जो पुरुष अन्य दाताओके दानमे उत्पन्न होनेवाले गुणोको सहन नही कर सकता है उसके मत्सर नामका अतिचार लगता है ॥८॥ जो घरमे पात्रको स्थापन करके प्रमादके कारण योग्य कालको उल्लघन कर दान देता है उसके कालातिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥९॥ जो पुरुष सदा दोषोको छोडकर महापात्रोंके लिये उत्तम दान देता है उसके सब मनोरथ फलीभूत होते है ॥१०॥ जो विद्वान् सुपात्रोके लिये चारो प्रकारका महादान देता है वह इस लोक और परलोक दोनो लोकोके सुख भोगकर अन्तमे मोक्ष प्राप्त करता है ॥११॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! चारो प्रकारके दान देनेसे जिन्होने वहुत अच्छा सुख प्राप्त किया है उनकी कथा कृपाकर कहिये ॥१२॥ उत्तर—हे महाभाग ! सुन मै श्री शान्तिनाथ-

श्रृणु त्वं भो महाभाग ! कथयामि कथां तव । महापुण्यकराद्दानाज्जाता शान्तिभवादिजाम् ॥१३
श्रीषेणो यो नृपो ख्यातो दाने लोकत्रये भवेत् । कथा तस्य प्रवक्ष्यामि सक्षेपेण शुभप्रदाम् ॥१४
मलयाख्ये शुभे देशे रत्नसञ्चयसत्पुरे । नृप श्रीषेणनामाभूद्धीरो दाता गुणैकभूः ॥१५
तस्य राज्ये शुभे सिंहनिन्दितानिन्दिते वरे । स्याता पुण्यप्रभावेन हावभावविभूषिते ॥१६
तयो पुत्रौ समुत्पन्नाविन्द्रोपेन्द्रौ सुलक्षणौ । दक्षौ शास्त्रविचारज्ञौ दानपुण्यादिसंयुतौ ॥१७
सात्यकाख्यो भवेत्तत्र विप्रो जम्बूश्च ब्राह्मणी । सत्यभामा तयोः पुत्री जाता रूपगुणान्विता ॥१८
पुरे पाटलिपुत्राख्ये रुद्रभट्टो द्विजो वसन् । पापदान् द्विजपुत्राणां वेदान् पाठयति क्रमात् ॥१९
तदीय. चेटिकापुत्र कपिलाख्यो मतेर्बलात् । श्रृण्वानः कर्णसंघातान् जातस्तत्पारगोऽचिरात् ॥२०
रुद्रभट्टेन स तस्मात्पुरान्निर्घाटितो हटात् । सोत्तरीयं च यज्ञोपवीतं वस्त्रादिकं दधौ ॥२१
विप्रवेषं समादाय स रत्नसञ्चयाभिधे । पुरे कपटसंयुक्तो गत कुज्ञानतत्पर ॥२२
दृष्ट्वाशु सात्यकिस्त च सुरूपं वेदपापगम् । नीत्वा गृहमदात्तस्मै सत्यभामां सती शुभाम् ॥२३
रतिकाले समालोक्य विटचेष्टा कुकाकजाम् । विषादं विदधे सा न कुलजोऽयं भविष्यति ॥२४
एकदा रुद्रभट्टश्च तीर्थयात्रां परिभ्रमन् । समायात पुरे तत्र यत्र स्यात्कपिलो द्विज ॥२५
कपिलेन नमस्कारं कृत्वा नीतं स्वमन्दिरे । भोजन कारयित्वा स दत्तं वस्त्रादि भूषणम् ॥२६
भार्यायाश्च लोकादीनामग्रेऽपि कथितं स्फुटम् । मदीयोऽयं पिता ख्यातस्तेन मूढेन तत्क्षणम् ॥२७

स्वामीको महा पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूँ ॥१३॥ आहारदान देनेमे राजा श्रीषेण तीनो लोकोमे प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये मैं उनकी पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा सक्षेपसे कहता हूँ ॥१४॥ मलय नामके शुभदेशमे रत्नसचयपुर नामके नगरमे अनेक गुणोका घर धीरवीर दाता ऐसा श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था ॥१५॥ उस राजा श्रीषेणके पुण्यके प्रभावसे सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नामकी दो रानी थी जो कि हाव भाव आदि समस्त गुणोसे सुशोभित थी ॥१६॥ उनके इन्द्र और उपेन्द्र नामके दो पुत्र थे जो अत्यन्त चतुर थे, शास्त्रोके जानकार थे और दान पुण्य करनेमे निपुण थे ॥१७॥ उसी नगरमे एक सात्यकी नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम जम्बू था, उनके रूप और गुणोसे सुशोभित सत्यभामा नामकी पुत्री थी ॥१८॥ इधर पाटलिपुत्र नामके नगरमे रुद्रभट्ट नामका ब्राह्मण रहता था । वह विद्वान् था और ब्राह्मणोके पुत्रोको पढाया करता था ॥१९॥ उसके घरमे कपिल नामका उसकी दासीका पुत्र रहता था । वह उन पाठोको सुनते-सुनते सब शास्त्रोका पारगामी हो गया था ॥२०॥ उन दासीपुत्रको शास्त्रोका पारगामी होता देखकर रुद्रभट्टने अपने घरसे निकाल दिया । तव उसने यज्ञोपवीत और उत्तरीय (जनेऊ, दुपट्टा आदि) आदि वस्त्र पहिनकर ब्राह्मणका भेष धारण किया तथा मिथ्याज्ञानमे तत्पर रहनेवाला वह कपिल इस प्रकार कपट धारण कर रत्नसचयपुरमे पहुँचा ॥२१-२२॥ वहाँपर उसे सात्यकी ब्राह्मणने देखा । उसे रूपवान् तथा वेदका पारगामी जानकर अपने घर ले आया और सत्यभामा नामकी शुभ और सती कन्या उसे व्याह दी ॥२३॥ रात्रिके समय सत्यभामाने उसका अच्छा व्यवहार न देखकर हृदयमे खेद माना और एक प्रकारसे निश्चय सा कर लिया कि यह उत्तम कुलीन नही है ॥२४॥ किसी एक समय रुद्रभट्ट ब्राह्मण तीर्थयात्राके लिये परिभ्रमण करता हुआ उसी रत्नसचयपुरमे आ पहुँचा जहाँ कि कपिल ब्राह्मण रहता था ॥२५॥ कपिलने देखते ही उसे नमस्कार किया और अपने घर ले जाकर भोजन कराकर तथा वस्त्र आभूषण देकर उसका खूब ही आदर सत्कार किया ॥२६॥ उस मूर्ख कपिलने अपनी स्त्री और समस्त लोगोके सामने उसी

विशिष्टं भोजनं दत्वा बहु स्वर्णं च तस्य वै। लगित्वा पादयोः पृष्टं कपिलस्य कुलं तथा ॥२८
ततस्तेन स्वयं सत्यमुक्तं पुत्रि ! तव प्रियः। मदीयश्चेटिकासूनुः कपिलोऽयं द्विजोऽधमः ॥२९
तदाकर्ण्य विरक्ता सा चिन्तयामास मानसे। वरं भुक्तं विषान्नं न नरं हीनकुलप्रजम् ॥३०
ततस्त्यक्त्वाऽपि तं दुष्टं शीलभङ्गभयाद् द्रुतम्। सिंहादिनन्दिता देव्याः प्रविष्टा शरणं च सा ॥३१
तया सा प्रतिपन्नाऽपि धर्मपुत्री शुभोदयात्। सत्यभामा स्थिता तत्र दानपूजादिसंयुता ॥३२
एकदा तद्गृहे धीरावागतौ चारणौ मुनी। आहारार्थं जगत्पूज्यौ ध्यानाध्ययनतत्परौ ॥३३
दृष्ट्वा तौ स्थापितौ राज्ञा प्रणम्य चरणद्वयम्। अर्ककीर्तिर्मुनिर्ज्येष्ठश्चामितादिगतिः लघुः ॥३४
ततो दत्तो वराहारो मुनिभ्यां विधिवत्स्वयम्। श्रीषेणनरेशेण भक्तितत्परचेतसा ॥३५
दानकाले महापुण्यं श्रीषेणेन यथार्जितम्। तथा दानानुमोदेन राज्ञीभ्यां सत्यभामया ॥३६
तत्फलेन मृतो राजा राज्ञीभ्यां सह निश्चितम्। उत्कृष्टभोगभोमौ च सादृश्यशुभयोगतः ॥३७
ब्राह्मणी सत्यभामापि तत्र जाता मनोहरा। आर्यादानानुमोदादिजातपुण्यविपाकतः ॥३८
सद्वस्त्रगृहसन्मालाभूषणादिसमन्वितम्। मनोभिलषितं नित्यं निरौपम्यं शुभावहम् ॥३९
सर्वेन्द्रियसमाह्लादकारणं समप्रीतिजम्। पल्यत्रयप्रमाणायू रोगक्लेशादिविच्युतम् ॥४०
ईदृशं दशभेदं सा कल्पद्रुमद्विपञ्चजम्। भुङ्क्ते तत्र सुखं चायुः स्वपुण्यफलपाकतः ॥४१

समय स्पष्ट शब्दोंमे कह सुनाया कि ये मेरे पिता है ॥२७॥ किसी एक दिन सत्यभामाने रुद्रभट्टको बहुत ही उत्तम भोजन खिलाया और उसे बहुत-सा सुवर्ण देकर तथा उसके पैरो पडकर कपिलका कुल पूछा ॥२८॥ तव रुद्रभट्टने सच बात कह दी और कह दिया कि हे पुत्री ! यह कपिल नामका तेरा पति मेरी दासीका पुत्र नीच ब्राह्मण है ॥२९॥ इस बातको सुनकर वह अपने मनमे बड़ी विरक्त हुई और विचार करने लगी कि विष मिला भोजन खा लेना अच्छा, परन्तु हीन कुल मनुष्यके साथ रहना अच्छा नही ॥३०॥ तदनन्तर उसने उस दुष्टका त्याग कर दिया और अपने शीलभंग होनेके भयसे वह महाराज श्रीषेणकी रानी सिंहनन्दिता तथा अनिन्दिताके शरणमें जा पहुँची ॥३१॥ सिंहनन्दिताने उसे अपनी धर्मपुत्री मानकर रक्खा। इस प्रकार दान पूजा आदि कार्योको करती हुई वह सत्यभामा वहाँ रहने लगी ॥३२॥ किसी एक दिन ध्यान और अध्ययनमे तत्पर रहनेवाले दो चारण मुनिराज आहारके लिये महाराज श्रीषेणके घर पधारे ॥३३॥ उन्हे देखते ही महाराजने उन्हे स्थापन किया और उनके चरणकमलोको नमस्कार किया। उन दोनों मुनिराजोमे अर्ककीर्ति वडे थे और अमितगति छोटे थे ॥३४॥ तदनन्तर भक्ति करनेमे तत्पर रहनेवाले महाराज श्रीषेणने उन दोनो मुनिराजोको विधि-पूर्वक उत्तम आहार दिया ॥३५॥ जिस प्रकार महाराज श्रीषेणने वह आहारदान देकर महापुण्य उपार्जन किया उसी प्रकार उस दानकी अनुमोदना करनेके कारण दोनो रानियोने और सत्यभामाने भी पुण्य उपार्जन किया ॥३६॥ उस दानके फलसे राजा श्रीषेण अपनी दोनो रानियोके साथ उत्तम भोगभूमिमे उत्पन्न हुआ। तथा ब्राह्मणी सत्यभामा भी आहारदानकी अनुमोदना करनेसे और उसके ही सदृश पुण्यके फलसे उसी उत्तम भोगभूमिमे आर्या हुई ॥३७-३८॥ वहाँपर वस्त्रांग, गृहांग, मालांग, भूषणांग आदि सब तरहके कल्पवृक्ष थे, उनके कारण अपनी इच्छानुसार, उपमा रहित, स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले, समस्त इन्द्रियोको प्रसन्न करनेवाले और समान प्रेम उत्पन्न करनेवाले भोग अपने पुण्य कर्मके उदयसे भोगने लगे। इस प्रकार दश प्रकारके कल्पवृक्षोसे उत्पन्न हुए दश प्रकारके भोग विना किसी रोग क्लेश आदि बाधाओंके उन आर्य और आर्याओने तीन पल्य तक भोगे ॥३९-४१॥ इस प्रकार सुखपूर्वक अपनी आयु पूरीकर राजा श्रीषेण-

कालान्तरेऽपि परिप्राप्य देवभूतिं महर्द्धिकाम् । भुक्त्वा नृदेवजं शर्म स द्वादशभवे शुभे ॥४२
क्रमाच्छ्रीशान्तिनाथोऽयं जातस्तीर्थकराह्वय । पात्रदानसुपुण्येन कामदेवश्च चक्रभृत् ॥४३
दानेनैव सुकेत्वाख्यो देवाना दुर्जयोऽप्यभूत् । अनेकऋद्धिसयुक्तो विख्यातो यो जगत्त्रये ॥४४
मुक्तिरामा करे प्राप्त सद्वैश्यकुलमण्डनः । तस्य ज्ञेया कथा दक्षै शास्त्रे पुण्यास्त्रवाभिधे ॥४५
यो धन्यादिकुमारोऽत्र वैश्यपुत्रो गुणैकभूः । विविधर्द्धिसमायुक्त सञ्जातो निधिसयुत ॥४६
भोगोपभोगसम्पन्नो दानपुण्यफलोदयात् । तस्य धीरस्य संज्ञेया कथा शास्त्रे प्ररूपिता ॥४७
श्रेयो नाम नृपो जातो विख्यातो भुवनत्रये । वृषभाय जिनेन्द्राय स्वब्दैकोपोषिताय य ॥४८
दत्वा दानं च सम्प्राप्य रत्नवृष्ट्यादिकं सुरै । मुक्तिभर्तुः कथा तस्य ज्ञेया शास्त्रे वृषेशिन ॥४९
वज्रजङ्घो नृपो दत्वा चारणाभ्या सुभावत । अन्नदानं क्रमादासीदादिनाथोऽपि यो जिन ॥५०
कथा तस्य बुधैर्ज्ञेया विख्याता भुवि कीर्तिता । आदिनाथपुराणेऽपि धर्मसंवेगकारणे ॥५१
अन्ये ये वहव प्राप्ता पशवश्च नराः सुखम् । दानतोऽमुत्र कस्तेषा कथा सङ्कदितुं क्षम ॥५२
त्रिभुवनपतिपूज्यो धर्मतीर्थस्य कर्ता सकलगुणवराब्धि शान्तिनाथो जिनेश ।
शिवगतिसुखहेतुर्येन दानेन जात कुरु बुध ! सुखबीज पात्रदानं सदा त्वम् ॥५३
अन्नदानभवां सारां कथां व्याख्याय ते पुन । वक्ष्ये वृषभसेनाया कथामौषधदानजाम् ॥५४

के जीवने अनेक महा ऋद्धियोसे सुशोभित देवोकी विभूति पाई और इस प्रकार देव और मनुष्योके उत्तम उत्तम सुख भोगकर अपने उस भवसे बारहवे शुभ भवमे शान्तिनाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेवका पद प्राप्त था ॥४२-४३॥ इस दानके ही प्रभावसे वैश्यकुलको सुशोभित करनेवाला सुकेतु देवोसे भी अजेय हुआ था अर्थात् उसे देव भी नही जीत सकते थे तथा उसने अनेक ऋद्धियो-से सुशोभित होनेवाले तथा तीनो लोकोमे प्रसिद्ध ऐसे देवोके सुख भोगे । तदनन्तर उसने मुक्तिरूपी वधू अपने वशमें की, उसकी कथा चतुर पुरुषोको पुण्यास्त्रव पुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४४-४५॥ इसी प्रकार अत्यन्त गुणवान् वैश्यपुत्र धन्यकुमारको दानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यके फलसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थी, निधियाँ प्राप्त हुई थी और अनेक प्रकारके भोगोपभोग प्राप्त हुए थे, उस धीरवीरकी कथा भी शास्त्रोसे जान लेनी चाहिये ॥४६-४७॥ राजा श्रेयासने भी एक वर्षके उपवासे श्री वृषभदेव तीर्थंकरको दान दिया था इसलिये वे तीनो लोकोमे प्रसिद्ध हुए थे । देवोने उनके घर रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य किये थे और अन्तमे उन्हे मोक्ष पद प्राप्त हुआ था, उनकी कथा आदिपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४८-४९॥ राजा वज्रजघने भी चारण मुनियोको आहार दान दिया था इसलिये वे अनुक्रमसे श्री वृषभदेव तीर्थंकर हुए थे । उनकी कथा धर्म और सवेगको प्रगट करनेवाले आदिनाथपुराणमे प्रसिद्ध है, वहाँसे जान लेनी चाहिये ॥५०-५१॥ इस दानके प्रभावसे अन्य भी कितने ही मनुष्योने तथा कितने ही पशुओने सुख पाया है उन सवकी कथा कौन कह सकता है ॥५२॥ देखो इस दानके ही प्रभावसे भगवान् शान्तिनाथ तीनो लोकोके स्वामी व तीनो लोकोमे पूज्य हुए थे, धर्म तीर्थके कर्ता हुए थे, समस्त गुणोके समुद्र और मोक्षके अनुपम सुख प्राप्त करनेवाले हुए थे । यह पात्र दान अनेक सुखोका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू सदा पात्रदान कर ॥५३॥

इस प्रकार आहारदानमे प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेणकी कथा कहकर अब औषधि दानमे प्रसिद्ध होनेवाली वृषभसेनाकी कथा कहते है ॥५४॥ जनपद नामके देशके कावेरी नगरमे पूर्वोपार्जित

गन्तव्यं हि त्वया मेघपिङ्गलस्योपरि ध्रुवम् । इत्युक्त्वा प्रेषितस्ताभ्या तूर्णं वाणारसीं प्रति ॥८४
तदाकर्ण्य समालोच्य मर्मभेदी ममाप्ययम् । ज्ञात्वेति पृथिवीचन्द्र' आगतो मेघपिङ्गलः ॥८५
नमस्कारं विधायोच्चैरुग्रसेननृपस्य स । अति सम्मानितो जात सामन्तो हितकारक' ॥८६
राज्ञोक्तं हि ममास्थानस्थितस्य प्राभृतं वरम् । यदागच्छति तत्सारं वस्तु वस्त्रादिकं स्फुटम् ॥८७
मेघपिङ्गरराजस्य तस्यार्द्धं खु ददाम्यहम् । सार्द्धं वृषभसेनाया व्यवस्थेति कृता स्वयम् ॥८८
एकदा प्रागतं रत्नकम्बलद्वयमेव हि । राजा नामाङ्कितं कृत्वा तयोर्दत्तं पृथक् पृथक् ॥८९
प्रावृत्य कम्बल राज्ञी मेघपिङ्गलसत्पते । गता प्रयोजनेनैव रूपवत्या गृहे स्वयम् ॥९०
जातं पापोदयेनैव तत्र कम्बलपल्लिह (?) । अघोदयेन जन्तूनां किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥९१
ततो वृषभसेनायाः कम्बल मेघपिङ्गल । प्रावृत्य खु समायात. उग्रसेनसभां स्वयम् ॥९२
राजाऽभूच्च तमालोक्य रक्ताक्षोऽतिप्रकोपत: । तथाविधं नृपं दृष्ट्वा नष्टोऽसौ मेघपिङ्गल ॥९३
उग्रसेनेन रुष्टेन निक्षिप्ताब्धिजले घने । राज्ञी वृषभसेनापि मारणार्थं च पापत. ॥९४
तदा तया गृहीतेति प्रतिज्ञा चोपसर्गत. । उद्धरियामि चेद् वृत्तं करिष्यामि तपोऽनघम् ॥९५
ततो व्रतप्रभावेण जलदेवतया कृतम् । सिंहासनादिसत्प्रातिहार्यं तस्या शुभोदयात् ॥९६

वह चित्र ले जाकर राजा उग्रसेनकी भेंट की और फिर राजा उग्रसेनको नमस्कार कर रानी वृषभसेनाकी वहुत प्रशसा की ॥८३॥ राजा उग्रसेनने कहा कि तुम पिंगलको (मेघपिंगलको) पकडकर लाना यह कहकर राजा रानी दोनोने पृथ्वीचन्द्रको वनारसके लिये वहुत शीघ्र विदा कर दिया ॥८४॥ पृथ्वीचन्द्रके छूट जानेपर राजा मेघपिंगलने विचारा कि मेरे मर्मको जाननेवाला पृथ्वीचन्द्र आ गया है यह सोच समझकर वह स्वय राजा उग्रसेनके समीप आया और नमस्कारकर उसका सेवक वन गया। राजा उग्रसेनने भी उसका आदर-सत्कार किया और हित करनेवाले सामन्त पदपर नियुक्त किया ॥८५-८६॥ राजा उग्रसेनने आज्ञा दी कि मेरे यहाँ जो भेंट आवेगी तथा जो वस्त्र आभूषण आवेंगे उनमेसे आवे राजा मेघपिंगलको दिये जांय और आवे रानी वृषभसेनाको दिये जांय। ऐसी व्यवस्था महाराज उग्रसेनने स्वय कर दी ॥८७-८८॥ किसी एक समय राजाकी भेंटमे दो रत्नकम्वल आए। राजाने दोनोपर अलग-अलग नाम लिखकर दोनोको दे दिये अर्थात् वृषभसेनाका नाम लिखकर वृषभसेनाको दे दिया और मेघपिंगलका नाम लिखकर मेघपिंगलको दे दिया ॥८९॥ किसी एक समय किसी कामके लिये राजा मेघपिंगलकी रानी रूपवतीके (वृषभसेनाकी वायके) घर आई। दैवयोगसे वा पापकर्मके उदयसे वहांपर दोनोके कंवल परस्पर वदल गये अर्थात् मेघपिंगलका कवल वहाँ रह गया और वृषभसेनाका कम्वल मेघपिंगलकी रानी ओढ गई। सो ठीक ही है, पापकर्मके उदयसे मनुष्योंके क्या-क्या विपरीत कार्य नही हो जाता है।९०-९१॥ किसी समय उस वदले हुए वृषभसेनाके कम्वलको ओटकर राजा मेघपिंगल वडी प्रसन्नताके साथ राजा उग्रसेनकी राजसभामे आया ॥९२॥ राजा उग्रसेन उस कंवलपर वृषभसेनाका नाम देखकर वहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधसे उसके नेत्र लाल हो गये। अपने आनेमे ही राजाको इस प्रकार क्रोधित देखकर राजा मेघपिंगल वहाँसे भाग गया ॥९३॥ मेघ-पिंगलको भागता हुआ देखकर राजा उग्रसेनका सन्देह और भी वढ़ गया। उसने वृषभसेनाके समीप आकर उसका कवल देखा और उसपर मेघपिंगलक नाम देखकर रानी वृषभसेनाको मारने लिये अथाह जलसे भरे हुए किसी सागरमे डलवा दिया ॥९४॥ उस समय रानी वृषभसेनाने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस उपसर्गसे वचूंगी तो पाप रहित तीव्र तपश्चरण करूंगी ॥९५॥ तदनन्तर वृषभ-

यत्प्रासाध्यं च यद्दूरं तत्सर्वं जायते नृणाम् । अहो सद्व्रतमाहात्म्यादिन्द्रोऽपि किंकरायते ॥९७
तच्छ्रुत्वा नृपति पश्चात्तापं कृत्वा स्वयं गत । तामानेतु क्षमां सापि कारिता वचनादिभिः ॥९८
आगच्छन्त्या तया दृष्टो मार्गे गुणधराधिप' । वनमध्येऽवधिज्ञानी मुनिर्भव्यप्रबोधक ॥९९
प्रणम्य चरणौ तस्य पार्श्वे दृष्टं स्वचेष्टितम् । प्राग्भवार्जितपुण्येन भवं वृषभसेनया ॥१००
मुनिराह वशं कृत्वा शृणु देवि मनो निजम् । वक्ष्ये पूर्वंभवं तेऽहं शुभाशुभसमन्वितम् ॥१०१
अत्रैव नगरे पुत्री नागश्री स्याद् द्विजस्य वै । सम्मार्जनं करोषि त्वं राज्ञो देवकुले सदा ॥१०२
तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्ले समागत. । मुनिदत्ताभिधो धीर प्राकाराभ्यन्तरे मुनिः ॥१०३
स्थितो निर्वातगर्तायां कायोत्सर्गं विधाय च । मौनं ध्यानसमारूढो ज्ञानी पर्यङ्कसंयुत ॥१०४
प्रजल्पितं त्वया लोकमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मुने । सम्मार्जनं करोम्यत्र प्रागत कटकान्नृप ॥१०५
आगमिष्यति त्वत्रैव गच्छान्यत्र त्वमेव हि । मुनिर्ध्यानसमालम्ब्य स्थितो मौनेन काष्ठवत् ॥१०६
रुष्टया च त्वया तस्योपरि सम्मार्जनं कृतम् । पूरयित्वा हि तद्गतं कचवारेण तत्क्षणम् ॥१०७
त्यक्तदेहो मुनिस्तत्र स्थितो मेरुरिवाचल । जित्वा घोरोपसर्ग स स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१०८
प्रभाते चागतेनैव तत्र क्रीडादिहेतवे । उच्छ्वसितं प्रदेशं तं दृष्ट्वा निच्छ्वसितं पुन ॥१०९

सेनाके व्रतके प्रभावसे, उसके शीलके माहात्म्यसे तथा पुण्यकर्मके उदयसे जलदेवताने आकर सिंहासन रच दिया तथा और भी प्रातिहार्योकी रचना कर दी ॥९६॥ देखो, व्रतोके माहात्म्यसे ससारमे जो कुछ हो सकता है वह सव मनुष्योको हो जाता है। इन व्रतोके माहात्म्यसे स्वर्गका इन्द्र भी दास वन जाता है ॥९७॥ वृषभसेनाकी यह महिमा सुनकर राजा उग्रसेन पश्चात्ताप करने लगा। उसको लेनेके लिये वह स्वय गया और वचनोंके द्वारा उससे अनेक प्रकारकी क्षमा माँगी ॥९८॥ वह रानी वृषभसेना आ ही रही थी कि उसे मार्गके एक वनमे भव्य जीवोको धर्मोपदेश करनेवाले अवधिज्ञानी श्री गुणधरमुनिके दर्शन हुए ॥९९॥ रानी वृषभसेनाने उनके चरणकमलोको नमस्कार किया और समीप वैठकर अपने पहिले जन्मके भव पूछे ॥१००॥ मुनिराज कहने लगे—हे पुत्री ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं तेरे पुण्य-पापको सूचित करनेवाले पहिले भव कहता हूँ ॥१०१॥ इसी पुण्यवती नगरीमे तू पहिले एक ब्राह्मणकी पुत्री थी। नागश्री तेरा नाम था। तू राजाके जिनभवनमे झाडू वुहारी देनेका काम किया करती थी ॥१०२॥ किसी एक दिन महाराजके उसी जिनभवनमे भीतर मुनिदत्त नामके धीरवीर मुनिराज आकर वायुसे रहित एक गढेमे विराजमान हो गये ॥१०३॥ वे ज्ञानी मुनिराज मौन और कायोत्सर्ग धारणकर पर्यंकासनसे विराजमान हो गये ॥१०४॥ झाडू देते जब वह नागश्री मुनिराजके समीप आ गई तव वह मुनिराजसे कहने लगी कि "हे मुनिराज ! उठो उठो, मैं यहाँ झाडू दूँगी, महाराज आते ही होगे, आप अब दूसरी जगह चले जाइये।" परन्तु मुनिराज न तो कुछ वोले और न हटे, क्योकि वे तो ध्यानमे लीन थे, वे मौन धारण कर काठके समान अचल विराजमान थे ॥१०५-१०६॥ तव नागश्रीने क्रोधित होकर सव जगहसे झाड वुहार कर सव कचरे-कूडेका ढेर मुनिराजके चारो ओर लगा दिया और उस कूडेसे उस गढेको ढक दिया ॥१०७॥ मुनिराज शरीरसे ममत्व छोड़कर मेरुपर्वतके समान निश्चल होकर अपने कर्मोको नाश करनेके लिये घोर उपसर्ग सहन करने लगे ॥१०८॥ प्रात काल ही वहाँपर क्रीड़ा आदिके लिए राजा आया। मुनिराजके श्वास लेनेसे वह कूडा-कचरा कुछ हिल रहा था, उसे देखकर राजाको सन्देह हुआ और उसने उसी समय उस स्थानसे कचरा-कूडा हटाकर मुनिराजको निकाला। उन धीरवीर मुनिराजको देखकर राजाको वहुत ही आश्चर्य हुआ

देशे जनपदाख्ये च कावेरीपत्तने शुभे । उग्रसेननृपो जात पूर्वोपार्जितपुण्यत ॥५५
श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र धनश्रीर्वल्लभा शुभा । तयोर्वृषभसेनाख्या पुत्री जाता गुणान्विता ॥५६
तस्या रूपवती नाम धात्री शुद्धिसमन्विता । स्नानाञ्जनान्नसद्वस्त्रै' पोषिका स्याच्छुभोदयात् ॥५७
एकदा स्नानगर्ताया पुण्याद् रोगाढ्यकुर्कुरः । पतित्वा च लुठित्वापि त्यक्तरोगो बभूव स ॥५८
त्यक्तरोगं हि त दृष्ट्वा श्वानं सञ्चिंतितं तया । पुत्रीस्नानजल चात्र भवेदारोग्यकारणम् ॥५९
तया तदा परीक्षार्थं धौते मातुश्च लोचने । द्वादशाब्दमहाव्याधिग्रस्ते जाते शुभे स्वयम् ॥६०
ततो जाता प्रसिद्धा सा धात्रीलोके सुलक्षणा । सर्वामयविनाशेषु मान्या सर्वजनैस्तथा ॥६१
एकदाऽप्युग्रसेनेन मन्त्री पिङ्गलसंज्ञक । बहुसैन्यसमायुक्त. प्रेषित शत्रुशान्तये ।.६२
मेघपिङ्गलराज्यस्य देशे यावत्स्थितस्य स' । तावज्ज्वरेण सग्रस्तो विषोदकप्रसेवनात् ॥६३
तत्र स्थातुमशक्तोऽपि ततो व्याघुट्य चागत । रूपवत्याशु नीरोगी कृतस्तेन जलेन सः ॥६४
उग्रसेनो महाकोपादागतस्तत्र तथा ज्वरी । भूत्वा पुन समायातोऽसमर्थ- सङ्गरादिके ॥६५
जलवार्तां समाकर्ण्य राज्ञा मन्त्रिमुखात्स्वयम् । तज्जल याचित धात्र्या पार्श्वे व्याधिविनाशनम् ॥६६
ततो धनश्रिया प्रोक्तं पुत्रीस्नानजलं कथम् । क्षिप्यते मस्तके राज्ञ' श्रेष्ठस्त्वं हि विचारय ॥६७
स आह जलवार्ता स नृपो यदि च पृच्छति । कथनीय तदा सत्यं दोषो नास्ति कदाचन ॥६८

पुण्यकर्मके उदयसे राजा उग्रसेन राज्य करता था ॥५५॥ उसी नगरमे एक धनपति नामका सेठ रहता था और उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था । उन दोनोके अनेक गुणोंसे सुशोभित वृषभसेना नामकी पुत्री हुई थी ॥५६॥ उसकी एक धाय थी जो बड़ी बुद्धिमती थी और रूपवती उसका नाम था । वह वृषभसेनाको स्नान कराया करती थी और वस्त्र पहिनाया करती थी ॥५७॥ किसी एक दिन जिस गढेमे वृषभसेनाके स्नानका जल भर रहा था उसमे एक रोगी कुत्ता गिर गया । वह उस गढेमे कुछ लोटा पोटा और फिर नीरोग होकर उसमेंसे निकल आया ॥५८॥ उसे नीरोग होकर निकलते देखकर धायने यह विचार किया कि अवश्य ही इस वृषभसेनाके स्नानका जल रोगोको दूर करनेका कारण है ॥५९॥ तब उसने परीक्षा करनेके लिये अपनी माताकी आँखोपर वह जल लगाया । माताकी आँखें बारह वर्षसे विगड रही थी वे उस जलके लगाते ही अच्छी हो गईं ॥६०॥ तब तो वह सुलक्षणा धाय समस्त रोगोंके दूर करनेमे प्रसिद्ध हो गई और सब लोग उसे मानने लगे ॥६१॥ किसी एक समय राजा उग्रसेनने अपने पिंगल नामके मन्त्रीको वडी सेनाके साथ अपने शत्रु राजा मधुपिंगलके साथ युद्ध करनेके लिये उसीके देशमे भेजा, परन्तु मधुपिंगलने वहांके जलोमे विष डलवा रक्खा था इसलिये सेनाके सब लोग एक प्रकारके ज्वरसे रोगी हो गये ॥६२–६३॥ वे लोग वहाँपर ठहर नही सके इसलिये लौटकर चले आए और रूपवती धायके द्वारा उसी वृषभसेनाके स्नानके जलसे अच्छे हो गये ॥६४॥ तब क्रोधित होकर राजा उग्रसेन स्वय युद्ध करनेके लिये गया और उसी प्रकार रोगी होकर तथा युद्ध करनेमे असमर्थ होकर लौट आया ॥६५॥ राजाने उस जलकी बात मन्त्रीके मुखसे स्वय सुनी और फिर रूपवती धायसे वह रोगोको दूर करनेवाला जल मँगवाया ॥६६॥ तब वृषभसेनाकी माता धनश्रीने सेठसे कहा कि पुत्रीके स्नानका जल राजाके मस्तकपर किस प्रकार डालना चाहिये जरा इसका भी तो विचार कीजिये ॥६७॥ तब सेठने उत्तर दिया कि यदि महाराज जलकी बात पूछेंगे तो सच बात ज्योकी त्यो कह दी जायगी फिर इसमे कोई दोष

ततस्तया जलेनैव नीरोगी स कृतो नृप । राज्ञा नीरस्य माहात्म्यं पृष्टा रूपवती तदा ॥६९
निरूपितं तया सत्यं राज्ञा श्रेष्ठी समाह्वित । विधाय गौरवं कन्या परिणेतुं स याचितः ॥७०
तत सच्छ्रेष्ठिना प्रोक्तं यदि राजन् ! करोषि वै । अष्टाह्निकीं महापूजा बिम्बाना श्रीजिनालये ॥७१
पञ्जरस्थान् खगान् सर्वान् मनुष्यांश्चैव मुञ्चसि । कारागारात्तदा तेऽहं ता ददामि न चान्यथा ॥७२
उग्रसेनेन तत्सर्वं कृत्वा परिणीता हि सा । पट्टराज्ञी कृता स्नेहाज्जाता तस्यातिवल्लभा ॥७३
एकस्मिन् योऽपि प्रस्तावे वाणारस्या नृपो धृत । आस्तेऽत्र पृथिवीचन्द्रस्तद्विवाहे न मोचित ॥७४
या नारायणदत्ताख्या तस्य राज्ञी तया सह । मन्त्रीभिर्मन्त्रितो मन्त्रो मोहनार्थं महीपते ॥७५
वाणारस्या तया नित्यं सत्कारा कारिता शुभा । राज्ञी वृषभसेनाया नाम्ना भर्तृविमुक्तये ॥७६
ये तेषु भोजनं कृत्वा कावेरोपत्तनं गता । श्रुतं तेभ्यो द्विजादिभ्यो धात्र्या वृत्तान्तमेव तत् ॥७७
तदोक्तं रूपवत्या मां वाणारस्या खु हे सखे । अपृच्छन्ती हि सत्काराह्वयं कारयसि स्वयम् ॥७८
प्ररूपितं महिष्याऽहं कारयामि स्फुट न तान् । मन्नाम्ना कारितास्तेऽपि केनापि कारणादिना ॥७९
तेषां शुद्धि कुरु त्वं हि धात्र्या चरनरादिभि । परिज्ञाय यथार्थं तदग्रे राज्ञ्या निरूपितम् ॥८०
ततो विज्ञाय राजान पृथ्वीचन्द्राभिधो नृप । मोचितस्तत्क्षणादेव राज्ञ्या वृषभसेनया ॥८१
तेन सम्फलके रूपे नृपराज्ञोश्च कारिते । अध प्रणामसंयुक्तं निजरूपं सुकारितम् ॥८२
नीत्वा चित्रान्वित सोऽपि फलकस्तेन दर्शित । तयो कृत्वा नमस्कारं सद्राज्ञी शंसिता मुहु ॥८३

नही है ॥६८॥ तदनन्तर वह राजा उस वृषभसेनाके स्नानके जलसे नीरोग हो गया। तब राजाने रूपवतीसे उस जलके माहात्म्यकी बात पूछी ॥६९॥ रूपवतीने सब ज्योकी त्यो कह सुनाई। तब राजाने सेठको बुलाया, उस कन्याकी बडी प्रशसा की और फिर अपने साथ विवाह करनेके लिये माँगी ॥७०॥ इसके उत्तरमे सेठने कहा कि हे महाराज ! यदि आप अष्टाह्निकाके दिनोमे जिनालय-मे जाकर भगवान् अर्हन्तदेवकी पूजा कर, पिंजडोमे रहनेवाले सब पक्षियोको छोड दें और अपने कारागारसे (जेलसे) सब मनुष्योको छोड दें तो मैं आपके लिये उस कन्याको दे सकता हूँ ॥७१-७२॥ महाराज उग्रसेनने यह सब स्वीकार कर उसके साथ विवाह कर लिया और उसे पट्टरानी बनाया। प्रेमके कारण वह वृषभसेना राजाकी बहुत ही प्यारी हो गई थी ॥७३॥ विवाहके समय राजा उग्रसेनने जब सबको छोडा था तब भी वनारसके राजा पृथ्वीचन्द्रको नही छोडा था ॥७४॥ पृथ्वीचन्द्रकी रानीका नाम नारायणदत्ता था, उसने अपने पतिको छुडानेके लिये मन्त्रियोसे सलाह लेकर रानी वृषभसेनाके नामसे वनारसमे बहुतसे उत्तम-उत्तम सत्कारघर बनवाये ॥७५-७६॥ जो ब्राह्मणादिक उन सत्कारघरोमे उत्तम भोजनकर कावेरी नगरमे पहुँचे थे उनसे उन सब सत्कार घरोका हाल रूपवती धायने सुना ॥७७॥ तब उसने वृषभसेनासे कहा कि तूने वनारसमे अपने नामसे बहुतसे सत्कारघर बनवाये है सो क्या तूने विना मुझसे पूछे ही बनवा डाले ? ॥७८॥ इसके उत्तरमे पट्टरानी वृषभसेनाने कहा कि वनारसमे मैने कुछ नही बनवाया है, किसी कारणसे मेरे नामसे किसी औरने बनवाये होगे ॥७९॥ तब इसकी खोज करनेके लिये रूपवतीने वनारसके लिये बहुतसे गुप्तचर (छिपकर जाँच करनेवाले) भेजे और यथार्थ बात जानकर रानीसे सब हाल कह सुनाया ॥८०॥ तब महारानी वृषभसेनाने महाराजसे प्रार्थनाकर उसी समय राजा पृथ्वीचन्द्रको छुडवा दिया ॥८१॥ वहाँसे छूटकर पृथ्वीचन्द्रने एक चित्र बनवाया जिसमे राजा उग्रसेन और रानी वृषभसेनाका चित्र बनवाया और उनके नीचे प्रणाम करते हुए अपना चित्र बनवाया ॥८२॥

अनूत्खत्य प्रदेशं तं मुनि निस्सारित्तो द्रुतम् । राज्ञा कृत्वा महाश्चर्यमहो धीरगुणो मुनि ॥११०
तत कृत्वाऽऽत्मनो निन्दा सद्धर्मस्य रुचिर्मुहु । गर्हां च मुनिसत्पादौ प्रणम्य च क्षमा त्वया ॥१११
पश्चाद्रोगविनाशार्थं दत्तं चैवौषधं त्वया । वैयावृत्ति विधायोच्चै मुनये भक्तिपूर्वकम् ॥११२
ततो मृत्वा निदानेन कुले वैश्यसमुद्भवे । इहोत्पन्ना सुरूपा हि त्वं पुण्याढ्यफलान्विता ॥११३
सर्वौषर्वाद्धिरेवात्र जाता चौषधदानत । कलङ्किताऽपि ते निन्द्या कचवारप्रपूरणात् ॥११४
पुण्यपापफलान्येव भुङ्क्ते जीवो भवार्णवे । मज्जनोन्मज्जनं कुर्वन्नित्यं चेन्द्रियलालस ॥११५
श्रुत्वा तद्वचन सागाद्वैराग्यं कर्मघातकम् । संसारदेहभोगेषु दु खशोकविधायिषु ॥११६
मोचयित्वा तदात्मान तत्समीपेऽपि सार्यिका। जाता प्रणम्य तत्पादौ ततः कुर्यात्तपोऽनघम् ॥११७

इति विमलसुदानादौषधाद्रोगयुक्ता अजनि वृषभसेना श्रेष्ठिपुत्री गुणाढ्या ।
सुवरनृपतिभार्या ऋद्धियुक्ता तपो नु विमलमपि सुकृत्वा देवलोकं गता सा ॥११८

कथामौषधदानस्य व्याख्याय कथयाम्यहम् । कथां श्रीश्रुतदानस्य कौण्डेशमुनिसम्भवाम् ॥११९
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् क्षेत्रे भरतनामनि । सद्ग्रामं कुरुमर्याख्यं भवेद्धर्मसुखप्रदम् ॥१२०
गोविन्दो नाम गोपालो भवेत्तत्र शुभाशयः । दृष्टं तेनैकदा सारं पुस्तकं वृक्षकोटरे ॥१२१

और उसने विचार किया कि ये मुनि बड़े ही धीरवीर हैं, इनकी वीरधीरता आश्चर्यके योग्य है ॥१०९–११०॥ नागश्रीने यह देखकर अपनी बडी निन्दा की और अपनेको वारवार धिक्कारा। उसका धर्ममे प्रेम बढ़ गया और मुनिराजके चरणकमलोमे नमस्कार कर उनसे क्षमा प्रार्थना की ॥१११॥ तदनन्तर मुनिराजका रोग दूर करनेके लिये नागश्रीने उन्हें औषधि दी और भक्तिपूर्वक उन मुनिराजकी वहुत ही वैयावृत्य की ॥११२॥ वहाँसे मरकर तू इस वैश्य कुलमे अत्यन्त रूपवान और पाप-पुण्यके फलको प्रगट करनेवाली वृषभसेना हुई है ॥११३॥ पहिले जन्मने तूने मुनिराजको औषधदान दिया था उसके फलसे ही तेरे स्नानके जलमे समस्त रोगोंके दूर करनेकी शक्ति हो गई है। तथा मुनिराजकी अवज्ञा की थी इसलिए तू सागरमे फेंक दी गई थी ॥११४॥ देखो इन्द्रियोको तृप्त करनेकी लालसा करता हुआ यह प्राणी इस संसाररूपी समुद्रमे वारवार डूबता और उछलता हुआ अपने किये हुए पुण्य और पापोका फल सदा भोगता रहता है ॥११५॥ मुनिराजके वचन सुनकर उस वृषभसेनाको कर्मोको नाश करनेवाला अत्यन्त दु ख देनेवाले ससार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥११६॥ तदनन्तर वृषभसेनाने अपने आत्माको ससारके वन्धनसे छुडाया, वह मुनिराजके चरणकमलोको नमस्कार कर उन्हींके समीप अर्जिका हो गई और निर्दोष घोर तपश्चरण करने लगी ॥११७॥ इस प्रकार निर्मल औषधिदानके फलसे ही नागश्री अनेक प्रकारके भोगोको सेवन करनेवाली और अनेक गुणोसे सुशोभित सेठकी पुत्री और राजाकी पट्टरानी वृषभसेना हुई थी उसे सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त हुई थी तथा निर्दोष तपश्चरण कर उसने स्वर्गलोककी सम्पदा प्राप्त की थी इसलिये प्रत्येक गृहस्थको सदा दान देते रहना चाहिये ॥११८॥

इस प्रकार औषध दानमे प्रसिद्ध होनेवाली श्री वृषभसेनाकी कथा कहकर अव शास्त्रदानमे प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेश मुनिकी कथा कहता हूँ ॥११९॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमे धर्म और सुखसे भरपूर एक कुरुमरी नामका गाँव था ॥१२०॥ वहाँपर एक गोविन्द नामका गवालिया रहता था जो कि शुभ परिणामी था। उसने किसी एक दिन एक वृक्षके कोटरमे एक शास्त्रजी देखे ॥१२१॥ उन्हे वह घर ले आया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा। कितने दिनके वाद

तदादाय प्रपूज्याशु पश्चाद्दत्तं शुभप्रदम् । पद्मनन्दिमुनीन्द्राय भक्तिनिर्भरचेतसा ॥१२२
तत्पुस्तकमटव्या च केचिद्भट्टारकाः जनैः । कारयित्वा महापूजां कृत्वा व्याख्याय प्रत्यहम् ॥१२३
धृत्वा तु कोटरे तत्र गतो देशान्तरं तत । गोपालेनापि तद्दृष्ट्वा कृत्वा पूजा निरन्तरम् ॥१२४
गोविन्दोऽपि निदानेन मृत्वा तत्र शुभे दिने । ग्रामेऽपि ग्रामकूटस्य कौण्डेशाख्य सुतोऽप्यभूत् ॥१२५
एकदा तं समालोक्य पद्मनन्दिमुनीश्वरम् । जातो जातिस्मर सोऽपि ज्ञानदानप्रभावतः ॥१२६
तत्क्षणं जातसवेगो देहभोगभवादिषु । आददे जिनमुद्रा स स्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥१२७
तत पारं गतो धीमान् समस्तश्रुतवारिधे । ज्ञानावृत्युदयाभावाद् भव्यश्रेणिप्रबोधक ॥१२८

सकलश्रुतसमुद्रे पारमेवाप्त एव विदितनिखिलतत्त्वो ज्ञानदानप्रभावात् ।
धृतचरणसमग्रोऽपीह कौण्डेशनामा जयतु भुवनपूज्यः सन्मुनीन्द्रो गुणाढ्य ॥१२९

प्रव्याख्याय श्रुतज्ञानफलं वक्ष्ये तत कथाम् । वरां वसतिकाजातां शूकरस्योपमान्विताम् ॥१३०
जम्बूपलक्षिते द्वीपे सत्क्षेत्रे भरताभिधे । मालवाख्ये शुभे देशे ग्रामोऽस्ति घटसंज्ञक ॥१३१
देविलाख्यो भवेत्तत्र कुम्भकारोऽतिभद्रक । धर्मिलाख्यो महादुष्टो नापितश्च कुमार्गग ॥१३२
ताभ्यां प्रकारितं देवकुलं स्थित्यर्थमेव हि । पथिकादिजनाना च धर्मकीर्त्यादिहेतवे ॥१३३
एकदा वसतिर्दत्ता मुनये देवलेन वै । प्रथमं तत्र धर्मादिध्यानेनैव स्थितो मुनि ॥१३४
परिव्राजक आनीय धर्मिलेन ततो धृत । तत्र देवकुलाच्छीघ्रं ताभ्या निस्सारितो यति ॥१३५

वे शास्त्रजी उसने बडी भक्तिके साथ मुनिराज श्री पद्मनन्दिके लिये दे दिये ॥१२२॥ मुनिराज पद्मनन्दि आदि कितने ही मुनियोने वे शास्त्रजी पढकर अनेक लोगोको धर्मोपदेश दिया, लोगोसे उनकी महापूजा कराई और फिर उन्हे किसी कोटरमे रखकर देशान्तरको चले गये। गोपाल उन शास्त्रजीको कोटरमे देखकर फिर प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा ॥१२३–१२४॥ अन्तमे वह निदान करके मरा और किसी गाँवमे उस गाँवके स्वामीके यहाँ कौडेश नामका पुत्र हुआ ॥१२५॥ किसी एक दिन उसे उन्ही मुनिराज श्री पद्मनन्दिके दर्शन हुए और पहिले जन्ममे दिये हुए ज्ञान-दानके प्रतापसे मुनिराजको देखते ही उसे जातिस्मरण हो आया ॥१२६॥ उसी समय उसे ससार, शरीर और भोगोसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली जिन दीक्षा धारण कर ली ॥१२७॥ थोडे ही दिनमे ज्ञानात्ररण कर्मका क्षयोपशम होनेसे बुद्धिमान् और अनेक भव्य जीवोको धर्मोपदेश देनेवाला वह कौडेश समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरका पारगामी हो गया ॥१२८॥ देखो ज्ञानदानके प्रभावसे श्री कौडेश मुनिराज समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामो हो गये थे, समस्त तत्त्वोके ज्ञाता हो गये थे, पूर्ण चारित्रको धारण करनेवाले हो गये थे, वे अनेक गुणोसे विभूषित हो गये थे और समस्त ससारमे पूज्य हो गये थे ऐसे श्री कौडेश मुनिराज सदा जयशील हो ॥१२९॥ इस प्रकार ज्ञानदानमे प्रसिद्ध होनेवाले कौडेशकी कथा कह चुके। अव वसतिका दानमे प्रसिद्ध होनेवाले शूकरकी कथा कहते हैं ॥१३०॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमे मालवा देशके घटगाँवमे एक देवल नामका भद्र कुम्हार रहता था तथा उसी गाँवमे धर्मल नामका महा-दुष्ट और कुमार्गगामी एक नाई रहता था ॥१३१–१३२॥ उन दोनोने मिलकर धर्म और कीर्तिकी वृद्धिके लिये तथा पथिकोके ठहरनेके लिये एक धर्मशाला वनवाई थी ॥१३३॥ किसी एक दिन देवलने वह धर्मशाला किसी मुनिराजके लिये दे दी। वे मुनिराज उसमे आकर धर्मध्यान धारण कर वैठ गये। तदनन्तर धर्मलने एक सन्यासीको लाकर वहाँ विठा दिया। वहाँपर मुनिराजको देखकर धर्मल और सन्यासी दोनोने मिलकर मुनिराजको वाहर कर दिया ॥१३४–१३५॥ शुद्ध

स मुनि वृक्षमूलेऽपि स्थितो ध्यानेन शुद्धधी । सहमानो महाबाधां दंशशीतादिसम्भवाम् ॥१३६
प्रभातेऽतिमहाकोपात्कृत्वा युद्ध परस्परम् । तन्निमित्तेन घातेन मृतौ देवलधर्मलौ ॥१३७
विद्वेषेण क्रमेणैव चार्तध्यानप्रयोगत । प्रजातौ शूकरव्याघ्रौ क्रूरौ तौ कोपसंयुतौ ॥१३८
तिष्ठति शूकरो यत्र गुहाया तत्र चैकदा । स्थितौ समाधिगुप्ताख्यत्रिगुप्ताख्यमुनीश्वरौ ॥१३९

दृष्ट्वा तौ सोऽपि पुण्येन भूत्वा जातिस्मर स्वयम् ।
प्रणम्य मुनिमत्पादौ स्थितः शाम्यान्वितोऽशठ ॥१४०

तस्याग्रे कथितो धर्म मुनिना कृपया स्वयम् । स्वर्गमुक्तिकर. सार श्रावकव्रतसूचक ॥१४१
श्रुत्वा धर्मं सुखागार त्यक्त्वा पाप सुदुस्त्यजम् । स्थितो मुनिसमीपे स आदाय श्रावकव्रतम् ॥१४२
तत्प्रस्तावे मनुष्यस्य गन्धमाघ्राय दुष्टधी । व्याघ्रस्तत्रागत शीघ्रं भक्षणार्थं च सन्मुने. ॥१४३
शूकरस्त समालोक्य गत्वा तूर्णं स सन्मुखम् । गुहाद्वारे स्थितस्तत्र तयो रक्षादिहेतवे ॥१४४
तौ तत्रापि महायुद्धं कृत्वा कोपात्परस्परम् । मृतौ घातप्रहारेण वेदनान्वितविग्रहौ ॥१४५
शूकरो मुनिरक्षाभिप्रायेणैव महर्द्धिक. । सौधर्मे हि सुरो जातो य पूर्वं देवलाभिध ॥१४६
मुनेर्भक्षणध्यानेन गतो व्याघ्रोऽपि पापत । तीव्रं घोरतरं श्वभ्रं महादु खाकरं भुवि ॥१४७

इति व्रतगुणयुक्त सारसौधर्मकल्पे धृतमुनिवरपादौ मानसे स्वस्य जात ।
सुकृतविमलयोगाच्छूकरो निर्जरोऽत्र विपुलसुखसमुद्र सन्मुने रक्षणाच्च ॥१४८

बुद्धिको धारण करनेवाले वे मुनिराज शीत और डास मच्छरोंकी महाबाधाको सहन करते हुए किसी वृक्षके नीचे ध्यान लगाकर विराजमान हो गये ॥१३६॥ सवेरा होते ही देवल और धर्मल दोनो ही क्रोधपूर्वक लडने लगे और दोनो ही एक दूसरेकी चोटसे मर गये ॥१३७॥ वे दोनो एक दूसरेपर द्वेष करते हुए आर्तध्यानसे मरे थे इसलिये वे दोनो बडे क्रोधी और क्रूर सूकर और बाघ हुए (देवलका जीव सूकर हुआ था और धर्मलका जीव बाघ हुआ था) ॥१३८॥ जिस गुफामे सूकर रहता था उसमे किसी एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामके मुनिराज आ विराजमान हुए ॥१३९॥ उन्हे देखते ही उस सूकरको पुण्यकर्मके उदयसे जाति स्मरण हो गया। उसने उन मुनिराजके चरणकमलोको नमस्कार किया और शान्त होकर बैठ गया ॥१४०॥ मुनिराजने स्वय कृपाकर उसके सामने स्वर्ग मोक्ष देनेवाला, सारभूत और श्रावकोके व्रतोको सूचित करनेवाले धर्मका स्वरूप कहा ॥१४१॥ सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर उसने अत्यन्त कठिनतासे त्याग करने योग्य पापोका भी त्याग कर दिया और श्रावकके व्रतोको धारण कर मुनिराजके समीप ही बैठ गया ॥१४२॥ ठीक इसी समय वह दुष्ट बाघ मनुष्यकी गन्ध सूँघकर उन मुनिराजको भक्षण करनेके लिये शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा ॥१४३॥ सूकर उस बाघको देखकर शीघ्र ही उसके सामने गया और उन मुनिराजकी रक्षा करनेके लिये उस गुफाके दरवाजेपर जा बैठा ॥१४४॥ बाघ आया ही था कि दोनोका युद्ध होने लगा और दोनो बडे क्रोधसे युद्ध करने लगे। दोनो एक दूसरे पर चोट करने लगे और उस चोटसे दोनो मर गये ॥१४५॥ देवलका जीव जो सूकर था वह मुनिराजकी रक्षाके लिये लडा तथा मरा था इसलिये वह सौधर्म स्वर्गमें जाकर बडी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥१४६॥ बाघ मुनिराजको भक्षण करनेके अभिप्रायसे लडा और मरा था इसलिये वह पापकर्मके उदयसे अत्यन्त दु ख देनेवाले महा घोर और तीव्र नरकमे जाकर पडा था ॥१४७॥ इस प्रकार मुनिकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे केवल वसतिका दान देने रूप व्रतको पालन करनेके

परिप्राप्तं फलं येन स्वामिन्! श्रीजिनपूजया। कथा तस्य ममाग्रे त्वं कृपा कृत्वा निरूपय ॥१४९
एकचित्तान्वितो भूत्वा शृणु श्रावक ते कथाम्। वक्ष्ये पूजासमासक्तभेकपुण्यफलोद्भवाम् ॥१५०
जम्बूद्वीपेऽतिविख्याते सद्देशे मगधाभिधे। रम्यं राजगृहं भाति पुरं धर्मादिसद्गृहम् ॥१५१
तत्र स्यात् श्रेणिको भूपो भव्यलोकशिरोमणिः। क्षायिकालङ्कृतो धीमान् धीरो धर्मप्रभावकः ॥१५२
स चैकदा समाकर्ण्य वनपालमुखात्स्वयम्। गतो नन्तुं महावीरं महासैन्यसमन्वितः ॥१५३
विपुलाद्रिस्थितं वीरं त्रिःपरीत्य जगद्गुरुम्। स्वहस्तौ मस्तके धृत्वा सोऽनमच्छ्रीजिनाधिपम् ॥१५४
अष्टभेदान्वितां पूजां कृत्वा भक्तिभरात्पुनः। स्तवनं कर्तुमारब्धं श्रेणिकेनातिधीमता ॥१५५
त्वं देव जगतां नाथस्त्वं त्राता कारणं विना। कथं स्तुवे हि सर्वज्ञ त्वामहं बुद्धिवर्जितः ॥१५६
तथापि प्रेरितो देव भक्तिभारेण त्वां प्रति। करोमि स्तवनं किञ्चिदहं मन्दधियान्वितः ॥१५७
त्राताऽत्राता महात्राता भर्ताऽभर्ता जगत्प्रभो!। वीरोऽवीरो महावीरस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१५८
कर्ताऽकर्ता सुकर्ता च धर्मोऽधर्मश्च धर्मदः। पूज्योऽपूज्योऽतिसम्पूज्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१५९
सिद्धोऽसिद्धः प्रसिद्धस्त्वं बुद्धोऽबुद्धोऽतिबुद्धिदः। धीरोऽधीरोऽतिधीरश्च त्वं देवासि नमोस्तु ते ॥१६०

कारण मूकर मुनिराजके चरणकमलोको हृदयमे रखकर मरा था इसलिये वह निर्मल पुण्यके प्रभाव से सारभूत सौधर्म स्वर्गमे निर्मल गुणोका समुद्र ऐसा उत्तम देव हुआ था ॥१४८॥

प्रश्न—हे प्रभो! भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जिसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥१४९॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम, तू एक चित्त होकर सुन। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेमे तल्लीन हुए एक मेढकके पुण्यसे होनेवाले फलको मै कहता हूँ ॥१५०॥ इसी प्रसिद्ध जम्बूद्वीपके मगध नामके शुभ देशमे एक मनोहर राजगृह नगर शोभायमान है जिसके सब घर प्राय धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थोसे भरपूर हैं ॥१५१॥ उस नगरमे राजा श्रेणिक राज्य करता था। वह राजा भव्य जीवोका शिरोमणि था, धीरवीर था, धर्मकी प्रभावना करनेवाला था और क्षायिक सम्यग्दर्शनसे सुशोभित था ॥१५२॥ किसी एक दिन उसने वनपालसे (मालीसे) विपुलाचल पर्वतपर श्रीमहावीरस्वामीके आनेके समाचार सुने इसलिये वह स्वय अपनी बडी सेनाको साथ लेकर उनकी वन्दना करनेके लिये निकला वहाँपर जाकर उसने जगद्गुरु भगवान् जिनेन्द्रदेव महावीरस्वामीकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी और हाथ मस्तकपर रखकर उनको नमस्कार किया ॥१५३–१५४॥ तदनन्तर उस बुद्धिमानने बडी भक्तिसे आठो द्रव्य लेकर भगवान्की पूजा की और फिर वह राजा श्रेणिक भगवान् महावीरस्वामीकी स्तुति करने लगा ॥१५५॥ हे देव! आप जगत्के स्वामी है विना ही कारणके समस्त जीवोकी रक्षा करनेवाले है और सर्वज्ञ है तथा मै नितान्त बुद्धि रहित हूँ फिर भला मैं आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकता हूँ ॥१५६॥ तथापि मै अत्यन्त मंदबुद्धि होकर भी केवल भक्तिके भारसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता हूँ ॥१५७॥ हे देव! आप सबकी रक्षा करनेवाले है और किसीकी भी रक्षा करनेवाले नही है, तथापि महा रक्षक है। आप सबके स्वामी है, किसीके भी स्वामी नही है तथापि तीनो लोकोके स्वामी है। आप वीर हैं, वीर नही है और महावीर हैं इसलिये हे देव! आपको नमस्कार हो ॥१५८॥ हे देव, आप कर्ता हैं, कर्ता नही भी है और सुकर्ता है, धर्म भी है, अधर्मरूप भी है और धर्मदाता भी है। पूज्य है, अपूज्य है और अतिसपूज्य भी है, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१५९॥ आप सिद्ध है, महा सिद्ध है और प्रसिद्ध है, आप बुद्ध (सर्वज्ञ) है, महा बुद्ध है और अतिशय बुद्धिको देनेवाले है। आप धीर हैं, महा वीर है और धीरता रहित है इसलिये हे नाथ! आपके लिये नमस्कार हो ॥१६०॥ आप

हिंसकोऽहिंसकोऽहिंस्य सधन सुधनोऽधनी । रूपोऽरूपो समो रूपस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६१
देवदेवो महादेवो निधानो निधिनायक । नाथोऽनाथो जगन्नाथस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६२
ध्याताऽध्याता महाध्याता सदयो सदयोऽदय. । योग्योऽयोग्यो महायोग्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥
वक्ताऽवक्ता सुवक्ता च सस्पृहोऽसस्पृहोऽस्पृह । ब्रह्माऽब्रह्मा महाब्रह्मा त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६४
देहोऽदेहो महादेहो निश्चलोऽनिश्चलोऽचल । रत्नोऽरत्न सुरत्नाढ्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६५

त्वं देवस्त्रिदशेश्वरार्चितपदस्त्वं मुक्तिनाथोऽव्यय
त्वं धर्मामृतसागरः सुखनिधिस्त्वं केवलोद्योतक ।
त्वं लोकत्रयतारणैकचतुरस्त्वं मोहदर्पापहः
प्राप्तोऽहं शरणं जिनेश्वर प्रभो ! ते पाहि मां भो गुरो ! ॥१६६

इति स्तुत्वा महावीरं प्रणम्य च सुरार्चितम् । श्रित. श्रेणिकभूपालो मर्त्यकोष्ठं प्रहृष्टधीः ॥१६७
तत्र शुश्राव षड्द्रव्यसप्ततत्त्वान् नरेश्वर । यतीना च गृहस्थानां धर्मं सर्वसुखाकरम् ॥१६८

अहिंसाधर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, तथापि कर्मोको वा रागद्वेषादिको नष्ट करनेके कारण हिंसक कहलाते हैं। अनन्त विभूति होनेके कारण आप सधन हैं, और धनी हैं। आप अत्यन्त रूपवान हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप होनेके कारण अरूपी हैं तथापि परम मनोहर हैं इसलिये हे देव ! आपके लिये नमस्कार हो ॥१६१॥ हे देव ! आप देव हैं, देवाधिदेव हैं और महादेव हैं, आप गुणोंके निधान हैं, निधियोंके स्वामी हैं, आप नाथ हैं, आपका कोई स्वामी नहीं हैं इसलिये आप अनाथ हैं, तथापि आप जगन्नाथ कहलाते हैं इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥१६२॥ हे नाथ ! आप ध्यान करनेवाले ध्याता हैं, महाध्याता हैं तथापि सब आपका ध्यान करते हैं। आप किसीका ध्यान नहीं करते इसलिये आप ध्याता नहीं हैं। आप दयालु हैं, महादयालु हैं और निर्दयतासे कर्मोको नाश करनेके कारण दया रहित हैं। आप सब तरह योग्य हैं, महायोग्य हैं परन्तु सासारिक कार्योंके लिये अयोग्य हैं इसलिये हे देव ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१६३॥ आप प्रतिदिन तीनो समय उपदेश देनेके कारण वक्ता हैं, सुवक्ता हैं तथापि आपकी भाषा दिव्यध्वनि निरक्षरी होनेके कारण आप अवक्ता ही हैं। आप इच्छा रहित हैं तथापि समस्त जीवोका कल्याण करनेकी भावना होनेके कारण इच्छावाले गिने जाते हैं। फिर भी आप स्वय इच्छारहित हैं। आप ब्रह्मा हैं, महाब्रह्मा हैं तथापि सृष्टिके कर्ता न होनेके कारण आप ब्रह्मा नहीं हैं। हे नाथ ! ऐसे आपको बारबार नमस्कार हो ॥१६४॥ हे देव ! आप सशरीर हैं, परमोत्कृष्ट शरीरको धारण करनेवाले हैं तथापि शरीर रहित हैं। आप निश्चल हैं, स्थिर हैं तथापि सब जगह विहार करनेके कारण अस्थिर हैं। आप एक रत्न हैं, महारत्न हैं और परिपूर्ण रत्नत्रयसे सुशोभित हैं इसलिये हे देव ! आपके लिये बार बार नमस्कार हो ॥१६५॥ हे प्रभो ! इन्द्र भी आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, आप मुक्तिके स्वामी हैं, सदा इसी अवस्थामें रहनेवाले अव्यय हैं, धर्मरूपी अमृतके समुद्र हैं, सुखके निधि हैं, केवलज्ञानको प्रकाशित करनेवाले हैं, तीनों लोकोको इस असार ससारसे पार कर देनेके लिये अद्वितीय विद्वान् हैं और मोहके महा अभिमानको चूर-चूर करनेवाले हैं। हे जिनराज ! हे गुरुदेव ! हे प्रभो ! मैं आपकी शरण आया हूँ, आप कृपाकर मेरी रक्षा कीजिये ॥१६६॥ इस प्रकार देवोके द्वारा परम पूज्य भगवान् महावीरस्वामीकी स्तुति कर और उनको प्रणाम कर राजा श्रेणिक प्रसन्नचित्त होकर मनुष्योंके कोठेमें जा बैठा ॥१६७॥ वहाँपर बैठकर उसने छहों द्रव्य, सातो तत्त्वो-

तत्रागतो महाभूत्या युवतो देवो महर्द्धिक । मुकुटे भेकचिह्नं च कृत्वा पूजयितुं जिनम् ॥१६९
श्रेणिकेन तमालोक्य भेकचिह्नस्य कारणम् । प्रणम्य गौतमस्वामी पृष्टो ज्ञानविलोचन ॥१७०
उक्तं श्रीगौतमेनैव सञ्जातोऽयं सुरो दिवि । इदानी चैव पूजार्थमागतोऽत्र जिनेशिन ॥१७१
अनेन किं कृतं स्वामिन् ! दानं पूजा तपोऽथवा । जातोऽय येन पुण्येन तत्सर्वं मे निरूपय ॥१७२
तच्छ्रुत्वा गौतम. प्राह शृणु श्रेणिक ! सच्छुभाम् । कथयामि कथामस्य स्थिरं कृत्वा निजं मन ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी नागदत्ताह्वयोऽभवत् । भार्यास्य भवदत्ताभून्नित्यं मायान्वितात्मन ॥१७४
अथैकदार्तध्यानेन मृत्वा श्रेष्ठी गृहाङ्गणे । पापी फलेन वाप्या स भेको जातोऽतिपापत ॥१७५
नीरार्थमागतां भार्यां दृष्ट्वा जातिस्मरोऽजनि । तस्या अङ्गे स उत्पेत्य चढितोऽत्यन्तमोहतः ॥१७६
तया निर्घाटितो दूराद्रटत्येव वराकक । पुनर्वेगेन चागत्य चढत्येव विधेर्वशात् ॥१७७
ततस्तया मदीयोऽय कोऽप्यभीष्टो भविष्यति । इति सञ्चिंतितं स्वस्य मानसे धीसमन्विते ॥१७८
श्रेष्ठिन्या चैकदा पृष्टः सुव्रताख्यतपोधन । अवधिज्ञानसम्पन्नस्तद्भेकस्य कथा शुभाम् ॥१७९
अनूक्त मुनिना तस्या अग्रे श्रेष्ठी तव प्रिय । पापार्जनेन सञ्जातो भेकोऽयं दु खपीडित ॥१८०
ज्ञात्वा भर्ता स्वकीयोऽतिगौरवेण धृतस्तया । भेको मोहेन वानीय स्वगेहे भक्तिहेतवे ॥१८१

का स्वरूप सुना और मुनि तथा गृहस्थोंके सुख देनेवाला धर्मका स्वरूप सुना ॥१६८॥ उसी समय वहाँपर एक बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव बडी विभूतिके साथ भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आया जिसके मुकुटमे मेढकका चिन्ह था ॥१६९॥ महाराज श्रेणिकने उसे देखकर ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले गौतमस्वामीको नमस्कार किया और उस देवके मुकुटमे लगे हुए मेढकके चिन्हका कारण पूछा ॥१७०॥ इसके उत्तरमे श्री गौतमस्वामी कहने लगे कि यह अभी जाकर स्वर्गमे देव हुआ है और तुरन्त ही भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आया है ॥१७१॥ यह सुनकर महाराज श्रेणिकने फिर पूछा कि हे स्वामिन् ! पहिले भवमे इसने कौनसा दान दिया था, कौनसी पूजा की थी अथवा कौनसा तप किया था जिसके पुण्यसे यह ऐसा देव हुआ है, हे स्वामिन् ! आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥१७२॥ यह सुनकर श्री गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक ! तू मन लगाकर सुन, मैं पुण्य वढानेवाली इसकी कथा कहता हूँ ॥१७३॥

इसी तेरे नगरमे एक नागदत्त नामका सेठ रहता था। वह सेठ अत्यन्त मायाचारी था, उसकी स्त्रीका नाम भवदत्ता था ॥१७४॥ किसी एक दिन वह सेठ आर्तध्यानसे मरा और उस आर्तध्यानके पापके फलसे अपने ही घरके आँगनकी वावडीमे मेढक हुआ ॥१७५॥ जव पानी भरनेके लिये उसकी स्त्री उस वावडीमे आई तव उसे देखकर उसे जातिस्मरण हो गया और पहिले भवके मोहके कारण वह उस भवदत्ताके शरीरपर उछलकर चढने लगा, परन्तु भवदत्ताने वह नीच मेढक वहुत दूर फेक दिया, परन्तु पूर्वकर्मोके उदयसे वह मेढक चिल्लाता हुआ टर्रटर्र करता हुआ फिर शीघ्रतासे आकर उसके ऊपर चढने लगा ॥१७६-१७७॥ तव उस वुद्धिमती भवदत्ताने अपने मनमे समझ लिया कि सह मेरा कोई अभीष्ट (सम्वन्धी-या मुझसे प्रेम रखनेवाला) होगा ॥१७८॥ तदनन्तर किसी एक दिन उस सेठानोने अवधिज्ञानसे सुशोभित श्री सुव्रत नामके मुनिराजसे उस मेढककी कथा पूछी ॥१७९॥ तव मुनिराजने कहा कि हे पुत्री ! यह तेरे पतिका जीव पापकर्मके उदयसे अत्यन्त दु खी मेढक हुआ है ॥१८०॥ भवदत्ताने उस मेढकको अपने पतिका जीव जानकर मोहके कारण तथा उसपर भक्ति करनेके लिये उसे अपने घर लाकर वडे आदरसे

दापयित्वा त्वमानन्दभेरीमत्रागतोऽसि भो । राजन् ! श्रीवर्द्धमानस्य वन्दनार्थं स्वभक्तित ॥१८२
तदागत्य महाभव्या श्रेष्ठिनी सह बान्धवै । आगता जिनपूजार्थं सारे वैभारपर्वते ॥१८३
भेकोऽपि निजवाप्या हि नीत्वा सत्कमल पथि । निर्गतस्तीर्थनाथस्य पूजार्थं भक्तितत्पर: ॥१८४
मार्गे सम्मार्जिते गच्छन् ग्रावत्पादेन हस्तिना । चूर्णयित्वा जिनाधीशपूजाभावान्विताशय ॥१८५
सोऽनुपूजादिसद्भावजातपुण्यप्रभावत । देवो महर्द्धिको जात सौधर्मे सौख्यसागरे ॥१८६
अन्तर्मुहूर्तमध्येऽभूद्यौवनान्वितविग्रह । दिव्याम्बरधरो धीर आभरणादिविभूषित ॥१८७
पूर्वं भवं परिज्ञायावधिज्ञानेन सोऽमर । आगतो जिनपूजार्थ महापूजोपलक्षित ॥१८८
शुभा श्रेणिक ! स्वर्गेऽस्य देवस्यातिविभूतय. । जाता बहुतरा भोग्या पूजाभावेन केवलम् ॥१८९
अहो पूजाफलं नृणां महाश्रीसुखसाधनम् । इहामुत्र भवेन्नूनं सर्वानिष्टविनाशनम् ॥१९०
इति सञ्चित्य सञ्जाता पूजाभावान्वितो नृप. । पादपद्मे जिनेन्द्रस्य प्रत्यहं स सुखाकरे ॥१९१
तद्भेकस्य कथा श्रुत्वा भव्या पूजान्विताशया । सन्त्रस्ता पापतो जाता संवेगादिरताश्च ते ॥१९२
ततो नत्वा गणाधीशं गौतमं च जगद्गुरुम् । जगाम स्वगृहं राजा परमानन्दनिर्भर. ॥१९३

इति जिनेश्वरयज्ञसुभावत , सकलसौख्यगृहे त्रिदशालये ।
भो ! महर्द्धिकसुरोऽजनि शुद्धधी विमलपुण्यवशादपि भेकक. ॥१९४

रक्खा ॥१८१॥ हे राजन् ! श्री महावीरस्वामीके यहाँ पधारने पर तू आनन्दभेरी दिलाकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌की वन्दना करनेके लिये आया ॥१८२॥ तब वह भवदत्ता सेठानी भी बड़ी भक्तिसे अपने भाई कुटुम्बियोके साथ वैभार पर्वतपर भगवान् वर्द्धमानस्वामीकी पूजा करनेके लिये आई ॥१८३॥ यह देखकर वह मेढक भी भक्तिमे तल्लीन होकर अपनी बावडीमेसे एक कमलका दल लेकर भगवान्‌की पूजा करनेके लिये निकला ॥१८४॥ वह मार्गमे आ रहा था और उधर हाथी आ रहा था इसलिये वह मेढक मार्गमे ही हाथीके पैरसे दबकर चूरचूर हो गया, परन्तु उसके हृदयमे भगवान्‌की पूजा करनेके भाव बने ही रहे ॥१८५॥ भगवान्‌की पूजा करनेके परिणाम बने रहनेके कारण उसके पुण्य प्रभावके कारण यह सुखके सागर ऐसे सौधर्म स्वर्गमे बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ है ॥१८६॥ उत्पन्न होनेके समयसे अन्तर्मुहूर्तमे ही यह युवा हो गया था और धीरवीर दिव्य वस्त्रोको धारण करनेवाला तथा अनेक आभूषणोसे सुशोभित हो गया था ॥१८७॥ यह देव अपने अवधिज्ञानसे पहिले भवकी सब बात जानकर अपनी बडी भारी विभूतिके साथ भगवान् महावीरस्वामीकी पूजा करनेके लिये आया हे ॥१८८॥ हे श्रेणिक ! केवल भगवान्‌की पूजाके परिणाम होनेके कारण इस देवको स्वर्गमे बहुतसी विभूतियाँ और बहुतसे भोग प्राप्त हुए हैं ॥१८९॥ देखो, भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजाका फल मनुष्योको महा लक्ष्मी और सुखका कारण है तथा इसलोक परलोक दोनो लोकोंके सब अनिष्ट दूर करनेवाला हे ॥१९०॥ यही विचारकर राजा श्रेणिकके अत्यन्त सुख देनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोकी प्रतिदिन पूजा करनेके भाव उत्पन्न हो गये ॥१९१॥ मेढककी इस कथाको सुनकर कितने ही भव्य जीव पापोंसे डरकर और संवेग वैराग्यमे तल्लीन होकर प्रतिदिन भगवान्‌की पूजा करनेके भाव करने लगे ॥१९२॥ तदनन्तर राजा श्रेणिक परम आनन्दित होकर और जगद्गुरु भगवान् महावीरस्वामीको तथा गौतम गणधरको नमस्कार कर अपने घर जा पहुँचा ॥१९३॥ देखो, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला मेढक केवल भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके भाव उत्पन्न करनेके कारण प्राप्त हुए निर्मल पुण्यके प्रतापसे समस्त सुखोंके घर ऐसे स्वर्गमे बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ था

वितनुते वरनरो जिनपूजां प्राप्य ऋद्धिमपि त्रिलोकसंस्थिताम् ।
शिवपदं स प्रयाति सुखाकरं निजसमर्जितकर्मक्षयाद्ध्रुवम् ॥१९५

पूजा श्वभ्रगृहार्गलां गुणाकरा सोपानमाला घना
स्वर्गस्यैव सुखादिखानिममला दु खार्णवोत्तारिकाम् ।
तीर्थेशस्य कुपापकक्षदहने ज्वालोपमा धर्मदा
सत्तीर्थङ्करकर्मदां बुधजना नित्यं कुरुध्वं भुवि ॥१९६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे श्रीषेणवृपभसेनाकोण्डेशशूकरभेक-कथाप्ररूपको नामैकविंशतितम परिच्छेद ॥२१॥

●

॥१९४॥ जो मनुष्य भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है वह तीनो लोकोमे उत्पन्न होनेवाली समस्त ऋद्धियोको पाकर तथा अन्तमे समस्त कर्मोको नष्ट कर देनेके कारण सुखकी खानि ऐसे मोक्षमे अवश्य ही विराजमान होता है ॥१९५॥ यह भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा नरकरूपी घरको वन्द करनेके लिये अर्गला है, गुणोकी खानि है, स्वर्गमे चढनेके लिये सीढी है, अपरिमित सुखकी खानि है, अत्यन्त निर्मल है, दु खरूपी महासागरसे पार कर देनवाली है, अशुभ वा पापरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान है, धर्मको देनवाली है और श्री तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेवाली है इसलिये हे वुद्धिमानो ! इस ससारमे भगवान् तीर्थंकर परमदेवकी पूजा प्रतिदिन करो ॥१९६॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरोपासकाचारमे चारो दानोमे प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेण, वृपभसेना, कौंडेश और शूकरकी कथाको तथा भगवान्की पूजामे प्रसिद्ध होनेवाले मेढककी कथाको कहनेवाला यह इक्कीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२१॥

●

बाईसवाँ परिच्छेद

नेमिनाथं जगत्पूज्य कामदं कामघातकम् । सर्वेन्द्रियगजानीकसिंहं वन्दे महाबलम् ॥१
व्रतान्यपि समाख्याय द्वादशैव विमुक्तये । तत सल्लेखना वक्ष्ये मुक्तिपर्यन्तसौख्यदाम् ॥२
वृद्धत्वेऽपि जराग्रस्ते मन्ददृष्टयादिकेन्द्रिये । शक्तित्यक्तशरीरे च व्रतभङ्गादिकारणे ॥३
धर्मनाशे महारोगे प्रतीकारादिवर्जिते । महाघोरोपसर्गे च तिर्यङ्मर्त्यादिसम्भवे ॥४
दुर्भिक्षे च सुधर्माय प्रानुष्ठेया नरोत्तमै । सल्लेखना समाव्यर्यं नाकमोक्षसुखप्रदम् ॥५
कृत्वा तपोऽनघं यावज्जीवं सल्लेखनां पुनः । प्राणान्ते यो मुनि. कुर्यात्तस्य स्यात्सफलं तप ॥६
धृत्वा वृत्तानि योऽगारी संन्यासं कुरुते पुन । मरणं सफलं तस्य व्रतं सर्वसुखाकरम् ॥७
अकाले यदि चायाति मृत्यु सर्पादिदंशत । ससंशयो मनुष्याणा प्रोपसर्गादियोगत. ॥८
ईदृशं हि तदा कार्यं सन्यासं सन्नरेण वै । मृत्यु स्याद्यदिमेऽत्रैव घोरात्यन्तपरीषहात् ॥९
चतुर्विधे महाहारे ममास्तु नियमं ध्रुवम् । जीविष्यामि कथंचिच्चेत्ततो भोक्ष्येऽशनादिकम् ॥१०
अथवा स्वस्य निश्चित्य मरणं प्रागतं ध्रुवम् । सल्लेखना कुरु त्वं भो ! इमां सद्विधिनान्वितम् ११
नारीमित्रादिके स्नेह रागं मोहं च सर्वथा । धनधान्यादिके देहे ममत्वं त्यज शुद्धये ॥१२

जो नेमिनाथ भगवान् जगत्पूज्य हैं, इच्छानुसार फल देनेवाले हैं, कामदेवको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त इन्द्रियरूपी हाथियोकी सेनाको वश करनेके लिये सिंह हैं और महा बलवान् हैं ऐसे श्री नेमिनाथस्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ मोक्ष प्राप्त करनेके लिये बारह व्रतोका निरूपण कर अब मोक्ष प्राप्त होने पर्यन्त सुख देनेवाली सल्लेखनाको कहते हैं ॥२॥ अत्यन्त बुढापा आ जानेपर दृष्टि, इन्द्रिय आदि सब शिथिल हो जानेपर, शरीरकी शक्ति छूट जानेपर, व्रतोंके भग होनेके कारण उपस्थित हो जानेपर, धर्मके नाश हो जानेपर, जिसका कोई उपाय नही हो सकता ऐसे महारोगके हो जानेपर, तिर्यंच वा मनुष्योंसे होनेवाले महाघोर उपसर्गके होनेपर और महादुर्भिक्षके पडनेपर उत्तम पुरुषोको धर्मपालन करने और समाधि धारण करनेके लिये स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाली सल्लेखना अवश्य धारण करनी चाहिये ॥३–५॥ जो मुनि जीवनपर्यन्त घोर तपश्चरण करते हैं वे जब प्राण छूटनेके समय सल्लेखना धारण करते हैं तभी उनका वह तप सफल होता है ॥६॥ जो गृहस्थ समस्त व्रतोंको पालन कर अन्तमे समाधिमरण धारण करता है उसीके सब प्रकारके सुख देनेवाले व्रत सफल कहे जाते हैं ॥७॥ कदाचित् सर्प आदिके काट लेनेसे अथवा किसी भारी उपसर्गके आ जानेपर असमयमे ही मृत्यु आ जाय और वह सन्देहरूपमे हो अर्थात् जिसमे जीने मरने दोनोका सन्देह हो तो उस समय इस प्रकार समाधिमरण धारण करना चाहिये कि यदि इस घोर परीषहसे इसी समय मेरी मृत्यु हो गई तो मेरे चारो प्रकारके आहारके त्यागका नियम है। यदि मैं किसी प्रकार जीवित हो गया तो फिर भोजन करूँगा ॥८–१०॥ अथवा अपने आए हुए मरणका निश्चयकर हे भव्य ! तू विधिपूर्वक इस समाधिमरणको धारण कर ॥११॥ हे मित्र ! तू स्त्री मित्र आदिकोमे होनेवाले प्रेम, स्नेह, मोहको सर्वथा छोड दे तथा आत्माको शुद्ध करनेके लिये धन धान्य और शरीरादिकमे होनेवाले ममत्वका सर्वथा त्याग कर दे ॥१२॥ हे

वैरं द्वेषं च कालुष्यं सर्वं शत्रुकदम्बके । रोगादिकेऽथवान्यत्र जहि संन्याससिद्धये ॥१३
क्षान्त्वापि स्वजन सर्वं भार्यापुत्रादिक स्वयम् । भृत्यादिक महाशत्रुं पूर्ववैरानुबन्धिनम् ॥१४
कोमलैर्वचनालापैर्मनोवाक्कायकर्मभि । स्फुटं च क्षमयेद्धीर. सन्यासोद्यतशुद्धधी ॥१५
कृतस्य कारितस्यापि पापस्यानुमतस्य च । यावज्जीवाश्रितस्यैव गृहव्यापारजस्य च ॥१६
मिथ्यात्वाविरतेर्योगात्कषायातिप्रमादत । कुसङ्गविषयाच्चापि जातस्याप्यन्यहेतुत ॥१७
सर्वाघौघविनाशार्थं सत्सूरिनिकटे स्वयम् । आलोचनं कुरु त्वं हि दशदोषविवर्जितम् ॥१८
आकम्पिताख्यदोषोनुमानितो दृष्ट एव च । बादरः सूक्ष्म एव छन्न स्याच्छब्दाकुलो ध्रुवम् ॥१९
दोषो बहुजनो नामा व्यक्ता आलोचनस्य वै । तत्सेवी स्युर्दशैवास्य दोषादोषविधायक. ॥२०
सर्वान् दोषान् परित्यज्य बालवत्सूरिसन्निधौ । कुर्यादालोचना यो ना तस्य दोषा भवन्ति न ॥२१
इति मत्वा मनःशुद्धिं कृत्वा स्वालोचनां गुरोः । पार्श्वे कुरु स्वपापस्य क्षयार्थं शुद्धिहेतवे ॥२२
ततो गृहाण सम्पूर्णं महाव्रतकदम्बकम् । सर्वसङ्गपरित्याग कृत्वा मुक्त्यर्थमञ्जसा ॥२३
निर्ममत्वं शरीरादौ बन्धुवर्गादिके परे । भावय त्वं महाधीर ! निर्विकल्पेन चेतसा ॥२४
ततः शोकं भयं स्नेहं कालुष्यमरतिं तथा । रतिं मोहं विषाद च रागद्वेषं त्यज स्वयम् ॥२५
संसारदेहभोगेषु श्वभ्रतिर्यक्प्रदेषु च । सर्वदु.खनिदानेषु वैराग्यं चिन्तयस्व भो ॥२६

भव्य ! विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेके लिये रोग आदिके हो जानेपर अथवा दूसरी जगह भी वैर, द्वेष और कलुषता आदि समस्त शत्रुओके समुदायका त्याग कर देना चाहिये ॥१३॥ समाधिमरण धारण करनेमे तत्पर होनेवाले और शुद्ध वुद्धिको धारण करनेवाले धीरवीर आराधकको कोमल वचनोके द्वारा मन वचन कायसे अपने सब कुटुम्बियोसे, स्त्रीसे, पुत्रादिकोसे, सेवकोसे तथा पहिलेसे वैरभाव रखनेवाले महा शत्रुओसे क्षमा करानी चाहिये और सबको स्वय क्षमा कर देना चाहिये ॥१४–१५॥

इसी प्रकार हे भव्य ! समाधिमरण धारण करते समय जो पाप कृत कारित अनुमोदनासे किये हैं, जो पाप जीवनपर्यन्त होनेवाले घरके व्यापारसे हुए है, जो पाप मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद और योगोसे हुए है, जो वुरी सगतिसे, विषयोसे वा अन्य कारणोसे हुए हैं उन सब पापोको नाश करनेके लिये आचार्यके समीप दश दोषोसे रहित होकर स्वय आलोचना कर ॥१६–१८॥ आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, वहुजन, अव्यक्त और सत्सेवित ये दश दोष उत्पन्न करनेवाले आलोचनाके दोष गिने जाते है ॥१९–२०॥ जो इन सव दोषोका त्यागकर आचार्यके निकट बालकके समान (विना किसी छल कपटके) आलोचना करता है उसकी आलोचनामे कोई दोष नही लग सकता ॥२१॥ यही समझकर हे भव्य ! पापोको नाश करनेके लिये और आत्माको शुद्ध करनेके लिये तू मनको शुद्धकर गुरुके समीप आलोचना कर ॥२२॥ तदनन्तर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त परिग्रहोका त्यागकर समस्त महाव्रत धारण करने चाहिये ॥२३॥ हे धीरवीर ! तू मनके समस्त सकल्प विकल्पोको छोडकर शरीरादिकमे तथा भाई, वन्धु आदि कुटुम्बी लोगोमे निर्ममता (ममताके त्याग करने) का चिन्तवन कर ! अर्थात् ममताका त्याग कर ॥२४॥ तदनन्तर तू शोक, भय, स्नेह, कलुषता, अरति, रति, मोह, विषाद और रागद्वेष आदिको स्वय छोड ॥२५॥ ये ससार, देह, भोग, नरक और तिर्यंच गतिके दु ख देनेवाले हैं और सव प्रकारके दु खोंके घर हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनमे वैराग्य धारण कर ॥२६॥

उदीर्य त्वमुत्साहं च स्ववीर्यं च तपोऽनघम् । द्विषड्भेदं स्वसिद्धयर्थं तपोग्रं कुरु शर्मदम् ॥२७
प्रशान्तं स्वमनः कार्यं सिद्धान्तामृतपानकै । बृहदाराधनाग्रन्थैस्तत्त्ववैराग्यतन्त्रकै ॥२८
आहार प्रावमोदर्यं तपसा सन्त्यजेद्बुधः । क्रमाद्दिन प्रति स्तोकं स्तोकेन सर्वमेव हि ॥२९
सर्वाहारं ततस्त्यक्त्वा ग्राह्यं दुग्धादिपानकम् । ततो दुग्धं परित्यज्य ग्राह्यं तक्रं समाधये ॥३०
त्यक्त्वा तक्रं क्रमान्नीरमादेय ध्यानसिद्धये । परिहाप्य जलं कार्या केवला. प्रोषधा शुभाः ॥३१
निर्यापकं महाचार्यं सर्वसिद्धान्तपारगम् । विधाय प्रोषधा. कार्या यावज्जीवं प्रयत्नत ॥३२
अन्तकाले जपेन्मन्त्रं गुरुपञ्चकनामजम् । एकचित्तेन मुक्त्यर्थं संन्यासस्थितमानव' ॥३३
यदि सर्वं महामन्त्रं जपितुं न क्षमो भवेत् । क्षीणदेहे जपेदेकं पदं तीर्थेशगोचरम् ॥३४
वचसा जपितुं मन्त्रं न समर्थो भवेद्यदि । जपेत्स्वमनसा धीमान् यावज्जीवं स्वभावतः ॥३५
संन्यासयुक्तसत्पुंसो हीनकण्ठस्य प्रत्यहम् । कर्णे जपन्तु मन्त्रेशं अन्ये प्रोत्तरसाधका ॥३६
इति सर्वप्रयत्नेन त्याज्या प्राणा विवेकिभिः । जिनमुद्रा समादाय संन्यासं च विमुक्तये ॥३७
यदि स्याच्चरस देहं संन्यासे न बुधोत्तम । हत्वा कर्माष्टक गच्छेन्मोक्षं सौख्याकरं ध्रुवम् ॥३८

हे मित्र ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अपना उत्साह प्रगट कर और अपनी शक्तिको प्रगट कर सुख देनेवाले बारह प्रकारके घोर तपश्चरणको धारण कर ॥२७॥ इसी प्रकार सिद्धान्त ग्रन्थोका अमृत पान कर तथा महा आराधना ग्रन्थोको पढकर और तत्त्व व वैराग्यको निरूपण करनेवाले ग्रन्थोको पढकर तू अपना मन अत्यन्त शान्त कर ॥२८॥ बुद्धिमानोको अवमोदर्य तपश्चरणके द्वारा अपना आहार प्रतिदिन थोड़ा थोडा घटाना चाहिये और इस प्रकार अनुक्रमसे थोडा थोडा घटाते घटाते समस्त आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥२९॥ आराधकको इस प्रकार समस्त आहारका त्याग कर दूधका सेवन करना चाहिये और फिर समाधि धारण करनेके लिये दूधका भी त्यागकर तक्र व छाछका सेवन करना चाहिये ॥३०॥ फिर ध्यानकी सिद्धिके लिये अनुक्रमसे छाछका भी त्यागकर गर्म जल लेना चाहिये और फिर गर्म जलका भी त्यागकर केवल शुभ उपवास करना चाहिये ॥३१॥ समस्त सिद्धान्त'शास्त्रोंके पारगामी निर्यापक (समाधिमरण करानेवाले) महाचार्यको निवेदन कर उनकी आज्ञानुसार जन्मपर्यन्ततकके लिये उपवास धारण करना चाहिये और उसका निर्वाह वडे प्रयत्नसे करना चाहिये ॥३२॥ समाधिमरण धारण करनेवाले आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अन्तसमयमे एकचित्त होकर पाँचो परमेष्ठियोके नामको प्रगट करनेवाले मन्त्रोका जप करना चाहिये ॥३३॥ यदि उसका शरीर क्षीण हो गया हो और वह पाँचो परमेष्ठियोंके वाचक मन्त्रोका जप करनेमे असमर्थ हो तो उसे श्री तीर्थंकरके वाचक 'णमो अरहताण' इस एक पदका ही जप करना चाहिये ॥३४.। यदि वह अत्यन्त क्षीण हो गया हो और उस मन्त्रको वचनसे न जप सकता हो तो उसे अपने स्वभावसे ही जीवन पर्यन्त अपने मनमे ही उन मन्त्रोका जप करना चाहिये ॥३५॥ यदि सन्यास धारण करनेवालेका कण्ठ सर्वथा क्षीण हो गया हो और वह अपने मनमे भी उन मन्त्रोका जप न कर सकता हो तो फिर उसकी उत्तरसाधना करनेवाले वैयावृत्य करनेवाले अन्य लोगोको प्रतिदिन उसके कानमे मन्त्रराजका (पचनमस्कारमन्त्रका) जप करना चाहिये अर्थात् उसके कानमे सुनाना चाहिये ॥३६॥ इस प्रकार विवेकी आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समाधिमरण धारण कर और अन्तमे जिन मुद्रा धारणकर बड़े प्रयत्नके साथ प्राणोका त्याग करना चाहिये ॥३७॥ यदि समाधिमरण धारण करने-

अथवा चरम देहं दुष्कर्माणि विमुच्य ना । सर्वार्थसिद्धिमेवासौ याति पुण्यमुपार्ज्य वै ॥३९
केचित्सन्यासयोगेन यान्ति ग्रैवेयकं बुधा । केचित्षोडशमं नाकं धर्मसौख्याकर परम् ॥४०
सन्यासविधिना केचित् सौधर्मादिसुखालयम् । यावदच्युतकल्प च बहुभोगसमन्वितम् ॥४१
संन्यासमरणात्केचित् त्यक्त्वा प्राणान् नरोत्तमा । प्राप्य शक्रपदं नून पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥४२
सल्लेखनाविधानेन केचिद्भुक्त्वा महासुखम् । स्वर्गे भुञ्जन्ति तीर्थेशसम्पद दर्शनान्विता ॥४३
मरणाराधनेनैव देवलोकभवं सुखम् । भुक्त्वा व्रजन्ति चक्रेशभूतिं धर्मान्विता नरा ॥४४
जघन्याराधनेनैव सुखं भुक्त्वा नृदेवजम् । सप्ताष्टभवपर्यन्तं यान्ति मुक्तिं क्रमाद् बुधाः ॥४५
किमत्र बहुनोक्तेन संन्यासेन समो वृष । न स्यात्कालत्रये नून नराणा शर्मसाधन ॥४६
एवं करोति सन्यासं प्राणान्ते योऽपि श्रावक । अतिचारविनिर्मुक्त सफलं तस्य सव्रतम् ॥४७
सन्यासस्य व्यतीपातान् दिशध्वं कृपया मम । भगवञ्च सुधर्माय संन्यासादिप्रसिद्धये ॥४८
एकचित्तेन भो धीमन् ! शृणु वक्ष्ये व्यतिक्रमान् । संन्यासस्य विमुक्त्यर्थं सन्यासव्रतदोषदान् ॥४९
भवेच्च जीविताशंसा मरणेच्छा ततो भय । मित्रस्मृतिनिदान च स्यु सन्यासे व्यतिक्रमा ॥५०
य संन्यासं समादाय वाञ्च्छेत्स्वस्यैव जीवितम् । सल्लेखनाव्रतस्यैव तस्य दोषो भवेद्ध्रुवम् ॥५१

वाला उत्तम विद्वान् चरमशरीरी हुआ तो वह आठो कर्मोको नाशकर अनन्त सुख देनेवाले मोक्षमे अवश्य ही जा विराजमान होगा ॥३८॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला चरमशरीरी नही है तो वह उस शरीरको तथा पाप कर्मोको नष्टकर और महा पुण्य उपार्जन कर सर्वार्थसिद्धिमे जा विराजमान होता है ॥३९॥ इस समाधिमरणको धारण करनेसे कितने ही विद्वान् ग्रैवेयकोमे जन्म लेते है, और कितने ही विद्वान् धर्म और सुखकी खानि ऐसे परमोत्तम सोलहवें स्वर्गमे उत्पन्न होते हैं ॥४०॥ विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेसे कितने ही लोग सुखके घर और अनेक प्रकारके भोगोपभोगोकी सामग्रियोसे भरे हुए सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युतस्वर्ग तक किसी भी स्वर्गमे उत्पन्न होते हैं ॥४१॥ कितने ही उत्तम पुरुष इस समाधिमरणसे प्राणोको छोडकर और इन्द्रका उत्तम पद पाकर पीछे मोक्षमे जा विराजमान होते है ॥४२॥ कितने ही सम्यग्दृष्टी पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे स्वर्गके महा सुखोका उपभोग कर अन्तमे तीर्थंकरके परम पदको प्राप्त होते हैं ॥४३॥ धर्मात्मा पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे ही स्वर्गके सुख भोगकर चक्रवर्ती की विभूतिको पाते है ॥४४॥ जो विद्वान् इस समाधिमरणको जघन्य रीतिसे धारण करते हैं वे देव और मनुष्योके सुख भोगकर सात आठ भवमे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥४५॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि मनुष्योको इस समाधिमरणके समान कल्याण करने-वाला धर्म तीनो कालम नही हो सकता ॥४६॥ इस प्रकार जो श्रावक मरनेके समय अतिचार रहित समाधिमरण धारण करता है ससारमे उसीके व्रत सफल होते हैं ॥४७॥

प्रश्न—हे भगवन् ! धर्म पालन करनेके लिये और समाधिमरणको शुद्धतापूर्वक धारण करनेके लिये कृपाकर उन समाधिमरणके अतिचारोका निरूपण कीजिये ॥४८॥ उत्तर—हे विद्वन् ! तू चित्त लगाकर सुन, मै समाधिमरणको विशुद्ध रखनेके लिये उस समाधिमरणरूपी धर्ममे दोष लगानेवाले समाधिमरणके अतिचारोको कहता हूँ ॥४९॥ जीविताशसा, मरणेच्छा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये पाँच समाधिमरणके अतिचार गिने जाते है ॥५०॥ जो समाधिमरण धारण करके भी अपने जीवित रहनेकी इच्छा रखता है उसके सल्लेखना व्रतमे जीविताशसा नामका अतिचार

गृहीत्वाऽनशन यस्तु रोगक्लेशपरीषहात् । इच्छेत्स्वमरणं सोऽपि व्यतीचारं भजेन्नर ॥५२
करोति यो भयं तीव्रमिहामुत्र भवादिजम् । श्रयेत्सोऽपि व्यतीपात संन्यासस्य मलप्रदम् ॥५३
मित्रानुस्मरण योऽपि वाल्यावस्यादिक्रीडितम् । करोति मोहतस्तस्य जायतेऽतिक्रमोऽशुभ ॥५४
कुर्याद् योऽपि निदानं ना स्वर्गराज्यादिगोचरे । भोगहेतु भजेत्सोऽपि मलं घोराशुभप्रदम् ॥५५
यो गृहस्थोऽतिधीयुक्तस्त्यक्त्वातीचारपञ्चकम् । संन्यासं कुरुते तस्य फलं मुनिसमं भवेत ॥५६

सकलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतुं जिनगणधरसेव्यं पापवृक्षे कुठारम् ।
सकलकरणपाशं सद्व्रताना शुभाढ्यं बुध कुरु मरणे त्वं सारसंन्याममेव ॥५७

करोति नियमेनैव नित्यं सामायिकं सुधी । कालत्रये लभेत् सोऽपि तृतीयां प्रतिमां वराम् ॥५८
प्रोक्तं सामायिकस्यैव पूर्वं सल्लक्षणं मया । शिक्षाव्रते पुनर्नोक्तं द्विवारोक्तिभयात्स्फुटम् ॥५९
ज्ञातव्यं तत्त्वतस्तत्र शुद्ध सामायिकं बुधैः । तृतीयप्रतिमायुक्तैरावर्तनुतिसंयुतम् ॥६०
अष्टम्यां च चतुर्दश्या प्रोषधं यो भजेत्सुधीः । प्राणान्तेऽपि त्यजेन्नैव चतुर्थीप्रतिमा श्रयेत् ॥६१
सत्प्रोषधोपवासस्य प्रोक्तं पूर्वं सुलक्षणम् । पुनरुक्तिभयान्नैव प्रोक्तं तद्विस्तरं मया ॥६२
ज्ञेयं तत्रोपवासस्य विधिकर्तव्यमञ्जसा । सर्वसावद्यत्यक्तस्य चतुर्थप्रतिमान्विते ॥६३

लगता है ॥५१॥ जो उपवास धारण करके रोग क्लेश वा परीषहोके कारण शीघ्र ही अपने मरने की इच्छा करता है उसके मरणाशसा नामका अतिचार लगता है ॥५२॥ जो इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी तीव्र भय करता हे उसके सन्यासमे मल उत्पन्न करनेवाला भय नामका अतिचार लगता है ॥५३॥ जो मोहके कारण अपने मित्रोका तथा वालकपनके खेल कूदोका स्मरण करता है उसके मित्रानुराग नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥५४॥ जो पुरुष भोगोपभोगोंके कारणोकी इच्छा करता है, आगेके लिये स्वर्गादिक राज्य चाहता है और इस प्रकार निदान करता है उसके अत्यन्त पाप उत्पन्न करनेवाला निदान नामका अतिचार लगता है ॥५५॥ जो बुद्धिमान् गृहस्थ पाँचो अतिचारोको छोडकर समाधिमरण धारण करता है उसको मुनिके समान फल मिलता है ॥५६॥ यह समाधिमरण समस्त गुणोका निधान है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, जिनराज और गणधरदेव भी इसकी प्रशसा करते हैं, यह पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार है, समस्त इन्द्रियोको वश करनेके लिये जाल है, व्रतोसे परिपूर्ण है और पुण्यसे भरपूर है, इसलिये हे भव्य ! तू भी मरनेके समय होनेवाला समाधिमरण अवश्य धारण कर ॥५७॥ यहाँतक व्रत प्रतिमा का निरूपण किया । जो बुद्धिमान् प्रात काल, मध्याह्नकाल और सायकाल तीनो समय नियमपूर्वक सदा सामायिक करता है उसके तीसरी सामायिक प्रतिमा कही जाती है ॥५८॥ सामायिकका लक्षण उसकी विधि आदि सब हमने पहिले सामायिक नामके शिक्षाव्रतमे निरूपण किया है अतएव दूसरा कथन हो जानेके कारण यहाँ नही कहा ॥५९॥ तीसरी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमानो को आवर्त नमस्कार आदि सहित सामायिकका स्वरूप वहाँसे जान लेना चाहिये ॥६०॥

जो गृहस्थ अष्टमी और चतुर्दशीके दिन प्रत्येक महीनेके चारो पर्वोमे प्रोषधोपवास करता है और प्राण नष्ट होनेपर भी उसको नही छोडता उसके चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा समझना चाहिये ॥६१॥ इस प्रोषधोपवासका स्वरूप पहिले प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतमे कह चुके हैं अब पुनरुक्त दोषके कारण और विस्तार होनेके डरसे यहाँ नही कहते हैं ॥६२॥ चौथी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोको जिसमे समस्त पापोका त्याग किया जाता है ऐसे इस प्रोषधोपवासकी विधि लक्षण कर्तव्य आदि सब वहीसे जान लेना चाहिये ॥६३॥ सचित्तविरत नामकी पाँचवी प्रतिमा धारण

आम्रनारङ्गखर्जूरकदल्यादिभवं फलम् । सर्वं क्षीरादिजं पुष्पं निम्बादिप्रभव तथा ॥६४
गोधूमतिलसच्छालिमुद्गसच्चणकादिकम् । एलाजीरादिजं बीजं पृथक् जीवसमन्वितम् ॥६५
शृङ्गवेरादिजं कन्दमूलं वृक्षादिसम्भवम् । आर्द्रा तरुत्वक्शाखां कोपलादिकमेव च ॥६६
नागवल्यादिजं पत्रं सर्वजीवसमाकुलम् । सचित्तं वर्जयेद्धीमान् सचित्तविरतो गृही ॥६७
अनग्निपक्वमन्यद्वा चेतनादिगुणान्वितम् । सचित्तविरतैर्धीरैर्नादेयं प्रतिमाप्तये ॥६८
अत्यक्तात्मीयसद्वर्णसंस्पर्शादिकमञ्जसा । अप्रासुकमथातप्तं नीरं त्याज्यं व्रतान्वितै ॥६९
वारि प्रातमीयवर्णादित्यक्तं द्रव्यादियोगत । तप्तं वाचाग्निनादेय नयनाभ्या परीक्ष्य भो ॥७०
अपक्वमर्द्धपक्वं वा कन्दबीजफलादिकम् । सचित्तं नात्ति यस्तस्य पञ्चमी प्रतिमा भवेत् ॥७१
सचित्तं नात्ति यो धीमान् सर्वप्राणिसमायुतम् । दयामूर्तेर्भवेत्तस्य सफल जीवित भुवि ॥७२
सचित्तं जीवसंयुक्त ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधी । स्वजिह्वालम्पटात्किं स स्व वेत्ति मरणच्युतम् ॥७३
अश्नात्येव सचित्तं यस्तस्य स्यान्निर्दयं मन । मनो निर्दयत पाप जायते श्वभ्रसाधकम् ॥७४
इति मत्वा न तद्द्रव्य ग्राह्य प्राणात्यये क्वचित् । पापभीतैर्महापापदायकं जन्तुघातकम् ॥७५

अशुभसकलखानिं श्वभ्रसन्दानदक्षं कुजनगणगृहीतं सत्त्वयुक्तं सचित्तम् ।
विषयसुखकरं भो धीर ! धर्मस्य शत्रुं त्यज विषमिव सर्वं स्वर्गमोक्षादिसिद्धचै ॥७६

करनेवाले बुद्धिमान् गृहस्थोको आम, नारगी, खजूर, केला आदि सब प्रकारके फल, नीब आदिक फूल, गेहूँ, तिल, चावल मूग, चना, इलाइची, जीरा आदि जिनमे अलग जीव रहनेकी सम्भावना है, अदरक आदि कन्द वृक्षोकी जड, मूली, गीली छाल, पत्तियाँ, शाखा, कोपल और अनन्त जीवोसे भरे हुए नागवेलके पान आदि सब प्रकारके सचित्त पदार्थोका त्याग करना चाहिये ॥६४-६७॥ सचित्तविरत नामकी पाँचवी प्रतिमा धारण करनेवाले धीरवीर पुरुषोको अपनी पाँचवी प्रतिमाका पालन करनेके लिये जो पदार्थ अग्निपर पकाये हुए नही है, अथवा जिनमे किसी प्रकारका भी चेतना गुण है ऐसे सचित्त पदार्थोका अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥६८॥ पाँचवी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोको जिसका निजका वर्ण वा रग बदला नही है, न जिसका स्पर्श बदला है, ऐसे अप्रासुक और बिना गर्म किये हुए जलका त्याग कर देना चाहिये ॥६९॥ पाँचवी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोको लौंग, काली मिरच आदि द्रव्योके सम्बन्धसे जिसके निजका वर्ण बदल गया है अथवा जो अग्निसे गर्म कर लिया गया है ऐसा जल आँखोसे परीक्षा कर ग्रहण करना चाहिये ॥७०॥ जो गृहस्थ बिना पके हुए अथवा आधे पके हुए सचित्त कन्द, बीज, फल आदिको ग्रहण नही करता है उसके सचित्त विरत नामकी पाँचवी प्रतिमा होती है ॥७१॥ जो बुद्धिमान् सब तरहके प्राणियोसे भरे हुए सचित्त पदार्थोको नही खाता वह दयाकी मूर्ति समझा जाता है और ससारमे उसीका जन्म सफल गिना जाता है ॥७२॥ जो दुष्ट अपनी जिह्वाको लम्पटताके कारण जीव सहित सचित्त पदार्थोको जानकर भी खाता है वह क्या अपनेको अमर समझता है ॥७३॥ जो समस्त सचित्त पदार्थोको खाता है उसका मन निर्दय हो जाता है और मनके निर्दय होनेसे नरकको ले जानेवाला पाप उत्पन्न होता है ॥७४॥ यही समझकर पापोसे डरनेवाले चतुर पुरुषोको प्राण नाश होनेपर भी महापाप उत्पन्न करनेवाले और अनेक जीवोका घात करनेवाले सचित्त पदार्थ कभी ग्रहण नही करने चाहिये ॥७५॥ हे भव्य ! इन सचित्त पदार्थोका ग्रहण करना समस्त पापोकी खानि है, नरकमे पहुँचानेके लिये चतुर है, दुष्ट पुरुष ही इसका

अन्नपानं च खाद्य च स्वाद्यं यो नास्ति शुद्धधी.। भजेत् रात्रौ सदा सोऽपि षष्ठीं सुप्रतिमां वराम् ॥७७
दंशकीटपतङ्गादिसूक्ष्मजीवा अनेकधा.। स्थालमध्ये पतन्त्येव रात्रिभोजनसङ्गिनाम् ॥७८
दीपकेन विना स्थूला दृश्यन्ते नाङ्गिन क्वचित्। तदुद्योतवशादन्ये प्रागच्छन्तीव भाजने ॥७९
पाकभाजनमध्येषु पतन्त्येवाङ्गिनो ध्रुवम्। अन्नादिपचनाद्रात्रौ म्रियन्तेऽनन्तराशय. ॥८०
इत्येवं दोषसंयुक्त त्याज्यं सम्भोजनं निशि। विषान्नमिव नि शेषं पापभीतैर्नरै. सदा ॥८१
दक्षैर्निशि न चादेय साध्यं सन्मोदकादिकम्। अन्यद्वा चाम्रसन्नालिकेरक्षीरफलादिकम् ॥८२
भक्षितं येन रात्रौ च खाद्यं तेनान्नमञ्जसा। यतोऽन्नखाद्ययोर्भेदो न स्याद्वान्नादियोगतः ॥८३
भक्षणीयं भवेन्नैव पत्रपूगीफलादिकम्। कीटाढ्यं सर्वदा दक्षैर्भूरिपापप्रदं निशि ॥८४
न ग्राह्यं प्रोदकं धीरैर्विभावर्या कदाचन। तृट्शान्तये स्वधर्माय सूक्ष्मजन्तुसमाकुलम् ॥८५
चतुर्विधं सदाहार ये त्यजन्ति बुधा निशि। तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥८६
इति मत्वा सदा त्याज्यं जनै रात्रौ चतुर्विधम्। आहारं धर्मसिद्ध्यर्थं तपोऽर्थं वा विमुक्तये ॥८७
पानादिसर्वमाहारं ये त्यजन्ति जना निशि। व्रताय जायते पुण्यं तेषां सारं सुखाकरम् ॥८८

ग्रहण करते हैं, इसमे अनेक जीव रहते हैं, यह विषयसुखोको उत्पन्न करनेवाला है और धीरवीर धर्मका शत्रु है इसलिये हे भव्य! स्वर्ग मोक्षादिको सिद्ध करनेके लिये तू विषके समान इन सचित्त पदार्थोका त्याग कर ॥७६॥ जो बुद्धिमान् रात्रिमे अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चारो प्रकारके आहार पानीका त्याग कर देता है उसके रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा होती है ॥७७॥ रात्रिमे मनुष्योकी थालियोमे डाँस, मच्छर, पतगे आदि छोटे-छोटे अनेक जीव आ पडते हैं ॥७८॥ रात्रिमे यदि दीपक न जलाया जाय तो स्थूल जीव भी दिखाई नही पड सकते। यदि दीपक जला लिया जाय तो उसके प्रकाशसे थाली आदिमे और अनेक जीव आ जाते हैं ॥७९॥ भोजन पकते समय भी उस अन्नकी वायु चारो ओर फैलती है इसलिये उस वायुके कारण उन पात्रोमे अनन्त जीव आ आकर पडते हैं ॥८०॥ पापोंमे डरनेवाले मनुष्योको ऊपर लिखे हुए अनेक दोषोंसे भरे हुए रात्रि भोजनको विष मिले हुए अन्नके समान सदाके लिये अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥८१॥ चतुर पुरुषोको लड्डू, पेडा, बरफी आदि खानेकी चीजें वा नारियलका दूध, फल आदि कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥८२॥ जो पुरुष रात्रिमे पेडा, बरफी आदि स्वाद्य पदार्थोको खाते हैं—अन्नके पदार्थ नही खाते वे भी पापी हैं, क्योकि अन्न व स्वाद्य पदार्थोंमे कोई भेद नही है ॥८३॥

चतुर पुरुषोको रात्रिमे सुपारी जावित्री आदि भी नही खानी चाहिये क्योकि इनमे भी अनेक कीडोकी सम्भावना रहती है। इसलिये इनका खाना भी महा पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥८४॥ धीरवीर पुरुषोको अपना दयाधर्म पालन करनेके लिये प्यास लगनेपर भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए जलको भी रात्रिमे कभी नही पीना चाहिये ॥८५॥ जो विद्वान् रात्रिमे चारो प्रकारका आहार त्याग कर देते हैं उन्हे प्रत्येक महीनेमे पन्द्रह दिन उपवास करनेका फल प्राप्त होता है ॥८६॥ यही समझकर मनुष्योको धर्मकी सिद्धिके लिये, तपके लिये वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये, रात्रिमे चारो प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥८७॥ जो मनुष्य व्रत पालन करनेके लिये रात्रिमे अन्नपान आदि सब प्रकारके आहारका त्याग कर देता है उसके आत्माको शुद्ध करनेवाला अपार पुण्य होता है ॥८८॥ रात्रिमे आहारका त्याग कर देनेसे इन्द्रियाँ

वातपित्तादिज रोगं सर्वं नश्यति देहिनाम् । रजन्याहारसंत्यागादिन्द्रियादिकशोषणात् ॥८९
नीरादिकं गृहस्था ये वर्जयन्ति निशि स्वयम् । तांश्च लक्ष्मी समायाति लोकत्रितयसंस्थिता ॥९०
रोगमुक्तं श्रयेत् प्राणी वपुर्लावण्यसंयुतम् । गुणाढ्यं कमनीय च रात्रिभोजनवर्जनात् ॥९१
भूरिभोगोपभोगाढ्यं राज्यं सौख्याकर भुवि । निशाहारपरित्यागाद्व्रजेत् जीवो न सशय ॥९२
अनौपम्यं सुखं नृणां जायते स्वर्गगोचरम् । देवविभवसम्पन्न भुक्तादित्यजनान्निशि ॥९३
निशीथिन्यां सदाहार ये खादन्ति खला इह । महारोगा हि स्युस्तेषां कुष्टवातादिजा सदा ॥९४
लक्ष्मी पलायते पुंसां रात्रिभोजनकारिणाम् । भूरिदु खप्रद घोर दारिद्रयं सम्मुखायते ॥९५
अश्नन्त्येव शठा रात्रौ ये भक्त स्वादलम्पटा । भूरिपापभरादग्रे श्वभ्रकूपे पतन्ति ते ॥९६
शृगालश्वानमार्जारवृषभादिर्गति खला । व्रजन्ति परलोकेऽपि रात्रिभोजनलालसाः ॥९७
भिल्लमातङ्गव्याधादिकुलं दारिद्रयसङ्कुलम् । रात्रिभोजनसञ्जातपापादग्रे श्रयेन्नर ॥९८
दोषाढ्या पापदा घोरा रागान्धा शीलवर्जिता । कुरूपा जायते नारी भोजनान्निशि दु खदा ॥९९
पुत्रान् दुर्व्यसनोपेतान् सुता शीलादिवर्जिताः । बान्धवान् शत्रुतुल्यांश्च भजेन्ना रात्रिभक्षक ॥१००
अन्धत्वं वामनत्वं च कुब्जत्वं च दरिद्रताम् । दुर्भगत्वं कुरूपित्व पङ्गुत्व शीलहीनताम् ॥१०१
व्यसनत्वं च दु खित्वं भीरुत्वं च कुकीर्तिताम् । अल्पायुश्च कुजन्मत्वं पापित्वं विकलाङ्गताम् ॥१०२

सव वशीभूत हो जाती हैं और इन्द्रियोके वशीभूत होनेसे जीवोके वात पित्त आदिसे उत्पन्न हुए सव रोग नष्ट हो जाते हैं ॥८९॥ जो गृहस्थ रात्रिमे स्वय पानी तकका भी त्याग कर देते हैं उनके लिये तीनो लोकोमे रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥९०॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे प्राणियोके रोग सब नष्ट हो जाते हैं, उनके शरीरमे लावण्यता आ जाती है, अनेक गुण आ जाते हैं और वे सव तरहसे सुन्दर हो जाते हैं ॥९१॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे जीवोको अनेक भोगोपभोगोसे भरे हुए और अपरिमित सुखसे भरे हुए राज्यकी प्राप्ति होती है इसमे कोई सन्देह नही ॥९२॥ रात्रिमे आहार पानीका त्याग कर देनेसे जीवोको स्वर्गके देवोकी विभूतियो-से सुशोभित निरुपम सुखकी प्राप्ति होती है ॥९३॥ जो अज्ञानी सदा रात्रिमे भोजन करते रहते हैं उनके इस लोकमे भी कोढ वा वायु आदिके अनेक प्रकारके महा रोग उत्पन्न होते हैं ॥९४॥ रात्रिमे भोजन करनेवाले मनुष्योकी लक्ष्मी सव भग जाती है और महा दु ख देनेवाली घोर दरिद्रता उनके सामने आ उपस्थित होती है ॥९५॥ जो मनुष्य जिह्वाके स्वादसे लम्पटी होकर रात्रिमे भोजन करते हैं उनके महा पाप उत्पन्न होता है और वे अगले जन्ममे नरकमे ही जाकर पड़ते हैं ॥९६॥ रात्रिभोजनमे लालसा रखनेवाले मनुष्य मरकर परलोकमे गीदड, कुत्ता, बिल्ली, बैल आदि नीच गतियोमे जाकर उत्पन्न होते हैं ॥९७॥

रात्रि भोजनके पापसे यह मनुष्य परलोकम भील, चाडाल, वहेलिया आदिके नीच कुलोमे महा दरिद्री उत्पन्न होता है ॥९८॥ रात्रिमे भोजन करनेके पापसे अनेक दोषोसे परिपूर्ण, पाप उत्पन्न करनेवाली, मलिन, रागद्वेपसे अन्धी, शीलरहित, कुरूपिणी और दु ख देनेवाली स्त्री मिलती है ॥९९॥ रात्रिभक्षण करनेसे इस मनुष्यको पुत्र अनेक बुरे व्यसनोसे रगे हुए मिलते हैं, पुत्रियाँ शीलरहित मिलती है और भाई वन्धु आदि शत्रुओके समान दु खदायी मिलते हैं ॥१००॥ यह जीव रात्रिभोजनके पापसे भवभवमे अन्धा, बौना, कुब्जा, दरिद्री, कुरूप, वदसूरत, लगड़ा, कुशीली, अनेक बुरे व्यसनोका सेवन करनेवाला, दु खी, डरपोक, अपनी ही अपकीर्ति फैलानेवाला,

दुर्गतित्वं कुमार्गत्वं परलोकेऽतिनिन्दिताम् । रात्रिभोजनपापेन लभेत्प्राणी भवे भवे ॥१०३
किमत्र बहुनोक्तेन संसारे दुःखमेव यत् । तत्सर्वं जायते पुंसां रात्रिभोजनपापतः ॥१०४
रात्रावपि न ये मूढा आहारं सन्त्यजन्ति भोः । पशवस्ते नरा नैव चाष्टप्रहरभक्षणात् ॥१०५
आमिषाशीसमो ज्ञेयो रात्रिभोजनतत्परः । सूक्ष्मकीटपतङ्गादिजीवराशिप्रभक्षणात् ॥१०६
ये रात्रौ च प्रखादन्ति शठाः पत्रादिकं सदा । कीटादिभक्षणात्तेषामामिषे नियमः कथम् ॥१०७
ये पिबन्ति जना नीरं कीटाढ्यं दृष्ट्यगोचरम् । अन्या इव कथं तेषामहिंसाख्यं व्रतं निशि ॥१०८
महापापप्रदं त्याज्यं सदाहारं चतुर्विधम् । जीवहिंसाकरं दक्षैः स्वर्गमुक्तिप्रसिद्धये ॥१०९
वरं हालाहलं लोके भक्षितं प्राणनाशकम् । वारैकं हि न चाहारं संख्यातीतं भवे नृणाम् ॥११०
इति ज्ञात्वा बुधैः सर्वमाहारं निशि सर्वथा । प्राप्ते प्राणवियोगेऽपि न भोक्तव्यमखाद्यवत् ॥१११
क्षुधातुराय कस्मैचिन्न दातव्यं गृहान्वितैः । भोजनं निशि पापाय भीतैः पापकरं त्रिधा ॥११२
कायवाङ्मनसा योऽपि नात्ति चाहारमञ्जसा । संकृतादिकसंकल्पैः तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥११३

नरकगृहकपाटं स्वर्गगेहाग्रमार्गं सकलसुजनसेव्यं सद्व्रतस्यापि मूलम् ।
स्वसुखकरमपापं धर्मरत्नस्य खानिं व्रतमपि भज मित्र ! रात्र्यभुक्ताख्यनाम ॥११४

थोड़ी आयुवाला, पापी, कुजन्मा, अङ्ग भङ्ग शरीरवाला, दुर्गतियोंमें जानेवाला, कुमार्गगामी और अत्यन्त निंद्य होता है ॥१०१–१०३॥ बहुत कहनेसे क्या ! थोड़ेमेंमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ दुःख हैं वे सब मनुष्योंको रात्रिभोजनके पापसे ही उत्पन्न होते हैं ॥१०४॥ जो मूर्ख रात्रिमें भी आहार पानी नहीं छोड़ते वे आठों पहर भक्षण करनेके कारण पशु ही समझे जाते हैं ॥१०५॥ रात्रिभोजनमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य कीड़े, मकोड़े, पतंगे आदि अनेक सूक्ष्म जीवोंको भक्षण कर जाते हैं इसलिये वे मांस भक्षियोंके ही समान गिने जाते हैं ॥१०६॥ जो अज्ञानी मनुष्य पान सुपारी आदि भी रात्रिमें खाते हैं वे भी उसके साथ अनेक कीड़े मकोड़ेका भक्षण कर जाते हैं इसलिये मांस त्यागका नियम उनके भी नहीं निभ सकता ॥१०७॥ जो मनुष्य आँखसे न दिखाई देनेवाले अनेक कीड़ोंसे भरे हुए जलको रात्रिमें पीते हैं वे अन्य पापोंके समान अहिंसाव्रतको किस प्रकार पालन कर सकते हैं अर्थात् जैसे अन्य पापोंमें अहिंसाव्रत नहीं पल सकता उसी प्रकार रात्रिभोजनमें भी अहिंसाव्रत नहीं पल सकता ॥१०८॥ चतुर पुरुषोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला, महा पाप उत्पन्न करनेवाला और महा पापरूप ऐसे चारों प्रकारके आहारका रात्रिभोजन अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥१०९॥ संसारमें एक बार प्राणोंको नाश करनेवाला हलाहल विष खा लेना अच्छा, परन्तु अनेक भवोंतक दुःख देनेवाला रात्रिभोजन करना अच्छा नहीं ॥११०॥ यही समझकर विद्वानोंको प्राणोंके वियोग होनेका समय आनेपर भी अभक्ष्यके समान रात्रिमें सब प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥१११॥ पापोंसे डरनेवाले गृहस्थोंको मन वचन कायसे रात्रिमें किसी भूखेको भी पाप उत्पन्न करनेवाला भोजन नहीं देना चाहिये ॥११२॥ जो मनुष्य मन वचन कायसे व कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजन नहीं करता उसके यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥११३॥ हे मित्र ! यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ है, स्वर्गरूपी घरके लिये मुख्य मार्ग है, समस्त सज्जन इसका पालन करते हैं, समस्त श्रेष्ठ व्रतोंकी जड़ है, पाप रहित है, आत्माको सुख देनेवाला है और धर्मरत्नकी

आद्या षट्प्रतिमाः योऽपि धत्ते सच्छ्रावको भुवि । स जघन्यो जिनैरुक्त पूज्यो नाकेश्वरैरपि ॥११५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सल्लेखनासामायिकादिप्रतिमा-चतुष्टयप्ररूपको नाम द्वाविंशतितम परिच्छेद ॥२०॥



खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस रात्रिभोजनका त्याग नामके व्रतको तू सदा पालन कर ॥११४॥ जो इन पहिली छह प्रतिमाओका पालन करता है वह जघन्य श्रावक कहलाता है और इन्द्रके द्वारा भी पूज्य होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥११५॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे सल्लेखना, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग और रात्रिभोजन त्याग प्रतिमाओको निरूपण करनेवाला यह बाईसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२२॥



तेईसवाँ परिच्छेद

पार्श्वनाथं जिनं वन्दे सुपार्श्वं पार्श्वदायकम् । विनेयानां सुरैरर्च्यं प्रभुं तत्पार्श्वहेतवे ॥१
भुवनत्रयसम्पूज्या वक्ष्ये स्वर्मुक्तिहेतवे । प्रतिमां ब्रह्मचर्याख्यां दुष्करां कातराङ्गिनाम् ॥२
बाला सत्कन्यका सारां रूपलावण्यभूषिताम् । नारीं सद्यौवनोन्मत्तां वृद्धा सर्वगुणाकराम् ॥३
स्वपुत्री-भगिनीमातृसमां पश्यति य सदा । त्यक्त्वा च मनसा रागं ब्रह्मचारी भवेत्स ना ॥४
मुखं श्लेष्मादिससक्तं चर्मबद्धास्थिसञ्चयम् । सर्वामनोज्ञताधारं दुर्गन्धं कुटिलान्वितम् ॥५
मासपिण्डौ स्तनौ रक्तभृतौ नेत्रादिलोभदौ । प्रोदरं सप्तसन्धातुविष्ठाक्रिम्यादिसङ्कुलम् ॥६
स्रवन्मूत्रादिक निन्द्य वीभत्सं जघन सदा । पूतिगन्धाकरं घोरं श्वभ्रकूपमिवाशुभम् ॥७
इत्येव च वरस्त्रीणां रूपं चित्ते स चिन्तयेत् । बाह्ये सत्सुन्दरं मध्येऽपवित्रं ब्रह्मतत्पर ॥८
ईदृग्विधं सुनारीणां रूपं चर्मावृतं सदा । पश्येद् यो ना भजेत्सोऽपि ब्रह्मचर्यं सुनिर्मलम् ॥९
कासश्वासादिसंरोगा' कफवातादिसम्भवा । अब्रह्मचारिणां-पुसां जायन्ते दु खदायका- ॥१०
अतृप्तजनकं सेवा प्रान्ते चात्यन्तनीरसम् । अपवित्रकरं निन्द्य निन्द्यकर्मसमुद्भवम् ॥११

जो पार्श्वनाथ भगवान् देवोंके द्वारा पूज्य हैं, शिष्योको अपने समीप ही स्थान देनेवाले हैं, और जिनके समीपका निवास अनन्त सुख देनेवाला है ऐसे श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर परम देवको मै उनके समीप पहुँचनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अव मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तीनो लोकोमे पूज्य और कातर जीवोंके लिये अत्यन्त कठिन ऐसी ब्रह्मचर्य प्रतिमाको कहता हूँ ॥२॥ जो मनुष्य मनके सब राग भावोको छोड़कर छोटी कन्याओको अपनी पुत्रीके समान देखता है, रूप लावण्यसे सुशोभित यौवनवती स्त्रियोको अपनी बहिनके समान देखता है और अत्यन्त गुणवती वृद्ध स्त्रियोको अपनी माताके समान देखता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है ॥३–४॥ देखो, स्त्रियोका मुँह कफसे भरा हुआ है, चमडेसे मढा हुआ हड्डियोका समूह है, सब बुरी चीजोका आधार है, दुर्गन्धमय है और कुटिल है ॥५॥ स्त्रियोके स्तन मांसके पिंड हैं, रक्तसे भरे हुए है, नेत्रोको लोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और नरककी सीढी हैं, पेट सात धातु विष्ठा तथा अनेक प्रकारके कीडोंसे भरा हुआ है ॥६॥ स्त्रियोका जघनस्थल अत्यन्त घृणाजनक है, निन्द्य है, मूत्रादिक मल सदा उससे बहता रहता है, अत्यन्त दुर्गन्ध सहित है और घोर नरक-कूपके समान अशुभ है ॥७॥ पवित्र ब्रह्मचर्यमे तत्पर रहनेवाले मनुष्योको अपने हृदयमे स्त्रियोका स्वरूप इस प्रकार चितवन करना चाहिये कि यह स्त्रियोका रूप केवल बाहरसे ही सुन्दर दिखता है किन्तु भीतर तो अति अपवित्र है ॥८॥ स्त्रियोका स्वरूप इसी प्रकारका है, यह केवल ऊपरसे चमडेसे ढका हुआ है, जो पुरुष ऐसी स्त्रियोका त्याग करता है उसके निर्मल ब्रह्मचर्य होता है ॥९॥ जो पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन नही करते उनके अत्यन्त दु.ख देनेवाले कास, श्वास, कफ, वायु आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥ स्त्रीसेवनसे कभी तृप्ति नही होती, प्राप्त होनेपर यह अत्यन्त नीरस होता है, अत्यन्त अपवित्र है, अपवित्रता करनेवाला है, निंद्य है, निंद्य क्रियासे उत्पन्न होता है, अशुद्ध स्थानोंमे उत्पन्न होता है, भयानक है, तीव्र दु ख उत्पन्न करनेवाला है, महा मुनिराज

अशुचिस्थानजं घोरं तीव्रदुःखाकरं भुवि । महामुनिजनैस्त्याज्यं सर्पागारमिवानिशम् ॥१२
सेव्यं नीचजनैर्नित्यं पशुभिर्गर्दभादिभिः । आदरेण शठैर्दुष्टैः मन्यमानैरिवामृतम् ॥१३
नार्यङ्गघट्टनोद्भूतं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । दाहकं पापदं दुष्टं पापमूलं घृणास्पदम् ॥१४
बहुदोषसमायुक्तं मैथुनं चिन्तयेत्सदा । ब्रह्मचारी विनिर्मुक्तो दोषैर्ब्रह्मवृषाप्तये ॥१५
स्त्रीणां स्वभावतः काये निन्द्ये जन्तुसमाकुले । जीवोत्पत्तिप्रदेशे च को ज्ञानी रमतेऽशुचौ ॥१६
योनिस्तनप्रदेशेषु हृदि कक्षान्तरेष्वपि । अतिसूक्ष्मा मनुष्याश्च जायन्ते योषितां सदा ॥१७
नवलक्षाङ्गिनोऽत्रैव म्रियन्ते मैथुनेन भो । इत्येवं जिननाथेन प्रोक्तं केवललोचनात् ॥१८
कर्पासेन भृता यद्वान्नालिकानलयोगतः । ज्वलत्येव तथा जीवा म्रियन्ते लिङ्गघट्टनात् ॥१९
मैथुनेन महापापं जायते प्राणिनां ध्रुवम् । जीवघातान्महारागसम्भवात् श्वभ्रसाधकम् ॥२०
वरं हालाहलं भुक्तमङ्गिना न च मैथुनम् । भवैकमृत्युदं संख्याव्यतीतभवदुःखदम् ॥२१
वरमालिङ्गिता क्रुद्धा सर्पिणी फणसयुता । न च स्त्री श्वभ्रगेहस्य प्रतोली भूरिदुःखदा ॥२२
ब्रह्मचारी पुमान् नित्यं त्यजेत्सङ्गं सुयोषिताम् । कलङ्कशङ्कयात्यन्तमहिसङ्गमिवाशुभम् ॥२३
एकत्र वसतिः श्लाघ्या सर्पव्याघ्रारितस्करैः । न च नारीसमीपेऽपि क्षणमेकं कलङ्कवत् ॥२४

दूरसे ही इसका त्याग कर देते है, यह सर्पके घरके समान है, रात्रिमे नीच लोगोके द्वारा सेवन किया जाता है, गधा आदि नीच पशु सदा इसका सेवन करते हैं अथवा दुष्ट मूर्ख इसे अमृत समझकर इसका आदर करते हैं, यह स्त्रियोके शरीरके सघट्टनसे उत्पन्न होता है, नरक तिर्यंच आदि कुगतियोको देनेवाला है, दाह कपा आदि अनेक रोगोको उत्पन्न करनेवाला है, पापकी जड है, अत्यन्त घृणित है, और अनेक दोषोसे भरपूर है। ब्रह्मचारियोको अपने निर्दोष ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये इस स्त्रीसेवनका सदा इसी प्रकार चितवन करते रहना चाहिये ॥११–१५॥ स्त्रियोका शरीर स्वभावसे ही निंद्य है, अनेक जन्तुओसे भरा हुआ है और अनेक जीवोके उत्पन्न होनेका स्थान है ऐसे अपवित्र और अशुद्ध स्त्रियोके शरीरमे भला कौन ज्ञानी प्रेम करेगा ॥१६॥ स्त्रियोकी योनिमे, स्तनोमे, कांखोमे अत्यन्त सूक्ष्म मनुष्य सदा उत्पन्न रहते हैं ॥१७॥ उन जीवो-की सख्या नौ लाख है और वे सब स्त्रीसेवन करनेसे मर जाते है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने अपने केवलज्ञान रूपी नेत्रोसे देखकर बतलाया है ॥१८॥ जिस प्रकार कपास वा रुईसे भरी हुई नाली अग्निके सयोगसे जल जाती है उसी प्रकार स्त्री सेवन करनेसे योनिके सब जीव मर जाते है ॥१९॥ स्त्री सेवन करनेसे अनेक जीवोका घात होता है और नरकमे पहुँचानेवाला महा राग उत्पन्न होता है इसलिये मनुष्योको स्त्री सेवन करनेसे महापाप उत्पन्न होता है ॥२०॥ मनुष्योको हलाहल विष खा लेना अच्छा, परन्तु स्त्री सेवन करना अच्छा नही, क्योकि हलाहल विष खानेसे एक भवमे ही मृत्यु होगी परन्तु स्त्रीसेवन करनेसे असख्यात भवोमे महा दुःख प्राप्त होगा ॥२१॥ फणा निकाले हुए क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिगन कर लेना अच्छा परन्तु महा दुःख देनेवाली और नरकरूपी घरकी देहलीके समान स्त्रीका आलिगन करना अच्छा नही ॥२२॥ जिस प्रकार सर्पिणीकी दुःख देनेवाली सगति अच्छी नही उसी प्रकार ब्रह्मचारियोको कुछ नही तो कलक लगनेकी शकासे ही स्त्रियोकी सगतिका त्याग कर देना चाहिये ॥२३॥ सॉप, वाघ, शत्रु व चोर आदिकोके साथ रहना तो अच्छा परन्तु स्त्रियोके समीप क्षणभर भी रहना अच्छा नही क्योकि स्त्रियोके साथ रहनेमे क्षणभरमे ही कलक लगनेकी शका रहती है ॥२४॥ जिस मकानमे स्त्रियोके

चित्रादिर्निर्मिता नारी यत्र स्यान्मन्दिरेऽशुभा । तत्र स्थातुं न योग्यं च व्रतीना किं तदाश्रिते ॥२५
कलङ्कं लभते पूर्वं दुस्त्यजं योषिताश्रयात् । व्रतिभिव्रतभङ्गं च पश्चात् श्वभ्रगतिप्रदम् ॥२६
वरं सन्मरणं लोके ब्रह्मचर्यसमायुतम् । तद्विना न च जीवानां जीवितव्यमसंख्यश ॥२७
शास्त्रवान् गुणयुक्तोऽपि तपसालङ्कृतो व्रती । ब्रह्मचर्यच्युतो लोके सर्वैर्त्रैवावमन्यते ॥२८
दन्तभग्नो यथा नागो हस्तहीनो भटो नर । दानहीनो गृही नाभाद्ब्रह्मचर्यच्युतो व्रती ॥२९
विध्यापितोऽनलो यद्वल्लभ्यते चापमानताम् । सद्ब्रह्मतेजसा हीनो व्रती लोके च सर्वथा ॥३०
विकलो ब्रह्मचर्येण यो यति. स्वजनादिभि । असत्कारं लभेतात्र किन्न सोऽन्यजनैरपि ॥३१
क्वचित्सर्पारिव्याघ्राणां सङ्गमिच्छन्ति योगिन । न च स्वप्नेऽघभीत्येव ब्रह्मव्रतच्युतात्मनाम् ॥३२
राजादिकजनात्सर्वं वधबन्धसमुच्चयम् । अब्रह्मचारिणो जीवा लभन्तेऽत्र न संशय ॥३३
अमुत्र दुर्गतिं यान्ति ब्रह्मव्रतच्युता शठा । महापापभरेणैव घोरदु खाकुलां ध्रुवम् ॥३४
जीवितव्यं वरं चैकदिनं ब्रह्मव्रतान्वितम् । तद्विना न च पूर्वाणां कोटीकोटीविशेषत ॥३५
ब्रह्मचर्यं परित्यक्तं व्रतिना येन सौख्यदम् । सर्वं व्रतादिकं तेन तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥३६
अब्रह्माज्जायते हिंसा वचोऽसत्य नृणा ध्रुवम् । आकाङ्क्षा च परस्यैव लक्ष्मीरामादिगोचरा ॥३७

चित्र भी हो उस मकानमे भी व्रतियोको रहना ठीक नही है फिर भला जिनमे स्त्रियाँ स्वय रहती हो उनमे तो रहना वहुत ही वुरा है ॥२५॥ व्रतियोको स्त्रियोंके साथ रहनेमे पहिले अमिट कलक लगता है, फिर व्रतभंग होता है और फिर नरकगतिमे महा दु ख भोगने पडते हैं ॥२६॥

ब्रह्मचर्यको पालन करते हुए उस व्रतके साथ श्रेष्ठ मरण कर जाना अच्छा परन्तु ब्रह्मचर्य व्रतके विना असख्यात वर्ष भी जीवित रहना अच्छा नही ॥२७॥ जो कोई मनुष्य अनेक शास्त्रोका जानकार हो, गुणवान हो और तपश्चरणसे सुशोभित हो परन्तु ब्रह्मचर्य पालन न करता हो तो फिर ससारमे उसका कही कोई आदर सत्कार नही करता ॥२८॥ जिस प्रकार विना दाँतोंके हाथी शोभायमान नही होता, विना हाथोंके शूरवीर शोभा नही देता और विना दानके गृहस्थ शोभा नही देता उसी प्रकार ब्रह्मचर्यके विना व्रती मनुष्य भी शोभा नही देता ॥२९॥ जिस प्रकार वुझाया हुआ अग्नि अपमानको प्राप्त होता है, निन्द्य समझा जाता है उसी प्रकार ससारमे ब्रह्मचर्यरूपी तेजसे रहित होनेपर व्रती मनुष्य भी सर्वथा निन्द्य समझा जाता है ॥३०॥ जो ब्रह्मचर्यसे रहित हैं वह घरका स्वामी होकर भी अपने ही कुटुम्वी लोगोसे अपमानित होता है फिर भला वह अन्य लोगोसे अपमानित क्यो न होगा ॥३१॥ कही कहीपर योगीलोग सर्प, शत्रु और वाघ आदिके साथ रहना अच्छा समझते हैं परन्तु पापोसे डरकर ब्रह्मचर्य व्रतको भग करनेवालोंके साथ स्वप्नमे भी रहना स्वीकार नही करते ॥३२॥ ब्रह्मचर्यको भग करनेवाले मनुष्योको इस लोकमे भी राजाकी ओरसे भी वध वन्धन आदिके अनेक दु ख भोगने पडते हैं इसमे कोई सन्देह नही है ॥३३॥ ब्रह्मचर्य को न पालनेवाले महा मूर्ख मनुष्य महा पापके भारसे परलोकमे भी घोर महा दु खोंसे भरे हुए दुर्गतियोंके दु ख भोगते हैं ॥३४॥ ब्रह्मचर्य व्रतके साथ साथ एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परन्तु विना ब्रह्मचर्यके करोडो पूर्वोतक भी जीवित रहना अच्छा नही ॥३५॥ जिस व्रतीने समस्त सुख देनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत छोड दिया उसने समस्त व्रतोको छोड दिया ही समझना चाहिये क्योकि विना ब्रह्मचर्यके कोई व्रत हो ही नहीं सकता ॥३६॥ ब्रह्मचर्यका भग करनेसे हिंसा होती है, झूठ वोलना पडता है और स्त्री आदि पर पदार्थोंकी इच्छा करनी पड़ती है। इस प्रकार उसे सव प्रकार

दिवसेन विना सूर्यो तथा नैवोपलभ्यते । यथा सर्वव्रतं दक्षैर्ब्रह्मचर्यं विना न च ॥३८
सर्वव्रतच्युतं ह्येकं श्लाघ्य ब्रह्मव्रतं भुवि । तद्विना न च सत्पुंसां सर्वं व्रतसमुच्चयम् ॥३९
इति मत्वा जनैर्धीरै ग्राह्यं शीलव्रतं दृढम् । प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं निधानमिव दुर्लभम् ॥४०
धीरैर्वीरैर्नरैर्दक्षैर्ज्ञानिभिर्व्रततत्परै । ब्रह्मचर्यं व्रतं धर्तुं शक्यते न च कातरै ॥४१
बाणवृष्टिसमाकीर्णे रणे तिष्ठन्ति ये भटा. । योषित्कटाक्षसग्रामे न च स्थातु क्षमा हि ते ॥४२
दृश्यन्ते वहव सूरा हस्तिव्याघ्रादिपातने । काममल्लनिपाते ते नैव सन्मुनय परे ॥४३
ब्रह्मव्रतात्मनां पुंसां सिद्ध्यन्त्येव न संशय । महाविद्या समस्तार्थसाधका ज्ञानसम्भवा ॥४४
धन्यास्ते भुवने पूज्या यैरखण्डं व्रतं धृतम् । शील स्वप्नेऽपि न त्यक्तं योषिदादिपरीषहै. ॥४५
इन्द्राद्या. हि सुराः सर्वे शिरसा प्रणमन्ति भो । भक्तिभारेण सन्नम्रा पादौ शीलयुतात्मनाम् ॥४६
शीलव्रतप्रभावेन कम्पयत्यासनानि भो । सुराणा भक्तिनम्राणां किं किं वा नोपजायते ॥४७
ब्रह्मसञ्चेतसा पादौ चक्रवर्त्यादयो गुणात् । नमन्ति भक्तिभारेण का कथान्यनृपेषु च ॥४८
ब्रह्मव्रतफलेनैव स्वर्गं स्यात्स्वगृहाङ्गणम् । महाविभवसम्पन्नं सर्वभोगान्वित नृणाम् ॥४९
शीलव्रतधरा धीरा इन्द्रभूतिं भजन्ति वै । अत्यन्तमहिमोपेता सर्वामरनमस्कृताम् ॥५०

के पाप करने पडते हैं ॥३७॥ जिस प्रकार दिनके विना सूर्य दिखाई नही देता उसी प्रकार चतुर पुरुषोको विना ब्रह्मचर्यके कोई भी व्रत दृष्टिगोचर नही होता ॥३८॥ अन्य सब व्रतोके विना इस ससारमे एक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना सबसे उत्तम है क्योकि विना ब्रह्मचर्यके मनुष्योको कोई व्रत हो ही नही सकता है ॥३९॥ यही समझकर धीरवीर पुरुषोको वडी दृढताके साथ शील-व्रत पालन करना चाहिये और दुर्लभ निधिके समान उसे प्राण नाश होनेपर भी नही छोडना चाहिये ॥४०॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतको धीरवीर ज्ञानी व्रतोके पालन करनेमे सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य ही पालन कर सकते हैं अन्य कातर मनुष्योसे यह कभी पालन नही हो सकता ॥४१॥ जो शूरवीर मनुष्य वाणोकी वर्षासे भरे हुए युद्धमे अचल खडे रहते है वे ही शूरवीर स्त्रियोके कटाक्षो के युद्धमे कभी नही ठहर सकते ॥४२॥ हाथी वाघ और शत्रुओको गिरा देनेवाले बहुतसे शूरवीर देखे जाते है परन्तु कामदेवरूपी मल्लको गिरा देनेवाला कोई भी दिखाई नही देता । काम मल्ल को मारनेवाले केवल उत्तम मुनि ही हैं ॥४३॥ इस ससारमे ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोको ही ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली सब पदार्थोको सिद्ध करनेवाली महाविद्याएँ सिद्ध होती हैं इसमे कोई सन्देह नही है ॥४४॥ ससारमे वे ही मनुष्य धन्य हैं और वे ही मनुष्य तीनो लोकोमे पूज्य है जो वडी दृढताके साथ अखण्ड शीलव्रतका पालन करते है और जो स्त्रियोके द्वारा वा अन्य लोगोके द्वारा घोर उपसर्ग और परीषहोके आ जानेपर भी स्वप्नमे भी उसे नही छोडते ॥४५॥ ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोके चरकमलोको इन्द्र आदि-समस्त देव भी भक्तिके बोझसे नम्र होकर मस्तक झुकाकर नमस्कार करते है ॥४६॥ इस शीलव्रतके प्रभावसे भक्तिसे नम्रीभूत हुए देवोके भी आसन कम्पायमान हो जाते हैं अथवा इस शीलव्रतके प्रभावसे इस ससारमे क्या-क्या महिमा प्राप्त नही होती है अर्थात् सब प्रकारकी महिमा प्राप्त हो जाती है ॥४७॥ ब्रह्मचर्यव्रतको पालन करनेवाले मनुष्योके चरणकमलोको चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी भक्तिके बोझसे दवकर नमस्कार करते हैं फिर भला अन्य राजाओकी तो वात ही क्या है ॥४८॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतके फलसे हो मनुष्योको महा विभूतियोसे सुशोभित स्वर्ग भी अपने घरका आँगन बन जाता है ॥४९॥ शीलव्रत-को धारण करनेवाले धीर पुरुषोको इन्द्रकी भी विभूति प्राप्त होती है जो महा महिमासे सुशोभित

भजन्ति चक्रवर्तित्वं रत्ननिध्यादिसङ्कुलम् । षट्खण्डविभवोपेत ब्रह्मचर्यफलान्नरा ॥५१
प्राप्नुवन्ति जिनेशत्व ब्रह्मरत्नविभूषितम् । चमत्कारकरं लोके वन्द्यं सर्वामरेश्वरै ॥५२
ब्रह्मसिंहासनासीनो यद्यदङ्गी समीहते । तत्तदेव समायाति पुण्याल्लोकत्रयेषु च ॥५३
किमत्र बहुनोक्तेन संसारे यत्सुखं वरम् । ब्रह्मचर्यफलात्तच्च सर्वं सम्प्राप्यते जनै ॥५४
दुर्लभ स्वर्गलोकेऽग्य महाशीलं सुखाकरम् । नराणा सुलभं चात्र तत्कि दक्षैर्न गृह्यते ॥५५
मुक्तिनारी वृणोत्येव शीलाभरणभूषितम् । मुनि रागेण चागत्य का कथा स्वर्गयोषिताम् ॥५६
महारत्नमिवानर्घ्यं प्राप्य शील नरोत्तमा । महायत्नं प्रकुर्वन्ति तद्रक्षादिकहेतवे ॥५७
हावभावविलासाढ्य वस्त्राभरणमण्डितम् । नारीरूपं न पश्यन्ति ब्रह्मरक्षादितत्परा ॥५८
स्त्रीरूपदर्शनाच्चित्त मोमुह्यति न सशय । इति मत्वा न पश्यन्ति तन्नरा चित्तशुद्धये ॥५९
मोदकादिवराहारं दुग्धात्यन्तघृतादिजम् । न चात्ति सबलाहारं ब्रह्मचारी तदाप्तये ॥६०
सबलान्नेन स्यात्पुसा स्वप्ने शुक्रच्युति ध्रुवम् । नार्यादिसङ्गमं प्राप्य भवेद्भङ्गं व्रतस्य भो ॥६१
इति मत्वा त्यजेत्सर्वमाहारं सबल सदा । विषान्नमिव मुञ्चानो तद्व्रताक्षयहेतवे ॥६२
मुखप्रक्षालनैर्नित्य स्नानाञ्जनविभूषणै । गन्धमाल्यादिकैर्भोगैः कोमलै शयनासनै ॥६३

होती है और जिसे सब देव नमस्कार करते हैं ॥५०॥ इस ब्रह्मचर्यके फलसे मनुष्योंको नौ निधि, चौदह रत्न और छहो खण्ड पृथ्वीकी विभूतिसे सुशोभित चक्रवर्तीकी विभूति और उपभोग प्राप्त होते हैं ॥५१॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी रत्नसे सुशोभित होनेवाले मनुष्य तीर्थंकर पदको प्राप्त होते हैं, जो तीनो लोकोमे चमत्कार करनेवाला है और समस्त देवो वा इन्द्रोके द्वारा वन्दनीय है ॥५२॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी सिंहासनपर विराजमान हुआ मनुष्य इस ससारमे जो-जो चाहता है वह चाहे तीनो लोकोमे कही भी क्यो न हो उसके पुण्यके प्रभावसे उसे अवश्य प्राप्त हो जाता है ॥५३॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि ससारमे जो कुछ उत्तम सुख है वह सब ब्रह्मचर्यके फलसे ही मनुष्योंको प्राप्त होता है ॥५४॥ यह सुखकी खानि शीलव्रत स्वर्ग लोकमे भी दुर्लभ है परन्तु इस लोकमे मनुष्योको सुगमतासे प्राप्त हो जाता है इसलिये चतुर पुरुषोको क्या वह स्वीकार नही करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये ॥५५॥ शीलव्रतरूपी आभूषणोसे सुशोभित होनेवाले मुनियोंको मुक्ति स्त्री भी आकर रागपूर्वक स्वय स्वीकार करती है फिर भला स्वर्गकी देवागनाओकी तो बात ही क्या है ॥५६॥ उत्तम पुरुष इस शीलव्रतरूपी बहुमूल्य महारत्नको पाकर उसकी रक्षा करनेके लिये महाप्रयत्न करते है ॥५७॥ इस ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करनेमे तत्पर रहनेवाले मनुष्य हावभाव विलासोमे सुशोभित और वस्त्र व आभूषणोसे विभूषित ऐसे स्त्रीके रूपको कभी नही देखते हैं ॥५८॥ इसमे सन्देह नही कि स्त्रियोका रूप देखनेसे चित्त मोहित हो जाना है यही समझकर उत्तम पुरुष अपने चित्तको शुद्ध रखनेके लिये स्त्रियोंके रूपको कभी नही देखते हैं ॥५९॥ ब्रह्मचारी पुरुष अपना ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये लड्डू आदि अत्यन्त उत्तम पदार्थ, दूध, अधिक घी और पौष्टिक पदार्थ आदिकोको कभी सेवन नही करते हैं ॥६०॥ पौष्टिक आहार करनेसे स्वप्नमे मनुष्योका वीर्य च्युत हो जाता है तथा स्त्रियोका समागम मिलनेपर उसके व्रत (ब्रह्मचर्य) का भग हो जाता है। यही समझकर सम्यग्ज्ञानी पुरुषो को अपने ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण रक्षा करनेके लिये विष मिले हुए अन्नके समान सब प्रकारके पौष्टिक आहारोका त्याग कर देना चाहिये ॥६१–६२॥ ब्रह्मचारी पुरुषोको अपना मुँह धोकर सदा स्नानकर, अंजन लगाकर, आभूषण पहिनकर, सुगन्धित द्रव्य लगाकर, माला, कोमल शय्या,

धौतवस्त्रैस्तथान्यैश्च रागोत्पादककारणै । स्वशरीरस्य सस्कारं ब्रह्मचारी चरेन्न च ॥६४
वपुःसंस्कारयोगेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् । मत्वेति सद्व्रती नैव कुर्यात्स्वाङ्गस्य मण्डनम् ॥६५
हावभावविलासाढ्यां कथां शृङ्गारसंयुताम् । स्त्रीणां रागकरां नैव कुर्याच्छ्रृयान्न सद्यति ॥६६
शृङ्गारकथया रागो जायते ब्रह्मचारिणाम् । ततो नश्येद्व्रतं तस्मात्तां न शृण्वन्ति योगिन ॥६७
पूर्वानुभूतसम्भोगान् न स्मरन्ति जितेन्द्रिया । मनोभङ्गमिवात्यन्तरागदं योगिनिन्दितम् ॥६८
कामवह्निर्ज्वलत्येव पूर्वभोगानुचिन्तनात् । ज्ञात्वेति व्रतिनो भोगं चिन्तयन्ति न पूर्वजम् ॥६९
नार्या समं न कुर्वन्ति हास्यवार्तादिजल्पनम् । गोष्ठी-वासं क्वचित्प्रीतिं व्रतिनश्चित्तशुद्धये ॥७०
स्त्रीसंयुक्तालये नैव कुर्यात्सच्छयनाशनम् । स्थितिं वा क्षणमेक हि व्रती पापादिशङ्कया ॥७१
सर्पादिसंयुते गेहे केचित्तिष्ठन्ति धीधनाः । न पुनर्योषिदागारे महानिन्द्ये कलङ्कदे ॥७२
नष्टा ये मुनय पूर्वं सङ्गमासाद्य योषिताम् । केवलं श्रूयते दक्षै. कथा तेषा श्रुतार्णवे ॥७३
तपत्येव यथा नीरमग्निना भाजनाश्रितम् । पुसा चित्तं तथा रामाश्रयसञ्जातवह्निना ॥७४
दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं स्त्रीमुखे स्वल्पचेतसाम् । पश्चाद्भवन्ति सङ्कल्पा तस्या. सङ्गमहेतवे ॥७५
ततो विजृम्भते कामदाहः सर्वाङ्गतापनः । तेन सम्पीडितो जीवस्त्यजेल्लज्जाभिमानताम् ॥७६

कोमल आसन, धुले हुए वस्त्र, तथा और भी राग उत्पन्न करनेवाले भोगोपभोगोसे अपने शरीरका सस्कार नही करना चाहिये ॥६३–६४॥ अपने शरीरका सस्कार करनेसे कामाग्नि प्रगट हो जाती है यही समझकर उत्तम ब्रह्मचारियोको अपने शरीरका सस्कार कभी नही करना चाहिये ॥६५॥ ब्रह्मचारियोको हावभाव विलासोंसे भरी हुई, शृंगारको बढानेवाली और स्त्रियोमे राग उत्पन्न करनेवाली कथाएँ न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये ॥६६॥ शृंगारकी कथाएँ कहने सुननेसे ब्रह्मचारियोको राग उत्पन्न होता है और राग उत्पन्न होनेसे उनका व्रत नष्ट होता है इसलिये ब्रह्मचारी लोग ऐसी कथाएँ कभी नही सुनते है ॥६७॥ इसी प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष पहिले भोगे हुए भोगोका स्मरण भी कभी नही करते हैं क्योकि उनका स्मरण करनेसे मनकी स्थिरता नष्ट हो जाती है और मनकी स्थिरता नष्ट होनेके साथ साथ योगियोके द्वारा निन्दा करने योग्य ऐसा अत्यन्त राग उत्पन्न होता है ॥६८॥ पहिले भोगे हुए भोगोको स्मरण करनेसे कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है इसलिये व्रती लोग पहिले भोगे हुए भोगोको कभी स्मरण नही करते हैं ॥६९॥ व्रती लोग अपना चित्त शुद्ध करनेके लिये स्त्रियोके साथ न तो कभी हँसी करते हैं न उनके साथ वात करते हैं न कथा वार्ता करते है न गोष्ठी-वास (एक साथ बैठना, उठना, चलना आदि) करते है और न उनके साथ प्रेम करते हैं ॥७०॥ ब्रह्मचारी व्रती केवल पापोकी शका से ही जिस घरमे स्त्रियाँ रहती हैं, उसमे न तो सोते है, न बैठते है और न क्षणभर वहाँ रहते हैं ॥७१॥ कोई कोई बुद्धिमान् साप आदि भयानक जन्तुओसे भरे हुए घरमे ठहर सकते है परन्तु महा निन्द्य और कलक उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोके घरमे कभी नही ठहरते ॥७२॥ पहिले समयमे जो मुनि स्त्रियोकी सगति पाकर नष्ट हो गये है उनकी कथा चतुर पुरुष शास्त्रोमे सुनते ही है ॥७३॥ जिस प्रकार अग्निके सम्बन्धसे बर्तनमे रक्खा हुआ जल भी गर्म हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियोके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे मनुष्योका हृदय भी तप जाता है ॥७४॥ पहिले तो स्त्रियोमे थोडेसे चित्तसे (ऊपरी मनसे) दृष्टिपात होता है अर्थात् मन स्त्रियोंके देखनेमे लगता है, फिर उनके समागमके लिये मनमे सकल्प होता है । तदनन्तर हृदयमे समस्त शरीरको सन्तप्त करनेवाली कामकी जलन उत्पन्न होती है, उस जलनसे पीड़ित होकर यह जीव लज्जा और

तत कामाग्निना तप्त एकान्ते प्राप्य सुन्दरीम् । निमज्जति व्रतं त्यक्त्वा सर्वं तत्कायकर्दमे ॥७७
ततो भस्मीभवत्येव तपोज्ञानव्रतादिकम् । कीर्तिपूजाभिमानं च तस्य कामादिसेवया ॥७८
एवं दोषं परिज्ञाय स्त्रीजात व्रतभङ्गदम् । रामासङ्ग त्यजेद्धीमान् यथा दृष्टिविषामहीम् ॥७९
हस्तपादविहीना च नासिकाकर्णवर्जिताम् । कुरूपा दूरतो नारीं वर्जयेन्मुनिनायकः ॥८०
अग्निज्वालोपमा नारी नवनीतसमो नर । तिष्ठतः कथमेकत्र तावनर्थं विना नृणाम् ॥८१
मन शुद्धं भवेत्तेषां तपोज्ञानयमादिकम् । निर्विघ्नेन व्रतं सर्वं स्त्रीसङ्गं न भजन्ति ये ॥८२
इति मत्वा बुधैस्त्याज्यं नारीसङ्ग कलङ्कदम् । स्वप्नेऽप्वपि न कर्तव्यं चेहामुत्रादि दु खदम् ॥८३

कायवाक्चित्तयोगं च स्थिर कृत्वा भजेत्तप ।
त्यक्त्वा स्त्रीसङ्गमं यो ना तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥८४

धन्यास्ते भुवने पूज्या ब्रह्मचर्यं चरन्ति ये । उन्मत्तयौवने हत्वा कामारिं च तपोऽसिना ॥८५
जन्मेह सफलं तेषां शीलरत्नं सुदुर्लभम् । नार्यादितस्करैर्येषा स्वप्नेऽपि न हृतं क्वचित् ॥८६
ब्रह्मचर्यमहं मन्ये तेषा यैर्यौवनान्वितै. । रुद्धै रामादिभिस्त्यक्तं न च प्राणात्ययेऽपि भो ॥८७
यौवनेन्धनसंयोगाद्रामावातप्रप्रेरणात् । सबलाहारतैलेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् ॥८८

अभिमान सबको छोड़ देता है। फिर कामाग्निसे सन्तप्त होकर और किसी सुन्दरीको एकान्तमे पाकर सब व्रतोको छोडकर पाप कर्ममे डूब जाता है ॥७५–७७॥ तदनन्तर कामसेवन करनेसे उसका तप, ज्ञान, व्रत, कीर्ति, बडप्पन, अभिमान आदि सब जलकर भस्म हो जाता है ॥७८॥ इस प्रकार व्रतोको भग करनेवाले स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए दोषोको समझकर बुद्धिमानोको जिसके देखने मात्रसे विष चढकर मनुष्य मर जाता है ऐसी दृष्टिविष सर्पिणीके समान स्त्रियोंके समागम का त्याग कर देना चाहिये ॥७९॥ जिस प्रकार हाथ पैर रहित और नाक कान रहित कुरूपा स्त्रीको छोड़ देते हैं उसी प्रकार व्रतियोको दूरसे ही स्त्रियोका त्याग कर देना चाहिये ॥८०॥ संसारमे अग्निकी ज्वालाके समान स्त्रियाँ समझी जाती हैं और मनुष्योका मन मक्खनके समान समझा जाता है फिर भला वे दोनो एक स्थानमे मिल जानेपर विना अनर्थ किये किस प्रकार रह सकते हैं ॥८१॥ जो पुरुष इस लोक परलोक दोनो लोकोमे दु ख देनेवाले स्त्रियोंके स्मरणको स्वप्नमे भी नही करते हैं संसारमे उन्हीका मन शुद्ध हो सकता है और तप, ज्ञान, यम, नियम आदि सब कुछ उन्हीका पल सकता है जो स्त्रीका सगम नही करते हैं, उन्हीके सर्व व्रत निर्विघ्न पलते हैं ऐसा समझकर ज्ञानी जनोको कलक देनेवाला नारी-सग छोड़ना चाहिये ॥८२–८३॥ जो पुरुष स्त्रियोंके समागमको छोड़कर मन, वचन, काय तीनो योगोको स्थिर कर तप करता है संसारमे उसीके व्रत निर्मल रीतिसे पल सकते हैं ॥८४॥

जो पुरुष उन्मत्त करनेवाली यौवन अवस्थामे तपश्चरण रूपी तलवारसे कामरूपी शत्रुको मारकर ब्रह्मचर्यको पालन करते हैं ससारमे वे ही पुरुष धन्य कहलाते हैं और तीनो लोकोमे वे ही पुरुष पूज्य गिने जाते हैं ॥८५॥ जिनका अत्यन्त दुर्लभ शीलरूपी रत्न स्त्री आदि चोरोंने कही स्वप्नमे भी हरण नही किया उन्हीका जन्म इस ससारमे सफल माना जाता है ॥८६॥ जिन्होंने यौवन अवस्थामे अनेक स्त्रियोंसे घिरे रहनेपर भी और प्राण नाश होनेपर भी अपना ब्रह्मचर्य नही छोडा है उन्हींके ब्रह्मचर्यको मैं वास्तविक ब्रह्मचर्य मानता हूँ ॥८७॥ यौवनरूपी ईंधनके सयोगसे तथा स्त्रीरूपी वायुकी प्रेरणासे और पौष्टिक आहाररूपी तैलसे यह कामरूपी अग्नि

तस्यैव शमने धीरैः शीलनीरं प्रकीर्तितम् । न चान्यद्भुवने वामसेवनादिकमेव हि ॥८९
योषित्सेवादिभिर्योऽधीः कामाग्निं हन्तुमिच्छति । स मूढश्च महाज्वालां घृतेनैव कुबुद्धित ॥९०
इति मत्वा मन' कृत्वा नि शेषविषयच्युतम् । पालयध्वं बुधा ब्रह्मचर्यं सद्यौवने सदा ॥९१
आलोक्य पलित केशं स्वमूर्ध्नि योऽतिलोलुप. । कामसेवां त्यजेन्नैव वञ्चितो विधिना शठ ॥९२
वृद्धत्वे विषयासक्ता ये न मुञ्चन्ति दुर्धिय । मण्डला इव ते मृत्वा यान्ति पापात्कुदुर्गतिम् ॥९३
यो वृद्धो मृत्युपर्यन्तं भार्यासेवा करोति सः । यमेन नीयमानोऽतिदु खी स्यादतिचौरवत् ॥९४
इति मत्वा गृहस्थैश्च ग्राह्य सङ्गतयौवने । पलिते ब्रह्मचर्यं तत् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९५

सकलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतुं भवजलनिधिपोतं दु खसन्तापदूरम् ।
दुरितवनमहाग्निं धर्मरत्नादिगेहं भज दृढतरशक्त्या ब्रह्मचर्यं स्वसिद्धचै ॥९६

संसाराम्बुधितारकां सुखकरां स्वर्मोक्षसोपानतां श्वभ्रद्वारदृढार्गलां शुभप्रदां सेव्यां जिनाधीश्वरैः ।
पूज्यां चेन्द्रपुरस्सरैः सुरगणैः सन्मानदानादिदां सारां सर्वगुणाकरां भज सदा त्वं ब्रह्मसद्देवताम् ॥९७
ब्रह्मचर्यं समाख्याय प्रारम्भरहितां वराम् । अष्टमी प्रतिमा वक्ष्ये सवरादिकहेतवे ॥९८

प्रगट होती है उस अग्निको बुझानेके लिये धीरवीर पुरुषोने शीलरूपी पानी ही बतलाया है, स्त्रियोंके सेवन करने आदि अन्य कार्योंसे वह अग्नि कभी नही बुझ सकती ॥८८–८९॥ जो मूर्ख स्त्रियोंके सेवन करने आदि कार्योसे कामरूपी अग्निको बुझाना चाहता है वह मूर्ख अपनी कुबुद्धिके कारण घीसे अग्निकी भारी ज्वालाको बुझाना चाहता है ॥९०॥ यही समझकर हे विद्वानो ! अपने मनमे समस्त विषयोको त्यागकर यौवन अवस्थामे भी पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करो ॥९१॥ जो मनुष्य कामसेवनमे अत्यन्त लोलुपी होता हुआ अपने मस्तकपर सफेद बालोको देखकर भी (बूढा होकर भी) कामसेवनका त्याग नही करता वह मूर्ख अपने भाग्यसे ठगा जाता है ॥९२॥ दुर्बुद्धिको धारण करनेवाले जो मूर्ख वृद्धावस्थामे भी विषयोकी आसक्तता नही छोडते वे पापकर्मके उदयसे कुत्तेके समान मरकर अनेक दुर्गतियोमे परिभ्रमण करते हैं ॥९३॥ जो बूढा होकर भी मृत्युपर्यन्त स्त्रीका सेवन करता है वह जिस समय यमराजके द्वारा पकडा जाता है—मरता है उस समय वह महाचोरके समान अत्यन्त दु खी होता है ॥९४॥ यही समझकर गृहस्थोको यौवन अवस्थामे स्त्रीको स्वीकार करना चाहिये और वृद्धावस्थामे बाल सफेद होनेपर स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ॥९५॥ यह ब्रह्मचर्य समस्त गुणो-की निधि है, स्वर्ग मोक्षका अद्वितीय कारण है, ससाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाज है, दु ख और सन्तापको दूर करनेवाला है, पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है और धर्मरूपी रत्नोका घर है इसलिये हे भव्य ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अत्यन्त सुदृढ शक्तिसे इस ब्रह्मचर्यका पालन कर ॥९६॥ यह ब्रह्मचर्य एक उत्तम देवता है, यह ससाररूपी महासागरसे पार कर देनेवाला है, नरकके द्वारको बन्द करनेके लिये अत्यन्त मजबूत अर्गल वा बेडा है, पुण्य बढानेवाला है, श्री तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते है, इन्द्रादिक समस्त देव इसकी पूजा करते है यह अत्यन्त आदर सत्कार देनेवाला है, सबमे सार है और समस्त गुणोकी खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस ब्रह्मचर्यरूपी देवताकी सदा आराधना कर ॥९७॥ इस प्रकार सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण कर अब कर्मोंका सवर वा निर्जरा करनेके लिये आरम्भ त्याग नामकी आठवी प्रतिमाका निरूपण करते है ॥९८॥ जो पुरुष मन, वचन,

सर्वारम्भं त्यजेद्यस्तु षड्जीवादिविराधकम् । त्रिशुद्धचा जायते तस्य प्रतिमा स्वष्टमी शुभा ॥९९
धर्मध्यानेन शास्त्रादिपठनेन सदा च य । स्वकाल गमयेद्धीमान् सोऽग्रणी व्रतिना मत. ॥१००
आरम्भाज्जायते हिंसा प्राणिना दु खदायिका । तया सञ्जायते पापं चतुर्गतिनिबन्धनम् ॥१०१
तेन ससारकान्तारे दु खव्याघ्रादिसङ्कुले । भ्रमत्येव न सन्देहो जीवो दु खेन पूरित ॥१०२
इति मत्वा सदारम्भ घोरं प्राघनिबन्धनम् । त्यक्त्वा धर्मं भजेद्दक्षो हिंसात्यक्तं गुणाकरम् ॥१०३
पृथिवीखनन नीरारम्भं वस्त्रादिधोवनम् । दीपादिज्वालनं निन्द्यं वातादिकरणं तथा ॥१०४
वनस्पत्यादिसंछेदं धान्यादिबीजमर्दनम् । द्वित्रीन्द्रियादिजन्तूना बाधन ताडनादिकम् ॥१०५
मनोवचनकायेन कारितादिभिरञ्जसा । नैव कुर्याद् व्रती नित्यं प्रारम्भपरिहानये ॥१०६
रथाद्यारोहणं निन्द्यं स्थूलजीवविघातकम् । प्राणान्तेऽपि न कर्तव्यं त्यक्तारम्भै कदाचन ॥१०७
वाणिज्यादिमहारम्भ विवाहादिकमञ्जसा । गेहादिकरणे दक्षैस्त्याज्यं च कृपया सदा ॥१०८
यत्किञ्चिच्च गृहारम्भं जन्तुहिंसाकर त्रिधा । त्यक्त्वा धर्मं चरेद्यस्तु तस्य स्यादिदमद व्रतम् ॥१०९
चतुर्गतिकरं पापखानि श्वभ्रादिसाधकम् । स्वर्गगृहकपाट च रोगक्लेशभयादिदम् ॥११०
जीवघातकर दु खमूलं स्वस्य परस्य च । धर्मशत्रुं परित्यक्तं दक्षैर्धीरैर्मुनीश्वरै ॥१११

कायमे छहो कायके जीवोका नाग करनेवाले मव तरहके आरम्भोका त्याग करता है उसके पुण्य बढानेवाली आठवी प्रतिमा होती है ॥९९॥ जो बुद्धिमान धर्मध्यान धारण कर और अनेक शास्त्रोका पठनकर सदा अपना समय व्यतीत करता है वह व्रत पालन करनेवालोमें सबसे मुख्य गिना जाता है ॥१००॥ आरम्भ करनेसे अनेक जीवोको दु ख देनेवाली हिंसा होती है, उस हिंसासे चारो गतियोका कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस पापसे अत्यन्त दु खी हुआ वह जीव दु खरूपी सिंह बाघोंसे भरे हुए इस ससाररूपी वनमे सदा परिभ्रमण किया करता है इसमे कोई सन्देह नही है ॥१०१–१०२॥ यही समझ कर चतुर पुरुषोको महापापका कारण ऐसे घोर आरम्भका त्यागकर हिंसासे सर्वथा रहित और अनेक गुणोकी खानि ऐसे धर्मका सेवन करना चाहिए ॥१०३॥ आरम्भ त्याग प्रतिमाको धारण करनेवाले धीरवीर व्रती पुरुषोको अपने आरम्भका त्याग करनेके लिये मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे पृथ्वी खोदना, कपडे धोना, दीपक मसाल आदिका जलाना, वायु करना, वनस्पतियोको तोड़ना, काटना, छेदना, गेहूँ, जौ आदि बीजोको कूटना, पीसना, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पचेन्द्रिय आदि जीवोको बाधा पहुँचाना वा उनकी ताडना करना आदि निंद्य आरम्भोका बहुत शीघ्र त्याग कर देना चाहिए ॥१०४–१०६॥ आरम्भ त्याग प्रतिमा धारण करनेवाले व्रतियोको प्राण नष्ट होनेपर भी स्थूल जीवोकी हिंसा करनेवाले और निंद्य ऐसे रथ आदि सवारियोपर चढकर कभी नही चलना चाहिए ॥१०७॥ आरम्भ त्यागी चतुर पुरुषोको दया धारण कर व्यापार आदिके महारम्भ, विवाहादिक कार्य और घर बनाना आदि आरम्भके कार्योका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥१०८॥ जो पुरुष जीवोकी हिंसा करनेवाले घर सम्बन्धी सब तरहके आरम्भोका मन, वचन, कायसे त्याग कर धर्मसेवन करता है उसके आरम्भ त्याग नामका यह व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥१०९॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ चारो गतियोमे परिभ्रमण करानेवाला है, पापकी खानि है, नरकका मुख्य कारण है, स्वर्गरूपी घरको बन्द कर देनेके लिये किवाड है, रोग क्लेश, भय आदिको देनेवाला है, अनेक जीवोका घातक है, अपने और दूसरोके लिए दु खकी जड है, धर्मका शत्रु है,

असत्यादिसमुद्रं च गृहारम्भं सुदुस्त्यजम् । त्यजेत्सन्तोषतो योऽत्र गच्छेत्सोऽप्यव्ययं पदम् ॥११२
सर्वारम्भं परित्यज्य तप स्वल्पं करोति य । इहाऽमुत्र भजेत्सोऽपि वृहत्सौख्यं त्रिलोकजम् ॥११३
आरम्भेन समं कुर्यात्तपो दुस्तरमेव य । गजस्नानमिवेह स्यात्तस्य कर्मक्षयो न हि ॥११४
पापारम्भं त्यजेद्यस्तु व्रताय सर्वशक्तित । प्राप्य षोडशम नाकं क्रमाद्याति शिवालयम् ॥११५
मन्येऽहं सफलं जन्म तस्य येन विवर्जित । गृहारम्भो जिनैर्निन्द्यस्तेन भूरपि भूषिता ॥११६
यो वर्जयेद्गृहारम्भं तस्य स्यात्पापसवर । पूर्वाघनिर्जरा मुक्तिरप्यायाति स्वयं च तम् ॥११७
इति ज्ञात्वा सदा त्याज्य सर्वारम्भो व्रतान्वितै । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य स्वस्य स्वर्मुक्तिहेतवे ॥११८

विबुधजनविनिन्द्यं पापसन्तापखानिं विषमनरकमार्गं तस्करं धर्मगेहे ।
सकलगुणवनाग्निं स्वर्गमोक्षैकशत्रुं निखिलमपि त्यज त्वं नित्यमारम्भमेव ॥११९
अखिलसुजनसेव्यं धर्मपीयूषकूपं दुरिततरुकुठारं नाकदानैकदक्षम् ।
सकलगुणसमुद्रं मुक्तिदं सौख्यधाम व्रतमपि भज सारं सर्वथारम्भमुक्तम् ॥१२०

अष्टमी प्रतिमां पूर्वं व्याख्याय नवमीं वराम् । वक्ष्येऽहं प्रतिमा मुक्त्यै त्यक्तसङ्गा सुपुण्यदाम् ॥१२१
क्षेत्रवास्तुधन धान्यं सेवकं च चतुष्पदम् । आसनं शयनं कुप्यं भाण्डं सर्वाशुभाकरम् ॥१२२

धीरवीर चतुर मुनियोके द्वारा त्याग करने योग्य है, झूठ चोरी आदि पापोका सागर है और वडी कठिनतासे त्याग किया जाता है। जो पुरुष सन्तोष धारण कर इसका त्याग करता है वह अवश्य ही मोक्षस्थानको प्राप्त करता है ॥११०–११२॥ जो मनुष्य सब तरहके आरम्भोका त्यागकर थोडा भी तप करता है, वह इस लोक तथा परलोक दोनो लोकोमे तीनो लोकोमे उत्पन्न हुए समस्त महासुखोको प्राप्त होता है ॥११३॥ जो पुरुष आरम्भोके साथ-साथ तप करता है उसका वह तप करना हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है उस तपसे उसके कर्म कभी नष्ट नही हो सकते ॥११४॥ जो पुरुष अपने व्रत पालन करनेके लिए अपनी सब शक्ति लगाकर पापरूप आरम्भोका त्याग करता है वह सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥११५॥ जिसने समस्त पापोकी निर्जरासे रहित ऐसे आरम्भका त्याग कर दिया है मै उसीके जन्मको सफल मानता हूँ और यह पृथ्वी भी उससे भूषित होती है ॥११६॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ अत्यन्त निन्द्य है। जो इस आरम्भका त्याग करता है उसीके नवीन पापका सवर होता है, पूर्ववद्ध पापकर्मकी निर्जरा होती है और मुक्ति उसके समीप स्वयं आती है ॥११७॥ यही समझकर व्रती पुरुपोको स्वय स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपनी पूर्ण शक्तिको प्रगट कर सब तरहके आरम्भोका सदाके लिए त्याग कर देना चाहिए ॥११८॥ यह आरम्भ विद्वानोके द्वारा निन्द्य है, पाप और सन्तापकी खानि है, भयकर नरकका मार्ग है, धर्मरूपी घरका चोर है, समस्त गुणोके वनको जलानेके लिए अग्नि है और स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय शत्रु है इसलिए हे भव्य ! तू इस सव तरहके आरम्भका सदाके लिए त्याग कर ॥११९॥ यह आरम्भ त्याग नामकी आठवी प्रतिमाका व्रत समस्त सज्जनोके द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्मरूपी अमृतका कूँआ है, पापरूपी वृक्षके लिये कुठार है, स्वर्ग देनेके लिए अत्यन्त समर्थ है, सव गुणोका समुद्र है, मुक्तिको देनेवाला है और सुखोका घर है। इसलिए हे भव्य ! तू इस आरम्भ त्याग नामके व्रतको अर्थात् आठवी प्रतिमाको अवश्य धारण कर ॥१२०॥ इस प्रकार आठवी प्रतिमाका स्वरूप वर्णन कर अब मोक्ष प्राप्त करनेके लिए पुण्य वढानेवाली परीग्रहत्याग नामकी नौवी प्रतिमाको कहते हैं ॥१२१॥ जो पुरुष क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दास, पशु, आसन, शयन, कुप्य, भाँड इन सब पाप वढानेवाले दस प्रकारके परिग्रहोमेसे केवल वस्त्रोको

इत्येवं दशभेदं य सङ्गं वस्त्रं विना त्यजेत् । हत्वा स्वमनसो मूर्च्छा नवमीं प्रतिमां श्रयेत् ॥१२३
सर्वं परिग्रहं योऽपि पीत्वा सन्तोषजामृतम् । त्यजेन्न प्रत्यहं तस्य सुखमत्रैव स्वात्मजम् ॥१२४
कामोद्रेकोऽतिमाया च लोभक्रोधोऽतिदुस्सहम् । मनोद्वेषश्च रागश्च चिन्ताशोकभयादिकम् ॥१२५
आशा तन्नाशतो दु खं मानभङ्गो नृणां भुवि । रूप्यहेमादिकाद् द्रव्यादसत्यं जायते वचः ॥१२६
इति मत्वा न संग्राह्यं कृष्णाहिमिव तद्धनम् । स्वप्नेऽपि धर्मसिद्ध्यर्थं क्वचित्सद्व्रतधारिभि ॥१२७
वस्त्रा नैव समादेयं रागदं वहमूल्यजम् । वीतरागं परित्यज्य दक्षैश्चिन्तादिकारकम् ॥१२८
व्रतहीनो नरो नैव रक्षणीय कदाचन । स्वपार्श्वे व्रतसयुक्तैं शुश्रूषादिकहेतवे ॥१२९
मठादिक न च ग्राह्यं स्वस्याधिष्टानकारणम् । हिंसादिकरमप्युच्चैं. ममत्वादिप्रदं बुधैः ॥१३०
चतुष्पदं न चादेयं जीवघातकरं सदा । भाजनं रागसंयुक्तं पापदं व्रततत्परैं ॥१३१
यत्किञ्चिन्मुनिना निन्द्यं सद्व्रतादिमलप्रदम् । तत्सर्वं नाश्रयेत्सङ्गं विषान्नमिव सद्व्रती ॥१३२
द्रव्यादिकं परित्यक्तुं योऽक्षमो नात्र लोभत. । स क्लीव. कथमग्रेति कर्मसैन्यं हनिष्यति ॥१३३
य. परित्यज्य सङ्गं न मुक्तिमिच्छति मन्दधी. । स पङ्गु प्रस्खलन्मार्गे कथं मेरुं च लङ्घयेत् ॥१३४
सङ्गेन सह ये मोक्षं वाञ्छन्ति विधिवञ्चिता । खपुष्पैरिह ग्रन्थन्ति ते वन्ध्यासुतशेखरम् ॥१३५

छोडकर तथा अपने मनकी इच्छाको रोककर वाकीके सव परिग्रहोका त्याग कर देता है उसके नौवी प्रतिमा कही जाती है ॥१२२-१२३॥ जो मनुष्य सन्तोषरूपी अमृतको पीकर सव तरहके परिग्रहोका त्याग कर देता है उसके इस लोकमे भी आत्मासे उत्पन्न हुआ अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥१२४॥ सोना चादी आदि धनके होनेसे कामका उद्रेक, माया, लोभ, क्रोध, असह्य मनका द्वेष, राग, चिन्ता, शोक, भय, आशा आदि सव विकार उत्पन्न होते है, झूठ वोलना पडता है तथा उसके नाश होनेसे मनुष्योको वडा भारी दु ख होता है, और मान भग होता है। यही समझकर व्रत धारण करनेवालोको अपना धर्म सिद्ध करनेके लिये काली सर्पिणीके समान इस धनको स्वप्नमे भी ग्रहण नही करना चाहिये ॥१२५-१२७॥ इस नौंवी प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोको वीतरागताको सूचित करनेवाले, वस्त्रोको छोड़कर अन्य चिन्ता उत्पन्न करनेवाले, रोग उत्पन्न करनेवाले अधिक मूल्यके वस्त्र कभी ग्रहण नही करने चाहिये ॥१२८॥

व्रती मनुष्योको अपनी सेवा चाकरी करनेके लिये अपने पासमे अव्रती मनुष्य कभी नही रखना चाहिये ॥१२९॥ विद्वान् त्यागियोको अपने रहनेके लिये अत्यन्त ममता उत्पन्न करनेवाला और महा हिंसा करनेवाला मठ आदि कभी ग्रहण नही करना चाहिये ॥१३०॥ इसी प्रकार व्रती मनुष्योको अनेक जीवोकी हिंसा करनेवाले हिंसाके पात्र, पाप वढानेवाले और राग उत्पन्न करनेवाले गाय, घोडा आदि पशु भी नही रखने चाहिये ॥१३१॥ ससारमे जो जो परिग्रह मनुष्योंके द्वारा निन्द्य गिने जाते हैं, और जो व्रतोमे दोष उत्पन्न करनेवाले है वे सव परिग्रह विष मिले हुए अन्नके समान व्रती लोगोको छोड देने चाहिए ॥१३२॥ जो मनुष्य लोभके कारण सोना, चाँदी आदि धनको छोड नही सकता वह पुरुष पुरुष नही नपुसक है, ऐसा नपुंसक मनुष्य आगे चलकर कर्मरूपी सेनाको किस प्रकार नष्ट कर सकता है ॥१३३॥ जो मनुष्य परिग्रहोका त्याग किये विना ही मोक्षकी इच्छा करता है वह मूर्ख है। भला जो लगडा मार्गमे गिरता पड़ता हुआ चलता है वह मेरुपर्वतको किस प्रकार उल्लघन कर सकता है ॥१३४॥ जो भाग्यहीन मनुष्य परिग्रहके साथ-साथ मोक्षकी इच्छा करते हैं वे आकाशके फूलोंसे वन्ध्यापुत्रका मुकुट वनाना चाहते हैं ॥१३५॥

परिग्रहवतां पुसां शुद्धि स्वप्नेऽपि दुर्घटा । मनसो ध्यानसिद्धयर्थं पापहीना गुणाकरा ॥१३६
सङ्गत्यागो जिनैरुक्तो मन शुद्धयर्थमञ्जसा । नृणा तस्यापरित्यागाद्व्रतं स्यात्तुषखण्डनम् ॥१३७
दृषन्नावसमारूढो यथा मज्जति नाऽर्णवे । तथा च सङ्गभारेण व्रती संसारसागरे ॥१३८
एवं दोषं परिज्ञाय सङ्गं यो वर्जयेत्सुधी । मुक्तिश्री स्वयमायाति घर्मात्स्वर्गश्रिया समम् ॥१३९
मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्या सा निधनं गता । द्रव्यादिष्वत्र तेनैव भूषिता पृथिवी गुणात् ॥१४०
द्रव्यादिके समादत्ते सन्तोषं यो नरोत्तम । त सुसम्पत्समायाति सर्वलोकत्रये स्थिता ॥१४१
शक्रत्वं चक्रवर्तित्वं गणेशत्वं जिनेशिता । भवत्येव न सन्देह सन्तोषाद् व्रतिनां शुभात् ॥१४२
ये लोभं वर्जयन्त्येव धनादौ तेऽतिलोभिन । स्युरत्रामुत्र स्वर्गादिमुक्तिपर्यन्तसौख्यके ॥१४३
लभ्यतेऽत्र यथा लोके ख्यातिपूजादिकं नरै । निस्पृहत्वेन तद्वच्च परत्र सुखमञ्जसा ॥१४४
निस्पृहत्वेन स्याच्चित्तशुद्धिर्ध्यानं पुनस्तया । ध्यानात्कर्मक्षयस्तस्मान्मुक्तिरेव न संशय ॥१४५
तत्रानन्तसुखं सारं नित्यं त्यक्तोपमं वुधै । प्राप्यते विषयातीतं स्वात्मजं परमं वरम् ॥१४६
इत्येवं च परिज्ञाय गुणं सन्तोषजं वुधा । हत्वा लोभं दुरायं तं कुरुध्वं भो सदा बलात् ॥१४७

अखिलगुणनिधानं धर्मसत्त्वैर्निषेव्य सकलसुखसमुद्र मुक्तिसन्दानदक्षम् ।
निखिलभुवनपूज्यं दुखचिन्तादिदूरं भज विमलगुणाप्त्यै त्यक्तसङ्गं व्रतं त्वम् ॥१४८

जो मनुष्य परिग्रह रखते हैं उनके ध्यान सिद्ध होनेके लिए समस्त पापोसे रहित और गुणोकी खानि ऐसी मनकी शुद्धि होना अत्यन्त कठिन है ॥१३६॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने परिग्रहोका त्याग मनुष्योका मन शुद्ध करनेके लिये वतलाया है, तथा परिग्रहोका त्याग किये विना व्रतोका पालन करना (नौवी प्रतिमा धारण करना) छिलके कूटनेके समान है—अर्थात् छिलके कूटनेसे जैसे चावल नही निकलते उसी प्रकार परिग्रहोका त्याग किए विना यह प्रतिमा हो नही सकती ॥१३७॥ जिस प्रकार पत्थरकी नाव पर वैठा हुआ मनुष्य अवश्य ही समुद्रमे डूवता है उसी प्रकार व्रती मनुष्य भी परिग्रहके भारसे इस ससार-सागरमे अवश्य डूवता है ॥१३८॥ इस प्रकार परिग्रहके दोपोको समझकर जो वुद्धिमान् इन परिग्रहोका त्याग कर देता है उसके पास स्वर्गरूपी लक्ष्मीके साथ-साथ मुक्तिरूपी लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१३९॥ इस ससारमे जिसकी इच्छा धनादिकसे नष्ट हो जाती है, ससारमे मै उसीको पुण्यवान मानता हूँ और उसीसे ये पृथिवीके सव गुण सुशोभित होते है ॥१४०॥ जो उत्तम मनुष्य धनादिकमे सन्तोप धारण करता है उसके पास तीनो लोकोमे रहनेवाली सव लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१४१॥ सन्तोष धारण करनेसे व्रती पुरुषोको पुण्य-कर्मके उदयसे इन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थंकर आदिके समस्त उत्तम पद प्राप्त होते हैं इसमे कोई सन्देह नही ॥१४२॥ जो पुरुप इस लोकमे धनादिसे अपना लोभ छोड देते हैं वे परलोकमे स्वर्ग मोक्षतकके सुख प्राप्त करते हैं ॥१४३॥ निर्लोभी मनुष्य जिस प्रकार इस लोकमे यश, वडप्पन आदि प्राप्त करते है उसी प्रकार उन्हे परलोकमें भी अनेक प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥१४४॥ लोभका त्याग करनेसे मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे ध्यान होता है, ध्यानसे कर्म नष्ट होते हैं और कर्म नष्ट होनेसे मोक्ष प्राप्त होती है इसमे कोई सन्देह नही। तथा मोक्षमे विद्वानोको समस्त विपयोसे रहित, ससारमे अन्य कोई जिसकी उपमा नही ऐसा आत्मासे उत्पन्न हुआ परमोत्तम सारभूत अनन्त सुख सदा प्राप्त होता रहता है ॥१४५-१४६॥ विद्वानोको सन्तोषके इस प्रकार गुण जानकर पाप उत्पन्न करनेवाला लोभ छोड देना चाहिए और परिग्रह त्याग नामका व्रत धारण करना चाहिए ॥१४७॥ यह परिग्रह त्याग नामका व्रत समस्त गुणोकी निधि है, धर्मात्मा

अन्तातीतगुणप्रदं सुविमलं स्वर्मुक्तिसम्पादकं
धर्म्यध्याननिबन्धनं शुभनगारामं सुरैः पूजितम् ।
चिन्तात्यक्तसुखास्पदं बुधजनै. सेव्यं प्रणीतं जिनै
भो हिंसादिविवर्जितं भज सदा त्वं त्यक्तसङ्गं व्रतम् ॥१४९

षष्ठ्यादि नव पर्यन्तं प्रतिमा योऽत्र पालयेत् । त्रिशुद्धया स जिनैरुक्तो मध्यम. श्रावको भुवि ॥१५०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे ब्रह्मचर्यादिप्रतिमानवप्ररूपको नाम त्रयोविंशतितम परिच्छेदः ॥२३॥



लोगोके द्वारा धारण किया जाता है, समस्त सुखोका सागर है, मोक्ष प्राप्त करानेमे चतुर है, समस्त ससारमे पूज्य है और दु ख चिन्ता आदिसे दूर है, इसलिए हे भव्य ! निर्मल गुणोको प्राप्त करनेके लिये तू इस परिग्रह त्याग व्रतको (नौवी प्रतिमाको) अवश्य धारण कर ॥१४८॥ यह परिग्रह त्याग व्रत अनन्त गुणोको देनेवाला है, अत्यन्त निर्मल है, स्वर्ग मोक्षमे पहुँचा देनेवाला है, धर्म-ध्यानका कारण है, पुण्यरूपी वृक्षोके लिये बाग है, देवोके द्वारा पूज्य है, चिन्ता आदि दोषोसे रहित है, सुखका घर है, विद्वानोके द्वारा सेवा करने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है और हिंसादि पापोसे सर्वथा रहित है । हे भव्य ! ऐसे इस परिग्रह त्याग व्रतको तू सदा धारण कर ॥१४९॥ जो पुरुष मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक दर्शन प्रतिमासे लेकर परिग्रह त्याग नामकी नौवी प्रतिमा तक नौ प्रतिमाओका पालन करते हैं वे इस ससारमें श्री जिनेन्द्रदेवके द्वारा मध्यम श्रावक कहे जाते हैं ॥१५०॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग प्रतिमाओका निरूपण करनेवाला यह तेईसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२३॥



चौबीसवाँ परिच्छेद

महावीरं जगत्पूज्यं कर्मशत्रुविनाशकम् । भव्यपद्माकरे सूर्यं वन्दे सिद्धचै गुणार्णवम् ॥१
सङ्गत्यागं समाख्याय पापानुमतिवर्जनम् । व्रतं वक्ष्ये समासेन सर्वसावद्यशान्तये ॥२
आरम्भे गृहकर्मादौ कृष्यादिकरणे तथा । वाणिज्यादौ विवाहादौ कार्येऽन्यस्मिन् तथाविधौ ॥३
यो धत्तेऽनुमतिं नैव पापभीतो दयापर. । प्रतिमा दशमीं सोऽपि श्रयेत्पुण्यकरां वराम् ॥४
मन सङ्कल्पतो लोके पापं सञ्जायते नृणाम् । विना प्रयोजनं घोरं श्वभ्रतिर्यग्निबन्धनम् ॥५
उत्पद्यते क्वचित्पापं कायेन वचसा तथा । चित्तप्रचलतो लोके पुसा घोरं निरन्तरम् ॥६
अहोरात्रौ मन पापं तनोति निग्रहं विना । अनुमत्यादियोगेन महासावद्यकर्मणा ॥७
य करोति गृहारम्भं यो धत्तेऽनुमतिं शठ । द्वयोरपि समं पापं प्रोक्तं श्रीजिनस्वामिना ॥८
शालिशिक्थाख्यमत्स्योऽगात्स्वयंभूरमणार्णवे । महामत्स्यस्य पापेन श्वभ्रं स्वस्य विकल्पत ॥९
इति मत्वा सुधीर्नित्यं न धत्तेऽनुमतिं क्वचित् । हिंसारम्भादिसङ्कार्ये पापभीतो व्रतैर्युत ॥१०
नीरसे सरसे वापि स्वान्यस्य गृहसम्भवे । आहारे विविधे ज्ञानी कुर्यान्नानुमतिं व्रती ॥११
दक्षैराहारमादेयं कृतादिकविवर्जितम् । हत्वा रागं यथालब्धं स्वगृहे वा परगृहे ॥१२
सर्वेषु गृहकार्येषु यः सङ्कल्पं निवारयेत् । न तस्याशुभकर्मादिबन्ध स्याद्धि क्वचित्क्षणे ॥१३

जो श्री वर्द्धमानस्वामी जगतपूज्य हैं, भव्यरूपी कमलोके लिए सूर्य हैं और गुणोके समुद्र हैं ऐसे श्री महावीरस्वामीको मैं सिद्धपद प्राप्त करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपर लिखे अनुसार परिग्रह त्याग प्रतिमाका निरूपण कर अब समस्त पापोको शान्त करनेके लिए सक्षेपसे पापरूप अनुमतिका त्याग करने रूप अनुमति त्याग नामकी दशवी प्रतिमाको कहते है ॥२॥ जो दयालु मनुष्य पापोसे डरकर किसी आरम्भमे, घरके काममे, खेती करनेमे, व्यापारमे, विवाहादि कार्योंमे तथा और भी ऐसे ही कार्योंमे अपनी सम्मति नही देता है उसके पुण्य बढानेवाली दशवी उत्तम प्रतिमा होती है ॥३–४॥ ससारमे मनके सकल्प करने मात्रसे मनुष्योको विना ही प्रयोजन-के नरक तिर्यञ्च गतिका कारण ऐसा घोर पाप उत्पन्न होता है ॥५॥ शरीरसे और वचनसे तो कभी-कभी पाप होता है परन्तु ससारमे मनकी प्रवलतासे मनुष्योको निरन्तर घोर पाप लगता रहता हैं ॥६॥ विना वश किया हुआ यह मन महापापरूप कार्योंमे सम्मति देकर रात्रि दिन पाप करता रहता है ॥७॥ जो मूर्ख घरके आरम्भ करता है और जो उसमे सम्मति देता है उन दोनोको एकसा पाप लगता है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥८॥ स्वयभूरमणसमुद्रमे जो तन्दुल मत्स्य है वह महामत्स्यके पापोका सकल्प करनेसे ही नरकमे जाकर पडता है ॥९॥ यही समझकर व्रती बुद्धिमानोको पापोसे डरकर हिंसा आदि पापरूप कार्योंमे तथा धनमे अपनी सम्मति कभी नही देनी चाहिए ॥१०॥ व्रती श्रावकको अपने वा दूसरेके घर नीरस व सरस अनेक प्रकारके आहारमे जान-बूझकर कभी सम्मति नही देनी चाहिये ॥११॥ चतुर व्रतियोको राग छोडकर अपने घर वा दूसरेके घर जहाँ कही कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोसे रहित आहार मिल जाय वही कर लेना चाहिए ॥१२॥ जो व्रती घर सम्बन्धी समस्त कार्योंमे अपनी सम्मति देनेका त्याग कर देता है उसके किसी समयमे भी अशुभ कर्मोका वन्ध नही होता

चित्तं विनिर्जितं येन नि सङ्कल्पासिना वलात् । तस्य समीहितं सिद्धं सर्वं मुक्त्यादि कारणम् ॥१४
ये हत्वा मानसं ध्यानखड्गेनेहाति निस्पृहा । तिष्ठन्ति विगतारम्भा धन्यास्ते भुवनत्रये ॥१५
जितं स्वमानसं येन तेन चेन्द्रियसञ्चयम् । कर्मजालं महापुण्यं ननु प्राप्तं सुखाकरम् ॥१६
पापानुमतित्यागाच्च चक्रेशत्वं सुरेशताम् । अमुत्र तीर्थनाथत्वं प्राप्यते च व्रतान्वितैः ॥१७
जन्मेह सफलं तस्य मन्येऽहं येन संस्कृतम् । स्वचित्तं स्ववशे हत्वा सङ्कल्पादिकदम्बकम् ॥१८
किमत्र वहुनोक्तेन यैस्त्यक्तानुमतिस्त्रिधा । पूज्यास्ते महतां लोके परत्र विहितोद्यमे. ॥१९

सुगतिगमनमार्गं मुक्तिसोपानपङ्क्ति दुरितगहनवह्नि धर्मरत्नादिभाण्डम् ।
रहितसकलपापं सव्रत कर्मशत्रुमनुमतिरहितं स्वस्यात्मशुद्ध्यै भज त्वम् ॥२०

इदानीं सम्प्रवक्ष्येऽहमुद्दिष्टाहारवर्जनीम् । व्याख्याय प्रतिमां पूर्वं दशमीं धर्महेतवे ॥२१
गृहस्य. प्राप्य वैराग्यं देहभोगभवादिषु । त्यक्त्वा गृहं कुटुम्वं च प्रागाद्यो मुनिसन्निधिम् ॥२२
आराध्य मुनिसत्पादौ शक्रभूपेन्द्रपूजितौ । गृहीत्वा क्षुल्लकीं दीक्षां खण्डवस्त्रसमन्विताम् ॥२३
गुरुपार्श्वे स्थितो नित्यं सोऽत्ति भिक्षा परगृहात् । उद्दिष्टवर्जिताख्यैकां दशमीं प्रतिमां भजेत् ॥२४
मस्तके मुण्डनं लोच' कर्तनं वा समाचरेत् । द्वित्रिभिर्वा चतुर्मासैर्व्रती सद्व्रतसंयुतः ॥२५

है ॥१३॥ किसी प्रकारका सँकल्प न करनेरूप तलवारके वलसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है, उसके मोक्षके कारणकी प्राप्ति होना आदि सव मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं ॥१४॥ जो व्रती ध्यानरूपी तलवारसे अपने चचल मनको वश कर तथा अत्यन्त निस्पृह होकर समस्त आरम्भोका त्याग कर रहते हैं, किसीमे अपनी सम्मति नहीं देते वे मनुष्य तीन लोकोमे धन्य गिने जाते हैं ॥१५॥ जिसने अपना मन जीत लिया उसने समस्त इन्द्रियोको जीत लिया और कर्मोके समूहको जीत लिया तथा सुखकी खानि ऐसा महापुण्य उसने प्राप्त कर लिया ॥१६॥ इस दशवी प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोको पापरूप सम्मतिके त्याग कर देनेसे परलोकमे चक्रवर्ती, इन्द्र और तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥१७॥ जिसने अपने मनके सकल्प विकल्पोंके समूहको नाश कर अपना चित्त वशमे कर लिया है मैं इस ससारमे उसीका जन्म सफल मानता हूँ ॥१८॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होने अपना पूर्ण उद्योग कर मन, वचन, कायसे सम्मति देनेका त्याग कर दिया है वही मनुष्य परलोकमे पूज्य और महापुरुष होता है ॥१९॥ हे भव्य ! यह अनुमतित्याग व्रत शुभ गतियोमे जानेका मार्ग है, मोक्ष महलकी सीढियोकी पक्ति है, पापरूपी वनको जला देनेके लिए अग्नि है, धर्मरूपी रत्नोका पिटारा है, समस्त पापोंसे रहित है और कर्मोका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! तू अपने अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये इस अनुमति त्याग नामके व्रतको अवश्य धारण कर ॥२०॥

इस प्रकार दशवी प्रतिमाका वर्णन कर अव धर्मके लिए उद्दिष्टाहार त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥२१॥ जो गृहस्थ संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर तथा घर और कुटुम्वका त्याग कर मुनिराजके समीप जाता है, तथा वहाँ जाकर इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके द्वारा पूज्य ऐसे मुनिराजके चरणकमलोका आराधन कर और खण्ड वस्त्र धारण कर क्षुल्लककी दीक्षा धारण करता है, सदा मुनिराजके समीप रहता है और भिक्षा भोजन करता है उसके उद्दिष्ट त्याग नामकी ग्यारहवी प्रतिमा होती है ॥२२–२४॥ अपने व्रतोको पालन करनेवाले क्षुल्लक श्रावकको दो तीन अथवा चार महीने वाद अपने मस्तकको मुड़वा डालना

न केशधारणं कुर्यात्स्नानं च व्रततत्पर । यूकादिभयतो रागपापहिंसादिकारणम् ॥२६
लोच प्रकल्पते नित्यं वैराग्यादिविवर्द्धकः । धीराणां त्यक्तलोभोऽपि कातराणां स्ववीर्यद ॥२७
संस्तरे कोमले नैव रागयुक्ते भजेत्क्वचित् । कामादिभयतोऽघाद्वा शयनं ब्रह्मरक्षक ॥२८
विधत्ते शयनं योऽत्र कोमले संस्तरे बुध । मन्मथादिभयात्तस्य ब्रह्मचर्यं पलायते ॥२९
वरं सद्व्रतिनां शस्त्रादिकेषु शयनं न च । तूलिकादिषु सरागपापकामादिहेतुषु ॥३०
कदोपवेशनं नैव कर्तव्य गद्यकादिषु । ब्रह्मव्रतधरैस्तस्य रागद्वेषसुखादिकैः ॥३१
आसनं ये प्रकुर्वन्ति गद्यकादिषु कोमले । कुतो ब्रह्मव्रत तेषा स्वात्मसुखरतात्मनाम् ॥३२
शौचार्थं संगृहीतव्यो निष्पाप सत्कमण्डलुः । वीतरागपरित्यक्तभय सद्ब्रह्मचारिभि ॥३३
सद्धात्वादिसमुत्पन्न संकीर्णमुख एव स । अदृष्टमध्ये·देशे न ग्राह्यो दक्षैर्भयप्रद ॥३४
ततो वृहन्मुखो योग्यः स्वल्पमूल्यो कमण्डलु' । प्रासुको भयसंत्यक्तो ग्राह्यो हिंसादिवर्जित ॥३५
कोपीनं खण्डवस्त्रं च गृहीतव्य व्रतान्वितै । अल्पमूल्यं परैर्दत्तं त्यक्तरागभयादिकम् ॥३६
वृहद्वस्त्रं न चादेयं दक्षैरत्यन्तमूल्यजम् । प्राणान्ते पापसरागचिन्ताशोकभयादिदम् ॥३७
गृह्णन्ति सुन्दरं वस्त्रं ये लोभेन कुमार्गगा. । नश्येद्धर्म्यादिसद्ध्यानं तेषां नाशादिसम्भयात् ॥३८

चाहिये वा कैंचीसे कतरवा डालना चाहिये अथवा लोच कर देना चाहिये ॥२५॥ व्रत पालन करनेमे तत्पर रहनेवाले क्षुल्लक श्रावकको लिख जूँ आदि पडनेके डरसे बाल नही रखना चाहिए और राग पाप वा हिंसा होनेके डरसे स्नान नही करना चाहिए ॥२६॥ केशोका लोच करना वैराग्यको वढानेवाला है, धीरवीर पुरुषोको लोभका त्याग करनेवाला है और कातर जीवोको अपनी शक्ति वढानेवाला है। इसलिये सदा लोच करना ही अच्छा है ॥२७॥ ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाले व्रती क्षुल्लकोको राग बढानेवाले कोमल विछौनेपर कभी नही सोना चाहिए अथवा कामोद्वेग होनेके डरसे वा पाप उत्पन्न होनेके डरसे ऐसे विछौनेपर कभी नही सोना चाहिए ॥२८॥ जो विद्वान् व्रती कोमल विछौनेपर सोता है उसका ब्रह्मचर्य कामदेवके डरसे दूर भाग जाता है ॥२९॥ व्रती क्षुल्लकोको शस्त्रोपर सो जाना अच्छा परन्तु राग बढानेवाले, पाप तथा कामको उत्पन्न करनेवाले ऐसे रुई आदिके विछौनेपर सोना अच्छा नही ॥३०॥ राग द्वेष और सुखका त्याग कर देनेवाले ब्रह्मचारी व्रतियोको गद्दा आदि कोमल आसनोपर कभी नही बैठना चाहिए ॥३१॥ अपने आत्माको सुखमे तल्लीन कर देनेवाले जो व्रती गद्दा आदि कोमल आसनोपर बैठते हैं उनके ब्रह्मचर्यव्रत किस प्रकार पल सकता है ? अर्थात् कभी नही ॥३२॥ ब्रह्मचारी क्षुल्लकोको शौचके लिये पापरहित, वीतरागरूप, और सब तरहके भयोसे रहित ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिए ॥३३॥ जो अच्छी (अधिक मूल्यकी) धातुओसे बना हो, जिसका मुँह छोटा हो, और जिसका मध्यदेश दिखाई न पडता हो ऐसा भय उत्पन्न करनेवाला कमण्डलु वा बर्तन चतुर व्रतियोको कभी नही लेना चाहिए ॥३४॥ इसलिए जिसका मुँह बडा हो, जो योग्य हो, थोडे मूल्यका हो, प्रासुक हो, जिसके रखनेमे किसी तरहका भय न हो और जिससे वा जिसके निमित्त किसी तरहकी हिंसा न होती हो ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिए ॥३५॥ व्रती क्षुल्लकोको कौपीन और खण्ड वस्त्र रखना चाहिए और वह ऐसा रखना चाहिए जिसके रखनेमे न तो राग हो न किसी तरहका भय हो, जो थोडे मूल्यका हो और दूसरेके द्वारा दिया गया हो ॥३६॥ चतुर क्षुल्लकोको प्राण नाश होनेपर भी अधिक मूल्यका और बडा वस्त्र कभी ग्रहण नही करना चाहिए क्योकि ऐसा वस्त्र पाप राग चिन्ता शोक और भय आदि अनेक विकार व पाप उत्पन्न करनेवाला

क्षालितव्यं न तद्वस्त्रं पापभीतैर्व्रतात्मजैः । अप्रासुकजलेनैव जन्तुसङ्घातघातनात् ॥३९
जीवयुक्तजलेनैव ये वस्त्रं क्षालयन्ति भो । अहिंसाख्यं व्रत तेषां नश्येज्जन्तुविघातनात् ॥४०
भिक्षार्थं भाजनं स्वल्पं ग्राह्यं चौरभयातिगम् । विरागं त्यक्तसन्मानरक्षाचिन्तादिक नरैः ॥४१
स्थाल्यादिकं महामूल्यं नादेयं व्रतधारिभि । रागद्वेषमहाचिन्ताभयशोकादिसद्गृहम् ॥४२
द्रव्याढ्यभाजनान्न स्याद्धर्मध्यानं व्रतादिकम् । चौरादिग्रहणात्पुंसा चार्तध्यानं प्रजायते ॥४३
इति मत्वा न तद्ग्राह्यं धर्मध्यानादितत्परैः । वीतरागं परित्यज्य शङ्काचिन्ताकरं क्वचित् ॥४४
योग्यकाले तदादाय मुहूर्ते सप्तसङ्गते । दिने परिग्रहे योग्ये भिक्षार्थं सम्भ्रमेत् व्रती ॥४५
न शीघ्रं गमनं चैव कुर्यान्मन्द न सद्यति । विलम्बितं न सन्मार्गे स्थित्वा नैव प्रजल्पनम् ॥४६
निरीक्ष्य यत्नतो भूमि चतुर्हस्तप्रमाणकम् । नयनाभ्यां न्यसेत्पादं सर्वसत्त्वदयापरः ॥४७
वैराग्यं भावयन् गच्छेत् देहभोगभवादिषु । सद्गृहं त्यक्तसन्दोषं भिक्षान्वेषणतत्परः ॥४८
श्रीहीनोऽय धनाढ्योऽय चेति चिन्ता परित्यजेत् । विशेदनुक्रमेणैव गृहपङ्क्ति स संयमी ॥४९
गृहद्वारं समासाद्य प्राप्य भिक्षां न वा तत । लाभालाभेन सन्तुष्टो विशेदन्यगृहं पुनः ॥५०

है ॥३७॥ जो कुमार्गगामी पुरुष लोभके कारण सुन्दर वस्त्रोंको ग्रहण करता है उनके उस वस्त्रके चले जाने आदिका सदा भय लगा रहनेके कारण धर्मध्यान आदि सब नष्ट हो जाता है ॥३८॥ व्रती क्षुल्लकोंको पापके डरसे अप्रासुक जलसे कभी उन वस्त्रोंको नही धोना चाहिए क्योंकि उन वस्त्रोंके धोनेमे अनेक जीवोंकी हिंसा होगी ॥३९॥

जो व्रती अप्रासुक जलसे ही अपने वस्त्रोंको धो डालते हैं उनके अनेक जीवोंकी हिंसा होनेसे अहिंसाव्रत कभी नही पल सकता ॥४०॥ व्रती क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये एक छोटासा पात्र रखना चाहिये और वह ऐसा होना चाहिये जिसके रखनेमे चोरी आदिका डर न हो, जो वीतराग रूप हो और जिसके रखनेमे अपनी मान मर्यादा व रक्षा करनेकी चिन्ता आदि न करनी पड़े ॥४१॥ व्रती क्षुल्लकोंको अधिक मूल्यकी थाली आदि कभी नही रखना चाहिए क्योंकि ऐसे पात्रोंके रखनेमे राग, द्वेष, चिन्ता, भय, शोक आदि सब विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥४२॥ बहुमूल्यके पात्र रखनेमे धर्मध्यान नही हो सकता और न व्रत ही पल सकते हैं तथा उसके चोरी चले जानेसे मनुष्यके आर्तध्यान उत्पन्न होता है ॥४३॥ यही समझकर धर्मध्यानादिकमे तत्पर रहनेवाले क्षुल्लकोंको बहुमूल्यके और बडे पात्र कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये । उनको वीतरागताको सूचित करनेवाला और जो शंका चिन्ता आदि न करनेवाला हो ऐसा छोटा पात्र ही रखना चाहिए ॥४४॥ उस पात्रको लेकर सात मुहूर्त दिन चढ जानेपर योग्य समयमे क्षुल्लक व्रतीको योग्य भिक्षाके लिए चर्या करनी चाहिए ॥४५॥ क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये न तो शीघ्र गमन करना चाहिए न धीरे-धीरे चलना चाहिए न देर करके जाना चाहिये और न मार्गमे खडे होकर कुछ बातचीत करनी चाहिए ॥४६॥ सब जीवोंपर दया करनेवाले क्षुल्लकोंको अपने दोनो नेत्रोंसे चार हाथ भूमि देखकर यत्नाचार पूर्वक पैर रखना चाहिए ॥४७॥ भिक्षाके लिये चर्या करनेवाले क्षुल्लकको ससार शरीर और भोगोंमे वैराग्य धारण करते हुए निर्दोष श्रेष्ठ घरमे प्रवेश करना चाहिए ॥४८॥ यह घर गरीबका है वा धनीका है ऐसा विचार संयमीको कभी नही करना चाहिये । तथा उसे घरकी पक्तियोंमे अनुक्रमसे ही प्रवेश करना चाहिए बीचमे किसी घरको छोडना नही चाहिए ॥४९॥ सयमीको घरके दरवाजे तक जाना चाहिए, यदि भिक्षा मिल जाय तो ले लेना

अनग्निपक्वमाहारं बीजकन्दफलादिकम् । पत्र-पुष्पादिकं नैव निन्द्यं गृह्णाति सद्व्रती ॥५१
आहारं न समादेयं यद् रात्र्येकद्विसस्थितम् । स्वस्वादचलितं जन्तुयुक्तं सद्ब्रह्मचारिणा ॥५२
न ग्राह्यं व्रतिना निन्द्यं प्राहारं मोदकादिकम् । कामाग्निदीपकं तीव्रं विषान्नमिव सर्वथा ॥५३
लम्पटत्वं भजेज्जिह्वा येन कामोत्कटो भवेत् । तत्त्याज्यं यतिना वान्नं दुग्धादिरससंयुतम् ॥५४
पश्चादेकगृहे स्थित्वा प्राप्तिभिक्षां तथाविधाम् । क्षुधारोगशमार्थं च जिह्वानिग्रहतत्पर ॥५५
रूक्षं स्निग्धं तथा शीतमुष्ण वा लवणान्वितम् । त्यक्तसल्लवणं वापि त्यक्तस्वादुं यथागतम् ॥५६
रात्रौ स्थितं न चादेयं तक्रं जीवसमाकुलम् । संयतैर्दधिपापादिभीतै सावद्यकारणम् ॥५७
आमिष रुधिरं चर्म वास्थि मद्यं वधोऽङ्गिन । प्रत्याख्यानं स्वभुक्तेरन्तरायं सप्तधा भवेत् ॥५८
यः पश्यति पलं कुर्वन्भोजनं स व्रती स्वयम् । अन्तराय भजेत्सोऽपि भोजनस्य स्ववीर्यदम् ॥५९
पश्येद्यो रुधिरस्यैव चतुरङ्गुलसम्मितम् । धारा भुक्त्वान्वितस्तस्य प्रान्तराय प्रजायते ॥६०
पश्येद्यद्यार्द्रचर्माशु शुष्कं यो वा स्पृशेत्क्वचित् । भोजने चागतं चास्थि सोऽन्तरायं भजेद्यमी ॥६१
मद्यधारां समालोक्य त्यजेदाहारमञ्जसा । वधं च द्वीन्द्रियादीनां घृततक्रादिके व्रती ॥६२
अन्तरायो भवेन्नृणां त्यक्तवस्त्वादिभक्षणात् । व्रतादिभङ्गतश्चापि पापसङ्गादिहेतुत ॥६३

चाहिए। यदि न मिले तो दूसरे घरमे जाना चाहिए। भिक्षाके मिलने न मिलने दोनोमे सन्तोप धारण करना चाहिए ॥५०॥ व्रती क्षुल्लकोको अग्निपर विना पकाया हुआ आहार, बीज, कन्द, फल, पत्र, पुष्प, आदि निन्द्य आहार कभी नही लेना चाहिए ॥५१॥ जो आहार एक या दो रात्रिका रखा हुआ हो, अपने स्वादसे चलित हो गया हो, और जिसमे जीव हो ऐसा आहार ब्रह्मचारी क्षुल्लकोको कभी नही लेना चाहिए ॥५२॥ जो आहार कामाग्निको वढानेवाला है और जो तीव्र है, ऐसे लड्डू आदि निन्द्य आहार विषमिले अन्नके समान क्षुल्लकोको सर्वथा नही लेना चाहिए ॥५३॥ जिससे जिह्वामे लम्पटता आ जाय और जो कामको उत्तेजित करनेवाला हो ऐसा दूध आदिसे मिला हुआ अन्न व्रती क्षुल्लकोको त्याग कर देना चाहिए ॥५४॥ तदनन्तर क्षुधा रोगसे असमर्थ हुए उस क्षुल्लकको किसी एक घरमे वैठकर वह भिक्षामे प्राप्त हुआ भोजन खा लेना चाहिए। उस समय उसे अपनी जिह्वा इन्द्रिय वशमे कर लेनी चाहिए और रूखा चिकना, ठडा गर्म, नमकीन विना नमकका स्वाद रहित जैसा कुछ आ गया है वैसा सव भोजन उसे कर लेना चाहिए ॥५५–५६॥ पापसे डरनेवाले व्रती क्षुल्लकोको अनेक पापोका कारण और अनेक जन्तुओसे भरा हुआ ऐसा रात्रिका रक्खा हुआ दही अथवा छाछ कभी नही लेना चाहिए ॥५७॥ मास, रुधिर, चर्म, हड्डी, मद्य, जीवोका वध और त्याग किया हुआ पदार्थ ये सात प्रकारके भोजनके अन्तराय गिने जाते हैं, क्षुल्लकोको इनको टालकर भोजन करना चाहिए ॥५८॥ जो व्रती भोजन करता हुआ मासको देख लेता है उसके शक्तिको वढानेवाला भोजनका अन्तराय गिना जाता हैं ॥५९॥ जो व्रती भोजन करता हुआ चार अँगुल प्रमाण रुधिरकी धाराको देख लेता है उसके भी भोजनका अन्तराय समझा जाता है ॥६०॥ यदि भोजन करता हुआ व्रती गीले चमडेको देख ले अथवा सूखे चमडेसे उसका स्पर्श हो जाय वा किसी कारणसे भोजनमे हड्डी आ जाय तो वह भी भोजनका अन्तराय माना जाता है ॥६१॥ व्रतियोको मद्यकी धारा देखकर आहार छोड देना चाहिए और घी अथवा छाछ आदिमे दो इन्द्रिय आदि जीवोका घात हो गया तो भी आहार छोड देना चाहिए ॥६२॥ त्याग किये हुए पदार्थोका भक्षण कर लेनेसे व्रतोका भग होता है इसलिए

विनान्तरायं न स्तोकं प्रान्नं त्याज्यं क्वचिन्न वै । हिंसादिविरतैर्दक्षैर्यतो हिंसा प्रवर्तते ॥६४
यद्यागतोऽत्र वै कोऽपि प्रान्तराय स्वभोजने । तदा स्वान्न प्रभुक्तं वा न भुक्तं वा त्यजेद्यतिः ॥६५
तत प्रासुकनीरेण विधायाचमनं व्रती । प्रक्षाल्य भाजन प्रायात् सद्गुरो' निकटं द्रुतम् ॥६६
गुरुं प्रणम्य सङ्ग्राह्यं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् । तन्मुखाद्व्रतिना धर्मध्यानसंयुक्तचेतसा ॥६७
एवं सदा प्रकर्तव्यं भिक्षाहार व्रतोचितम् । यावज्जीवं प्रयत्नेन निष्पापाहारभोगिना ॥६८
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य तप कुर्याद् द्विषड्विधम् । सदोपवासभेदादिसम्भवं कर्मघातकम् ॥६९
षष्ठाष्टमादिसञ्जातं सोपानं स्वर्गधामनि । मुक्तेर्वशीकरं घोर संसाराम्बुधितारकम् ॥७०
शक्रचक्रेशतीर्थेशपदादिप्रापणे क्षमम् । सर्वशक्त्या करोत्येव तप. कर्मादिशङ्किता ॥७१
कृत्वा बहूपवास च न ग्राह्य पारणादिके । अघ कर्मभवाहारं पापदं व्रतधारिभि ॥७२
वर प्रत्यहमाहारं नि सावद्यं यथोचितम् । न च मासोपवासादिपारणे दोषसंयुतम् ॥७३
यथोक्तव्यवहारस्य शुद्धि सद्गृहमेधिनाम् । यतीना च तथा सा हि भिक्षाशुद्धिरुदाहृता ॥७४
बहूपवासं मौन च स्थानं वीरासनादिकम् । सदोषाहारिणा सर्वं व्यर्थं स्याद्विषदुग्धवत् ॥७५
अहिंसाख्य व्रतं मूलं व्रतानां मुक्तिसाधकम् । नश्येत् षड्जीवघातेन सदोषाहारग्राहिणाम् ॥७६

व्रती मनुष्योके लिये यह भी भोजनका अन्तराय माना जाता है ॥६३॥ हिंसाका त्याग करनेवाले चतुर पुरुषोको विना अन्तरायके थोडासा भी अन्न नही छोडना चाहिए, सब खा लेना चाहिए क्योकि अन्नके छोडनेसे हिंसाकी प्रवृत्ति होती है ॥६४॥ यदि भोजनमे कोई अन्तराय आ जाय तो चाहे वह भोजन खाया हो, वा न खाया हो, उद्दिष्ट त्यागीको वह अवश्य छोड देना चाहिए ॥६५॥ तदनन्तर व्रती श्रावकको (उद्दिष्ट त्यागीको) प्रासुक जलसे आचमन (कुल्ला) कर लेना चाहिए और फिर अपना पात्र धोकर शीघ्र ही अपने गुरुके समीप चले जाना चाहिए ॥६६॥ गुरुको नमस्कार कर अपने हृदयको धर्म ध्यानमे तल्लीन करनेवाले व्रतीको उनके मुखसे ही चारो प्रकारका प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए ॥६७॥ इस प्रकार पापरहित आहारकी प्रवृत्ति करनेवाले व्रती त्यागीको अपने जीवनपर्यन्त प्रयत्नपूर्वक सदा इसी प्रकार आहार ग्रहण करना चाहिए ॥६८॥

व्रती त्यागियोको अपनी शक्तिको प्रगट कर अनशन आदि वारह प्रकारका तप करना चाहिए तथा वेला तेला आदि भी करना चाहिये । ससारमे यह तप ही स्वर्गरूपी महलकी सीढी है, मुक्तिको वश करनेवाला है, अत्यन्त कठिन है, ससाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, तथा इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके पद देनेवाला है । इसलिए कर्मोसे डरनेवाले त्यागियोको ऐसा तपश्चरण अवश्य करना चाहिए ॥६९–७१॥ व्रती त्यागियोको अनेक उपवास करके भी पारणाके दिन नीच वा निन्द्य क्रियाओसे उत्पन्न हुआ और पाप बढानेवाला आहार कभी नही लेना चाहिए ॥७२॥ यथायोग्य और निर्दोष आहार प्रतिदिन ग्रहण करना अच्छा परन्तु एक महीनाके उपवासके बाद किये हुए पारणाके दिन सदोप आहार ग्रहण करना अच्छा नही ॥७३॥ जिस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करनेवाले सद्गृहस्थोकी शुद्धि बतलाई है उसी प्रकार क्षुल्लक वा मुनियो-की भी भिक्षा शुद्धि कही गई है ॥७४॥ जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते है उनके विषमिले दूधके समान अनेक उपवास, मौन, और वीरासन आदि स्थान सब व्यर्थ हैं ॥७५॥ समस्त व्रतोमे अहिंसाव्रत ही प्रधान है, यह व्रत सब व्रतोकी जड़ है और मोक्षका साधक है, वही अहिंसाव्रत सदोष आहार ग्रहण करनेवालोके नही हो सकता क्योकि सदोष आहार ग्रहण करनेसे छहो कायके

षडङ्गिवधिकानां च सावद्याहारसेविनाम् । कथं स्यादशनं लोके संवेगं चाङ्गिवाधनात् ॥७७
सदोषान्नरतो याति गृहस्थत्वं यति कुधी । हिंसयोभयभ्रष्टत्व वा दानादिकवर्जनात् ॥७८
गृहस्थत्वं परित्यज्य दीक्षामादाय योऽधमः । सदोषमत्ति प्राहारं तस्य दीक्षा वृथा भवेत् ॥७९
पापासनं महानिन्द्य यो जिह्वालम्पटोऽस्ति ना । तस्येह जायते लोके कुकीर्तिर्जन्तुघातनात् ॥८०
न स्यात्सुखममुत्रापि निर्दयान्वितचेतसाम् । भूरिदु ख भवेन्नूनं पापदुर्गतिज घनम् ॥८१
अच्यँ वरं गृहस्थत्वं यतित्वं न कलङ्कितम् । इन्द्रियाहारदोषैश्च रागद्वेषादिकैर्नृणाम् ॥८२
श्रेष्ठं हालाहलं भुक्तं यत्सकृत्प्राणनाशनम् । सदोषान्नं पुनर्नैव संसाराम्बुधिपातनम् ॥८३
इति मत्वा सदा त्याज्यं दोषाढ्यं प्रान्नमञ्जसा । अखाद्यमिव नादेय प्राणान्तेऽपि व्रतान्वितै. ॥८४
निर्दोषाहारिणा सर्वं तपोव्रतयमादिकम् । भवेन्मोक्षतरोर्बीजं सफल पुण्यपुण्यदम् ॥८५
जन्मेह सफलं तस्य येन जिह्वा वशीकृता । वद्ध्वा वैराग्यपाशेन त्यक्तेन्द्रियसुखस्य वै ॥८६
धर्मध्यानेन स्थातव्यं प्रत्यहं स्वर्गमुक्तये । ससारे भयभीतैश्च भावनादिपरायणै ॥८७
ध्यानं वाध्ययनं नित्यं कार्यं सद्गुणशालिभि । प्रयत्नेन क्षयायैव कर्मणा दु खदायिनाम् ॥८८
प्रमादेन न नेतव्या चैका कालकला क्वचित् । मानुष्य दुर्लभ प्राप्य धर्मध्यानं विना वुधै. ॥८९

जीवोकी हिसा होती है ॥७६॥ जो त्यागी सदोप आहार ग्रहण करते है वे छहो कायके जीवोकी विराधना करते हैं इसलिए जीवोकी हिसा होनेसे उनका आहार इस ससारमे सवेगको वढानेवाला कैसे हो सकता है ? ॥७७॥ जो अज्ञानी मुनि सदोप आहारमे लीन रहता है वह गृहस्थपनेको प्राप्त होता है तथा हिंसा करनेके कारण वह दोनो ओरसे भ्रष्ट होता है क्योकि गृहस्थपनेको प्राप्त होकर भी वह दान पूजा आदि गृहस्थोके शुभ कर्म नही करता ॥७८॥ जो नीच गृहस्थाश्रम छोडकर दीक्षा धारण करता है और फिर भी सदोप आहार ग्रहण करता है उसका दीक्षा लेना व्यर्थ ही समझना चाहिए ॥७९॥ जिह्वा लपटी जो पुरुप महा निंद्य पापरूप आहार ग्रहण करता है वह अनेक जीवोकी हिंसा करता है और इसीलिए ससारमे उसकी अपकीर्ति होती है ॥८०॥ सदोप आहार ग्रहण करनेवाले व्रतियोका हृदय निर्दय रहता है, इसलिए उनको परलोकमे भी सुख नही मिल सकता है, ऐसे लोगोको परलोकमें पाप और दुर्गतियोसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भारी-भारी दु ख भोगने पडते हैं ॥८१॥ निर्दोप गृहस्थ पद अच्छा परन्तु इन्द्रिय सेवन, स्त्री जन्य दोष वा राग, द्वेप आदिसे कलंकित हुआ मनुष्योका मुनिपद अच्छा नही ॥८२॥ एक वार प्राणोका नाश करनेवाला हलाहल विप खा लेना अच्छा परन्तु ससाररूपी समुद्रमे डुवानेवाला सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नही ॥८३॥ यही समझकर व्रती पुरुपोको प्राण नाश होनेपर भी अभक्ष्यके समान सदोष आहारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥८४॥ जो त्यागी निर्दोप आहार ग्रहण करते है उन्हीका तप, व्रत, यम आदि सव सफल है, उन्हींके तप यमादिक मोक्षरूपी वृक्षके वीज है और पुण्यको अतिशय सचय करनेवाले हैं ॥८५॥ जिसने अपने समस्त इन्द्रियोके सुखोका त्याग कर दिया है और वैराग्यरूपी जालमे फँसकर जिसने अपनी जीभको वशमे कर लिया है उसीका जन्म इस ससारमे सफल माना जाता है ॥८६॥ ससारसे भयभीत होनेवाले और भावनाओमे तत्पर रहनेवाले व्रती त्यागियोको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रतिदिन धर्मध्यानपूर्वक रहना चाहिए ॥८७॥ श्रेष्ठ गुणोको धारण करनेवाले त्यागियोको दु ख देनेवाले कर्म नाश करनेके लिए सदा प्रयत्नपूर्वक ध्यान और अध्ययनमे ही अपना समय विताना चाहिए ॥८८॥ विद्वान् पुरुषोको यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर सदा

परान्नं हि समादाय न कार्या विकथा क्वचित् । महापापाकरा निन्द्या स्वप्नान्तेऽपि विरागिभिः ॥९०
भक्षयित्वा पराहार विकथां ये वदन्ति ते । अमुत्र पापभारेण बलीवर्दा भवन्ति वै ॥९१
चौरराजान्ननारीणा कथा कार्या न धीधनै. । वृथा पापप्रदा घोरा देशभाषादिका परा ॥९२
विकथाचारिणां याति जन्म एव निरर्थकम् । वृथा दीक्षा भवेन्नून प्रमादाधिष्ठितात्मनाम् ॥९३
मौनमेव प्रकर्तव्यं वाशु धर्मोपदेशनम् । सिद्धान्तस्य पठनं वा ध्यानं वा परमेष्ठिनाम् ॥९४
चिन्तनीया सदा सारा अनुप्रेक्षा व्रतान्वितैः । वैराग्यादि प्रसिद्ध्यर्थं मानसे कर्मनाशिका ॥९५
क्षमादिदशसद्भेद ब्रह्मचर्यान्तमञ्जसा । चित्ते सम्भावयेन्नित्यं धर्मं धर्मी स्वमुक्तये ॥९६
भावनीया सदा दक्षै षोडशात्मकभावना. । दृष्टयादिकविशुद्धाढ्यास्तीर्थनाथविभूतिदा ॥९७
आज्ञोपायविपाकाख्यं संस्थानविचयात्मकम् । धर्मध्यानं सदा पेय व्रतिभि स्वर्गमुक्तिदम् ॥९८
सङ्कल्पवर्जितं कृत्वा मन कार्यात्मभावना । अनन्तकर्मसन्तानघातका स्वस्य सद्बुधैः ॥९९
आवश्यकं प्रकर्तव्य षड्विधं यत्नतोऽनिशम् । शमनादिप्रदं दक्षै स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१००
प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं सर्वसौख्याकरं परम् । आवश्यकं सदा धीरैर्व्रतादिमलनाशकम् ॥१०१
दन्तहीनो यथा हस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिप । दानहीनो गृही नाभात्त्यक्तावश्यकसंयमी ॥१०२

धर्मध्यान करते रहना चाहिए । विना धर्मध्यानके प्रमादमे एक घड़ी भी कभी नही खोनी चाहिए ॥८९॥ दूसरोका दिया हुआ अन्न ग्रहण करके विरागी पुरुषोको महापाप उत्पन्न करनेवाली और निंद्य विकथाएँ स्वप्नमे भी कभी नही करनी चाहिए ॥९०॥ जो त्यागी दूसरेके घर आहार ग्रहण कर विकथा कहते हैं वे उस पापके भारसे मरकर परलोकमे बैल होते हैं ॥९१॥ बुद्धिमानोको चोरकथा, राजकथा, भोजनकथा और स्त्रीकथा कभी नही करनी चाहिए क्योकि ये विकथाएँ व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाली हैं इसी प्रकार देश भाषा आदिकी अन्य ऐसी ही कथाएँ भी विकथाएँ है वे भी त्यागियोको नही करनी चाहिए ॥९२॥ प्रमादमे डूबे हुए तथा विकथा करने सुननेवाले त्यागियोका जन्म ही निरर्थक जाता है और उनकी ली हुई दीक्षा नि॰सन्देह व्यर्थ गिनी जाती है ॥९३॥ त्यागियोको या तो मौन धारण करना चाहिए वा श्रेष्ठ धर्मका उपदेश देना चाहिए या सिद्धान्त शास्त्रोका पठन-पाठन करना चाहिए अथवा परमेष्ठियोका ध्यान करना चाहिए ॥९४॥ अथवा व्रती त्यागियोको अपने वैराग्यको सुदृढ बनानेके लिये अपने मनमे सदा कर्मोको नाश करनेवाली सारभृत वारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन करना चाहिए ॥९५॥ धर्मात्मा त्यागियोको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अपने मनमे उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोका सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥९६॥ चतुर त्यागियोको तीर्थंकरकी विभूति देनेवाली दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओका चिंतवन सदा करते रहना चाहिए ॥९७॥ व्रती त्यागियोको स्वर्गमोक्ष प्राप्त करनेके लिए आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, सस्थानविचय ये चारो प्रकारके धर्मध्यान सदा धारण करते रहना चाहिए ॥९८॥ वुद्धिमान त्यागियोको अपने मनके समस्त सकल्प विकल्प छोडकर अनन्त कर्मोके समूहको नाश करनेवाली, अपने आत्माके चिंतवन करनेकी भावना सदा करते रहना चाहिए ॥९९॥ चतुर त्यागियोको अपने कर्म नाश करनेके लिये समता वन्दना आदि छहों प्रकारके आवश्यक प्रयत्नपूर्वक रात दिन पालन करते रहना चाहिए ॥१००॥ धीरवीर त्यागियोको प्राण नाश होनेपर भी व्रतोंके दोषोको नाश करनेवाले और सब प्रकारके सुखोंकी खानि ऐसे सर्वोत्तम आवश्यक कभी नही छोड़ने चाहिये ॥१०१॥ जिस प्रकार विना दाँतोंके हाथी शोभायमान नही

विधायावश्यकं पूर्वं सम्पूर्णं व्रतसंयुतै । तत सर्वं विधातव्य सद्ध्यानाध्ययनादिकम् ॥१०३
यत्किञ्चिच्च समादेयं पुस्तकं नीरभाजनम् । वस्त्रादिकमथान्यद्वा धर्मोपकरणं वरम् ॥१०४
पूर्वं निरीक्ष्य तत्सर्वं ग्राह्यं त्याज्यं दयान्वितै । सूक्ष्मोपकरणेनैव प्रतिलेख्य पुन. पुन ॥१०५
एव दक्षैः प्रकर्तव्यं वस्तूना प्रतिलेखनम् । निक्षेपे वा सदाऽऽदाने जन्तुपीडाप्रहानये ॥१०६
दिने निद्रा न कर्तव्या प्रमादाशुभदायका । कृत्स्नदोषकरा तीताचारैरपि न सयतै ॥१०७
प्रमार्ज्य यत्नतो दक्षै कार्यो भूमौ स्वसंस्तर. । वपुस्तुल्यो विरागश्च स्त्रीजन्त्वादिविवर्जित ॥१०८
कायोत्सर्गो विधातव्यो रजन्या वा दिने बुधै. । कालत्रयेऽथवा नित्य कर्मेन्धनहुताशनः ॥१०९
रात्रावावश्यकं कृत्वा सार्द्धयामे गते सति । निद्रा मौहूर्तिको कुर्यात्सद्व्रती श्रमशान्तये ॥११०
बहुनिद्रा न कर्तव्य ब्रह्मचर्यादिनाशिका । परलोकार्थिभिस्त्यक्तसुखै सद्व्रतसिद्धये ॥१११
धनु शय्या विधातव्या दण्डाख्या मृतका तथा । तीव्रनिद्राविनाशार्थं व्रतिभि सौख्यहानये ॥११२
रजन्याः पश्चिमे यामे शयनादुत्थाय सयतै । धर्मध्यान विधातव्य षडावश्यकगोचरम् ॥११३
किमत्र बहुनोक्तेन त्यक्तगेहैश्च क्षुल्लकै । धर्मध्यानेन नेतव्य काल सर्वोऽपि शास्त्रत ॥११४

होता और विना दानके गृहस्थ शोभायमान नही होता उसी प्रकार विना आवश्यकोके सयमी भी शोभायमान नही होता ॥१०२॥ पूर्ण व्रतोको पालन करनेवाले त्यागियोको सबसे पहिले आवश्यकोका पालन करना चाहिये और फिर ध्यान अध्ययन आदि अन्य समस्त कार्य करने चाहिये ॥१०३॥ पुस्तक, जल, पात्र, वस्त्र अथवा और भी धर्मोपकरण जो कुछ दयालु व्रतियोको लेना वा रखना हो वह सब मुलायम उपकरणसे वार-वार देख शोधकर तथा उस पदार्थ वा स्थानको अच्छीतरह देखकर उठाना वा रखना चाहिए ॥१०४–१०५॥ इस प्रकार चतुर त्यागियोको जीवोके दु ख दूर करनेके लिए किसी पदार्थको उठाने वा रखनेमे प्रत्येक पदार्थको देख व शोध लेना चाहिए ॥१०६॥ दिनमे कभी नीद नही लेनी चाहिए क्योकि दिनमे नीद लेना प्रमाद वढानेवाला, पाप उत्पन्न करनेवाला, और समस्त दोषोको प्रगट करनेवाला है इसलिए पूर्ण व्रतोको न पालनेवाले क्षुल्लकोको भी दिनमे नही सोना चाहिए ॥१०७॥

चतुर त्यागियोको यत्नपूर्वक भूमिपर सस्तर करना चाहिये वह सस्तर शरीरके समान हो वडा न हो, वीतरागरूप हो और स्त्री जन्तु आदिसे सर्वथा रहित हो ॥१०८॥ बुद्धिमानोको दिनमे अथवा रातमे तीनो समय अथवा सदा कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान ऐसा कायोत्सर्ग अवश्य करना चाहिये ॥१०९॥ उत्तम व्रतियोको पहिले तो अपने आवश्यक करने चाहिये और फिर रातमे डेढ पहर (साढे चार घण्टे) रात वीत जानेपर केवल परिश्रमको शान्त करनेके लिये दो घडी नीद लेनी चाहिये ॥११०॥ परलोकको सिद्ध करनेवाले और इन्द्रिय सम्बन्धी सुखो का त्याग कर देनेवाले उत्तम व्रतियोको अपने व्रत पालन करनेके लिये ब्रह्मचर्य आदि व्रतोको नाश करनेवाली अधिक नीद कभी नही लेनी चाहिये ॥१११॥ व्रतियोको तीव्र निद्रा दूर करनेके लिये और सुखका त्याग कर देनेके लिये धनुषके आकारकी शय्या वनानी चाहिये वा दण्डाकार सोना चाहिये अथवा मृतकासनसे सोना चाहिये ॥११२॥ सयमियोको रात्रिके पिछिले पहर शय्यासे उठ कर छहो आवश्यकोके अन्तर्गत रहनेवाला धर्मध्यान अवश्य करना चाहिये ॥११३॥ बहुत कहनेसे क्या, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि घर गृहस्थीका त्याग करनेवाले क्षुल्लकोको अपना सदाका समस्त समय धर्मध्यान पूर्वक ही व्यतीत करना चाहिये ॥११४॥ जो बुद्धिमान मन वचन

एकादशसम्प्रतिमा त्रिशुद्धया पालयेत्सुधीः । यो जिनेन्द्रै स सम्प्रोक्त उत्तम श्रावको भुवि ॥११५
ते धन्या त्रिजगत्पूज्या गता ये प्रार्चतां जनात् । लोकेऽस्मिन् सद्व्रताचाराचरणे नैव सर्वथा ॥११६
अखिलगुणनिधान सर्वदेवै प्रपूज्यं अवगमत्रययुक्तं सारमष्टर्द्धिगेहम् ।
निरुपमगुणखानि प्रोत्तम श्रावकोऽत्र व्रतजनितवृषाद्वै संव्रजेत्स्वर्गराज्यम् ॥११७
अखिलगुणसमुद्रं कृत्स्नभोगैकधाम विविधगुणसुपूर्णं ज्ञानऋद्धचादिकाढ्यम् ।
विगतसकलदु ख पुण्यमूलं गृहस्थो निरुपमव्रतयोगादच्युतं याति नाकम् ॥११८
षट्खण्डभूसम्भवसौख्यगेहं रामादिसमद्वयरत्नयुक्तम् ।
निध्याकरं सद्व्रतजातपुण्यात्सलभ्यते चक्रिपदं गृहस्थैः ॥११९
यद्देवेन्द्र-नरेन्द्रवन्दितमहो लोकत्रये पूजित प्रार्थ्यं यन्मुनिनायकै कृतमहाकष्टैस्तपोदुष्करात् ।
अन्तातीतगुणाकरं सुविमलं सौख्यालय मुक्तिद तन्नृणां प्रभवेत्सुगेहिव्रतत सर्वज्ञसर्वैभवम् ॥१२०
मुनिवरगणप्रार्थ्यो दुष्करै सत्तपोभिरजर इह क्रमात् स जन्मजातङ्कदूरम् ।
निरुपमगुणयुक्तो मोक्ष एवाप्यते वै अखिलसुखसमुद्र. सद्बुधैर्गेहिधर्मात् ॥१२१

कायकी शुद्धता पूर्वक इन ग्यारह प्रतिमाओका पालन करते है वे इस संसारमे श्री तीर्थंकर परमदेव के द्वारा उत्तम श्रावक कहे जाते हैं ॥११५॥ जो जीव इस ससारमे व्रत और चारित्रके आचरण करनेसे ही लोगोके द्वारा सर्वथा पूज्य हुए हैं वे ही ससारमे धन्य हैं और वे ही संसारमे पूज्य हैं ॥११६॥ जो उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये व्रत पालन करता है उस धर्म के प्रभावसे वह स्वर्गकी ऐसी सम्पदा प्राप्त करता है जो समस्त गुणोकी निधि है, सब देवोंके द्वारा पूज्य है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इन तीनो ज्ञानोसे सुशोभित है, सबमे सारभूत है, आठो ऋद्धियोका घर है और निरुपम गुणोकी खानि है ॥११७॥ उत्तम श्रावक अपने निरुपम (उपमारहित) व्रतोके पालन करनेसे सोलहवें अच्युत स्वर्गको प्राप्त करता है । वह अच्युत स्वर्ग सब गुणोका सागर है, समस्त भोगोका एक मात्र स्थान है, अनेक गुणोंसे भरपूर हैं, ज्ञान और ऋद्धियोंसे सुशोभित है, सब प्रकारके दु खोसे रहित है और पुण्यकी जड़ है ॥११८॥ उत्तम श्रावको को उनके द्वारा पालन किये गये उत्तम व्रतोसे उत्पन्न हुए पुण्यसे चक्रवर्तियोका उत्तम पद प्राप्त होता है । वह चक्रवर्तियोका पद छहो खण्ड पृथिवीसे उत्पन्न हुए सुखोका घर है और नौनिधि तथा चौदह रत्नोंसे सुशोभित है ॥११९॥ उत्तम श्रावकोको व्रतोंके प्रभावसे श्री तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त होती है । यह तीर्थंकरकी विभूति इन्द्र चक्रवर्तियोके द्वारा पूज्य है, तीनो लोकोमे पूज्य है, घोर तपश्चरण करनेवाले महा मुनिराज भी घोर तपश्चरणके द्वारा इसकी प्रार्थना करते हैं, यह अनन्त गुणोकी खानि है, अत्यन्त निर्मल है, परम सुखका घर है, और मुक्तिको देनेवाली है । ऐसी यह तीर्थंकरकी विभूति उत्तम श्रावकोको प्राप्त होती है ॥१२०॥ बुद्धिमानोको इस उत्तम गृहस्थधर्मके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है । इस मोक्षको मुनिराज भी श्रेष्ठ तपश्चरणके द्वारा प्रार्थना करते हैं, यह जन्म जरा मरणसे रहित है, अनुपम गुणोंसे सुशोभित है और समस्त सुखोका सागर है ॥१२१॥ उत्तम मनुष्य गृहस्थधर्मसे उत्पन्न हुए पुण्यके प्रभावसे तीनो लोकोमे जो सुख सबसे उत्तम है उनको पाकर अनुक्रमसे समस्त दु खोसे रहित और सुखका समुद्र ऐसे मोक्षरूप परम स्थानको प्राप्त होते हैं ॥१२ ॥

श्री जिनेन्द्रदेवने यह उत्तम धर्म दो प्रकारका बतलाया है—एक मुनियोका और दूसरा

यत्सुख त्रिभुवनाखिले वर तद्गृहाश्रितसुपुण्यपाकत ।
प्राप्य याति सुपद नरोत्तमस्त्यक्तदुःखसुखसागर क्रमात् ॥१२२
श्रीजिनेन कथितो वरधर्म सद्गृहेशमुनिगोचरो द्विधा ।
दुष्करे मुनिवृषे किलाक्षमास्ते धरन्तु गृहिणां व्रतमेतत् ॥१२३
ससाराम्बुधितारक सुखकर स्वर्गगृहोद्घाटन श्वभ्रद्वारकपाटद गुणकर सार क्रमान्मुक्तिदम् ।
उत्कृष्टव्रतपालनादिविषय सागारधर्मं बुधाः सेवध्व परित्यक्तदोषमखिल स्वर्मोक्षसौख्याप्तये ॥१२४
ये पालयन्ति निपुणा हि गृहस्थधर्मं ते प्राप्य सौख्यमखिल नृसुरादिजातम् ।
लब्ध्वापि तीर्थकरभूतिमपीह पूज्य चामुत्र केवलिपद च प्रयान्ति मुक्तिम् ॥१२५
प्रोपासकाचारमिद पवित्र पठन्ति ये शास्त्रमपीह भक्त्या ।
ते प्राप्य सौख्यं नृसुरादिजात प्रचारतस्ते नु प्रयान्ति मुक्तिम् ॥१२६
ये तत्पठन्ति सुधियः परिणामशुद्धचा ते कीर्तिमेव विमला समवाप्य लोके ।
ज्ञात्वार्थतोऽतिगुणद च शुभाशुभ वै त्यक्तेन सो घनतर प्रभजन्ति पुण्यम् ॥१२७
ये पाठयन्ति गुणिनो गृहिणां स्वपुत्रान् व्याख्यां वदन्ति निजश्रावकजैनमध्ये ।
ग्रन्थस्य तेऽतिश्रुतदानत एव लब्ध्वा सत्केवल सुविमल च भजन्ति मोक्षम् ॥१२८
शृण्वन्ति येऽतिशुभद परम हि ग्रन्थमेकाग्रचित्तसहिता परमातिभक्त्या ।
ते ज्ञानिनोऽतिविमलाचरणात्प्रयान्ति मुक्ति समाप्य भुवनत्रयज सुख च ॥१२९
संवेगधर्मजनन विमल गुणाढच प्राचारकृत्स्नकथक गृहमेधिना च ।
सद्दर्शनावगमनिर्मलनीरपूर्णं ग्रन्थामृत सुकृतिनो हि पिबध्वमेव ॥१३०

गृहस्थोका । मुनियोका धर्म अत्यन्त कठिन है । जो इसे पालन नही कर सकते उन्हे गृहस्थोके व्रत अवश्य पालन करने चाहिए ॥१२३॥ यह गृहस्थ धर्म ससाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाला है, सुख देनेवाला है, स्वर्गरूपी घरको उघाडनेवाला है, नरकके द्वारके किवाडोको बन्द कर देनेवाला है, अनेक गुण प्रगट करनेवाला है, सवमे सारभूत है, अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, इसमे उत्तम मध्यम जघन्य सब प्रकारके व्रत पालन किये जाते हैं, और यह समस्त दोषोसे रहित है । हे विद्वानो ! तुम लोग स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए ऐसे इस गृहस्थ धर्मका सेवन करो ॥१२४॥ जो चतुर पुरुष इस गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं वे मनुष्य और देवोके समस्त सुख पाकर तथा सबके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर परमपदको पाकर और केवलज्ञानकी परम विभूतिको पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१२५॥ जो पुरुष भक्तिपूर्वक इस श्रावकाचार ग्रन्थका पठन-पाठन करते है वे उन आचरणोका पालन कर देव मनुष्योके सब सुख पाते हैं और अन्तमे मोक्षपदको प्राप्त होते हैं ॥१२६॥ जो बुद्धिमान् अपने परिणामोको शुद्धकर इस श्रावकाचारका पठन-पाठन करते है वे इस ससारमे अपनी निर्मल कीर्ति फैलाते हैं तथा अनेक गुण देनेवाले शुभ अशुभ पदार्थोको जानकर और समस्त पापोका त्याग कर अतिशय पुण्यको प्राप्त होते है ॥१२७॥ जो पुरुष इस ग्रन्थको गुणी श्रावकोके लिए अथवा अपने पुत्रोंके लिए पढाते है अथवा जैनी श्रावकोके मध्यमे बैठकर इसका व्याख्यान करते हैं, सुनाते है वे ज्ञान दानके प्रभावसे निर्मल केवलज्ञानको पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१२८॥ जो गृहस्थ एकाग्रचित्त कर बडी भक्तिसे पुण्य बढानेवाले इस ग्रन्थको सुनते है वे उस ज्ञानसे और निर्मल चारित्रको धारण करनेसे तीनो लोकोके सुख पाकर अन्तमे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१२९॥ हे पुण्यवान मनुष्यो ! यह ग्रन्थरूपी अमृत सवेग और धर्मको उत्पन्न करनेवाला

ग्रन्थ गृहस्थचरणान्वितमेव सार संशोधयन्तु मुनयो बहुशास्त्रवन्त ।
रागादिदोषरहिता हि निरूपयन्तस्तत्तुल्यशास्त्रसहितेन दिगम्बरेण ॥१३१
अर्थो जिनेश्वरमुखादिह जातमेतत् सङ्ग्रन्थित गणधरैर्विविधाक्षरैश्च ।
लोके बभूव प्रकटं सुमुनीन्द्रवर्गात् सर्वादिकीर्तिविशदाच्च व्युपासकाख्यम् ॥१३२
पूज्या ये भुवनत्रये जिनवरा इन्द्रादिभि प्रत्यह ससाराम्बुधितारका गणधरैर्वन्द्या मुनीन्द्रादिभि ।
अन्तातीतसुखादिनिर्मलगुणैर्युक्ता व्यतीतोपमास्तेषां तीर्थंकृता नमामि चरणौ सद्वुद्धिससिद्धये १३३
अमरगुणसुसेव्यं धर्मसद्रत्नभाण्डं निरुपमगुणयुक्त पूर्वपूर्वे विदेहे ।
विजितकरणमारं तं हि सीमन्धराख्यं सकलगुणसमाप्त्यै संस्तुवे तीर्थनाथम् ॥१३४
ये तीर्थेश्वरभूतिसारकलिता देवेन्द्रसंसेविता-
तीतानागतवर्तमानसकले काले जिनेन्द्रा भुवि ।
अन्तातीतगुणाकरा गुणप्रदास्त्यक्तोपमा मुक्तये
ह्यन्तातीतजिनेशिनां सुचरणौ तेषां प्रवन्दे शुभौ ॥१३५
ये सिद्धा नमिता मुनीश्वरगणैर्लोकाग्रगेहे स्थिता.
सम्यक्त्वादिगुणाष्टका निरुपमा देहादिभारोज्झिता ।
सारानन्तसुखाकरा हि विमला अन्तातिगा धर्मदा-
स्तेषां तद्‌गुणप्राप्तये प्रतिदिनं ध्यान करोम्येव वै ॥१३६

है, गृहस्थोके समस्त श्रावकाचारको कहनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल जलसे भरा हुआ है। हे पुण्यवानो, ऐसे इस ग्रन्थरूपी अमृतका तुम लोग पान करो, अर्थात् इसका पठन-पाठन मनन श्रवण आदि करो ॥१३०॥ जो राग द्वेष रहित और अनेक शास्त्रोंके जानकार मुनि इसीके समान किसी दिगम्बर आचार्यके बताये हुए शास्त्रोंसे श्रावकाचारको कहनेवाले इस ग्रन्थका शोधन करते हैं वे भी अनन्त पुण्यके भागी होते हैं ॥१३१॥ यह उपासकाचार ग्रन्थ अर्थ-रूपसे तो भगवान् अरहन्त देवके मुखसे प्रगट हुआ है, गणधर देवोंके द्वारा अनेक प्रकारके अक्षरोंसे गूथा गया है और इस ससारमे मुनिराज सकलकीर्तिके द्वारा विस्तारताको प्राप्त हुआ है ॥१३२॥ जो तीर्थंकर परमदेव तीनो लोकोमे इन्द्रादिकोके द्वारा प्रतिदिन पूज्य हैं, जो ससाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले हैं, जो गणधर और मुनिराजोके द्वारा वन्दनीय हैं, जो अनन्त सुख आदि निर्मल गुणोसे सुशोभित हैं और ससारमें जिनकी कोई उपमा नही है ऐसे श्री तीर्थंकर परमदेवके चरण-कमलोको मैं निर्मल बुद्धि प्राप्त करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१३३॥ जो समस्त इन्द्रादि देवोके द्वारा पूज्य हैं, अनुपम गुणोसे सुशोभित है और इन्द्रिय तथा कामदेवको जीतनेवाले हैं ऐसे पूर्व विदेहमे विराजमान श्री सीमन्धर तीर्थंकर परमदेवकी मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिए स्तुति करता हूँ ॥१३४॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी सारभूत विभूतिको प्राप्त हुए हैं, इन्द्रादिक देव भी जिनकी सेवा करते हैं, जो अनन्त गुणोकी खानि हैं, अनन्त गुण देनेवाले हैं, और जिनकी उपमा ससारभरमे कोई नही है ऐसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनो कालोमे होनेवाले अनन्तानन्त तीर्थंकरो-के पुण्य बढानेवाले चरणकमलोको मैं केवल मोक्ष प्राप्त करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१३५॥ जो सिद्ध भगवान् लोकशिखरपर विराजमान होते हैं, सम्यक्त्व आदि आठो गुणोसे सुशोभित हैं, ससारमे जिनकी कोई उपमा नही, जिन्हे अनेक मुनिराजोके समूह भी नमस्कार करते हैं, जो

पञ्चाचारं ये चरन्ति स्वयं वै सच्छिष्याणां चारयन्त्येव शुद्धम् ।
मुक्तेरङ्गं नित्यमाचारशुद्धैः वन्दे सर्वान् तान् सदा सूरिसंघान् ॥१३७
ये पठन्ति श्रुतमङ्गपूर्वज पाठयन्ति च विनेयमुनीनाम् ।
ज्ञानदं शुभश्रुताय पाठकाः, संस्तुवे पदयुग खलु तेषाम् ॥१३८
ये सद्धर्ममहाब्धिमध्यविगता रत्नत्रयालङ्कृता ध्यानध्वस्तसमस्तकिल्विषविषा स्वर्मोक्षससाधका ।
अन्तातीतगुणास्तपोधनधना रत्नत्रये संस्थितास्तेषा तद्‌गुणप्राप्तये क्रमयुग वन्दे यतीना सदा ॥१३९
सौख्याकर सकलभव्यहित बुधार्च्यं सम्पूजितं सुरगणैर्भुवनैकज्येष्ठम् ।
ससारत्रस्तमनसां शरणं परं यत् तच्छासन जयतु श्रीजिनपुङ्गवानाम् ॥१४०
गणधरमुनिसेव्य विश्वतत्त्वप्रदीप विगतसकलदोष श्रीजिनेन्द्रै प्रणीतम् ।
खचरसुरसमर्च्यं ज्ञानसिद्धचै प्रवन्दे निखिलसुखनिधान ज्ञानमेवात्र सारम् ॥१४१
उपासकाख्यो विबुधै प्रपूज्यो ग्रन्थो महाधर्मकरो गुणाढ्य ।
समस्तकीर्त्यादिमुनीश्वरोक्तः सुपुण्यहेतुर्जयतात् धरित्र्याम् ॥१४२

शरीरके भारसे रहित हैं, सारभूत अनन्त सुखोकी खानि है, अत्यन्त निर्मल है, जो मध्य अन्त रहित हैं और जो धर्मको प्रदान करनेवाले है, ऐसे श्री सिद्ध भगवान्‌के समस्त गुण प्राप्त करनेके लिए मै उनका प्रतिदिन ध्यान करता हूँ ॥१३६॥ जो आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌-चारित्र, तप और वीर्य इन पाँचो आचारोको स्वय पालन करते हैं और शिष्योसे पालन कराते है तथा जो शुद्ध आचरणोके द्वारा मोक्षके कारण बने रहते है ऐसे समस्त आचार्योको मै सदा नमस्कार करता हूँ ॥१३७॥ जो उपाध्याय ज्ञान देनेवाले अगपूर्वरूप श्रुतज्ञानको स्वय पढते हैं और अपने शिष्य मुनियोको पढाते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके चरणकमलोकी मै शुभ श्रुतज्ञान प्राप्त करनेके लिए स्तुति करता हूँ ॥१३८॥ जो मुनिराज सद्धर्मरूपी महासागरके मध्यमे विराजमान है, जो रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, जिन्होने अपने ध्यानसे समस्त पापरूपी विष धो डाला है, जो स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले है, अनन्त गुणोको धारण करनेवाले हैं, जो तपश्चरणरूपी धनसे ही धनी है, और जो रत्नत्रयमे सदा लीन रहते है ऐसे मुनिराजो के समस्त गुण प्राप्त करनेके लिए मै उनके चरणकमलो को सदा नमस्कार करता हूँ ॥१३९॥ यह श्री तीर्थंकर परमदेवका शासन सब सुखो-की खानि है, समस्त भव्यो का हित करनेवाला है, इन्द्रादि समस्त देव भी इसकी पूजा करते है, यह तीनो लोको मे सर्वोत्तम है, और जिनका मन ससारसे भयभीत है उनके लिए परम शरण है, ऐसा यह श्री तीर्थंकर परमदेवका शासन (जैनमत) सदा जयशील हो ॥१४०॥ इस ससारमे सम्यग्ज्ञान ही सार है, गणधर और मुनिराज भी इसकी सेवा करते है, यह समस्त तत्त्वोको प्रगट करनेके लिए दीपक समान है, समस्त दोषोसे रहित है, श्री जिनेन्द्रदेवने स्वय इसका निरूपण किया है, देव विद्याधर सब इसकी पूजा करते हैं और यह समस्त सुखोकी निधि है ऐसे सम्यग्ज्ञान-को प्राप्त करनेके लिए मैं उसे नमस्कार करता हूँ ॥१४१॥ यह उपासकाचार (प्रश्नोत्तर श्रावका-चार) ग्रन्थ देवोके द्वारा भी पूज्य है, उत्तम धर्मका निरूपण करनेवाला है, अनेक गुणोसे भरपूर है, उत्तम पुण्यका कारण है और श्री सकलकीर्ति मुनिराजका बनाया हुआ है ऐसा यह प्रश्नोत्तर श्रावकाचार ससारभरमे जयशील हो ॥१४२॥ यह ग्रन्थ न तो कीर्ति बढानेके लिए बनाया गया है,

न कीर्तिपूजादिसुलाभलोभात्कृतः कवित्वाद्यभिमानतो न ।
ग्रन्थो यमत्रैव हिताय स्वस्य परोपकाराय मया विशुद्ध्यै ॥१४३

अक्षरस्वरसुसन्धिपदादि-मात्रया रहितमुक्तमपीह ।
ज्ञानहीन त एव प्रमादतस्तत्क्षमध्वमृषिनायका हि मे ॥१४४

शून्याष्टाष्टद्वयाङ्काढ्य. सख्यया मुनिनोदितः । नन्दते चावनौ ग्रन्थो यावत्कालान्तमेव हि ॥१४५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अनुमतित्यागउद्दिष्टत्याग-प्रतिमानिरूपको नाम चतुर्विंशतितम परिच्छेद ॥२४॥



न किसी लाभके लोभमे बनाया है और न अपने कवि होनेके अभिमानसे बनाया है, किन्तु इस ससारमे अपना कल्याण करनेके लिए तथा दूसरोका कल्याण करनेके लिए और अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए (परलोक सुधारनेके लिए) ही मैंने यह ग्रन्थ बनाया है ॥१४३॥ अपने अज्ञानके कारण अथवा प्रमादके कारण इसमे अक्षर स्वर सन्धि पद मात्रा आदि जो कुछ कम हो वह सब ज्ञानी मुनिराजोको क्षमा कर देना चाहिये ॥१४४॥ इस ग्रन्थकी सख्या मुनिराजोने दो हजार आठ सौ अस्सी (२८८० श्लोक) बतलाई है। ऐसा यह ग्रन्थ इस पृथ्वी पर जब तक समय रहे तब तक वृद्धिको प्राप्त होता रहे ॥१४५॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग नामकी उत्तम प्रतिमाओको निरूपण करनेवाला यह चौवीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२४॥



गुणभूषण-श्रावकाचार

पहला उद्देश

प्रणम्य त्रिजगत्कीर्त्तिं जिनेन्द्रं गुणभूषणम् । संक्षेपेणैव संवक्ष्ये धर्मं सागारगोचरम् ॥१
संसारेऽत्र मनुष्यत्वं तत्रापि सुकुलीनता । यस्मिन् विवेकस्तत्रापि सद्धर्मत्व सुदुर्लभम् ॥२
न हितं विहितं कि तन्ना सद्धर्ममना यदि । नाहितं विहितं कि तन्नासद्धर्ममना यदि ॥३
नर-नाग-सुरेशत्वमथान्यच्च समीहितम् । धर्मं विना कथं तत्स्याद्यथा वृष्टिर्विना घनम् ॥४
स्वर्ग-मोक्षफलो धर्म स च रत्नत्रयात्मक. । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं रत्नत्रयं मतम् ॥५
स्याद्वाप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानं यन्मलोज्झितम् । गुणान्वितं च सम्यक्त्वं तद्वि-त्रि-दशभेदभाक् ॥६
आप्तः स्याद्दोषनिर्मुक्तः सर्वज्ञः शास्त्रदेशक । क्षुधा तृषा जराऽऽतङ्को रागो मोहश्च विस्मयः ॥७
रुजा मृत्युश्च चिन्ता च स्वेदो निद्रा रतिर्जनि । विषादो द्विन्मद खेदो दोषाश्चाष्टादश स्मृताः ॥८
सर्वज्ञत्वं विना नैषोऽतीन्द्रियार्थोपदेशक । विना सच्छास्त्र देशित्वान्नाप्तत्वमपि सम्भवेत् ॥९
आप्तोदित प्रमाभूतमागम स निगद्यते । द्वेषात्सरागवक्तृत्वाभावात्तस्य प्रमाणता ॥१०

तीन जगत्मे जिनकी कीर्ति व्याप्त है और जो सम्यक्त्व-ज्ञानादि अनन्त गुणोवाले आभूषणो के धारक है ऐसे जिनेन्द्रदेवको प्रणाम करके मै गुणभूषण सक्षेपसे ही श्रावक-सम्बन्धी धर्मको कहूँगा ॥१॥ इस संसारमे सर्वप्रथम तो मनुष्य भव पाना ही अतिदुर्लभ है, उसमे भी उत्तम कुलमे जन्म पाना अतिकठिन है। उस कुलीनताके पानेपर भी हित-अहितका विवेक पाना और भी दुर्लभ है। विवेक पानेपर भी उत्तम धर्मका पाना और भी दुर्लभ है ॥२॥ यदि उत्तम धर्म पाकर भी जिस मनुष्यने अपना हित नही किया, तो उससे क्या लाभ है ? और यदि असद्-धर्म-बुद्धि होकर अहित नही किया, तो उससे क्या है ॥३॥ यदि तुम नरेन्द्रपना, सुरेन्द्रपना अथवा और किसी महान् पद पानेकी इच्छा रखते हो, तो धर्मके विना वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? जैसे कि मेघके विना वर्षा प्राप्त नही हो सकती ॥४॥ धर्म ही स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देता है। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोको रत्नत्रय माना गया है ॥५॥ सम्यग्दर्शनका स्वरूप और भेद—सत्यार्थदेव आगम और तत्त्वोका जो पच्चीस दोषो से रहित और आठ गुणोसे सहित श्रद्धान है, वह सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन है। उसके दो, तीन और दश भेद कहे गये है ॥६॥ आप्तका स्वरूप—जो अठारह दोषोसे रहित है, सर्वज्ञ है और शास्त्रका उपदेशक है, वह आप्त कहलाता है। भूख, प्यास, बुढापा, आतक, राग, मोह, विस्मय, रोग, मृत्यु, चिन्ता, स्वेद (पसीना), निद्रा, रति, जन्म, विषाद, द्वेष, मद और खेद ये अठारह दोष माने गये हैं। इनसे रहित पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है ॥७–८॥ सर्वज्ञताके विना कोई पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थोका उपदेशक नही हो सकता है और सत्य शास्त्रके उपदेशके विना आप्तपना भी सम्भव नही है ॥९॥ आगमका स्वरूप—जो आप्तके द्वारा कहा गया हो, वह आगम प्रमाणभूत कहा

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा । मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वानि स्युर्जिनागमे ॥११
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता तनुप्रमः । अनादिनिधनोऽमूर्त्तः स च सिद्धः प्रमाणतः ॥१२
मूर्त्तामूर्त्तभिदा द्वेधा जीवो मूर्त्तोऽथ पुद्गलः । स्कन्धदेशप्रदेशाविभागिभेदाच्चतुर्विधः ॥१३
धर्माधर्मनभःकालास्त्वमूर्त्ता शाश्वताक्रियाः । यानस्थानावकाशार्थवर्तनागुणलक्षणा ॥१४
मुख्यो गौणश्च कालोऽत्र स्यान्मुख्योऽणुस्वभावकः । मुख्यहेतुरतीतादिरूपो गौणः स उच्यते ॥१५
मिथ्यात्वादिचतुष्केन जिनपूजादिना च यत् । कर्माशुभं शुभं जीवमासदेत्स्यात्स आस्रवः ॥१६
स्यादन्योन्यप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः । स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावकः ॥१७
सम्यक्त्व-व्रत-कोपादिनिग्रहाद् योगरोधतः । कर्मास्रवनिरोधो यः स्यात्संवरः स उच्यते ॥१८
सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद् द्विधाऽऽदिमा । संसारे सर्वजीवानां द्वितीया सुतपस्विनाम् ॥१९
निर्जरा-संवराभ्यां यो विश्वकर्मक्षयो भवेत् । स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मकः ॥२०
प्रमाणनयनिक्षेपैरर्थव्यञ्जनपर्ययैः । परिणामीनि तत्त्वानि श्रद्धेयान्यवबुध्य च ॥२१
अष्टौ मदास्त्रयो मूढास्तथानायतनादि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चैते दोषाः सम्यक्त्वदूषकाः ॥२२

जाता है, क्योकि द्वेषसे और सरागभावसे वक्तापनेका अभाव होनेके कारण उस वीतरागी वक्ताके वचनरूप आगमके प्रमाणता मानी जाती है ॥१०॥ तत्त्वोका वर्णन—जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व ही जिनागममे कहे गये हैं ॥११॥ इनमेंसे जीवका लक्षण चेतना है, वह अपने शुभ-अशुभ कर्मोका कर्त्ता और भोक्ता है, शरीर-प्रमाण है, अनादि निधन है, अमूर्त है और सिद्धस्वरूप है ॥१२॥ वह जीव मूर्त और अमूर्तके भेदसे दो प्रकारका है। (कर्मोसे बँधा होनेके कारण संसारी जीव मूर्त कहा जाता है और सिद्ध स्वरूपकी अपेक्षा वह अमूर्त है।) पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है और वह स्कन्ध, देश, प्रदेश और अविभागी परमाणुकी अपेक्षा चार प्रकारका है ॥१३॥ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल ये चारो द्रव्य अमूर्त हैं, नित्य हैं और निष्क्रिय हैं। गमनमे सहकारी होना धर्मद्रव्यका लक्षण है, अवस्थानमे सहकारी होना अधर्मद्रव्यका लक्षण है, अवकाश देना आकाशका लक्षण है और वर्तनागुण कालका लक्षण है ॥१४॥ कालके दो भेद हैं—मुख्यकाल और गौणकाल। मुख्य या निश्चयकाल अणुस्वभावी है और गौण या व्यवहारकाल भूत, वर्तमानादिरूप है तथा मुख्यकालके जाननेका हेतु है ॥१५॥ आस्रवतत्त्वका स्वरूप—मिथ्यात्व, विरति, कषाय और योग इन चारके द्वारा जो अशुभ कर्म, तथा जिनपूजा आदिके द्वारा जो शुभकर्म जीवके भीतर आता है, वह आस्रव कहलाता है ॥१६॥ बन्धतत्त्वका स्वरूप—जीव और आनेवाले कर्मोके प्रदेशोका परस्परमे जो प्रवेश है, वह बन्ध कहलाता है। वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और आदि पदसे प्रदेश बन्ध ॥१७॥ संवरतत्त्वका स्वरूप—सम्यक्त्व, व्रत, क्रोधादि कषायोका निग्रह और योग-निरोधसे जो कर्मोका आस्रव-निरोध होता है, वह संवर कहा जाता है ॥१८॥ निर्जरातत्त्वका वर्णन—संचित कर्मोके झड़नेको निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा। प्रथम सविपाकनिर्जरा संसारमे सब जीवोंके होती है और दूसरी अविपाकनिर्जरा परम तपस्वियोंके होती है ॥१९॥ मोक्ष तत्त्वका स्वरूप—निर्जरा और संवरके द्वारा जो समस्त कर्मोका क्षय हो जाता है, वह मोक्ष है। वह मोक्ष भव्य पुरुषोको अनन्त ज्ञान और सुखरूप जानना चाहिये ॥२०॥

ये तत्त्व अपनी अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायोमे सदा परिणमित होते रहते हैं, उन्हे प्रमाण, नय और निक्षेपोंसे जानकर श्रद्धान करना चाहिए ॥२१॥ सम्यक्त्वके दोषोका वर्णन—

कुलजातितपोज्ञानार्था वीर्यैश्वर्यवपुर्मदा । अष्टौ ते दूषका दृष्टेस्तस्मात्त्याज्या प्रयत्नतः ॥२३
धर्मबुद्ध्या गिरेरग्नौ भृङ्गो पातश्च भेदनम् । कुन्ताद्यैर्निजदेहस्य मज्जनं सागरादिषु ॥२४
देहलीगेहवाज्यर्चा संक्रान्तिग्रहणादिषु । दानमित्यादि लोकाना जनमूढमनेकधा ॥२५
वरमन्त्रौषधाप्त्यर्थं लुब्धपाखण्डिसेवनम् । देवपाखण्डिमूढा वेत्येते स्युर्दृष्टिदूषका ॥२६
कुदेवागमचारित्रे तदाधारेऽप्युपासना । षडनायतनानि स्युर्दृग्विदूषीण्यतस्त्यजेत् ॥२७
शङ्का काङ्क्षा जुगुप्सा च मूढतानुपगूहनम् । अस्थिरीकरणं चैवावात्सल्यं चाप्रभावना ॥२८
अष्टौ दोषा भवन्त्येते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् । विपरीता गुणास्त्वेते दृग्विशुद्धिविधायिन ॥२९
अर्हन् देवो भवेन्नो वा तत्त्वमेतत्किमन्यथा । व्रतमेतत्किमन्यद्वेत्येषा शङ्का प्रकाशिता ॥३०
निर्दोषोऽर्हन्नेव देवस्तत्त्वं तत्प्रतिपादितम् । व्रत तदुक्तमेवेति निःशङ्कोऽञ्जनवद्भवेत् ॥३१
सम्यक्त्वस्य व्रतस्यापि माहात्म्यं यदि विद्यते । देवो यक्षोऽमर. स्वामी मे स्यादाकाङ्क्षणां त्यजेत् ॥
एकैवेयं यतो दृष्टिर्निष्काङ्क्षेष्टफलप्रदा । भजेन्नि काङ्क्षिता तस्माद्यथानन्तमती श्रुता ॥३३
दृष्ट्वातिम्लानबीभत्सं रोगघ्रातं वपु सताम् । या तन्वादिविनिन्दा स्यात्सा जुगुप्सेति कथ्यते ॥३४
जरारोगादिक्लिष्टानां सतां भक्त्या स्वशक्तित । वैयावृत्य निर्जुगुप्सा तामौदायनवद्धरेत् ॥३५

आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन, और शकादिक आठ दोष, ये पच्चीस दोष सम्यग्दर्शनको दूषित करते हैं ॥२२॥ कुलमद, जातिमद, तपमद, ज्ञानमद, धनमद, वीर्यमद, ऐश्वर्यमद और शरीरमद, ये आठो ही मद सम्यक्त्वके दूषक हैं, इसलिए इन्हे प्रयत्नसे छोडना चाहिए ॥२३॥ धर्मवुद्धिसे पर्वतसे गिरना, अग्निमे गिरना, भृगुपात करना, भाले आदिसे अपने शरीरको भेदना, समुद्र आदिमे स्नान करना, देहली घर और घोडेकी पूजा करना, सक्रान्ति और सूर्य-ग्रहणादिके समय दान देना, इत्यादि अनेक प्रकारकी लोकमूढता या जनमूढता है ॥२४–२५॥ वर पानेकी, मत्र-सिद्धिकी और औषधि बनानेकी इच्छासे रागी देवी देवोको पूजना देवमूढता हैं, तथा पाखडी गुरुओकी सेवा करना पाखडिमूढता है । ये उपर्युक्त तीनो ही मूढताएँ सम्यक्त्वकी दूषक है ॥२६॥ कुदेव, कुशास्त्र और कुचारित्रकी तथा इनके धारकोकी उपासना करना सो छह अनायतन (अधर्मके स्थान) है । ये सभी सम्यग्दर्शनको दूषित करती हैं, अत' इनका त्याग करना चाहिए ॥२७॥ शका, काक्षा, जुगुप्सा, मूढता, अनुपगूहन, अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष सम्यग्दर्शनकी अशुद्धिके कारण हैं और इनके विपरीत नि शकिता, नि काक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण सम्यग्दर्शन-की शुद्धि करनेवाले है ॥२८–२९॥ अरहन्त सच्चे देव है, अथवा नही ? क्या यह तत्त्व यथार्थ हैं, अथवा नही ? यही व्रत है अथवा अन्य व्रत है, इस प्रकारकी अप्रतीतिको शकादोष कहा गया है ॥३०॥ निर्दोष अर्हन् ही सच्चे देव है, उनका प्रतिपादित तत्त्व ही सत्य है और उनका कहा व्रत ही सच्चा व्रत है, इस प्रकारके दृढ श्रद्धावाला पुरुष अजनचोरके समान नि शक गुणका धारक होता है ॥३१॥ यदि सम्यक्त्वका और व्रतका कुछ भी माहात्म्य है, तो मैं देव, यक्ष हो जाऊँ, अथवा मेरा स्वामी देव हो जाय, इस प्रकारकी आकाक्षाको छोडे ॥३२॥ यही एक नि काक्षित दृष्टि इष्ट फलकी देनेवाली है । इसलिए इस नि काक्षिताको धारण करे । जैसी कि अनन्तमती नि काक्षित गुणको धारण करनेवाली सुनी जाती है ॥३३॥ सन्तजनोके अतिमलिन, कुरूप और रोगाक्रान्त शरीरको देखकर जो उनके शरीरादिकी निन्दा की जाती है, वह जुगुप्सा कही जाती है ॥३४॥ किन्तु जरा रोग आदिसे आक्रान्त सन्तोकी भक्तिके साथ अपनी शक्तिके

मिथ्यावर्त्मनि तन्निष्ठे शसासम्पर्कसस्तवा । मौढ्यं निर्मूढताऽज्ञातस्तां भजेद् रेवती यथा ॥३६
सम्यगज्ञातमार्गत्वादशक्तत्वाच्च यान्यथा । प्रवृत्तिस्तदनाच्छादोऽनुपगूहनमुच्यते ॥३७
मार्गविप्लवरक्षार्थं दैवयोगसमागतान् । जिनेन्द्रभक्तवन्नित्य दोषानप्युपगूहते ॥३८
चारित्राद्दर्शनाच्चैव परीषहभयादित । उपेक्षा चलतां प्रोक्तमस्थिरीकरणं बुधैः ॥३९
तद्धर्मसङ्घवृद्धयर्थं स्थापन चलता पुन. । तस्मिन् तत्स्थिरीकरण प्रकुर्याद्वारिषेणवत् ॥४०
तपोगुणादिवृद्धानामवज्ञा या सधर्मिणाम् । अवात्सल्य हि तत्प्रोक्त सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥४१
नि कैतवोपचारा या प्रतिपत्ति सधर्मिषु । तद्वात्सल्यं यथायोग्य कुर्याद्विष्णुकुमारवत् ॥४२
सामर्थ्यत्वेऽपि यन्नैव कुर्याच्छासनभासनम् । तदप्रभावन प्रोक्त सद्-दृष्टिमलिनाकरम् ॥४३
तत्पूजादानविद्याद्यैस्तपोभिर्विविधात्मकैः । मार्गप्रभावना शश्वत्कुर्याद्वज्रकुमारवत् ॥४४
तद्-द्वेधा स्यात्सरागश्च वीतरागस्त्वगोचरम् । प्रशमादिगुण त्वाद्य पर स्यादात्मशुद्धिभाक् ॥४५
शम सवेगनिर्वेगौ निन्दागर्हणभक्तय । आस्तिक्यमनुकम्पेति गुणा दृष्टचतुमापकाः ॥४६
धर्माद्यतीन्द्रिय यद्वन्मीयतेऽस्मिन् सुखादित । तद्वत्सम्यक्त्वरत्न हि मीयते प्रशमादित. ॥४७

अनुसार वैय्यावृत्त्य की जाती है, वह निर्जुगुप्सा या निर्विचिकित्सा है। उसे उद्दायन राजाके समान धारण करना चाहिए ॥३५॥ मिथ्यामार्गमे और उसपर निष्ठा रखनेवालेपर मनमे प्रशंसा करना, कायसे सम्पर्क रखना और वचनसे स्तुति करना मूढता है। उस मूढताको छोडकर निर्मूढताको रेवतीके समान धारण करना चाहिए ॥३६॥ उत्तम प्रकारसे जैनमार्गको न जाननेके कारण, अथवा पालन करनेमे अशक्त होनेसे लोग जो अन्यथा प्रवृत्ति करते है, उसको नही ढकना अनुपगूहन दोष कहलाता है ॥३७॥ मार्ग-विप्लवकी रक्षाके लिये दैवयोगमे आये हुए दोषोको जिनेन्द्रभक्त सेठके समान नित्य ही जो ढाँकता है, वह उपगूहन गुण कहा जाता है ॥३८॥ परीषह आदिके भयसे चारित्र और दर्शनसे चल-विचल होनेवाले लोगोंके प्रति उपेक्षा रखनेको ज्ञानियोंने अस्थिरीकरण दोष कहा है ॥३९॥ ऐसे दर्शन और चारित्रसे चल-विचल होनेवाले पुरुषोको उनके धर्मकी रक्षाके लिये तथा सघकी वृद्धिके लिये दर्शन और चारित्रमे वारिषेण मुनिके समान पुन स्थापन करना स्थिरीकरण गुण है, इसका पालन करना चाहिये ॥४०॥ तपोगुण आदिसे वृद्ध साधर्मी जनोकी जो अवज्ञा की जाती है, वह अवात्सल्य दोष है, जो सम्यक्त्वकी क्षतिका कारण कहा गया है ॥४१॥ साधर्मी जनोमे जो निश्छल व्यवहारवाला विष्णुकुमार मुनिके समान यथा-योग्य स्नेह और आदर-सम्मान किया जाता है, वह वात्सल्य गुण है, उसे करना चाहिये ॥४२॥ सामर्थ्य होनेपर भी जो जैन शासनका प्रकाशन नही करना, उसे सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाला अप्रभावन दोष कहा गया है ॥४३॥ इसलिये पूजा, दान, विद्या आदिके द्वारा तथा अनेक प्रकारके तपोके द्वारा वज्रकुमार मुनिके समान सदा जैन मार्गकी प्रभावना करनी चाहिये ॥४४॥ यह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—सराग सम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्व। प्रथम सरागसम्यक्त्व प्रशम-सवेगादि गुणवाला है और दूसरा वीतराग सम्यक्त्व आत्मशुद्धिका स्वरूप है ॥४५॥ प्रशम, सवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यग्दर्शनके अनुमापक हैं। अर्थात् इन गुणोंके द्वारा जीवमे सम्यग्दर्शन होनेका अनुमान किया जाता है ॥४६॥ जिस प्रकार जीवमे सुखादिक पाये जानेसे धर्म आदि अतीन्द्रिय वस्तुका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार प्रशम आदि गुणोंसे जीवमे सम्यक्त्वरत्नके होनेका अनुमान किया जाता है ॥४७॥ रागादि दोषोमे

यद्-रागादिदोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम् । शमः समुच्यते तज्ज्ञै समस्तव्रतभूषणम् ॥४८
धर्मे धर्मफले रागः संवेग स समुच्यते । निर्वेगो देह-ससारभोगान्निर्विण्णता मता ॥४९
मनसा वपुषा वाचा सति दोषे विनिन्दनम् । आत्मसाक्षि भवे निन्दा गर्हा गुर्वादिसाक्षिकी ॥५०
अर्हच्छ्रु तपोभृत्सु वन्दनास्तवनार्चने । स्यादान्तरोऽनुरागो य. सा भक्तिरिति कीर्त्यते ॥५१
तत्त्वाऽऽप्तव्रतमार्गेषु चित्तमस्तित्वसयुतम् । यत्तदास्तिक्यमित्युक्त सम्यक्त्वस्य विभूषणम् ॥५२
सर्वजन्तुषु चित्तस्य कृपाऽऽर्द्रत्व कृपालव । सद्धर्मस्य पर बीजमनुकम्पां वदन्ति ताम् ॥५३
चारित्र देहज ज्ञानमक्षज मोहजा रुचि । मुक्तात्मनि यतो नास्ति तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥५४
तीव्रक्रोधादिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वकर्मणाम् । सप्ताना क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमितोऽपि च ॥५५
क्षायिक चौपशमिक क्षायोपशमिक तथा । सम्यक्त्व त्रिविध प्रोक्त तत्त्वनिश्चलतात्मकम् ॥५६
आज्ञामार्गोपदेशात्तु सूत्रबीजसमासजम् । विस्तारोऽर्थोद्भव वा च परमावादिगाढके ॥५७
सर्वज्ञोपज्ञमार्गस्यानुज्ञा साज्ञा समुच्यते । रत्नत्रयविचारस्य मार्गो मार्गस्तु कीर्त्यते ॥५८
पुराणपुरुषाख्यानश्रुत्यादेशो निगद्यते । उपदेशो यत्याचारवर्णन सूत्रमुच्यते ॥५९
सर्वागमफलावाप्ति-सूचन बीजमुच्यते । स समासो य सक्षेपालापस्तत्त्वाप्तवर्णनम् ॥६०

चित्तवृत्तिके शान्त होनेको ज्ञानियोने समस्त व्रतोका भूषणस्वरूप प्रशम गुण कहा है ॥४८॥ धर्म और धर्मके फलमे जो अनुराग है, वह सवेग कहलाता है। ससार, शरीर और इन्द्रियोके भोगोसे विरक्तिको निर्वेग माना गया है ॥४९॥ किसी व्रतमे दोष लग जानेपर मनसे वचनसे और कायसे जो अपनी निन्दा की जाती है, वह यदि आत्मसाक्षीपूर्वक हो तो निन्दा गुण है, और यदि गुरु आदिकी साक्षीपूर्वक हो, तो गर्हा गुण है ॥५०॥ अरहन्त, श्रुत और गुरुओमे वन्दना, स्तवन और अर्चन करते हुए जो आन्तरिक अनुराग प्रकट किया जाता है, वह भक्ति कही जाती है ॥५१॥ तत्त्व, आप्त, व्रत और जैनमार्गमे जो अस्तित्वबुद्धिसे युक्त चित्तका होना, सो आस्तिक्य कहा जाता है। यह गुण सम्यक्त्वका आभूषण है ॥५२॥ सर्व प्राणियोपर चित्तका दयासे भीग जाना अनुकम्पा है। दयालु पुरुष इस अनुकम्पा गुणको सद्-धर्मका बीज कहते है ॥५३॥ यत मुक्त आत्मामे शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला चारित्र, इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और मोहसे प्रकट होनेवाली रुचि नही पाई जाती है, अत आत्मा ही सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र इन तीनोमय है ॥५४॥ तीव्र क्रोधादिरूप अनन्तानुवन्धी कषायचतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति इन सात कर्मोके क्षयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको क्षायिकसम्यक्त्व कहते है। उन ही सातो कर्मोके उपशमसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको औपशमिकसम्यक्त्व कहते है, और उन ही सातो कर्मोके क्षयोपशमसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। इस प्रकार तत्त्वनिश्चयात्मक सम्यक्त्व तीन प्रकारका कहा गया है ॥५५-५६॥ सम्यग्दर्शनके जो दश भेद कहे गये है वे इस प्रकार हैं—आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बोजसम्यक्त्व, समास या सक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसमुद्भवसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढ-सम्यक्त्व ॥५७॥ सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गकी अनुज्ञाको प्रमाण मानकर श्रद्धान करना आज्ञासम्यक्त्व है। रत्नत्रयकी प्राप्तिके मार्गका विचार करना मार्गसम्यक्त्व कहा जाता है ॥५८॥ त्रेसठशलाकापुराण पुरुषोके कथानक सुनकर उत्पन्न होनेवाले सम्यक्त्वको उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं। मुनिजनोंके आचारका वर्णन सुनकर होनेवाले सम्यक्त्वको सूत्रसम्यक्त्व कहते है ॥५९॥ सर्व

विस्तारोऽङ्गादिविस्तीर्णश्रुतस्यार्थसमर्थता । स्वप्रत्यय समर्थ स्यादर्थस्त्वागमगोचर ॥६१
अङ्गपूर्वप्रकीर्णात्मश्रुतस्यैकतमे स्थले । नि शेषार्थाववोधार्थं भवेत्तदवगाढकम् ॥६२
सर्वज्ञानावधिज्ञानमन पर्ययसन्निधौ । यदात्मप्रत्ययोत्थ तत्परमाद्यवगाढकम् ॥६३
तदुत्पत्तिर्निसर्गेणाधिगमेन च जायते । अल्पात्प्रयासतस्त्वाद्या द्वितीया बहुतस्तत ॥६४
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं महत्त्वाद्यवलोकने । वाह्योपदेशकार्याद्वा ज्ञानं यत्तन्निसर्गजम् ॥६५
प्रमाण-नय-निक्षेपैस्तत्त्वं निश्चित्य ह्यात्मन. । सन्देहादीनपाकृत्य रुचिः साधिगमोद्भवा ॥६६
दोषा गुणा गुणा दोषा वैपरीत्ये भवन्त्यमी । भावान्तरस्वभावोऽयमभावो यद्यवस्थित ॥६७
त्रयस्त्रिंशद्-गुणैर्युक्तं दोषैस्तावद्भिरुज्झितम् । य पालयति सम्यक्त्वं स याति त्रिजगच्छ्रियम् ॥६८
एकमेव हि सम्यक्त्वं यस्य जातं गुणोज्ज्वलम् । षट्पाताल-त्रिधादेवस्त्रीपूत्पत्ति विलुम्पति ॥६९

तमवनिपतिसम्पत्सेवते नाकलक्ष्मीर्भवति गुणसमृद्धिस्तं वृणीते च सिद्धिः ।
स भवजलधिपारं प्राप्तवान् कर्मदूरं त्रिजगदमितदृष्टिर्निर्मला यस्य दृष्टिः ॥७०

आगमके फलकी प्राप्तिकी सूचना करनेवाले बीजपदसे उत्पन्न सम्यक्त्वको बीजसम्यक्त्व कहते हैं। तत्त्वोका और आप्त-आगमादिका सक्षेपमे वर्णन सुनकर उत्पन्न सम्यक्त्वको समाससम्यक्त्व कहते हैं ॥६०॥ अग-पूर्व आदि विस्तृत श्रुतके अभ्याससे उत्पन्न सम्यक्त्वको विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। द्वादशाङ्गवाणीके अर्थको अपने आप हृदयगम करनेसे उत्पन्न सम्यक्त्वको अर्थसमुद्भवसम्यक्त्व कहते हैं ॥६१॥ अग, पूर्व और प्रकीर्णकरूप श्रुतके किसी एक स्थलपर चिन्तवन करते हुए समस्त अर्थका ज्ञान होनेसे जो दृढ सम्यक्त्व होता है, वह अवगाढसम्यक्त्व है ॥६२॥ केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके सान्निध्यमे जो आत्मप्रतीतिसे उत्पन्न दृढसम्यक्त्व होता है, वह परमावगाढ-सम्यक्त्व है ॥६३॥ यहाँपर इतना विशेष ज्ञातव्य है कि आत्मानुशासन आदिमे श्रुतकेवलीके सम्यक्त्वको अवगाढसम्यक्त्व और केवलीभगवान्‌के सम्यक्त्वको परमावगाढसम्यक्त्व कहा गया है। उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति निसर्गसे और अधिगमसे होती है। इनमे अल्प प्रयत्नसे निसर्ग-सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और वहुत प्रयत्नसे अधिगमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥६४॥ द्रव्यादि योग्य सामग्रीको पाकर, कल्याणकोंके माहात्म्य आदिके देखनेपर, अथवा वाह्य उपदेशरूप कार्यसे जो यथार्थज्ञान होता है, वह निसर्गजसम्यक्त्व है ॥६५॥ प्रमाण, नय और निक्षेपसे तत्त्वका निश्चय करके और अपने सन्देह आदिको दूर करके जो रुचि उत्पन्न होती है वह अधिगमज सम्यक्त्व है ॥६६॥ रुचि या श्रद्धाके विपरीत होनेपर अर्थात् उसके अभावमे दोष तो गुण प्रतीत होने लगते हैं और गुण दोष मालूम पडने लगते हैं ? क्योकि जैनमतमे अभावको भावान्तर-स्वभावी अवस्थित माना गया है। अर्थात् जव सम्यक्त्वका अभाव है, ऐसा कहा जाय, तव उसके प्रतिपक्षी मिथ्यात्व-का सद्भाव वही पर जानना चाहिए ॥६७॥ जो मनुष्य तेतीस गुणोसे युक्त और इतने ही दोषोसे रहित सम्यक्त्वको पालता है, वह तीन जगत्‌की लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥६८॥ भावार्थ—सम्यक्त्व के पच्चीस दोष पहले वतलाये गये है, उनमे प्रशम, सवेग आदि आठ गुणोके अभावरूप आठ दोष मिलानेपर तेतीस दोष हो जाते हैं। तथा इन्ही तेतीस दोषोके अभाव होनेपर तेतीस गुण प्रकट हो जाते है क्योकि ऊपर अभावको भावान्तर स्वभावी वतलाया गया है। जिस पुरुषके गुणोंसे उज्ज्वल एक ही सम्यक्त्वरत्न उत्पन्न हो जाता है, वह छह पातालो (नरको) मे भवनत्रिक देवोमे और सर्व प्रकारकी स्त्रियोमे अपनी उत्पत्तिका विलोप कर देता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव इनमे जन्म नही लेता है ॥६९॥ जिसकी दृष्टि (सम्यग्दर्शन) निर्मल है, उसकी राज्यलक्ष्मी सेवा करती है,

दृष्टिनिष्ठ कनिष्ठोऽपि वरिष्ठो गुणभूषण । दृष्टचनिष्ठो वरिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽगुणभूषण ॥७१

इति श्रीमद्-गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे
साधुनेमिदेवनामाङ्किते सम्यक्त्ववर्णन नाम प्रथमोद्देश' ॥१॥



स्वर्गलक्ष्मी प्राप्त होती है, गुणोकी समृद्धिवाली सिद्धि उसे वरण करतो है और वह तीन जगत्को देखनेवाली अनन्तदृष्टिवाला होकर, कर्मोको दूरकर ससार-समुद्रके पारको प्राप्त होता है ॥७०॥ सम्यक्दृष्टिसे युक्त कनिष्ठ (लघु या नोच) भी पुरुष वरिष्ठ (श्रेष्ठ) गुणभूपण है और सम्यक् दृष्टिसे रहित वरिष्ठ भी पुरुप कनिष्ठ और अगुणभूषण है ॥७१॥

भावार्थ—इस श्लोकमे ग्रन्थकारने श्लेषरूपसे 'गुणभूषण' यह अपना नाम प्रकट किया है।

इस प्रकार श्रीगुणभूपणाचार्य-रचित, भव्यजन-चित्तवल्लभ नामवाले और साहु नेमिदेवके नामसे अंकित इस श्रावकाचारमे सम्यक्त्वका वर्णन करनेवाला पहला उद्देश समाप्त हुआ।



दूसरा उद्देश

यत्सन्देहविपर्यासाव्यवसायसमुज्झितम् । तत्स्वार्थव्यवसायात्मा सम्यग्ज्ञानं समुच्यते ॥१
परोक्षाध्यक्षभेदेन तद्-द्वेधा स्याद् द्विधा पुन । मति-श्रुतादिभेदेन परोक्षज्ञानमुच्यते ॥२
इन्द्रियानिन्द्रियोद्भूत मतिज्ञानं तु षड्-विधम् । अवग्रहादिभिन्नं तु तच्चतुर्विंशतिप्रमम् ॥३
तदष्टाशीतिद्विशतीभेदं वह्वादिसद्-गुणात् । षट्त्रिंशत्रिशतीभेदं व्यञ्जनावग्रहैर्युतम् ॥४
मतिपूर्वं श्रुतं ज्ञेयं सर्वभावस्वभावकम् । केवलज्ञानवच्चास्माद् भेदोऽसाक्षात्प्रकाशनात् ॥५
विस्तारेणाङ्गपूर्वादिभेदं तच्च प्रकीर्त्यते । संक्षेपात्तु चतुर्भेदं तदेवात्र निरूप्यते ॥६
तीर्थचक्रार्धचक्रेशवलादेर्यत्कथानकम् । प्रथम सोऽनुयोग स्यात्तत्परीक्षात्मकश्च स ॥७
यतीनां श्रावकाणां च यत्र धर्मो निरूप्यते । चरणानुयोग. स स्यात्तद्विचारस्वभावक ॥८
अधोमध्योर्ध्वलोकानां संख्या-नामादिवर्णनम् । क्रियते यत्र स ज्ञेयो योगः स करणात्मकः ॥९
विशुद्धशुद्धजीवादिषड्द्रव्याणा निरूपणम् । यस्मिन् विधीयते द्रव्यानुयोग स प्रकीर्त्तित ॥१०
प्रत्यक्षं त्ववधिज्ञानमन पर्ययकेवलम् । द्विवा स्यादवधिज्ञानं द्वेधागुण-भवोत्थितम् ॥११

जो ज्ञान सन्देह, विपर्यास और अनध्यवसायसे रहित और स्व-परका निश्चय करनेवाला होता है, वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥१॥ वह सम्यग्ज्ञान परोक्ष और प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है। उनमे परोक्ष ज्ञान मति और श्रुतज्ञानके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥२॥ मतिज्ञान पाँच इन्द्रियोसे और अनिन्द्रियसे (मनसे) उत्पन्न होनेके कारण छह प्रकारका है और वह अवग्रह ईहा अवाय और धारणाके भेदसे भिन्नताको प्राप्त होकर चौवीस प्रकारका हो जाता है ॥३॥ पुन वह चौवीस प्रकारका मतिज्ञान वहु, वहुविध आदि वारह प्रकारके पदार्थोको जाननेसे उनके द्वारा गुणित करनेपर दो सौ अट्ठासी भेद वाला हो जाता है। (ये २८८ भेद अर्थावग्रहके हैं।) इनमे व्यञ्जनावग्रहके अडतालीस भेद और मिलाने पर (२८८ + ४८ = ३३६) मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥४॥ इन सर्व मतिज्ञानके भेदोका विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थ सूत्रके प्रथम अध्यायकी टीकाओसे जानना चाहिए। मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान जानना चाहिए। वह केवलज्ञानके समान सर्वभावस्वभावी है, अर्थात् सर्व पदार्थोको जानता है। भेद केवल इतना ही है कि केवलज्ञान सर्वपदार्थोको साक्षात् प्रत्यक्ष रूपसे जानता है और यह श्रुतज्ञान असाक्षात् अर्थात् परोक्षरूपसे जानता है ॥५॥ विस्तारकी अपेक्षा श्रुतज्ञान, अग, पूर्व आदिकी अपेक्षा अनेक भेद रूप कहा गया है। किन्तु यहाँ पर सक्षेपसे चार भेदोके रूपमे उसका निरूपण किया जाता है ॥६॥ तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, अर्धचक्री (नारायण-प्रतिनारायण) और वलभद्र आदि महापुरुषोके कथानकोको प्रथमानुयोग कहते हैं। यह प्रथमानुयोग परीक्षात्मक है, अर्थात् आदर्श पुरुषोके गुण-दोपोकी परीक्षा करता है ॥७॥ मुनियो और श्रावकोका आचार धर्म जिसमे निरूपण किया जाता है, वह चरणानुयोग है। यह अनुयोग मुनि-श्रावकोके आचारका विचार करता है ॥८॥ जिसमे अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोककी सख्या, नाम, प्रमाण आदिका वर्णन किया गया है, वह करणानुयोग जानना चाहिए ॥९॥ जिसमे शुद्ध-अशुद्ध स्वभाववाले जीवादि षड्द्रव्योका निरूपण किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहा गया है ॥१०॥ इस प्रकार चार अनुयोगरूप श्रुतज्ञान जानना चाहिए।

गुणोत्थमवधिज्ञानं नर-तिर्यक्षु जायते । भवसमुद्भूतं देव-नारकेषु जिनेष्वपि ॥१२
गुणोत्थितं देश-सर्व-परमावधितस्त्रिधा । षोढा देशावधिस्तत्र वर्धमानादिभेदत ॥१३
वर्धमानो हीयमानोऽनवस्थः स्यादवस्थित । अनुगाम्यननुगामी षोढा देशावधिर्मत ॥१४
शुक्लचन्द्रवदुत्पद्यानवस्थं समयं प्रति । वृद्धचा केवलमुत्कृष्ट न नश्येत्तद्वर्धमानकम् ॥१५
चन्द्रवत्कृष्णपक्षे स्याद् वृद्धचवस्थानवर्जितम् । ज्ञानं सद्धीयते सर्व-नाशं तद्धीयमानकम् ॥१६
यत्सूर्यबिम्बवज्जातं वृद्धि-हानिसमुज्झितम् । आकेवलमवस्थाय विनश्येत्तदवस्थितम् ॥१७
उत्पन्नं यत्कदाचित्तु हीयते वर्धतेऽपि च । अवतिष्ठते कदाचिच्च तद्भूवेदनवस्थितम् ॥१८
अनुगामि यदुत्पन्नं जीवेन सह गच्छति । तत्त्रेधा स्यात् क्षेत्रजन्मक्षेत्रजन्मानुगामिन ॥१९
क्षेत्रानुगामि यज्जातं याति क्षेत्रान्तरं समम् । भवानुगामि यज्जातं जीवेनान्यभवे व्रजेत् ॥२०
क्षेत्रजन्मानुगाम्युक्तं यज्जीवेन समं व्रजेत् । नृ-देवादिभवं क्षेत्रं भरतैरावतादिकम् ॥२१
त्रेधाननुगामी क्षेत्रभवोभयानुगामिनः । क्षेत्राननुगामी क्षेत्रा नैति याति भवान्तरम् ॥२२
देशावधिर्जघन्येन नो कर्मौदारसञ्चयम् । मध्ययोगार्जितं लोकविभक्तमधिगच्छति ॥२३

प्रत्यक्ष दानके तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनमे अवधिज्ञान दो प्रकारका है—गुणोत्थित और भवोत्थित । गुणसे उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोमे होता है और भवके साथ उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान देव, नारकी और तीर्थंकर जिनराजो मे होता है ॥११-१२॥ गुणोत्थित या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीन प्रकारका है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधिज्ञान । इनमे देशावधिज्ञान वर्धमान आदिके भेदसे छह प्रकारका है ॥१३॥ वे छह भेद इस प्रकार हैं—वर्धमान, हीयमान, अनवस्थित, अवस्थित, अनुगामी और अननुगामी । इस प्रकार देशावधि छह प्रकारका माना गया है ॥१४॥ जो शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान उत्पन्न होकर एक रूपसे अवस्थित न रहकर प्रतिसमय केवल वृद्धिके साथ उत्कृष्ट सीमा तक बढता ही जाय, कभी नष्ट न हो, वह वर्धमान देशावधि है ॥१५॥ जो कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान वृद्धि और अवस्थानसे रहित होकर निरन्तर सर्वनाश होने तक घटता ही जाय वह हीयमान देशावधिज्ञान है ॥१६॥ जो सूर्य बिम्बके समान उत्पन्न होनेके पश्चात् वृद्धि और हानिसे रहित होकर एक रूपसे अवस्थित रहकर केवलज्ञान होने पर विनष्ट हो, वह अवस्थित देशावधिज्ञान है ॥१७॥ जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् कदाचित् घटे, कदाचित् बढे और कदाचित अवस्थित भी रहे, वह अनवस्थित देशावधिज्ञान है ॥१८॥ उत्पन्न हुआ जो अवधिज्ञान जीवके साथ जाता है, वह अनुगामो कहलाता है। वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, जन्मानुगामी और क्षेत्र-जन्मानुगामी ॥१९॥ किसी विशिष्ट क्षेत्रमे उत्पन्न हुआ जो अवधिज्ञान जीवके साथ अन्य क्षेत्रमे भी जाता है वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है। जो उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान जीवके साथ अन्य भवमें जावे, वह भवानुगामी अवधिज्ञान है ॥२०॥ जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्रमे और जिस भवमे उत्पन्न हुआ है, वह जीवके साथ मनुष्य-देवादि अन्य भवमे और भरत-ऐरावतादि अन्य क्षेत्रमे जावे, वह क्षेत्र-भवानुगामी अर्थात् उभयानुगामी अवधिज्ञान है ॥२१॥ अननुगामी अवधिज्ञान तीन प्रकारका है—क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और उभयाननुगामी । क्षेत्राननुगामी जीवके साथ अन्य क्षेत्रमे, भवाननुगामी जीवके साथ अन्य भवमे और उभयाननुगामी जीवके साथ दोनो ही स्थानोमे नही जाता है ॥२२॥

मध्यमयोगसे सचित विस्रसोपचय-सहित नोकर्म औदारिक वर्गणाके सचयमे लोकके प्रदेशोका भाग देनेपर जितना द्रव्य लब्ध आता है, उतने द्रव्यको जघन्य देशावधि जानता है ॥२३॥

कर्मणां वर्गणामेकध्रुवहारविभाजितम् । वरो देशावधिर्वेत्ति मध्यमो वेत्त्यनेकधा ॥२४
वरदेशावधिर्ज्ञेय ध्रुवहारविभाजितम् । परोऽवधिर्जघन्येन वेत्ति मध्यस्त्वनेकधा ॥२५
वरः परावधिर्वेत्ति स्वावगाहविभाजिते । तैजसे त्ववशिष्टं यद् ध्रुवहारप्रमाणकम् ॥२६
सर्वावधिर्निर्विकल्पपरमाणु निवोधति । पर सर्वावधिस्त्वन्त्यशरीरे विरते भवेत् ॥२७

चिन्तिताचिन्तितं वार्धचिन्तितं सर्वभावगम् । नृलोक एव यद्वेत्ति तन्मन पर्ययं स्मृतम् ॥२८
विपुलर्जुविबुद्धिभ्यां तद्-द्वेधाऽऽद्यं तु षड्विधम् । वक्रेतरमनःकायवाग्गतार्थनिवोधनात् ॥२९
त्रेधा स्यादृजुर्वाक्कायचित्तस्थार्थप्रवेदनात् । द्वितीयं तच्च सम्पाति पूर्वं त्वप्रतिपातिकम् ॥३०
त्रिकालगोचरं मूर्त्तं समीपस्थेन चिन्तितम् । ऋजुबुद्धिर्वेत्ति पूर्वं चिन्तिताचिन्तितं च तम् ॥३१

करणक्रमनिर्मुक्तं लोकालोकप्रकाशकम् । सर्वावरणनाशोत्थं केवलज्ञानमुच्यते ॥३२
उपचारोऽस्ति तं रूप तत्त्वं सज्ज्ञानतोऽखिलम् । सम्यङ्निश्चित्य सम्यक्त्वं विश्वासात्मोपजायते ३३
सम्यग्ज्ञानं विना नैव तत्त्वनिश्चयसम्भव । कर्मोच्छित्तिर्न तं मुक्त्वा न मोक्षाप्तिश्च तां विना ॥३४

कार्मण वर्गणामे एक वार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो लब्ध आता है, उतने द्रव्यको उत्कृष्ट देशावधि जानता है । मध्यम देशावधि जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यवर्ती अनेक प्रकारके द्रव्यको जानता है ॥२४॥ देशावधिज्ञानका जो उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण है, उसे ध्रुवहारसे विभाजित करनेपर जितना द्रव्य प्राप्त होता है, उसे जघन्य परमावधिज्ञान जानता है । तैजस्कायिक जीवराशिके प्रमाणमे उसकी अवगाहनाके भेदोंसे विभाजित करनेपर जो ध्रुवहार प्रमाण द्रव्य अवशिष्ट रहता है, उसे उत्कृष्ट परमावधिज्ञान जानता है । जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यवर्ती अनेक भेदोको मध्यम परमावधि जानता है ॥२५–२६॥ सर्वावधिज्ञान एक निर्विकल्प या अविभागी परमाणुको जानता है । यह परमावधि और सर्वावधिज्ञान चरमशरीर सयतजीवके उत्पन्न होता है ॥२७॥ जो मनुष्य लोकवर्ती जीवोके मनमे चिन्तवन किये गये, नही चिन्तवन किये गये और आधे चिन्तवन किये गये सर्वपदार्थोको जानता है, वह मन पर्ययज्ञान माना गया है ॥२८॥ वह मन-पर्ययज्ञान विपुलमति और ऋजुमतिके भेदसे दो प्रकारका है । उनमेसे आदिका विपुलमति मन-पर्ययज्ञान वक्र मन-वचन-कायगत और अवक्र (ऋजु) मन-वचन-कायगत पदार्थोंके जाननेसे छह प्रकारका है ॥२९॥ ऋजुमति मन पर्ययज्ञान ऋजु (सरल) मन-वचन-कायगत पदार्थोंके जाननेसे तीन प्रकारका है । यह दूसरा ऋजुमतिमन पर्ययज्ञान प्रतिपाति है, अर्थात् होकरके छूट जाता है । किन्तु पहला विपुलमतिमन पर्ययज्ञान अप्रतिपाति है ॥३०॥ समीपमे स्थित जीवके द्वारा चिन्तवन किये गये त्रिकाल-सम्बन्धी मूर्त्तद्रव्यको ऋजुमतिमन पर्ययज्ञान जानता है और विपुल-मतिमन पर्ययज्ञान मनुष्यलोकमे स्थित जीवके चिन्तित और अचिन्तित सर्व प्रकारके त्रिकाल-गोचर मूर्त्त द्रव्यको जानता है ॥३१॥ जो ज्ञान इन्द्रियो द्वारा जाननेके क्रमसे विमुक्त है, लोक और अलोकका प्रकाशक है और सम्पूर्ण ज्ञानावरणकर्मके विनाश होनेपर उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान कहलाता है ॥३२॥ इस प्रकार समस्त तत्त्वोंके यथार्थस्वरूपको सम्यग्ज्ञानसे भली-भाँति निश्चय करके दृढ विश्वासात्मक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥३३॥ सम्यग्ज्ञानके विना, तत्त्वोका निश्चय सम्भव नही है । तत्त्वोंके निश्चयके विना कर्मोका विनाश नही हो सकता है और कर्मोके विनाशके विना मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती है, इसलिए मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी चाहिए ॥३४॥

विनोद्योतं यथा न स्यात्पुमान् सद्-गतिभाजनम् ।
विना ज्ञानं तथा न स्यात् पुमान् सद्-गतिभाजनम् ॥३५
न तस्य तत्त्वाप्तिरिहास्ति दूरे न कर्मनाशोऽप्यधुना समर्थः ।
न मोक्षलक्ष्मीरनवाप्यभाव. स्यादभ्रसविद्-गुणभूषणो य ॥३६
बुद्धिनिष्ठ कनिष्ठोऽपि वरिष्ठो गुणभूषण । वुद्ध्यनिष्ठो वरिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽगुणभूषण. ॥३७

इति श्रीगुणभृपणाचाय-विरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे
साधुनेमिदेवनामाङ्किते सम्यग्ज्ञानवर्णनो नाम द्वितीयोद्देश ॥२॥



जैसे प्रकाशके विना मनुष्य अभीष्ट स्थानको जाननेका पात्र नही है, उसी प्रकार ज्ञानके विना पुरुप सद्-गतिका भाजन नही हो सकता है ॥३५॥ जो पुरुष निर्मल सम्यग्ज्ञानगुणसे विभूपित है, उसको तत्त्वोकी प्राप्ति होना इस लोकमे दूर नही है, और न कर्मोका नाश होना दूर है, प्रत्युत वह इसी भवमे कर्मनाश करनेके लिए समर्थ है। सम्यग्ज्ञानी पुरुषके लिए मोक्षलक्ष्मी भी अप्राप्य नही है, अर्थात् वह शीघ्र ही निश्चयसे प्राप्त होती है ॥३६॥ सम्यग्ज्ञानसे युक्त कनिष्ठ (लघु) भी पुरुप वरिष्ठ है और गुणोसे आभूपित हे। किन्तु सम्यग्ज्ञानसे रहित श्रेष्ठ भी पुरुष कनिष्ठ है और उत्तम गुणोसे रहित है ॥३७॥

इस प्रकार श्रीगुणभद्राचार्य-विरन्वित भव्यजनचित्तवल्लभ नामवाले और साहु नेमिदेवके नामसे अकित इस श्रावकाचारमे सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेवाला दूसरा उद्देश समाप्त हुआ ॥२॥



तीसरा उद्देश

शुभप्रवृत्तिरूपा या निवृत्तिरशुभाद् भवेत् । तच्चारित्रं द्विधा प्रोक्तं सागार-विरताश्रितम् ॥१
दार्शनिकश्च व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च । तस्मात्सचित्तविरतो दिवा सदा ब्रह्मचारी च ॥२
स्यादारम्भाद्विरतः परिग्रहादनुमतात्तयोद्दिष्टात् । इत्येकादश भेदाः सागारा देशयत्याद्या ॥३
उदुम्बराणि पञ्चैव सप्तव्यसनान्यपि । वर्जयेद्यः स सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वयः ॥४
प्रत्यक्षविषयैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्चागमगोचरैः । सर्वैराकीर्णमध्यानि कृपालुस्तानि वर्जयेत् ॥५
द्यूतमद्यामिषं वेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गना । सप्तैवैतानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधीः ॥६
असत्यस्य निधानं यत्कृत्याकृत्यविवर्जितम् । दुर्गतेर्वर्त्म तत्त्याज्यं द्यूतं क्रोधादिवर्धनम् ॥७
यदुत्पद्य मृता प्राणिदेहजोन्मादशक्तिकम् । सर्वावद्यपुरश्चार्यनिन्द्यं मद्यं भजेच्च कः ॥८
जातं यन्मक्षिकागर्भसम्भूताण्डकपीडनात् । तत्कथं कलिलप्रायं सेव्यं दुर्गतिदं मधु ॥९
प्राणिदेहविघातोत्थमनेककृमिसङ्कुलम् । पूतिगन्धं च बीभत्सं त्याज्यं मांसं कृपालुना ॥१०
मद्यमांससमायुक्ता कुक्कुरपात्रसन्निभा । जनावस्करसादृश्या वेश्या द्वारं च दुर्गतेः ॥११

जो शुभ क्रियाओमे प्रवृत्ति और अशुभ कार्योसे निवृत्ति है, वह चारित्र कहलाता है। वह चारित्र दो प्रकारका है—सागार-आश्रित और विरत-(अनगार-) आश्रित ॥१॥ सागार-आश्रित चारित्रके ग्यारह भेद हैं—दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, दिवा ब्रह्मचारी, सदा ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत। ये सब देशयति, देश सयमी, श्रावक और उपासक नाम वाले जीव सागार कहलाते हैं ॥२-३॥ जो जीव पाँचो उदुम्बर फलोको और सातो ही व्यसनोका त्याग करे, वह दार्शनिक नामका श्रावक है ॥४॥ वट, पीपल आदि पाँचो ही उदुम्बर फल प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होनेवाले स्थूल त्रसजीवोसे, तथा आगम-गोचर असख्य सूक्ष्म जीवोसे भरे हुए हैं, अत दयालु पुरुषोको उनका त्याग करना चाहिए ॥५॥ जूआ, मद्य, मास, वेश्या, आखेट (शिकार), चोरी और परस्त्रीका सेवन करना, इन सातो ही पापोको व्यसन कहते हैं। ज्ञानी जनोको इनका त्याग करना चाहिए ॥६॥ जूआ खेलना असत्यका भण्डार है, कर्त्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित है, दुर्गतिका मार्ग है और क्रोधादिकषायोको बढानेवाला है, इसलिए जूआ खेलनेका त्याग करना चाहिए ॥७॥ जिसमे प्राणी सदा उत्पन्न होते मरते रहते हैं, जो प्राणियोंके उन्मादको बढानेवाला है, सर्व पापोका अग्रगामी है और आर्य पुरुषोंके द्वारा निन्दनीय है, ऐसे मद्य (मदिरा) को कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? कोई भी नही ॥८॥ जो मधु-मक्षिकाओके गर्भसे उत्पन्न हुए अण्डोंके पीडनसे उत्पन्न होता है, मासके सदृश दिखाई देता है, और जिसका सेवन दुर्गतियोको देनेवाला है, ऐसा मधु कैसे सेवन योग्य हो सकता है ? अर्थात् ऐसा मधु सेवनके योग्य नही है ॥९॥ जो जीवोके देहका विघात करके उत्पन्न होता है, अनेक कृमियोसे परिपूर्ण है, दुर्गन्धमय है और देखनेमे बीभत्स है, ऐसा मास दयालु जनोको त्यागनेके योग्य है ॥१०॥ जो वेश्याएँ निरन्तर मद्य-मासका सेवन करती रहती हैं, कुत्तोके द्वारा चाटे जाने-वाले पत्रके सदृश हैं और मनुष्योके मल-मूत्र करनेके स्थानके समान हैं, ऐसी वेश्याएँ दुर्गतिकी

भयकम्पसमाक्रान्तं प्राणिवर्गनिरागसम् । विलोक्य कोऽनुकम्पावान् खेट दुर्गतिदं भजेत् ॥१२
यद्वृत्तेऽत्र सदा भीतिं हस्ताद्यवयवच्छिदम् । दु खं परत्र दुर्वार्यं तच्चौरं मतिमान् त्यजेत् ॥१३
परस्त्रीसङ्गतेरस्यासौभाग्यं किमिवोच्यते । सत्यां यस्या भवत्येव पुमान् दुर्गतिवल्लभ ॥१४
पण्डो सुता यदो पुत्रा वकाख्यश्चारुदत्तक । ब्रह्मदत्त शिवभूतिर्दशास्यप्रमुखा नरा ॥१५
एते प्राप्ता महादु खं एकैकव्यसनादत । सेवते यस्त्वशेषाणि स स्याद्दु खैकभाजनम् ॥१६
विशोध्याद्यात्फलसिम्बि द्विदलमुम्बरव्रतम् । त्यजेत्स्नेहाम्बु चर्मस्थं व्यापन्नान्नं पलव्रती ॥१७
काञ्जिकं पुष्पितमपि दधि तक्रं द्व्यहोषितम् । सन्धानकं नवनीतं त्यजेन्नित्यं मधुव्रती ॥१८
रात्रिभुक्तिपरित्यागो गालिताम्बुनिषेवणम् । कार्यं मांसाशनत्यागकारिणा न स चान्यथा ॥१९

दिनान्ते य द्विषन्नास्ते कुन्थ्वादिप्राणिनां गणा ।
भोज्यं भूतादि भुङ्क्ते च नक्तंभुक्ति ततस्त्यजे ॥२०

सम्मूर्च्छति मुहूर्त्तेन गालितं च जलं यतः । सत्सर्वत्र श्रुतेनैव नाम्भःपानादिकं त्यजेत् ॥२१
पञ्चधाऽणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्स भवेद् व्रतिको यति ॥२२

द्वार हैं। अत उनका सेवन नही करना चाहिए ॥११॥ जो प्राणीवर्ग भय-भीत है अर्थात् भयसे अत्यन्त व्याप्त है और निरपराधी है, ऐसे दीन प्राणियोको देखकरके कौन दयावान् मनुष्य दुर्गतिको देनेवाले आखेट (शिकार) को करेगा ॥१२॥ जो चोरी मनुष्यको इस लोकमे सदा भयभीत रखती है, शरीरके हाथ आदि अगोको कटवाती है और परलोकमे दुर्निवार दु खोको देती है, ऐसी चोरी-का बुद्धिमानोको त्याग ही करना चाहिए ॥१३॥ परायी स्त्रीकी सगतिको, मनुष्यका इससे अधिक और दुर्भाग्य क्या कहा जाय कि जिसके सम्पर्क होने पर मनुष्य दुर्गतियोका वल्लभ हो जाता है ॥१४॥ देखो—जूआ खेलनेसे पण्डुराजाके पुत्र पाण्डव महान् दु खोको प्राप्त हुए, मद्यपानसे यदुराजके पुत्र यादव नष्ट हुए, मास-भक्षणसे वकराजा मारा गया, वेश्या सेवनसे चारुदत्त सेठकी दुर्गति हुई, आखेटसे ब्रह्मदत्तने महा दु ख पाया, चोरीसे शिवभूति ब्राह्मण दुर्गतिको गया और परस्त्री-हरणसे रावण मारा गया। जब ऐसे ऐसे प्रमुख पुरुष एक एक व्यसनके सेवनसे महादु खको प्राप्त हुए, तो जो पुरुष समस्त ही व्यसनोको सेवन करेगा, वह तो नियमसे ही दु खोका पात्र होवेगा ॥१५–१६॥ पञ्चउदुम्बर खानेका त्यागी श्रावक फलोको और सेम भिण्डी आदि शाकोको दो दल करके और शोध करके खावे। मास खानेका त्यागी चमडेमे रखे हुए घी, तेल और पानीका तथा चलित रसवाले अन्नका त्याग करे ॥१७॥ मधु खानेका त्यागी काजीको, अकुरित अन्नको, दो दिनके वासे छाछ दहीको, अचार-मुरब्बेको और मक्खनको सदा ही त्याग करे ॥१८॥ मास खानेके त्यागी पुरुषको रात्रिमे भोजन करनेका त्याग करना चाहिए और वस्त्र-गालित जलका सेवन करना चाहिए। अन्यथा वह मासका त्यागी नही है ॥१९॥ रात्रिमे कुन्थु आदि प्राणियोके समूह दृष्टिगोचर नही होते, तथा भोजनके योग्य वस्तुको भूत प्रेतादि खाते है, अत वह उच्छिष्ट हो जाती है, इसलिए रात्रिभुक्तिका त्याग ही करना चाहिए ॥२०॥ वस्त्रसे गाला हुआ भी जल एक मुहूर्तके पश्चात् सम्मूर्च्छन जीवोसे व्याप्त हो जाता है, अत मर्यादाके बाहिरका जल न पीवे। गालितशेष जल (जिवानी) को जहाँ कही सर्वत्र न छोडे, किन्तु जिस स्थानसे जल लाया गया है, वहाँ पर ही छोडे ॥२१॥ इस प्रकार पहली दार्शनिक श्रावक-प्रतिमाका वर्णन किया।

अब दूसरी व्रत प्रतिमाका स्वरूप वर्णन करते हैं—जिस पुरुषके पाँच प्रकारके अणुव्रत, तीन

अहिंसा सत्यमस्तेयस्थूलब्रह्मापरिग्रहे । पञ्चधाऽणुव्रतं यस्य स्व श्रियस्तस्य दायकम् ॥२३
यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिप्राणापरोपणम् । सा हिंसा दुर्गतेर्द्वारमतस्त्याज्या प्रयत्नतः ॥२४
रक्षणं यत्प्रयत्नेन त्रसाणां स्थावरे पुन । कार्यकारणतावृत्तिरहिंसा सा गृहाश्रमे ॥२५
क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणा । सत्यं तदपि नो वाच्य यत्स्यात् प्राणिविघातकम् २६
ग्रामे चतुष्पथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् । परद्रव्य हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥२७
स्त्रीसेवारङ्गरमणं यः पर्वणि परित्यजेत् । स स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनै ॥२८
धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते। ततोऽधिकेऽत्रपातेऽस्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रह ॥२९
असृग्मांससुरासार्द्रचर्मस्थाद्यवलोकने । प्रत्याख्यातबहुप्राणिसन्मिश्रान्ननिषेवणे ॥३०
त्यजेद् भोज्ये तदेवान्यभुक्ति चैव विवर्जयेत् । अतिप्रमङ्गहान्यर्थं तपोवृद्धयर्थमेव च ॥३१
दिग्देशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम् । सा दिशाविरतिर्या स्याद्दिशानुगमनप्रमा ॥३२
यत्र व्रतस्य भङ्ग· स्याद्देशे यत्र प्रयत्नत । गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥३३
कूटमानतुलापाशविषशस्त्रादिकस्य च । क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तत्तृतीयगुणव्रतम् ॥३४

प्रकारके गुणव्रत और चार प्रकारके शिक्षाव्रत है, वह व्रत प्रतिमाधारी देशव्रती है ॥२२॥ जिसके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, स्थूल ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच प्रकारके अणुव्रत हैं, उनको वे स्वर्ग लक्ष्मीके दायक हैं ॥२३॥ जो प्रमादयोगमे प्राणियोके प्राणोका घात किया जाता है, वह हिंसा कहलाती है। हिंसा दुर्गतिका द्वार है, अत उसे प्रयत्नसे त्यागना चाहिए ॥२४॥ त्रसजीवोकी प्रयत्नके साथ रक्षा करनी चाहिए। स्थावर जीवोमे भी यथा सभव यत्नाचार रखे, क्योकि स्थावर हिंसा त्रसहिंसाकी कारणभूत है। यही गृहस्थाश्रममे अहिंसा कही गयी है ॥२५॥

मनीषी पुरुषको क्रोधादिके आवेगसे भी असत्य वचन नही बोलना चाहिए। तथा वह सत्य वचन भी नही बोलना चाहिए जो किसी प्राणीका घात करनेवाला हो यह सत्याणुव्रत हैं ॥२६॥ ग्राममे अथवा चतुष्पथ (चौराहा) आदिमे विस्मृत, पतित अथवा रखा हुआ सुवर्णादि पर द्रव्य चोरी-के त्यागी पुरुषको ग्रहण नही करना चाहिए। यह अचौर्याणुव्रत है ॥२७॥ जो अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वके दिन स्त्री-सेवा और उसके सग रमणका परित्याग करता है, उसे जिनेश्वरोने अपने प्रवचनमे स्थूल ब्रह्मचारी कहा है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥२८॥ जो धन, धान्य और सुवर्णादि द्रव्योका प्रमाण किया जाता है और उससे अधिक द्रव्यमे निवृत्ति भाव रखा जाता है, वह अपरिग्रह या परिग्रह परिमाणाणुव्रत है ॥२९॥ भोजन करते समय रक्त, मास, मदिरा, गीला चमड़ा और उसमे रखे पदार्थके देखनेपर भोजनका परित्याग कर देना चाहिये। त्यागी हुई वस्तुके सेवन करनेपर और बहुत प्राणियोसे मिश्रित अन्नके सेवन करनेपर भोजनका त्याग कर देवे। ऐसे अन्तरायके आनेपर दूसरी थालीमे परोसा गया भोजन भी नही करना चाहिये। उत्तरोत्तर बढनेवाली गृद्धिताके नाश करनेके लिये तथा तपकी वृद्धिके लिये उक्त अतीचारोका पालन करना चाहिये ॥३०-३१॥ गुणव्रत तीन प्रकारके है—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत। जीवन-पर्यन्तके लिये दशो दिशाओमे जाने आनेकी मर्यादाका जो प्रमाण किया जाता है, वह दिग्विरति गुणव्रत है ॥३२॥ जिस देशमे व्रतके भग होनेकी सम्भावना हो, उस देशमे प्रयत्नके साथ जो गमनकी निवृत्ति की जाती है, वह देशविरति गुणव्रत माना गया है ॥३३॥ कूट मान-तुलाका व्यवहार करना, पाश आदि शस्त्रोका और विष आदि जहरीले पदार्थोंको वेचना तथा क्रूर हिंसक पशुओको पालना

भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्रसत्क्रिया । सल्लेषणेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम् ॥३५
य सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुसुमादिकम् । तस्य या क्रियते संख्या भोगसंख्यानमुच्यते ॥३६
उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्त्र्याभरणादिक । या यथाशक्तित संख्या सोपभोगप्रमोच्यते ॥३७
स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये । यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम् ॥३८
पात्रं दाता दानविधिर्देयं दानफलं तथा । अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ॥३९
पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम् । सर्वसंयमसंयुक्त. साधु स्यात्पात्रमुत्तमम् ॥४०
एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम् । विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्र जघन्यकम् ॥४१
तप शीलव्रतैर्युक्त कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम् । अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतप शीलविवर्जितम् ॥४२
श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टि शक्तिरलुब्धता । क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥४३
स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा । मनोवाक्कायशुद्धचाऽन्नशुद्धो दानविधि स्मृत ॥४४
आहाराभयभैषज्यशास्त्रैर्देयं चतुर्विधम् । खाद्यपेयाशनस्वाद्यैराहार स्याच्चतुर्विध. ॥४५
आहाराद् भोगवान् वीरोऽभयदानाच्च भेषजात् । नीरोगी शास्त्रदानाच्च भवेत्केवलबोधवान् ॥४६
यथोप्तमुत्तमे क्षेत्रे फलेद्वीजमनेकधा । तथा सत्पात्रनिक्षिप्तं फलेद्दानमनेकधा ॥४७

इस प्रकारके अनर्थ करनेवाले कार्योका त्याग करना सो अनर्थ दण्ड-विरतिनामका तीसरा गुणव्रत है ॥३४॥ भोग सख्यान, उपभोगसख्यान, पात्र-सत्कार और सल्लेखना नामक चार प्रकारका शिक्षाव्रत कहा गया है ॥३५॥ जो ताम्वूल, पुष्प आदि पदार्थ एक वार भोगे जाते है, वे भोग कहलाते हैं, उनके सेवनकी सख्याका नियम लेना भोगसख्यान शिक्षाव्रत कहा जाता है ॥३६॥ जो वस्त्र, स्त्री और आभूपण आदिक पदार्थ वार-वार भोगे जाते है, वे उपभोग कहलाते हैं। उनकी यथाशक्ति सख्याका प्रमाण करनेको उपभोगसख्यान शिक्षाव्रत कहते है ॥३७॥ अपने पुण्यके लिये और अन्य पात्रके रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये जो दिया जाता है, वह दान कहलाता है। इस दानमे पाँच अधिकार जाननेके योग्य है ॥३८॥ पात्र, दाता, दानविधि, देय और दानका फल ये यथाक्रम से दानमे पाँच अधिकार होते है ॥३९॥ अव इनमेसे पहले पात्रका वर्णन करते है—दान देनेके योग्य पुरुषको पात्र कहते हैं। वह पात्र तीन प्रकारका होता है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। सम्पूर्ण सयमसे युक्त साधु उत्तम पात्र है ॥४०॥ ग्यारह प्रकारकी प्रतिमाओका धारक गृहस्थ श्रावक अनुत्तम (मध्यम) पात्र है। और विरतिसे रहित अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पात्र है ॥४१॥ तप, शील और व्रतसे युक्त मिथ्यादृष्टि पुरुप कुपात्र है और व्रत, सम्यक्त्व, तप एवं शीलसे रहित पुरुष अपात्र है ॥४२॥ अव दाताका स्वरूप कहते हैं—श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, सन्तोष, शक्ति, अलुब्धता और क्षमा ये सात गुण जिस पुरुपमे होते हैं, वह दाता प्रशमनीय कहा गया है ॥४३॥ अव दानकी विधि कहते हैं—पात्रको पडिगाहना, ऊँचे स्थानपर वैठाना, पाद धोना, पूजा करना, प्रणाम करना, मन शुद्धि, वचनशुद्धि और काय शुद्धिके साथ अन्नका शुद्ध होना यह दानकी विधि मानी गई है ॥४४॥ अव दान देनेके योग्य देय वस्तुका कथन करते हैं—देय पदार्थ चार प्रकारका है—आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र। इनमेसे आहार खाद्य, पेय, अशन और स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारका है ॥४५॥

अव दानका फल कहते हैं—आहारदानसे मनुष्य भोगवान् होता है, अभयदानसे वीर होता है, भैषज्यदानसे नीरोग होता है और शास्त्रदानसे केवलज्ञान वाला होता है ॥४६॥ जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमे वोया गया वीज भारी फलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रमे दिया गया दान

यथोप्रमूपरे क्षेत्रे फलेद्‌बीज न किञ्चन । कुपात्रापात्रनिक्षिप्तं तद्दानं न किञ्चन ॥४८
कारुण्यादथवौचित्यादन्येभ्योऽपि स्वशक्तित । वृद्धदीनादिकिष्टेभ्यो दानं देयं कृपालुना ॥४९
रोगोपसर्गे दुर्भिक्षे वार्धक्ये वाऽप्रतिक्रिये । धर्मार्थं यस्तनोस्त्याग सोक्ता सल्लेषणा बुधैः ॥५०
त्यक्त्वा परिग्रह स्नेह वैरं सङ्गं प्रयत्नत । वात्सल्यैर्वचनैः क्षान्त्वा क्षमयेत्स्व-परं जनम् ॥५१
दोषानालोच्य निर्व्याजं मनोवाक्कायसञ्चितान् । सोत्साहश्च श्रुतश्रुत्या भावयेच्च स्वमञ्जसा ॥५२
आहार स्निग्धपान च खरपान यथाक्रमम् । त्यक्त्वोपवासमाश्रित्य ध्यायन्नर्हं त्यजेत्तनुम् ॥५३
व्रतानि द्वादशैतानि व्यतीचाराणि पालयन् । भवेत्स्वर्मोक्षलक्ष्मीनामेकान्तेन समाश्रय ॥५४
देवदेवोपदेश स्यात्समयोऽत्र समुद्भवम् । नियुक्त वापि यत्कर्म तत्सामायिकमुच्यते ॥५५

वैयग्र्यं त्रिविध त्यक्त्वा त्यक्त्वाऽऽरम्भपरिग्रहम् ।
स्नानादिना विशुद्धोऽङ्गशुद्ध्या सामायिकं भजेत् ॥५६

गेहे जिनालयेऽन्यत्र प्रदेशे वाऽनघे शुचौ । उपविष्ट. स्थितो वापि योग्यकालसमाश्रितम् ॥५७
द्विनतिर्द्वादशावर्ताश्चतु.शीर्षनतान्वित । भक्तिद्वयं चतुष्कं वा समुच्चार्य निराकुलः ॥५८
कायोत्सर्गस्थितो भूत्वा ध्यायेत्पञ्चपदीं हृदि । गुरून् पञ्चाथवा सिद्धस्वरूपं.चिन्तयेत्सुधी ॥५९

अनेक प्रकारके महान् फलोको फलता है ॥४७॥ जिस प्रकार ऊसर क्षेत्रमे बोया गया बीज कुछ भी नही फलता है, उसी प्रकार कुपात्र और अपात्रमे दिया गया दान कुछ भी नही फलता है ॥४८॥ करुणा भावसे, अथवा औचित्य देखकर दयालु पुरुपको अपनी शक्तिके अनुसार वृद्ध, दीन और कष्टमे पडे हुए अन्य जीवोको भी दान देना चाहिए ॥४९॥ अब सल्लेखना नामक चौथे शिक्षा व्रतका वर्णन करते हैं—निष्प्रतीकार रोग आनेपर, उपसर्ग आनेपर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, और बुढापा आनेपर अपने धर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है, उसे ज्ञानियोंने सल्लेखना कहा है ॥५०॥ सल्लेखनाके समय बाह्य परिग्रह, स्नेह, वैर और अन्तरग सगको प्रयत्नसे छोडकर वात्सल्ययुक्त वचनोसे औरोको क्षमा कर अपने कुटुम्बी तथा अन्य जनोंसे क्षमा मागे ॥५१॥ पुन इस जीवनमे मन, वचन और कायसे सचित दोपोकी निश्छल भावसे आलोचना करके और उत्साह-युक्त होकर शास्त्रका श्रवण करते हुए अपने आत्माकी भलीभाति भावना करे ॥५२॥ पुन. यथा क्रमसे आहार, स्निग्धपान और खरपानका त्याग कर और उपवासका आश्रय लेकर 'अर्हन्' का ध्यान करता हुआ शरीरका परित्याग करे ॥५३॥ इस प्रकार इन उपर्युक्त बारह व्रतोको अतीचार रहित पालन करता हुआ श्रावक नियमसे स्वर्ग लक्ष्मीका और मोक्ष लक्ष्मीका आश्रय बनता है ॥५४॥ अब तीसरी सामायिक प्रतिमाका वर्णन करते है—देवोंके देव जिनेन्द्रदेवके उपदेशको समय कहते हैं। उससे पैदा होनेवाला अथवा नियुक्त जो कार्य है, वह सामायिक कहा जाता है ॥५५॥ तीनो योगोकी व्यग्रताको छोडकर तथा आरम्भ-परिग्रहको छोडकर और स्नानादि अंग शुद्धिसे विशुद्ध होकर सामायिक करना चाहिए ॥५६॥ घरमे, जिनालयमे, अथवा अन्य किसी निर्दोष पवित्र स्थान पर बैठकर अथवा खडे होकर प्रात सन्ध्या आदि योग्य कालका आश्रय लेकर, दो नमस्कार, बारह आवर्त्त, चार शिरोनमनके साथ, (चैत्यभक्ति और पञ्चपरमेष्ठी भक्ति) दो भक्तियोको, अथवा (इन दोनों भक्तियोके साथ सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति मिलाकर) चार भक्तियोका भक्ति पूर्वक उच्चारण कर निराकुल हो कायोत्सर्गसे अवस्थित होकर हृदयमे पञ्च नमस्कार पदको, अथवा पञ्च गुरुओको अथवा सिद्धके स्वरूपको वह बुद्धिमान श्रावक चिन्तवन

सामायिकं भजन्नेवं नित्यं सामायिकोऽञ्जसा। नरोरगसुराधीशैर्भवेद् वन्द्य. पदद्वयम् ॥६०
मासे चत्वारि पर्वाणि प्रोषधाख्यानि तानि च। यत्तत्रोपोषणं प्रोषधोपवासस्तदुच्यते ॥६१
उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा। यथाशक्तिर्विधातव्यो कर्मनिर्मूलनक्षम ॥६२
सप्तम्यां च त्रयोदश्यां जिनार्चां पात्रसत्क्रियाम्। विधाय विधिवच्चैकभुक्तं शुद्धवपुस्ततः ॥६३
गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम्। स्वीकृत्य निखिलां रात्रिं नयेत्सत्कथानकैः ॥६४
प्रात पुन शुचीभूय निर्माप्याऽऽप्तादिपूजनम्। सोत्साहस्तदहोरात्रं सद्-ध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥६५
तत्पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्चा पात्रसत्क्रियाम्। स्वयं वा चैकभक्त य कुर्यात्तस्योत्तमो हि सः ॥६६
मध्यमोऽपि भवेदेवं स त्रिधाऽऽहारवर्जनम्। जल मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥६७
स्नानमुद्वर्तनं गन्धं माल्यं चैव विलेपनम्। यच्चान्यद्रागहेतु स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोषधेऽखिलम् ॥६८
प्रोषधाद्युवासं य कुर्वीत विधिना पुन। स भवेत्परमस्थानं पञ्चकल्याणसम्पदाम् ॥६९
मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम्। अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही ॥७०
स दिवाब्रह्मचारी यो दिवास्त्रीसङ्गमं त्यजेत्। स सदा ब्रह्मचारी य स्त्रीसङ्गं नवधा त्यजेत् ॥७१
स स्यादारम्भविरतो विरमेद्योऽखिलादपि। पापहेतो सदाऽऽरम्भात्सेवाकृष्यादिकान्मुदा ॥७२

करे। इस प्रकार जो नित्य नियमसे सामायिकको करता है, वह सामायिकप्रतिमाधारी श्रावक है। उसके दोनो चरण नरेश, नागेश और सुराधीशोसे वन्दनीय होते है ॥५७–६०॥ चौथी प्रोषध-प्रतिमाका वर्णन करते हैं—एक मासमे दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ये चार पर्व होते हैं, जिन्हे प्रोषध कहा जाता है। इस प्रोषध पर्वके दिन जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास कहा जाता है ॥६१॥ यह प्रोषधोपवास तीन प्रकारका होता है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। कर्मोके निर्मूल नाश करनेमे समर्थ यह प्रोषधोपवास यथाशक्ति करना चाहिए ॥६२॥ उसकी विधि इस प्रकार है—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन जिन-पूजन करके और पात्र-दान देकर पुन स्वय विधि पूर्वक एकाशन करके शुद्ध शरीर होकर, गुरु आदिके समीप जाकर, और चारो प्रकारके आहारका त्याग करके उपवासको स्वीकार सम्पूर्ण रात्रिको उत्तम कथानक कहते-सुनते हुए बितावे ॥६३–६४॥ पुन प्रात काल पवित्र होकर देव-शास्त्र आदिका पूजन करके उत्साहके साथ उत्तम ध्यान और अध्ययन करते हुए उस दिन और रात्रिको बितावे ॥६५॥ पुन पारणाके दिन प्रात काल जिन-पूजन करके और पात्रको सत्कारपूर्वक आहार दान देकर जो स्वय एकाशन करता है, उसके यह उत्तम प्रोषधोपवास जानना चाहिए ॥६६॥ मध्यम प्रोषधोपवास भी इसी प्रकारका होता है, केवल उसमे पर्वके दिन जलको छोडकर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है। जघन्य प्रोषधोपवास पर्वके दिन एकाशन, नीरस भोजन आदिके रूपमे अनेक प्रकारका है। शेष पूर्व विधि पूर्वोक्त करता है ॥६७॥ प्रोषधोपवासके दिन स्नान, उबटन, गन्ध, माल्य-धारण, विलेपन तथा अन्य जितने भी रागके हेतु है, उन सबका त्याग करना चाहिए ॥६८॥ इस प्रकार जो विधिसे प्रोषधोपवासको करता है, वह पञ्च कल्याणकोकी सम्पदाका परम स्थान प्राप्त करता है ॥६९॥ पाँचवी सचित्त त्याग प्रतिमाका स्वरूप—जो अप्रासुक (सचित्त) मूल, फल, शाक, आदि तथा पुष्प, बीज, कैर आदिको और अप्रासुक जलको ग्रहण करनेका त्याग करता है, वह सचित्त विरत श्रावक है ॥७०॥ जो दिनमे स्त्री सगका त्याग करता है, वह छठी प्रतिमाका धारक दिवा ब्रह्म-चारी श्रावक है। जो स्त्रीका सगम नव कोटिसे त्याग करता है वह सदा ब्रह्मचारी पुरुष सातवी प्रतिमाका धारक है ॥७१॥ जो पापके कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि सर्व प्रकारके आरम्भ

निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रं य स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत् । वाह्य परिग्रहं स स्याद्विरत्तस्तु परिग्रहात् ॥७३
पृष्टोऽपृष्टोऽपि नो दत्तेऽनुमति पापहेतुके । ऐहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु स ॥७४
गेहादिव्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः । भैक्ष्याशीयंस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि म ॥७५
उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्यादाद्यो वस्त्रखण्डभाक् । स मूर्ध्वजानां वपन कर्त्तनं चैव कारयेत् ॥७६
गच्छेन्नाकारितो भोक्तुं कुर्याद्भैक्ष्यं यथाशनम् । पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्ति निविष्टवान् ॥७७
भुक्त्वा प्रक्षाल्य पात्रं च गत्वा गुरुसन्निधिम् । चतुर्धान्निपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ॥७८
द्वितीयोऽपि भवेदेवं स तु कौपीनमात्रवान् । कुर्यल्लोच धरेत्पिच्छं पाणिपात्रेऽशनं भजेत् ॥७९
वीरचर्यादिनच्छाया सिद्धान्तैतिह्यसंश्रुतौ । त्रैकालिके च योगेऽस्य विद्यते नाधिकारिता ॥८०
पूर्वं पूर्वं व्रतं रक्षन्नुत्तरोत्तरमाश्रयेत् । य एवं स भवेदेव देववन्द्यपदद्वय ॥८१
विनय. स्याद्वैयावृत्य कायक्लेशस्तथार्चना । कर्तव्या देशविरतैर्यथाशक्तिर्यथागमम् ॥८२
दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः । विनय पञ्चधा स. स्यात्समस्तगुणभूपण ॥८३
नि शङ्कितादयोऽपूर्वा ये गुणा वर्णिता मया । यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मक' ॥८४
ज्ञान-ज्ञानोपकरण-ज्ञानवत्सु सुभक्तित. । यत्पर्युपासनं शश्वत्स ज्ञानविनयो भवेत् ॥८५

से सदाके लिये सहर्ष विराम लेता है, वह आठवीं प्रतिमाका धारक आरम्भ विरत श्रावक है ॥७२॥ जो एकमात्र वस्त्रको रखकर शेष सर्व प्रकारके वाह्य परिग्रहका त्याग करता है, वह नवी प्रतिमाका धारक परिग्रह विरत श्रावक है ॥७३॥ जो घरमे रहते हुए भी पापके कारण-भूत इस लोक-सम्बन्धी समस्त कार्योमे पूछनेपर, या नही पूछनेपर भी अनुमतिको नही देता है, वह दशवी प्रतिमाका धारक अनुमतिविरत श्रावक है ॥७४॥ अब ग्यारहवी उद्दिष्टविरत प्रतिमाका वर्णन करते हैं—घर आदिके निवासको छोडकर और गुरुके समीप जाकर व्रतोको लेकर जो भिक्षावृत्तिसे भोजन करता हुआ तपको तपता है, वह उद्दिष्टविरत श्रावक है ॥७५॥ यह उद्दिष्ट-विरत श्रावक दो प्रकारका होता है, उनमे जो प्रथम उद्दिष्टविरत है, वह खण्डवस्त्र रखता है, तथा अपने शिर-दाढीके केशोका मुण्डन या कर्तन कराता है ॥७६॥ वह भोजनके लिये बुलाया हुआ नही जाता है किन्तु भोजनके समय गोचरीके लिये स्वय ही परिभ्रमण करता है और यथा-योग्य भिक्षा प्राप्त होनेपर बैठकर पाणिपात्रमे अथवा अन्य पात्रमें भोजन करता है ॥७७॥ भोजन करके पात्रका प्रक्षालन कर और गुरुके समीप जाकर, चार प्रकारके आहारका त्याग कर अपनी आलोचना करता है ॥७८॥ द्वितीय उद्दिष्टविरत भी इसी प्रकारका होता है, किन्तु वह लगोटी मात्र रखता है, केशोका लुचन करता है, पीछीको धारण करता है और पाणिपात्रमे भोजन करता है ॥७९॥ ग्यारहवी प्रतिमाधारीको वीरचर्या, दिनका आतापनयोग, सिद्धान्त रहस्य (प्राय-श्चित्त शास्त्र) का अध्ययन और त्रैकालिक योग धारण करनेका अधिकार नही है ॥८०॥ इस प्रकार जो पूर्व प्रतिमाके व्रतोकी रक्षा करते हुए उत्तरोत्तर व्रतका आश्रय लेता है, वह देवोंके द्वारा वन्दनीय चरण युगलवाला होता है ॥८१॥

देशसयमके धारक श्रावकोको यथाशक्ति आगमके अनुसार विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन करना चाहिए ॥८२॥ अब प्रथम विनयका वर्णन करते हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारकी अपेक्षा विनय पाँच प्रकारका है। यह विनयगुण समस्त गुणोका आभूषण है ॥८३॥ सम्यग्दर्शनके नि शकित आदि जो अपूर्व गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनका पालन करना सो दर्शन विनय है ॥८४॥ ज्ञानकी, ज्ञान-प्राप्तिके उपकरणोकी और ज्ञानवानोकी उत्तम

पञ्चप्रकारचारित्रधारकाणां मुनीशिनाम् । सन्माननं भवेद्यस्तु चारित्रविनयो हि स ॥८६
विहाय कल्पनां बालो वृद्धो वेति तपस्विनाम् । यत्स्यादुपासनं शश्वत्तपसो विनयो हि स ॥८७
मनोवाक्कायभेदेनोपचारविनयस्त्रिधा । प्रत्यक्षेतरभेदेन सोऽपि स्याद् द्विविधः पुन ॥८८
दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते । मानस त्वनिश प्रोक्तो मानसो विनयो हि स ॥८९
वचनं हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च । यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु स· ॥९०
गुरुस्तुति· क्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम् । सम्मुखे गमनं चैव तथैवानुव्रजक्रिया ॥९१
अङ्गसंवाहनं योग्यप्रतीकारादिनिर्मिति । विधीयते यतीना यत्कायिको विनयो हि स ॥९२
प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा । गुरूंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्तिः धर्मकर्मसु ॥९३
शशाङ्कनिर्मला कीर्त्तिः सौभाग्य भाग्यमेव च । आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतः सताम् ॥९४
विनयेन समं किञ्चिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये । यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥९५
विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयान्ति विनयाद्यतः । तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसयतै ॥९६
बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे सङ्घे चतुर्विधे । वैयावृत्त्यं यथाशक्ति विधेयं देशसयतै ॥९७
वपुस्तपो बलं शीलं गतिबुद्धिसमाधय· । निर्भयं नियमादि स्याद्वैयावृत्त्यकृतार्पणम् ॥९८
वैयावृत्त्यकृत· किञ्चिद् दुर्लभं न जगत्त्रये । विद्या कीर्त्तिर्यशो लक्ष्मी धी सौभाग्यगुणेष्वपि ॥९९

भक्तिके साथ जो निरन्तर उपासना की जाती है, वह ज्ञानविनय है ॥८५॥ पाँच प्रकारके चारित्र-धारक मुनीश्वरोका जो सन्मान किया जाता है, वह चारित्रविनय है ॥८६॥ यह बालक है, अथवा वृद्ध है, इस प्रकारकी कल्पनाको दूर कर तपस्वियोकी जो सदा उपासना की जाती है, वह तप विनय है ॥८७॥ उपचार विनय मन वचन कायके भेदसे तीन प्रकारका है। और यह तीनो ही प्रकारका उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है ॥८८॥ मनको दुर्ध्यानसे खीचकर शुभध्यानमे निरन्तर लगाया जाता है वह मानस विनय कहा गया है ॥८९॥ हित, मित, पूज्य और आगमके अनुकूल प्रियवचन बोलना, और यतिजनोके स्तुतिरूप अनुकूल वचन प्रवृत्ति करना सो वाचिकविनय है ॥९०॥ गुरुजनोकी स्तवन-क्रियामे उद्यत होना, उन्हे नमस्कार करना, उच्च आसन देना, उनको आते हुए देखकर सन्मुख जाना, उनके पीछे चलना, उनके अगोका दाबना, तथा इसी प्रकारके मुनिजनोके योग्य प्रतीकार आदि करना सो यह कायिक विनय है ॥९१–९२॥ गुरुजनोके सम्मुख उक्त तीनो प्रकारका विनय करना प्रत्यक्ष विनय है। गुरुजनोके विना भी परोक्षमे मन वचन कायसे विनय करना और उनकी आज्ञाके अनुसार ही धर्मकार्योंमे प्रवृत्ति करना सो परोक्षविनय है ॥९३॥ विनयसे सज्जनोको चन्द्रतुल्य निर्मल कीर्त्ति, सौभाग्य, भाग्यवानपना और आदेयवचनता प्राप्त होती है ॥९४॥ तीन जगत्मे विनयके समान कोई अन्य मित्र नही है और इसी विनयके द्वारा गुरुजनोसे विद्याओका रहस्य प्राप्त होता है ॥९५॥ इस विनयसे शत्रु भी मित्रताको प्राप्त होते हैं, इसलिए देशसयमी श्रावकोको मन वचन कायसे विनय धारण करना चाहिए ॥९६॥ अब वैयावृत्त्यका वर्णन करते है—चार प्रकारके सघमे बालक वृद्ध आदिके रोगादिसे क्लेशको प्राप्त होनेपर देशसंयमी श्रावकोको यथाशक्ति वैयावृत्य करना चाहिए ॥९७॥ जो रोगादिसे ग्रस्त साधु आदिकी वैयावृत्त्य करता है, वह उसे शरीर, तप, बल, शील, गति, बुद्धि, समाधि, निर्भयता और नियमादि सभी कुछ समर्पण करता है ॥९८॥ वैयावृत्त्य करने-वाले पुरुषके लिए तीन लोकमे किसी भी वस्तुका पाना दुर्लभ नही है। वैयावृत्त्य करनेवाले पुरुषको सौभाग्य गुणोके साथ विद्या, कीर्त्ति, यश, लक्ष्मी और बुद्धि प्राप्त होती है। इसलिए श्रावकको

आचाम्लं निर्विकृत्यैकभक्तषष्टाष्टमादिकम् । यथाशक्तिश्च क्रियते कायक्लेश स उच्यते ॥१००
कायक्लेशाद्भवत्येव जीव शुद्धतमोऽञ्जसा । कालिकाकिट्टसन्मिश्रं स्वर्णं वा वह्निसङ्गमात् ॥१०१
कृत्वा कर्मक्षयं प्राप्य पूजामिन्द्रादिनिर्मिताम् । अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुख मोक्षं प्रयात्यसौ ॥१०२
गुरूणामपि पञ्चानां या यथाभक्ति-शक्तित. । क्रियतेऽनेकधा पूजा सोऽर्चनाविधिरुच्यते ॥१०३
स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाच्च भावतः । षोढार्चाविधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतै ॥१०४
नामोच्चारोऽर्हदादीनां प्रदेशे परित शुचौ । य पुष्पाक्षतनिक्षेप क्रियते नामपूजनम् ॥१०५
सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता । सद्भावस्थापना भावे साकारे गुणरोपणम् ॥१०६
उत्पलादौ निराकारे शुचौ सङ्कल्पपूर्वकम् । स्थापनं यदसद्भाव स्थापनेति तदुच्यते ॥१०७
हुण्डावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधै । न कर्तव्या यतो लोके समूढे संशयो भवेत् ॥१०८
निर्मापकेन्द्रप्रतिमाप्रतिष्ठा लक्ष्म तत्फलम् । अधिकाराश्च पञ्चैते सद्भावस्थापने स्मृता ॥१०९
लक्ष्म निर्मापकादीनां प्रतिष्ठाशास्त्रतोऽखिलम् । ज्ञातव्यं तत्फलं किञ्चित्तदग्रे कथयिष्यति ॥११०
जलगन्धादिकैर्द्रव्यै. पूजनं द्रव्यपूजनम् । द्रव्यस्याप्यथवा'पूजा सा तु द्रव्यार्चना मता ॥१११

सदा वैयावृत्त्य करना चाहिए ॥९९॥ अब कायक्लेशका वर्णन करते हैं—जो श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एकाशन और वेला, तेला आदि उपवासको करता है, वह कायक्लेश कहा जाता है ॥१००॥ (घी आदिके छौंकसे रहित इमली आदिके पानीके साथ भात आदि खानेको आचाम्ल कहते हैं और सर्व प्रकारके रसोंसे रहित नीरस भोजन करनेको निर्विकृति भोजन कहते हैं।) कायक्लेश करनेसे जीव नियमसे अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। जैसे कि अग्निके संगमसे कालिका-कीटसे मिला हुआ सुवर्ण बिलकुल शुद्ध हो जाता है ॥१०१॥ कायक्लेश करनेवाला पुरुष कर्मोका क्षय करके और इन्द्रादिके द्वारा की जानेवाली पूजाको प्राप्त करके अनन्तज्ञान दर्शन वीर्य और सुखवाले मोक्षको जाता है (इसलिए श्रावकको यथाशक्ति कायक्लेश तप करते रहना चाहिए) ॥१०२॥ अब पूजाका वर्णन करते हैं—पाँचो ही परम गुरुओकी जो अपनी भक्ति और शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे पूजन-अर्चन किया जाता है, वह अर्चनाविधि कहलाती है ॥१०३॥ आचार्योने वह अर्चनाविधि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे छह प्रकारकी कही है, उसे देशसयत श्रावकोको करना चाहिए ॥१०४॥ सर्व ओरसे पवित्र स्थानपर अरहन्त आदि परमेष्ठियोका नाम उच्चारण करते हुए जो पुष्प अक्षत आदिका क्षेपण किया जाता है, वह नाम-पूजन है ॥१०५॥ सद्भाव (तदाकार) असद्भाव (अतदाकार) के भेदसे स्थापना दो प्रकारकी मानी गई है। आकारवाले पदार्थमे पूज्य पुरुषके गुणोका आरोपण करना सद्भावस्थापना है ॥१०६॥ निराकार पवित्र कमल आदिमे सकल्पपूर्वक जो पूज्य पुरुषकी स्थापना की जाती है, वह असद्भाव स्थापना कहलाती हैं ॥१०७॥ इस हुण्डासर्पिणीकालमे ज्ञानियोको यह दूसरी असद्भावस्थापना नही करनी चाहिए, क्योकि इसके करनेसे मूढ लोगोमे संशय हो सकता है। अर्थात् अज्ञानीजन यह समझेंगे कि ये कमल पुष्पादि ही पूजनेके योग्य हैं, और फिर इस भ्रमसे मिथ्यात्वका प्रचार बढेगा ॥१०८॥

सद्भावस्थापनामे निर्मापक, इन्द्र, प्रतिमा और प्रतिमाका लक्षण तथा प्रतिष्ठाका फल ये पाँच अधिकार माने गये हैं ॥१०९॥ निर्मापक आदिके लक्षण और अन्य समस्त ज्ञातव्य बाते प्रतिष्ठाशास्त्रसे जाननी चाहिए। प्रतिष्ठाका कुछ फल आगे कहा जायगा ॥११०॥ जल-गन्धादिक

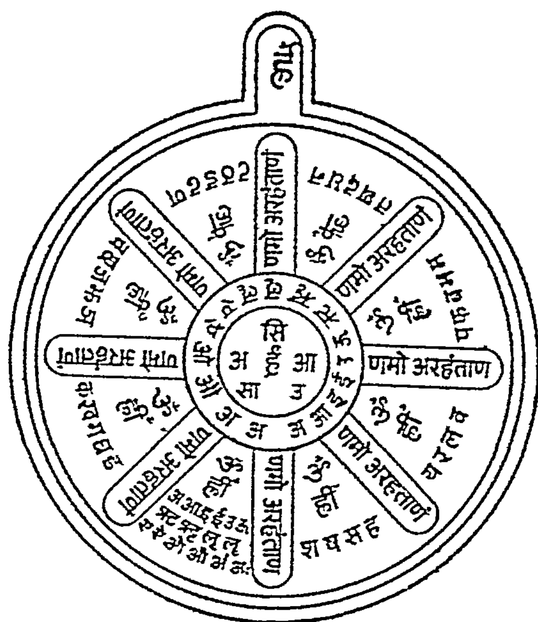
चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा। साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्य तदुच्यते ॥११२
तद्वपुर्द्रव्यं शास्त्रं वाऽचित्तं मिश्र तु तद्द्वयम्। तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ॥११३
जन्मनि क्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रे जिनेशिनाम्। निषिध्यास्वपि कर्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधि ॥११४
कल्याणपञ्चकोत्पत्तिर्यस्मिन्नह्नि जिनेशिनाम्। तदह्नि स्थापना पूजाऽवश्यं कार्या सुभक्तित ११५
पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तित। महामहविधानं यत्तत्कालार्चनमुच्यते ॥११६
स्मृत्वाऽनन्तगुणोपेतं जिनं सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत्। वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते ॥११७
जाप्य पञ्चपदानां वा स्तवनं वा जिनेशिन। क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चनं मतम् ॥११८
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। यद्-ध्यानं ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम् ॥११९
शुद्धस्फटिकसङ्काशं प्रातिहार्याष्टकान्वितम्। यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद्ध्यानं पिण्डसंज्ञकम् ॥१२०
अधोभागमधोलोकं मध्यांशं मध्यमं जगत्। नाभि प्रकल्पयेन्मेरुं स्वर्गाणां स्कन्धमूर्ध्वत ॥१२१
ग्रैवेयका स्वग्रीवाया हन्वामनुदिशानपि। विजयाद्यान्मुखं पञ्च सिद्धस्थानं ललाटके ॥१२२
मूर्ध्नि लोकाग्रमित्येव लोकत्रितयसन्निभम्। चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम् ॥१२३
एकाक्षरादिक मन्त्रमुच्चार्य परमेष्ठिनाम्। क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥१२४
अकारपूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम्। पापान्धकारनिर्नाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥१२५

द्रव्योसे पूजन करनेको द्रव्यपूजा कहते हैं। अथवा पचपरमेष्ठीके शरीरादिरूप द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, वह भी द्रव्यपूजा मानी गयी है ॥१११॥ पूज्य द्रव्य तीन प्रकारका है—चेतन, अचेतन और मिश्रद्रव्य। साक्षात् तीर्थंकर जिनेन्द्र आदिक चेतन द्रव्य कहे जाते हैं ॥११२॥ तीर्थंकरादिका शरीर और शास्त्र अचित्तद्रव्य है। चेतन और अचेतन इन दोनोसे युक्त समवशरणमे विराजमान तीर्थंकरादिक मिश्रद्रव्य हैं ॥११३॥ इन तीनो प्रकारके द्रव्योका पूजन करना द्रव्यपूजा है। तीर्थंकरोके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञान उत्पन्न होनेके क्षेत्र और उनके शरीर-त्यागके स्थान निषिध्याओमे—इन क्षेत्रोमे यथाविधि पूजा करना चाहिए। यह क्षेत्र पूजा है ॥११४॥ तीर्थंकरोके पाँचो कल्याणकोकी उत्पत्ति जिस दिन हुई है उस दिन उस कल्याणककी स्थापना करके भक्तिके साथ अवश्य पूजा करनी चाहिए ॥११५॥ तथा नित्यपर्व अष्टमी-चतुर्दशी और नैमित्तिक पर्व अष्टाह्निकामे, तथा दशलक्षणादि अन्य पर्वोमे भक्तिके साथ अपनी शक्तिके अनुसार जो महामह आदि पूजाएँ की जाती हैं, वह सब कालपूजा कहलाती हैं ॥११६॥ तीनो सन्ध्याओमे अनन्तगुण सयुक्त जिनदेवकी भक्तिसे जो पूजा और वन्दना की जाती है वह भावपूजा कही जाती है ॥११७॥ तथा पचनमस्कार पदोका जाप करना और तीर्थंकरादि जिनराजोका यथाशक्ति जो स्तवन आदि किया जाता है वह भी भावपूजन माना गया है ॥११८॥ तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो ध्यान किया जाता है, वह भी भावपूजन माना गया है ॥११९॥ अब पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं—शुद्ध स्फटिकमणिके सदृश निर्मल और आठ प्रातिहार्योसे युक्त अरहन्तदेवके रूपका जो ध्यान किया जाता है, वह पिण्डस्थ नामका ध्यान है ॥१२०॥ अथवा अपने शरीरके अधोभागको अधोलोक, मध्यभागको मध्यलोक और नाभिके स्थानपर मेरुपर्वतकी कल्पना करे। नाभिसे ऊपरी भागको ऊर्ध्वलोक मानकर कन्धेतकके भागमे स्वर्गोकी, कन्धेसे ऊपर अपनी ग्रीवामे ग्रैवेयककी, ठोडीके स्थानपर अनुदिशकी, मुखस्थानपर विजयादिक पाँच अनुत्तर विमानकी, ललाट पर सिद्ध स्थानकी और मस्तकके ऊपर लोकके अग्र भागकी कल्पना करे। इस प्रकार अपने देहमे स्थित तीन लोकसदृश आकारका जो चिन्तवन किया जाता है, वह भी पिण्डस्थ ध्यान माना गया है॥१२१-१२३॥

अब अपदस्थध्यानका वर्णन करते हैं—पचपरमेष्ठियोके एक अक्षररूप 'ॐ', अ सि आ उ सा आदि मन्त्रोको उच्चारण कर उनके चरण-कमलका चिन्तवन करना सो पदस्थ नामका ध्यान है ॥१२४॥ जिस पदमे 'अ' कार पूर्व अक्षर है और शून्य अर्थात् 'ह' यह रेफ और अनुस्वार-सहित

चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायन्त्रमन्तरम् । पूर्वादिदिक्क्रमान्यस्य पदाद्यक्षरपञ्चकम् ॥१२६
तच्चाष्टपत्रपद्माना तदेवाक्षरपञ्चकम् । पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपमामपि ॥१२७
विदिक्ष्वाद्यक्षर न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि । नाभौ वक्त्रेऽथवा पूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वा परम् ॥१२८
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिदिशास्वपि । विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवे ॥१२९
मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य ख द्विरेफ सबिन्दुकम् । स्वरपञ्चपदावेष्टचं विन्यस्यास्य दलेषु तु ॥१३०
भृत्वा वर्गाष्टकं पत्रं प्रान्ते न्यस्यादिम पदम् । मायाबीजेन सवेष्ट्य ध्येयमेतत्सुखप्रदम् ॥१३१

है, ऐसा 'अर्हं' यह पद श्वेत प्रभासे युक्त ध्यान करना चाहिये । यह पद समस्त पापरूप अन्धकार का नाश करनेवाला है ॥१२५॥ अथवा चार पत्रवाले और मध्यमे गोल आकारकी कर्णिकावाले कमलमे पचपरमेष्ठीके वाचक पाँचो पदोके आद्य अक्षरोको क्रमसे पूर्वादिदिशाओंमें स्थापित कर चिन्तवन करना भी पदस्थ ध्यान है ॥१२६॥ अथवा आठ पत्र वाले कमलमे पूर्वके समान उन ही पंच परमेष्ठियोके अक्षरोको मध्यमे और पूर्वादि दिशाओमे, तथा विदिशावाले पत्रोंपर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-वाचक अक्षरोकी स्थापना कर उनका ध्यान करे। यह अष्टदल कमल मस्तकपर, गलेमे, हृदयमे, नाभिमे और मुखमे स्थापित करना चाहिये। अथवा इस अष्टदल कमलको ललाटपर या मस्तकपर स्थापित करे और चार अन्य कमलोको दक्षिण आदि दिशाओंमे स्थापित करके पापोका नाश करनेके लिये नित्य चिन्तवन करना चाहिये ॥१२७-१२९॥ अथवा अष्ट पत्रवाले कमलके मध्य भागमे दो रेफ और बिन्दु सहित शून्य अक्षर 'ह' कारको अर्थात् 'र्ह्रं' पदको अकारादि स्वर और पच नमस्कार पदोंसे वेष्टित करके उसके आठो दलोंपर क वर्गादि आठ वर्गोसे भरकर और कोण भागमे आदिका 'णमो अरहंताण' यह पद स्थापित कर इसे माया बीज 'ह्रीं'कारसे वेष्टित करके ध्यान करना चाहिये। यह उत्तम सुखका देनेवाला है ॥१३०-१३१॥ उक्त रचना इस प्रकार करके ध्यान करे।



आकाशस्फटिकाभास प्रातिहार्याष्टकान्वित । सर्वामरै सुससेव्योऽप्यनन्तगुणलक्षित ॥१३२
नभोमार्गेऽथवोक्तेन वर्जितं क्षीरनीरधे । मध्ये शशाङ्कसङ्काशनीरे जातस्थितो जिन ॥१३३
क्षीराम्भोधि क्षीरधारा-शुभ्राशेषाङ्गसङ्गम । एवं यच्चिन्त्यते तत्स्याद् ध्यानं रूपस्थनामकम् ॥

गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं बोधदृङ्मयम् । यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं तद् ध्यानं रूपवर्जितम् ॥१३५
इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तितः । यथाविधिर्विधातव्या प्रयतैर्देशसंयतै ॥१३६
कुस्तुम्बरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम् । स्थापयेत् प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचर ॥१३७
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्ग जिनं चैत्यं मनोहरम् । वक्तुं तस्य फलं शक्त कथं सर्वविदोऽपरः ॥१३८
जिनाना पूजनात्पूज्य स्तुत्य स्तोत्राच्च वन्दनात् । वन्द्यो ध्यानाद्भवेद् ध्येयो जगतां त्रितये सुधीः ॥

इत्येकादशसागारसच्चारित्रं यथागमम् । यथोक्तं पालयेद् यस्तु स पायाज्जगतां त्रयम् ॥१४०
तपोनिष्ठ कनिष्ठोऽपि वरिष्ठो गुणभूषणः । तपोऽनिष्ठः वरिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽगुणभूषण ॥१४१

ज्ञाने सत्यपि चारित्रं नो जातु यदि जायते । निष्फलं तस्य विज्ञानं दुर्भगाभरणं यथा ॥१४२
आगामिकर्मसंरोधि ज्ञान चारित्रमर्जितम् । क्षपयेत्कर्म सम्यक्त्व शश्वत्पुष्णाति तद्द्वयम् ॥१४३

आकाश और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ आभावाले, आठ प्रातिहार्योंसे सयुक्त सर्व देवोसे सुसेवित और अनन्त गुणोसे उपलक्षित ऐसे जिन देवको आकाशके मध्य अवस्थित चिन्तवन करना भी रूपस्थ ध्यान है। क्षीरसागरके मध्य चन्द्र-तुल्य निर्मल जलमे (कमलासनपर) यथा-जातरूपसे अवस्थित और जिनका क्षीरसागरकी क्षीरधाराके प्रवाहसे सर्वाङ्ग शुभ्ररूपको धारण कर रहा है, ऐसे जिनेन्द्रदेवका जो चिन्तवन किया जाता है, यह भी रूपस्थ नामका ध्यान है ॥१३२-१३४॥ अब रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं—गन्ध, वर्ण, रस और स्पर्शसे रहित केवल ज्ञान-दर्शनमय अरहतके रूपका जो चिन्तवन किया जाता है, वह रूप-रहित रूपातीत ध्यान कहलाता है ॥१३५॥ ऐसी यह छह प्रकारकी पूजा यथाशक्ति अपनी भक्तिके अनुसार प्रयत्नशील देशसयमी श्रावकोको विधिपूर्वक नित्य करनी चाहिये ॥१३६॥ जो पुरुष कुस्तुम्वर (कुलथी) के खण्ड प्रमाण जिनालयको वनवाकर उसमे सरसोके बराबर प्रतिमाको स्थापित करता है, वह तीन लोकके जीवोकी स्तुतिका विपय होता है ॥१३७॥ फिर जो अति उन्नत जिनालय वनवा करके उसमे विशाल मनोहर प्रतिमाको स्थापित करता है, उसके पुण्यका फल तो सर्वज्ञदेवके सिवाय और दूसरा कौन पुरुप कहनेके लिए समर्थ हो सकता है ॥१३८॥ जिनराजोका पूजन करनेसे ज्ञानी पुरुप तीन जगत्मे पूज्य होता है, स्तुति करनेसे स्तुत्य होता है, वन्दना करनेसे वन्द्य होता है और ध्यान करनेसे ध्येय होता है, अर्थात् अन्य पुरुपोके द्वारा ध्याया जाता है ॥१३९॥ इस प्रकार श्रावकोंके ग्यारहपदोके सच्चारित्रको मैंने आगमके अनुसार जैसा कहा है, उसे जो गृहस्थ पालन करेगा, वह तीनो लोकोके जीवोकी रक्षा करेगा, अर्थात् त्रिलोकीनाथ होगा ॥१४०॥ तपोनिष्ठ कनिष्ठ भी पुरुष वरिष्ठ और गुणभूषण है किन्तु जो तपमे निष्ठ नही है, वह वरिष्ठ होकर भी कनिष्ठ हैं और गुणभूषण नही है ॥१४१॥ मनुष्यमे ज्ञानके होनेपर भी यदि चारित्र नही है, तो उसका वह ज्ञान विधवा स्त्रीके आभूपण धारण करनेके समान निष्फल है ॥१४२॥ चारित्र युक्त ज्ञान आगामी कर्म-वन्धको रोकता है। और यदि ये दोनो सम्यक्त्व-सहित हो तो वह कर्मका क्षय करता है, क्योकि सम्यक्त्व सदा ही ज्ञान और चारित्रको पुष्ट करता है ॥१४३॥

श्रद्धानं केवलं नैव स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् । न ज्ञानं नापि चारित्रं किन्तु तत्त्रितय मतम् ॥१४४

श्रद्धानात्स्वेष्टसिद्धिश्चेत्तदैतन्न सुदुर्लभम् । कुशूलस्थितधान्यस्य पाकः श्रद्धानगो भवेत् ॥१४५
ज्ञानादेवेष्टसिद्धिश्चेत्तदा श्रद्दध्महे वयम् । दृष्टमेव जलं दूरात्तृष्णाघाति भवेदिति ॥१४६
चारित्रेणैव चेत्सिद्धिरन्ध पिहितदावनात् । दावानलव्यालकूपव्याप्ताद् गच्छेत्सुखं वहि ॥१४७
तस्मात्सम्यक्त्वसज्ज्ञानसच्चारित्रत्रयात्मक । धर्म स्वर्गापवर्गैकफलनिप्पत्तिसाधक ॥१४८
विज्ञायेति समाराध्यो धर्म एषो मनीषिभि । यस्तुष्टो सम्पदा तुष्टो ददाति विपदोऽन्यया ॥१४९

इत्येष धर्मो गृहिणा मयोक्तो यथाऽऽगमं स्वल्परुचीन् विनेयान् ।
विशोध्य विस्तारयतः प्रयत्नात्सन्तः सदा सद्गुणभूषणाढ्या ॥१५०

इति श्रीमद्-गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे
साधुनेमिदेवनामाङ्किते सम्यक्चारित्रवर्णनो नाम तृतीयोद्देश ॥३॥



केवल श्रद्धान ही अपने अभीष्ट अर्थका साधक नही है। इसी प्रकार अकेला ज्ञान और चारित्र भी इष्ट अर्थको नही सिद्ध करता है। किन्तु ये तीनो ही अभीष्ट अर्थ मोक्षके साधक माने गये हैं ॥१४४॥ यदि केवल श्रद्धानसे अपने इष्टकी सिद्धि होवे, तव तो फिर यह भी दुर्लभ नही है कि कोठीमे स्थित धान्यका परिपाक भी श्रद्धानमात्रसे हो जायगा ॥१४५॥ यदि अकेले ज्ञानमात्रसे इष्टसिद्धि होवे, तव तो हम यह विश्वास करते हैं कि दूरसे देखा गया जल भी प्यासका वुझानेवाला हो जायगा ॥१४६॥ यदि केवल चारित्रसे ही सिद्धि सम्भव हो, तव तो अन्धा पुरुष दावानलसे, हाथियो या सर्पोसे तथा कूपोंसे व्याप्त दुर्गम वनसे सुखपूर्वक वाहर निकल जायगा ॥१४७॥ इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जो धर्म है, वह ही स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) रूप फलकी प्राप्तिका साधक है ॥१४८॥ ऐसा जानकर मनीषीजनोको इस रत्नत्रयरूप धर्मकी ही आराधना करना चाहिए। जो धर्म सेवनसे सन्तुष्ट है, वह सम्पदासे भी पुष्ट है। अन्यथा अधर्म विपदाएँ देता है ॥१४९॥ इस प्रकार यह गृहस्थोका धर्म मैंने आगमके अनुसार अल्प रुचिवाले शिष्योके लिए कहा। यदि इसमे कही कोई भूल या चूक हो तो उसे सशोधन करके उत्तम गुणोंसे विभूषित सन्त जन प्रयत्नके साथ इस ग्रन्थका विस्तार करें ॥१५०॥

इस प्रकार श्री गुणभूषणाचार्य-विरचित भव्यजनचित्तवल्लभ नामका साहु नेमिदेवके नामसे अकित इस श्रावकाचारमे सम्यक्चारित्रका वर्णन करनेवाला तीसरा उद्देश्य समाप्त हुआ।



ग्रन्थकार-प्रशस्तिः

विख्यातोऽस्ति समस्तलोकवलये श्रीमूलसंघोऽनघस्तत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतमतिः श्रीसागरेन्दो सुतः। तच्छिष्योऽजनि मोहभूभृदशनिस्त्रैलोक्यकीर्त्तिर्मुनिस्तच्छिष्यो गुणभूषण समभवत्स्याद्वादचूडामणि ॥
तेनाय भव्यचित्तादिवल्लभाख्य सतां कृते। सागारधर्मो विहितः स्थेयादापृथिवीतले ॥१५२

अस्त्यत्र वंशः पुरपाटसंज्ञ समस्तपृथ्वीपतिमाननीय ।
व्यक्त्वा स्वकीयां सुरलोकलक्ष्मी देवा अपीच्छन्ति हि यत्र जन्म ॥१५३
तत्र प्रसिद्धोऽजनि कामदेव पत्नी च तस्याजनि नाम देवी।
पुत्रौ तयोर्जोमन-लक्ष्मणाख्यौ वभूवतू राघवलक्ष्मणाविव ॥१५४

रत्नं रत्नखने शशी जलनिधेरातमोद्भव श्रीपतेस्तद्वज्जोमनतो बभूव तनुज श्रीनेमिदेवाह्वयः। यो बाल्येऽपि महानुभावचरित सज्जैनमार्गे रत शान्त श्रीगुणभूषणक्रमनत सम्यक्त्वचूडाङ्कित ॥
यस्त्यागेन जिगाय कर्णनृपति न्यायेन वाचस्पति नैर्मल्येन निशापति नगपति सत्स्थैर्यभावेन च। गाम्भीर्येण सरित्पति सुरपति सद्धर्मसद्भावनात् स श्रीमद्-गुणभूषणोन्नतिनतो नेमिश्चिरं नन्दतु ॥
श्रीमद्वीरजिनेशपादकमले चेत षडंह्रि सदा हेयादेयविचारबोधनिपुणा बुद्धिश्च यस्यात्मनि। दानं श्रीकरकुड्मले गुणततिर्देहे शिरस्युन्नति रत्नानां त्रितयं हृदि स्थितमसौ नेमिश्चिरं नन्दतु ॥१५७

ग्रन्थकारकी प्रशस्ति

इस समस्त भूमण्डलमे निर्दोष मूलसघ अति प्रसिद्ध है। उस मूलसघमे अद्भुत बुद्धिशाली विनयचन्द्र हुए जो कि श्री सागरचन्द्रके पुत्र थे। उनके शिष्य त्रैलोक्यकीर्त्ति मुनि हुए, जो मोहरूप पर्वतके भेदनेके लिए वज्रतुल्य है, त्रैलोक्यमे जिनकी कीर्त्ति व्याप्त है। उनके शिष्य गुणभूषण हुए, जो कि स्याद्वादविद्याके चूडामणि हैं ॥१५१॥ उन्होने सज्जनोके उपकारके लिए यह भव्यजनोके चित्तको प्यारा भव्यजन चित्तवल्लभ नामवाला सागारधर्म प्रतिपादन किया, जो यह इस भूतलपर चिरकाल तक स्थिर रहे ॥१५२॥ इस भारतवर्षमे पुरपाट नामका एक वश है, जो कि समस्त राजाओके द्वारा माननीय है। वह वश इतना विशुद्ध है कि देवगण भी अपनी स्वर्गलोककी लक्ष्मीको छोडकर जिसमे जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं ॥१५३॥ इस पुरपाट वशमे एक प्रसिद्ध कामदेव सेठ हुए। उनकी पत्नीका नाम देवी थी। उन दोनोके राम-लक्ष्मणके समान तेजस्वी जोमन और लक्ष्मण नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥१५४॥

जिस प्रकार रत्नोकी खानिसे रत्न उत्पन्न होता है, क्षीरसागरसे जैसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और श्रीकृष्णसे जैसे प्रद्युम्न उत्पन्न हुए, उसी प्रकार जोमनसे श्रीनेमिदेव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। जो बाल्यावस्थामे भी महापुरुषोके समान आचरणवाला, सत्य जैनमार्गमे निरत, शान्त सम्यक्त्व-चूडामणि और श्रीगुणभूषणके चरणोमे नम्रीभूत है ॥१५५॥ जिसने अपने त्याग (दान) से कर्ण राजाको जीत लिया, न्यायसे बृहस्पतिको जीत लिया, अपनी निर्मलतासे चन्द्रमाको, स्थिरतासे सुमेरुको, गम्भीरतासे समुद्रको और सद्धर्मकी भावनासे देवोके स्वामी इन्द्रको जीत लिया है, और जो श्रीमद्-गुणभूषणाचार्यकी उन्नतिमे निरत एव चरणोमे विनत है, वह नेमिदेव चिरकाल तक आनन्दित रहे ॥१५६॥ जो श्रीमान् वीर जिनेश्वरके चरणकमलोमें भ्रमर जैसा अनुरक्त चित्त हो रहा है, जिसकी आत्मामे सदा हेय और उपादेयका विचार करनेमे निपुण बुद्धि विद्यमान है, जिसका श्रीकर-कमल सदा दानमे सलग्न है, जिसके देहमे गुणोकी पक्ति विद्यमान है, शिर सद्गुणोसे सदा उन्नत रहता है, और जिसके हृदयमे रत्नत्रय धर्म सदा अवस्थित है, वह नेमिदेव चिरकाल तक आनन्दित रहे ॥१५७॥

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष-श्रावकाचार

प्रथमोऽधिकारः

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैः केवलज्ञानलोचनम् । सद्धर्मं देशयाम्येष भव्याना शर्महेतवे ॥१॥
नमामि भारतीं जैनीं सर्वसन्देहनाशिनीम् । भानुभामिव भव्यानां मन पद्मविकासिनीम् ॥२
सन्तु ते गुरवो नित्यं ये संसार-सरित्पती । रत्नत्रयमहानावा स्व-परेषां च तारकाः ॥३
यो धर्म सेवितो भक्त्या मनोवाक्काययोगत । संसाराम्भोधितो भव्यान् सन्धरत्येव सत्पदे ॥४
तं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं भुवनोत्तमम् । धर्मं प्राहुर्गणाधीशा सुराधीशैः समर्चितम् ॥५
तत्राद्यं मुनिभि प्रोक्त सम्यग्दर्शनमुत्तमम् । श्रद्धान सत्यभूताऽऽप्त-त्तदागम-त्तपस्विनाम् ॥६
तथा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते धर्मे हिंसादिवर्जिते । प्रीतिरात्यन्तिकी या तत्सम्यक्त्वं सूरिभिर्मतम् ॥७
अष्टाङ्गैः शोभते तच्च सम्यग्दर्शनमुज्ज्वलम् । यथाष्टाङ्गैर्दृढैर्नित्यं नरत्वं भाति भूतले ॥८
सम्यग्दर्शनसद्रत्न मूढत्रयमदाष्टकात् । वर्जितं राजते गाढं यथारत्नं मलोज्झितम् ॥९

केवलज्ञानरूप नेत्रवाले श्रीसर्वज्ञदेवको उच्च भक्तिसे प्रणाम करके भव्य जीवोके सुखके लिए यह मैं ग्रन्थकार सत्-धर्मका उपदेश करता हूँ ॥१॥ मै जैनी भारती (द्वादशाङ्गरूप वाणी) को नमस्कार करता हूँ जो कि सूर्यकी प्रभाके समान भव्य जीवोंके हृदय-कमलको विकसित करती है और सर्व सन्देहोका नाश करती है ॥२॥ वे गुरुजन सदा जयवन्त रहे जो कि ससाररूपी सागरमे रत्नत्रयरूपी महानावके द्वारा स्व और परके तारक हैं ॥३॥ मन वचन काय इन तीनो योगोसे भक्तिके साथ सेवन किया गया जो धर्म ससार-समुद्रसे निकालकर भव्य जीवोको उत्तम पदमे घर देता है, ऐसे, सुराधीशोसे पूजित, भुवनोत्तम धर्मको गणाधीश सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र-रूप कहते है ॥४–५॥ उनमेसे सत्यार्थ आप्त, आगम और तपस्वियोका श्रद्धान करनेको मुनिजनोने आद्य उत्तम सम्यग्दर्शन कहा है ॥६॥ तथा श्रीमज्जिनेन्द्रदेव-कथित हिंसादि सर्वपापोसे रहित अहिंसामयी जिनधर्ममे जो आत्यन्तिक प्रीति होती है, उसे आचार्योने सम्यक्त्व कहा है ॥७॥ जैसे भूतलपर दृढ आठ अगोमे उज्ज्वल सम्यग्दर्शन भी शोभाको प्राप्त होता है ॥८॥ जैसे मलसे रहित रत्न शोभायमान होता है, उसी प्रकार तीन मूढताओंसे, तथा आठ मदोसे रहित सम्यग्दर्शन-

---

नोट—ब प्रति परिचय

आकार ११ × ४॥। पत्र सख्या ३२ । प्रतिपत्र पक्ति सख्या ८ । प्रति पक्ति अक्षर सख्या ३३-३४ ।

इस प्रतिके अन्तिम पत्रमें प्रशस्तिके श्रीमल्लि तकका ही अश है । इसके आगेका अश आगेके पत्रमें रहा होगा और उसीमें लेखकका नाम और लेखन-काल भी रहा होगा । पर उसके न होनेसे यह सब अज्ञात है । फिर भी इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि यह प्रति कमसे कम ३०० वर्ष पुरानी अवश्य है और बहुत शुद्ध है ।

'अ' प्रतिमें सर्वत्र 'ब' के स्थान पर 'व' और प्राय 'स' के स्थान पर 'श' या 'श' के स्थान पर 'स' पाया जाता है ।

तत्राऽऽप्तो भव्यते देव सोऽपि दोषैर्विवर्जितः । तेऽपि दोषा बुधैर्ज्ञेया क्षुत्पिपासा जरा रुजा ॥१०
जन्मान्तको भयं निद्रा रागो द्वेषश्च विस्मय । चिन्ता रति स्मय खेदो विषाद स्वेद-मोहकौ ॥११
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तो यः सर्वज्ञो जिनेश्वरः । स्नातक परमेष्ठी च कथ्यते स निरञ्जन ॥१२
तेन श्रीमज्जिनेन्द्रेण स्वस्वभावेन देहिनाम् । यत्प्रोक्तं शास्त्रमत्युच्चैर्विरोधपरिवर्जितम् ॥१३
जीवाजीवादिकं नत्त्व पवित्रं भुवनत्रये । तदेवाऽऽगमसारस्तु स्वर्ग-मोक्षसुखप्रद. ॥१४
निर्ग्रन्थो यो मुनिर्बाह्याऽऽभ्यन्तरोरुपरिग्रहै । निर्मुक्तो वा ग्रहैर्भव्यो भूतले परमार्थवित् ॥१५
ज्ञान-ध्यान-तपोयोगै संयुक्त सद्दयापर । क्षमावान् शीलसम्पन्नस्तपस्वी स जगद्धित. ॥१६
इत्याप्ताऽऽगम-चारित्र-धारिष्वेव महारुचि । जायते संज्ञिभव्यस्य संशयादिविवर्जिता ॥१७
या सा सर्वजगत्सार-सम्पदा शर्मदायिनी । तदेव प्रोच्यते सद्भि सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥१८
संसार-देह-भोगादे सुखे कर्म-निबन्धने । नैव वाञ्छा त्रिधा या सा नि काङ्क्षा कथ्यते बुधैः ॥१९
तथाऽशुचौ शरीरेऽपि रत्नत्रयसमन्विते । गुणप्रीत्या जुगुप्सा न सता निर्विचिकित्सता ॥२०
मिथ्यामार्गे तथा मिथ्या-दृष्टौ पुंसि कदाचन । नैव प्रीति स्तुतिर्नैव क्रियते साऽमूढदृष्टिता ॥२१
शुद्धस्य जिनमार्गस्य बालाऽशक्तजनाऽऽगता । निन्द्यताऽऽच्छाद्यते यत्तत्कथ्यते चोपगूहनम् ॥२२
दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्प्रमादाच्चलता बुधै । पुन संस्थापन प्रोक्तं सस्थितीकरण शुभम् ॥२३

रूपी सद्-रत्न अति गाढरूपसे शोभायमान होता है ॥९॥ सत्यार्थ आप्त वह कहा जाता है, जो कि सर्व दोषोंसे रहित होता है। ज्ञानियोको वे दोष इस प्रकार जानना चाहिए—क्षुधा तृषा जरा रोग जन्म मरण भय निद्रा राग द्वेष विस्मय चिन्ता रति स्मय खेद विषाद प्रस्वेद और मोह इन अठारह दोषोसे जो विनिर्मुक्त है, अर्थात् वीतरागी है, सर्वज्ञ है, और हितोपदेशी है, वही सत्यार्थ आप्त है। वही जिनेश्वर, श्रावक, निरजन और परमेष्ठी कहा जाता है ॥१०–१२॥ उस श्रीमज्जिनेन्द्रदेवके द्वारा स्व-स्वभावसे (अपने आप) प्राणियोके कल्याणके लिए जो कहा गया है और जो पूर्वापर विरोधसे सर्वथा रहित है, वह सत्यार्थ शास्त्र है ॥१३॥ जीव-अजीवादिक सात ही भुवनत्रयमे पवित्र तत्त्व हैं, वे ही उक्त आगमके सारभूत है और वे ही स्वर्ग एव मोक्षके सुखोके देनेवाले हैं ॥१४॥ जो भव्य बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकारके परिग्रहोसे तथा ग्रहोसे निर्मुक्त, निर्ग्रन्थ मुनि है, वही इस भूतलमे परमार्थका वेत्ता है। जो ज्ञान-ध्यान और तपोयोगसे सयुक्त है, सद्-दयामे तत्पर है, क्षमावान् है, शील-सम्पन्न है, तेजस्वी है और जगत्का हितैषी है, वही सत्यार्थ गुरु कहलाता है ॥१५–१६॥ इस प्रकारके आप्त, आगम और चारित्र-धारी गुरुओमे सज्ञी भव्य जीवके जो सशयादिसे रहित महारुचि (दृढ श्रद्धा) होती है, वही सर्वजगत्मे सारभूत सम्पदा है, और यथार्थ सुखको देनेवाली है। उसे ही सन्तजन उत्तम सम्यग्दर्शन कहते है। (यह नि शकित अग है) ॥१७–१८॥ कर्म-बन्धनके कारणभूत सासारिक एव शारीरिक भोगादिके सुखमे जो मन-वचन-कायसे वांछा नही होना, उसे ही ज्ञानियोने नि काक्षित अग कहा है ॥१९॥ तथा रत्नत्रयसे संयुक्त साधुके अशुचि भी शरीरमे ग्लानि नही करना और उनके गुणोमे प्रीति करना उसे सन्तोका निर्विचिकित्सा अग माना गया है ॥२०॥ मिथ्यामार्गमे तथा मिथ्यादृष्टि पुरुषमे कदाचित् भी न प्रीति करना और न स्तुति ही करना, सो यह अमूढदृष्टि अग है ॥२१॥ शुद्ध जिनमार्गकी बाल एव अशक्त जनोके आश्रयसे होनेवाली निन्दाका जो आच्छादन किया जाता है, वह उपगूहन अग कहा गया है ॥२२॥ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे प्रमाद-वश चल-विचल

साधर्मिकेषु या भक्तिर्मायादोषविवर्जिता । वात्सल्यं मुनय प्राहुस्तदेव सुख-साधनम् ॥२४
मिथ्याज्ञानतमस्तोमं निराकृत्य स्वशक्तित । जैनधर्मे समुद्योत. क्रियते सा प्रभावना ॥२५
गुणैरष्टाभिरेतैश्च संयुक्तं दर्शनं शुभम् । हन्ति कर्माणि सम्पूर्णो मन्त्रो वा विषवेदनाम् ॥२६
नि शङ्कितेऽञ्जनश्चौरस्ततोऽनन्तमतिर्मता । उद्दायनस्तृतीये च तुरीये रेवती सती ॥२७
श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्तश्च वारिषेणश्च विष्णुवाक् । वज्रनामा मुनिः पूजा क्रमादष्टाङ्गेष्विताः ॥२८
अष्टौ शङ्कादयो दोषास्तथाऽनायतनानि षट् । मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ दृग्दोषा· पञ्चविंशतिः ॥२९
कुदेवस्तस्य भक्तश्च कुज्ञानं तस्य पाठकः । कुलिङ्गी सेवकस्तस्य लोकेऽनायतनानि षट् ॥३०
मिथ्यावद्भास्करायाऽर्घं स्नानं च ग्रहणादिके । दानं सङ्क्रान्तिके सन्ध्या वह्नि-देह-गृहार्चनम् ॥३१
गोऽश्ववाहन-भूम्यस्त्र-वटवृक्षादिपूजनम् । नागार्चनं तथा नद्या सागरे स्नानकं तथा ॥३२
पाषाण-सिकताराशे सत्कारश्च तथा बुधै । पर्वताऽग्निप्रपातश्च लोकमूढं प्रचक्ष्यते ॥३३
आत्मघातं महापापं विष-शस्त्रादिकैः कृतम् । प्राहुर्बुधा भवेद्यस्मात्संसारे भ्रमणं सदा ॥३४
वरादिवाञ्छया लोभाद्राग-द्वेषादिदूषिता । सेव्यन्ते देवता मूढैर्देवमूढं तदेव च ॥३५
गृहव्यापारसारम्भ-भागिनां भववर्तिनाम् । पाखण्डिनां कृता सेवा मता पाखण्डिमूढता ॥३६
इति मूढत्रयेणोच्चै. संत्यक्तं शुद्धदर्शनम् ।पालनीयं बुधैर्नित्यं व्रतसन्दोहभूषणम् ॥३७

होनेवाले पुरुषोका पुन उसमे सस्थापन करनेको ज्ञानियोने उत्तम स्थितीकरण अग कहा है ॥२३॥ सार्घमिक जनोपर मायादोपसे रहित जो भक्ति होती है उसे ही मुनिगण सुखका साधन वात्सल्य अग कहते हैं ॥२४॥ मिथ्याज्ञानरूप अन्वकारके प्रस्तारको अपनी शक्तिसे निराकरण करके जैनधर्मका जो उद्योत किया जाता है, उसे प्रभावना अग कहते हैं ॥२५॥ इन आठो ही गुणोसे सयुक्त उत्तम सम्यग्दर्शन जीवके सर्व कर्मोका नाश कर देता है, जैसे कि सर्व अक्षरोंसे सम्पूर्ण मत्र विपकी वेदनाका नाश कर देता है ॥२६॥ सम्यग्दर्शनके उपर्युक्त अगोमेसे प्रथम नि शकित अंगमे अंजनचोर, द्वितीय अगमे अनन्तमती, तृतीय अगमे उद्दायन, चतुर्थ अगमे रेवती, पचम अगमे जिनेन्द्रभक्त, पष्ठ अगमे वारिषेण, सप्तम अगमे विष्णुकुमार और अष्टम अगमे वज्रकुमार मुनि पूजाको प्राप्त हुए हैं ॥२७–२८॥ शकादिक आठ दोष, छह अनायतन, तीन मूढता और आठ मद ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं ॥२९॥ कुदेव, कुदेवका भक्त, कुज्ञान, कुज्ञानका पाठक, कुलिंगी और कुलिंगीका सेवक ये लोकमे छह अनायतन कहलाते हैं ॥३०॥ मिथ्यात्वियोके समान सूर्यके लिए अर्घ चढाना, चन्द्र-सूर्यादिके ग्रहण-समय स्नान करना, सक्रान्तिमे दान देना, सन्ध्या करना, अग्नि, देह और घरकी पूजा करना, गाय, अश्व, वाहन, भूमि, अस्त्र और वट-वृक्षादिका पूजन करना, नागोकी पूजा करना, नदी और सागरमे स्नान करना, पाषाण और वालुकाराशिका सत्कार करना, पर्वतसे गिरना, अग्निमे प्रवेश करना इत्यादि कार्य ज्ञानियोके द्वारा लोकमूढता कही गयी है ॥३१–३३॥ विप-शस्त्रादिसे आत्मघात करनेको ज्ञानियोने महापाप कहा है, क्योकि इससे ससारमे सदा परिभ्रमण करना पडता है ॥३४॥ लोभसे अथवा वर आदि पानेकी वाछासे राग-द्वेषादिसे दूषित देवोकी मूढजनोके द्वारा जो सेवा-उपासना की जाती है, वह देवमूढता है ॥३५॥ गृह-व्यापार और आरम्भ समारम्भ करनेवाले, सासारिक कार्योमे प्रवृत्त पाखण्डियोकी सेवा करना पाखण्डिमूढता मानी गयी है ॥३६॥

इस प्रकार तीन मूढताओसे सर्वथा रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञानीजनोको सदा पालन करना

तथा सद्-दृष्टिभिर्भव्यैस्त्याज्यं गर्वाष्टक सदा । ज्ञात्वा धर्मस्य सद्भावं निर्मदं जिनभाषितम् ॥३८
ज्ञानं च पूज्यता लोके कुलं जातिर्वलं तथा । सम्पदा सुतपो रूप दुर्धिया गर्वकारणम् ॥३९
मलै पञ्चादिविंशत्या त्यक्तमेतैर्जगद्धितम् । ज्ञेयं सम्यक्त्वसद्रत्नं भव्यैर्लोकद्वये हितम् ॥४०
तथा चोपशमऽऽद्याश्च त्रयो भेदा जिनेश्वरै । सम्यक्त्वस्य समाख्याता केवलज्ञानभास्करै ॥४१
सप्ताना प्रकृतीनां हि शमादुपशमं भवेत् । संक्षयात् क्षायिकं तद्धि तन्मिश्रामिश्रनामकम् ॥४२
व्यवहारेण सम्यक्त्वमिति प्रोक्तं च निश्चयात् । मोह-क्षोभपरित्यक्ता या शुद्धा स्वात्मभावना ॥४३
इति द्विविधसम्यक्त्व मुक्तिबीज सुखप्रदम् । यो भव्यो नित्यश पाति सम्यग्दृष्टि स एव हि ॥४४

यदुक्तम्—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्ल अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥१

सवेग परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च । निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥४५
अधिष्ठानं यथा शुद्धं गाढं प्रासादरक्षणम् । तथा ज्ञान-तपोलक्ष्मी-कारणं दर्शनं मतम् ॥४६
सम्यक्त्वरत्नसंयुक्तो भव्य. श्रीजिनभक्तिभाक् । दुर्गतेर्बन्धनिर्मुक्तो भाविमुक्तिमावर ॥४७
श्वभ्र-तिर्यक्कुदेवत्वं स्त्रीत्वं नीचकुलादिकम् । रोगत्वाल्पायुदारिद्य् नैव प्राप्नोति निश्चयात् ॥४८

चाहिए, क्योकि वह सर्वव्रत-समूहका आभूषण है ॥३७॥ तथा सम्यग्दृष्टि भव्य जीवोको 'जिन भाषित धर्मका सद्भाव निर्मदपना है' यह जानकर सदा ही आठो प्रकारके मदोका त्याग करना चाहिए ॥३८॥ वे आठ मद इस प्रकार हैं—ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, वलमद, सम्पदामद, तपमद और रूपमद । लोकमे ये आठ मद दुर्बुद्धियोके गर्वके कारण होते है ॥३९॥ इस प्रकार इन उपर्युक्त पच्चीस दोषोसे रहित, जगत्का हितकारी यह सम्यक्त्वरूप सद्-रत्न भव्य जीवोको दोनो लोकोमे हितरूप जानना चाहिए ॥४०॥ केवलज्ञान-भास्करस्वरूप जिनेश्वर देवने सम्यक्त्वके उपशम आदिक तीन भेद कहे हैं ॥४१॥ दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति, तथा चारित्रमोहकी अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है, इन्ही सातोके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है और इन्ही सातोंके मिश्रसे (क्षयोपशमसे) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥४२॥ व्यवहारसे ये तीनो भेद सम्यक्त्वके कहे गये है। निश्चयसे तो मोह और क्षोभसे रहित जो शुद्ध स्वात्म-भावना है, वही निश्चय सम्यक्त्व है ॥४३॥ इस प्रकार मुक्तिका वीज और सुखके देनेवाले दोनो ही प्रकारके सम्यक्त्वको जो भव्य पुरुष नित्य पालन करता है, वही सम्यग्दृष्टि है ॥४४॥ जैसा कि कहा है—सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवमे सवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण प्रकट होते हैं ॥१॥ धर्म और धर्मके फलमे परम प्रीति होना सवेग है। शरीरमे, इन्द्रियोके भोगोमे और ससारमे विरक्तिभाव होना निर्वेद है ॥४५॥ (निन्दा आदि शेप गुणोका स्वरूप सुगम होनेसे ग्रन्थकारने नही लिखा है।) जैसे शुद्ध दृढ अधिष्ठान (नीव) भवनका संरक्षक होता है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान और तपोलक्ष्मीका कारण माना गया है ॥४६॥ सम्यक्त्वरूप रत्नसे सयुक्त, श्रीजिनेन्द्रदेवकी भक्ति करनेवाला भव्य जीव दुर्गतिके वन्धसे निर्मुक्त रहता है और भावीकालमे मुक्ति-रमाको वरण करता है ॥४७॥ यह सम्यक्त्वी जीव निश्चयसे नरकगति, तिर्यग्गति, कुदेवत्व (भवनत्रिकत्व) स्त्रीत्व, नीचकुलादिकवाले मनुष्योमे जन्म, रोगी-पना, अल्प आयु और दरिद्रताको नही प्राप्त होता है ॥४८॥ किन्तु लोगोके चित्तोका अनुरजन

किन्तु देवेन्द्र-चक्र्यादि-श्रियं प्राप्नोति शर्मदाम् । नानाभोगशताकीर्णां जगच्चेतोऽनुरञ्जिनीम् ॥४९
पुन. सम्यक्त्वमाहात्म्याज्ज्ञानचारित्रमुत्तमम् । समासाद्यैव निर्वाणं संप्रयात्येव निश्चलम् ॥५०
भो भव्यास्त्रिजगत्सारं सम्यक्त्वं सौख्यसाधनम् । नापरं भुवने किञ्चित्तत्समं देहिनां हितम् ॥५१
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सम्यग्दर्शनमुत्तमम् । स्वर्ग-मोक्षश्रियो हेतुं भो भव्याः संभजन्तु वै ॥५२
अर्हद्देव-तदुक्ततत्त्व-सुगुरु-श्रद्धानमाहुर्बुधा , सम्यक्त्वं भव-दु खराशिदलनं वै दुर्गतेर्नाशनम् ।
ज्ञान-ध्यान-तपोविधानविलसद्दानक्रियामण्डनं बीजं धर्मतरो करोतु नितरां स्वर्गापवर्गं सताम् ॥५३
अदेवे देवताबुद्धिरगुरौ गुरुसम्मति । अतत्त्वे तत्त्वचिन्ता च मिथ्यात्वं चेति संत्यजेत् ॥५४

इति धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारे सम्यक्त्वव्यावर्णनो नाम प्रथमोऽधिकार ॥१॥

●

करनेवाली, नाना प्रकारके सैकडो भोगोसे व्याप्त और सुख-दायिनी देवेन्द्र-चक्रवर्ती आदिकी लक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥४९॥ पुन सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्तमज्ञान और चारित्रको प्राप्त करके निश्चल निर्वाणको प्राप्त होता है ॥५०॥ हे भव्य जीवो ! यह सम्यक्त्व तीन जगत्मे सार है और अक्षय सुखका साधन है। इसके समान लोकमे और कोई भी वस्तु प्राणियोके लिए हितकारी नही है ॥५१॥ इसलिए हे भव्यो, सर्व प्रयत्नसे स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मीके पानेके कारणभूत इस उत्तम सम्यग्दर्शनको नियमसे भली-भाँति सेवन करो ॥५२॥ ज्ञानियोने अरहन्तदेव, उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व और सुगुरुके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। यह ससारके दु खराशिका दलन करनेवाला है, निश्चयसे दुर्गतिका नाशक है, ज्ञान ध्यान तपोविधानसे विलसित दान क्रियाका मण्डनस्वरूप है और धर्मरूप वृक्षका बीज है। ऐसा यह सम्यग्दर्शन सज्जनोंके स्वर्ग और मोक्ष शीघ्र प्रदान करे ॥५३॥ अदेवमे देवबुद्धि होना, अगुरुमे गुरुपना मानना और अतत्त्वमे तत्त्व-चिन्तन करना मिथ्यात्व है। (यह ससारका कारण है अत) इसका त्याग करना चाहिए ॥५४॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमे सम्यक्त्वका वर्णन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥१॥

●

द्वितीयोऽधिकारः

अथ श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त सज्ज्ञान भुवनोत्तमम् । नत्वा ज्ञानस्वरूप च संक्षेपेण सता ब्रुवे ॥१
पूर्वापरविरोधेन वर्जित यच्च निर्मलम् । तदेव भुवने ज्ञान भव्याना लोचनं परम् ॥२
जीवानां सुदया यत्र स्थाप्यते शर्मकारिणी । सज्ज्ञान तद्बुधैः प्रोक्त सर्वसम्पद्-विधायकम् ॥३
जन्तूनां विद्यते यत्र हिंसा दु.खशतप्रदा । तत् कुज्ञान मत सद्भिर्महापापस्य कारणम् ॥४
हिंसादिपातक येन त्यज्यते जन्तुभि. सदा । तज्ज्ञान सर्वजीवाना शर्मद ज्ञानिभिर्मतम् ॥५
येन जीवो जडात्माऽपि लोकालोक हिताहितम् । नि सन्देह् विजानाति तज्जैन ज्ञानमुत्तमम् ॥६
तद्-भेदाः भूरिशः सन्ति सप्रोक्ता. श्रीजिनेश्वरैः । ज्ञातव्यास्ते महाभव्यैरागमे जिनभाषिते ॥७
महाधिकाराश्चत्वारो विद्यन्ते ये जगद्धिता । सक्षेपेण प्रसिद्धास्तान् वक्ष्ये सज्ज्ञानसिद्धये ॥८
तीर्थेशां शान्तिकर्तृणा पुराण पुण्यकारणम् । पञ्चकल्याणसम्पत्तेर्विस्तारैर्गुणधारणम् ॥९
तथा श्रीमद्-गणाधीश-चक्र्यादिचरित शुभम् । प्रथमानुयोगदीपो भव्यानां संप्रकाशते ॥१०
लोकालोकस्थिते काल-परावर्त्तस्य लक्षणम् । भेदाश्चतुर्गतीना च वर्तन्ते यत्र निश्चयात् ॥११
सशयोरुतमोध्वंसी भव्याना शर्मदायक । करणानुयोगरवि संप्रोक्तो मुनिसत्तमैः ॥१२
मुनीनां श्रावकाणां च चारित्रं भुवनोत्तमम् । तस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च सत्सुखोरुफलानि च ॥१३

श्रीमान् जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये, लोकमे उत्तम ऐसे सम्यग्ज्ञानको नमस्कार करके मै सज्जनोंके लिए ज्ञानका स्वरूप सक्षेपसे कहता हूँ ॥१॥ जो पूर्वापर विरोधसे रहित और निर्मल है, वही ज्ञान ससारमे भव्य जीवोका परम लोचन (नेत्र) है ॥२॥ जिसमे सर्व जीवोको सुख करनेवाली उत्तम दयाकी स्थापना की गयी है और जो सभी सम्पदाओका विधायक है, ज्ञानियोने उसे ही सद्-ज्ञान कहा है ॥३॥ जिसमे जीवोको सैकडो दु खोकी देनेवाली हिंसाका विधान है, उसे सन्तोने महापापका कारण कुज्ञान कहा है ॥४॥ जिसके द्वारा जीवोसे हिंसादिक पाप सदा छुडाये जाते हैं और जो सर्व जीवोको सुखका देनेवाला है उसे ही ज्ञानियोने सम्यग्ज्ञान माना है ॥५॥ जिसके द्वारा जड़ बुद्धि पुरुष भी लोक-अलोकको और अपने हित-अहितको नि सन्देह जानता है, वही जिनोक्त उत्तम सत्य ज्ञान है ॥६॥ श्री जिनेश्वरदेवने उस सम्यग्ज्ञानके वहुत भेद कहे है, उन्हे भव्य पुरुप जिनभापित आगमसे ज्ञात करें ॥७॥ उस सम्यग्ज्ञानके जगत्-हितकारी चार महाधिकार हैं, उन प्रसिद्ध अधिकारोको सम्यग्ज्ञानकी सिद्धिके लिए मैं सक्षेपसे कहता हूँ ॥८॥ जिसमे शान्तिके कर्ता तीर्थंकरोकी पच कल्याणकरूप सम्पत्तिका विस्तारसे गुण-वर्णन किया गया है, ऐसे पुण्यके कारणभूत पुराण ग्रन्थ तथा श्रीमान् गणधरदेवोका, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषोका शुभचरित्त कहा गया है, उसे प्रथमानुयोग कहते है। यह प्रथमानुयोगरूपी दीपक भव्य जीवोके लिए मोक्षगामी महापुरुषोका आख्यान (चरित) प्रकाशित करता है ॥९–१०॥ जिसमे लोक और अलोककी स्थितिका, कालके परिवर्तनका और चारो गतियोंके भेदका लक्षण विद्यमान है, जो निश्चयसे भव्य जीवोके सशयरूप महान्धकारका विध्वसक है और उन्हे सुखदायक है, उसे उत्तम मुनियोने करणानुयोगरूपी सूर्य कहा है ॥११–१२॥ जिसमे मुनियो और श्रावकोके लोकोत्तम

ज्ञायन्ते विस्तरेणोच्चैर्यत्र भव्यैर्निरन्तरम् । चरणानुयोगचन्द्रः स ज्ञेयो लोकसम्मत ॥१४
जीवजीवादितत्त्वानां सप्तानां यत्र निश्चय । पुण्य-पापद्वयोर्भेदं सुख-दुःखादिवर्णनम् ॥१५
वर्तते यत्र भो भव्या विस्तरेण जिनागम । द्रव्यानुयोगनामाऽसौ वोधो मिथ्यात्वनाशकृत् ॥१६
द्वादशाङ्ग श्रुत चेति केवलज्ञानिभिर्जिनैः । स्वस्वभावेन भव्यानां भाषित दिव्यभाषया ॥१७
एवं तथा गणाधीशैश्चतुर्ज्ञानविराजितैः नानाग्रन्थस्वरूपेण गुम्फित रचनाशतै ॥१८
सस्कृत-प्राकृतैर्भेदै श्लोककाव्यादिलक्षणै । प्रोक्तं परोपकाराय स्वात्मन सिद्धिहेतवे ॥१९
सर्वागमपदानां च संख्या प्रोक्ता जिनागमे । कोटीशतं तथा कोटयो द्वादश प्रविकीर्त्तिता ॥२०
लक्षास्त्र्यशीतिरित्यष्ट पञ्चाशच्चारुसंख्यया । सहस्राणि तथा पञ्च केवल च पदानि वै ॥२१
सङ्ख्येति ग्रन्थत प्रोक्ता श्रुते श्रीजिनभाषिते । अर्थतस्तु च सङ्ख्याऽत्र प्राप्यते केन भूतले ॥२२
महागमपदस्यापि कति श्लोका भवन्त्यहो । प्रश्नश्चेत्क्रियते भव्यै श्रूयता मुनिभिर्मतम् ॥२३
श्लोकानामेकपञ्चाशत् कोटयो लक्षकाष्टकम् । चतुर्भिरधिकाऽशीति सहस्राणि शतानि षट् ॥२४
सार्द्धैकविंशतिश्चेति सङ्ख्या चैकपदस्य वै । सम्प्रोक्ता मुनिभिर्धीरैर्विशुद्धैर्वोधसिन्धुभिः ॥२५

उक्तं च—

एक्कावण कोडीओ लक्खा अट्ठेव सहस चुलसीदी । सय छक्कं णायव्वं सड्ढाइगवीस पयगथा ॥२
इत्यादि महिमोपेतं श्रुतं श्रीजिनभाषितम् । समाराध्यं महाभव्यै केवलज्ञानसिद्धये ॥२६

चारित्रका वर्णन है और जिस चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि एवं उसके उत्तम सुखरूप महान् फल भव्योंके द्वारा निरन्तर विस्तारसे अच्छी तरह जाने जाते हैं, वह लोक-प्रसिद्ध चरणानुयोगरूप चन्द्र जानना चाहिये ॥१३–१४॥ जिसमे जीव, अजीव आदि सातो तत्त्वोका निश्चय किया गया है, जिसमे पुण्य और पाप इन दोनोंके भेदोके सुख-दु खादिका वर्णन विस्तारसे विद्यमान है, वह द्रव्यानुयोग नामका जिनागम है । यह द्रव्यानुयोगरूप सम्यग्ज्ञान मिथ्यात्वका नाशक है ॥१५-१६॥ केवलज्ञानी जिनेन्द्रोने भव्य जीवोके लिए अपने सहज स्वभावसे दिव्यध्वनिके द्वारा द्वादशाङ्ग श्रुतका निरूपण किया है ॥१७॥ पुन चार ज्ञानोंसे विराजित गणधरदेवोने सैकडो रचनाओंके द्वारा नाना ग्रन्थोंके स्वरूपसे उस श्रुतज्ञानको गुम्फित किया । पुन परवर्ती आचार्योंने संस्कृत-प्राकृत भाषाओंसे श्लोक-काव्यादि लक्षणवाले अनेक भेदोके द्वारा परोपकारके लिए तथा अपने आत्माकी सिद्धिके हेतु उस श्रुतज्ञानका निरूपण किया ॥१८–१९॥ श्री जिनागममे आगमके सर्वपदो की संख्या एक सौ वारह करोड, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच (११२८३५८००५) कही गयी है ॥२०–२१॥ श्री जिन-भाषित श्रुतमे ग्रन्थ-रचनाकी अपेक्षा यह सख्या कही गयी है । अर्थ-की अपेक्षा तो श्रुतज्ञानकी सख्याको इस भूतलमे कौन पा सकता है ॥२२॥ श्रुतरूप आगमके एक महापदके कितने श्लोक होते हैं ? यदि भव्य लोग ऐसा प्रश्न करते है, तो मुनियोके द्वारा मानी गयी वह सख्या सुनें ॥२३॥ वीरवीर, विशुद्ध ज्ञानके सागर मुनियोने एक पदके श्लोकोका परिमाण एकावन करोड, आठ लाख, चौरासी हजार छह सौ साढे इक्कीस (५१०८८४६२१½) श्लोक-प्रमाण कहा है ॥२४–२५॥

जैसा कि पूर्वाचार्योंने भी कहा है—एक पद इकावन कोडि, आठ लाख, चौरासी हजार, छह सौ साढे इक्कीस श्लोक-प्रमाण होता है ॥२॥

इत्यादि महिमासे सयुक्त श्री जिन-भाषित श्रुतकी महाभव्य जीवोंको केवलज्ञानकी सिद्धि

श्रुतज्ञानं जिनेन्द्रोक्तं लोकालोकप्रकाशकम् । अनादिनिधनं पूतमज्ञानक्षयकारकम् ॥२७

सद्गुरूणां पदाम्भोज-सारसेवासमन्विता । पञ्चप्रकारैर्ये भव्या सारस्वाध्यायलक्षणैः ॥२८
आराधयन्ति सद्-भक्त्या स्वस्थचित्तं विधाय च । ज्ञान-विज्ञानसम्पत्ति-यश.कीर्त्ति समाप्य च ॥२९
सम्यग्ज्ञानप्रसादेन ते भव्या सौख्यकोटिदम् । केवलज्ञानमुत्पाद्य दृष्ट्वा सर्वं चराचरम् ॥३०
जन्ममृत्युजरातङ्क-दुःखशोकादिवर्जितम् । अनन्तानन्तसत्सौख्यं मोक्षं सयान्ति निश्चितम् ॥३१
इति मत्वा जिनेन्द्रोक्त सज्ज्ञान सम्पदाकरम् । मनोवाक्कायसंशुद्ध्या भव्या सेवन्तु सच्छ्रिये ॥३२
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राऽऽस्याज्जातः श्रुतसुधाम्बुधि । मया तुच्छधिया चापि श्रितः स्तात्केवलश्रिय ॥३३
संज्ञानं जिनभाषितं शुभतरं कुज्ञानविध्वसन लोकालोकविलोकनैकनयनं सन्देहनिर्णाशनम् ।
जीवाजीवसुतत्त्वभेदकथकं संज्ञानि सजीवन सर्वप्राणिसुखप्रमोदजनक कुर्यात्सतां मङ्गलम् ॥३४

इति श्रीधर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारे ज्ञानाराधनव्यावर्णनो द्वितीयोऽधिकार ॥२॥



के लिए सम्यक् प्रकारसे आराधना करनी चाहिये ॥२६॥ यह श्री जिनेन्द्र-कथित श्रुतज्ञान लोका-लोकका प्रकाशक है, अनादि निधन है, पवित्र है और अज्ञानका क्षय करनेवाला है ॥२७॥ जो भव्य पुरुष सद्-गुरुओके पाद-पद्मोकी सारभूत सेवासे सयुक्त है और जो स्वस्थचित्त करके स्वाध्याय-के सारभूत पाँचो भेदो द्वारा सद्-भक्तिसे श्रुतकी आराधना करते है, वे भव्य जीव सम्यग्ज्ञानके प्रसादसे ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति और यश कीर्तिको पा करके अनन्त सुखोकी कोटिको देनेवाले केवलज्ञानको उत्पन्न करके तथा सर्व चराचर जगत्को देखकर जन्म, जरा, मरण, रोग, दु ख और शोकादिसे रहित अनन्तानन्त उत्तम सुखवाले निश्चित रूपसे मोक्षको प्राप्त करते है ॥२८–३१॥ ऐसा मानकर सम्पदाओके करनेवाले जिनेन्द्रोक्त सम्यग्ज्ञानकी भव्य जीवोको उत्तम मुक्तिलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए मन वचन कायकी सम्यक् शुद्धिके साथ सेवा करनी चाहिये ॥३२॥ श्रीमान् जिनेन्द्रचन्द्रके मुखसे उत्पन्न हुआ तथा मुझ तुच्छ बुद्धिके द्वारा आश्रय किया हुआ यह श्रुतामृतसागर मेरे लिए केवलज्ञान-लक्ष्मीका प्राप्त करानेवाला होवे ॥३३॥ यह श्री जिन-भाषित सम्यग्ज्ञान अतिशुभ है, कुज्ञानका विध्वसक है, लोक और अलोकके अवलोकनके लिए अद्वितीय नयन है, सन्देहका नाशक है, जीव-अजीवादि तत्त्वोके भेदोका कथन करनेवाला है, सुज्ञानी जीवोका सजीवन है और सर्व प्राणियोको सुख एव प्रमोदका जनक है, वह सदा सज्जनोके मगल करे ॥३४॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमे ज्ञानाराधनाका
वर्णन करनेवाला दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥



तृतीयोऽधिकारः

अथ श्रीजिनमानम्य केवलज्ञानसम्पदम् । वक्ष्येऽहं चारुचारित्र भव्यानां सुगतिप्रदम् ॥१
हिंसाऽनृत तथाऽस्तेय मैथुनं च परिग्रह. । एतेषा पञ्च पापानां त्यागो वृत्तं हि संज्ञिनाम् ॥२
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कैर्नरेन्द्राद्यै समर्चितम् । श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं तच्चारित्रं द्विधा मतम् ॥३
मुनि-श्रावकभेदेन भव्यानां तत्सुखप्रदम् । दु ख-दारिद्र-दौर्भाग्य-दुराचार-विनाशनम् ॥४
हिंसादिपञ्चपापानां साकल्येन विवर्जनात् । सकलं मुनिचारित्रं साक्षान्मोक्षप्रसाधनम् ॥५
तद्भेदा शतश सन्ति मूलोत्तरगुणादिभि. । कस्तान् माद्दग्विधो वक्तुं समर्थस्तुच्छबुद्धिभाक् ॥६
त्रसानां पालनं कार्यं पञ्चस्थावर हिंसनात् । गृहिणामणुचारित्रं स्वर्गादिसुखसाधनम् ॥७
तत्र श्रावकधर्मेऽत्र शुद्धसम्यक्त्वशोभिते । आदौ मूलगुणैर्भाव्यं भव्यानां शर्मदायकैः ॥८
मद्य-मास-मधुत्यागै सहोदुम्वरपञ्चकै । अष्टौ मूलगुणा. प्रोक्ता गृहिणां पूर्वसूरिभि. ॥९
सूक्ष्मजन्तुभिराकीर्णं नीचलोकै समाश्रितम् । वुद्धिनिर्णाशकं निन्द्यं मद्यं हिंसाकरं त्यजेत् ॥१०
यच्च लोके दुराचार-सहस्राणा हि कारणम् । मद्यं कुलक्षयंकारि तत्त्याज्य सर्वदा वुधै. ॥११
यद्विकल कुधी प्राणी निपतन् यत्र तत्र च । मलैर्लिप्तो जनैस्त्यक्तो दूरत. कुक्कुरायते ॥१२
तन्मद्य पापकृन्निन्द्यं संसाराम्भोधिपातकम् । नामतोऽपि सदा त्याज्यं सद्भि स्वहितवाञ्छकै ॥१३

अव केवलज्ञानरूपी सम्पदावाले श्रीजिनदेवको नमस्कार करके मैं भव्योको सुगतिके देनेवाले उत्तम चारित्रको कहता हूँ ॥१॥ हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन पाँचो पापोका त्याग करना सुज्ञानियोका चारित्र कहलाता है ॥२॥ इन्द्र, नागेन्द्र, चन्द्र, सूर्य और नरेन्द्रादिसे पूजित, यह श्रीमज्जिनेन्द्र चन्द्र-भाषित चारित्र मुनि और श्रीवकके भेदसे दो प्रकारका माना गया है। यह चारित्र भव्योको उत्तम सुख देनेवाला है, तथा दु ख, दारिद्र, दौर्भाग्य और दुराचारका विनाशक है ॥३-४॥ हिंसादि पाँचो पापोका सकलरूपसे त्याग करना सकलचारित्र है, यह मुनियोंके होता है और साक्षात् मोक्षका साधक है ॥५॥ इस सकलचारित्रके मूल और उत्तर गुणादिकी अपेक्षा सैंकड़ो भेद हैं। उन सवको कहनेके लिए मेरे जैसा अल्प बुद्धिका धारक कौन मनुष्य समर्थ है ? कोई भी नही है ॥६॥ गृहस्थोंके त्रस जीवोकी हिंसा होनेसे अणुचारित्र (देशसयम) होता है और वह उनके स्वर्गादि सुखोका साधक है ॥७॥ शुद्ध सम्यक्त्वसे शोभित उस श्रावकधर्ममे भव्योको सुख-दायक आठ मूलगुण सर्वप्रथम होना चाहिए ॥८॥ मद्य, मास और मधुके त्यागके साथ पाँच उदुम्वरफलोको त्याग करना, इन्हे पूर्व आचार्योने गृहस्थोंके आठ मूलगुण कहा है ॥९॥ सूक्ष्म जन्तुओसे परिपूरित, नीच लोगोंके द्वारा ससेव्य, वुद्धि-नाशक, हिंसा-कारक और निन्द्य मद्य छोड़ना चाहिए ॥१०॥ यह मद्य ससारमे सहस्रो दुराचारोका कारण है, और कुलका क्षयकारी है, अत ज्ञानियोको यह सर्वदा त्याज्य है ॥११॥ इस मद्यके पीनेसे वावला हुआ मनुष्य यहाँ वहाँ गिरता हुआ मल-मूत्रसे लिप्त होता है, मनुष्योंके द्वारा दूरसे ही छोड दिया जाता है और कुक्कुरके समान आचरण करता है ॥१२॥ यह मद्य पाप-कारक है, निन्द्य है और

किमुच्यते पर लोके यत्पीत्वा कामपीडित. । भगिन्यादौ कुचित्तेन दुर्गति याति पापत ॥१४

यदुक्तम्—

मुहु विलिहिवि मुत्तइ सुणहु एहु ण मज्जहु दोसु ।
मत्तउ वहिणि जि अहिलसइ तें तहु णरइ पएसु ॥३

अतो विवेकिभिर्भव्यै कुललज्जा-दयापरैः । मनोवाक्कायतो नित्य तत्त्याज्य धर्महेतवे ॥१५
तथा तद्-व्रतरक्षार्थं सङ्गतिर्मद्यपायिनाम् । अष्टभिश्च मदै सार्धं सन्त्याज्य सद्विचक्षणै ॥१६
मूलतोऽपि सुयत्नेन व्याधिः संछेदितो यथा । नैव पीडा करोतीह कदाचिदपि देहिनाम् ॥१७

द्वि-धातुज भवेन्मांसं प्राणिघातसमुद्भवम् । महापापप्रदं नित्यं सन्त्याज्यं दूरतो बुधै ॥१८
महानरकसंवास-दायकं दु खहेतुकम् । ज्ञातव्यं फलमेक हि महासंसारपातकम् ॥१९
कृतं च कारित चापि तन्निमित्तानुमोदनम् । प्राहु. प्राज्ञा महापापं दुःखकोटिप्रदायकम् ॥२०
महामिथ्योदयेनात्र येन तद्भक्षितं क्षितौ । स निन्द्यो भुवने पापी भवेद्दु खैकभाजनम् ॥२१
धर्मकल्पद्रुमस्योच्चैर्दया मूलं भवत्यलम् । तद्भक्षिण कुतो धर्मो बीजाभावे यथा फलम् ॥२२
यन्नाम्ना दर्शनाच्चापि सत्ता दु खं प्रजायते । तल्लम्पटो महापापी कथं दु'खी न भूतले ॥२३

ससार-सागरमे डुबानेवाला है । अत आत्म-हितके वाछक सज्जनोको इसका नामसे भी सदा त्याग करना चाहिए ॥१३॥ इस मद्यकी अधिक क्या निन्दा करे, इसे पीकर कामसे पीड़ित हुआ मनुष्य वहिन आदिमे भी काम-सेवनकी दुर्बुद्धि करके उसके पापसे दुर्गतिको जाता है ॥१४॥

जैसा कि कहा है कि—कुत्ता मद्यपायीके मुखको चाटकर उसके ऊपर मूतता है । इतना ही मद्यपानका दोष नही है, अपितु मद्य पीनेसे उन्मत्त हुआ वह अपनी बहिनके साथ भी काम-सेवनकी अभिलाषा करता है और उससे वह नरकमे प्रवेश करता है ॥३॥

अत विवेकी, कुल-लज्जावाले दयालु भव्योको धर्मके हेतु मन-वचन-कायसे नित्य ही इस मद्यका त्याग करना चाहिए ॥१५॥ तथा मद्यत्यागव्रतकी रक्षाके लिये मद्यपायी लोगोकी सगति भी आठो मदोके साथ सद्ज्ञानियोको सदा तजनी चाहिए ॥१६॥ जिस प्रकार इस लोकमे सुयत्न-पूर्वक मूलसे ही छेदी गयी व्याधि प्राणियोको कभी पीडा नही करती है, इसी प्रकार प्रारम्भसे ही मद्यपानका स्पर्श भी नही करनेसे मनुष्य कभी भी किसी प्रकारकी पीडाको नही प्राप्त होता है ॥१७॥ मास माताके रज और पिताके वीर्य, इन दो धातुओसे उत्पन्न होता है, प्राणियोके घात से प्राप्त होता है और महापापोका उपार्जक है, इसलिये ज्ञानियोको इसका नित्य ही दूरसे त्याग करना चाहिये ॥१८॥ मासका सेवन महानरकोका निवास देनेवाला है, दु खोका कारण है और इस महाससार-सागरमे गिराना ही इसका एकमात्र फल जानना चाहिये ॥१९॥ इस मासका स्वय उत्पादन करना, दूसरोसे उत्पादन कराना और उसके निमित्त अनुमोदना करना, इन तीनो ही कर्मोको ज्ञानियोने कोटि-कोटि 'दु खोको देनेवाला महापाप कहा है ॥२०॥ महा मिथ्यात्वके उदयसे इस पृथ्वीपर जिसने इस मासको खाया, वह ससारमे निन्द्य पापी है और सदा ही एक-मात्र दु खोका भाजन होगा अर्थात् दु खोको भोगेगा ॥२१॥ धर्मरूपी कल्पवृक्षका मूल उत्तम दया है । जो मासके खानेवाले हैं, अर्थात् जिनके हृदयमे दया नही है, उनके धर्म कहाँसे हो सकता है ? जैसे कि बीजके अभावमे फल नही हो सकता ॥२२॥ जिस मासके नामसे और देखनेसे सज्जन पुरुषोको दु ख उत्पन्न होता है, उस मासका लम्पट महापापी पुरुष भूतलमे कैसे दु खी न होगा

तद्भक्षिणो वृथा स्नानं धौतवस्त्रादिकं वृथा । यथा काक-वकादीना नद्यां स्नानं न शुद्धये ॥२४
येषां कुले पलं नास्ति स्वप्ने चापि महाधियाम् । त एव भुवने भव्या पवित्रा परमागमे ॥२५
तथा तद्-व्रतशुद्धयर्थं पवित्रैर्भव्यदेहिभि । चर्म-वारि-घृतं तैलं त्याज्यं हिंगु तदाश्रितम् ॥२६

उक्तं च—

चर्मस्थमम्भ स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च । सर्वं च भोज्य व्यापन्नं दोष स्यादामिषव्रते ॥४
चर्मस्थिते घृते तैले तोये चाऽपि विशेषत । रसोत्पन्ना सदा जीवा सम्भवेयुर्मतं बुधै ॥२७

यदुक्तम्—

घृतेन तैलेन जलेन योगतो भवन्ति जीवा किल चर्मसंस्थिता ।
रवीन्दुकान्तैरिव वह्निपुष्करे विदावरै केवलिभिस्त्विवतीरितम् ॥५

तथा चोक्तम्—

चमट्ठिय पीयइ जलइं तामचछउ दूरेण । दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धें घिय-तिल्लेण ॥६

तथा चोक्तम्—

शौचाय कर्मणे नेष्ट कथं स्नानादिहेतवे । चर्मवारि पिबन्नेष व्रती न जिनशासने ॥७

उक्त च—

हिंगु घिय तेल सलिलं चम्मगयं वयजुदाण ण हु जुत्तं । सुहुमतसुप्पत्ति जदो मंसवए दूसण जादो ॥८

इत्यादिसूरिभि' प्रोक्तं निधाय निजमानसे । मासव्रतसुरक्षार्थं चर्मतोयादिकं त्यजेत् ॥२८

॥२३॥ उस मास-भक्षी पुरुषका स्नान करना और धुले वस्त्रादिक धारण करना वैसे ही वृथा है, जैसे कि काक और वक आदि मास-भक्षी जीवोका नदीमे स्नान करना शुद्धिके लिए नही होता है ॥२४॥ जिन महावुद्धिशालियोके कुलमे मास स्वप्नमे भी नही आया है, वे ही भव्य पुरुप ससारमे पवित्र है, ऐसा परमागममे कहा है ॥२५॥ तथा मास-भक्षण त्याग व्रतकी शुद्धिके लिए पवित्र भव्य जीवोको चर्ममे रखा हुआ जल, घृत, तैल और चर्माश्रित हीग भी तजना चाहिये॥२६॥

जैसा कि कहा है—चर्ममे रखा जल, तैल, घी, गीले चर्ममे रखा हीग और स्वाद-चलित सर्व प्रकारका भोजन खाना मास त्याग व्रतमे दोष-कारक है ॥४॥

चर्ममे रखे घृतमे, तैलमे और विशेषकर जलमे रसज जीव सदा उत्पन्न होते रहते है, ऐसा ज्ञानियोने माना है ॥२७॥

और भी कहा है— घृतसे, तैलसे और जलके योगसे चर्ममे सस्थित जीव निश्चयसे होते हैं। जैसे कि सूर्यकान्तमणिके योगसे अग्नि और चन्द्रकान्तमणिके योगसे जल उत्पन्न होता है। ऐसा विदावर केवलियोने कहा है ॥५॥ और भी कहा है—मासका खाना तो दूर ही रहे, किन्तु जो चर्म मे रखे हुए जलको भी पीता है, उसके सम्यग्दर्शनकी शुद्धि नही है। इसी प्रकार चर्ममे रखे घी और तेलके खानेवालेके भी सम्यग्दर्शनकी शुद्धि नहीं है ॥६॥ और भी कहा है—चर्ममे रखा जल तो शौच कर्मके लिए भी इष्ट नही माना गया है, फिर स्नान आदिके लिए तो वह कैसे इष्ट हो सकता है ? चर्ममे रखे जलको पीनेवाला पुरुष व्रती नही हो सकता, ऐसा जिनशासनमे कहा गया है ॥७॥ और भी कहा है—चर्म-गत हीग, घी, तैल और जल व्रतयुक्त पुरुषोके ग्रहण करनेके योग्य नही हैं, क्योकि उनमे सूक्ष्म त्रस जीवोकी उत्पत्ति होती रहती है। इसलिये चर्मस्थ जलादिका उपयोग करनेपर मास त्याग व्रतमे दूषण उत्पन्न करता है ॥८॥

इत्यादिक पूर्वाचार्योके कहे वचनोको अपने मनमे रखकर मास-भक्षण त्याग व्रतकी सुरक्षा

मक्षिका-वमन निन्द्य मधु त्याज्यं बुधोत्तमै । अनेकजन्तुसङ्कीर्णं पापराशिप्रदायकम् ॥२९
यन्माक्षिकं जगन्निन्द्यं दृश्यते कलिलाकृति । तत्त्याज्यं साधुभिर्नित्यं जिनेन्द्रवचने रतै ॥३०
तद्भक्षणे महापापं जायते नात्र सशयः । तद्वर्तिका शरीरेऽपि नैव धार्या व्रतान्वितै ॥३१
तथा तद्-व्रतसंशुद्धये जैनतत्त्वविदांवरैः । रसार्द्रपुष्पकं चापि वर्जनीयं हि सर्वथा ॥३२

वटादिपञ्चकं चापि त्रसजीवशतैर्भृतम् । उत्तमै सर्वथा त्याज्य पापदु खैककारणम् ॥३३
भिल्लादिनीचलोकानां यद्भक्ष्यं पापकर्मणाम् । तत्साधुभि सदा त्याज्यं पञ्चोदुम्बरपातकम् ॥३४
तथा पुण्यधनैर्भव्यै स्वव्रतप्रतिपालकै । अज्ञातं सङ्कटे चापि फलं हेयं हि सर्वदा ॥३५

इत्यष्टौ जिनसूत्रेण प्रोक्ता मूलगुणा सदा । श्रावकाणां सुखप्राप्त्यै पालनीया विवेकिभि ॥३६

अष्टौ मूलगुणान् जगत्त्रयहितान् संसार-विच्छेदकान्
यो भव्य प्रतिपालयत्यनुदिनं सम्यक्त्वपूर्वं दृढान् ।
श्रीमज्जैनमते जगत्त्रयहिते सन्तुष्टचित्तो महान्
स श्रीसौख्यलसत्प्रतापविजयं कीर्तिप्रमोदं भजेत् ॥३७

इति धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारेऽष्टमूलगुणव्यावर्णनो नाम तृतीयोऽधिकार ॥३॥



के लिए चर्मस्थ जलादिकका त्याग करना चाहिये ॥२८॥ मधु-मक्खियोका वमन यह मधु अति निन्द्य है, अनेक जन्तुओसे व्याप्त है और पापराशिका देनेवाला है, उत्तम ज्ञानियोको इसका त्याग करना चाहिए ॥२९॥ जो मधु जगत्मे निन्द्य है, मासकी आकृतिवाला है, उसका जिनेन्द्रवचनमे निरत साधुजनोको नित्य ही त्याग करना चाहिए ॥३०॥ इस मधुके भक्षणमे महापाप होता है, इसमे कोई सन्देह नही है । इस मधुकी बत्ती भी व्रत-सयुक्त पुरुषोको वस्ति आदिके लिये शरीरमे भी नही धारण करना चाहिए ॥३१॥ तथा मधुव्रतकी सशुद्धिके लिए जैन तत्त्वके जानकार उत्तम पुरुषोको रससे गीले (भरे हुए) पुष्प आदिका भी सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥३२॥ सैकडो त्रस जीवोसे भरे हुए वट, पीपल आदि पचउदुम्बरफलोका भी उत्तम पुरुषोको सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योकि इनका भक्षण एकमात्र पापोत्पादक दु खोका कारण है ॥३३॥ जो पापकर्म करने वाले भील आदि नीच लोगोके भक्ष्य है, ऐसे पापरूप पच उदुम्बर फल साधुजनोको सदा त्याज्य हैं ॥३४॥ तथा अपने व्रतोके प्रतिपालक, पुण्यात्मा भव्य जीवोको सकटके समयमे भी अज्ञात फलोका भक्षण सर्वदा ही त्याज्य है ॥३५॥ इस प्रकार जिनागमके अनुसार ये आठ मूलगुण श्रावकोके कहे गये हैं । विवेकी जनोको सुखकी प्राप्तिके लिए इनका पालन करना चाहिए ॥३६॥ जगत्त्रयमे हितकारी, ससारके विनाशक इन आठ मूलगुणोको जो भव्य पुरुष सम्यक्त्वपूर्वक प्रतिदिन दृढताके साथ पालन करता है, वह जगत्त्रय हितकारी श्रीमज्जैनमतमे सन्तुष्ट चित्त महापुरुष मुक्तिश्रीके सुखसे विलसित प्रताप विजय कीर्त्ति और प्रमोदको प्राप्त करता है ॥३७॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमे अष्टमूलगुणोका वर्णन करनेवाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥



चतुर्थोऽधिकारः

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गृहिणां द्वादशप्रमम् ॥१
चारित्रं मुनिभि प्रोक्तं दुराचार-विनाशनम् । प्रीत्या सम्पालित सार-सौख्यसम्पत्तिकारणम् ॥२
स्थूलेभ्य. पञ्चपापेभ्यो हिंसादिभ्य सतां सदा । सम्भवेद्विरतिर्या सा तदणुव्रतपञ्चकम् ॥३

सर्वदा चित्तसङ्कल्पात्त्रसजीववधस्त्रिधा । क्रियते नैव यत्तच्च प्रथमं स्यादणुव्रतम् ॥४
अहिंसा शंस्यते सा च यन्नाम-स्थापनादिभि । हन्यते न त्रसो जीव क्वापि पिष्टादिर्निर्मित ॥५
देवता-मन्त्रसिद्ध्यर्थमौषधादिनिमित्तकम् । चेतनाचेतनो जीवो नैव हन्यो हितार्थिभिः ॥६
त्रसाणां रक्षणं कार्यं तत्सदा भव्यदेहिभि । मनोवाक्काययोगेन धर्मसत्त्वविदांवरै. ॥७
श्रावकव्रतपूतानां पक्षोऽयं भाषितो जिनै । हिंसा साङ्कल्पिकी नित्यं त्रसानां क्रियते न यत् ॥८
तथा वन्ध-वधच्छेद-भूरिभाराधिरोपणम् । आहार-वारणा चापि पञ्च दोषा अहिंसने ॥९
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्ता सद्दयां त्रसदेहिनाम् । भव्यस्त्रिधा करोतीह स व्रती श्रावकोत्तम ॥१०
इत्यादिभूरिभेदैर्यो भव्यात्मा सद्दयापर । जिनेन्द्रवचने नित्यं सावधानो विचक्षण ॥११
इन्द्र-खेन्द्र-नरेन्द्रादि-सम्पदां शर्मदायिनीम् । पुत्र-मित्र-कलत्रादि-धनैर्धान्यादिभि सदा ॥१२
रूप-सौभाग्य-सद्गोत्रैर्नानाभोगशतैर्युताम् । सम्प्राप्य श्रीजिनेन्द्रोक्त-रत्नत्रितययोगत ॥१३
क्रमेण केवलज्ञानी भूत्वा त्रैलोक्यपूजित । शाश्वतीं मुक्तिमाप्नोति जरामरणवर्जिताम् ॥१४

पाँच अणुव्रत, तीन प्रकारके गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोके वारह व्रत हैं ॥१॥ दुराचारके विनाश करनेको मुनियोने चारित्र कहा है । वह प्रीतिसे पालन करनेपर सारभूत सुखकी सम्पत्ति (सप्राप्ति) का कारण है ॥२॥ हिंसादिक स्थूल पच पापोसे सज्जनोके जो विरति होती है, वे पाँच अणुव्रत कहलाते हैं ॥३॥ मनके सकल्पसे, कृत कारित और अनुमोदनाके द्वारा जो कभी भी त्रसजीवोका घात नही किया जाता है, वह प्रथम अहिंसाणुव्रत है ॥४॥ नाम, स्थापना आदिसे पीठी आदिका वना हुआ भी त्रसजीव जहाँ कहीपर भी नही मारा जाता है, वह अहिंसा प्रशसनीय कही जाती है ॥५॥ आत्महितैपी लोगोको देवता और मन्त्रकी सिद्धिके लिए, तथा औषधि आदिके निमित्त भी चेतन या अचेतन जीव नही मारना चाहिए ॥६॥ इसलिए धर्मतत्त्वके जानकार भव्य जीवोको मन-वचन-कायसे सदा त्रसजीवोकी रक्षा करनी चाहिए ॥७॥ त्रसजीवोकी साकल्पिकी हिंसा कभी नही करना, यह जिनदेवोने श्रावकव्रतसे पवित्र गृहस्थोका पक्ष कहा है ॥८॥ इस अहिंसाणुव्रतमे वन्ध, वध, छेदन, अतिभारारोपण और आहार-वारण ये पाँच दोष होते हैं ॥९॥ जो भव्यजीव इन दोपोसे रहित त्रसजीवोकी उत्तम दयाको त्रियोगसे करता है, वह इस लोकमे श्रावकोमे उत्तम व्रती माना गया है ॥१०॥ जो भव्यात्मा त्रियोग-त्रिकरण इत्यादि अनेक भेदोंसे सद्दयामे तत्पर रहता है और जिनेन्द्रवचनमें नित्य सावधान है, वह विचक्षण सासारिक सुख देनेवाली इन्द्र, खेचरेन्द्र, नरेन्द्रादिकी सम्पदाको पुत्र मित्र कलत्रादिके तथा धन-धान्यादिके साथ एवं रूप-सौभाग्य, सद्-गोत्र और सैकड़ो प्रकारके अनेक भोगोके साथ प्राप्त करके श्रीजिनेन्द्र-भाषित रत्नत्रयके योगसे क्रमश केवलज्ञानी और त्रैलोक्यके जीवोसे पूजित होकर जरामरण-

हिंसापापप्रदोषेण त्रसानां मूढमानस । दु ख-दारिद्र-रोगादेर्दुर्गतेर्भाजनं भवेत् ॥१५
तत्रापि छेदन शस्त्रै र्भेदन यन्त्रपीलनम् । भुक्त्वा चिरं ततो घोरे संसारे पतति ध्रुवम् ॥१६
ततो जिनेन्द्रसूत्रोक्त्या कृत्वा हिंसाविवर्जनम् । भव्या भवन्तु भो यूयं सारसम्पद्विभोगिन ॥१७
प्रभावो वर्ण्यते केन दयाया भुवनोत्तम । यत्र सम्पूजितो दवैश्चाण्डालोऽपि दयापर ॥१८
लोके जीवदया समस्तसुखदा प्रोक्ता जनानां जिनैर्ये भव्या भवदु खराशिदलिनी ता पालयन्ति त्रिधा ।
ते नित्य त्रिदशादिशर्मजननी सम्प्राप्य सत्सम्पदा पश्चान्मुक्तिरमाप्रमोदमतुलं शुद्धं लभन्ते बुधाः ॥१९

स्थूलासत्यं वचो यच्च सत्यं पीडाकरं च यत् । स्वयं वदन्ति नैवात्र न परान् वादयत्यलम् ॥२०
तं च स्थूलमृषात्यागं सम्प्राहुर्गृहिणा बुधाः । यच्च लाभ-भय-द्वेषैर्व्यलीकं वचनं न हि ॥२१
तथा मर्मव्ययं वाक्यं कर्णयोर्दु खकारणम् । अपथ्यं च न वक्तव्यं सत्यवाक्यपरायणै ॥२२
हितं मितं तथा पथ्यं विरोधपरिवर्जितम् । कर्णयोर्हृदयस्यापि वचो जल्पन्ति साधव ॥२३
पशवोऽपि महाक्रूरा. प्रियवाक्यप्रसादत । तेऽपि तुष्यन्ति तन्नित्यं वक्तव्यं प्रियमेव च ॥२४
ये वदन्ति सदा सत्यं वच सर्वजनप्रियम् । ते भवन्ति महाभव्या कीर्त्तिव्याप्तजगत्त्रया ॥२५
मिथ्योपदेशकश्चापि रहोऽभ्याख्यानकं तथा । पैशुन्यं कूटलेखं च तथा न्यासापहारता ॥२६
एते सत्यस्य पञ्चापि व्यतीचारा प्रकीर्त्तिता । वर्जनीयाः सदा भव्यैर्जिनेन्द्रवचने रतै ॥२७

रहित शाश्वत मुक्तिको प्राप्त करता है ॥११–१४॥ त्रसजीवोकी हिंसाके पाप-जनित दोपसे अज्ञानी पुरुप दु ख दारिद्र और रोगादिकका तथा दुर्गतिका पात्र होता है ॥१५॥ उन दुर्गतियोमे शस्त्रोसे छेदन, भेदन और यत्र-पीलनके महादु खोको चिरकाल तक भोगकर फिर भी वह निश्चयसे घोर ससारमे पतनको प्राप्त होता है ॥१६॥ अतएव जिनेन्द्र-सूत्र-कथित रीतिसे हिंसाका परित्याग करके हे भव्यो, आप लोग सार सुख-सम्पदाके भोगनेवाले होओ ॥१७॥ इस दयाका लोकोत्तम प्रभाव किसके द्वारा वर्णन किया जा सकता है, जहाँपर कि दयामे तत्पर चाण्डाल भी देवोके द्वारा पूजित हुआ है ॥१८॥ जिनदेवने लोकमे जीवदयाको समस्त सुखोकी देनेवाली कही है । जो भव्य जीव त्रियोगसे भव-दु खराशिका विनाश करनेवाली उस दयाको पालते है, वे ज्ञानी सदा ही देवादिकी सुख देनेवाली उत्तम सम्पदाको पा करके पीछे अनुपम, शुद्ध मुक्तिरमाके प्रमोदको पाते हैं ॥१९॥ जो वचन स्थूल असत्य हैं और सत्य हो करके भी अन्यको पीडा करनेवाले है, उन वचनोको जो न तो स्वय वोलते हैं और न दूसरोसे वुलवाते हैं, उसे ज्ञानियोने गृहस्थोका स्थूल-मृपात्याग नामक सत्याणुव्रत कहा है । तथा सत्यवाक्य वोलनेमे परायण श्रावकोको लाभ, भय और द्वेपसे झूठ वचन कभी नही वोलना चाहिए । अपथ्य- (अहित-) कारी वचन भी नही वोलना चाहिए और पराये मर्मके भेदनेवाले एव कानोको दु खके कारणभूत वाक्य भी नही वोलना चाहिए ॥२०–२२॥ सावु पुरुप हित, मित, पथ्य, विरोध-रहित, कानोको तथा हृदयको प्रिय लगनेवाले वचन वोलते हैं ॥२३॥ महाक्रूर पशु भी प्रिय वचनोके प्रसादसे सन्तुष्ट होते हैं (और अपना क्रूरपना छोड देते है ।) इसलिए श्रावकोको सदा प्रिय वचन ही वोलना चाहिए ॥२४॥ जो लोग सदा सव जनोको प्रिय लगनेवाले वचन वोलते हैं, वे महा भव्य हैं और उनकी कीर्त्ति तीनो लोकोमे व्याप्त होती है ॥२५॥ मिथ्या उपदेश, रहोऽभ्याख्यान, पैशुन्य, कूटलेखकरण और न्यासापहरण ये पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार कहे गये हैं । जिनेन्द्र-वचनोमे सलग्न भव्य पुरुपोको ये पाँचो अतिचार सदा ही छोडना चाहिए ॥२६–२७॥ सत्य वोलनेसे ससारमे निर्मल कीर्त्ति, विमल लक्ष्मी,

सत्येन कीर्त्तिरमला विमला च लक्ष्मीर्विद्याविलाससुयशो भुवने प्रसिद्धि ।
सम्प्राप्यते वुधजनैर्जनमान्यता च तस्मात्सदा [1]नृतवच प्रवदन्तु सन्त ॥२८

स्थूलस्तेयपरित्याग त वदन्ति मुनीश्वराः । यत्परेषां धनाद्युच्चैरदत्तं गृह्यते न हि ॥२९
विस्मृतं पतित चापि पथे चापथि कानने । स्थापितं च परद्रव्यं न ग्राह्यं स्तेयदूरगै ॥३०
धनं धान्य सुवर्णं च मणि-मुक्ताफलादिकम् । परेषां ये न गृह्णन्ति स्तेयभावेन धीधना ॥३१
ते तद्-व्रतप्रभावेन भवेयुर्निधिभागिन । नानासम्पत्सहस्रेण मण्डिता शर्मसङ्गिणः ॥३२

येऽत्र लोभग्रहग्रस्ता· परद्रव्यं हरन्ति च । तै संहृता परप्राणा परं निन्द्यं किमुच्यते ॥३३
यो मूढश्चोरयित्वा च परद्रव्यं गृहं नयेत् । तेन स्वमूलनाशश्च विहितो नात्र संशय ॥३४
ततो दु खी दरिद्री च रोगी शोकी विरूपक । परद्रव्योरुपापेन·संसारे संसरत्यरम् ॥३५
तस्मात्सन्तोषतो नित्य मनोवाक्काययोगत । स्तेयव्रत दृढं भव्यै पालनीयं सुखप्रदम् ॥३६
स्तेयप्रयोगक स्तेयाऽऽहृताऽऽदानं विलोपनम् । हीनाधिकं तथा मानं वस्तूनां मिश्रता तथा ॥३७
एते स्तेयव्रतस्यापि व्यतीचाराश्च पञ्च वै । सन्त्याज्या व्रतरक्षार्थं धीधनै सर्वथा त्रिधा ॥३८
जिनपतिकथितं ये स्तेयदोषं च मत्वा मनसि विशदचित्तास्तद्व्रतं पालयन्ति ।
इह-परभवलक्ष्मीशर्म सम्प्राप्यते वै परमसुखनिधानं प्राप्नुवन्त्येव भव्याः ॥३९

विद्या-विलास, सुयश, प्रसिद्धि और वुधजनोके द्वारा मान्यता प्राप्त होती है । इसलिए सज्जन पुरुषोको सदा ही सत्य वोलना चाहिए ॥२८॥ जो दूसरोंके विना दिये हुए धनादिको कभी नही ग्रहण करते हैं, उसे मुनीश्वर स्थूलस्तेयपरित्याग नामका अणुव्रत कहते हैं ॥२९॥ चोरीसे दूर रहनेवाले पुरुषोको दूसरोके भूले हुए, गिरे हुए, मार्गमे या अमार्गमे (मकान आदिमे) या जगलमे रखे हुए द्रव्यको ग्रहण नही करना चाहिए ॥३०॥

जो वुद्धिमान् लोग दूसरोके धन, धान्य, सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल (मोती) आदिको चोरी भावसे ग्रहण नही करते हैं, वे इस अस्तेयव्रतके प्रभावसे नौ निधियोंके भोक्ता चक्रवर्ती होते हैं, तथा सहस्रो प्रकारकी नाना सम्पत्तियोसे मण्डित होकर सुखके भोक्ता होते हैं ॥३१–३२॥ किन्तु जो लोग यहाँपर लोभरूपी ग्रहसे ग्रसित होकर पर-द्रव्यको हरण करते हैं, वे उन लोगोंके प्राणोको ही हरण करते हैं, इससे अधिक निन्द्य वात और क्या कही जाय ॥३३॥ जो मूढ पुरुष पराये द्रव्यको हरकर अपने घर लाता है, उसने अपना समूल नाश किया, इसमे सशय नही है ॥३४॥ तत्पश्चात् वह पर-द्रव्यके हरण करनेके महापापसे दु खी, दरिद्री, रोगी, शोकी और कुरूप होकर ससारमे चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ॥३५॥ इसलिए भव्योको सन्तोषके साथ मन-वचन-कायसे सुखदायी चौर्य-त्यागरूप व्रतको सदा ही दृढरूपसे पालना चाहिए ॥३६॥ स्तेयप्रयोग, स्तेयाहृतादान, राजाज्ञा-विलोपन, हीनाधिकमानोन्मान और वस्तु-समिश्रण, ये पाँच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं । वुद्धिमानोको अपने अचौर्यव्रतकी रक्षाके लिए इन पाचोको सदा ही त्रियोगसे छोड देना चाहिये ॥३७-३८॥ जो निर्मल चित्तवाले पुरुष जिनदेव-कथित इन स्तेयदोषोको जानकर मनमे इस व्रतको पालते है, वे भव्य जीव इस भवमे लक्ष्मीके सुखको प्राप्त करते हैं और परभवमे परम,

[1] अ 'सदाऽनृतवच प्रहरन्तु' इति पाठ ।

यत्सन्तः सर्वथा नित्यं परस्त्रीषु पराङ्मुखा । स्वनारीष्वेव सन्तुष्टास्तच्चतुर्थमणुव्रतम् ॥४०
[1]हाव-भाव-विलासाढ्या स्वय वा गृहमागता । परस्त्री सर्वथा त्याज्या सद्भि. सच्छीलधारिभि ॥४१
ते धीरा पण्डिता' शूरास्ते भव्या गुणसागरा । मनोवाक्कायतो नित्यं ये परस्त्रीपराङ्मुखा ॥४२
परस्त्रीरूपमालोक्य सन्तो यान्ति नताननाः । मेघधाराहता वृद्धा यान्ति वा वृषभा द्रुतम् ॥४३
न्यायोपार्जितभोगाश्च सता चित्ते न सर्वथा । प्रीतये सम्भवत्येव कथ ते न्यायवर्जिता ॥४४
परपाणिग्रहाऽऽक्षेपानङ्गक्रीडा विटत्वकम् । भूरिभोगतृषा चापीत्वरिकागमनं तथा ॥४५
पञ्चैतेऽपि व्यतीचाराश्चतुर्थाणुव्रते मता । सन्त स्वव्रतसिद्ध्यर्थं सन्त्यजन्त्येव तानपि ॥४६

एवं येऽत्र महाभव्या मनोवाक्काययोगत । परस्त्रियं त्यजन्त्युच्चैस्ते लभन्ते परं पदम् ॥४७
परस्त्रीलम्पटो मूढ पापं वैरं विधाय च । प्रायेण दुर्गतिं याति तस्मात्ता दूरतस्त्यजेत् ॥४८
कामदेवाऽऽकृतिं चापि नरं वीक्ष्य परं तथा । भ्राता मेऽयं पिता चेति चिन्तनीय कुलस्त्रिया ॥४९
विशदचन्द्रकरद्युतिनिर्मला भवति कीर्तिरनुत्तरसम्पदा ।
जिनपतेर्वचनामृतपायिनां विमलशीलवतामिह देहिनाम् ॥५०

धन-धान्य-सुवर्णादि-चीरकर्पूरकादिषु । चतु पदादिके सङ्ख्या पञ्चमं तदणुव्रतम् ॥५१
सङ्ख्यां विना न सन्तोषो जायते भुवि देहिनाम् । यथा भूरिनदीतोयैर्नैव तृप्ति. सरित्पते ॥५२

सुखके निधान स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करते है ॥३९॥ जो सन्त पुरुष सर्व प्रकारसे नित्य ही परस्त्रियोमे पराङ्मुख रहते हैं और अपनी ही स्त्रियोमे सन्तुष्ट रहते है, उनके यह स्वदारसन्तोष नामका चौथा अणुव्रत जानना चाहिए ॥४०॥ उत्तम शीलके धारक सन्त जनोको हाव-भाव विलाससे युक्त वेश्याका, तथा स्वय ही अपने घरमे आयी हुई परस्त्रीका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥४१॥ जो मन-वचन-कायसे नित्य ही परस्त्रीसे पराङ्मुख रहते है, वे ही भव्य पुरुष धीर, पण्डित, शूरवीर और गुणोके सागर है ॥४२॥ परस्त्रीके रूपको देखकर सन्तजन नीचा मुख करके चले जाते हैं। जैसे कि मेघकी जलधारासे पीडित बूढे बैल शीघ्र भाग जाते है ॥४३॥ सर्व प्रकारसे न्यायोपार्जित भोग भी सन्त जनोके चित्तमे प्रीतिके लिए नही होते है, तो न्याय-वर्जित भोग कैसे प्रीतिके लिए हो सकते हैं ॥४४॥ परविवाहकरण, अनगक्रीडा, विटत्व, अतिभोगतृषा और इत्वरिकागमन, ये पाँच चतुर्थ अणुव्रतमे अतीचार माने गये है। सन्त जन अपने व्रतकी सिद्धिके लिए इनको भी छोडते ही है ॥४५–४६॥ इस प्रकार जो महाभव्य इस लोकमे मन-वचन-कायके योगसे परस्त्रीका सर्वथा त्याग करते है, वे परम पदको प्राप्त करते हैं ॥४७॥ परस्त्री लम्पट मूढ मानव पाप और वैरका उपार्जन करके प्राय दुर्गतिको जाता है, इसलिए परस्त्रीको दूरसे ही तजे ॥४८॥ इसी प्रकार कामदेव जैसी आकृतिवाले सुन्दर परपुरुषको भी देखकर 'यह मेरा भाई है, अथवा पिता हैं' ऐसा चिन्तवन करना चाहिए ॥४९॥ जिनपतिके वचनामृत-पायी निर्मल-शीलवाले जीवोको इस लोकमे अनुपम सम्पदा और निर्मलचन्द्रकी किरणोकी कान्तिके समान विमल कीर्त्ति प्राप्त होती हैं ॥५०॥ धन, धान्य, सुवर्णादिमे तथा वस्त्र, कपूर आदि अन्य वस्तुओमे और चतुष्पद (गाय-बैल आदि) द्विपद (दासी-दास) आदिमे सख्या करना (उनका परिमाण करना) यह पाँचवाँ परिग्रह परिमाण अणुव्रत है ॥५१॥ परिग्रहकी सख्यादिके विना ससारमे

1 हावो मुखविकार स्याद्भावश्चित्तसमुद्भव । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयो ॥

शत सहस्रक चापि लक्षं कोटि ततोऽधिकम् । धनं नो तृप्तये जन्तोर्वह्नेर्वा प्रचुरेन्धनम् ॥५३
इति ज्ञात्वा बुधै कार्यं परिमाणं परिग्रहे । जायते येन सन्तोषो लोकद्वयसुखप्रद ।.५४
अतिवाहनं तथाऽतिसङ्ग्रहश्च विषादक. । भूरिलोभो महाभार-वाहन पापकारणम् ॥५५
पञ्चमाणुव्रतस्यैते विक्षेपा पञ्चधा स्मृता । तेऽपि त्याज्या व्रतोपेतैः सज्जनैर्धर्महेतवे ॥५६

उक्तं च—

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्तत. पर । नीली जयश्च सम्प्राप्ता पूजातिशयमुत्तमम् ॥९

इत्युच्चैर्जिनभाषितानि नितरा प्रीत्या प्रमादोज्झिता
पञ्चाणुव्रतसुव्रतानि सुधियः सुश्रावका नित्यश. ।
ये भव्या प्रतिपालयन्ति जगति प्राप्योरुसत्सम्पदं
पश्चात्ते भवभूरिसिन्धुतरण कृत्वा लभन्ते शिवम् ॥५७

अणुव्रतानि पञ्चेति कथितानि मुनीश्वरै. । श्रावकाणां तथा रात्र्यभुक्ति षष्टमणुव्रतम् ॥५८
पतत्कीटपतङ्गादेर्भक्षणान्निशिभोजनम् । महापापप्रद त्याज्यं मासव्रतविशुद्धये ॥५९
मक्षिका कारयत्येव वान्ति कण्ठक्षतिं कच । करोति भक्षिता रात्रौ यूका चापि जलोदरम् ॥६०
पुरा केनापि विप्रेण भुञ्जता निशि भोजनम् । मण्डूकोऽपि मुखे क्षिप्त का वार्ता सूक्ष्मजन्तुषु ॥६१
ततो भव्यैर्जिनेन्द्राणा वचने प्रीतमानसै । निशाऽऽहार सदा त्याज्यो मनोवाक्कायशुद्धित ॥६२
मुक्त्वोच्चैर्घटिके द्वे द्वे दिनस्यान्ते मुखेऽपि च । सर्वथा भोजनं कार्यं धर्मसारविचक्षणै ॥६३

जीवोके सन्तोप नही होता है। जैसे कि भारी नदियोंके जलोसे भी समुद्रको तृप्ति नही होती है ॥५२॥ शत, सहस्र, लक्ष, कोटी और इससे भी अधिक धन जीवकी तृप्तिके लिये पर्याप्त नही है। जैसे कि अग्निके प्रचुर इन्धनसे भी तृप्ति नही होती है ॥५३॥ ऐसा जानकर ज्ञानियोको परिग्रहमे परिमाण करना चाहिए, जिससे कि दोनो लोकोमे सुख देनेवाला सन्तोप प्राप्त होता है ॥५४॥ अतिवाहन, अतिसग्रह, विपाद, अतिलोभ और महाभार-वाहन ये पापके कारणभूत पाँच अतीचार पचम अणुव्रतके माने गये हैं। धर्मकी रक्षाके लिये व्रत-सयुक्त सज्जनोको इनका भी त्याग करना चाहिए ॥५५–५६॥ कहा भी है—मातग, धनदेव, वारिषेण, नीलीवाई और जयकुमार ये क्रमश अहिंसादि अणुव्रतोमें उत्तम पूजातिशयको प्राप्त हुए है ॥९॥

इस प्रकार जिन-भापित इन पाँचो ही अणुव्रतरूप सुव्रतोको जो भव्य सुधी सुश्रावक प्रमाद छोडकर अत्यन्त प्रीतिसे परिपालन करते हैं, वे जगत्‌मे विशाल सत्सम्पदाको पाकर पीछे इस भारी भव-सागरको पार करके शिवको प्राप्त करते हैं ॥५७॥

इस प्रकार मुनीश्वरोने श्रावकोके ये पाँच अणुव्रत कहे हैं। तथा रात्रि-भोजन-त्याग नाम का छठा भी अणुव्रत श्रावकोका माना गया है ॥५८॥ गिरते हुए कीट-पतगादि जन्तुओके भक्षणसे रात्रि भोजन महापापका देनेवाला है, अत मास त्यागरूपव्रतकी विशुद्धिके लिये उसका त्याग करना चाहिये ॥५९॥ यदि रात्रिमे भोजन करते समय मक्खी खानेमे आ जाय, तो वह वमन करा देती है, वाल कण्ठका स्वर-भग करता है, और यदि यूका (जू) खा ली जाय तो वह जलोदर रोगको कर देती हे ॥६०॥ पूर्वकालमे रात्रि भोजन करते हुए किसी ब्राह्मणने मुखमे गिरा हुआ मेढक भी खा लिया, तो फिर सूक्ष्म जन्तुओकी क्या वात है ॥६१॥ इसलिये जिनेन्द्रदेवके वचनोमे प्रीति रखनेवाले भव्य जीवोको निशाहार सदा ही मन-वचन-कायकी शुद्धिसे त्यागना चाहिये ॥६२॥ धर्मका सार जाननेवाले चतुर ज्ञानियोको दिनकी अन्तिम और आदिम दो-दो घड़ियोको

सामान्यतो निशाया च जल-त्ताम्बूलमौषधम् । गृह्णन्ति चेह गृह्णन्तु नैव ग्राह्यं फलादिकम् ॥६४

यदुक्तम्—

तंबोलोसह जलु मुइवि जो अत्थंविए सूरि । भोगासण फल अहिलसइ ते किउ दंसणु दूरि ॥१०

ये च भव्या निशाऽऽहारं सन्त्यजन्ति चतुर्विधम् । स्यात्षण्मासोपवासानां तेषा सवत्सरे शुभम् ॥६५

उक्तं च—

धर्मबुद्धचा तमस्विन्यां भोजनं ये वितन्वते । आरोपयन्ति ते पद्मवनं वह्नौ विवृद्धये ॥११

नि शेषेऽह्नि बुभुक्षां ये सोढ्वा सुकृतकाङ्क्षया । भुञ्जन्ते निशि संवर्द्धर्य कल्पाङ्घ्रि भस्मयन्ति ते ॥६६

पुनश्चोक्तम्—

उलूक-काक-मार्जार-गृध्र-सवर-शूकरा । अहि-वृश्चिक-गोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥१२

रात्रिभुक्तिपरित्याग-व्रतोपेतैर्विचक्षणैः । अन्धकारे दिने चापि भोक्तव्यं नैव सर्वदा ॥६७

इत्यादियुक्तितो नित्य रात्रिभुक्त त्यजन्ति ये । ते भवन्ति महाभव्याः स्वकुलाम्भोजभास्कराः ॥६८

पुत्र-पौत्रादिबन्धुत्वं मणि मुक्ताफलादिकम् । स्त्रियो वा पुरुषश्चापि प्राप्नुवन्ति स्ववाञ्छितम् ॥६९

रात्रिभोजनसन्त्यागाद् रूपसौभाग्यसम्पदाम् । लभन्ते सत्कुल कीर्त्ति कान्ति रोगविवर्जितम् ॥७०

काणान्धा बधिरा मूका दु.खदारिद्रपीडिता । रात्रिभोजनपापेन भवन्ति सुखवर्जिताः ॥७१

सर्वथा छोडकर ही भोजन करना चाहिये ॥६३॥ जो लोग साधारणत रात्रिमे जल, ताम्बूल और औपधि लेते हैं, वे उन्हे भले ही लेते रहे। किन्तु फलादिक तो नही ही ग्रहण करना चाहिये ॥६४॥

जैसा कि कहा है—जो सूर्यके अस्तगत हो जानेपर ताम्बूल, औषधि और जलको छोडकर भोग्य खाद्य स्वाद्य और फलकी अभिलाषा करता है, वह सम्यग्दर्शनको अपनी आत्मासे दूर करता है ॥१०॥

किन्तु जो भव्य जीव चारो ही प्रकारके आहारको रात्रिमे खाना सम्यक् प्रकारसे छोडते हैं, वे एक वर्षमे छह मासके उपवासोका शुभ पुण्य प्राप्त करते है ॥६५॥

और भी कहा है—जो लोग धर्मबुद्धिसे रात्रिमे भोजन करते है, वे कमलवनको उसकी वृद्धिके लिये अग्निमे आरोपण करते है ॥११॥

जो लोग सुकृत (पुण्य) की आकाक्षासे सारे दिनमे भूखको सहकर रात्रिमे खाते है, वे कल्पवृक्षका सवर्धन करके उसे भस्म करते है ॥६६॥ और भी कहा है—रात्रिमे भोजन करनेसे मनुष्य उलूक, काक, मार्जार, गिद्ध, सवर, सूकर, सर्प, बिच्छू और गोहटा होते है ॥१२॥ रात्रि भोजन परित्यागव्रतसे सयुक्त ज्ञानियोको दिनमे भी अन्धकारके समय और अन्धेरे स्थानमे कभी भी नही खाना चाहिये ॥६७॥ इत्यादि युक्तियोसे रात्रिभोजनको निषिद्ध जानकर जो महाभव्य रातमे खानेका परित्याग करते है, वे अपने कुलरूप कमलको विकसित करनेवाले सूर्यके समान महापुरुप होते हैं ॥६८॥ रात्रिमे भोजनके त्यागसे स्त्री और पुरुष सभी लोग पुत्र, पौत्रादि बन्धु-जनोको और अपने वाछित मणि, मुक्ताफलादिकको प्राप्त करते है। तथा रूप, सौभाग्य सम्पदाको उत्तम कुलको, कीर्त्तिको, कान्तिको और रोग-रहित शरीरको पाते हैं ॥६९-७०॥ रात्रिभोजनके

जन्तवोऽन्यभवे चेति मत्वा भव्या स्वमानसे। स्वर्ग-मोक्षसुखप्राप्त्यै रात्रिभुक्ति त्यजन्त्वलम् ॥७२

रात्रौ स्नानविवर्जन दिनपतेर्नो दृश्यते दर्शनं
मुग्धैश्चापि न भक्ष्यते कणचरैर्धान्यादिक चर्वणम्।
तत्कि धर्मवता विशुद्धमनसां सत्प्राणिना युज्यते
रात्रौ भोजनमामवृद्धिजनक सामान्यवद्दु खदम् ॥७३

जिनपतिकथितं वै धर्मसारं विदित्वा परमपदमुदार प्राप्यते येन भव्यै।
कुगतिशतनिवार पुण्यसारं भजन्तु प्रवरविशदचित्ता वर्जनं रात्रिभुक्ते ॥७४

तथा भव्यै प्रकर्तव्यं मौनं वै भोजनादिषु। ज्ञानस्य विनयार्थं हि सन्तोषार्थं च धीधनै ॥७५
मलमूत्रोज्झने स्नाने पूजने परमेष्ठिनाम्। भोजने सुरते स्तोत्रे सतां मौनव्रतं मतम् ॥७६
यत्किञ्चिदुच्यते वाक्यमक्षरैरेव तज्जनै। ज्ञानप्रकाशकान्युच्चैस्तानि सन्ति महीतले ॥७७
तत सुश्रावकैर्भव्यैर्ज्ञानस्य विनयश्रिये। सप्तस्थानेषु कर्त्तव्यं मौनं शर्मशतप्रदम् ॥७८
एवं श्रीमद्गणाधीशै प्रोक्तं मौनव्रत शुभम्। ये भव्या पालयन्त्युच्चैस्तेषां स्याज्ज्ञानसम्पदा ॥७९
सरस्वत्या प्रसादेन दिव्यनादो भवेत्तराम्। सौभाग्य सुन्दरत्वं च मौनव्रतविशुद्धित. ॥८०
यथा भवन्ति पद्मानि स्वच्छतोयप्रयोगत। तथा मौनव्रतेनोच्चै स्यात्सता ज्ञानसम्भव ॥८१
चापल्यं दन्तवन्धेन जल्पनं तीव्रहुंकृतिम्। हास्यं च लिखनं चापि भोजनावसरे त्यजेत् ॥८२

पापसे मनुष्य, परभवमे काने, अन्वे, वहरे, गूगे, दु ख और दारिद्रसे पीडित एव सुखसे रहित उत्पन्न होते हैं। ऐमा अपने मनमे समझकर भव्य जीव स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिये रात्रिमे भोजन करना सर्वथा छोडे ॥७१-७२॥ रात्रिमे स्नान करनेका भी त्याग करना चाहिये। देखो— रात्रिमे जव सूर्यका दर्शन नही होता, तव कण-भक्षी पक्षी आदि मुग्व प्राणी भी नही खाते हैं, तव धर्मात्मा, विशुद्ध हृदयवाले उत्तम मनुष्योको रात्रिमे धान्यादिकका भक्षण क्या योग्य है? अर्थात् नही है। दूसरी वात यह है कि रात्रिमे भोजन करना आमकी वृद्धि करता है, अत वह किसानके समान दु खदायक है ॥७३॥ इसलिये जिनदेव-कथित धर्मके सारको निश्चयसे जानकर भव्यजन जिसके द्वारा उदार परम पदको पाते है, उस सहस्रो कुगतियोंके निवारण करनेवाले, पुण्यके सारस्वरूप रात्रिभोजन परित्यागको उत्तम एव निर्मल चित्तवाले पुरुष स्वीकार करे ॥७४॥ इसी प्रकार वुद्धिमान् भव्य जनोको भोजनादिके समय ज्ञानकी विनयके लिये तथा सन्तोषकी प्राप्ति के लिये मौन भी धारण करना चाहिये ॥७५॥ मल-मूत्र त्याग करते समय, स्नान, परमेष्ठियोका पूजन और स्तुति करते समय, भोजन और सुरत-कालमे सज्जनोके मौनव्रत माना गया है। जो कुछ भी वाक्य वोला जाता है, अक्षरोसे ही उत्पन्न होता है और ये अक्षर ही महीतलपर उत्तम रूपसे ज्ञानके प्रकाशक हैं, इसलिये उत्तम भव्य श्रावकोको ज्ञानकी विनयश्रीके लिये उक्त सप्त स्थानोमे सैकडो सुखोको देनेवाला मौन धारण करना चाहिये ॥७६-७८॥ इस प्रकार श्रीमन्त गणधरदेवोने मौनव्रतको उत्तम कहा है। जो भव्य पुरुष उत्तम रीतिसे इसका पालन करते हैं, उनके ज्ञानरूपी सम्पदा प्राप्त होती है ॥७९॥ सरस्वतीके प्रसादसे उनके दिव्यध्वनि प्रकट होती है। तथा मौनव्रतकी विशुद्धतासे सौभाग्य और सौन्दर्य प्राप्त होता है ॥८०॥ जैसे स्वच्छ जलके संयोगसे कमल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उच्च मौनव्रतसे सत्पुरुषोके उत्तम ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥८१॥ भोजनके अवसरमे चपलता, दाँत वाँधकर वोलना, तीव्र हुंकार करना, हँसना

अग्निवत्सर्वभक्षित्वं परित्यज्य दृढव्रती । शान्ततागुणमाश्रित्य कुर्यात्सद्भोजनं सुधीः ॥८३
तथा सुश्रावकाणां हि सप्तधा चान्तरायक । भोजनावसरे प्रोक्तो मूलव्रतविशुद्धये ॥८४

मांसरक्ताऽऽर्द्रचर्मास्थि पूयं वीक्ष्य मृताङ्गिकम् ।
सन्त्याज्यं भोजनं भव्यै प्रत्याख्यानान्नभक्षणात् ॥८५

उक्तं च—

रुहिरामिसु चम्मट्ठि सुरु पच्चक्खिय बहु जंतु । अंतराय पालहि भविय दसणसुद्धि-णिमित्तु ॥१३
तथा चाण्डालकादीना दर्शने वचने श्रुते । मलादिदर्शने चापि त्याज्य भोज्यं विचक्षणै ॥८६

जलानां गालनं पुण्यं सतां प्राहुर्जिनेश्वरा. । सदा जीवदयासिद्धयै गाढवस्त्रेण सर्वथा ॥८७

तथा चोक्तम्—

षट्त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतम् । तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत् ॥१४
प्रमादो नैव कर्त्तव्यो जलाना गालने बुधै । श्रीमज्जैनमते दक्षै सदा जीवदयापरै ॥८८
पिबन्ति गालितं तोय तेऽत्र भव्या विचक्षणा । अन्यथा पशुभिस्तुल्या पापतो विकलाशयाः ॥८९
गालितं तोयमप्युच्चै सन्मूर्च्छति मुहूर्त्तत । प्रासुकं यामयुग्माच्च सदुष्णं प्रहराष्टकान् ॥९०
कर्पूरैलालवङ्गाद्यैः सुगन्धैः सारवस्तुभि । प्रासुकं क्रियते तोयं कषायद्रव्यकैस्तथा ॥९१

और लिखना भी छोड़ना चाहिये ॥८२॥ दृढव्रती सुधी पुरुष अग्निके समान सर्वभक्षीपना छोड कर और शान्तपनारूप गुणका आश्रय कर सद्भोजन करें ॥८३॥ तथा भोजनके समय मूल व्रतो की विशुद्धिके लिये सुश्रावकोंके सात प्रकारके अन्तराय भी कहे गये है ॥८४॥ मास, रक्त, गीला चमडा, हड्डी, पीव और मरा प्राणी देखकर भव्योको भोजन छोड देना चाहिये । तथा त्याग किये हुए अन्नके भक्षणसे भी भोजनका त्याग कर देना चाहिये ॥८५॥

कहा भी है—रुधिर, मास, चर्म, अस्थि, सुरा (मदिरा), प्रत्याख्यात वस्तु और बहु जन्तु इन सात अन्तरायोको हे भव्य, सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके निमित्त पालन करो ॥१३॥

तथा चाण्डालादिके देखनेपर, उनके वचन सुननेपर और मलादिके देखनेपर भी ज्ञानियो को भोजन छोड देना चाहिये ॥८६॥ सर्व प्रकारसे जीवदयाकी सिद्धिके लिये गाढे वस्त्रसे सदा जलके गालनेको जिनेश्वरदेवने सज्जनोको पुण्यका कारण कहा है ॥८७॥

जैसा कि कहा है—छत्तीस अगुल प्रमाण लम्बे और चौबीस अगुल चौडे वस्त्रको दुगुना करके उससे जलको छानना चाहिये ॥१४॥

श्रीमज्जैनमतमे दक्ष, जीवदयामे तत्पर ज्ञानियोको जलके गालनेमे कभी भी प्रमाद नही करना चाहिये ॥८८॥ जो पुरुष यहाँ वस्त्र-गालित जलको पीते है वे ज्ञानी भव्य है । अन्यथा प्रवृत्ति करनेवाले पशुओके समान हैं और पापके उपार्जन करनेसे हीन हृदयवाले हैं ॥८९॥ अच्छे प्रकारसे गाला गया जल भी एक मुहूर्त्तके पश्चात् सम्मूर्च्छन जीवोको उत्पन्न करता है, प्रासुक किया हुआ जल दो प्रहरोके पश्चात् और खूब उष्ण किया हुआ जल आठ पहरके बाद सम्मूर्च्छित होता है ॥९०॥ कपूर, इलायची, लौग आदि सुगन्धित सार वस्तुओसे, तथा कषायले हरड, आँवला आदि द्रव्योसे जल प्रासुक किया जाता है ॥९१॥ जैनधर्ममे, तथा नीतिमार्गमे सन्तोके

जैनधर्मे तथा नीतिमार्गे सद्भि प्रकीर्तितम् । जलाना गालनं धर्मं प्रसिद्धो भुवनत्रये ॥९२

स्मृतिवाक्य च—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं पटपूत जलं पिवेत् । सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मन पूतं समाचरेत् ॥१५
यस्माज्जलं समानीतं गालयित्वा सुयत्नत । तज्जीवसंयुतं तोयं तत्रोच्चैर्मुच्यते वुधै ॥९३
एवं यत्नं प्रकुर्वन्ति ये सदा जलगालने । भवन्ति सुखिनो नित्यं ते भव्या धर्मवत्सला ॥९४
कन्दमूलं च सन्धानं काञ्जिकं वह्निदूरगम् । नवनीतं पुष्पशाकं विल्वालाम्वुफल त्यजेत् ॥९५
त्यजेदनन्तकायित्वाच्छृङ्गवेरादिकं सदा । तुच्छेन भक्षितेनापि येन पापं भवेन्महत् ॥९६
जिनेन्द्रवचने प्रीता ये भव्या सद्दयान्विता । तैर्नित्यं कन्दमूलं च सन्त्याज्यं पापकारणम् ॥९७
सन्धानं त्रसजीवाना शरीररसमिश्रितम् । किं परं भक्षिते तस्मिन् प्रयाति पिशितव्रतम् ॥९८
एकेन्द्रियादिका जीवा जायन्ते शीतकाञ्जिके । तस्मात्तद्-व्रतरक्षार्थं काञ्जिक सर्वदा त्यजेत् ॥९९

उक्तं च—

चहु एइंदिय विण्णि छह अट्ठहं तिण्णि हवंति । दह चउरिंदिय जीवडा वारह पंचण भंति ॥१५

मुहूर्त्तद्वयत. पश्चाज्जीवाश्चैकेन्द्रियादय । जायन्ते नवनीतेऽपि तस्मात्तत्त्यज्यते वुधैः ॥१००

द्वारा कहा गया जलका गालन तीनो भुवनोमे धर्मरूपसे प्रसिद्ध है ॥९२॥

स्मृतिका वचन भी इस प्रकार है—आँखसे देखकर पैरको रखे, वस्त्रसे गालित पवित्र जल पीवे, सत्यसे पवित्र वचन वोले और मनसे पवित्र आचरण करे ॥१५॥

जिस जलाशयसे जल लाया गया है, उसे सुप्रयत्नसे गालकर उस जीवसयुक्त जल (जियानी) को ज्ञानी जन सावधानीके साथ वहीपर छोडते हैं ॥९३॥ जो धर्म-वत्सल भव्य जन जल-गालनमे इस प्रकारसे सदा प्रयत्न करते हैं, वे सुखी रहते हैं ॥९४॥ कन्दमूल, सन्धानक (अचार-मुरब्वा) काँजी वडे, अग्निपर नही तपाया नवनीत (लोनी), पुष्प, शाक, विल्वफल और अलावु (लौकी-तुम्वा) का त्याग करे ॥९५॥ अदरक आदिको अनन्तकायिक होनेसे सदा ही तजे, क्योकि इन तुच्छ वस्तुओके खानेसे लाभ तो अल्प होता है और पाप भारी होता है ॥९६॥ जो भव्य जिनेन्द्र-देवके वचनोमे प्रीति रखते हैं और उत्तम दयासे सयुक्त हैं, उन्हे नित्य ही पापके कारणभूत सभी कन्दमूल तजना चाहिए ॥९७॥ सन्धानक (आठ पहरके वाद सडते रहनेसे) त्रसजीवोके शरीरके रससे मिश्रित हो जाता है, (अत वह अभक्ष्य है।) अधिक क्या कहे उसके खानेपर मास त्यागका व्रत नष्ट हो जाता है ॥९८॥ ठण्डी काँजीम एकेन्द्रियादिक जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए काँजीको सदाके लिए तजे ॥९९॥

कहा भी है—काँजीमे चार पहरके वाद एकेन्द्रिय, छह पहरके वाद द्वीन्द्रिय, आठ पहरके वाद त्रीन्द्रिय, दश पहरके वाद चतुरिन्द्रिय और वारह पहरके वाद पचेन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसमे कोई भी भ्रान्ति नही है ॥१६॥

नवनीतमे भी दो मुहूर्त्तके पश्चात् एकेन्द्रियादिक जीव उत्पन्न होने लगते हैं, इसलिए ज्ञानी जन नवनीतके खानेका त्याग करते हैं ॥१००॥

यदुक्तं च—

आमिससरिसउ भासियउ सो अंधो जो खाइ। दोह मुहुत्तहं उप्परिहं लोणिउं सम्मुच्छाइ ॥१७

गो-महिष्या पयश्चापि वत्सोत्पत्तिदिनात्तथा। सन्त्याज्जं सर्वथा सद्भिर्दिनैः पञ्चदशप्रमैः ॥१०१
दुग्धे तक्रपरिक्षेपाद्दधि तक्रं दिनद्वयम्। ग्राह्यं ततः परं भव्यैर्वर्जनीयं च सर्वदा ॥१०२
इत्यादिकं परित्याज्यं यत्प्रोक्तं श्रीजिनागमे। कन्दमूलादिकं वस्तु तत्त्याज्यं श्रावकोत्तमैः ॥१०३
इत्यादिकं जिनपतेः परमागमे वै यद्वर्जितं मुनिवरैरिह कन्दकादि।
तत्सर्वथा निजहितैः परिवर्जनीयं सन्तोषसंयमपरैः सुविचक्षणैश्च ॥१०४
तथा श्रावकलोकानां दिग्देशानर्थदण्डकम्। गुणव्रतं त्रिधा प्राहुर्मुनीन्द्राः श्रुतधारिणः ॥१०५
मर्यादां मृत्युपर्यन्तं कृत्वा यत्सर्वदिक्षु यः। ततः परं न यात्येव तस्याद्यं स्याद्गुणव्रतम् ॥१०६
नदी-समुद्र-गिर्यादि-योजनाद्यैश्च धीधनैः। मर्यादा दिग्व्रते प्रोक्ता सतां सन्तोषशालिनाम् ॥१०७

ऊर्ध्वस्तिर्यगधाक्रान्तिः क्षेत्रवृद्धिश्च विस्मृतिः।
दिग्व्रतस्याप्यतीचाराः पञ्चैते ज्ञानिभिः स्मृताः ॥१०८

देशव्रतं तथा प्रोक्तं यद्दिशालस्य संहृतिः। दिनं प्रति स्वशक्त्या च क्रियते सुश्रावकैः शुभम् ॥१०९
तस्य चापि गृह-ग्राम-नदी-योजनकादिभिः। मर्यादा सूरयो धीरा वदन्ति स्म सुखप्रदाम् ॥११०
प्रेषण-शब्दाऽऽनयनं रूपाभिव्यक्तिरत्र च। पुद्गलक्षेपणं पञ्चातीचारा देशसद्व्रते ॥१११

कहा भी है—नवनीत दो मुहूर्तके ऊपर सम्मूर्च्छित हो जाता है, अतः वह मास-सदृश कहा गया है। जो इसे खाता है, वह अन्धा है ॥१७॥

गाय-भैंसका दूध भी बछडा उत्पन्न होनेके दिनसे लेकर पन्द्रह दिन तक सज्जनोको सर्वथा ही त्याग करना चाहिए ॥१०१॥ दूधमे जामनके लिए छाछ डालनेके पश्चात् जमा हुआ दही और उससे बना छाँछ दो दिन तक ही ग्रहण करनेके योग्य हैं। उसके पश्चात् भव्योको उसका सर्वदा त्याग करना चाहिए ॥१०२॥ श्रीजिनागममे उपर्युक्त आदि जिन वस्तुओको परित्याज्य कहा है, वे सभी कन्दमूलादिक वस्तुएँ उत्तम श्रावकोको त्यागना चाहिए ॥१०३॥ जिनेन्द्रदेवके परमागममे कन्दमूल इत्यादि जिन वस्तुओको यहाँ मुनिवरोने वर्जनीय कहा है वे सभी वस्तुएँ आत्म-हितैषी, सन्तोष और सयममे तत्पर ज्ञानियोको सर्वथा ही परिवर्जन करना चाहिए ॥१०४॥ श्रुत-धारी मुनीन्द्रोने श्रावक लोगोके दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ये तीन गुणव्रत कहे है ॥१०५॥ सभी दिशाओमे मर्यादा करके मृत्यु-पर्यन्त जो उससे बाहिर नही जाता है, उसके यह पहला दिग्व्रत नामका गुणव्रत होता है ॥१०६॥ सन्तोषशाली सन्तोके दिग्व्रतमे ज्ञानियोने नदी, समुद्र, पर्वत और योजनादिके द्वारा मर्यादा करनेका विधान किया है ॥१०७॥ ऊर्ध्वातिक्रान्ति, अधोऽतिक्रान्ति, तिर्यगतिक्रान्ति, क्षेत्रवृद्धि और सीमविस्मृति ये पाँच अतिचार दिग्व्रतके ज्ञानियोने कहे है ॥१०८॥ दिग्व्रतमे स्वीकृत विशाल क्षेत्रका प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम श्रावको-के द्वारा जो सकोच किया जाता है, उसे शुभ देशव्रत कहा गया है ॥१०९॥ धीरवीर आचार्योंने उस देशव्रतकी भी घर, गली, ग्राम, नदी और योजनादिके द्वारा मर्यादा करनेको सुखदायी कहा है ॥११०॥ इस देशव्रतमे मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर प्रेषण, आनयन, शब्दोच्चारण, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गल क्षेपण करना ये पाँच अतिचार होते है ॥१११॥ आचार्योंने पापोपदेश, हिंसादान,

पापोपदेशकं हिंसादानापध्यानदुःश्रुती । प्राहु प्रमादचर्या वै पञ्च चानर्थदण्डकान् ॥११२
पशुक्लेशवणिज्यादि-हिंसाऽऽरम्भ-प्रवञ्चने । उपदेशो हि य सोऽत्र ज्ञेय पापोपदेशक ॥११३

अस्याऽऽद्याऽऽयुधरज्ज्वादि-शृङ्खला-मुशलार्चिषाम् ।
दान पापप्रदं प्रोक्तं हिंसादानं बुधोत्तमैः ॥११४

शत्रूणां द्वेषभावेन वध-बन्धन-मारणे । परस्त्र्यादिषु दुश्चिन्ता त्वपध्यानमुदाहृतम् ॥११५
राग-द्वेष-महारम्भ-हिंसा-मिथ्यात्वकारिणी । दु.श्रुति सुश्रुतज्ञैश्च सा प्रोक्ता पापकारणम् ॥११६
भूमि-तोयाग्नि-वातादि-वनस्पतिविराधनम् । वृथाऽटनादिकं चेति चर्या प्रोक्ता प्रमादजा ॥११७

तथाऽनर्थदण्डभेदाश्च (प्राहु)—

मार्जार कुर्कुरं कीरं वानर चित्रकादिकम् । पारापतादिक गेहे पोषयन् पापभाग् भवेत् ॥१८

उक्तं च—

लोह लक्ख विसु सणु मयणु दुट्ठभरणु पसु-भारु ।
छडि अणत्थहं पिंडिय पडिउ किम तरहिसि संसारु ॥१९

कन्दर्पं चापि कौत्कुच्यं मौखर्यं सुप्रसाधनम् । अत्रासमीक्षिताधिकरणं पञ्च व्यतिक्रमा ॥११८

तथा शिक्षाव्रतान्युच्चैर्जगुश्चत्वारि साधव । सामायिकं सदा पर्वोपवासो निर्जराकर ॥११९
भोगोपभोगवस्तूना सदा सङ्ख्या सुखप्रदा । संविभागोऽतिथीनां च क्रमात्तद्विस्तरं ब्रुवे ॥१२०
सर्वथा सर्वसावद्य-त्यागाश्चाऽऽसमय भवेत् । सामायिक व्रतं पूतं प्राहुस्तद्धर्मवेदिन ॥१२१

अपध्यान, दु श्रुति और प्रमादचर्या ये अनर्थदण्डके पाँच भेद कहे है ॥११२॥ पशुओको क्लेश पहुँचानेवाले व्यापार आदिका, हिंसा, आरम्भ और छल-प्रपंचका जो उपदेश देना सो पापोपदेश जानना चाहिए ॥११३॥ असि (खड्ग) आदि आयुधोका, रस्सी आदिका तथा साकल, मूसल और अग्नि आदि हिंसाके कारणभूत पदार्थोके देनेको उत्तम ज्ञानियोने पापप्रद हिंसादान कहा है ॥११४॥ द्वेषभावसे शत्रुओंके वध, बन्धन और मारणका चिन्तवन करना, तथा रागभावसे परस्त्री आदिका खोटा चिन्तवन करना, इसे अपध्यान कहा गया है ॥११५॥ राग, द्वेष, महारम्भ, हिंसा और मिथ्यात्वकी करनेवाली खोटी कथा-वार्ताओका सुनना, उसे उत्तम श्रुतज्ञाताओने दु श्रुति कहा है, जो कि पापका कारण है ॥११६॥ भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकी वृथा विराधना करना तथा व्यर्थ गमनागमनादिक करना, इसे प्रमादचर्या कहा है ॥११७॥ इस प्रकार अनर्थदण्डके ये पाँच भेद कहे गये हैं। इसी प्रकार अपने घरमे बिल्ली, कुत्ता, सुआ, वानर, तीतर, कबूतर और चीता आदिका पालन-पोषण करनेवाला मनुष्य भी पापका भागी होता है ॥१८॥

और भी कहा है—लोहा, लाख, विष, सन, मैन, दुष्ट जीव-पालन और पशुओपर भार लादना इन अनर्थोंको छोडा। अन्यथा संसारको कैसे तिरेगा ॥१९॥

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अति प्रसाधन और असमीक्ष्याधिकरण ये पाँच इस अनर्थदण्ड-व्रतके अतिचार हैं ॥११८॥ मुनियोने उत्तम चार शिक्षाव्रत कहे हैं—सामायिक, निर्जरा करनेवाला सदा पर्वोपवास, भोगोपभोगकी वस्तुओकी सदा सुखदायी सख्या, और अतिथिसविभाग। अब मैं क्रमसे इनका विस्तृत कथन करता हूँ ॥११९–१२०॥ निश्चित समय तक सर्व पापकार्योका सर्वथा त्याग करना सामायिक है। इसे धर्मके ज्ञाताओने पवित्र व्रत कहा है ॥१२१॥ सामायिकके